

चम्पूभारतम्

आचार्य रामचन्द्र मिश्र



475–

॥ श्रीः ॥

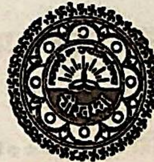
विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
३१

श्रीमदनन्तभट्टविरचितं

चम्पूभारतम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

टीकाकारः
न्याय-व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य—
आचार्य श्रीरामचन्द्रमिश्रः
(प्राध्यापक, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, रांची)



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

संस्करण १९९९

मूल्य

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : { ३३३४३१
३३५२६३

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

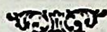
दूरभाष : ३९५६३९१

मुद्रक

फूल प्रिण्टर्स

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
31



CAMPŪBHĀRATA

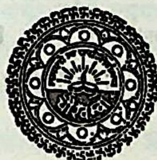
OF

ANANTA BHAṬṬA

With
'Prakasha' Sanskrit and Hindi Commentaries

By

Acharya Sri Ramchandra Mishra
(Professor, Govt. Sanskrit College, Ranchi)



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Edition
1999

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37 117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

अवतारणा

अथायमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं प्रकाशनामकसंस्कृतहिन्दीव्याख्याद्वितयसमृद्धोऽनन्तकविकुञ्जरकृतश्चम्पूभारतनामा प्रसिद्धश्चम्पूग्रन्थः। एतद्रचयितुः परिचयादिकमग्रेतनेन हिन्दीभाषोपनिबद्धेन प्रस्तावनानामकेन प्रकरणेन ज्ञातव्यम्। अयं चम्पूग्रन्थः साहित्याध्ययनबद्धादराणामतीवहृद्यः सरसतया समधिकहृदयावर्जको महाभारतकथाबोधकतया सुकृताधायकश्चेति मन्ये भुक्तिमुक्तिकृत्। अस्य ग्रन्थस्य वाराणसेयराजकीयसंस्कृतपाठशालापरीक्षापाठ्यत्वमपीदमीयं गौरवं समेधयति। अतोऽस्योत्तममेकं संस्करणं चिरादपेक्ष्यतेस्म।

अस्य चम्पूभारतग्रन्थस्य षट्टीकाः प्रथन्ते, प्रथमा—कुरविरामकृता, द्वितीया—नारायणसूरिकृता, तृतीया—मल्लाडिलक्ष्मणस्वामिकृता, चतुर्थी—कुमारतन्त्रार्यरचिता, पञ्चमी—नरसिंहाचार्यविरचिता, षष्ठी—अज्ञातकर्तृका। आसु कतिपयटीकास्तु श्रुतिमात्रगोचरतां गताः, मया केवलं प्रथमद्वितीययोष्टीकयोरालोचनं कर्त्तुं पारितम्। तत्र नारायणसूरिकृता टीकाऽतिसंक्षिप्ता, मूलार्थबोधनविधुरा, कुरविकुलचन्द्ररामकवीन्द्रकृता व्याख्या तु मल्लिनाथरीतिमनुहरन्ती सकलार्थज्ञापनाय प्रयतमाना, सत्यपि यत्र तत्र स्खलने, प्रशंसापात्रमेव, परं साऽपि केवलसंस्कृतोपनिबद्धतया छात्राणां साधारणपाठकानां च न तथा हृदयावर्जिकेति प्रयासमाधाय मूलग्रन्थं संस्कृत्य तत्र संस्कृतहिन्दीभाषाद्वयोपनिबद्धं व्याख्यानद्वयमप्ययूयुजम्।

अस्यां हि व्याख्यायां संस्कृते सर्वेऽप्यर्था उपपादिताः, कोषच्छन्दोऽलङ्कारसदृशश्लोकादयोऽपि यथासम्भवं प्रदर्शिताः, ततोऽवशिष्टाऽपेक्षिता च सरलता हिन्दीभाषानुवादेन सद्य एव तदधस्तादुपस्थापितेति मूलग्रन्थलापने किमपि काठिन्यं नानुभूयेत।

आशासे विद्वांसोऽध्यापकाश्छात्राश्चादृत्य प्रयासमिममुपादाय ग्रन्थमिमञ्च मामुत्साहयिष्यन्ति। शमिति।

विदुषामाश्रवः

रामचन्द्रमिश्रः

जन्माष्टमी
सं० २०१४



मुजफ्फरपुरमण्डलान्तर्गतचकफतेहाग्रामवासिनां
परमपूजनीयगुरुवर—
पण्डित श्रीझिङ्गुरझाशर्ममहानुभावानां
करकमलयोरेभिः शब्दैः सादरं
समर्पयति—

गुरुदेव,

बाल्यकाले विद्यारसानभिज्ञस्य मम पाठने भवान्यमन्वभूत्क्लेशभरं, सम्प्रत्यहमनुमिनोमि तस्य परिणतिरियं व्याख्या, परीक्षारूपेणेमां भवद्भ्यः समुपहृत्य कामपि निर्वृतिमिव कामयमानः—

भवदीयशिष्यान्यतमो

रामचन्द्रमिश्रः

प्रस्तावना

यह सृष्टि कब प्रारम्भ हुई इस विषयमें कितना भी मतभेद क्यों न हो परन्तु उस विषयपर जब निर्णय होगा, तो समयका मापदण्ड लक्षाब्दमें ही होगा। सृष्टिके आदिमें मानव-सृष्टि इस तरहकी हुई होगी इसपर भी आपत्तियाँ की जा सकती हैं, फिर भी मानव-सृष्टि जब इस रूपमें पहुँची तभी सृष्टिका याथार्थ्य सिद्ध हुआ यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि मानव ही ऐसा जीव है जो अपनी संवेदनाको दूसरों तक पहुँचाना चाहता है, अपनी अनुभूतियोंको दूसरों तक पहुँचाकर उन्हें लाभान्वित करना चाहता है। ऐसे ही प्रयासोंमेंसे एक प्रयासका फल काव्य है-यह निश्चित है। मनुष्यका यह प्रयास नानाप्रकारका तथा नानाप्रकारकी भाषाओं द्वारा हुआ यह भी एक शाश्वत सत्य है। भाषा चाहे जो हो, सर्वत्र प्रेरणा एक ही तरहकी होती रही होगी, इसी बातको ध्यान में रखकर आचार्योंने कहा है—

'उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवतु सा भवतु।'

काव्य किसी भी भाषाका क्यों न हो, अपने प्रयोजनके सम्बन्धमें उसे कुछ कहना चाहिये। इस अंशपर विचार करते समय दो शाखाओं पर ध्यान देना होगा, एक यह कि काव्यप्रयोजनसे काव्यनिर्माणका प्रयोजन क्या है यह विचारणीय है, और दूसरी बात यह है कि काव्यज्ञानका प्रयोजन क्या है? इन दोनों प्रश्नोंका संक्षिप्त समाधान इस प्रकार है :—

काव्यप्रयोजन

काव्यके प्रयोजनमें कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'

काव्यके बनाने तथा जाननेसे यश-कीर्त्ति प्राप्त होती है, अर्थ-धन मिलता है, व्यवहार-लोकाचारका ज्ञान होता है, शिवेतर-अकल्याणकी क्षति होती है, तत्काल-काव्यनिर्माणकाल तथा काव्यपरिशीलनकालमें एक विलक्षण प्रकारकी आनन्दानुभूति होती है, और कान्तासम्मित रूपमें-अतिहृदयङ्गम, मनोभिलषित, नहीं टालने योग्य अनुरोधके रूपमें उपदेश प्राप्त होता है। इन सभी विषयोंके उदाहरण भी काव्यप्रकाश-

कारने दिये हैं, उदाहरणकी आवश्यकता है भी नहीं, क्योंकि इन बातोंकी सत्ता आत्माको स्वतः प्रतीत होती है, इस प्रकार काव्यके प्रयोजन प्रतीत हैं।

काव्योंमें चम्पूकाव्य

काव्य सामान्यतः दो प्रकारके माने जाते हैं–दृश्य और श्रव्य। श्रव्यकाव्यके भी दो भेद हैं, गद्यकाव्य और पद्यकाव्य। गद्यकाव्यका गौरव उसकी अर्थप्रधानतासे हैं, क्योंकि पद्यकाव्य कुछ अंशोंमें रागके द्वारा भी श्रोताको आकृष्ट कर सकता है, परन्तु गद्यकाव्यको तो अपने अर्थगौरवमात्रसे ही श्रोतृजन-हृदय-समावर्जन करना पड़ता है। गद्यकाव्यका अर्थगौरव और पद्यकाव्यकी अर्थगौरवोपबृंहित रागमयता दोनों एकत्र मिल जाने पर अधिक चमत्कार उत्पन्न कर सकेंगे, इसी बातको ध्यानमें रखकर चम्पूकाव्यकी उद्भावना की गई होगी। चम्पूरामायणके रचयिता धारानगराधीश भोजदेवने भी इस प्रसङ्गमें यही कहा है:—

'गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिर्हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।
तस्माद्दधातु कविमार्गजुषां सुखाय चम्पूप्रबन्धरचनां रसना मदीया॥'

'गद्यसम्बन्धके होनेसे पद्यसूक्तियाँ उसी प्रकार आनन्दप्रद हो जाती हैं जैसे वाद्य-यन्त्रोंकी सहायतासे गानविद्या अधिक चमत्कारप्रद हो जाती है, अतः कविमार्गके अनु-सरणमें लगे लोगोंको मानसिक सुख प्रदान करनेकी इच्छासे हमारी रसना चम्पूप्रबन्ध प्रस्तुत करनेका यत्न करेगी॥'

इस उद्धरण तथा कथनसे यह सिद्ध होता है कि एकमात्र गद्यसे अथवा पद्यसे उतना आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है जितना कि उभयसम्मिश्रणसे, जैसे केवल वाद्य सुनते रहिये तो या केवल मौखिक गीत सुनते रहिये तो उतना आनन्द नहीं आयगा जितना कि तानपूरेकी आवाजके साथ गीत सुननेमें आता है।

चम्पूलक्षण

चम्पूकाव्यका लक्षण सबसे पहले आचार्य दण्डीने किया:—

'गद्यपद्यमयी वाणी चम्पूरित्यभिधीयते'

इसी लक्षणको पीछेके आचार्योंने भी दुहराया है, किसी किसीने वाणी न कहकर काव्य कहा। कुछ मौलिक भेद नहीं हुआ। यद्यपि कथा तथा आख्यायिकामें—

'क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम्॥'

इत्यादि लक्षणानुरोधसे गद्यपद्यका मिश्रण होता है फिर भी वहाँ प्राधान्य गद्यका ही होता है। पद्य तो केवल नियमपालनार्थ लिखे जाते हैं। चम्पूमें पद्य और गद्यकी मात्रा लगभग समान ही होती है, यद्यपि अक्षरोंको गिनकर नहीं देखा जाता फिर भी इस बात पर दृष्टि रखनी होती है कि किसी एक पक्षका अधिक प्राबल्य तो नहीं होता जा रहा है।

सामान्यतः कथानिर्वाहके लिये गद्यका प्रयोग करते हैं और किसी वस्तुके वर्णनार्थ पद्योंका व्यवहार करते हैं। इस नियमका भी उल्लङ्घन होता ही रहता है। वास्तविकता यह है कि इस विषयमें चम्पूकारोंने पूरी स्वतन्त्रतासे काम लिया है। रीतिकारोंने भी दृढ़तापूर्वक कोई नियम बनानेका प्रयास नहीं किया।

चम्पूकी परम्परा

चम्पूकाव्यका बीज जातकग्रन्थोंमें पाया जाता है। जातकग्रन्थ १०वीं शतीसे पहले ही लिखे गये हैं। सबसे प्राचीन जो चम्पूग्रन्थ उपलब्ध होता है वह है 'त्रिविक्रमभट्ट'कृत 'नलचम्पू' या 'दमयन्तीचम्पू'। त्रिविक्रमभट्टने राष्ट्रकूटराजा इन्द्रतृतीयका नौसारी शिलालेख ९१५ ई० में लिखा था, इसीसे उनका समय निश्चित सा है। जैन कवि 'सोमप्रभ' का 'यशस्तिलक'चम्पू राष्ट्रकूट राजा कृष्णके समयमें ९५९ ई० में लिखा गया। ये दोनों चम्पूग्रन्थ ही आगे चलकर लिखे गये चम्पूग्रन्थोंके लिये आदर्श बने।

जैनपुराण—'उत्तरपुराण' को आधार बनाकर लिखे गये 'जीवनधरचम्पू' का समय निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता, इसके रचयिताका नाम हरिचन्द्र है। यह ११ लम्भकका एक विशाल ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे चम्पूग्रन्थ इनके ही पदचिह्नों पर चलकर बनाये गये; रामायणके आधार पर चम्पूरामायण तथा भारतके आधारपर इस प्रकृत पुस्तककी रचना हुई। 'भागवतचम्पू' नामक तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनके रचयिताओंके नाम ये हैं—१. चिदम्बर २. रामभद्र ३. राजनाथ। रामायण तथा भारतके आधारपर कुछ और भी चम्पूग्रन्थ बने हैं, पर उनकी प्रख्याति नहीं हो सकी। अन्यान्य पुराणोंके आधार पर बने चम्पूग्रन्थोंकी संख्या भी कम नहीं है, 'नृसिंहचम्पू' नामके दो ग्रंथ मिलते हैं, उनमें एकके रचयिताका नाम है केशवभट्ट तथा दूसरे का सङ्कर्षण। इन दोनों ग्रन्थों में प्रह्लादकी कथा वर्णित है। पद्मपुराणकी कथा पर 'आनन्दवृन्दावन' नामक एक विशाल चम्पूग्रन्थकी रचना हुई है। इसके अनन्तर प्रसिद्ध चम्पूकार शेष श्रीकृष्ण हुए जिनकी कृति 'पारिजातहरणचम्पू' नामसे प्रसिद्ध है। इनका समय १६वीं शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। समुद्रमन्थनकी कथाको आधार मानकर नीलकण्ठ कविने 'नीलकण्ठविजय' नामक चम्पूकी रचना १६३७ ई० के लगभग की थी। 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' नामक चम्पूकी रचना स्त्रीकवि 'तिरुमलाम्बा' द्वारा इसी समयमें की गई थी।

इसके बाद चम्पूकी एकरसता–उसी पौराणिक कथावर्णनपरता–से असन्तुष्ट होकर समुद्रपुङ्गवदीक्षितने 'यात्राप्रबन्ध' नामक चम्पूकी रचना की, यह रचना भी १६वीं शतीके अन्तिम भाग की ही है।

इसके बादसे कवियोंने इधर ध्यान दिया कि पौराणिक विषयातिरिक्त विषयों पर भी चम्पूकाव्य लिखे जायँ। तदनुसार वेङ्कटाध्वरीने 'विश्वगुणादर्शचम्पू' की रचना की। इसमें विश्वावसु तथा कृशानुकी व्योमयात्राका वर्णन है जो काल्पनिक तथा रमणीय है। इसीकी देखादेखी 'अन्नार्य' ने 'तत्त्वगुणादर्श' नामक चम्पूकी रचना की।

इसी परिवर्त्तमान शैलीको देखकर लोगोंने शास्त्रीयतत्त्वप्रतिपादनार्थ गद्यपद्यमय कवित्वाभासको चम्पूकाव्य कहना प्रारम्भ कर दिया, जैसे—'वेदान्ताचार्यविजय', 'विद्वन्मोदतरङ्गिणी' आदि। इन ग्रन्थों को काव्य न कहकर दर्शन कहना ही अधिक युक्तियुक्त होगा।

अनन्तभट्टका परिचय तथा काल

चम्पूभारतके प्रणेता अनन्तभट्टका परिचय तथा काल कुछ स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं मिलता। परम्परया सुना जाता है कि अनन्तभट्ट 'भागवतचम्पूके' निर्माता अभिनव कालिदासके प्रतिस्पर्धी थे, उन्हींकी प्रतिस्पर्द्धामें अनन्तभट्टने भी 'भागवतचम्पू' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इसी परम्पराको आधार मानकर हम कल्पना कर सकते हैं कि अनन्तभट्ट अभिनव कालिदासके साथ ही ग्यारहवीं शताब्दीमें रहे होंगे। अनन्तभट्टकी रचना भारतचम्पूसे मालवारनिवासी नारायणभट्टात्रि नामक विद्वान् ने अपने निबन्धोंमें बहुतसे उद्धरण दिये हैं तथा मानवेद नामक एक दाक्षिणात्य विद्वान्ने भारतचम्पूपर टीका भी लिखी है। मानवेदका समय १६वीं शताब्दीका अन्त तथा १७वीं शताब्दीका प्रारम्भ काल माना गया है। तदनुसार अनन्तभट्टका समय १६वीं शताब्दीसे पूर्व तथा ग्यारहवीं शताब्दीके बादका मानना पड़ेगा। जहाँतक ऐतिहासिकोंको ज्ञात है—अभिनव कालिदास ग्यारहवीं शताब्दीमें सिद्ध होते हैं। फलतः उनके प्रतिस्पर्धी अनन्तभट्ट भी ११वीं शताब्दीमें ही रहे होंगे, यह मानना होगा। इस परम्पराकी पुष्टिके लिये हम अनन्तभट्टकी भाषाको भी प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत कर सकते हैं। अनन्तभट्टकी भाषा इतनी स्वच्छ, स्पष्ट, अलङ्कारमय तथा अनुकरणप्रधान है कि उनका समय बहुत प्राचीन तथा अतिनवीन नहीं बताया जा सकता। अनन्तभट्टने 'पञ्चत्व', 'धनञ्जय' आदि शब्दोंके साथ जिस प्रकार कल्पनायें की हैं, वे बहुत प्राचीनकालमें प्रचलित नहीं थीं। इसके अतिरिक्त अनन्तभट्टके विषयमें कुछ निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने अपने विषयमें कुछ भी नहीं कहा। अन्य इतिहासकारोंने भी उनके ग्रन्थकी चर्चाके अतिरिक्त और विशद प्रकाश उनके विषयमें नहीं डाला।

प्रकृत अनन्तभट्टकी रचनाके रूपमें हम केवल दो ही ग्रन्थोंके नाम प्रस्तुत कर सकते हैं—१. 'भारतचम्पू' २ 'भागवतचम्पू'। इनमें द्वितीय ग्रन्थ अब दुर्लभ हो गया है।

'साहित्यकल्पवल्ली' के निर्माता अनन्त, चन्द्रालोककी व्याख्याके प्रणेता अनन्त तथा 'कामसमूह' नामक ग्रन्थके निर्माता अनन्त प्रस्तुत अनन्तसे भिन्न हैं, अतः उनको इनसे पृथक् करके ही परिचित कराना ठीक है।

चम्पूभारत ग्रन्थपर पाँच व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं—१. कुरवि-कुलचन्द्र रामकवीन्द्रकृत २. मल्लाड़ी लक्ष्मणस्वामीकृत ३. नारायणस्वामीकृत ४. कुमारतानार्यकृत ५. अज्ञातकर्तृक।

चम्पूभारतका स्वरूपनिर्देश

चम्पूभारत एक विशालकाय चम्पूग्रन्थ है, जिसमें महाभारतकी कथा संक्षिप्तरूपमें बारह स्तबकों द्वारा वर्णनात्मक रीतिसे निबद्ध की गई है। इसमें कुल मिलाकर १००० से कुछ अधिक श्लोक तथा मानमें उससे कुछ थोड़ा गद्य है। इस ग्रन्थकी विशेषता पद्योंमें ही है।



कथासार

प्रथम स्तबक

हस्तिनापुरमें पाण्डुका निवास था। वे अम्बालिकाके गर्भमें नियोगद्वारा व्यासदेवसे उत्पन्न किये गये थे। उनकी दो रानियाँ थीं, कुन्ती तथा माद्री। एक समय पाण्डु शिकार करने गये, और मृगके जोड़ेमेंसे पुरुषमृगको मार दिया। वह पुरुषमृग मारे जानेपर पुरुषका रूप धारणकरके पाण्डुके सामने आया और उसने कहा—'मैं किन्दम नामक एक तपस्वी हूँ, तुमने रिरंसावस्थामें मुझे आहत किया है अतः जभी तुम रतिपरायण होगे तभी तुह्मारे प्राण छूट जायेंगे। इस शापसे पाण्डुको बड़ा दुःख हुआ। राजधानी छोड़कर वे वनमें रहने लगे। कुछ दिन बीतनेपर अनपत्यतासे व्यथित होकर पाण्डुने अपने मनोभाव कुन्तीसे कहे। कुन्तीने कुमारीभवस्थामें प्राप्त वरदानकी बात कहकर उन्हें निश्चिन्त किया। पाण्डुकी अनुज्ञासे कुन्ती तथा माद्रीने युधिष्ठिरादि पाण्डवोंको जन्म दिया। ये बालक वनमें ही पाले-पोसे गये। एक समय वसन्तकी कामोद्दीपकतासे विह्वल होकर पाण्डुने अपनी छोटी स्त्री माद्रीको रतिके लिये बाध्य किया। रतिके अन्तमें पाण्डु का देहावसान हो गया। माद्रीने सहगमन किया। पाँचो पाण्डवों के लालनपालनका भार कुन्तीने लिया। पाण्डुकी मृत्युकी बात सुनकर धृतराष्ट्र वनमें आये और बालकोंके साथ कुन्तीको हस्तिनापुर ले गये।

द्वितीय स्तबक

पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ हस्तिनापुरमें रहने लगे। धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिसे उनकी पटती नहीं थी। विशेषकरके भीमके वे कट्टर शत्रु बन गये थे। भीमके सोते रहने पर उन लोगोंने साँपसे कटवाया, विषमिश्रित भोजन कराकर अचेत भीमको गङ्गामें फेंक दिया। भीम गङ्गापथसे पाताल गये। वासुकिने उनका बड़ा आदर किया। धीरे-धीरे बड़े होने पर पाण्डव तथा दुर्योधनादि कौरव साथ-साथ धनुर्वेद पढ़ने लगे। द्रोण उनके शिक्षक नियुक्त हुए। एक समय अपने शिष्यों के साथ द्रोण गङ्गास्नान करने आये थे। ग्राहने उन्हें पकड़ लिया। अर्जुन ने ग्राहको मारकर उनके प्राण बचाये। आचार्यद्रोणने चाहा कि इन्हीं शिष्यों द्वारा अहंकारी द्रुपदको नीचा दिखलाया जाय। तदनुसार कौरव तथा पाण्डवने मिलकर द्रुपदके नगरको घेर लिया। उनमें सर्वापेक्षया वीर अर्जुनने द्रुपदको बन्दी बनाया। इसी अपमानसे व्यथित होकर द्रुपदने शत्रुघातन यज्ञ किया, जिससे द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुए। शिक्षा समाप्त होनेपर युधिष्ठिरको यौवराज्य दिया गया। धृतराष्ट्रके आदेशानुसार कुन्तीके साथ पाण्डवगण वारणावत नामक नगर गये, जहाँ पर उनको नष्ट कर देनेके लिये लाक्षागृहकी रचना की गई थी। पुरोचनने ले जाकर उन्हें लाक्षागृहमें टिकाया। लाक्षागृहमें योजनानुसार आग लगा दी

गई, जिसमें पुरोचन ही सपरिवार स्वाहा हुआ, पाण्डवगण तो भीमद्वारा निर्मित सुरङ्गमार्गसे बाहर वनमें निकल गये। वनमें भीमकी हिडिम्बासे भेंट हो गई, उसके साथ भीम उसके गांव गये, वहाँ हिडिम्बासुरको मारा, हिडिम्बाको पत्नी बनाया, उसी मार्गमें पाण्डवोंकी व्याससे भेंट हुई। व्याससे उपदेश लेकर पाण्डवगण एक चक्र नगरीमें आ गये। वहाँपर एक वृद्धाके एकमात्र पुत्रकी रक्षार्थ भीमने बकासुरका वध किया। तत्पश्चात् किम्वदन्ती सुनी गई कि द्रुपदपुरमें स्वयंवर होगा, अतः पाण्डव वहाँ चले। वहाँ पहुँचकर पाण्डव एक कुलालके घरमें ठहरे। नियत समयपर अर्जुनने मत्स्ययन्त्रका भेदन करके द्रौपदीका वरण किया। द्रुपदने पाँचो पाण्डवोंके साथ द्रौपदीका विवाह कर दिया। निराश राजगणने द्रुपदके ऊपर आक्रमण किया, जिन्हें पाण्डवोंने मार भगाया।

तृतीय स्तबक

विवाहके बाद पाण्डव कृष्णाके साथ हस्तिनापुर चले आये। कुछ दिनों पश्चात् नारदने पाण्डवोंसे भेंट की और उन्हें असिधाराप्रतिज्ञा ग्रहण कराई। तदनुसार यह निश्चित हुआ कि द्रौपदी नियत समयके लिये एक एक पाण्डवके साथ रहा करेगी, और उस नियत समयके अभ्यन्तर जो दूसरा एकान्तस्थ दम्पतिका अवलोकन भी कर लेगा, उसे एक वर्षके लिये तीर्थयात्रा करनी होगी। इस तरहकी प्रतिज्ञाके बाद एक दिन एक ब्राह्मण उनके द्वारपर आया। उसके कटु भाषणने अर्जुनको विचलित कर दिया। उन्होंने उस ब्राह्मणके उपकारार्थं सद्यः धनुष लाने उस प्रकोष्ठमें प्रवेश किया, जिसमें द्रौपदी तथा धर्मपुत्र एकासनासीन थे। नियमभङ्गके दण्डस्वरूप अर्जुनको तीर्थयात्रा करनी पड़ी। उसी प्रसङ्गमें गङ्गास्नान करते हुए अर्जुनको उलूपी नामक नागकन्या नागलोक ले गई, वहाँ अर्जुनने उलूपीसे 'इरावान्' नामक पुत्र उत्पन्न किया। नागलोकसे आकर अर्जुन हिमालयकी ओर गये और फिर पूर्वदिशामें आये, वहाँ चित्राङ्गदा नामक राजकन्यासे उनका प्रेम हुआ और उससे बभ्रुवाहन नामक पुत्र भी हुआ। पूर्वदिशासे चलकर अर्जुन सेतुतीर्थके दर्शनोंसे अपनेको कृतकृत्य करके गोकर्ण क्षेत्र आये। वहाँसे वे प्रभास नामक क्षेत्र आये जहाँ सुभद्रासे भेंट हुई और कपटसन्न्यासीके रूपमें उन्होंने सुभद्राका हरण किया जिससे अभिमन्युका जन्म हुआ। इसके पश्चात् कृष्ण तथा अर्जुन अपने परिवारके साथ जलक्रीड़ा करने गये। क्रीड़ा समाप्त होनेपर अग्निदेवने उनसे खाण्डववनदाहकी प्रार्थना की और अस्त्रादि प्रदान किया। खाण्डववनदाहमें इन्द्रने तक्षकके रक्षार्थ अर्जुनसे युद्ध किया जिसमें इन्द्र सफल नहीं हुए। जलते हुए खाण्डववनसे अर्जुनने मयकी रक्षा की।

चतुर्थ स्तबक

अर्जुन द्वारा बचाये गये मयने प्रत्युपकारकी भावनासे युधिष्ठिरका सभाभवन निर्मित किया। नारदने युधिष्ठिरके पास आकर उन्हें राजसूय यज्ञ करनेका उपदेश

दिया। जरासन्धके साथ लड़ाई हुई और वह मारा गया। सभी दिशाओंको जीतकर पाण्डवोंने कोश इकट्ठा किया। यज्ञ प्रारम्भ किया गया। यज्ञमें आए हुए नृपोंके सामने भगवान्‌का सविशेष पूजन किया गया जो शिशुपालको बहुत बुरा लगा। फलतः तनातनी हुई, और वह मार डाला गया। इस प्रकार यज्ञमें पाण्डवोंकी समृद्धि देखकर दुर्योधनपक्षगत शकुनि प्रभृतिको बड़ी ईर्ष्या हुई। उन लोगोंने स्थिर किया कि द्यूतमें युधिष्ठिरका सर्वस्व हरणकर उन्हें वनमें भेज दिया जाय। द्यूत का आयोजन हुआ! पाण्डव सबन्धु-बान्धव द्यूतमें सम्मिलित हुए। शकुनिने ऐसे पासे भाँजे कि उनकी क्रमशः हार होती गई, यहाँ तक कि युधिष्ठिर अपनी स्त्री तक हार बैठे। द्यूतमें जीती गई द्रौपदीको सभामें लाकर दुःशासनने विवस्त्र करना चाहा, जिस पर कुपित होकर भीमने दुःशासन-वधकी प्रतिज्ञा की। अर्जुनने भी कर्णवधकी प्रतिज्ञा की। व्यवस्थाके अनुसार पाण्डव वनवासके लिये चले। धर्म द्वारा आराधित भगवान् सूर्यने उन्हें एक ऐसा अन्नपात्र प्रदान किया जो कभी रिक्त न हो सके। पाण्डव काम्यक वनमें रहने लगे, भीमने वहाँ पर किर्मीर नामक दैत्यका वध किया। तदनन्तर व्यास आये और उन्होंने अर्जुनको प्रतिश्रुति विद्याका उपदेश किया। अर्जुन तपःसिद्धिके लिये हिमालय पर गये और घोर तपस्या द्वारा शिवको तुष्ट किया। अर्जुनकी भावनाकी परीक्षाके लिये शिवने किरातवेष धारण करके अर्जुनके साथ घोर युद्ध किया, जिससे उनको पूर्ण सन्तोष हुआ। वे प्रत्यक्ष हुए और अर्जुनको पाशुपतास्त्र प्रदान किया।

पञ्चम स्तबक

इसी समय इन्द्रने अर्जुनको स्वर्ग बुला भेजा। स्वर्ग पहुँचकर अर्जुनने गानविद्याका अभ्यास किया। उर्वशी अर्जुनपर आकृष्ट हुई। उसने प्रत्याख्यात होकर अर्जुनको नपुंसक हो जानेका शाप दिया, जिसका फल अर्जुनके अज्ञातवासकालमें बृहन्नलारूप हुआ। स्वर्गमें रहकर अर्जुनने 'कालकेय' आदि इन्द्रविरोधी दैत्योंका वध किया। इसी बीच पाण्डव हिमालयके पास आ गये। एक दिन द्रौपदीने भीमसे सौगन्धिक पुष्पकी याचना की। भीमने सौगन्धिक की खोज करनेके लिये उत्तरापथकी यात्रा की। मार्गमें भीमको हनुमान्‌के पराक्रमका परिचय मिला। अनन्तर भीम उस ह्रदमें पहुँचे जहाँ सौगन्धिक कमल खिले थे। निवारणपरायण दैत्योंका निराकरण करके भीमने सौगन्धिक सुमन लाकर द्रौपदीका मनोरथ पूर्ण किया। इसी समय अर्जुन भी आ गये। सभी बड़ी प्रसन्नता से रहने लगे। अब वे द्वैतवनमें जाकर रहने लगे। दुर्योधनको पाण्डवोंकी हीनदशा देखने की इच्छा हुई और वह ससैन्य घोषयात्राव्याजसे द्वैतवनमें आया। उसकी सैन्यसंहतिको इन्द्रप्रेरित चित्रसेनने समाप्त कर दिया। इसी प्रसंगमें दुर्योधनादिको गन्धर्वोंने बन्दी बना लिया। पीछे दुर्योधनादिकी स्त्रियों द्वारा प्रार्थित होने पर धर्मराजने अपने अनुजों द्वारा दुर्योधनादिको मुक्त करवाया। युधिष्ठिरने दुर्योधनको बहुतसे उपदेश दिये, परन्तु ग्लानिके

कारण दुर्योधन प्राण देनेको उद्यत हो गया। रात्रिमें स्वप्नावस्थामें राक्षसोंकी सहायताका आश्वासन पाकर वह राजधानी लौट आया।

इसी बीच जयद्रथने सूने आश्रमसे द्रौपदीका हरण कर लिया, वह द्रौपदीको लेकर भागा ही जा रहा था कि भीम आदि ने उसे पकड़ लिया और उसकी खूब मरम्मत की। उसको इससे बडा कष्ट हुआ और उसने तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंको रोक रखनेकी क्षमता प्राप्त की।

इधर कर्णके पास आकर सूर्यने समझाया कि यदि कोई मनुष्य तुमसे कवच-कुण्डल मांगने आये तो मत देना, परन्तु महादानी कर्णको यह बात कब स्वीकार्य हो सकती थी। इन्द्रके याचना करने पर उसने अपने कवच-कुण्डल दे ही दिये।

इस प्रकार समय बीत ही रहा था कि एक दिन एक हरिण आया और पाण्डवोंके प्रतिवेशी किसी ब्राह्मण की 'अरणि' लेकर भागा। उसका पीछा करते हुए पाण्डव एक तालाबके पास पहुँचे। उन्हें प्यास लग रही थी। ज्योंही वे पानी पीने गये त्योंही क्रमसे मूर्च्छित होकर गिरते गये। पीछे उन्हें ढूँढ़ते हुए धर्मराज वहाँ पहुँचे। अपने अनुजोंकी दशा देखकर वे बहुत दुखी हुए। इसी समय धर्म प्रकट हुए और उन्होंने कुछ प्रश्न किये जिनका युधिष्ठिरने समुचित उत्तर दिया। धर्मने प्रसन्न होकर दर्शन दिये और सभी जी उठे।

षष्ठ स्तबक

पूर्वोक्त रीतिसे वनवास समाप्त करके पाण्डवोंने गुप्तवासके लिये विराट्के यहाँ यात्रा की। विराट्पुरके समीप श्मशानभूमिमें शमीवृक्ष पर उन लोगोंने अपने शस्त्र छिपाकर रख दिये और सभी एक एक करके विराट्के घर पहुँचे। कङ्कके वेषमें युधिष्ठिर गये, उन्हें सभामें द्यूत खेलनेका काम मिला। सूदके वेषमें भीम गये, अतः वे पाचकवर्गके प्रधान नियुक्त हुए। क्लीब बृहन्नलाके रूपमें उपस्थित अर्जुनको कन्यानृत्यकलोपदेशनका काम मिला। इसी प्रकार नकुलको अश्वशाला एवं सहदेवको गोशालाका प्रधान बनाया गया। द्रौपदी प्रसाधिकाके रूपमें विराट्की रानी सुदेष्णाकी सेवामें नियुक्त हुई। एक दिन सुदेष्णाने द्रौपदीको अपने भाई कीचकके घरसे मद्यपात्र लानेको भेजा। कीचककी दृष्टि द्रौपदी पर लग गई। उसने द्रौपदीको रति-प्रार्थनासे कलुषित कर दिया। द्रौपदीने उसे बहुत समझाया। अपने गन्धर्वपतियोंकी चर्चा करके भय भी दिखलाया, परन्तु कीचकने नहीं माना। अनन्तर द्रौपदीने अपनी सारी दशा भीमसे कह दी। परामर्शानुसार कीचकको नृत्यशाला-रूप सङ्केतगृहमें बुलाया गया, जहाँ पर भीम पहले ही से उपस्थित थे। कीचकके आते ही भीमने उसे उस अन्धकारपूर्ण नृत्यमञ्चपर समाप्त कर दिया। द्रौपदीने रोना प्रारम्भ किया कि हाय, गन्धर्वोंने कीचकको मार डाला। उसका रोना सुनकर कीचकके भाई आए और सारी विपत्तिकी मूलभूत द्रौपदीको भी कीचक

के साथ चिता पर रखकर जला डालनेको प्रस्तुत हो गये। उनके इस भयङ्कर आचरण को देखकर भीम श्मशानमें पहुँचे, और उन अनुचितकारियोंको यमपुर भेज दिया। इन सारी घटनाओंकी खबर गुप्तचरों द्वारा दुर्योधनको भी मिली। उसने अपने सपक्षोंके साथ परामर्श करके निश्चित किया कि इन सभी बातोंके मूल पाण्डव ही हैं, जो विराट्के यहाँ रह रहे हैं। भलीभाँति विचार करके दुर्योधनने विराट्की गायोंका हरण करनेके लिये ससैन्य सुशर्माको भेजा। विराट्के सैन्य तथा सुशर्माके सैन्यमें बड़ी लड़ाई हुई। सुशर्माने विराट्को बन्दी बना लिया था, परन्तु बल्लवरूपधारी भीमने विराट्को छुड़ाकर सुशर्माको ही बन्दी बना लिया, परन्तु युधिष्ठिरने सुशर्माको भी मुक्ति दिला दी।

सप्तम स्तबक

समस्त वृत्तान्त सुनकर दुर्योधनने गोहरणके लिये पूरी तैयारीके साथ आक्रमण किया। समाचार सुनकर विराट्के पुत्र उत्तरनें अन्तःपुरमें बड़ी डींग हाँकी। बृहन्नला-को सारथ्य करनेके लिये अनुनीत किया और लड़ने चले। जाते समय लड़कियोंने उत्तरसे निवेदन किया कि आप कौरवोंके वस्त्र छीनकर लेते आवें। उत्तर चले तो थे बड़े उत्साहसे, परन्तु जैसे ही उन्होंने कौरवोंकी सेना देखी कि उनका धैर्य जाता रहा। वे भागनेकी तैयारी करने लगे। रथसे कूदकर भाग ही रहे थे कि बृहन्नलाने उन्हे पकड़ कर रथसे बाँध दिया और बहुत समझाया। अन्तमें यहाँ तक कहा कि आप रथ सँभालिये मैं ही लडूँगा। यही निश्चित हुआ। बृहन्नला (अर्जुन) ने अपने अस्त्र निकाले और कौरवोंको प्रस्वापनास्त्र द्वारा मुग्ध करके उनके वस्त्र उतरवा लिये। वे कौपीन पहनकर अपना सा मुँह लिये राजधानीको लौट गये। नगरकी ओर लौटते समय अर्जुनने उत्तरसे कहा कि 'यह बात किसी पर प्रकट नहीं कीजियेगा, आइये, आप रथी बन जाइये और मैं पूर्ववत् सारथी बन जाता हूँ।' नगरमें आनेपर विजेता उत्तर कुमारकी बड़ी प्रशंसा की गई। बृहन्नला ने कन्याओंमें वस्त्रका वितरण किया। विराटने जब अपने पुत्र उत्तरसे पूछा कि 'बेटा! तुमने कौरवोंको किस तरह हराया?' तब उत्तरने श्लेषमय भाषामें सारी युद्धकथा बता दी। विराटको पाण्डवोंकी सारी बातें ज्ञात हो गईं, उन्होंने युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी और इसी आनन्दोत्सवमें उत्तराके साथ अभिमन्यु का विवाह सम्पन्न हुआ। इस प्रकार अज्ञातवास की अवधि भी समाप्त हुई।

अष्टम स्तबक

अज्ञातवास समाप्त होनेपर युधिष्ठिरने सभी राजाओंको विराटपुरमें आमन्त्रित किया। पाण्डवोंने सात अक्षौहिणी तथा कौरवोंने ग्यारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी की। शल्यको दुर्योधनने धोखा देकर अपने पक्षमें कर लिया। श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लानेके लिये अर्जुन द्वारका गये। दुर्योधन भी पहुँचे। अर्जुन भगवान्के चरणकी ओर तथा दुर्योधन उनके शिरकी ओर बैठ गये। भगवान् जब सोकर उठे तब उनकी दृष्टि अर्जुनपर ही पड़ी।

अतः उन्होंने निरस्त्रभावसे अर्जुनका सारथ्य करना स्वीकार कर लिया। दुर्योधनको भी उन्होंने नवकोटि यादवसेना प्रदान करके सम्मानित किया। भगवान् अर्जुनके साथ विराट्पुर आये। यहाँ आनेपर युधिष्ठिरने उनसे अपने हृदयके भाव प्रकट किये। उनकी बातोंसे प्रभावित होकर भगवान् सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर आये। भगवान् हस्तिनापुरमें विदुरके अतिथि हुए और यथासमय दुर्योधनकी सभामें उपस्थित होकर धृतराष्ट्रके सामने सन्धिका प्रस्ताव रखा। धृतराष्ट्रको सन्धि स्वीकार्य थी, परन्तु दुर्योधनने सन्धिकी बात नहीं सुनी। वह सभाभवनसे निकल गया। दुर्योधनने भगवान्को बन्दी बना लेना चाहा। भगवान्ने अपना विराट्रूप प्रदर्शित किया। सभी सभासद स्तुति करने लगे। वहाँसे आकर भगवान्ने सारी बात पाण्डवोंसे बता दी। पाण्डवोंका रणोत्साह बढ़ने लगा। इसी समय कुन्तीने कर्णके पास जाकर उससे अपना मातृत्व-ममत्व प्रकट करके युधिष्ठिरका पक्ष ग्रहण करनेका अनुरोध किया। कर्णने उसे औचित्य प्रश्नसे निरुत्तर कर दिया। कुन्ती लौट आई।

नवम स्तबक

दोनों पक्षोंमें युद्धकी तैयारी होने लगी। दुर्योधनने भीष्मको सेनापति बनाया और पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान धृष्टद्युम्न बनाये गये। भीष्मका सेनापतित्व कर्णको अच्छा नहीं लगा। अतः कर्णने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक भीष्म जीते रहेंगे युद्ध नहीं करूँगा। इधर अर्जुन जब युद्धक्षेत्रमें आये तब उनको मोह हो गया कि अपने ही बान्धवोंपर शस्त्र प्रयोग करना क्या ठीक होगा? भगवान्ने गीताका उपदेश देकर उन्हें प्रकृतिस्थ किया। युद्ध प्रारम्भ हुआ। द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। भीष्मने दशसहस्र सैनिकोंका संहार किया। भीष्मके बाणोंसे लोग क्षत-विक्षत होने लगे। अन्तमें दश दिनों तक युद्ध करके भीष्मने शरशय्या ले ली।

दशम स्तबक

भीष्मके बाद द्रोण सेनापति हुए। द्रोणने दुर्योधनकी प्रार्थनासे युधिष्ठिरको बन्दी बनानेकी भरपूर चेष्टा की। भगदत्त और भीमकी बड़ी लड़ाई हुई। भगदत्तने अर्जुनके वधार्थ वैष्णवास्त्रका प्रयोग कर दिया, जिसे भगवान्ने अपने वक्ष पर ले लिया। दूसरे दिन द्रोणने पद्मव्यूहकी रचना की। उस दिन अर्जुन अनुपस्थित थे, अतः अभिमन्युने व्यूहभेदन करके भीतर प्रवेश किया। जयद्रथने व्यूहका मुख बन्द कर दिया। अकेला अभिमन्यु कर्ण-द्रोण-कृप-अश्वत्थामा आदिसे लड़कर निरस्त्र हो गया और मारा गया। अर्जुनने अभिमन्युके लिये बड़ा विलाप किया और प्रतिज्ञा की कि कल सूर्यास्तके पहले जयद्रथको अवश्य निहत करूँगा। दूसरे दिन अर्जुनने घोर संग्राम प्रारम्भ किया। भूरिश्रवाने सात्यकिका वध करना चाहा तभी अर्जुनने भूरिश्रवा का हाथ काट डाला। कृष्णने चक्रसे सूर्यको छिपा लिया। जयद्रथ मारा गया। जयद्रथके

मारे जानेसे क्षुब्ध होकर दुर्योधनने रात्रियुद्ध प्रारम्भ किया। पाण्डवोंकी ओरसे घटोत्कचने भीषण युद्ध आरम्भ किया। सभी वीरगण रणस्थल छोड़कर भागने लगे। अन्तमें कर्णने एक वीरघ्नी शक्तिसे घटोत्कचका वध कर डाला। द्रुपद तथा विराट् द्रोणाचार्य द्वारा निहत हुए, और अस्त्र त्यागकर बैठे हुए द्रोणके मस्तक को धृष्टद्युम्नने काट डाला। अश्वत्थामाने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया, जिसे अर्जुनने ब्रह्मास्त्र द्वारा निवारित किया।

एकादश स्तबक

द्रोणाचार्यके अनन्तर कर्ण प्रधान सेनानायक बनाये गये। शल्यको उनका सारथि बनाया गया। कर्णने शल्यकी बड़ी प्रशंसा की, परन्तु अर्जुनको दिये गये वचनके अनुसार शल्य कर्णको भग्नोत्साह ही करता रहा। भीमने दुःशासनपर आक्रमण करके उसका वध कर दिया और उसके शोणितसे द्रौपदीका वेणीबन्धन किया। कर्णने अर्जुनपर नागास्त्र प्रयोग किया किंतु कृष्णने अर्जुनके रथको पृथ्वीमें धँसाकर अर्जुनको बचा लिया। अन्तमें अर्जुनके द्वारा कर्ण मारा गया।

द्वादश स्तबक

कर्णके मारे जाने पर शल्य सेनापति बनाये गये। युधिष्ठिरने शल्यका वध किया। नकुलने शकुनिको यमपुर भेजा। बचे हुए कृपादि युद्धक्षेत्रसे भाग गये। दुर्योधन जलस्तम्भनविद्याके द्वारा ह्रदमें जाकर छिप गया। उसे भीम खोजने चले। भीमके साथ दुर्योधनका गदायुद्ध हुआ। दुर्योधन मारा गया। अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्न तथा पाण्डव-शिशुओंका वध कर दिया। अर्जुन आदिने अश्वत्थामाका पीछा किया। अश्वत्थामाके शिरसे मणि निकाल ली। वह हततेज होकर चला गया। युधिष्ठिरकी प्रार्थना पर कृष्ण और व्यासने धृतराष्ट्रको सान्त्वना प्रदान की। लौहमूर्त्तिरूप भीमको चूर्ण करके धृतराष्ट्रने अपना कोप शान्त किया। युद्धमे मारे गये लोगोंका और्ध्वदेहिकसंस्कार सम्पन्न किया गया। युधिष्ठिर हस्तिनापुर आये, राज्यारूढ़ हुए। भीष्मसे युधिष्ठिरने राजनीतिका उपदेश लिया और अश्वमेध यज्ञ किया।

[यही संक्षिप्त कथा इस चम्पूभारतमें वर्णित हुई है। महाभारत एक विशाल ग्रन्थ है। उसमें अनेक प्रासङ्गिक कथायें वर्णित हैं। उसमें वर्णित कथाओंके विषय में व्यासने कहा है—**'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्'** तथापि इस काव्यग्रन्थमें उतनी कथायें देना संभव नहीं था। अतः आवश्यकतानुसार कथायें ली गई हैं, और उनका वर्णनात्मक रूपमें प्रदर्शन किया गया है।]

समालोचना

चम्पूभारतका साहित्यिक चमत्कार

चम्पूभारतके निर्माता अनन्तभट्ट एक रीतिसम्प्रदायके कवि थे अतः उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें प्राचीन परम्पराका पूरा पालन किया। मङ्गलाचरणमें एक ही श्लोक नमस्कारात्मक है, जिसका साहित्यिक गौरव स्तुत्य है। गणेशको पुराण गजके रूपमें वर्णित करके उनसे क्षेमकी याचना की गई है। वर्णनकी उदात्तता उसका सर्वस्व है।

मङ्गलाचरणके अनन्तर हस्तिनापुरीके वर्णनमें कविने बड़ा कौशल प्रदर्शित किया है, एक श्लोक है—

'दीप्रैरगारमणिभिर्दिवसायमानां निश्चिन्वते मनसि यत्र निशां युवानः।
कार्त्तान्तिकैरखिलकालनिवेदनाय घण्टामणेरभिहतस्य घनारवेण ॥'

घरमें लगे हुए रत्नोंकी प्रभासे दिन और रात्रिमें तनिक भी भेद नहीं रह गया है, रातका ज्ञान करना कठिन हो रहा है, युवकोंको यदि रात्रिका पता नहीं लगे तब तो उनकी प्रियतमायें खण्डिता हो जायँ, और फिर मानका अपनोदन एक समस्या हो जाय, अतः उन्हें किसी न किसी प्रकार रात्रिका ज्ञान करना ही है और वे घण्टाघरके शब्दों पर ध्यान देकर अपना ज्ञातव्य समय समझ लिया करते हैं। साहित्यमें प्रकाशातिशयके कारण अमाको पूर्णिमा होते आपने अनेक स्थलोंपर देखा-सुना होगा, किन्तु यहाँपर रात्रिको दिन होते देखिये।

प्रथम स्तवकमें एक प्रकरण आया है पाण्डुके द्वारा उस आखेटका, जिसके प्रसङ्गमें उनके जीवनकी दिशा ही बदल जाती है। वे वन में गये, उनके सामने एक मृगयूथ प्रकट हुआ, जिसका वर्णन इस प्रकार है—

'भूभुजोऽस्य सविधे विचरन्त्योर्भोजमद्रसुतयोर्दृशिशोभाम्।
जेतुकाममिव सर्वसमष्ट्या प्रादुरास पुरतो मृगयूथम् ॥'

राजाके सम्मुख मृगयूथ ऐसे प्रकट हुआ, मानो वह मिलकर राजाके पास रहनेवाली कुन्ती तथा माद्रीके नयनोंको परास्त करना चाहता हो।

यह प्रसङ्ग जब मैंने पढ़ा तब मुझे रघुवंशका दशरथमृगयावर्णन ध्यानगत हो गया, वहाँ पर कालिदासने कहा है—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥'

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनन्तभट्टकी बुद्धिमें कालिदासकी यह कविता उस समय अवश्य नाच रही होगी जब उन्होंने उपर्युक्त पद्य बनाया होगा। यह धारणा तब और दृढ़ हो जाती है जब मैं देखता हूँ कि इसके आगेवाले श्लोकोंमें इससे भी अधिक समता है। देखिये रघुवंश—

'तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः॥'

अनन्तभट्टने लिखा—

'क्षोणीपतौ मदकलं प्रति कृष्णसारं तूणीमुखे पतितपाणिनखाङ्कुरेऽस्मिन्।
एणीकुलानि तरलैर्यमुनाजलानां वेणीमिवाक्षिवलनैर्विपिने वितेनुः॥'

राजाके द्वारा बाणग्रहणपूर्वक लक्ष्य किये गये मृगगणने अपने कातर तथा श्याम-प्रभ दृक्पातसे वनको पूर्ण रूपसे ऐसा श्यामल बना दिया, मानो यमुनाका प्रवाह वनमे बहने लगा हो।

कालिदासने जहाँ वनमें आर्द्र नीलकमल बिखेर दिये थे, वहाँ अनन्तभट्टने यमुना-की धारा प्रवाहित कर दी है, परन्तु दोनोंकी कविताके प्राणाधायक स्वर एक ही तारमें बँधेसे लगते हैं।

अनपत्यता बहुत अखरनेवाली बात है। प्रसूतिविकल जनको सन्तानके अभावमें वंशलोपकी बड़ी चिन्ता रहा करती है, कालिदासने शाकुन्तलमें लिखा है—

'अस्मत्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुसेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥'

इसी तरहकी बात अनन्तभट्टने भी अनपत्य पाण्डुके मुखसे कहलाई है—

'गात्रं न केवलमशेषबुधोपलाल्यं गोत्रं च तत्रभवतः कुमुदैकबन्धोः।
आपाण्डु वर्त्तत इति स्फुटमद्य मन्ये यस्मात् प्रजां न लभसे यदुवीरकन्ये॥'

वसन्तका उन्मादकर काल उपस्थित हुआ। अनन्तभट्टने उस प्रसङ्गमें एक श्लोक लिखा है—

'कुरबके रवकेलिभृतः सुधा समधुरं मधुरं मधु षट्पदाः।
पपुरवापुरवार्यमपि स्मयं नृपवने पवनेरितपादपे॥'

इस श्लोकको पढ़िये और मिलाइये कालिदासके इस श्लोकसे—

'विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः॥'

मैंने ऊपर जो उद्धरण दिये हैं उनसे मेरा प्रयोजन यह सिद्ध करनेका कदापि नहीं है कि अनन्तभट्टने कालिदासकी कविताका अर्थतः, भावतः, या शब्दतः अनुकरण किया है। मेरा केवल इतना ही मन्तव्य है कि कालिदासकी कविताका अनन्तभट्टने पर्याप्त परिशीलन किया था, और वह उनके लिये अनुकरण नहीं, अनुगमनकी वस्तु बन गई थी।

व्यासके उपदेशानुसार पाण्डवगण एकचक्रपुरमें रहने आये। वहाँकी एक एकपुत्रा वृद्धाके कष्टका वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही किया गया है—

'सन्तानमूलमिदमेकमपत्यमास्ते संवर्त्तकालसहजश्च स राक्षसेन्द्रः।
संभूयते च समयः कृपया महत्या सन्तीर्यतां कथमियं सखि मे विपत्तिः॥'

इस श्लोककी सीधी-सादी भाषासे जननीहृदयकी जो व्याकुलता झाँक रही है वह आस्वादकी उत्कृष्टताका विषय है।

द्रौपदीका स्वयंवर हो रहा है, सभी देशोंके राजागण उचित स्थानोंपर आकर जमे हुए हैं। इसी समय द्रौपदी रङ्गमञ्चपर आती है। उसे कविने लक्ष्मीका रूपक दिया है, परन्तु इन्दीवरमें नित्यवाससे वह लक्ष्मी श्यामा हो गई है। कमलके अभावमें लक्ष्मीको इन्दीवरमें ही वास करना पड़ रहा था, क्योंकि सतत दीप्त सोमकवंशी द्रुपदकी कीर्त्तिरूप चन्द्रमा तो उगा ही रहता है, कितनी अच्छी तुलना है—

'जाग्रत्सोमककीर्त्तिसोमनिमिषत्पद्मावकाशात्ययात्
प्राप्तेन्दीवरनित्यवासघटितश्यामप्रभा श्रीरिव।
पाञ्चालस्य सुता ततः परिजनैः सार्धं पुरः पश्यतां
राज्ञां बुद्धिमिवाधिरुह्य शिबिकां रङ्गस्थलीं प्राविशत्॥'

इस पद्यमें एक और बात ध्यान देने योग्य है। द्रौपदी सभी राजाओंकी बुद्धिमें आरूढ़ थी। उसी समय वह शिबिका पर आरूढ़ होकर वहाँ ऐसे आई मानो राजाओंकी बुद्धियाँ ही शिबिकाएँ बन गई। शिबिका जब चलती है तो डोलती रहती है, उसी प्रकार राजगणकी बुद्धियाँ भी प्रचलित हो रही थीं, उन्हें भय लग रहा था कि क्या जाने किसे यह राजकन्या वरेगी।

द्रौपदीका विवाह हो रहा है। सखियाँ उसे सजा रही हैं। उस समयका एक श्लोक बड़ा सुन्दर बना है। सारे अङ्ग सजा दिये गये, काञ्ची पहनाना शेष है, सखी हाथोंमें काञ्ची लिये खड़ी है। कमर मिले तो पहनाई जाय, परन्तु कमर इतनी पतली है कि दीर्घनयना सखी भी उसे नहीं देख पा रही है। लघुनयना होती तो कदाचित् यह भी कहा जाता कि तुम्हारी आखें सूक्ष्म कटिको नहीं देख पा रही हैं, परन्तु दीर्घनयना होकर भी जिसे नहीं देख रही है वह कमर भला कितनी पतली है—

'सकलमपि वपुर्विभूष्य तन्व्याः सपदि सखी विपुलेक्षणाम्बुजापि।
चिरतरमनवेक्ष्य मध्ययष्टिं करधृतकाञ्चनकाञ्चिरेव तस्थौ॥'

अग्निद्वारा प्रार्थित होकर अर्जुनने खाण्डववनका दाह करना प्रारम्भ किया। धूमलेखा आकाशको चूमने लगी। उसका वर्णन कविने यों किया—

'हुताशनपरित्रासादुच्चलन्त्या वनश्रियः।
कबरीव श्लथा वेगात् कापि धूम्या खमानशे॥'

इस श्लोकको देखते ही मुझे नैषधका यह श्लोक स्मरण आ जाता है—

'पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली॥'

कविताकी सफलता अलङ्कारोंकी सजावटसे जितनी होती है उससे अधिक भावसृष्टिसे होती है। जिस कविको अपनी कवितामें समय-समयपर भावसृष्टि करनेका जितना अधिक क्रम ज्ञात रहता है उसे हम उतना अधिक सफल कवि मानते हैं। अनन्तभट्टने अलङ्कारोंकी सजावटके साथ ही भावसृष्टिका भी अधिक ध्यान रखा है। व्यासदेवके परामर्शानुसार वनवासकालमें अर्जुन हिमालयके परिसरमें तपस्या कर रहे हैं। उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर शिवजी उनकी परीक्षा लेने आये हैं। किरातके वेषमें आये हुए शिवजी तथा अर्जुनमें एक शूकरके लिये विवाद उठ खड़ा हुआ है। दोनोंमें युद्ध हो रहा है। शिवके साथ पार्वती भी आई हैं जो अलग खड़ी होकर युद्ध देख रही हैं। अर्जुनके प्रहारोंसे शिवका शरीर क्षत-विक्षत हो रहा है। महादेवके मनमें अर्जुनके प्रति सन्तोष है। तथापि कृतक कोप करके वे अपना धनुष तानकर उसपर बाणसन्धान कर बैठते हैं। पार्वतीको भय हो जाता है कि कहीं शङ्कर सचमुच बाण न छोड़ दें। वे ठहरीं माता, उनका हृदय भावी अनिष्टकी शङ्कासे व्याकुल हो उठता है, वे अर्जुनकी रक्षाके लिये व्यग्र हो उठती हैं। शिवके समीप जाकर उनके हाथ पकड़ लेनेका समय नहीं है। तब-तक तो सारा खेल बिगड़ जा सकता है, अतः उन्होंने अव्यर्थ मन्त्रजपसे अर्जुनकी रक्षाका प्रयत्न किया। इस प्रसङ्गमें कविने कहा है—

'सरुषीव हरे विकृष्टचापे सहसा शैलसुतापि जातशङ्का।
मघवत्सुतमङ्गलाय देवी मनसा यात इषुः श्रुतिं जजाप॥'

गोधनापहरणके लिये आये हुए सुशर्माकी हारसे कुपित होकर कौरवोंने विराट्पर चढ़ाई कर दी है। बड़ी भारी सेना बढ़ती चली आ रही है। विराटके पुत्र उत्तरने बड़ी-बड़ी बातें कीं, बृहन्नलाको सारथि बनाया, युद्धक्षेत्रकी ओर चले, परन्तु सैन्यदर्शनमात्रसे ही उनका वीरत्व लुप्त हो गया, वे रथसे उतरकर भागनेकी चेष्टा करने लगे। उस समय

उनकी उक्तिमें जो स्वाभाविक कृपणता वर्णित हुई है वह भावाभिव्यक्तिका एक सुन्दर निदर्शन है—

'गाः कालयन्तु सह वत्सकुलैरशेषैः
घोषान्दहन्तु कुरवः प्रहरन्तु गोपान्।
मह्यं पलायनमहोत्सवमेव देहि
प्राणेषु किञ्चिदपि मे गुरुतां न वेत्सि॥'
'मातुर्मुखं मम पुरः पुर एव तिष्ठ-
त्युत्कण्ठितस्य नय तत्सविधं कृपालो।'

चम्पूभारत एक वीरगाथाकाव्य ही माना जायगा, क्योंकि यह महाभारतके पदन्यासोंपर चलता है। वीरगाथाकाव्यको काव्यान्तरसाधारण्य प्रदान करनेका प्रयास किया गया है जो बहुत अंशोंमें सफल भी हुआ है, परन्तु चरम लक्ष्य तो वीररसकी पर्यन्त विश्रान्ति ही है। इस प्रसङ्गमें यह भी देख लेना है कि प्रारम्भसे ही कविने वीररसके परिपोषका पर्याप्त प्रबन्ध कर रखा है। जब-जब अवसर आता गया है, कविने वीररसका पर्याप्त वर्णन किया है। युद्धारम्भके पूर्वमें किया गया सन्धिप्रयास उस वीररसको ही पुष्ट करनेके लिये किया गया है। भगवान् जब दूत बनकर गये हैं उस प्रसङ्गमें अनन्तभट्टने जो दशावतार-स्तुति कराई है वह बड़ी ही हृदयग्राहिणी है। आरम्भ के—

'दुग्धाम्बुराशितनयानयनद्वयेन
तुल्याकृतिस्त्वमहिमानमिवोपगन्तुम्।
मत्स्यस्त्वमेत्य भुवि यः सुरवैरिनीता
मध्येसमुद्रमनवीनगवीर्विचिक्ये॥'

इस श्लोकमें मत्स्यरूपधारणका कारण कितना सरस है!

'श्वश्रूर्मुनेरजनि यस्य पदाब्जधूलिः' पढ़कर ऐसा लगता है मानो कविने रामावतारमें किये गये अहल्योद्धारको नया जीवन प्रदान किया हो।

इसके बाद आपको भीष्मके सेनापतित्वमें होनेवाले भीषण युद्धका सरस वर्णन पढ़नेको मिलेगा, जिसमें अलङ्कारों द्वारा अर्थोंकी सजावट कविताको अनुप्राणित-सी करती हुई मिलेगी। उद्धरणों द्वारा उनका आस्वादन कराना यहाँ सम्भव नहीं है। एक वस्तुमात्रका निदर्शन कराया जा सकता है।

दश दिनों तक अविराम युद्ध करनेके कारण भीष्मने देवोंको सन्तुष्ट कर दिया। देवगण प्रसन्न होकर भीष्मके ऊपर कल्पवृक्षके फूल गिराने लगे। सन्तान (कल्पवृक्ष) पुष्पका लाभ

ही उन भीष्मके लिये सन्तानलाभ हुआ, जो आजन्म कुमार ही बने रहे। यह तो बड़े आश्चर्यकी बात हुई कि भीष्मको विना विवाहके सन्तान-लाभ हुआ—

भीष्मस्य कन्याजनपाणिपीडां पितुर्मुदे त्यक्तवतोऽपि तस्य।
सङ्गात्सुराणां सति पुष्पवर्षे सन्तानलाभोऽजनि तद्विचित्रम् ॥

असाधारण युद्ध करके भीष्मपितामह शरशय्यापर पड़ गये। वे जबतक लड़ते रहे, उनके बाणोंसे मर-मरकर अनेक वीर देवाङ्गनाओंकी मनोरथपूर्तिके सहायक बनते रहे। अब उनके रणनिवृत्त होनेसे देवबालाओंको बड़ा दुःख हुआ कि अब उन्हें नये-नये वर नहीं मिलेंगे। उन्हें ऐसा लगा मानो उनके श्वशुरका देहान्त हो गया हो। पतिप्रदाता ही तो श्वशुर होता है, भीष्मने उन्हें पति दिये। वे उनके मरणको यदि श्वशुरमरणके रूपमें लें, तो यह उचित ही कहा जायगा—

'जगति विततकीर्त्तौ जामदग्न्यस्य शिष्ये
कवलितरिपुवर्गे कालधर्मं प्रपन्ने।
बहुसुरवरलाभाद्बद्धकामोत्सवानां
श्वशुरमरणदुःखं स्ववर्वधूनां बभूव ॥'

इस प्रकार युद्धमें वीरगण मारे जाते रहे, द्रोणके मारे जानेपर कर्ण सेनापति हुए। कर्णने अपना सारा युद्धकौशल प्रकट किया परन्तु भवितव्यता उनके विरुद्ध थी। वे अर्जुनद्वारा निहत हुए। उनके निधनके पश्चात् होनेवाले सूर्यास्तके वर्णनमें कविने बड़ी अच्छी कल्पना की है:—

'ततः स्वकीयस्य तनूभवस्य वधाज्जले स्नातुमना इव द्राक्।
मन्दायमानद्युतिमालभारी मरीचिमाली स ममज्ज सिन्धौ ॥'

कर्णके मारे जानेके अनंतर सूर्य समुद्रमें ऐसे डूब गये, मानो वे पुत्रको तिलतोयाञ्जलि देनेके लिये स्नान करना चाहते हों।

कर्णके मारे जानेके पश्चात् महाभारतका युद्ध निर्जीव-सा हो गया है, अनन्तभट्टने उधरकी कथाको अतिसंक्षिप्त रूपमें कहकर ग्रन्थसमाप्ति कर दी है।

महाभारतका जितना कथाभाग इस ग्रन्थमें लिया गया है उसे अलङ्कृत करके रखनेका प्रचुर प्रयत्न किया गया है। इसी विषयको निदर्शनके रूपमें दिखलानेके लिये मैंने कतिपय उद्धरण दिये हैं। ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं वे पद्यभागके हैं। गद्यभाग भी बड़ा अच्छा बना है।

व्यासके उपदेशानुसार पाण्डवगण एकचक्रा नगरीमें आकर ठहरे, उसी नगरीका अतिलघुवर्णन अनन्तने दिया है। देखिये, कितना सुन्दर श्लोक है—

'प्रावृषमिव बकबलाक्रान्तां, पातालनगरीमिव प्रत्यहं वर्धमानबलिशोकाम्, अङ्गराज्यसीमाम् इव सूर्यतनयानुकूलप्रतिष्ठाम्, रविरथाचधुरमिवैकचक्राम्'।

गद्यके निर्माणमें ख्यातकीर्त्ति बाणभट्टने विरोधाभासके द्वारा गद्यका बड़ा गौरव बढ़ाया है, उस विरोधाभासका एक दृष्टान्त इस चम्पूभारतमें भी देखिये—

'विश्रृङ्खलहर्षितगिरिव्रजमपि श्रृङ्खलाखेदितमहीभृत्कुलम्, जराघटितदेहमपि देदीप्यमानबलसम्पदम्, आशाजेतारमपि पदार्थापहारजागरितारम्, मागधमपि विगीतव्यापारम्।'

गिरिव्रज, जरा, मागध आदि पदोंका श्लेष इस विरोधाभासको चमका रहा है।

इसी तरह अन्य अलङ्कारोंका भी यथोचित समावेश किया गया है। यद्यपि इस चम्पूकाव्यमें गद्यकी मात्रा कुछ कम है, केवल कथाभागको जोड़नेकी कड़ीका काम गद्यखण्डोंसे लिया गया है, फिर भी कथानकके विपुलताकृत वैचित्र्यके चलते पाठकको हृदयोद्वेग नहीं हो पाता।

ऊपर दिये गये उद्धरणोंसे स्थालीपुलाकन्यायद्वारा आपको इस चम्पू ग्रन्थके साहित्यचमत्कारकी झाँकी मिल गई होगी विशेष इस ग्रन्थमें ही देखें।

पात्रालोचन

इस ग्रन्थमें पात्रोंको नया रूप नहीं दिया गया है। महाभारतके पात्र अपने-अपने रूपमें ही उपस्थित किये गये हैं। महाभारतके पात्र इतने प्रसिद्ध हैं कि उनकी आलोचना अनावश्यक है। इस सम्बन्धमें इतना और जान लेना चाहिये कि जब कवि रसप्रकर्षसृष्टिके लिये कथामें भेद उत्पन्न करते हैं उस समय कविकल्पित पात्रचरित्रका आलोचन कविसम्पादित चमत्कारातिशयकी दृष्टिसे आवश्यक हो जाता है। चम्पूभारतके पात्रोंके चरितमें कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं किया गया है। महाभारतमें उनके चरितमें जो न्यूनाधिक्य है उसे ज्योंका त्यों रख दिया गया है। इसलिये यहाँ पात्रोंकी आलोचना नहीं दी जा रही है।

चम्पूभारत की टीका

चम्पूभारतकी दो टीकायें मुझे पढ़नेको मिल सकीं—१. कुरविकुलचन्द्र रामकवीन्द्रकृत टीका तथा—२. नारायण श्रीखण्डेकृत टीका। इनमें दूसरी टीका अतिसंक्षिप्त है। पहली टीकामें जो त्रुटियाँ मुझे दीख पड़ीं, वे नीचे दी जा रही हैं—

१—पाठ सुधारनेका यत्न न करके जो पाठ जैसा देखा उसीकी टीका करनेके लिये बलात् प्रयत्न किया गया है।

२—टीकामें कुछ ऐसी भ्रामक बातें लिखी गई हैं, जिनसे साधारण पाठक ही नहीं, विद्वान् भी भ्रममें पड़ सकते हैं ।

पाठभेद

मूलग्रन्थके पाठको ठीक करनेका प्रयास कभी नहीं किया गया था । यद्यपि निर्णय-सागरके नवीन संस्करणमें छानबीन करके टिप्पणीमें पाठभेद दिये गये हैं, परन्तु मूलमें लगाये जानेवाले पाठोंपर किसीने कुछ ध्यान नहीं दिया । फलतः पाठकी त्रुटि बहुत अखरती थी ।

प्रस्तुत टीका

मैंने यथामति विचारकर 'प्रकाश' नामक यह संस्कृत-हिन्दी टीका प्रस्तुत की है । इसमें पाठको यथाशक्ति ठीक करके तदनुसार टीका लिखनेका प्रयास किया गया है । हो सकता है कि सर्वत्र मेरी कल्पना ठीक न हुई हो । किन्तु साथ ही मुझे विश्वास है कि मेरे द्वारा किये गये पाठशोधनसे कविकी आत्माको चोट नहीं पहुँची होगी, क्योंकि कविता-की दृष्टिसे उपयुक्त तथा संभवी पाठोंको ही मैंने स्थिर किया है । पाठकगण अन्यान्य पुस्तकोंसे मिलाकर देख लें कि मेरे द्वारा स्थिरीकृत पाठोंमें पुराने पाठोंकी अपेक्षा क्या प्रागुण्य है ।

अन्तमें मैं रामकवीन्द्रकी टीकाके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिसने मुझे इस टीकाको प्रस्तुत करनेमें बड़ी सहायता दी है ।

आशा है इस प्रकार प्रस्तुत की गई इस टीकासे लाभ उठाकर पाठकगण मुझे सफलश्रम बनावेंगे ।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
२०१४ संवत् }

विनयावनत
रामचन्द्र मिश्र

॥ श्रीः ॥

चम्पूभारतम्

'प्रकाश' टीकोपेतम्

प्रथमः स्तबकः

कल्याणं वो विधत्तां करटमदधुनीलोलकल्लोलमाला-
खेलल्लोलम्बकोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालान्तरालम् ।
प्रत्नं वेतण्डरत्नं सततपरिचलत्कर्णतालप्ररोह-
द्वाताङ्कूराजिहीर्षोदरविवृतफणाश्रृङ्गभूषाभुजङ्गम् ॥ १ ॥[1]

श्रेयः स मे दिशतु कोऽपि नवीनपीन-भव्याम्बुदप्रभतनुर्जनवन्दनीयः ॥
यद्बाहुपाशकलितालिलितानश्री-राधा घनं प्रविशतीव तडिद्विभाति ॥

श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' ।
प्रसूं 'जयमणिं' चाहं प्रणतोऽस्मि पुनः पुनः ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति सर्वैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥

अथ महाकविरनन्तभट्टः काव्यस्य यशोऽर्थव्यवहारज्ञानाशिवनिवृत्तिपरनिर्वृतिकान्तासम्मितोपदेशप्रदत्वादिफलकतां विभाव्य तद्विरचयिषुः स्वप्रणेयप्रबन्धस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिविद्वत्समुदयप्रतिपत्तिप्रभृतिकामयमानो निजेष्टदेवतास्तुत्यात्मकं मङ्गलं ग्रन्थादौ निबध्नाति—कल्याणमिति । करटयोः गण्डस्थलयोः (स्थितानां प्रवहन्तीनां वा) मदधुनीनां मदवारिनदीनां लोलाः चञ्चलाः याः कल्लोलमालाः दीर्घतरङ्गपरम्परास्तासु (सुगन्धिषु) खेलतां सानन्दं विहरतां लोलम्बानां (रोल-

---

१. 'नवनीतसुगन्धयो नखाङ्का नवनीपाङ्कुरनन्दनीयशोभाः ।
कुशलं कलयन्तु गोपिकानां कुचवास्तव्यकुटुम्बिताधुरीणाः ॥' इति पाठान्तरम् ।

म्बानाम्-रलयोरभेदात् लोलम्बानाम्) भ्रमराणां कोलाहलैः झङ्कारकलकलैः मुखरितं वाचालीकृतं दिशां चक्रवालस्य मण्डलस्य अन्तरालं मध्यं येन तत्तादृशम्, सततं सर्वदा परिचलद्भ्याम् कम्पमानाभ्याम् कर्णौ तालौ व्यजने इव ताभ्याम् कर्णतालाभ्याम् प्ररोहताम् उत्पद्यमानानाम् वाताङ्कूराणाम् अल्पप्रमाणवायूनाम् आहर्त्तुं भोक्तुमिच्छाऽऽजिहीर्षा तया दरम् ईषद्विवृतानि स्फुटितानि फणानाम् भोगानाम् शृङ्गाणि अग्रभागाः यैस्तादृशाः भूषाभुजङ्गाः कटककुण्डलाद्यलङ्कारभावापन्नसर्पा यस्य तत्तथोक्तम्, वेतण्डरत्नं गजश्रेष्ठः (गणेशोऽत्र गणत्वेनाध्यवसीयते) वः युष्माकं कल्याणं शुभं विधत्तां करोतु । अयमाशयः—स गणेशो गजराजो वः कल्याणं कलयतु यत्कपोलप्रवहमानदाननदीतरङ्गखेलदलिपुञ्जेन दिगवकाशा मुखरीक्रियन्ते, यद्भूषाभुजगाश्च तदीयकर्णचलनोद्भूतवाताङ्कुरग्रसनाय सततं व्यात्तमुखास्तिष्ठन्तीति । 'काकेभगण्डौ करटौ'-'महत्सूल्लोलकल्लोलौ' 'लोलम्बो भ्रमरश्च सः'-'अभ्यन्तरं त्वन्तरालं चक्रवालं तु मण्डलम्'-'अङ्कूरस्त्वङ्कुरौ तुल्यौ'-'पुराणप्रतनप्रत्नपुरातनचिरन्तनाः'-'वेतण्डः करटी-गजः' इति तेन कोशाः क्रमशो बोध्याः । अत्रादौ मगणप्रयोगात् 'मो भूमिः श्रियमातनोति' इत्युक्ततया वर्णगणादिशुद्धिरभ्यर्हिता बोध्या । 'भद्रपर्यायकल्याणशब्दस्यादौ प्रयोगाद् वर्णगणादिशुद्धिविचारोऽत्र नापेक्ष्यते—'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' इत्यभियुक्तोक्तेः । अत्रोभाभ्यामपि विशेषणाभ्यां वेतण्डतासमर्थनात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तथा च तल्लक्षणम्—'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' इति । स्रग्धरावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति ॥ १ ॥

जिसके कपोल पर प्रवाहित होने वाली मदधाराकी तरङ्ग-परम्परामें सुगन्धि-लोभसे सञ्चरण करने वाले भ्रमरोंने दिगन्तरको मुखरित कर दिया है, भूषणसर्प-कटक-कुण्डलादि अलङ्कार रूपमें उपयुक्त होने वाले सर्प-जिसके कानोंके चलनेसे उत्पन्न अल्पमात्र वायुको उदरस्थ करनेके लिये सतत मुंह बाये रहते हैं, ऐसे गजरत्न-श्रीगणेशजी आपका कल्याण करें । इस श्लोकमें करट-करिकपोल, धुनी-नदी-धारा, लोलम्ब-भ्रमर, वेतण्ड-गज, कर्णताल-कानरूप पङ्खा, प्ररोहत्-पैदा होते हुए, प्रत्न-पुराण, अङ्कूर-अंकुर, आजिहीर्षा-भोजन करनेकी इच्छा, फणाशृङ्ग-फणाग्रभाग, इन शब्दोंका अर्थ ध्यातव्य है । गणेशजी हाथीके रूपमें सर्वत्र वर्णित होते ही हैं । गणेशजी शिव-परिवारके हैं अतः उनके भी भूषण सर्प होते होंगे, गणेशजीको चन्द्रभूषण भी माना ही गया है, देखिये गणेशस्तोत्र-'भालचन्द्रो गजाननः' ॥ १ ॥

तुहिनकिरणवंशस्थूलमुक्ताफलानां
विपुलभुजविराजद्वीरलक्ष्मीविभूम्नाः

हसितसुरपुरश्रीरस्ति सा हस्तिनाख्या
रिपुजनदुरवापा राजधानी कुरूणाम् ॥ २ ॥

तुहिनकिरणेति । तुहिनकिरणस्य चन्द्रमसो वंशः कुलमेव वंशः वेणुस्तस्य तत्सम्बन्धीनि स्थूलानि बृहन्ति यानि मुक्ताफलानि तेषाम् चन्द्रवंशोत्पन्नानामिति विवक्षितोऽर्थः । वंशस्य मुक्ताफलजनकतया प्रसिद्धेः कुलस्य तत्त्वेनाध्यवसायः । वंशमुक्ताफलानामिति श्लिष्टपरम्परितरूपकम् । विपुलयोः विशालयोः भुजयोः बाह्वोः विराजन् शोभमानः वीरलक्ष्म्याः शौर्यसम्पदः विभूमा बाहुल्यं येषां तथोक्तानाम् भुजवीर्याधिगतशौर्यप्रसिद्धीनामित्यर्थः, कुरूणाम् नाम राजविशेषाणां तदाख्याप्रथितानाम् , हसितसुरपुरश्रीः उपहसितदेवनगरीवैभवा रिपुजनदुरवापा शत्रुभिरधृष्या सा प्रसिद्धा हस्तिनाख्या हस्तिनापुराभिधाना राजधानी प्रधाननगरी राज्ञामावासभूमिभूता अस्ति । 'प्रधाननगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते' इति शब्दार्णवे । मालिनीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ २ ॥

चन्द्रमाके वंश रूप वंशके स्थूल मुक्ताफलस्वरूप (जैसे वंशदण्डमें मुक्ताफल सारभूत होता है उसी तरह चन्द्रवंशके प्रधानभूत) तथा विशाल भुजाओंमें वीर-लक्ष्मीके उत्कर्षसे शोभित कुरुवंशी नृपोंकी हस्तिनापुरी नामक एक प्रसिद्ध राजधानी थी, जो अपनी सुन्दरतासे देवपुरीको भी हंसती थी तथा जिसपर शत्रुओंका आक्रमण कठिन था ॥ २ ॥

यस्यामुदग्रनृपमन्दिरचन्द्रशाला-
वातायने गतिवशाद्वपुषि प्रसक्ताम् ।
दीपाग्रधूममषिकां शिशिरांशुबिम्बे
मोहात्कुरङ्ग इति मुग्धजना वदन्ति ॥ ३ ॥

यस्यामिति । यस्यां हस्तिनापुर्यां नाम चन्द्रवंशिनृपतिराजधान्याम् उदग्रायाः उन्नताया विशालाया इत्यर्थः । नृपमन्दिरचन्द्रशालायाः राजभवनशिरोगृहस्य (सौधशिखरस्थभवनस्य) वातायने गवाक्षे गतिवशात् गमनात्कारणभूताद् वपुषि (चन्द्रमसः) काये प्रसक्ताम् लग्नाम् शिशिरांशुबिम्बे चन्द्रमण्डले दीपाग्रधूममषिकाम् गृहान्तर्वर्त्तिदीपधूमकृतकज्जलम् मुग्धजनाः पामराः पुरुषाः मोहात् अज्ञानवशात् 'कुरङ्गः मृग' इति वदन्ति कथयन्ति । चन्द्रमसि श्यामतया प्रतिभासमानं वस्तुविशेषं ये लोकाः कुरङ्गमाख्यान्ति ते न भूतार्थविदः, सत्यत्वे त्वसौ एतन्नगरोच्चप्रासादवर्त्तिदीपनिर्गतधूमकालिमा, यो वियतिं विसर्पतश्चन्द्रस्य तत्रागमने सति तद्वपुषि प्रसक्त इत्यर्थः । 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्'—'वातायनं गवाक्षः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र चन्द्रस्य तादृशमष्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादतिश-

योक्तिः, कुरङ्गत्वं निषिध्य मषीत्वारोपरूपोऽपह्नवश्चेत्यपह्नुतिश्चेति तयोः सङ्करः। वसन्ततिलकं वृत्तम्—उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति च तल्लक्षणम् ॥३॥

जिस हस्तिनापुरीमें ऊंची अट्टालिकाओंके गवाक्ष-मार्गोंसे निकलती हुई दीपधूमकी कालिख पाससे गुजरने वाले चन्द्रमाकी देह में लग गई है, उसी काली सी चीजको साधारण लोग कुरङ्ग कहा करते हैं यह कहना उनका अज्ञानकृत है ॥ ३ ॥

ग्रीष्मेषु शीतकरकान्तकृतोदरासु यद्गोपुराग्रिमदरीषु पथागतस्य।
विश्राम्यतो हरिहयस्य विलम्बनेषु चिह्नं तदीयदिनसंततिदीर्घभावः ॥४॥

ग्रीष्मेष्विति। शीतकरकान्तैः चन्द्रकान्तमणिभिः कृतमुदरं मध्यभागो यासान्तासु चन्द्रकान्तमणिनिर्मिताभ्यन्तरभूमिषु यस्याः हस्तिनापुर्याः गोपुरस्य पुरद्वारस्य अग्रिमदरीषु ऊर्ध्वद्वारेषु यः पन्थाः सूर्यनिर्गममार्गः तेन पथा मार्गेण ग्रीष्मेषु तपर्त्तुषु आगतस्य हरिहयस्य सूर्याश्वस्य विश्राम्यतः विश्रामं कुर्वतः सतः विलम्बनेषु कालक्षेपेषु तदीयानां ग्रीष्मर्त्तूनां दिनसन्ततेः दिवससमूहस्य दीर्घभावः आयामवत्त्वम् लिङ्गम् प्रमाणभूतम्। एतस्या हस्तिनापुर्या गोपुरद्वाराणि विशालानि चन्द्रकान्तमणिनिर्मितान्यत एव शीतलतराणि च सन्ति, विशालतया सूर्योऽपि तेन पथैवात्मनो यात्रां निर्वर्त्तयति, तत्रागतस्य श्रान्ता अश्वास्तत्र गोपुरद्वारे विश्राम्यन्ति, तेन चाहानि वर्धन्ते, तद्दिनवृद्धया हेतुना स्फुटानुमेयो हर्यश्वकृतो विश्राम इति पिण्डार्थः। अत्र गोपुरोपरिगृहाणामादित्याश्वविश्रान्तिस्थानत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिः, गृहाणां चन्द्रकान्तमणिमयत्वकथनादुदात्तालङ्कारश्चेति तयोः संसृष्टिः। रव्यश्वविश्रान्तिस्थानतया वर्णितस्य गोपुरद्वारस्योच्चतया चन्द्रकान्तमणिनिर्मितत्वेन च समृद्धिमत्त्वं पुर्या व्यज्यते। पूर्वोक्तमेवं वृत्तम् ॥ ४ ॥

हस्तिनापुरीके गोपुर-शिखर-भवन चन्द्रकान्तमणिके बने होनेके कारण अतिशीतल हैं, ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके अश्व जब उस विशाल गोपुरके बीचमें से गुजरने लगते हैं तब अपनी सन्तप्त देहको शीतल करनेकी इच्छासे वहाँ विश्राम करने लगते हैं, इससे उन्हें गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँचनेमें अधिक समय लग जाता है और इसीलिये ग्रीष्मके दिन लम्बे-लम्बे हुआ करते हैं ॥ ४ ॥

यत्राङ्गनाः[illegible]नयामवतीशहृष्यच्चन्द्राश्मसौधगलितः सलिलप्रवाहः।
वृन्दारकेन्द्रनगरीबृहदुत्सवाय मन्दाकिनीति लभते महतीमभिख्याम् ॥५॥

यत्राङ्गनेति। यत्र यस्यां नगर्याम् अङ्गनानां वनितानाम् वदनेन मुखेन एव यामवतीशेन निशानाथेन हृष्यद्भ्यः स्रवद्भ्यः चन्द्राश्मगृहेभ्यः चन्द्रकान्तशिलाशकलैर्निर्मितेभ्यो गृहेभ्यः सौधेभ्यः गलितः च्युतः प्रवाहः जलपूरः वृन्दारकाः

देवाः तेषाम् इन्द्रः स्वामी देवराट् तस्य नगर्याः स्वर्गस्य बृहदुत्सवाय महते प्रमोदाय मन्दाकिनी वियद्गङ्गा इति महतीम् श्लाघनीयाम् अभिख्याम् प्रतिष्ठाम् लभते प्राप्नोति। अयमाशयः—अस्या नगर्याः सौधानि चन्द्रकान्तमणिरचितानि सन्ति, तेषु वसन्तीनां वनितानां मुखानि चन्द्रास्तत्सम्पर्काच्च्यवमानानि चन्द्रकान्तमणिगृहाणि पयःपूरं प्रवाहयन्ति, तेनैव पयोराशिना वियद्गङ्गोत्पद्यमाना दिविषदां प्रमोदाय जायते इति। अत्र वास्तविक्या आकाशगङ्गायास्तत्त्वं प्रतिषिध्य वदनचन्द्रद्रुतचन्द्रकान्तमणिसौधसम्बन्धि-पयःपूररूपत्वमुपन्यस्यत इति प्रकृतप्रतिषेधपूर्वकान्यस्थापनरूपापह्नुतिरलङ्कारः। स्वर्गङ्गाप्रवाहपूरकजलस्राविशिखरवत्सौधसम्पन्नत्वेनास्या नगर्या विशालभवनवत्ताभिधानद्वारा समृद्धिशालित्वध्वनिश्च। अन्यत्पूर्ववत् ॥ ५ ॥

हस्तिनापुरी की विशाल अट्टालिकायें चन्द्रकान्तमणि की बनी हैं, उसमें रहने वाली स्त्रियोंके मुखरूप चन्द्रसे वह अट्टालिका पसीजती है, उससे च्युत जलराशि जमा होकर आकाशगङ्गाका प्रसिद्ध नाम धारण करता है, जो आकाशगङ्गा देवोंके बड़े आनन्दका कारण है ॥ ५ ॥

दीप्रैरगारमणिभिर्दिवसायमानां निश्चिन्वते मनसि यत्र निशां युवानः।
कार्तान्तिकैरखिलकालनिवेदनाय घण्टामणेरभिहतस्य[1] घनारवेण ॥ ६ ॥

दीप्रैरिति। यत्र हस्तिनापुर्याम् युवानः युवकाः युवत्यश्च दीप्रैः प्रकाशमानैः अगारमणिभिः गृहखचितरत्ननिवहैः दिवसायमानां प्रकाशातिशयमहिम्ना दिनवदाचरन्तीं निशाम् रात्रिम् अखिलकालनिवेदनाय सर्वेषां कालखण्डानां प्रातर्मध्याह्नसायंसमयादिसूचनाकृते कार्त्तान्तिकैः मौहूर्त्तिकैः अभिहतस्य आहतस्य वादितस्य घण्टामणेः कांस्ययन्त्रस्य घनारवेण दीर्घध्वानेन मनसि निश्चिन्वते रात्रित्वेन जानते। गृहखचितमणिप्रभाभिर्निशापि दिवेव प्रतीयमाना मौहूर्त्तिकाहतघण्टाशब्देनैव युवभिर्निशात्वेन ज्ञायत इत्यर्थः। 'स्युर्मौहूर्त्तिकमौहूर्त्तज्ञानिकार्त्तान्तिका अपि' इत्यमरः। दिनत्वसंपादकप्रभावन्मणिखचितगृहशालित्वेन गृहाभिरामताकृतो नगर्या उत्कर्षातिशयो व्यज्यते ॥ ६ ॥

घरमें खचित चमकदार मणिओंकी किरणोंसे रात दिन बन जाती है—रातकी श्यामता मिट जाने पर वह दिन मालूम पड़ने लगती है, उस समय युवकवर्गको यह नहीं प्रतीत होता है कि रात है या दिन, ऐसी स्थिति में उन्हें समय-ज्ञान करानेवालों द्वारा आहत घण्टाके नादसे ही दिन-रात्रिका निश्चय करना पड़ता है, ऐसी यह समृद्ध नगरी है ॥ ६ ॥

---

१. 'अभिहतस्य'; 'अपि हतस्य'। इति च पा०।

वक्त्रं विलासमणिदर्पणधार्यमाणं वामा हिमांशुरयमित्यवधार्य यस्याम्।
आदर्शबिम्बधृतिरश्रुतदृष्टपूर्वा तस्येति तादृशधियं विनिर्वर्त्तयन्ति ॥ ७ ॥

वक्त्रं विलासेति। यस्यां हस्तिनापुर्याम् वामाः सुन्दर्यः विलासमणिदर्पणधार्यमाणम् क्रीडार्थमवस्थापिते मणिदर्पणे प्रतिबिम्बितं वक्त्रम् स्वं मुखम् 'अयम् दृश्यमानमुखरूपः सुधांशुः चन्द्रः' इत्यवधार्य संशय्य तस्य चन्द्रमसः आदर्शबिम्बधृतिः आदर्शे दर्शं यावत् अमावास्यापर्यन्तम् बिम्बधृतिः पूर्णमण्डलता अश्रुतदृष्टपूर्वा न पूर्वं श्रुता नापि दृष्टा इति (विचार्य) तादृशधियम् प्रागुत्पन्नं भ्रमम् विनिवर्त्तयन्ति निवारयन्ति। मणिदर्पणे प्रतिबिम्बितं स्वीयं मुखं चन्द्रत्वेन प्रतिपद्यमाना हस्तिनापुरललनाः—अमावास्यापर्यन्तं चन्द्रस्य बिम्बधारणं कथं सम्भवेत्, अतो नायं चन्द्रः किन्तु मुखमेवेति निश्चयं कुर्वन्तीत्यर्थः। निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ ७ ॥

जिस हस्तिनापुरीमें पहले विलासमणि-दर्पण-प्रतिबिम्बित-अपने मुखोंको अबलायें चन्द्रमा समझने लगती हैं, पीछे जब उन्हें यह बात याद आती है कि चन्द्रमण्डल तो अमावास्या तक अखण्ड नहीं रहा करता है तब उनका वह ज्ञान चला जाता है, अर्थात् उनका उन विलासमणिदर्पणोंमें प्रतिबिम्बित होनेवाले अपने मुखोंमें चन्द्रत्व-प्रकारक भ्रम दूर हो जाता है, वे समझ जाती हैं कि यह चन्द्र नहीं मुख है, अमावास्याके दिनोंमें चन्द्रमण्डल कैसे होगा यह ज्ञान उन्हें गतभ्रम बना देता है ॥ ७ ॥

आलापकालसमपल्लविताङ्कवीणा-
सौरभ्यपातिमधुपारवसंकुलस्य।
तन्त्रीस्वनस्य समितौ तरुणीस्वनस्य
जानाति यत्र चतुरोऽपि न तारतम्यम् ॥ ८ ॥

आलापेति। यत्र यस्यां हस्तिनापुर्याम् आलापकाले वीणावादनसमये पल्लवितायाः सञ्जातपल्लवायाः (वसन्तरागे गीयमाने शुष्ककाष्ठेऽपि पुष्पाणि पल्लवाश्च जायन्त इति सङ्गीतविद्या-प्रसिद्धिमनुरुध्येत्थमुच्यते) अङ्कवीणायाः क्रोडावस्थापितवाद्ययन्त्रप्रभेदस्य सौरभ्येण सुगन्धेन पातिनां पातुकानां मधुपानां भ्रमराणाम् आरवेण स्वनेन सङ्कुलस्य मिलितस्य तन्त्रीस्वनस्य वीणानादस्य तरुणीस्वनस्य च समितौ सभासु वीणावादनादिगोष्ठीषु चतुरः निपुणः अपि तारतम्यम् भेदम् न जानाति अवगच्छति। अङ्के वीणामवस्थाप्य वसन्तरागे गीयमाने तत्कालं वीणादण्डः पल्लवानुद्भावयति, तत्सौरभ्यपातिनो भ्रमराश्चागत्य तत्र झङ्कुर्वते, तदयं तेषां झङ्कारो युवतिजनवचनैर्मिश्रितः सन् पृथक्त्वेनावधारयितुं न शक्यते चतुरैरपीति भावार्थः। 'समितिः संगरे साम्ये सभायामपि' इति विश्वः ॥ ८ ॥

---

१. 'विनिवारयन्ति'। इति पा०।

जिस हस्तिनापुरीमें गोदमें रखकर वीणा पर जब वसन्तराग बजाया-गाया जाता है तब उस वीणाके नये पुष्प-पल्लव उग आते हैं, उसकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर भ्रमर वहाँ आकर गुंजार करने लगते हैं, उस समय चतुरोंके लिये भी वीणास्वर और तरुणी स्वरका भेद समझ सकना कठिन हो जाता है ॥ ८ ॥

शालीनतामविगणय्य सखीसमाजे
पश्चात्कृतस्य कमितुः प्रणयप्रकोपात् ।
मुग्धाः समीक्ष्य मुकुरायितरत्नभित्तौ
छायां क्षणानुतपनं शमयन्ति यस्याम् ॥ ९ ॥

शालीनतामिति । यस्यां पुर्याम् मुग्धाः नवोढाः स्त्रियः प्रणयप्रकोपात् मानवशात् सखीनां समाजे सखीजनसमक्षम् शालीनताम् कोमलभावम् (लज्जातिकृतं मार्दवम्) अविगणय्य अनादृत्य विहाय पश्चात् कृतस्य पराङ्मुखीकृतस्य कमितुः प्रियतमस्य छायां प्रतिबिम्बं मुकुरायितरत्नभित्तौ दर्पणवदतिस्वच्छे प्रतिबिम्बग्राहिणि च रत्नकृतकुड्ये समीक्ष्य दृष्ट्वा क्षणानुतपनं किञ्चित्कालकृतं पश्चात्तापं शमयन्ति गमयन्ति जहति । सम्मुखागतान् प्रियान् मानाधीनाः प्रेयस्यो नाद्रियन्ते स्वाभाविककौटिल्यात्, पश्चात्पराङ्मुखेषु च तेषु वृथैव पराङ्मुखीकृतः प्रिय इति पश्चात्तपन्ति च ताः । अत्र पुर्यां तु पराङ्मुखीकृतानां नायकानां प्रतिबिम्बानि रत्नमयभित्तिषु प्रतिफलन्ति सन्ति प्रेयसीनां सम्मुखीनान्येव जायन्त इति तासां पश्चात्तापस्य शमनं जायत इति तात्पर्यार्थः । 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः । अत्र सम्मुखप्रतिबिम्बावलोकनस्य पश्चात्तापशमनहेतुकतया वर्णनात् काव्यलिङ्गालङ्कारः ॥ ९ ॥

प्रणयकोपसे मुग्ध. ललनायें अपने प्रियतमोंको जब पराङ्मुख कर देती हैं, और पराङ्मुख होते प्रियतमोंको देखकर स्त्रियोंके हृदयमें थोड़ा पश्चात्ताप होता है, परन्तु वे स्त्रियाँ जब रत्नमय भित्तिपर प्रतिबिम्बित रूप अपने प्रियतमोंको सम्मुख देखती हैं तब उनका पश्चात्ताप कम हो जाता है । पराङ्मुख प्रियतमके प्रतिबिम्बको सम्मुख होना ही है ॥

चित्रं दिदर्शयिषुणा जनितस्य यस्यां
मध्यं विनैव विधिना महिलाजनस्य ।
अङ्गं नितम्बजघनादि यतो यतोऽध-
स्तुङ्गं कुचाद्युपरि याति ततोऽनुकूलम् ॥ १० ॥

चित्रमिति । यत्र चित्रम् आश्चर्यजनकं वस्तु दिदर्शयिषुणा दर्शयितुं कामयमानेन विधिना ब्रह्मणा मध्यम् कटिभागं विनैव अन्तरैव जनितस्य सृष्टस्य महिलाजनस्य नितम्बजघनादि श्रोणीजङ्घाप्रभृति अधः नीचैःस्थम् अङ्गं यतो यतो याति येन-

वर्त्मना गच्छति, ततस्ततः तेन वर्त्मना तुङ्गं विशालम् कुचादि स्तनप्रभृति ऊर्ध्वम् उपरितनम् अङ्गम् अनुकूलम् अधोऽङ्गानुवर्त्ति सत् याति गच्छति। यस्यां,हस्तिनापुर्यां स्त्रियाम् कटिभागो नैवास्ति,आश्चर्यवस्तु दर्शयितुकामो विधाता तासां मध्यं नैव सृष्टवान्, विधातुरीहयैव च कटिमन्तरैव सृष्टानां स्त्रीणामधोभाग-तया प्रसिद्धानि तानि तानि नितम्बजघनादीन्यङ्गानि यया दिशा गच्छति, तदनु-गामितया तासामुपरितनाङ्गानि कुचादीन्यपि गच्छन्तीति भावः। मध्यस्योर्ध्वा-धोऽङ्गयोजनद्वारतया प्रसिद्धस्य अङ्गस्याभावेऽपि येन पथाऽधोऽङ्गं याति तेनैव पथोर्ध्वाङ्गमपि प्रयातीति वस्तुस्थितौ ब्रह्मणस्तादृगद्भुतवस्तुदिदर्शयिषैव कार-णीभवतीति तात्पर्यम् ॥ स्त्रीणां मध्यं विना गमनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधाना-दतिशयोक्तिः। तया च सौन्दर्यातिशयध्वनिः ॥ १० ॥

जिस हस्तिनापुरीमें विधाताने आश्चर्य वस्तु दिखलानेकी इच्छासे स्त्रियोंको कटिभागके विना ही पैदा किया, उनके नीचे वाले अङ्ग नितम्ब जघन आदि जिधर जाते हैं, ब्रह्माकी इच्छासे उनके ऊपर वाले अङ्ग कुच आदि भी उनके साथ-साथ उधर ही जाया करते हैं। अर्थात् वहाँकी स्त्रियाँ इतनी कृशमध्या हैं कि उनके देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो ब्रह्माने इन्हें विना मध्यके ही बनाया हो, और ब्रह्मा की इच्छासे ही इनके अधो भाग और ऊर्ध्वभाग साथ-साथ चल रहे हों, उनके बीचमें नियामक-योजक मध्यभागका नितान्त अभाव हो ॥ १० ॥

पङ्केरुहाणि परिखामवतीर्य यस्यां
प्राकारभित्तिमभितः परिवेष्टयन्ति ।
अन्तःस्थितिं विदधतामबलाजनाना-
मास्यानि जेतुमखिलानि किलात्मभासा ॥ ११ ॥

पङ्केरुहाणीति। यस्यां हस्तिनापुर्याम् पङ्केरुहाणि कमलानि कर्त्तृणि आत्मभासा स्वसौन्दर्येण अन्तःस्थितिम् अभ्यन्तरभागे प्राकारपरिवृतेऽन्तःपुरे वासम् विदध-ताम् कुर्वताम् अबलाजनानाम् स्त्रीणाम् अखिलानि सकलानि आस्यानि मुखानि जेतुम् परिखामवतीर्य परितः खातायां भूमौ समागत्य अभितः समन्ततः प्राकार-भित्तिं वरणकुड्यम् परिवेष्टयन्ति आवृण्वन्ति। यथा कश्चिदरिः स्वशत्रुं प्राकारे-निलीय स्थितं जेतुं तत्परिखायामवतीर्य परिवृणोति तथैव कमलानि मुखैः सह बद्धवैराणि सन्ति शुद्धान्तवासिललनाजनमुखविजिगीषया परिखास्ववतीर्य समन्ततः प्राकारान्तर्वासिवनिताजनमुखानि परिवृत्त्येव तिष्ठन्तीति भावः। परिखासु विक-सितानां कमलानामन्तरवस्थितललनाजनमुखविजिगीषाशालित्वोत्प्रेक्षाऽत्रालङ्कारः।

---

१. परिखाम्। २. 'अन्तस्थितिम्'। इति पा०।

'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति 'प्राकारभित्तिम्' इत्यत्र द्वितीया ॥ ११ ॥

जिस हस्तिनापुरीकी परिखाओंमें विकसित कमल ऐसे लगते हैं मानो प्राकारके अभ्यन्तर भागमें वर्त्तमान स्त्रियोंके मुखोंको जीतनेके लिये ही समस्त दल लेकर वह वहाँ उपस्थित होकर प्राकारको चारो ओरसे घेरकर खड़े हुए हों ॥ ११ ॥

या खलु पुरा कुरुधराधिपापराधसमेधितक्रोधेन हलधरेण निजायुधेन हठात्कर्षणशिक्षया[1] समुत्क्षिप्तदक्षिणक्षितिभागा[2] तदीयभुवनभूषणायमानां भोगवतीमात्मना[3] विजेतुं किल[4] भागीरथीपाथःपथेनावतीर्य कृतप्रस्थानेवाद्यापि परि दृश्यते[5] ।

या खलु पुरेति । या हस्तिनाख्या पुरी पुरा पूर्वस्मिन्समये कुरुधराधिपस्य कुरुदेशस्वामिनो दुर्योधनस्यअ पराधेन दोषेण पुत्रीहरणसाम्बबन्धनात्मकेनसमे धितक्रोधेन प्रज्वलितकोपेन हलधरेण बलरामेण निजायुधेन स्वास्त्रभूतेन हलेन हठात्कर्षणशिक्षया बलपूर्वककर्षणेन समुत्क्षिप्तदक्षिणक्षितिभागा समुद्धृतदक्षिणभूभागा दक्षिणस्या दिश उत्थापिता सती तदीयं बलरामीयं यद्भुवनं लोकः पातालम् (बलरामस्य शेषावतारतया पातालमत्र तद्भुवनमुक्तम्) तस्य भूषणायमानाम् अलङ्कारभूताम् भोगवतीम् नाम नगरीम् आत्मना स्वस्वरूपेण विजेतुं पराभवितुम् भागीरथीपाथःपथेन गङ्गाजलवर्त्मना अवतीर्य कृतप्रस्थाना चलिता इव अद्यापि अधुनापि परिदृश्यते ज्ञायते किलेति प्रसिद्धौ । पुरा दुर्योधनाय कुपितो बलरामो हलेन तद्राजधानीमुत्पाटयितुमैच्छत् , अत एव तस्या दक्षिणो भागोऽद्यत उद्धृत इव भाति, अनेनेव च निकारेणेयं पुरी गङ्गावर्त्मना पातालं गत्वा शेषांशस्य बलरामस्य पुरीं भोगवतीं जिगीपुरिव प्रतीयत इत्याशयः । दक्षिणे उद्धृता, उत्तरतो गङ्गायां प्रविश्य पातालं प्रस्थितेवेयं पुरी पातालस्थभोगवतीजिगीषाशालितयोत्प्रेक्ष्यते । अत्र बलरामकृतापराधायाः पुर्यास्तं जेतुमशक्तायास्तदीयपुरीजयोद्योगकथनात् प्रत्यनीकमलङ्कारः ॥

जो हस्तिनापुरी ऐसी प्रतीत होती है मानो—दुर्योधन द्वारा किये गये पुत्रीहरण एवं साम्बबन्धन रूप अपराधसे दुर्योधन पर कुपित होकर बलरामजीने अपने अस्त्र हलसे बलपूर्वक उखाड़ कर इसके दक्षिण भागको थोड़ा ऊचा कर दिया हो, इसपर कुपित होकर यह नगरी बलरामजी (शेषांश) के लोक–पातालके अलङ्कार स्वरूप भोगवती नामक नगरीको जीतनेके लिये गङ्गारूप जलमार्गसे प्रस्थित हो चुकी हो । बलरामने इस नगरीको

---

१. 'क्षणेन', 'तत्क्षणं च' । २. 'भागतया' । ३. 'भोगावतीम्' ।
४. 'विजेतुं भागीरथी' । ५. 'दृश्यते' । इति पा० ।

कष्ट पहुंचाया, उसका बदला लेनेके लिये यह नगरी गङ्गारूप जलमार्गसे पातालमें पहुँचकर उनकी नगरी भोगवती को जीतना चाह रही हो–ऐसा मालूम पड़ता है ॥

उपेत्य तां पाण्डुरुदारविक्रमः प्रजामनः पल्लवयन् प्रशासनात् ।
यशःप्रकाशैर्यमुनासखीसखैर्निनाय लोकं निजनामवाच्यताम् ॥ १२ ॥

उपेत्येति । ताम् पूर्वोक्तप्रकाराम् हस्तिनापुरीम् उपेत्य प्राप्य राजधानीभावेनासाद्य प्रशासनात् समुचितरूपेण पालनात् प्रजामनः पल्लवयन् उदारविक्रमः महनीयविक्रमः पाण्डुर्नाम राजा यमुनायाः सखी गङ्गा तस्याः सखायः सदृशाः गङ्गाप्रवाहधवलास्तैस्तथोक्तैः यशःप्रकाशैः स्वकीर्त्तिप्रकाशैः लोकं भुवनं निजनामवाच्यताम् -स्ववाचकाभिधानभूतपाण्डुपदवाच्यताम् शुक्लतामित्यर्थः । निनाय प्रापितवान् । तस्य पाण्डोर्यशसा धरणी धवलतां गमितेति भावः । तद्गुणालङ्कारः– 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः' इति तल्लक्षणम् । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १२ ॥

उस नगरीको राजधानी बनाकर महनीय पराक्रम यु पाण्डु नामक राजाने अपने प्रशंसनीय शासन द्वारा प्रजाके हृदयको प्रसन्न करते हुए गङ्गाप्रवाह की तरह धवलवर्ण अपने यशके प्रकाशसे इस संसारको अपने नाम—पाण्डु शब्दका वाच्यत्व प्राप्त करा दिया, अर्थात् उन्होंने अपने यशसे संसारको उज्वल किया ॥ १२ ॥

यं [1]किल पराशरसुतो निखिला[2]वनीदेशावनाय निजजननीनि[3]देशावनम्रमना मनागितराश्चर्यतपश्चर्यालंकर्मीणः समानोदर्यस्य विचित्रवीर्यस्य कुटुम्बिन्यामम्बालिकायां संपादयामास ।

यं किलेति । यम् पाण्डुम् नाम नृपम् इतराश्चर्यतपश्चर्यालङ्कर्मीणः इतरेषाम् अन्यजनानाम् आश्चर्याय विस्मयाय या तपश्चर्या तपस्या तस्याम् अलङ्कर्मीणः दक्षः 'कर्मक्षमोऽलङ्कर्मीणः' इत्यमरः । पराशरसुतः व्यासः निखिलावनीदेशावनाय समस्तभुवनपालनाय मनाक् स्वल्पम् निजजननीनिदेशावनम्रमनाः निजजनन्याः स्वमातुः सत्यवत्याः निदेशेन आज्ञया अवनम्रम् नियोगाभिमुखम् मनो यस्य तथोक्तः सन् समानोदर्यस्य समानगर्भजातस्य भ्रातुः विचित्रवीर्यस्य कुटुम्बिन्याम् भार्यायाम् अम्बालिकायाम् जनयामास उत्पादितवान् । पुरा किल पराशरः कुमार्यां सत्यवत्यां व्यासमजनयत् , परतश्च सा शन्तनुनोढा सती विचित्रवीर्यमसूतेति कथाऽत्रानुसन्धेया ।

जिस पाण्डुको आश्चर्यजनक तपस्यामें दक्ष पराशरसुत व्यासने माता सत्यवतीकी आज्ञासे नियोगके लिये तत्पर होकर अपने सोदर–विचित्र वीर्यकी स्त्री अम्बालिकामें जन्म दिया था ।

---

१. 'यं पराशर' । २. 'अवनि' । ३. 'निदेशवशमनाः' । इति पा० ।

चित्रं चरित्रं जगतीतलेऽस्य न श्लाघयामास नरेषु को वा ।
स यत्स्वयं पाण्डुरपि स्वकेन गुणेन रक्तानकरोत्समस्तान् ॥ १३ ॥

चित्रमिति । चित्रम् विस्मयावहम् अस्य पाण्डोर्नाम नृपस्य चरितम् जगतीतले संसारे को वा नरः कः पुरुषः न श्लाघयामास प्रशंसितवान्? सर्वोऽपि प्रशंसितवानित्यर्थः । यत् यस्मात् स स्वयम् आत्मना पाण्डुः तदाख्यः धवलश्च यशसा सन्नपि स्वकेन निजेन गुणेन शौर्यौदार्यप्रजानुरञ्जनादिना समस्तान् निखिलान् मानवान् रक्तान् अनुरक्तान् अरुणवर्णांश्च अकरोत् । पाण्डो रक्तत्वकरणं विरुद्धमिति प्रथमं विरोधाभासः, गुणिनो राज्ञः पाण्डुसंज्ञस्य प्रजानुरक्तिकरत्वमिति तत्परिहारश्च । अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः, 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् । उपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिर्वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'उपेन्द्रवज्रा-जतजास्ततो गौ' 'स्यादिन्द्रवज्रा यदितौ जगौ गः'—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ १३ ॥

इस राजा पाण्डुके आश्चर्यजनक चरित्र की प्रशंसा इस भूमण्डल पर कौन आदमी नहीं करता था, अर्थात् सभी आदमी इस राजा पाण्डु के आश्चर्यजनक चरित्रकी प्रशंसा करते थे, उस पाण्डुने स्वयम् नामसे पाण्डु (यशसे धवल—यह भी प्रतीत होता है) होकर भी अपने (दया—दाक्षिण्य—शौर्य—औदार्य) गुणोंसे सबको रक्त (लाल) अनुरक्त कर दिया था ॥ १३ ॥

अन्तर्भवत्कृष्णमृगाजिनाङ्कैः सुनिर्मलैः षोडशदानकीर्तेः ।
खण्डैरमुष्येन्दुरकारि धात्रा मृषाऽयमब्धेरजनीति वार्ता ॥ १४ ॥

अन्तरिति । धात्रा ब्रह्मणा अन्तर्भवन् मध्येवर्त्तमानः कृष्णमृगस्य मृगविशेषस्य अजिनं चर्म (तदुपायतया वधश्चाजिनम्) तद्रूपः अङ्कः कलङ्कः येषु तैः सुतरां निर्मलैः अमुष्य राज्ञः पाण्डोः षोडशसङ्ख्यकानां दानानां तुलदान—रत्नदान—धेनुदान-मृगचर्मदानादीनाम् कीर्त्तेः खण्डैः इन्दुः चन्द्रः अकारि निर्मितः, अयम् इन्दुः अब्धेः समुद्रात् अजनि जात इति वार्त्ता मृषा मिथ्या । षोडशमहादानेषु कृष्णमृगाजिनदानमपि वर्त्तते, तद्दानस्य मृगवधसाध्यतया पापरूपत्वं तत्त्वेन च कलङ्कत्वोपचारः, बहूनामन्येषां दानानां मध्येऽस्यान्तर्भूतत्वं मन्दप्रभतया, समेषां दानकीर्त्तिखण्डानां धवलत्वेनान्तर्भूतमृगचर्मदानाङ्कत्वेन च चन्द्रोपादानत्वं सूपपद्यते । तदयमाशयः—राजा पाण्डुना बहूनि षोडशप्रकाराणि दानानि कृतानि तैश्च प्रत्येकं कीर्त्तिखण्डानि जन्यन्ते स्म, तत्रैकं खण्डं मृगचर्मदानजन्यं वधसाध्यतया पापसङ्कुलमिति तस्य कलङ्करूपत्वमुक्तम् , समस्तैश्चैभिः षोडशभिरपि खण्डैरिन्दुरजनीति वस्तुस्थितिः, समुद्राच्चन्द्रो जात इति तु मिथ्या कथेति । 'अजिनं वधचर्मणोः' इति रत्नकोशः । अत्र चन्द्रमसः समुद्रजातत्वमपोह्य कीर्त्तिखण्डजातत्वमास्थीयते इति

'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनम्' इति लक्षिताऽपह्नुतिरलङ्कारः ॥ १४ ॥

राजा पाण्डुने नाना प्रकारके दान किये थे, जैसे तुलादान, धेनुदान, अजिनदान आदि, उन प्रत्येक दानोंसे उनकी कीर्त्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, उनमें मृगचर्मदानजन्य कीर्त्ति वधसाध्यतया श्यामल वर्ण होनेके कारण कलङ्क रूपसे मान ली गई और कीर्त्तिखण्ड धवल थे, उन्हीं षोडश कीर्त्ति खण्डोंसे ब्रह्माने चन्द्रमाका निर्माण किया है, चन्द्रमा समुद्रसे उत्पन्न हुआ यह बात तो झूठी है ॥ १४ ॥

जग्राह निग्राहपरः परश्रियां करैः कराग्रेण करेणुचङ्क्रमः ।
कुन्तीं शकुन्तेशरथो यथा रमां समुद्रकाञ्चीं च स मद्रकन्यकाम् ॥१५॥

जग्राहेति । करैः राजदेयभागभूतैः परश्रियाम् परकीयसम्पदाम् शत्रुविभवानामित्यर्थः, निग्रहपरः स्वीकारपरायणः, करेणुचङ्क्रमः गज इव मन्दगामी स राजा पाण्डुः शकुन्ताः पक्षिणस्तेषामीशो गरुडः रथो वाहनं यस्य स तथोक्तः विष्णुर्यथा रमाम् लक्ष्मीम् (गृह्णाति—पत्नीत्वेन स्वीकरोति) तथा कुन्तीम्, मद्रकन्यकाम् माद्रीम् समुद्रकाञ्चीम् समुद्रवसनाम् उर्वीम् च कराग्रेण हस्ताग्रभागेन जग्राह । यथा विष्णुः रमायाः पतिस्तथा करदीकृतभूपालतया निश्चिन्तः पाण्डुः कुन्तीं माद्रीं समुद्ररशनां धरित्रीं च स्वायत्तीचकारेत्यर्थः । वृत्त्यनुप्राससहचर्युपमाऽत्रालङ्कारः ॥ १५ ॥

करभारसे समस्त शत्रुओंकी धनराशिको अपने वशमें कर लेने वाला तथा गजगामी राजा पाण्डुने कुन्ती, माद्री, एवं समुद्रपरिवृता पृथ्वीको पत्नीरूपमें ग्रहण किया जैसे शकुन्तेश–गरुड़वाहन भगवान् विष्णुने लक्ष्मीका ग्रहण किया था ॥ १५ ॥

अथ कदाचिन्मृगयोपलालितहृदयो नरेश्वरोऽयमश्वे शशिश्वेतरोचिषि विश्वातिशायिनि विजितमातरिश्वनि कृताधिरोहः पार्श्वधृतविश्वकद्रुभिरनेकवागुराद्युपकरणैर्योधैरनुद्रुतो मृदुभद्रविनयाभ्यां यदुमद्रतनयाभ्यामनुविद्धः सिद्धगणगणनीयमहिमवतो हिमवतो जगाहे महतीमटवीतटवीथिकाम् ।

अथेति । अथ कुन्तीमाद्रीपरिणयनानन्तरम् कदाचित् जातु मृगयोपलालितहृदयः आखेटानुरञ्जितहृदयः (आखेटप्रसक्तमनाः) अयम् नरेश्वरः नृपो राजा पाण्डुः शशिश्वेतरोचिषि चन्द्रकिरणधवलकान्तौ विश्वातिशायिनि संसारजयिनि सर्वत उत्कृष्टे विजितमातरिश्वनि वेगगौरवेण जितवायौ (वायोरपि गतिवेगं

---

१. 'करे' । २. 'शकुन्ते' । ३. 'कदाचन' । ४. 'तेजसि' ।
५. 'रयविजित' । ६. 'वागुरोपकरणानुरोधैर्योधैः' । ७. 'अवजगाहे' । इति पा० ।

स्वगतिवेगेनाधरीकुर्वाणे) कृताधिरोहः आरूढः, पार्श्वंगतविश्वकद्रुभिः वामदक्षिणभागयोरवस्थापितमृगयाकुशलशुनकैः अनेकवागुराद्युपकरणैः नानाप्रकारकजालादिमृगयोपयुक्तोपकरणसमेतैः योधैः शूरैराटविकैः अनुद्रुतः अनुयातः सन्, मृदुः कोमलः अकठोरः, भद्रः कल्याणकरश्च विनयः प्रश्रयो ययोस्ताभ्याम् तथोक्ताभ्याम् यदुतनया कुन्ती मद्रतनया माद्री ताभ्याम् अनुविद्धः अन्वितः, सिद्धगणैः योगिभिः गणनीयः परिसङ्ख्यातुं शक्यो महिमा यस्य तादृशस्य हिमवतः हिमालयस्य महतीम् विशालाम् अटवीतटवीथिकाम् वनपरम्पराम् जगाहे प्रविष्टः। मृगयाकृष्टचित्तो धवले तीव्रगतौ चाश्वे आरूढः पाण्डुः पार्श्वयोः शुनो धारयद्भिर्जालादियुक्तैश्च वीरसहचरैरनुगतः कुन्तीं माद्रीं चापि विनोदनार्थं सह नयन् सिद्धैरेव ज्ञातमहत्त्वस्य हिमालयस्य विस्तीर्णां वनपरम्परां प्रविष्टवानिति वक्तव्यसारः। 'मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'श्वा विश्वकद्रुर्मृगयाकुशलः' इति चामरः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः।

एक समय शिकारके प्रति आकृष्ट होकर यह राजा पाण्डुने चन्द्रमाकी तरह स्वच्छ कान्तिवाले तथा सर्वोत्कृष्ट वेगसे वायुको भी परास्त करनेवाले अश्वपर आरूढ़ होकर पासमें अनेक शिकारी कुत्तोंको रखनेवाले, नाना प्रकारके जाल आदि शिकारके योग्य उपकरणोंसे सन्नद्ध वीरोंको साथ लेकर कोमल तथा कल्याणमय विनय वाली कुन्ती तथा माद्री नामकी अपनी रानियोंको सङ्गमें लेकर सिद्धगण जिसकी महिमाको जानते हैं ऐसे हिमालय पर्वत की विस्तीर्ण वन-परम्परामें प्रवेश किया॥

तत्र स तावदतिक्षुल्लकवनमल्लिकामतल्लिकोद्वेल्लितधम्मिल्लोऽवलग्नदृढलग्नकच्छपुटविच्छुरितच्छुरिको निषङ्गानुषङ्ग[1]मांसलिततमांसललितः पर[2]निरासनपरं शरासनवरं करे कुर्वाणो गीर्वाणचक्र[3]वर्तिविक्रमः क्रमेण विवि[4]धमृगवधं विधातुमुपचक्रमे।

तत्रेति। तत्र हिमालयवनपरम्परायाम्, तावदिति वाक्यालङ्कारेऽव्ययम्, अतिक्षुल्लकाभिः स्वल्पाभिः वनमल्लिकामतल्लिकाभिः प्रशंसनीयाभिः अरण्यमल्लिकालताभिः उद्वेल्लितः आकृष्योपरि नीतः धम्मिल्लः कचभरो यस्य स तथोक्तः, अवलग्ने मध्यतनुभागे कटिदेश इत्यर्थः, दृढलग्नः बलवद्बद्धः यः कच्छपुटः मध्यभागबन्धनपट्टान्तरम् तत्र विच्छुरिता प्रविष्टा छुरिका लघुखड्गो यस्य तादृशः, निषङ्गयोः तूणीरयोरनुषङ्गेण धारणेन मांसलिततमाभ्याम् पूरिताभ्यामुच्छ्रिताभ्यां पुष्टाभ्याञ्च अंसाभ्याम् स्कन्धाभ्यां ललितः रमणीयः सः पाण्डुः परनिरासन-

---

१. 'मांसलतमाम्' 'मांसलितमाम्'। २. 'निरासपरम्'।
३. 'गीर्वाणगणचक्र'। ४. 'मृगचक्रवधम्'। इति पा०।

परम् शत्रुपराजयप्रवणम् शरासनवरम् महत् धनुः करे कुर्वाणः हस्तेन दधानः गीर्वाणा देवास्तेषां गणस्य समुदयस्य चक्रवर्त्ती शक्रः तस्येव विक्रमः पराक्रमो यस्य तथोक्तः इन्द्रसमानसारश्च क्रमेण शनैः शनैः विविधमृगवधम् नानाप्रकारकहरिणमारणम् विधातुम् कर्त्तुम् उपचक्रमे प्रारब्धवान्। हिमशैलवनोद्देशे भ्राम्यता मल्लीलताकृष्टकचेन कटिबन्धनपटनिविष्टतीक्ष्णच्छुरिकेण तूणीरद्वयवहनमांसलांसयुगेन धनुर्दधता शक्रपराक्रमेण च तेन पाण्डुना नानाप्रकारकमृगवधः प्रारभ्यतेति भावः। 'मतल्लिका मचर्चिका' इत्यादयः प्रशंसावचनाः। 'धम्मिल्लः संयताः कचाः' इत्यमरः। 'कच्छो जलप्रायदेशे मध्यबन्धनपट्टके' इति विश्वश्च॥

उस हिमालयवर्त्ती वनमें पाण्डु जब घूम रहे थे तब छोटी–छोटी वनमल्लिका लतायें उनके बालोंको लपेट लेती थीं, उनकी कमरमें बंधे कमर पेंचमें छुरी चमक रही थी, तरकसके बांधनेसे उनके कन्धे चढ़े हुए तथा सुन्दर प्रतीत होते थे, शत्रुओंको मार भगाने वाले धनुषसे उनका हाथ युक्त था, वह देवराजके समान पराक्रमी राजा पाण्डु क्रमशः नाना प्रकारके मृगोंको मारना प्रारम्भ किया।

भूभुजोऽस्य सविधे विचरन्त्योर्भोजमद्रसुतयोर्दृशि शोभाम्।
जेतुकाममिव सर्वसमष्टया प्रादुरास पुरतो मृगयूथम्॥ १६॥

भूभुज इति। मृगाणां यूथम् समुदायः अस्य भूभुजः राज्ञः पाण्डोः सविधे समीपे विचरन्त्योः विहारं कुर्वत्योः भोजमद्रसुतयोः कुन्तीमाद्र्योः नाम तदङ्गनयोः दृशि चक्षुषि शोभाम् विपुलत्वस्वच्छत्वचापल्यादिकृतं रामणीयकातिशयम् सर्वेषाम् मृगाणां समष्टया सम्मेलनेन जेतुकामम् इव पराजितां कर्त्तुमिच्छयेव पुरतः राज्ञः समीपे प्रादुरास प्रकटीबभूव। राज्ञः समीपे स्थितयोः कुन्तीमाद्र्योर्नयनशोभाया विजयस्येच्छयैव मृगयूथं पाण्डोरग्रत आत्मानमदर्शयत्, मृगैः प्रत्येकं तद्वनितानयनशोभाविजयस्याशक्यत्वात्सर्वसमष्टया जेतुकाममिवेत्युक्तम्। अत्र मृगसमष्टया जेतुमिष्यमाणतया राज्ञ्योर्नयनशोभाया अत्यन्तरमणीयतोक्ता। अत्र सर्वे मृगा एकीभूय नेत्रशोभाजयेच्छया किमागता इति हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ १६॥

राजा पाण्डुके समीपमें घूमती हुई कुन्ती तथा माद्री नामक रानियोंका नयन–शोभाको जीतनेकी इच्छासी करके मृगोंका दल पाण्डुके आगे प्रकट हुआ। एक–एक कर वह मृग रानीकी नयन शोभाको नहीं जीत सकता था इसीलिये उन लोगोंने मिलकर जीतनेकी भावनासे राजाके सामने अपनेको प्रकट किया॥ १६॥

क्षोणीपतौ मदकलं प्रति कृष्णसारं तूणीमुखे पतितपाणिनखाङ्कुरेऽस्मिन्।
एणीकुलानि तरलैर्यमुनाजलानां वेणीमिवाक्षिवलनैर्विपिने वितेनुः॥ १७॥

१. 'मद्रतनयोः'। इति पा०।

क्षोणी ताविति । क्षोण्याः पृथ्व्याः पतौ स्वामिनि भूमीपतावस्मिन् पाण्डौ नाम राजनि मदकलं मत्तं प्रियासाहचर्यलाभेन प्रसन्नान्तरङ्गमित्यर्थः, कृष्णसारं मृगजातिविशेषं प्रति उद्दिश्य तूणीमुखे तूणीराग्रभागे पतितपाणिनखाङ्कुरे स्थापिताग्रहस्ततया स्वनखभासा तूणीरपुरोभागं रञ्जयति सति बाणमाक्रष्टुं तत्र नीतहस्ते इत्याशयः, एणीकुलानि कर्तॄणि मृगीसमूहाः विपिने तत्र वने तरलैः अस्थिरलनैः नयनसञ्चारैः यमुनाजलानां वेणीम् प्रवाहमिव वितेनुः कृतवन्ति । अयमाशयः—प्रियाभिः सह विहरन्तं कृष्णसारमुद्दिश्य बाणमाक्रष्टुकामे राजनि पाण्डौ तूणीराग्रस्थापितहस्तप्रभया तूणीराग्रप्रदेशं प्रकाशयति सति तदभिप्रायं ज्ञात्वा सम्भ्रान्ताभिर्हरिणीभिः स्वप्रियतमप्राणापहारसंभावनया कातरनयनसञ्चारद्वारकनीलकान्तिप्रसारविधया विपिने यमुनेव प्रावाह्यतेति । हरिण्यश्चकिताः सर्वासु दिक्षु दृशो व्यापारयन्निति यावत् । अत्रातिनैल्यात्कटाक्षाणां यामुनजलपूरत्वेनोत्प्रेक्षणमिति बोध्यम् ॥ १७ ॥

मतवाले कृष्णसार मृगको लक्ष्य बनानेकी इच्छासे राजा पाण्डुने जभी अपने निषङ्गके अग्रभागको अपने नखोंकी प्रभासे चमकाया—अपने निषङ्ग पर हाथ रखा, तभी हरिणियोंने अपनी भयचकित आँखोंके सञ्चारसे उस वने यमुनाके प्रवाहको फैलासा दिया, उनके भीतनयन-सञ्चारसे फैलती हुई नीलकान्ति की राशि यमुनाके प्रवाहकी तरह मालूम पड़ती थी ॥ १७ ॥

कुरङ्गयूनां कुरुते स्म भीतिं गुरोः कुलस्यामृतदीधितेर्नः ।
सजातिरेषां तनुते कलङ्कमितीव रोषादिषुभिः स पाण्डुः ॥ १८ ॥

कुरङ्गयूनामिति । एषाम् पुरोदृश्यमानानां कुरङ्गयूनाम् युवमृगाणाम् सजातिः समानवंशजः कुरङ्ग इत्यर्थः । नः अस्माकं चन्द्रवंश्यानां कुलस्य गुरोः अन्ववायप्रवर्त्तकस्य चन्द्रमसः कलङ्कम् मृगलाञ्छनत्वं कुरुतेस्म प्रथयतिस्मेति रोषात् कोपादिव स चन्द्रवंशोद्भवो राजा पाण्डुः कुरङ्गयूनाम् तरुणमृगाणाम् भीतिम् मारणाय संहितशरतया प्राणबाधाजन्यं भयं कुरुतेस्म उत्पादयतिस्म । समानवंशजातस्य हरिणस्यापराधेनान्ये हरिणा अपि राज्ञा हन्तुमुद्दिश्यन्तेस्मेति तात्पर्यम् ॥१८॥

इन हरिणोंके वंशमें उत्पन्न किसी हरिण विशेषने ही हमारे कुलके प्रवर्तक चन्द्रमाको कलङ्क लगाया था, इसी कोपसे मानो राजा पाण्डुने बाण-सन्धान द्वारा हरिणोंको भय प्रदान किया ॥ १८ ॥

प्रजवं हयं गमयते ततस्ततः पतिता नृपाय शलकीशलाकिकाः[1] ।
गहने वनेऽपि पिशुनत्वमाचरन्ग्रहणे वराहकुलवर्तनी भुवाम् ॥ १९ ॥

---

१. 'शलालिकाः' । इति पा० ।

प्रजवमिति । प्रकृष्टः अश्वान्तरविलक्षणो जवो गतिवेगो यस्य तं प्रजवं हयं वाहनाश्वम् गमयते वाहयते नृपाय पाण्डवे ततस्ततः यत्र तत्र पतिताः विकीर्णाः शल्लकीशलाकिकाः शल्यमृगरोमाणि कण्टकाकृतीनि कर्तृणि गहने जनसञ्चार-वर्जितेऽपि वने कानने वराहकुलवर्त्मनीभुवाम् शूकरकुलमार्गभूमीनाम् ग्रहणे ज्ञाने अवलम्बने वा पिशुनत्वं सूचकत्वम् आचरन् अकुर्वन् । अयमेतदभिप्रायः—वराहाः शल्लकीरनुधावितवन्तो वराहैरनुयाताः शल्लक्यो येन वर्त्मना गतास्तत्र वर्त्मनि तासां कण्टकरोमाणि पतितानि, तानि राज्ञे वनेऽपि वराहगमनपथं सूचयन्ति सन्ति पिशुनत्वं ख्यापयन्ति । वराहानुगतशल्लकीसम्बन्धिकण्टकदर्शनादुन्नीयतेस्म वराहगमनमार्ग इत्यर्थः । 'श्वावित्तु शल्यस्तल्लोम्नि शलली शललं शलम्' इत्यमरः । 'नृपाय' इति पदे क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम् । अत्रेमा वराहकुलवर्त्मन्यः शललीशालित्वात्' इति दृश्यमानाभिः शललीभिर्वराहमार्गानुमानादनुमानालङ्कारः । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ,—'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

अत्यन्त तेज घोड़ेकी सवारी करनेवाले राजा पाण्डुको इधर-उधर बिखरे हुए शाहीके कण्टकोंने उस घोर वनमें भी शूकरोंके यातायात मार्गकी सूचना दे दी । राजधानीमें रहने पर सूचक लोग जैसे संसारकी गति-विधिकी सूचना दिया करते थे उसी तरह इन कण्टकोंने भी राजाको वराहके मार्गकी सूचना देकर अपना पिशुनभाव जाहिर किया ॥ १९ ॥

वेशन्तपङ्कविहृतेर्विनिवृत्य सद्यः प्रत्युद्यतां ध्वनिषु मत्सरिणां हयस्य ।
भूदार एष वनपोत्रवतामतानीद्भूदारशब्दमसहिष्णुरिवान्तमेषाम् ॥ २० ॥

वेशन्तेति । भूदारः भूर्दाराः यस्यासौ भूपतिः एषः पाण्डुः हयस्य पाण्डुवाहनभूताश्वस्य ध्वनिषु हेषितेषु मत्सरिणां धृतद्वेषाणाम् अत एव च सद्यस्तद्धेषाश्रवणसमकालम् एव वेशन्तः पल्वलस्तस्य पङ्के कर्दमे या विहृतिः उत्खातकेलिः तस्याः प्रतिनिवृत्य पराङ्मुखीभूय क्रीडां परित्यज्येत्यर्थः, प्रत्युद्यताम् (अश्वम् मारयितुम्) सम्मुखमागच्छताम् एषाम् पोत्रवताम् शूकराणाम् भूदारशब्दम् (भूदारो राजा भूदारः शूकरश्चेति राजा शूकराणां स्ववाचकपदाभिलप्यत्वमक्षममाणः) भूदारशब्दाभिधेयत्वम् असहिष्णुः असृष्यमाण इव अन्तम् विनाशम् अतानीत् कृतवान् । भूदारोऽयं राजा स्वकीयाश्वशब्दश्रवणात् धृतमत्सरं पल्वलविहृतिं विहाय सम्मुखमभिधावन्तं भूदारपदाभिलप्यं पोत्रिणं तेषां भूदारशब्दाभिलप्यत्वासहनतयेव न्यवधीदित्यर्थः । 'नामाभिजागर्त्ति समं यदीयं तेजस्विनस्तं कतमे क्षमन्ते, इत्याशयः । अत्रासहनकारणं भूदारनामकत्वं तच्च श्लिष्टं विशेषणं राजशूकरयोर्बोध्यम् । श्लेषसङ्कीर्णोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २० ॥

राजाके घोड़ेकी हिनहिनाहट सुनकर अमर्षसे भरे हुए शूकर—जो पानीमें कीचमें विहार कर रहे थे—पल्वलसे निकलकर राजाके अभिमुख चल पड़े, राजाने उन शूकरोंके

'भूदार' शब्दसे पुकारे जानेकी हिमाकतको नहीं सह सकनेके कारण उनका वध कर दिया। 'भूदाराः यस्य सः भूदारः' ऐसा विग्रह करके भूदार शब्द राजवाचक है, और 'भुवं दारयतीति भूदारः' ऐसा विग्रह करने से भूदार शब्द का अर्थ शूकर होगा। राजाने देखा कि जिस शब्दसे हम समझे जाते हैं उसी शब्दसे इस नीच शूकर को पुकारा जाय यह मेरा अपमान होगा, मानो इसी द्वेष से राजा ने शूकरोंको मार भगाया॥ २०॥

तूर्णं प्रधाव्य तुरगं स्वयमन्यतोऽसौ पाण्डुः कुलं परिववार लुलाययूनाम्।[१]
अग्रे विशालकरधूननदुर्विधत्वात्सत्यापितद्विरदभावविपर्ययाणाम्॥ २१॥

तूर्णमिति। असौ पाण्डुः स्वयम् आत्मनैव अश्वम् स्वं वाहनम् अन्यतः अन्यस्यां दिशि प्रधाव्य चालयित्वा अग्रे पुरोदेशे विशालकरधूननदुर्विधत्वात् महतः शुण्डादण्डस्य चालने क्षमत्वासत्त्वात् सत्यापितद्विरदभावविपर्ययाणाम् प्रमापितहस्तिभावराहित्यानाम् लुलाययूनाम् तरुणवनमहिषाणां कुलं समूहं परिववार परिवृणोतिस्म। वनमहिषा विशालतया श्यामतया बलशालितया च यद्यपि गजा इव प्रतिभान्ति, न तथापि ते गजा इव शुण्डादण्डान् धारयन्ति, येनाक्रान्तास्सन्तो निजरक्षार्थं तान् धूनीयुरेतेन च शुण्डादण्डधूननासमर्थत्वेन ते महिषा आत्मनो हस्तिनो भिन्नतां कण्ठरवेणेवाहुरीदृशांस्तान्वनमहिषान् राजा पाण्डुः परिवृतवान् इति भावार्थः। 'लुलायो महिषो वन्यः'–'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रः' इति च हारलतामरौ॥ २१॥

राजा पाण्डुने घोड़ेको दूसरी ओर दौड़ाकर तरुण वनमहिषोंको घेर लिया, वे वन महिष आगेकी ओर लम्बे शुण्डादण्डोंको चलानेमें अक्षम होनेके कारण अपनेको हाथीसे भिन्न सिद्ध कर रहे थे। यद्यपि विशालता, बलवत्ता, श्यामता आदिमें वनमहिष हाथियोंके समान थे, फिर भी इनके शुण्डादण्ड नहीं थे कि उन्हें यह चलाकर अपनी रक्षा कर सकें और इसी असमर्थतासे वह अपना हाथी नहीं होना सिद्ध कर रहे थे॥ २१॥

आकर्ण्य क्षितिपहयारवानसह्यानामूलं कुपितधियस्तिरो विषाणम्।
व्याधूयान्तिकतरुषु क्षणान्निचख्नुर्व्योक्रष्टुं पुनरथ तच्चिरान्न शेकुः॥[२] २२॥

आकर्ण्येति। असह्यान् मर्षयितुमशक्यान् क्षितिपस्य राज्ञः पाण्डोर्हयस्य वाहनभूताश्वस्य आरवान् हेषाशब्दान् आकर्ण्य कुपितधियः सञ्जातक्रोधबुद्धयो वनमहिषाः विषाणम् शृङ्गम् (जातिकृतमेकत्वम्) तिरो व्याधूय चालयित्वा क्षणात् त्वरितम् अन्तिकतरुषु समीपवर्त्तिवृक्षेषु (तत् शृङ्गम्) आमूलम् शृङ्गस्यादिमं भागम् यावत्समग्रं शृङ्गमित्यर्थः, निचख्नुः निखातवन्तः, अथ पुनः शृङ्गस्य तवंवच्छेदेन निखननानन्तरम् त एव वनमहिषाः चिरात् चिरं प्रयस्यापि तत् निखातपूर्वं निजं

---

१. 'विषाणकर'। २. 'अपि तच्चिरं न'। इति पा०।

शृङ्गं व्याक्रष्टुम् उद्धर्तुम् न शेकुः समर्था अभूवन्। प्रहर्षिणीवृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति हि तल्लक्षणम् ॥ २२ ॥

वनके महिषगण राजाके घोड़ेकी असह्य (अश्वमाहिष्य विरोध स्वाभाविक है, अतः घोड़ेका शब्द महिषको सहा जाता ही नहीं है) हिनहिनाहट शब्द सुनकर कुपित बुद्धि हो अपनी सींगोंको तिरछी करते हुये चलाकर समीपवर्ती वृक्षोंमें आमूल हला तो देते हैं, परन्तु पीछे चलकर देर तक प्रयास करनेपर भी उखाड़ नहीं पा रहे हैं ॥ २२ ॥

कुरुतेति ततः सहैव वासं कुलकूटस्थकृतान्तवाहनेन।
मदधूतविषाणमण्डलाग्रे महिषौघे निचखान मण्डलाग्रम् ॥ २३ ॥

कुरुतेति। ततः तदनन्तरम् महिषकुलपरिवारणात् परतः (हे वनमहिषाः, यूयम्) कुलकूटस्थः वंशस्यादिमः पुरुषो यः कृतान्तवाहनः यमवाहनभूतो महिषस्तेन सह एव वासं कुरुत इति (आज्ञापयन्) मदधूतविषाणमण्डलाग्रे गर्वकम्पितशृङ्गाग्रभागे महिषौघे वनमहिषसमुदाये मण्डलाग्रं करवालं निचखान प्राहरत् इति। वनमहिषसजातीयत्वेन पुराणत्वेन च यममहिषोऽमीषां कुलस्यादिमः पुरुषोऽमीभिः सहवासस्याधिकारी भवतीत्यौचित्यादतोऽमी वनमहिषा मृत्वा यमपुरीं गतास्तेन सहवासं लभन्तामिति धियेवासौ वनमहिषानवधीदित्यर्थः। वैतालीयभेदौपच्छन्दसिकं वृत्तम्—पर्यन्ते यौं तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति वैतालीयलक्षणं तु—वैतालीयन्ते रलौ ताद् गुरू चेत्' इति ॥ २३ ॥

वे वनमहिषगण अपने वंशके आदिम पुरुष यमवाहन महिषराजके साथ वास कर सकें इसी ख्यालसे राजा पाण्डुने जो गर्वसे हिला रहे हैं शृङ्गाग्रको—ऐसे वनमहिषोंको तलवारसे मारा कि मरनेके बाद यमपुरी जायेंगे और वहाँ अपने वंशके आदिप्रवर्त्तक यमवाहनके साथ रहेंगे ॥ २३ ॥

तन्न चित्रमवनीपतेस्ततश्चन्द्रहासपतनं चकार यत्।
पोषितेषु वनमध्यचर्यया पुण्डरीकनिवहेषु मीलनम् ॥ २४ ॥

तन्न चित्रमिति। अवनीपतेः राज्ञः पाण्डोः चन्द्रहासपतनम् खड्गनिपातः करवालप्रहार इत्यर्थः, वनमध्यचर्यया वनमध्यवासेन पोषितेषु कृतपोषणेषु पुण्डरीकनिवहेषु व्याघ्रसमुदयेषु मीलनम् मृत्युं चकार तन्न चित्रम् न आश्चर्यकरम्, करवालपातेन व्याघ्रौघमरणस्यौचित्यादिदं न विस्मयावहम् इत्यर्थः। चन्द्रहासः शशिद्युतिः वनमध्यचर्यया जलान्तर्वासेन पुण्डरीकाणां सिताम्भोजानां मीलनं मुकुलनं चकारेत्यर्थोऽपि श्लेषप्रत्येयः। अत्र चन्द्रहास, वन, पुण्डरीक, मीलनशब्दाः श्लिष्टाः। 'जीवनं भुवनं वनम्' इति पयःपर्यायेष्वमरः, 'गहनं काननं

१. 'निजघान'। इति पा०।

त्रनम्' इति च। 'व्याघ्रेऽपि पुण्डरीको ना सितच्छत्रे सिताम्बुजे' इत्यमरः ॥ रथोद्धताच्छन्दः—'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ २४ ॥

यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं हुई कि राजा पाण्डुके चन्द्रहासके पतनसे वनमें रहनेसे पोषित पुण्डरीकों (व्याघ्रों)की मृत्यु हुई, (चन्द्रमाकी ज्योतिसे पानीमें पोषित कमलोंकी सङ्कोच दशा मुकुलितता हो गई) इस श्लोकमें चन्द्रहास, वन, पुण्डरीक, निमीलन शब्द श्लिष्ट हैं, व्याघ्रपक्षमें चन्द्रहास-खड्ग, वन-जङ्गल, पुण्डरीक—व्याघ्र, मीलन-मृत्यु। कमलपक्षमें-चन्द्रहास—चाँदकी ज्योति, वन-पानी, पुण्डरीक-श्वेतकमल, मीलन-मुरझाना ॥ २४ ॥

गहनमस्तशरारुमृगव्रजं कृतवताऽप्यमुना जविवाजिना ।
मम्हृगिरे हरयो मदशालिनो मनुजपेन गिरीशदरीशयाः ॥ २५ ॥

गहनमिति । जवः अस्ति अस्येति जवी वेगवान् वाजी अश्वो यस्यासौ जविवाजी-तेन जविवाजिना तीव्रगामिघोटकारूढेन अमुना राज्ञा पाण्डुना गहनम् वनम् अस्तशरारुमृगव्रजम् अस्ताः क्षिप्ताः मारिताः शरारूणां घातकानां व्याघ्रादीनां मृगाणां हरिणानां च व्रजो यत्र तादृशम् मारितक्रूरसत्त्वहरिणादिवर्गम् कृतवता विहितवता अपि अमुना मनुजपेन राज्ञा गिरीशदरीशयाः पर्वतगुहानिलीनाः मदशालिनो मत्ताः हरयः सिंहाः मम्हृगिरे अन्विष्यन्तेस्म । अयमाशयः—द्रुतगामिनं हयमारूढोऽयं राजा प्राग् हिंसकसत्त्वभूतान् व्याघ्रादीन् मृगांश्चावधीत्तावताऽप्यपूर्णमृगयारसश्च भीतान्पर्वतकन्दरानिलीनान् सिंहानन्वेषयामासेति । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणात् ॥ २५ ॥

तेज चलनेवाले अश्व पर आरूढ नरदेव राजा पाण्डुने पहले वनको हिंसक प्राणी व्याघ्र आदि तथा मृग समुदायसे शून्य बना करके राजाके भयसे पर्वत-गुहाओंमें छिपे हुए सिंहोंका अन्वेषण करना प्रारम्भ किया ॥ २५ ॥

विस्फारघोषमवकर्ण्य विनिर्गतानां
हुंकुर्वतां तरुणकेसरिणां गुहाभ्यः ।
या केवलं प्रथममानन एव भल्लै-
स्तां पञ्चतां स विदधे सकलेऽपि देहे ॥ २६ ॥

विस्फारेति । विस्फारघोषम् धनुरास्फालनशब्दम् अवकर्ण्य श्रुत्वा गुहाभ्यः पर्वतकन्दराभ्यो विनिर्गतानां हुङ्कुर्वताम् दर्पेण हुंशब्दं विदधताम् तरुणकेसरिणाम् युवकसिंहानाम् या पञ्चता प्रथमं पूर्वम् केवलम् आनने मुख एव आसीत्, स राजा, पाण्डुः भल्लैः अस्त्रभेदैः तां पञ्चताम् मृतिं सकले समग्रे देहे अपि विदधे कृतवान् ।

---

१ 'विस्फार' । इति पा० ।

अत्र सिंहानां पञ्चास्यतया केवलमुखस्थितायाः पञ्चतायाः समीरशरीरसम्बन्धकरणं चमत्कारजनकम्। सिंहानवधीदिति तु परमार्थः। पञ्चतापदे श्लेषः, 'संख्याभेदे विशालत्वे पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्वः। भल्लैः सकले देहे मुखमात्रस्थां पञ्चतामानयदिति भङ्ग्यन्तरेण मृतिप्रतिपादनात् पर्यायोक्तं नामालङ्कारः॥ २६॥

पाण्डु द्वारा किये गये धनुष्टङ्कारको सुनकर पर्वतोंकी कन्दराओंसे निकलकर हुङ्कार करनेवाले सिंहोंके मुखमात्रमें जो पञ्चता थी, उसे पाण्डुने अपने भाले द्वारा उनके सम्पूर्ण शरीरव्यापी बना दिया, अर्थात् उन्हे पञ्चत्व—मौत प्राप्त करा दिया॥ २६॥

एवमश्रान्तमृगयापरिश्रान्तमपरिमितस्वेदशीकरनिकरकोरकितफालमूलमातेनिरे तमाश्यानं तुहिनगिरिदेश्या वन्दनीयमन्दिमानो मानससरोऽरविन्दमकरन्दसौरभ[2]पारदृश्वानो मातरिश्वानः।

एवमिति। एवम् अनेन प्रकारेण अश्रान्तमृगयापरिश्रान्तम् अनवरताखेटक्रियाजातश्रमम् अपरिमितेन बहुना स्वेदशीकरनिकरेण घर्मबिन्दुजालकेन कोरकितम् फालमूलम् ललाटदेशो यस्य तं तथोक्तं श्रमबिन्दुव्याप्तकपालदेशमित्याशयः, तम् पाण्डुम् तुहिनगिरिः हिमालयः तद्देशः तत्प्रान्तः तत्र भवाः तुहिनगिरिदेश्याः हिमगिरिपरिसरप्रवाहिणः वन्दनीयमन्दिमानः प्रशंसनीयमन्दगतयः मन्दं वहन्त इत्यर्थः, मानसं नाम सरस्तत्र यानि अरविन्दानि कमलानि तेषां मकरन्दः पुष्परसस्तस्य यत्सौरभं सुगन्धस्तस्य पारदृश्वानः पारगाः मानसविकासिसरोजसौरभ्यशालिन इति भावः। मातरिश्वानः वायवः आश्यानम् शीतलम् अपगतक्लमम् आतेनिरे कृतवन्तः। मृगयाश्रान्तस्य स्वेदाचितवपुषश्च तस्य कायं हिमगिरिजातत्वेन शीतला मन्दा मानससरोजसौरभ्ययुताश्च वायवोऽशिशिरयन्नित्यर्थः। 'मातरिश्वा सदागतिः' इति वायुपर्यायेष्वमरः॥

इस प्रकार बराबर शिकार खेलते रहनेके कारण पाण्डु थक गये, कठोर परिश्रमके कारण उनके ललाट पर पसीनेकी बूँदें प्रकट हो आईं, तब हिमालय प्रदेशकी मन्द मन्द बहनेवाली तथा मानससरोवरके कमलोंकी सुगन्धसे परिचित वायुने उन्हें ठण्डा किया—ताजगी पहुंचाई॥

[3]तदनन्तरमसौ परंतपः समन्ततः शकुन्तरवनिरन्तरदिगन्तरादखिलमृगकुलशरण्यादरण्यादुत्प्लवमानस्य कस्यचिदनुप्लव[4]मन्दीभूतजवचमूरोश्चमूरोः सरणिमनुसरमाणस्तदीयतनूरुहचित्रबिन्दुनिकरैरिव [5]गगनमुत्प-

---

१. 'मानससरोरविन्दबिन्दुसंदोहसौरभपारदृश्वानो'। २. 'सौरभी'; सौरभ्य'। ३. 'अनन्तरमसौ'। ४, 'मन्दितजवि'। ५. 'रुचिरैर्गगनं समुत्पतद्भिः'। इति पा०।

तद्भिः खुररजोभिरनुमीयमानतुरगगतिः [1]सुदूरमनु[2]पपात ।

तदनन्तरमिति । तदनन्तरं तत्परतः विश्रामानन्तरमित्यर्थः । असौ परन्तपः शत्रुविजयी समन्ततः सर्वासु दिक्षु शकुन्तरवनिरन्तरदिगन्तरात् पक्षिरवपूर्णदिगन्तरालात् पक्षिणां कूजितेन मुखरितदिश इत्यर्थः, अखिलमृगकुलशरण्यात् सकलहरिणगणाश्रयभूतात् अरण्यात् वनभागात् उत्प्लवमानस्य पलायमानस्य अनुप्लवने अनुधावने मन्दीभूतोऽतिशिथिलतां गतो जवः वेगो ययोस्तौ तथोक्तौ अनुप्लवनमन्दीभूतजवौ चम्वाः सेनायाः ऊरू यत्र तस्य अनुसरणे परासितसेनागतेरित्यर्थः । कस्यचिच्चमूरोः हरिणविशेषस्य सरणिम् पन्थानम् अनुसरमाणः अनुगच्छन्, तदीयानां लक्ष्यीकृतहरिणसम्बन्धिनां तनुरुहाणां केशानां चित्रबिन्दूनां शबलवर्णलोमसंस्थानविशेषाणाम् निकरैः पुञ्जैः इव गगनमुत्पतद्भिः आकाशदिशि उत्पतद्भिः खुररजोभिः गत्युत्थापितधूलिभिः अनुमीयमानतुरगगतिः ऊह्यमानाश्वगमनः सुदूरम् बहुदूरं यावत् अनुपपात अनुजगाम । अयमभिसन्धिः—जाते श्रमापनयने शत्रुविजयी स पाण्डुः पक्षिकूजितमुखरितदिगवकाशात् सकलहरिणगणाध्युषितात्तस्मादरण्यात् पलायमानस्य कस्यचिदेकस्य मृगस्य पदवीमनुससार, यो हि मृगो निजानुसारिणां सैन्यानां वेगं (तीव्रगतिकतया स्वस्यानुसरणेऽसमर्थतामापाद्य) मन्दमिव कृतवान्, तादृशं मृगमनुसरतश्च तस्याश्वेनोद्गमितो धातुविमिश्रो भूरेणुस्त्रुत्स्यमाणमृगचित्ररेणुराजिरिव बभ्राजे, दृश्यमानो रेणुरेव तदीयस्याश्वस्य गतिमाख्यत्, तदेवमनुसरन्मृगं स राजा दूरमुपयात इति ।

इसके बाद शत्रुविजयी पाण्डुने चारों ओर पक्षियोंके कलरवसे दिगन्तरालको मुखरित करनेवाले तथा सकल मृगगणके आश्रयभूत उस वनसे भागनेवाले और अपनी क्षिप्रगामिताके द्वारा पीछा करनेवाले सैनिकोंकी गतिको मन्द सिद्ध करनेवाले एक मृगके पीछे घोड़ा दौड़ाया, आसमानमें उड़ती हुई धूलिसे घोड़ेका दौड़नेका अनुमान होता था, उड़ती हुई चित्र वर्ण धूलि ऐसी लगती थी मानो उस मृगके चित्रवर्ण रोम ही आकाशमें उड़ रहे हों, इस प्रकार उस भागते हुए मृगका पीछा करनेवाले पाण्डु बहुत दूर निकल आये ।

तत्र तावत्क[3]स्मिंश्चिल्लतागुल्मपरिसरे स नरनाथः परिकथिततरुणिम[4]प्रथितकलेवरमशिथिलरतिसुखसनाथं हरिणमिथुनं नयनपथस्यातिथीचकार ।

तत्र तावदिति । तत्र सुदूरदेशे कस्यचित् लतागुल्मस्य कुञ्जस्य परिसरे प्रान्ते स नरनाथः राजा पाण्डुः परिकथितेन दृश्यमानेन तरुणिम्ना प्रथितं युक्तं कलेवरं वपुर्यस्य तं तथोक्तं युवानमित्यर्थः, अशिथिलरतिसुखसनाथम् गाढसुरतक्रीडा-

---

१. 'दूरम्'। २. 'अतिपपात'। ३. 'क्वचन'। ४. 'प्रथिम'। इति पा०।

तत्परम् हरिणमिथुनम् सस्त्रीकं हरिणम् नयनपथातिथीचकार दृष्टवान् ।

उस दूर देशमें पहुँचकर राजा पाण्डुने दृश्यमान यौवनसे सुन्दरकाय तथा गाढ़-सुरत क्रीड़ा परायण किसी हरिण जोड़ेको अपने नयन मार्गका अतिथि बनाया (देखा) ॥

तिग्मेन बाणेन जघान तस्मिन्युग्मे नराणामधिपः पुमांसम् ।
वातायुराकारमसौ महर्षेर्जातायुरन्तः सहसा ललम्बे ॥ २७ ॥

तिग्मेनेति । नराणाम् अधिपः पाण्डुः तस्मिन् युग्मे हरिणमिथुने पुमांसम् पुरुषं मृगं तिग्मेन तीक्ष्णेन बाणेन जघान हतवान् । असौ पाण्डुना निहतो वातायुः मृगः जातः आयुषोऽन्तः समाप्तिर्यस्य सः मृतः सन्नित्यर्थः, महर्षेः आकारम् मुनि-वेषम् सहसा हठात् आललम्बे । बाणनिहतस्य तस्य गतायुषो मृगस्य स्थाने सहसा मुनिरेकः प्रादुर्भूय स्थित इति भावः । 'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाः' इत्यमरः ॥ २७ ॥

राजा पाण्डुने उस हरिण मिथुनमें से पुरुष मृगको तीक्ष्ण बाणसे आहत कर दिया, आहत होनेके कारण उस मृगकी आयुका अन्त हो गया, और उसकी जगह पर सहसा एक मुनि प्रकट हुए (उस मरे हुए मृगने मुनिका वेष धारण कर लिया) ॥ २७ ॥

ततः कृपामन्दमनाः किंदमनामधेयः संदारिततनुस्यन्दमानरुधिरेण महारुषा कल्परविकल्पमहा रुषा तस्मिन्महीभृति संभोगसंभेदकमम्भोजदृशां दम्भोलिमिव सहस्राक्षः शापमुदस्राक्षीत् ।

ततः कृपेति । ततः हतस्य मृगस्य मुनिरूपधारणात् परतः कृपया दयया मन्दं शून्यं मनो यस्य स तथोक्तः निर्दय इत्यर्थः, किंदमनामकः तपस्वी संदारितायाः बाणभिन्नायास्तनोः शरीरात् स्यन्दमानं प्रवहत् रुधिरं शोणितं यत्र तथोक्तेन महता अरुषा व्रणेन हेतुना कल्परविकल्पमहाः प्रलयकालिकसूर्यसमतेजस्कः रुषा कोपेन तस्मिन् महीभृति राजनि पाण्डौ महीभृति पर्वते सहस्राक्षः इन्द्रः दम्भोलिम् वज्रम् इव अम्भोजदृशाम् कमलनयनानाम् रमणीनां सम्भोगभेदकम् सुरतस्य नाशकम् शापम् उदस्राक्षीत् दत्तवान् । यथा इन्द्रः पर्वतानामुपरि वज्रं प्रहृतवान् तथैव स्त्रीसम्भोगप्रतिषेधकं शापमसौ मुनिः पाण्डुनृपे दत्तवान् इत्यर्थः, यथा स्वस्त्रिया सह रममाणोऽहं त्वया मारितः, तथा त्वमपि स्त्रियं रतये गत्वा मरिष्यसी'ति तच्छापाकार ऊहनीयः । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इत्यमरः ॥

इसके बाद बाणाहत होनेसे निर्दय-हृदय किन्दम नामक मुनिने बाण-भिन्न अङ्गसे रुधिरके बहनेके कारण भयङ्कर व्रणसे कुपित हो प्रलयकालिक सूर्यके समान कठोर तेज

---

१. 'जातारुरन्तम्' । २. 'संदानित' । इति पा० ।

धारण करके उस राजाको स्त्रियोंके साथ संभोगका प्रतिषेध करनेवाला शाप दिया, जैसे इन्द्रने पर्वतोंके ऊपर वज्र-प्रहार किया था॥

तदनु तापसशापेन विरचितमनस्तापेन तेन भूपेन[1] चतुरङ्गबलमिव[2] सप्ताङ्गराज्यमपि[3] व्यसृज्यत[4]।

तदन्विति। तदनु ततः पश्चात् विरचितमनस्तापेन चित्तखेदप्रदेन तापसशापेन मुनिप्रदत्तेनाभिशापेन हेतुना तेन भूपेन राज्ञा पाण्डुना चतुरङ्गं बलम् हस्त्यश्वरथपादातरूपं सैन्यम् इव सप्ताङ्गम् स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलात्मकाङ्गसप्तकोपेतम् राज्यम् अपि व्यसृज्यत अत्यज्यत, भोगस्य स्त्रीसुखसारतया सुरतस्य च शापप्रतिबद्धतया भोगाभावे राज्यस्य श्रममात्रसारतया राज्यं त्यज्यतेस्म, तद्रक्षासाधनं बलमपि राज्यत्यागे वृथात्वेनात्यज्यतेति बोध्यम्। अत्र बलराज्ययोः प्रकृतयोरेकत्र त्यागक्रियाधामन्वयात्तुल्ययोगितालङ्कारः।

इसके बाद उस तपस्वी किंदम मुनिके शापसे मनमें सन्तप्त होकर उस राजा पाण्डुने सैन्यदलके साथ-साथ सप्ताङ्ग राज्यका भी त्याग कर दिया। राज्यके सात अङ्ग हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग, बल। सेनाके चार अङ्ग होते हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति।

अष्टाङ्गयोगानवतोऽस्य राज्ञो मिष्टान्नमासीन्मृदुकन्दमूलम्।
गर्भो वनस्याजनि केलिसौधो दर्भोऽपि सिंहासनतां जगाहे॥ २८॥

अष्टाङ्गेति। अष्टाङ्गयोगाः यत्र नियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयो नाम योगशास्त्रप्रसिद्धाः, तान् अष्टाङ्गयोगान् अवतः पालयतोऽनुतिष्ठत इत्यर्थः, अस्य राज्ञः पाण्डोः मृदु सुकोमलम् कन्दमूलम् मिष्टम् षड्रसम् अन्नम् भोजनम् आसीत्, वनस्य गर्भः अभ्यन्तरभागः केलिसौधः क्रीडाहर्म्यम् अजनि अजायत, अपि किञ्च दर्भः कुशः सिंहासनताम् राजाधिष्ठेयासनत्वम् जगाहे प्राप्तवान्। मुनिना शप्तः पाण्डुः स्त्रीसुखनिवृत्तो राज्यं विहायवनेऽवात्सीत्तत्र कन्दमूलमशनं वनमध्येवासं कुशोपरिशयनं चारेभ इत्यर्थः। एतैर्विशेषकथनैस्तस्य निवृत्त्युन्मुखचित्तता निवेदिता भवति॥ २८॥

यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि नाम आठ अङ्गों वाले योगमें लगे राजा पाण्डुने कन्द-मूलको अपना आहार, वनके मध्यभागको अपना क्रीडा भवन तथा कुशास्तरणको सिंहासन समझा॥ २८॥

अहो नरपतितापसयोः समानरूपं फलमिदमाचरितम्।

---

१. 'धरणीपतिना'। २. 'चतुरङ्गम्'। ३. 'सप्ताङ्गम्'। ४. 'व्यसृज्यत'। इति पा०।

अहो इति। अहो इति आश्चर्यद्योतकमव्ययम्, नरपतिः राजा पाण्डुः तापसो-मुनिः किन्दमस्तयोः फलं बाणशापप्रयोगजन्यम् समानरूपम् एकविधम् आचरितम् अजायत। शापग्रस्तस्य पाण्डोर्या स्थितिः सैव बाणाहतस्य मुनेरपि स्थितिरिति कारणभेदेऽपि कार्यतुल्यत्वमाश्चर्यजनकमित्यर्थः। अत्र फलस्य भिन्नत्वेऽपि समानशब्दाभिलप्यतामुपादाय तुल्यत्वमुक्तं बोध्यम्॥

यह आश्चर्यजनक बात हुई कि शापग्रस्त राजा पाण्डु तथा बाणाहत किन्दम मुनि दोनोंकी एक ही तरहकी दशा हुई।

तथा हि—

बाणशापप्रयोगाभ्यां बाधितौ तावुभावपि।
तपस्वितां यतः सद्यस्तादृशीमुपजग्मतुः॥ २९॥

बाणशापेति। यतः यस्मात् तौ उभौ द्वौ अपि किन्दमपाण्डू (बाणप्रयोगेण शापप्रयोगेण चेति क्रमान्वयविवक्षा) बाणशापप्रयोगाभ्याम् (अन्योन्यकृताभ्याम्) बाधितौ पीडितौ सन्तौ सद्यः तत्कालमेव तादृशीम् अवर्णनीयाम् तपस्विताम् शोच्यां दशां मुनिवृत्तिं च उपजग्मतुः। बाणेनाहतो मुनिर्मृगरूपं विहाय तपः प्रारेभे, शापेनाहतश्च पाण्डुः प्राक्तनं विलासं विसृज्य तपस्तमुमारेभे, शोच्यां स्थितिं वाऽनुप्रपन्न इत्याशयः। एकस्य बाणेनाहतिरपरस्य शापेनाहतिरिति कारणभेदे सत्यपि तपस्वितारूपफलाभेदो विस्मयमावहतीति तात्पर्यम्। 'तपस्वी तापसे शोच्ये' इति विश्वः॥ २९॥

बाण तथा शापके प्रयोगसे बाधित होकर वह दोनों किन्दम मुनि तथा राजा पाण्डु सद्यः उस प्रकारकी तपस्विताको प्राप्त कर लिया। बाणसे आहत होकर किन्दमने मृग शरीर त्याग करके तपस्याका जीवन अपनाया और शापसे आहत होकर पाण्डुने भी-विलासमय जीवन छोड़कर शोच्यदशा प्राप्त की, यही भाव है॥ २९॥

क्रमादतिपतिते चावरोधवधूजनानुरोधगुणदात्रे गणरात्रे—

क्रमादिति। क्रमात् एवं क्रमशः अवरोधवधूजनस्य अन्तःपुरवर्त्तिवनितालोकस्य योऽनुरोधगुणः अनुसरणरूपः गुणः रज्जुः तस्य दात्रे छेदके शस्त्रविशेषरूपे गणरात्रे बहुषु रात्रिषु अतिपतिते व्यतीते सति। यदा बह्वीष्वपि निशासु स्त्रीणामनुरोधो रतिप्रार्थनादिकः कामव्यापारो न प्रावर्त्तत तदेति भावः। 'गणरात्रं निशा बह्व्यः' इत्यमरः॥

अनन्तर क्रमशः अन्तःपुरवासिनी ललनाओंसे किये गये अनुरोध रूप रज्जुके काटने वाले रात्रि समूहके बीतते जानेपर, अर्थात् जब काम—व्यापारसे शून्य बहुत दिन बीत गये तब—॥

अपाकरिष्यन्ननपत्यभावमपत्यभावं भुवनं करिष्यन्।
उवाच देवीमुचितं स पाण्डुरुपह्वरे जातुचिदूहदक्षः॥ ३०॥

अपाकरिष्यन्निति। जातु चित् कदाचित् ऊहदक्षः पूर्वापरचिन्ताचतुरः सः पाण्डुः (आत्मनः), अनपत्यभावम् सन्तानराहित्यम् अपाकरिष्यन् दूरीकर्त्तुम् इच्छन् भुवनं लोकञ्च अपत्यभावं न विद्यते पत्यभावः स्वामिराहित्यं यस्य तादृशं सस्वामिकमित्यर्थः। करिष्यन् कर्त्तुकामः सन् उपह्वरे एकान्ते देवीम् कुन्तीम् उवाच वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवानिति यावत्॥ ३०॥

पूर्वापर-विचारमें निपुण राजा पाण्डुने किसी समय एकान्तमें अपनी अपत्यशून्यताको दूर करने तथा संसारको स्वामीसे युक्त करनेके ख्यालसे देवी कुन्तीको निम्नलिखित प्रकारकी बातें कहीं॥ ३०॥

परिपालयतोऽपि मे महीं परिपूर्तिर्न तनूजदुर्गतेः।
प्रजया हि मनुष्य इत्यसौ प्रथते हि श्रुतिवर्णपद्धतिः॥ ३१॥

परिपालयत इति। मे मम पाण्डोः महीम् समस्तां क्षितिम् परिपालयतः रक्षतः अपि एकातपत्रं राज्यमुपभुञ्जानस्यापीत्यर्थः। तनूजदुर्गतेः अपत्यदारिद्र्यात् हेतोः परिपूर्त्तिः पूर्णता तृप्तिर्नास्ति, सत्यपि राज्यसुखावाप्तौ सन्तत्यभावेनाहं सन्तुष्टो नास्मीत्यर्थः। तथाभावस्यौचित्यं समर्थयति—प्रजया हीति। प्रजया सन्तत्या मनुष्य इत्यसौ एतादृशी श्रुतिवर्णपद्धतिः वेदाक्षरपङ्क्तिः प्रथते प्रसिध्यति हि। 'प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः' इत्येवंरूपा श्रुतिः प्रसिद्धा विद्यत इत्यर्थः। वेदप्रामाण्यस्याशक्यापलापतया तदुदितार्थे सन्देहस्याभावेनापत्यस्याभावान्मम जन्म निरर्थकमिति भावः॥ वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वैतालीयं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च स्युर्नो निरन्तराः। न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेन्ते रलौ गुरुः॥ ३१॥

यद्यपि मैं सारी पृथ्वीपर आधिपत्यशाली हूँ तथापि मुझे अपनेमें पूर्णताका ज्ञान नहीं हो रहा है, क्योंकि मनुष्य प्रजासे पूर्णताको प्राप्त होता है ऐसी बात वेदके अक्षरोंसे प्रमाणित होती है॥ ३१॥

गात्रं न केवलमशेषबुधोपलाल्यं गोत्रं च तत्रभवतः कुमुदैकबन्धोः।
आपाण्डु वर्तत इति स्फुटमद्य मन्ये यस्मात्प्रजां न लभसे यदुवीरकन्ये!॥

गात्रमिति। तत्र भवतः सर्वपूज्यस्य कुमुदैकबन्धोः कुमुदानां प्रसिद्धस्य सुहृदः चन्द्रस्य अशेषबुधोपलाल्यम् अमृतमयतया सकलदेवगणोपभोज्यम् गात्रं वपुः

---

१. 'स्वयमेव'। इति पा०।

शरीरमेव आपाण्डु सर्वथा शुक्लम् वर्त्तते इति। किन्तु (कुमुदैकबन्धोः) गोत्रं वंशपरम्परा अपि अशेषबुधोपलाल्यं सकलविद्वज्जनप्रशस्यं सत् आपाण्डु पाण्डुनामकराजपर्यन्तमेव वर्त्तत इति अहम् स्वयम् मन्ये, यतः हे यदुवीरकन्ये! यदुवंशपुत्रि! त्वं प्रजां तनयं न लभसे। त्वय्यनपत्यायां पाण्डुपर्यन्तमेव चन्द्रवंश इति जायते स्थितिः। आपाण्डु शब्दस्यार्थद्वयम्, गात्रपक्षे-आ समन्तात् पाण्डु श्वेतम्, गोत्रपक्षे—आपाण्डु पाण्डुपर्यन्तम्, अत्र चन्द्रवंशस्यापाण्डुस्थितिरूपपूर्ववाक्यार्थं प्रति कुन्तीकर्त्तृकापत्या लाभरूपोत्तरवाक्यार्थस्य हेतुतया वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ ३२॥

अमृतमय होनेके कारण सकल देवगण द्वारा उपभोज्य—पूजनीय तथा कुमुदकुलबन्धु चन्द्रदेवका गात्र ही आपाण्डु सर्वतः श्वेत नहीं है, सकल पण्डित प्रशस्य निर्दोष चन्द्रदेवका वंश भी आपाण्डु पाण्डु राजा तक ही है क्योंकि हे यदुवंशपुत्रि, तुमको सन्तान तो है नहीं॥ ३२॥

न ह्यतीव विधिरप्यसुतानां नह्यते फलमिति श्रुतिसिद्धेः।
जीवतो मम यथाहवसाध्यो मीलतोऽपि न तथा परलोकः॥ ३३॥

नहीति। विधिः श्रुतिस्मृतिविहितकर्म अपि असुतानाम् पुमपत्यरहितानाम् अतीव फलम् आत्यन्तिकं फलम् स्वर्गापवर्गादिरूपम् नहि नह्यते न ददाति, 'नापुत्रस्य स्वर्गलोकोऽस्ति' इत्यादिश्रुत्या पुत्ररहितानां स्वर्गसाधनाशक्यत्वात्। एवञ्च परलोकः स्वर्गः मम जीवतः प्राणतः यथा आहवेन यज्ञेन साध्यस्तथा मीलतः प्राणत्यागं कुर्वतः सतः साध्यः सम्पाद्यो न भवति, (मरणानन्तरं शरीराभावात्—पुत्राभावाच्च तत्कृतिफलभाक्त्वस्याशंसितुमशक्यत्वात्) अथ च परलोकः शत्रुजनः जीवतः सतः यथाऽऽहवेन युद्धेन साध्यस्तथा मीलतो म्रियमाणस्य साध्यो वशीकरणीयो न भवति, मरणानन्तर युद्धाभावात्, पुत्रसन्तत्यभावेन तद्द्वारकशत्रुवशीकारस्याप्यनाशंस्यत्वादिति भावः। 'आहवः समरे यज्ञे' इति हेमचन्द्रः॥ ३३॥

पुत्रहीन व्यक्ति द्वारा अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त्त विधि फलप्रद नहीं होते हैं ऐसी बात श्रुतिसिद्ध है, अतएव जैसे जीवनावस्थामें मैं परलोकका साधन यज्ञ द्वारा कर सकता हूं वैसे मरने पर नहीं कर सकता, (क्योंकि मरनेके उपरान्त मैं शरीर नहीं होनेसे यज्ञ कर नहीं सकता और सन्तान है नहीं जो मेरे स्वर्गलोकके लिये यज्ञादि करेगा) दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जैसे मैं जीवनावस्थामें आहव-युद्ध द्वारा परलोक शत्रुको साध्य-वशीभूत कर सकता हूं वैसे मरकर नहीं कर सकता, क्योंकि मरणोत्तर शरीर तो रहेगा नहीं, युद्ध किया कैसे जायगा, और सन्तानके नहीं होनेसे उनका आधीन्य भविष्यमें भी संभव नहीं। इस श्लोकके परलोक तथा आहव शब्द श्लिष्ट हैं, परलोक स्वर्ग तथा शत्रु, आहव यज्ञ या युद्ध॥ ३३॥

अहं किमम्बा किमभीष्टतापदे तवेति मातुर्धुरि तातपृच्छया ।
प्रलोभतुल्यं प्रवदन्तमर्भकं मुदा हसञ्जिघ्रति मूर्ध्नि पुण्यभाक् ॥ ३४ ॥

अहमिति । हे बालक, तव अभीष्टतापदे प्रेमस्थाने अहम् किम् ? उत अम्बा माता किम् ? त्वं मात्रे मह्यं वाऽधिकं स्निह्यसीति मातुः जनन्याः धुरि पुरतः तातपृच्छया पितुः प्रश्नेन प्रलोभतुल्यं यस्य हस्ते यावल्लोभनीयं वस्तु क्रीडनकादि तत्तुल्यं तत्तारतम्येन तातं मातरं वा प्रीतिपात्रत्वेन प्रवदन्तम् अर्भकम् मुदा प्रसन्नतया हसन् पुण्यभाक् तादृशसन्ततिशालितया पुण्ययुतः जनः मूर्ध्नि शिरसि जिघ्रति । समीपे स्थितं पुत्रं पिता पृच्छति अर्भक ! ब्रूहि, तवाहं प्रियस्तव माता वा ? स च बालको यस्य हस्ते प्रलोभ्यवस्तु यावत्पश्यति तमेव प्रीतिपात्रं प्राह, यदि पितुर्हस्ते बहुसुन्दरं क्रीडनकं पश्यति तदा तम् , इतरथा मातरं प्रीतिपात्रमाह, स्थितावस्यां हर्षेण हसन् पिता पुत्रं शिरसि जिघ्रतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अजो बालक, तुम मुझको अधिक प्यार करता है अथवा अपनी माताको ? पिता द्वारा माताके सामने इस प्रकार पूछे जाने पर लड़का जिसके हाथमें अधिक लुभावना पदार्थ देखता है उसीके विषयमें अपना मन्तव्य प्रकट करता है, इस पर हँसता हुआ पुण्यात्मा पिता अपने पुत्रका शिर सूंघकर अपना प्रेम प्रकट करता है । ऐसा पिता धन्य है ॥ ३४ ॥

निन्द्यते पितृभिस्तप्तैर्निरपत्यधनः पुमान् ।
अध्वनीनैरतिश्रान्तैरवकेशीव पादपः ॥ ३५ ॥

निन्द्यत इति । तप्तैः लुप्तपिण्डोदकक्रियतया तप्तैः सन्तप्तैः पितृभिः निरपत्यधनः अपत्यं सन्ततिस्तेन धनेन रहितः पुमान् अतिश्रान्तैः मार्गचलनश्रमपीडितैः अध्वनीनैः पान्थैः अवकेशी वन्ध्यः पादपः वृक्ष इव । यथा पत्र-फलरहितो वृक्षोऽध्वनीनविश्रमानुपयुक्ततयाऽध्वनीनैर्निन्द्यते, तथा पितृभिरपि निरपत्यः पुमान् निन्द्यते, तस्यापि पिण्डपातानुवृत्तिकर्मानुपयुक्तत्वादित्यर्थः । 'अवकेशी] तरुर्वन्ध्यः' इत्यमरः । 'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुतिवचनेन पुत्रवत्ताप्रशंसा ज्ञाप्यते तदनुरोधिनीयमुक्तिः ॥ ३५ ॥

पितरलोक अपत्य-धनरहितोंकी निन्दा किया करते हैं, (क्योंकि उसकी सन्ततिके नहीं होनेसे आगेकी पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जाती है (जैसे अतिश्रान्त पथिक शाखा-पत्र-फलशून्य वृक्षकी निन्दा करते हैं ॥ ३५ ॥

कदापि तातशब्दस्य कल्पभूमिरुहामिव ।
नार्थीभवितुमर्हामि नरवाहनसंनिभः ॥ ३६ ॥

कदापीति । नरवाहनेन कुबेरेण सन्निभस्तुल्योऽहं पाण्डुः तातशब्दस्य 'तात'

इति पितृपर्यायशब्दस्य कल्पभूमिरुहाम् कल्पवृक्षाणाम् इव कदाऽपि अर्थीभवितुं अर्थत्वमुपैतुं वाचकत्वं वोपैतुं न अर्हामि। यथाऽहं प्रभूतसम्पत्तिकतया कल्पवृक्षाणां पुरोऽर्थित्वमुपगन्तुं नार्हामि तथैव तातशब्दस्याभिधेयोऽपि न भवितुमर्हामीति-शोच्योऽस्मीत्यर्थः। अर्थीभवितुमर्हामीति वाक्ये अर्थशब्दाच्च्विप्रत्यये अर्थिन् शब्दाच्च च्विप्रत्यये अर्थीभवितुमिति पदं सिध्यति। अर्थः वाच्य इत्यपि बोध्यम् ॥ ३६ ॥

प्रभूतसम्पत्तिशाली होनेके कारण कुवेरतुल्य मैं जिस प्रकार कभी भी कल्पवृक्षके आगे याचक नहीं हो सकता हूँ, उसी प्रकार 'तात' शब्दसे पुकारा भी नहीं जा सकता हूँ। मुनिके शापकी सत्यताके कारण मुझे सन्तान होगी ही नहीं, फिर मुझे तात शब्दके अर्थ होनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥ ३६ ॥

किं भोगवैभवयशःक्षितिजीविताद्यैरम्भोरुहाक्षि ! नियमैरनघैस्त्वमेव ।
शापातिरेकदवपावकशायिनो मे तापापनोदविधये तनयं प्रसुष्व[1] ॥ ३७ ॥

किं भोगेति। भोगः स्रक्चन्दनवनिताद्युपभोगः, वैभवम् ऐश्वर्यम्, यशो दानजन्या कीर्त्तिः क्षितिः भूः राज्यमित्यर्थः, जीवितम् प्राणधारणं तदाद्यैस्तत्प्रभृतिभिर्मम किम् ? नास्ति किमपि फलमित्यर्थः, सन्तत्यभावे सर्वाण्यपीमानि भारायमाणानीत्याशयः। हे अम्भोरुहाक्षि ! कमलनयने ! कुन्ति ! अनघैः भर्त्रनुज्ञाततया दोषशून्यैः नियमैः व्रतोपवासादिभिः नियोगादिभिर्वा त्वम् एव शापस्य किन्दमदत्त-स्त्रीप्रसङ्ग-प्रतिषेधकाभिशापस्य योऽतिरेकः अतिशयः प्रकर्षस्स एव दवपावको वनाग्निस्तत्र शेते यस्तस्य किंदमप्रदत्तशापाग्निदह्यमानस्येत्यर्थः मे मम पाण्डोः तापापनोदविधये अनपत्यताजनितमनःखेदशान्तये तनयं पुत्रं प्रसुष्व जनय। 'अपत्यशून्यतयाऽहमिमानि भोगवैभवयशःक्षितिजीवितानि वृथा मन्ये, सन्ततिलाभस्य च स्त्रीप्रसङ्गमात्रसाधनतया किन्दमशापेन तस्य कर्तुमशक्यतया च तप्येऽतो मदीयानुमत्या त्वं व्रतोपवासादिना नियमेन, नियोगेन वा पुत्रं प्रसुष्व, येन क्षेत्रजापत्यमाप्याहं निर्वृतिमासादयेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

हे कमलनयने, मेरे लिये स्रक्चन्दनवनितादिभोग, धन, यश, राज्य, जीवन यह किस कामके हैं, मैं किन्दममुनिके शापरूप वनवह्निमें झुलस रहा हूँ, अतः मेरे सन्ताप (अनपत्यताखेद) को दूर करनेके लिये तुम हमारी अनुज्ञा होनेके कारण निर्दोष व्रतोपवासाद्युपाय अथवा नियोगसे सन्तान उत्पन्न करो, जिससे क्षेत्रजसन्तति प्राप्त करके मैं अनपत्यतासे अपनी रक्षा कर सकूँ ॥ ३७ ॥

इत्यसंकोचतः शोचतः पत्युरप्रभुवि समग्रमन्दाक्षरमणीयं मन्दाक्षरमणीयन्त्रितमिदं वचनं पृथापि कथयामास ।

---

१. 'प्रसूष्व' । इति पा० ।

इतीति । इति एवमुक्तप्रकारेण असङ्कोचतः निर्लज्जभावेन शोचतः चिन्तयतः पत्युः स्वामिनः पाण्डोः अग्रभुवि पुरोदेशे समग्रेण महता मन्दाक्षेण लज्जया रमणीयं सुन्दरं यथा स्यात्तथा मन्दाः परिमिताः अक्षराणि मणय इव तैर्यन्त्रितं गुम्फितमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं वचनम् पृथा कुन्ती अपि कथयामास। एवं स्फुटमुक्तवतः पत्युः पुरतः पृथाऽपि मन्दस्वरेण लज्जामनोज्ञमिदमूच इत्यर्थः ।

इस प्रकार असङ्कुचित रूपसे दुःख प्रकट करते हुए पतिदेवके आगे प्रभूत लज्जासे सुन्दर तथा मन्द मन्द कहे गये अक्षररूप मणिओंसे गुम्फित निम्नोक्त वचन पृथाने कहे ।

राजन् ! खलु पुरा मम पिता पितामहसमानस्य निशान्तमधिवसतः कृशां तनुलतां तपसा वहतोऽपि दिशां ततिषु निशान्तरविकान्तिभृशान्तरङ्गाङ्गरुचां तरंगपरंपरां तरलयतोऽशान्तमनसो मुनेरुपान्तपरिचरणाय मामनुशासितशैशवराज्यामपि नियोज्यामकरोत् ।

राजन्निति । राजन् , महाराज, पुरा पूर्वसमये मम पिता जनकः कुन्तिभोजो नाम पितामहसमानस्य अतिवृद्धस्य ब्रह्मणा वा तुल्यस्य निशान्तम् अन्तः पुरम् अधिवसतः गृहागतस्य तपसा व्रतोपवासादिना कायक्लेशकारिणा नियमेन कृशाम् दुर्बलाम् तनुलताम् काययष्टिम् वहतः धारयतः अपि तपःकृशस्यापीत्यर्थः । दिशां प्राच्यादीनां दिशां ततिषु समुदायेषु निशान्तरवेर्बालसूर्यस्य भृशम् अन्तरङ्गाणाम् आत्मीयानाम् बालरविप्रभाभासमानानाम् अङ्गरुचाम् तनुकान्तीनाम् तरङ्गपरम्परां वीचीनिचयं तरलयतः प्रसारयतः सर्वासु दिशासु तेजस्विनीं देहकान्तिं प्रसारयतः अशान्तमनसः क्रोधनस्वभावस्य मुनेः ऋषेः दुर्वाससः उपान्ते समीपे परिचरणाय सेवायै अनुशासितं पालितं शैशवं बाल्यमेव राज्यं यया ताम् बालिकाम् अपि नियोज्याम् परिचारिकाम् अकरोत् । पुराकाले मम गृहागतस्य दुर्बलतनोः सर्वदिगवच्छेदेन बालसूर्यप्रभामिव स्वां तनुकान्तिं विकिरतः क्रोधनस्वभावस्य दुर्वाससो बालामपि मां सेवायां न्ययुङ्क्त इत्यर्थः ।

हे राजन् ! पुराने समयमें मेरे पिता कुन्तिभोजने मुझ बालिकाको दुर्वासा ऋषिकी परिचर्यामें नियुक्त किया था, जो दुर्वासा ऋषि, ब्रह्माके समान, हमारे घरमें वास करनेवाले, तपस्याके कारण कृशशरीर, बालरविकी कान्तिके समान शरीरकान्तिको दिशाओंमें प्रसारित करनेवाले एवं नितान्त क्रोधी स्वभावके थे । (अनुशासितशैशवराज्याम्—बाल्यावस्थारूप राज्यपर शासन करनेवाली बालिका) ।

---

१. 'पुरा खलु पिता मम' । २. 'रविकान्त' । ३. 'अन्तरङ्गरुचाम्' ।
४. 'तरलयितुः । ५. 'यौवराज्याम्' । इति पा० ।

ततो [1]नियोगान्समयेषु लब्धुं मया महायत्नजुषा महर्षेः ।
आरामवल्लीरपहाय तस्य भ्रूवल्लिमेव [2]प्रतिपाल्य तस्थे ॥ ३८ ॥

तत इति । ततः आत्मनो दुर्वाससः परिचर्यायां नियुक्तेरनन्तरम् समयेषु स्नान-पूजाद्यवसरेषु महर्षेः दुर्वाससः नियोगान् जलाहरणाद्यर्थमादेशान् लब्धुम् आसाद-यितुं महायत्नजुषा सातिशयं यत्नं धारयन्त्या कथमयं मां पानीयपुष्पादि समाहर्तु-माज्ञापयिष्यतीति सततसतर्कयेत्यर्थः मया कुन्त्या आरामवल्लीः उद्यानस्थिताः लताः अपहाय प्रविहाय बाल्योचितपुष्पावचयादिविषयप्रथं त्यक्त्वेत्याशयः, तस्य महर्षेर्दुर्वा-ससः भ्रूवल्लिम् भ्रूलताम् एव प्रतिपाल्य उत्सुकभावेन निरीक्ष्य तस्थे स्थितम् । सेवायां लग्नैर्जनैः सेव्यः कदा किमाज्ञापयेदेतदर्थमनन्यासक्तचित्ततया सदा स्थात-व्यमिति ध्यानं महान् गुणः सेवकस्येति स एव गुणोऽत्र कुन्त्या निरहङ्कारभावेनोप-निबद्धो वेदितव्यः ॥ ३८ ॥

इसके बाद समय-समय पर मुनिकी आज्ञाओंको पानेके लिये अनवरत प्रयत्नशील रहनेवाली मैंने पुष्पोद्यानवर्त्तिनी लताओंको छोड़कर मुनिकी भ्रूलता ही देखकर बैठना पसन्द किया । मैं बालस्वभावसिद्ध पुष्पचयन-प्रवृत्तिको छोड़कर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें उनकी भ्रूलता—आंखकी ओर देखती हुई बैठी रहने लगी ॥ ३८ ॥

यथा यथा सेवनयत्नजन्मना निदाघतोयेन निषिक्तमङ्गकम् ।
तथा तथावर्धत तापसान्तिके महाविकासा मम भक्तिवल्लरी ॥ ३९ ॥

यथा यथेति । सेवने मुनिपरिचरणे यो यत्नः प्रयासातिशयस्ततो जन्म उत्पत्ति-र्यस्य तादृशेन मुनिपरिचर्याप्रयासप्रभवेणेत्यर्थः, निदाघतोयेन घर्माम्भसा यथा यथा यावतांऽशेन मम कुन्त्याः अङ्गकम् अल्पमङ्गम् शरीरावयवः निषिक्तम् सिक्तम् आर्द्रम् अभवदिति शेषः, तथा तथा तावतांऽशेन मम भक्तिवल्ली श्रद्धालता तापसान्तिके मुनिविषयेऽवर्द्धत वृद्धिमभजत् । यथा यथाऽहं मुनिपरिचरणजन्य-श्रमाम्भसाऽसेचिषि तथा तथा मम भक्तिलता मुनिपर्युपासने वृद्धिमापदिति भावः । अत्र सिच्यते कायः, वर्द्धते भक्तिलतेति विषमं नामालङ्कारः । अङ्गकमि-त्यल्पार्थे कन् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३९ ॥

सेवाविषयक प्रयासोंसे पैदा होनेवाले पसीनेकी बूंदोंसे जैसे-जैसे मेरे छोटे-छोटे अङ्ग भींगते थे वैसे-वैसे मुनिपर आश्रित हमारी भक्तिरूपिणी लता बढ़ती जाती थी । परिश्रमके पसीनेसे ज्यों-ज्यों हमारे अङ्ग भींगते थे त्यों-त्यों हमारी श्रद्धा मुनिपर बढ़ती जाती थी ॥ ३९ ॥

---

१. 'निदेशात्' । २. 'प्रतिहाय' । इति पा० ।

तपस्विनस्तस्य तपःकृशस्य सरूपतामाप्तुमिवाश्रयद्भिः ।
दिने दिने मे दयनीयरूपैरङ्गैरशेषैरतिकार्श्यमापे ॥ ४० ॥

तपस्विन इति । तपःकृशस्य तपस्याङ्गभूतव्रतोपवासादिना दुर्बलदेहस्य तपस्विनः मुनेः तस्य दुर्वाससः सारूप्यम् कार्श्यकृतं सादृश्यम् आप्तुमिव अधिगन्तुम् इव आश्रयद्भिः कार्श्यं भजद्भिः दयनीयरूपैः कारुण्यास्पदाकृतिभिः मम अशेषैरङ्गैः सकलैर्देहावयवैः दिने दिने अतिकार्श्यम् सातिशयं दौर्बल्यम् आपे प्राप्तम् । सेव्यमानस्य मुनेः कार्श्येनोपमितं कार्श्यमिवाधिगन्तुं दयनीयावस्थानि ममाङ्गानि परिचर्यापरिश्रमेण दुर्बलान्यभवन्निति तात्पर्यम् । सारूप्यमधिगन्तुमिवेति हेतूत्प्रेक्षा ॥

अति दुर्बलकाय तपस्वी दुर्वासाकी कृशताके समान कृशता प्राप्त करनेके लिये हमारे दयनीय रूपवाले अङ्गोंने दिनानुदिन कृश होना प्रारम्भ कर दिया ॥ ४० ॥

आपादनेन समिधामभिषेकवारामभ्यर्चनासुमनसामपि तापसेन्द्रः ।
मय्येव शिष्यजनताममितां वितन्वन्नन्तेवसन्तमपि कोपमपाचकार ॥४१॥

आपादनेनेति । तापसेन्द्रः तपस्विकुलश्रेष्ठो दुर्वासाः समिधाम् होमोपकरणकाष्ठानाम् अभिषेकवाराम् स्नानार्थमपेक्षितानां जलानाम् अभ्यर्चनासुमनसाम् पूजार्थकुसुमानाम् अपि आपादनेन सम्पादनेन (मयाऽनुष्ठितेन) मयि कुन्त्याम् एव अमितां समग्राम् शिष्यजनताम् शिष्यजनभावम् वितन्वन् कुर्वन् सन् अन्तेवसन्तम् सदा समीपवर्त्तिनं कोपम् अपि अपाचकार दूरीकृतवान् । (यथा कोऽपि गुरुः कुत्राप्येकत्र शिष्ये सर्वां ममतां निधाय तदितरं विद्यार्थिनं गमयति, तथा) मयि शिष्यभावं विभ्रदयं दुर्वासाः स्वाभाविकतया सदा समीपवर्त्तिनमपि कोपमहासीदित्यर्थः । 'अन्तेवसन् विद्यार्थी समीपस्थश्चेति श्लेपोऽत्र चमत्कारभूमिः । 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इति कोशः ॥ ४१ ॥

तापसश्रेष्ठ दुर्वासाने—होमकी लकड़ी, स्नानार्थ जल, पूजाके लिये अपेक्षित फूल आदि जुटा देनेवाली मुझ कुन्तीपर सारी शिष्यजन-भावनाको केन्द्रित करके 'अन्तेवसन्' विद्यार्थी तथा सदा सन्निहित कोपको भी दूर भगा दिया । (जैसे किसी एक ही विद्यार्थी द्वारा सारी व्यवस्थाके सम्पादनके भारके उठा लिये जाने पर गुरुदेव और विद्यार्थियोंको उस भारसे मुक्त कर देते हैं उसी तरह) मेरी सेवासे प्रसन्न होकर दुर्वासाने अपना कोप छोड़ दिया ॥ ४१ ॥

एकां समां तत्र वसन्कदाचिदेकां स मां पार्श्वगतामवेक्ष्य ।
समाधिवृत्त्या सह मौनमुद्रां समापयामास तपोधनेन्द्रः ॥ ४२ ॥

---

१. 'श्रयद्भिः' । २. 'ममतां' । इति पा० ।

एकामिति । सः तपोधनेन्द्रः तपस्विश्रेष्ठो दुर्वासा नाम मुनिः तत्र मद्गृहे एकां समाम् संवत्सरं तिष्ठन् स्थितः सन् कदाचित् माम् एकाम् सखीजनविरहिताम् पार्श्वगताम् मुनेः समीपे वर्त्तमानाम् अवेक्ष्य विलोक्य समाधिवृत्त्या प्रणिधान-व्यापारेण सह सहैव मौनमुद्राम् मौनावस्थाम् समापयामास अवसायितवान् । मम गृहे वर्षं यावदास्थितो मुनिवरोऽसौ कदाचिदेकाकिनीं स्वसमीपेऽवस्थितां मामवलोक्य समाधिं विसृज्य वक्तुमारभतेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

वे तपस्विवर दुर्वासा मुनि एक वर्ष तक हमारे गृह पर रहे, एक समय जब उन्होंने मुझे अपने पास अकेली देखा, तब समाधि त्याग करके मौन भङ्ग किया, अर्थात् निम्न लिखित वचन कहा ॥ ४२ ॥

'वत्से ! भवत्सेवासंप्रदायेन संप्रति भृशं प्रसीदामि' इति व्याहृत्य स मुनिरनुकम्पितचेता मह्यमत्यर्थमभीप्सितार्थसमर्थापनपरतन्त्रं कमपि मन्त्र[1]मुपादिक्षत् ।

वत्से इति । वत्से ! पुत्रि ! कुन्ति ! भवत्याः सेवायाः त्वया कृतायाः मम परिचर्यायाः सम्प्रदायेन क्रमेण सम्प्रति इदानीं भृशम् अत्यर्थं प्रसीदामि, इति एवम् व्याहृत्य उक्त्वा स मुनिर्दुर्वासाः अनुकम्पितचेताः दयमानमनाः भूत्वा मह्यम् कुन्त्यै अत्यर्थम् भृशम् अभीप्सितस्य काम्यमानस्य अर्थस्य वस्तुनः समर्थापने सम्पादने परतन्त्रं वशगम् अभीष्टार्थसम्पादकम् कमपि मन्त्रम् उपादिक्षत् उपदिष्टवान् । मन्त्रानुक्तिर्गोप्यतया ॥

'वत्से ! कुन्ति ! तुम्हारी सेवाके क्रमसे इस समय मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ' ऐसा कहकर दयायुक्त हृदयवाले दुर्वासा मुनिने मुझे सर्वथा अभीष्ट वस्तु-प्रदानमें समर्थ एक मन्त्र बतलाया ॥

अपि क्रुधामावसतेरमुष्मान्मत्वा गुरुत्वं वरमन्त्रलाभे ।
अपुष्पवत्यामपि मे दशायामामोदभारोऽधिकमाविरासीत् ॥ ४३ ॥

अपि क्रुधामिति । क्रुधाम् कोपानाम् आवसतेः निवासभूतात् अपि अमुष्मात् दुर्वाससः वरमन्त्रलाभे अभीष्टफलदातृतयाऽभीष्टमन्त्रलाभे गुरुत्वं गौरवं भाग्यशालित्वमात्मनो मत्वा विज्ञाय अपुष्पवत्याम् रजोयोगरहितायाम् बाल्यरूपायामित्यर्थः । दशायाम् मम अधिकम् महान् आमोदभारः प्रमोदः आविरासीत् अजायत । पुष्पे सति लतास्वामोदः सुगन्धः प्रादुर्भवतीति प्रसिद्धिः सैवात्र व्यतिरेककोटीकृता । लताः पुष्पिताः सत्य आमोदभारमादधतेऽहं त्वपुष्पवत्यपि महान्तमानन्दमविन्दमिति भावः ॥ ४३ ॥

---

१. 'उपादिशत्' । इति पा० ।

औषके आश्रयभूत दुर्वासा मुनिसे इष्टफलद मन्त्रका मैं लाभ कर सकी इस गौरवको प्राप्त करके पुष्पवती नहीं होने पर भी मुझे महान् आमोद हुआ। साधारणतः लतायें फूलनेके बाद ही आमोद—सुगन्धसे युक्त होती हैं, लेकिन मैं पुष्पवती रजोधर्मिणी होनेके पहले ही उस ऋषिके वरदानको प्राप्त करके बहुत प्रसन्न हुई॥ ४३॥

अधुना तस्य प्रभावेण शतमखमुखासु निखिलासु लेखरेखासु[1] ये ये पराध्यास्ते ते रहसि [2]कृतसांनिध्याः [3]स्वानुगुणगुणगणविभवानात्मभवान्मयि विकसदनुकम्पाः संपादयिष्यन्ति।

अधुनेति। अधुना सम्प्रति तस्य महर्षेर्दुर्वाससो मन्त्रस्य प्रभावेण सामर्थ्येन शतमखमुखासु इन्द्रमुख्यासु निखिलासु सकलासु लेखरेखासु देवसमुदयेषु ये ये परार्ध्याः श्रेष्ठाः ते ते देवाः रहसि एकान्ते कृतसान्निध्याः (मयाऽऽहूताः सन्तो मम) समीपमुपगताः स्वानुगुणः स्वरूपोचितः यो गुणगणः शौर्यसामर्थ्यसम्पन्नतादिः स एव विभवः सम्पत्तिः येषाम् तान् स्वसदृशगुणगणसंयुक्तान् आत्मभवान् पुत्रान् मयि मद्विषये विकसदनुकम्पाः जायमानानुग्रहाः सम्पादयिष्यन्ति जनयिष्यन्ति। तस्य दुर्वासोदत्तस्य मन्त्रस्य प्रभावेण मया ध्यायमानाः केऽपि शक्रप्रभृतयो देवा मयि स्वसदृशशौर्यादिगुणशालिनः पुत्रान्मयि जनयितुमवश्यं दयिष्यन्त इत्याशयः॥

इस समय दुर्वासा द्वारा उपदिष्ट उस मन्त्रके प्रभावसे इन्द्र प्रभृति देवगणमें जो प्रधान हैं वे सभी एकान्तमें (मेरे बुलाने पर) उपस्थित होकर मुझमें अपने समान शौर्यादि गुण गणोपेत पुत्रोंको उत्पन्न करनेकी कृपा कर सकते हैं। (मैं जिस देवताको चाहूँ उन्हें अपने पास एकान्तमें बुलाकर उनके समान पुत्रको अपनेमें उनसे उत्पन्न करवा सकती हूँ)॥

इति नृपाय कृपायतचेतसे यदुसुता मुनिनेतुरनुग्रहम्।
अदशनव्रणपीडमहर्पतेरभिदधे रत[4]संगमनं विना॥ ४४॥

इति नृपायेति। इति एवं प्रकारेण कृपायतचेतसे दयावशीभूतहृदयाय नृपाय राज्ञे पाण्डवे मुनिनेतुर्मुनिश्रेष्ठस्य दुर्वाससः अनुग्रहं वरप्रदानलक्षणां कृपाम् यदुसुता यदोः कुन्तिभोजस्य नाम्नो यदुवंशिनः पुत्री कुन्ती अहर्पतेः सूर्यस्य अदशनव्रणपीडम् दन्तक्षतजन्यकष्टरहितम् रतसङ्गमनं सुरतप्रापणं विना विहाय अभिदधे। एवं दयमानमानसाय पाण्डवे कुन्ती दुर्वासोवरप्रदानकृपावृत्तं सर्वमाख्यत्केवलं सा मन्त्रपरीक्षणाय सूर्यमाहूय बाल्ये सूर्येण सह रतवतीति

---

१. 'लेखलेखासु'। २. 'ध्यानमात्रसाध्यसांनिध्याः'। ३. 'स्वस्वानुरूपगुणविभवान्'। ४. 'रतिः'। इति पा०।

नोवाच, तस्य चौर्यरतरूपत्वेन कुलद्वयनिन्द्यत्वादिति । अत्राहर्पतेः सूर्यस्य रते 'अदशनव्रणपीड'मिति विशेषणं चौर्यरते दशनच्छदव्रणविधानमयुक्तं बोधयत्का-मशास्त्रस्थितिं परिचपयति। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार कृपा करनेवाले राजा पाण्डुसे कुन्तीने मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाके वर-प्रदानकी सारी बातें बता दी, केवल मन्त्रपरीक्षाके लिये उसने सूर्यका आवाहन किया था और उसने उनके साथ (दन्तक्षत वर्जित-चौर्यरत) सम्भोग भी किया था इस बातको छिपा लिया। चौर्यरत दोनों कुलके लिये अयशस्कर होगा इसलिये उस अंशको प्रकाशित नहीं किया ॥ ४४ ॥

इति वचनमयीं सुधां किरन्तीं यदुनृपतेस्तनयां प्रशंसमानः ।
पतिरनुमनुते स्म पौरवाणां प्रकृतमहोत्सवपारदर्शनाय ॥ ४५ ॥

इति वचनमयीमिति । इति प्रागुक्तस्वरूपां वचनमयीं वागात्मिकां सुधाम् अमृतं किरन्तीं वर्षन्तीं यदुनृपतेः कुन्तिभोजस्य तनयां पुत्रीं कुन्तीं प्रशंसमानः हृदयेनाभिनन्दयन् पौरवाणां पतिः पाण्डुः प्रकृतस्य प्रारब्धस्य महोत्सवस्य वरमन्त्रलाभात्मकस्य पारम् अन्तः तद्द्वारकपुत्रलाभरूपः तस्य दर्शनाय अनुमनुतेस्म अनुज्ञां ददातिस्म । एवममृतमयं वरमन्त्रलाभरहस्यमभिदधत्यै कुन्त्यै पौरववंशप्रधानः पाण्डुः प्राप्तेन मन्त्रेण साध्यं पुत्रलाभरूपं महोत्सवं कर्त्तुमनुज्ञामदादिति भावः । पुष्पिताग्रावृत्तम्, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति च तल्लक्षणम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार वचनरूप अमृत वरसाने वाली कुन्तीकी हृदयसे प्रशंसा करते हुए पौरव-वंशके प्रधानभूत राजा पाण्डुने उसे इस प्रारब्ध उत्सव-मन्त्र लाभके पार पानेकी अनु-मति दे दी, पाण्डुने अनुमति दे दी कि तुमने मन्त्र पाकर जिस उत्सवका प्रारम्भ किया है उसका अन्त भी देख लो, अर्थात् मन्त्र द्वारा देवोंको आहूत करके उनसे पुत्र उत्पन्न करो ॥ ४५ ॥

तदनन्तरम्—

धर्मात्[1]प्राप युधिष्ठिरं पवनतो भीमं च भीमं द्विषां
जिष्णोर्जिष्णुमतीव धृष्णुमनघा कुन्ती मुनेर्विद्यया ।
अन्या सापि तथैव तत्र नकुलं रूपास्पदं गीष्पतेः
सच्छात्रं सहदेवमप्यजनयन्नासत्ययोरन्तिकात् ॥ ४६ ॥

तदनन्तरमिति। तदनन्तरम् पत्युर्नियोगाज्ञाप्राप्तेः परतः। धर्मादिति। अनघा

१. 'धर्मात्प्राप'। इति पा०।

पत्युरनुज्ञामासाद्य प्रवृत्ततया पापास्पृष्टा कुन्ती मुनेः दुर्वाससः विद्यया मन्त्रेण धर्मात् यमराजात् युधिष्ठिरं नाम पुत्रं प्राप, पवनतो वायोः द्विषां शत्रूणां भीमं भयङ्करं भीमं नाम पुत्रं प्राप जनयामास, जिष्णोः इन्द्रात् अतीव धृष्णुम् अत्यन्तगम्भीरं जिष्णुं नामार्जुनं प्राप जनयामास। तदेव कुन्त्या धर्मवायुशक्रेभ्यो देवेभ्यो युधिष्ठिरभीमार्जुना नाम त्रयः पुत्रा अजायन्तेति पादद्वयार्थः। अन्या द्वितीया सा माद्री अपि तथैव मुनिद्वारोपदिष्टया कुन्त्या माद्र्यै कथितया विद्यया मन्त्ररूपया नासत्ययोः स्ववैद्ययोः अश्विनीकुमारयोः अन्तिकात् सकाशात् तत्प्रसङ्गात् तत्र तस्मिन्समये रूपास्पदंसौन्दर्यनिधानम् नकुलं नाम गीष्पतेः बृहस्पतेः सच्छात्रं सदृशं तमिव विद्याबुद्धिसम्पन्नं सहदेवम् अपि अजनयत् उदपादयदित्यर्थः। अश्विनीकुमारयोर्द्वित्वनित्यसम्बद्धतया तयोः प्रसङ्गेन माद्र्याः नकुलसहदेवनामकौ पुत्रावजनिषातामिति स्फुटाशयः। 'जिष्णुरिन्द्रेऽर्जुने जैत्रे' इति–'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इति चामरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्–'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः स गुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ ४६ ॥

पतिकी आज्ञा पालनेके कारण नियोगजन्य पापसे अस्पृष्टा कुन्तीने दुर्वासा द्वारा उपदिष्ट मन्त्रके प्रभावसे धर्मराजके साथ प्रसङ्ग करके धर्मराजको और वायुके साथ प्रसङ्ग करके शत्रु–भयङ्कर भीमसेनको एवं इन्द्रके साथ प्रसङ्ग करके अतिधीर अर्जुनको जन्म दिया। पाण्डुकी दूसरी रानी माद्रीने भी कुन्ती द्वारा बताये गये उसी मन्त्रके द्वारा अश्विनीकुमारको बुलाकर उसके साथ प्रसङ्ग किया जिससे उसके अति सुन्दर तथा बृहस्पतिके समान बुद्धिमान नकुल और सहदेव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४६ ॥

तदनु वासवनन्दनसंभृताः स पटुगीतिरवप्रमदालयः।
सुमनसस्तु यथोचितमाचरन्निपतनं भुवि नृत्यविधिं दिवि ॥ ४७ ॥

तदन्विपित। तदनु युधिष्ठिरादिजन्मानन्तरम् वासवस्य इन्द्रस्य नन्दने प्रसादने सम्भृताः वासवस्य नन्दने तदाख्ये वने च सम्भृताः सम्पादिताः पटुगीतिरवेण मनोहरगीतशब्देन सहितानां प्रमदानामप्सरसामालयः समूहा यत्र तथा विधाः सुमनसो देवाः, पटुगीतिरवेण प्रमदैः सानन्दैरलिभिः सहिताः सुमनसः पुष्पाणि च यथोचितम् यथायोग्यतं भुवि निपतनं (पुष्पाणि) दिवि स्वर्गे नृत्यविधिम् (देवाः) आचरन् कृतवन्तः। अयमाशयः—युधिष्ठिरादिषूत्पन्नेषु वासवस्य हर्षेण नियुक्ता गायन्तीभिः सुस्वराभिरप्सरोभिः सहिता देवसङ्घा दिवि ननृतुः, इन्द्रस्य नन्दनाख्ये वने सम्पादिताः मधुरं कूजद्भिर्भ्रमरैः सहिताः सुमनसः (पुष्पाणि) च भुवि निपेतुः। अत्र नन्दन, संभृत, प्रमदालि, सुमनः शब्दाः श्लिष्टाः। श्लेषसङ्कीर्णं यथासङ्ख्यन्नामालङ्कारः। 'सुमनाः मालतीपुष्पपण्डितेषु सुरेषु च'–'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इति च विश्वामरौ ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर आदिके जन्म ले लेने पर इन्द्रकी प्रसन्नतासे प्रेरित होकर मधुर गीत गाने वाली अप्सराओंको साथ लेकर देवतागण स्वर्गमें नृत्य करने लगे, एवं इन्द्रके उद्यान नन्दनवनमें सम्पन्न तथा मधुर शब्द करनेवाले मतवाले भ्रमरोंसे युक्त फूल पृथ्वी पर गिरने लगे। इन्द्र आदि देवोंने खुशियाँ मनाई और आकाशसे पुष्पवृष्टि भी हुई ॥ ४७ ॥

जन्मोत्सवो महानेषां जलमत्यच्छमावहन् ।
विद्यामनन्यसामान्यां [1]व्रीडां कुम्भभुवोऽनयत् ॥ ४८ ॥

जन्मोत्सव इति । एषां युधिष्ठिरादीनाम् महान् अभूतपूर्वः जन्मोत्सवः प्रादुर्भावप्रभवः प्रमोदः जलम् सर्वमपि वारि अत्यच्छम् अतिस्वच्छम् आवहन् कुर्वन् सन् कुम्भभुवः अगस्त्यस्य मुनेः अनन्यसामान्याम् अनितरसाधारणीम् विद्यां जलस्वच्छीकरणात्मिकाम् व्रीडाम् अनयत् लज्जितवान् । 'अगस्त्योदये जलशुद्धिः' इति प्रथिताभाणकेनागस्त्यस्य जलशोधकत्वमभिधीयते, इतः पूर्वमियं जलशोधनकलाऽगस्त्यमात्रवृत्तिरासीत्, अधुनैषां जन्मना जले प्रसन्नतां गते सति सा तदीया विद्या लज्जितेवाजायत, अनन्यसामान्यताव्यावृत्तेः, अधुनावधि परासाध्यतया मता जलशुद्धिर्जन्मोत्सवेन कृतेति मुनेर्विद्या लज्जितेव जातेति भावः ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर आदि जन्मसे होनेवाले महान उत्सवने जलको अतिशय स्वच्छ बनाकर दूसरोंमें नहीं रहनेवाली अगस्त्यकी जलशोधन विद्याको लज्जित सा कर दिया। अब तक 'अगस्त्योदये जलशुद्धिः' की प्रथा थी, परन्तु इनके जन्मसे जब पानी आपसे आप साफ हो गया तब अगस्त्यकी जलशोधन विद्या लजा सी गई ॥ ४८ ॥

स्वस्य चक्रगतिं सख्युः स्वयमप्याश्रिता इव ।
जवात्प्रदक्षिणज्वाला जज्वलुर्यज्वपावकाः ॥ ४९ ॥

स्वस्येति । यज्वनां यज्ञं कुर्वताम् पावकाः पवित्रतासम्पादकाः त्रेताग्नयः स्वस्य सख्युः मित्रस्य वायोः चक्रगतिम् चक्राकारभ्रमणलक्षणं गतिम् आश्रिताः प्राप्तवन्त इव स्वयम् अपि आत्मनाऽपि जवात् वेगात् प्रदक्षिणज्वालाः सव्यभागगामिशिखाशालिनः सन्तः जज्वलुः दिदीपिरे। अग्नयो दक्षिणावर्त्ताः सन्तो वेगेन दिदीपिरे, ते स्वसुहृदो वायोश्चक्राकारचलनविद्यां स्वमप्यभ्यास्यन्निति भावः ॥ ४९ ॥

याज्ञिकोंको पवित्र करनेवाली त्रेताग्नियाँ दक्षिणावर्त्त ज्वालासे पूर्ण होकर वेगसे धधकने लगीं, मानों उन अग्नियोंने अपने प्रिय मित्र वायुकी चक्राकार गति अपनाली हो॥

सामोदो भीमसं[2]भूतिसंभूताशौचवत्तया ।
संकुचन्निव संस्पर्शे समीरो मन्दमाववौ ॥ ५० ॥

---

१. 'व्रीलाम्'। २. 'संभूत'। इति पा०।

सामोद इति । सामोदः सुगन्धयुक्तः हर्षपूर्णश्च समीरो वायुः भीमस्य द्वितीयपाण्डवस्य संभूत्या जन्मना सम्भूतम् जनितं यत् अशौचम् अपवित्रभावस्तद्वत्तया तद्युक्तत्वेन संस्पर्शे पराङ्गस्पर्शे सङ्कुचन् सङ्कोचं धारयन्निव मन्दम् शनैः आववौ वातिस्म । जाते पुत्रे पितुः कतिपयदिनव्यापकमशौचं सम्पद्यत इति स्मार्त्तसम्प्रदायः, तेन वायुः स्वात्मजस्य भीमस्य जन्मनाऽधिगताशौच इव पराङ्गस्पर्शं वारयितुकामः सन् सुगन्धपूर्णः सहर्षश्च भूत्वाऽपि शनैर्ववौ इति भावः । ववौ इति वातेः कर्त्तरि लिट् ॥ ५० ॥

भीमके जन्म लेनेके कारण होनेवाले अशौचसे युक्त होकर वायु सुगन्धपूर्ण तथा प्रसन्न होकर भी दूसरोंके शरीर स्पर्शको बचाती सी हुई धीरे धीरे बहती थी । जिसको सन्तान होती है उसे कुछ दिनों तक अशौच मनाना होता है, इस स्मार्त्त नियमका पालन करनेवाला भीमका पिता पवन भीमके जन्म लेने पर दूसरोंके स्पर्शसे बच बच कर धीरे धीरे बहता था ॥ ५० ॥

कन्यकात्वेऽपि मय्येषा कामुकीति स्मरन्निव ।
प्रसूतिदिवसं कुन्त्याः प्राद्युतदहस्करः ॥ ५१ ॥

कन्यकात्वेऽपीति । एषा कन्यकात्वेऽपि अनूढदशायाम् अपि मयि मद्विषये कामुकी रिरंसुः अभूत् अजनि इति स्मरन्निव अहस्करः भास्करः कुन्त्याः प्रसूतिदिवसं युधिष्ठिरादिजन्मवासरं प्राद्युतत् समधिकं प्रकाशयामास । कन्यकात्वेऽपीत्यपिनाऽनुपभुक्तयौवनोपभोगप्रदायित्वेन कुन्त्यां रवेः प्रेमप्रकर्षो व्यज्यते, स एव चाधिप्रसूतिदिवसं प्रकाशातिशयसम्पादनेन पुरस्कृतो वेद्यः ॥ ५१ ॥

यह कुन्ती जब कन्या थी, तभी इसने हमारे प्रति रतिकी इच्छा प्रकटकी थी, उसके इस प्रेमको याद सा करके सूर्यने उसके प्रसूतिदिवस–युधिष्ठिरादि जन्म दिनको खूब प्रकाशित कर दिया, सूर्यने युधिष्ठिर आदिके जन्मके दिन अपना प्रकाश खूब फैलाया ॥५१॥

पुष्पात्प्रागेव सुषुवे पुत्रमेषेति वीरुधः ।
फलेग्रह्य एवासन्प्रसूनात्प्राक्पृथावने ॥ ५२ ॥

पुष्पात्प्रागिति । एषा कुन्ती पुष्पात् रजोयोगात् प्राक् पूर्वम् बाल्य एव पुत्रं कर्णं नाम सुषुवे उत्पादयाञ्चकार इति मत्वा मनसिकृत्य इव पृथाया वने कुन्त्यावाससमीपोद्याने वीरुधः लताः प्रसूनात् कुसुमदर्शनात् प्राक् पूर्वम् एव फलेग्रह्यः फलधारिण्यः आसन् 'पुष्पमग्रे कृत्वा फलानि जायन्त' इति प्रसिद्धं तदेवात्र पुष्पात्प्राक् फलधारणं लताभिः कुन्तीस्पर्द्धयेव कृतं वर्ण्यते । 'स्याद्रजः पुष्पमार्त्तवम्' 'स्यादवन्ध्यः फलेग्रहिः' इत्युभयत्रामरः ॥ ५२ ॥

इस कुन्तीने पुष्प–रजोधर्मसे पहले ही प्रसव (कर्ण जन्म) कर चुकी है, इस लिये

(स्पर्धासे) कुन्तीके उद्यानकी लताओंने भी फूलसे पहले फलोंको धारण करना पसन्द किया। जब फल लगते हैं तब लताके निकटमें फल होता है बादमें उसके आगे फूल होता है, इसी वस्तु स्थिति पर यह उत्प्रेक्षा आधारित है कि लताओंने भी कुन्तीकी देखा-देखी फूलके पहले फलोंका धारण करना पसन्द किया ॥ ५२ ॥

तदनु गुणगणैरभङ्गुरशुभंयुताविकासमये समये—

तदन्विति। तदनु तत्पश्चात् गुणगणैश्चन्द्रतारादिभिः अभङ्गुरायाः पर्याप्तायाः अक्षीणायाः शुभंयुतायाः शुभफलाधायकयोगस्य विकासमये वृद्धिजनके समये काले प्राप्ते सतीत्यर्थः।

इसके बाद किसी मङ्गलमय समयमें जब चन्द्रमा-तारा आदि शुभ फलप्रद बन रहे थे, तब—

प्रजाधिपोऽसौ प्रथमं युधिष्ठिरे सुतेषु तेजस्विषु तेषु पञ्चसु।
प्रभाकरे पञ्चतपा इवोन्नते व्यापारयामास विलोचनद्वयम् ॥ ५३ ॥

प्रजाधिपोऽसौ इति। असौ प्रजाधिपो राजा पाण्डुः तेजस्विषु स्वभावतस्तेजः सहितेषु तेषु पञ्चसु सुतेषु युधिष्ठिरादिषु पञ्चस्वात्मनः पुत्रेषु मध्ये उन्नते विशालकाये ज्येष्ठत्वात्प्राप्तकायवृद्धिप्रकर्षे युधिष्ठिरे पञ्चतपाः पञ्चाग्निमध्ये तपस्यापरायणो जनः प्रभाकरे सूर्ये इव विलोचनद्वयम् निजं नयनयुगलम् व्यापारयामास अर्पितवान्। पाण्डुः शुभे समये प्रथमं युधिष्ठिरमपश्यद्यथा पञ्चाग्निव्रती प्रथमं प्रभाकरमेव पश्यतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

राजा पाण्डुने पाँचों पुत्रोंमें ऊंचे (ज्येष्ठ होनेके कारण बड़े) युधिष्ठिर पर सर्वप्रथम अपनी नजर डाली, उन्होंने सबसे पहले युधिष्ठिरको देखा, जैसा पञ्चाग्नि व्रत करनेवाला तपस्वी पहले सूर्यपर अपनी दृष्टि डालता है। पञ्चाग्नि व्रत वह होता है जिसमें तपस्वी अपनी चारो तरफ आग जला लेता है और ऊपरमें सूरज तपते रहते हैं, उसी उमसमें बैठा हुआ व्रती ध्यान लगाता है। इस व्रतका उल्लेख कालिदास तथा माघने भी अपने काव्योंमें किया है—'शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा। विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥' ५म सर्ग कुमारसम्भव। माघमें—'तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते। पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम्' ॥ ५३ ॥

तपस्विनीनां स्तनपायिनस्ते दरक्वणत्कीचकदत्तकर्णाः।
वने दिनान्ते वसुधेन्द्रपुत्रा वल्केषु निद्रासुखमन्वभूवन् ॥ ५४ ॥

तपस्विनीनामिति। ते युधिष्ठिरादयः पञ्च वसुधेन्द्रपुत्राः राजसुताः वने पाण्डु-

१. 'विकारसमये' इति पा०।

नाऽध्युषिते कानने तपस्विनीनां प्रतिवेशस्थितानामृषिपत्नीनां स्तनपायिनः स्तन्यरसं पिबन्तः, दरम् ईषत् क्वणत्सु शब्दायमानेषु कीचकेषु वेणुषु—'कीचका वेणवस्तेस्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इति परिभाषितेषु दत्तकर्णाः अर्पितश्रुतयः वेणुशब्दान् शृण्वन्त इत्यर्थः, दिनान्ते सन्ध्यासमये वल्केषु वल्कलेषु निद्रासुखम् शयनम् अन्वभूवन् अनुभूतवन्तः। वने धात्रीस्थाने ऋषिस्त्रियः, गानस्थाने वेणुस्वनः, दोलाशयनस्थाने वल्कलशयनं च तानुपाचरन्नित्याशयः ॥ ५४ ॥

वह युधिष्ठिर आदि पांचो राजकुमार वनके पड़ोसकी ऋषिपत्नियोंके दूध पीते, मधुर मधुर शब्द करनेवाले वेणुओंकी ध्वनिको सुनते एवं सन्ध्या समयमें वल्कल पर सोते थे, उन लोगोंकी परिचर्यामें धायें नहीं थीं, बाजे नहीं बजते थे और उन्हें सुलानेके लिये दोल नहीं लगाये गये थे, क्योंकि वनमें इसका प्रबन्ध कहाँसे हो सकता था ? वहाँकी परिस्थितिके अनुसार ही उनका लालन-पालन संभव हुआ ॥ ५४ ॥

क्षुत्पीडया स्तनरसे कलहं शिशूनां
कुन्ती तदा शमयितुं कुचकुम्भयुग्मे ।
एकं युधिष्ठिरधनञ्जययोश्च भाग-
मेकं समीरणसुतस्य च संविभेजे ॥ ५५ ॥

क्षुत्पीडयेति। कुन्ती क्षुत्पीडया बुभुक्षाकष्टेन स्तनरसे स्तन्ये विषये शिशूनाम् कलहं विवादं शमयितुं निवारयितुम् तदा तत्र काले कुचकुम्भयुग्मे स्तनरूपकलशद्वये एकं कुचकुम्भम् युधिष्ठिरधनञ्जययोः धर्मपुत्रार्जुननामकयोः प्रथमतृतीयपुत्रयोः एकञ्च समीरणसुतस्य वायुजातस्य भीमस्य संविभेजे विभज्य दत्तवती। बुभुक्षापीडयाऽमी त्रयोऽपि कुन्तीपुत्रा यदा स्तन्यपानविषयेऽहमहमिकतयाऽकलहायन्त तदा तेषां कलहं निवारयितुकामा कुन्ती द्वयोरात्मनः स्तनयोरेकं युधिष्ठिरधनञ्जययोर्भागमकल्पयदेकञ्चापरं स्तनं भीमस्य भागं कृतवती, तस्य बह्वाशित्वेन समेनांशेनोदरपूर्त्तेरसंभवात्तथा सति कलहकारणस्यानपनेयत्वादिति भावः ॥ ५५ ॥

कुन्तीके तीनों लड़के जब भूखकी पीड़ासे स्तन-पानमें झगड़ने लगे तब कुन्तीने अपने दोनों स्तनोंका बटवारा करके उनका झगड़ना छुड़ाया, उसने दोनों बड़े और छोटे युधिष्ठिर तथा अर्जुनके लिये एक स्तन दिया और पूरा एक स्तन भीमके हिस्सेमें जाने दिया, क्योंकि भीमकी भूख बड़ी थी, यदि उसे अधिक भाग नहीं मिलता तो कलह शान्त नहीं हो सकता ॥ ५५ ॥

निशाचरैः समं बाल्ये नियोद्धुमिव कौतुकी ।
उत्तानशयने मुष्टिमुदग्रां मारुतिर्दधौ ॥ ५६ ॥

निशाचरैरिति। मरुतो वायोरपत्यं मारुतिः भीमः राक्षसैः समं सह बाल्ये

बालकावस्थायाम् एव नियोद्धुम् बाहुयुद्धं कर्त्तुं कौतुकी कुतूहलवानिव उत्तानशयने ऊर्ध्वमुखशयनावस्थायाम् उदग्राम् उपरिकृताम् मुष्टिम् मुकुलिताङ्गुलिकरदशाम् दधौ । उत्तानशयो बालो भीमो यदुदग्रां मुष्टिं बबन्ध तत्तस्य भाविनो राक्षसैः सह बाहुयुद्धस्य विषये उत्कण्ठामिव प्राकटयदित्याशयः ॥ ५६ ॥

बालक भीम शय्या पर चित लेटा हुआ है, उसकी मुट्ठियां बंधीं तथा ऊपरकी ओर उठी हुई हैं, वह ऐसी लगती हैं मानों वह राक्षसोंके साथ युद्धके लिये इस बाल्यावस्थामें उत्कण्ठित हो, वह मुट्ठी बांधकर राक्षसोंको डरवा रहा हो ॥ ५६ ॥

ततः क्रमेण गतेषु कतिपयेषु वासरेषु—

तत इति । ततः तदनन्तरम् , क्रमेण कतिपयेषु कतिषु चन वासरेषु दिनेषु गतेषु अतीतेषु सत्सु ।

पद्भिरात्मपितृयोषिति भूमौ स्पर्शनं परिहरन्त इवैते ।
जानुभिः करसरोजसहायैश्चङ्क्रमं चमदकुर्वत बालाः ॥ ५७ ॥

पद्भिरिति । एते बालाः युधिष्ठिरादयः आत्मनः स्वस्य पितुः पाण्डोर्योषिति पत्न्याम् (राज्ञो भूपतित्वेन भुवस्तत्पत्नीत्वं बोध्यम्) भूमौ (पितुः पत्न्या मातृत्वेन भूमौ मातृत्वमवगत्य तस्यां पादन्यासस्य मातुः काये पादन्यासवत् परिहरणीयतया) पद्भिः चरणैः स्पर्शनम् स्पर्शं परिहरन्तः त्यजन्तः इव करसरोजसहायैः कमलोपमकरसहकृतैः जानुभिः चङ्क्रमम् संचारं चमदकुर्वत चमत्कृतवन्तः, जानुचरणं चक्रुरित्यर्थः । बालाः प्रथमं हस्ताभ्यां जानुभ्यां च भुवि चरन्तीति स्वभावसिद्धं तदनुसारेण पश्चापीमे पाण्डुपुत्रा हस्ताभ्यां जानुभ्यां च संचरमाणाः लोकानानन्दयामासुः, तेषां तथाचरणं मातृस्थानीयायाः पृथिव्याः पादेन स्पर्शस्य परिजिहीर्षामूलकत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति हृदयम् । स्वागतावृत्तम् ॥ ५७ ॥

इसके बाद क्रमशः कुछ दिन बातने पर, मानों पाण्डुके लड़के युधिष्ठिरादि अपने पिता–पाण्डुकी स्त्री-पृथ्वीको अपने पैरोंसे नहीं छूना चाहते हों इसीलिये वे हाथ तथा जानुकी सहायतासे चलते थे, जो लोगोंको चमत्कृत करता था । ज्ञान-सम्पन्न जन अपने पूज्य वर्गको अपना पैर छुलाना नहीं चाहते हैं, पृथ्वी पाण्डुभोग्या होनेके कारण पाण्डुकी स्त्री हुई, इसीलिये उनके लड़के युधिष्ठिर आदिके लिये वह मां हुई, उसे ये लड़के अपने पैरोंके मानों स्पर्शसे बचाना चाहते थे, इसीलिये केवल हाथ तथा जानुओंसे ही चलते थे । लड़कपनमें जो लड़कोंका हाथ–जानुसे चलना होता है, उसीको कविने पृथिवी स्पर्शपरिजिहीर्षामूलक बताया है । यहाँ हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कार स्पष्ट है ॥ ५७ ॥

आदाय भीममतिमांसलमुत्तमाङ्गेऽप्याघ्राय जानुकृतचङ्क्रमसाश्रमान्ते ।
शाखालतैव वहनाद्विरराम शश्वत्कौतूहलं न तु कदाचन तापसीनाम् ॥५८॥

आदायेति । आश्रमान्ते आश्रमस्य समीपे जानुकृतचङ्क्रमम् जानुभ्यां चलन्तम् अतिमांसलम् अतिस्थूलवपुष्कम् बलवन्तं च भीमम् भीमसेनन्नाम द्वितीयं पाण्डुपुत्रम् आदाय गृहीत्वा अङ्के कृत्वेत्यर्थः । अपि किञ्च शिरसि आघ्राय तापसीनाम् मुनिस्त्रियाम् बाहालता भुजवल्ली एव वहनात् भीमस्योत्थापनपूर्वकात् धारणात् विरराम निवृत्ता, (मांसलस्थूलतनोस्तद्वहनस्य श्रमसाध्यतया तासां हस्तास्तद्वहनान्निवृत्ताः) शश्वत् पुनः (तासां तापसीनाम्) कौतूहलं वहनोत्कत्वं तु न विरराम समाप्तिं न गतम् । भीमं वहन्त्यः शिरसि जिघ्रन्त्यश्च मुनिललनास्तद्भारस्यासह्यतया श्रान्तभुजा अपि प्रसन्नमुखकान्तेस्तस्य वहनान्नातृप्यन्निति तात्पर्यम् । 'बलवान्मांसलोंऽसलः'–'भुजा बाहा च बाहौ स्या'दिति च त्रिकाण्डशेषः ॥ ५८ ॥

तापस ललनायें भीमको जो बड़ा स्थूल तथा बलवान् लड़का था, गोदमें लेती थीं, उसका शिर चूमती थीं, ऐसा करनेमें उन तापस–स्त्रियोंके हाथ (गोद लेनेमें बोझिल भीमके भारसे) भले ही थक जाते थे, परन्तु उस सुघर बालकको गोद लेनेसे उनका मन नहीं भरता था ॥ ५८ ॥

वृद्धतापसपुरःप्रसारितं वेणुदण्डमवलम्ब्य शैशवे ।
भावयन्निव गदापरिग्रहं भाविनं पवनभूश्चचार सः ॥ ५९ ॥

वृद्धतापसेति । सः पवनभूः वायुपुत्रः भीमः शैशवे बाल्यावस्थायाम् वृद्धतापसेन केन चिद् वृद्धेन तपस्विना पुरः भीमस्याग्रे प्रसारितं स्थापितं वेणुदण्डम् वंशयष्टिम् अवलम्ब्य गृहीत्वा भाविनं स्वेन करिष्यमाणं गदापरिग्रहम् गदास्वीकारम् भावयन् सूचयन् , इव चचार । यदैव भीमो वृद्धतापसावस्थापितं दण्डमादाय चचार तदैव लोका अन्वमासिषुर्यदयं बालो गदाग्रहणं करिष्यतीति भावः ॥ ५९ ॥

बूढ़े तपस्वियों द्वारा अपने आगेमें रखी गई बांसकी लाठी थामकर जब वायुपुत्र भीम अपनी बाल्यावस्थामें चलते थे तब ऐसा प्रतीत होता था मानों वह लोगोंको सूचना दे रहे हों कि मैं कभी गदाका ग्रहण करनेवाला हूंगा । बूढ़ोंकी लाठी पकड़कर भीमके चलनेसे लोग उनके गदाकुशल होनेकी उम्मीद करते थे ॥ ५९ ॥

मुनिसुतैरविशेषजुषो वने मुहुरमी नवशैशवकेलिषु ।
मलिनतामनयन्त कलेवरं मदकलाः कलभा इव धूलिभिः ॥ ६० ॥

मुनिसुतैरिति । वने कानने मुनिसुतैः तत्रत्यमुनिबालकैः अविशेषजुषः अव्यतिरिक्तव्यवहाराः समानवृत्तयः अमी युधिष्ठिरादयः कुमाराः बालाः पाण्डुराजपुत्राः नवासु नूतनासु शैशवकेलिषु बाल्योचितक्रीडासु मदकलाः मत्ताः कलभाः करि-

शावकाः इव धूलिभिः रजोभिः कलेवरं वपुः मलिनताम् धूसरत्वम् अनयन्त प्रापितवन्तः, मुनिशिशुवद् व्यवहरन्तोऽमी युधिष्ठिरादयो गजशावका इव स्वं स्वं देहं रजसा मलिनं कुर्वन्तिस्मेति भावः ॥ ६० ॥

सर्वांशमें मुनिपुत्रोंके समान ये पांचो पाण्डव बाल्योचित नये नये खेलोंके प्रसङ्गमें धूलसे अपने कायको मलिन बना लिया करते थे, जैसे मस्त हाथीके बालक अपनी देह पर धूल उछाल लिया करते हैं ॥ ६० ॥

तत्र तत्र मृदुपांसुषु पाण्डोः पुत्रपादतलविन्यसनेन ।
छत्रकेतुकुलिशैः स्फुटरेखैश्चित्रवत्यभवदाश्रमभूमिः ॥ ६१ ॥

तत्र तत्रेति । पाण्डोः आश्रमभूमिः पाण्डुनाऽधिष्ठित आश्रमप्रदेशः तत्र तत्र सर्वत्रेत्यर्थः, पुत्राणां पाण्डोः सुतानां युधिष्ठिरादीनां मृदुपांसुषु सूक्ष्मरजस्सु पादतलविन्यसनेन चरणन्यासेन स्फुटाः स्पष्टाः सुपरिचयाः रेखाः आकारविशेषाः येषां तैस्तथोक्तैः छत्रकेतुकुलिशैः आतपत्रध्वजवज्रैः चित्रवती सचित्रा अभवत् । पाण्डोराश्रमे यत्र यत्र तदर्भकाः कोमलधूलिषु चेरुस्तत्र तत्र तच्चरणन्यासेन छत्रस्य ध्वजस्य वज्रस्य च स्फुटा रेखा अङ्किता अभूवंस्ताभिश्च रेखाभिस्तस्याश्रमस्य भूमिः सचित्रेव व्यधीयतेति तात्पर्यम् । एतेन ध्वजादिरेखाङ्कितचरणशालितया साम्राज्यलक्षणं व्यञ्जितम् ॥ ६१ ॥

पाण्डुके आश्रममें कोमल धूल पर उनके लड़के युधिष्ठिरादि बालवृन्द जहाँ जहाँ चरण रखते थे वहाँ वहाँ उनके चरणोंमें वर्त्तमान स्पष्ट रेखावाले ध्वज, छत्र एवं वज्रके चिह्न साफ साफ बनते जाते थे, जिससे समूची आश्रमभूमि ही सचित्र सी लगती थी । इसका तात्पर्य यह हुआ कि उनके चरणोंमें ध्वज आदि की साम्राज्यसूचक रेखाएँ वर्त्तमान थीं, जिनका चित्र धूलमें बन जाया करता था ॥ ६१ ॥

लीलास्मितैः सृक्कियुगाद्गलद्भिर्लालाजलानां पृषतैर्बृहद्भिः ।
बाला दधुस्ते हृदि मौक्तिकानां माला धुतोल्लेखनरन्ध्रसूत्राः ॥६२॥

लीलास्मितैरिति । ते बालाः युधिष्ठिरादयः पाण्डुसुताः सृक्किणोः ओष्ठप्रान्तयोः युगात् गलद्भिः कान्त्याकारेण पतद्भिः लीलास्मितैः सलीलहासैः लालाजलानां बृहद्भिः पृथुभिः पृषतैश्च बिन्दुभिरपि धुतोल्लेखनरन्ध्रसूत्राः शाणघर्षणच्छिद्रसूत्रविरहिताः मौक्तिकानां मालाः मुक्तास्रजो दधुः धारयन्तिस्म । मुक्तास्रजो हि सामान्यतः शाणोत्तेजनरन्ध्रसूत्रयुमा एव भवन्ति परममी बाला यदोष्ठपुटयुगात् स्मितकान्तीर्विकिरन्ति यच्च लालासीकरान् पातयन्ति मन्ये ताः शाणोत्तेजनछिद्र-

---

१. 'सृक्कयुगात्' । २. ललितैः पृषद्भिः' । इति पा० ।

करणसूत्रगुम्फनादिरहिता मुक्तामाला एव जायन्त इति । 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' 'सृणिका स्यन्दिनी लाला'—'पृषन्ति विन्दुपृषतौ' इति सर्वत्रामरः ॥ ६२ ॥

उन पाण्डुपुत्रोंके मुखोंसे ओठोंके बीच हेकर अति भास्वर मन्द मन्द मुसकान निकलती थी, साथ ही उनके लेर भी गिरा करते थे, दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानों उन बालकोंने बिना खरादे एवं सूत्र तथा छिद्रसे वर्जित मोतियोंकी मालाएं पहन रखी हों । लेरकी बूँदें मोतीके समान गोल गोल थी, हंसीकी कान्तियोंने उन मोतियोंमें आब पैदा कर दिया होगा, इस प्रकार दोनोंका सङ्गम मालाकार प्रतीत होने लगा होगा ॥ ६२ ॥

अत्यन्तबाल्यादमृतायिताभिरन्योन्यमर्धोक्तिभिराह्वयत्सु ।
स भीमसेनोऽजनि [1]पाण्डुपुत्रेष्वर्धोक्तनामापि च पूर्णनामा ॥ ६३ ॥

अत्यन्तेति । अत्यन्तबाल्याद् अतिबालभावात् हेतुभूतात् अमृतायिताभिः सुधावदाचरन्तीभिः तद्वन्मधुराभिरित्यर्थः, अर्धोक्तिभिः अस्फुटोक्तिभिर्बालोक्तितया अप्रकटवर्णाभिरुक्तिभिः पाण्डुपुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु अन्योन्यमाह्वयत्सु परस्परमाह्वानं कुर्वत्सु सत्सु स भीमसेनो नाम द्वितीयः पाण्डुपुत्रः अर्धोक्तनामा अपि उक्तनामार्धः अपि पूर्णनाम्ना सम्पूर्णाभिधानः अजनि जातः । बाल्यात्ते पाण्डुपुत्राः मधुराभिरस्फुटाभिश्च वाग्भिरन्योन्यमाह्वयन्ति, ते च पूर्णं नामोच्चारयितुमपारयन्तोऽर्धं नामैवोच्चार्य विरमन्ति, तावतैव च वक्तव्यसमाप्तिं प्रतियन्ति, स्थितावस्यां युधिष्ठिरार्जुनादयोऽपूर्णनामान एव तिष्ठन्ति, परं भीमसेनस्य नामनि अर्धोच्चारितेऽपि सति स पूर्णनामा जायते, तावतापि तस्य संप्रतिपत्तेस्तावतोऽप्यंशस्यार्थसमाप्तत्वात्, युधिष्ठिरार्जुनादीनां नामस्वर्धोच्चारितेषु तु तथात्वं नोपपद्यत इत्याशयः ॥ ६३ ॥

अतिबालक होनेके कारण पाण्डुके पुत्रगण अमृतोपम तुतली बोलियोंसे एक दूसरेको पुकारते हैं, इस स्थितिमें उनके द्वारा पूरा नाम उच्चारित नहीं होता है, तब औरोंके नाम तो अधूरे ही रह जाते हैं, परन्तु भीमसेनका नाम अर्धोच्चारित होने पर भी पूरा हो जाता है । भीमसेनका नाम यदि आधा भी कहा जाता है तथापि उसका आधा 'भीम' एक नाम बन जाता है, क्योंकि वह भी एक सार्थकपद है, औरों के नामकी स्थिति भिन्न है, क्योंकि उनका आधा पूरा पद नहीं होता है ॥ ६३ ॥

तदानीमयमम्बालिकासूनुरविलम्बितं संक्रन्दन इव पञ्चनन्दनागमसंपदा तया मुदमम[2]मितंपचां बभार ।

---

१. 'पाण्डुसूनुषु' २. 'अमितां बभार' । इति पा० ।

तदानीमिति । तदानीं बालेषु बाललीलापरेषु सत्सु अयम् अम्बालिकासूनुः पाण्डुः सङ्क्रन्दनः इन्द्र इव तथा पञ्चानां तत्सङ्ख्याकानाम् नन्दनानां पुत्राणाम् आगमरूपया सम्पदा लाभरूपेणैश्वर्येण, इन्द्रपचे—पञ्चानां नन्दने वने अगमानां पारिजातादितरूणां सम्पदा समृद्धया, अमितंपचाम् अनल्पाम् मुदम् हर्षं बभार प्राप्तवान् । यथेन्द्रस्य पारिजाततरुसमृद्धया महानानन्दो जायते तथा पाण्डुरपि पञ्चानाममीषां पुत्राणां लाभेन महान्तमानन्दमविन्दतेति भावः । 'सङ्क्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण् मेघवाहनः'—'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्युभयत्रामरः ।

उस समय अम्बालिकाके पुत्र पाण्डुने पांचों पुत्रोंके लाभरूप समृद्धिसे महान् आनन्द प्राप्त किया जैसे इन्द्र अपने नन्दनवनमें पांच पारिजातादि वृक्षोंके लाभरूप समृद्धिसे महान आनन्द प्राप्त करते हैं ॥

पुत्रेषु तेषु क्रमपोषितेषु विलोकयन्त्या विहरत्सु कुन्त्याः ।
आप्याययामासतुरन्तरङ्गं प्राप्यापि माद्रीतनयौ यमत्वम् ॥ ६४ ॥

पुत्रेष्विति । क्रमात् क्रमशः पोषितेषु यथोचितलालनपालनादिना पुष्टिं गमितेषु तेषु युधिष्ठिरादिषु पुत्रेषु विहरत्सु सानन्दं क्रीडत्सु सत्सु विलोकयन्त्याः विहरतस्तान् पुत्रान् पश्यन्त्याः कुन्त्याः माद्रीतनयौ नकुलसहदेवौ यमत्वं युग्मजातत्वं प्राप्यापि यमजौ सन्तावपि (कुन्त्याः) अन्तरङ्गम् अन्तःकरणं हृदयम् आप्याययामासतुः आनन्दं प्रापयामासतुः । सामान्यतो यमं दृष्ट्वा लोको बिभेति, परं यमौ—यमलौ सन्तावपि माद्रीपुत्रौ कुन्त्या हृदयमानन्दयामासतुः, तयोर्मृतमातृकतया कुन्त्याः समधिकवात्सल्यभाजनत्वादित्यर्थः । यमत्वं प्राप्यापि कुन्त्या हृदयमानन्दयामासतुरिति विरोधः, यमत्वं युग्मत्वमिति च तत्परिहारः । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६४ ॥

पाण्डुके पांचो पुत्र जब क्रम-क्रमसे पुष्ट होकर विहार करने लगे, तब उन्हें देखती हुई कुन्तीके हृदयको माद्रीके पुत्र नकुल तथा सहदेव यमत्वशाली होकर भी आनन्दित करते थे, यमत्व शब्दका साधारणतः 'यमका भाव' यह अर्थ प्रतीत होता है, इस अर्थमें विरोध है, क्योंकि जो यमत्व प्राप्त करेगा वह किसीको आनन्दित कैसे करेगा, उससे तो सभी डरेंगे, परन्तु यमत्वका अर्थ जब युग्मजातत्व-जुड़आपन किया जायगा तब विरोध छूट जायगा । यही विरोधाभास यहाँ पर है ॥ ६४ ॥

तैरादराद्वनलतासु दृढीकृतासु दोलाविधेः[1] परिचितस्य सहर्षिपुत्रैः ।
पर्यायलब्धमसकृत्पवमानसूनोरारोहणं द्रुतमभूदवसानभूमिः ॥ ६५ ॥

---

१. 'डोला' । इति पा० ।

तैरादरादिति । तैः युधिष्ठिरादिभिः पाण्डुपुत्रैः ऋषिपुत्रैः तपस्वितनयैः सह दृढीकृतासु त्रिचतुरादिलतातन्तुमेलनेन सबलत्वं गमितासु वनलतासु वनलतारूपरज्जुषु आदरात् सातिशयस्नेहवशात् परिचितस्य कृतस्य दोलाविधेः दोलारोहणस्य पर्यायलब्धं क्रमप्राप्तं पवमानसूनोः वायुपुत्रस्य भीमस्य आरोहणम् असकृत् अनेकधा द्रुतम् आशु अवसानभूमिः अभूत् अजायत । अयमर्थः—दोलारोहणं कामयमानाः पाण्डुपुत्राः सवयोभिर्ऋषिपुत्रैः सह लतातन्तूँस्त्रिचतुर्वारमावर्त्य रज्जुतां नीत्वा दोलामारभन्ते पर्यायेणारोहन्ति च परं पर्यायक्रमेण यदैव भीमस्यारोहणस्यावसर आयाति तदैव सा दोला द्रुतं भज्यते, न काकतालीयेनेदं भवति किं त्वसकृदिदं दृष्टमित्यर्थः । एतेन भीमस्य समधिकसारवत्ताकृता भारवत्ता व्यञ्जिता ॥ ६५ ॥

मुनिपुत्रोंके साथ मिलकर पाण्डुपुत्रोंने लताओंको तीन–चार बार लपेट कर उसीका झूला बनाकर क्रम -क्रमसे उस पर चढ़कर बड़े शौकसे झूलते थे, क्रमशः जब भीमका पर्याय आता, तब उसके चढ़ते ही वह झूला टूट जाता, ऐसा अनेक बार होता था। उसके भारको वह लताओंका झूला बर्दास्त नहीं कर पाता था ॥ ६५ ॥

भीमेन दन्तयुगले विधृ[१]तं यमन्ये वन्येभमारुरुहुरद्रिनिभं सगर्भ्याः ।
शुण्डां प्रगृह्य विजयः स्वयमेव मानी तं लीलया रदपथेन समारुरोह ॥६६॥

भीमेनेति । अन्ये अर्जुनातिरिक्ताः भीमस्य सगर्भ्या भ्रातरो युधिष्ठिरनकुलसहदेवाः भीमेन दन्तयुगले उभयदन्तदेशे विधृतम् धृत्वा निश्चलतामापादितम् यम् अद्रिनिभम् पर्वततुल्यम् उन्नतं वन्येभम् अरण्यचरं गजम् आरुरुहुः, मानी अभिमानशाली विजयोऽर्जुनः स्वयम् आत्मना एव शुण्डां प्रगृह्य रदपथेन दन्तमार्गेण (तं वन्येभम्) आरुरोह । मानिनो नान्यस्योपकृतिं मर्षयन्तीत्याशयः ॥६६॥

अर्जुनको छोड़कर और युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, भीमके द्वारा दांत पकड़ करके खड़ा किये गये जिस वनगजपर चढ़ते थे, उसी हाथीपर अभिमानी अर्जुन विना भीम की सहायताके ही उस हाथीकी शुण्डाको पकड़कर दांतके मार्गसे चढ़ जाता था ॥ ६६ ॥

तदनु विधिवदुपनीतानां क्रमेण मधुरेण वयसा शिरसा च विधृतवपुषां विनयगौरववपुषां सकलासु कलासु कौशलमुन्मीलयतां तेषां यशांसि बलभेदनमदावलस्य धाम्नो युगलमपि युगपदुल्लङ्घयामासुः ।

तदन्विति । तदनु तदनन्तरम् विधिवत् यथाशास्त्रमर्यादम् उपनीतानाम् उपनीयनानाम् कृतयज्ञोपवीतसंस्काराणाम् क्रमेण मधुरेण रमणीयेन वयसा बाल्यात्परेण

१. 'विधृतेयमन्ये' । इति पा० ।

यौवनेन विधृतवपुषाम् आश्रितशरीराणाम् शिरसा मस्तकेन च विनयगौरवपुषाम् विनयेन व्यवहारं कुर्वताम् विनीतानामित्यर्थः, सकलासु कलासु तत्तद्विद्याविशेषेषु कौशलम् दधताम् उन्मीलयतां प्रकटीकुर्वताम् तेषां पाण्डुपुत्राणां यशांसि नम्रता-जन्याश्च कीर्त्तयः बलभेदन इन्द्रस्तन्मदावलस्य हस्तिन ऐरावतस्य धाम्नो युगलम् आवासस्थानद्वयम् सागरं स्वर्गं च युगपत् सहैव उल्लङ्घयामासुः । तेषां कीर्त्तयः सागरं तीर्त्वा स्वर्गं चातिक्रम्य प्रासरन्नित्यर्थः । ऐरावतस्य जन्मस्थानं सागरः, स्थितिस्थानं स्वर्गः, तदुभयमत्र धामयुगलपदार्थः ।

इसके बाद यथाशास्त्र उन बालकोंका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, उनका शरीर रमणीय यौवनसे पूर्ण हुआ और उनका शिर विनयसे नम्र हुआ, उन्होंने सारी कलाओंमें कौशल प्राप्त किया, इन सभी कारणोंसे उन पाण्डुपुत्रोंका यश इन्द्रके हाथी ऐरावतके दोनों स्थानों—सागर तथा स्वर्गको साथ साथ पार कर गया। अर्थात् उनका यश सागरके पारमें और स्वर्गके भी ऊपर फैल गया।

नवतरुणिमलक्ष्मीनन्दनीयं शरीरं
कुरुवृषभसुतानां कुर्वती नेत्रपात्रम् ।
मुनिततिरिति मेने मोहनाय त्रिलोक्याः
स्वविशिख इव कामः सोऽपि किं पञ्चधाऽभूत् ॥ ६७ ॥

नवतरुणिमेति । मुनीनां ततिः समुदायः नवस्य नूतनस्य सद्य उद्भिन्नस्य तरुणिम्नो यौवनस्य लक्ष्म्या शोभया नन्दनीयं प्रशंसनीयं लोभनीयं च कुरुवृषभसुतानां पाण्डुपुत्राणां शरीरं वपुः नेत्रपात्रं चक्षुर्विषयं कुर्वती सती त्रिलोक्याः लोकत्रयस्य मोहनाय वशीकरणाय सः प्रसिद्धपराक्रमः कामः कन्दर्पः अपि स्वस्यात्मनः कामस्य विशिखो बाणः (पुष्पम्) इव पञ्चधा पञ्चप्रकारकः अभूत् किम् इति मेने मन्यतेस्म । अयमाशयः—अतिसुन्दर–यौवनशोभा–सम्पन्नान् एतान् पाण्डुपुत्रान् दृष्ट्वा मुनयः स्वचेतसि सम्भावयन्ति 'किं लोकत्रयं वशीकर्त्तुं कामोऽपि स्वविशिखवत् पञ्चधा जात' इति । तद्विशिखस्य पञ्चप्रकारकत्वं प्रसिद्धमेव । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ६७ ॥

नवयौवनकी शोभासे युक्त इन पाण्डुपुत्रोंकी देहको देखकर मुनियोंकी मण्डली ऐसा समझती थी कि क्या संसारको अपने वशमें करनेके लिये कामदेवने अपने वाणों (फूलों) की तरह पांच प्रकारका रूप धारण किया है ? कामके पांच वाण प्रसिद्ध हैं, उन्हींकी तरह स्वयं कामदेवभी पांच ठो वन गया है क्या ? ॥ ६७ ॥

अथ कदाचिदखिलहरिदन्तरनिरन्तरवलमानमलयपवमानकम्पित-चम्पकसंपादितसौरभसंपदनुकम्पितनिलिम्पपथाः केसरकुसुमकेसरशिख-

१. 'निखिलनिलिम्प' । इति पा० ।

रभासुरधूलीधूसरदिशो मनसिजविजयसहकारचतुरसहकारपल्लवतल्लजपरिचर्वणगर्वायमाणकलकण्ठयुवकण्ठोक्तपथिकजनसंदोहजीवितसंदेहा वनदेवतावदनतिलकायमानतिलककलिकावलिपलितंभावुकनभोविभागा मदनहुतभुगङ्गारसदृशकमलभृङ्गारुमधुरसासङ्गारचितमदभृङ्गारवविभवतुङ्गारहितमिथुनशृङ्गाररसाः समुन्मिषद्वासन्तिकामिषेण सीमन्तिनीरतेरुदन्तं दुरन्तं विचिन्त्य रहसि वसन्तं नृपं तमिव हसन्तो वसन्तोदयवासरा मन्दं मन्दमरण्याङ्गधरण्यां कमपि विकासमापादयामासुः ॥

अथ कदाचिदिति। अथ कदाचित् अनन्तरं कस्मिंश्चित्काले वसन्तोदयवासराः वसन्ताख्यस्यर्त्तोः उदयस्य आविर्भावस्य वासराः दिवसाः मन्दं मन्दम् लघु लघु शनैःशनैरित्यर्थः, अरण्याङ्गधरण्याम् वनावयवभूमौ पाण्डुसेवितवनभूमावित्यर्थः, कमपि वर्णयितुमशक्यं विकासम् उद्रेकम् आपादयामासुः। वसन्तदिवसाः कदाचित्तस्य वनविभागस्य महान्तं विकासं चक्रुरित्यर्थः। ते वसन्तदिवसाः कीदृशा इत्यपेक्षायामाह—अखिलेत्यादि। अखिलेषु सर्वेषु हरिताम् दिशाम् अन्तरेषु मध्यभागेषु निरन्तरम् सततं वलमानैः चलद्भिः पवमानैः वायुभिः कम्पिताः चालिताः ये चम्पकाः चम्पकाख्यकुसुमतरवः तैः सम्पादितया वसन्तागमसमये लब्धया सौरभसम्पदा सुगन्धसम्पत्त्या अनुकम्पितः अनुगृहीतः निखिलः निलिम्पपथः देवमार्ग आकाशो येषु तादृशास्तथोक्ताः, सर्वासु दिशासु सततं वहद्भिर्मलयानिलैः कम्पितानां चम्पकवृक्षाणां सुगन्धेन वियद्योजयन्त इति विशेषणार्थः। केसरकुसुमानां बकुलपुष्पाणां ये केसराः किञ्जल्कास्तच्छिखरेष्वग्रभागेषु भासुराभिः स्थित्वा प्रकाशमानाभिः धूलीभिः पुष्पपरागैः धूसराः मलिनाः दिशो येषु तथोक्ताः, बकुलधूलिमलिनीकृतदिशावकाशा इत्येतद्विशेषणार्थः। मनसिजस्य कामदेवस्य विजये सकलपराभवे सहकारः सहायता तत्र चतुरस्य दक्षस्य सहकारस्याम्रतरोर्ये पल्लवतल्लजाः प्रशंसनीयाः पल्लवास्तेषां परिचर्वणेन आस्वादनेन गर्वायमाणः सगर्वः कलकण्ठयुवा युवककोकिलस्तस्य कण्ठेनोक्तः स्पष्टमभिहितः पथिकजनसन्दोहस्य पान्थकुलस्य जीवितसन्देहो येषु तथोक्ताः, कामस्य लोकविजये सहायभूतानां चूतवृक्षाणां नवपल्लवास्वादनेन सगर्वाणां कोकिलयूनां कण्ठेन स्फुटाभिधीयमानपथिककुलप्राणसंशया इत्यर्थः। वनदेवतानां वनाधिष्ठात्रीणां देवतानां वदनेषु मुखेषु तिलकायमानाः चन्दनबिन्दुवदवभासमानानि यानि तिलकानि पुष्पभेदास्तेषामंकलिकानां कुड्मलाना वलिभिः समुदायैः पलितंभावुकः नभोविभागः

---

१. 'भृङ्गार'। २. 'मनसि विचिन्त्य'।
२. 'अरण्याङ्गणधरण्याम्'। इति पा०।

आकाशदेशो येषु तथोक्ताः, विकसितानि तिलककुसुमानि वनदेवतामुखतिलकानीव प्रतिभान्ति, तैश्च धवलित आकाशदेशो श्वेतकेशो वृद्ध इव येषु दिनेषु प्रतीयते तादृशा इत्याशयः। मदनः काम एव हुतभुगग्निः तदङ्गारसदृशानि यानि कमलानि तान्येव भृङ्गारवः 'सुराही' शब्दख्यातानि सूक्ष्ममुखानि मद्यपात्राणि तेषु यो मधुरसः परागः स एव मधुरसो मद्यम् तदासङ्गेन तदासेवनेन रचितो जनितो मदः मत्तता येषां तेषां भृङ्गाणां भ्रमराणामारवाः गुञ्जितानि तेषां विभवेन समृद्धया तुङ्गः विशालः अरहितानाम् अवियुक्तानां मिथुनानां स्त्रीपुंसानां यूनां शृङ्गाररसः संभोगसुखं येषु ते तथोक्ताः, कमलानि रक्ताभतया कामहुतभुगङ्गाराकृतीनि, तान्येव सूक्ष्ममुख सीधुभाण्डानि तेषु वर्त्तमानो यो मधुरसो मद्यं परागश्च तदास्वादनेन मत्ता भ्रमराः शब्दायन्ते, तद्ध्वनिसमेधितमदनाश्च युवानो महत्संभोगसुखमनुभवन्ति येषु तादृशा इत्येतदर्थः। समुन्मिषन्त्यः विकसन्त्यो या वासन्तिका माधवीकुसुमानि तासां मिषेण छलेन तं नृपं पाण्डुं हसन्तः उपहसन्तः, कीदृशम् पाण्डुम् ? इत्यपेक्षायाम्—सीमन्तिनीरतेः स्त्रीसंभोगस्य उदन्तम् वृत्तं दुरन्तम् किन्दमशापस्यावन्ध्यतया मृत्युपर्यवसायिनं विचिन्त्य विभाव्य रहसि एकान्ते उद्दीपकवस्तुवर्जिते वसन्तम्, इति विशेषणं बोध्यम्। उपमारूपकोत्प्रेक्षानुप्रासानां संसृष्टिः॥

इसके बाद सभी दिशाओंमें निरन्तर बहती हुई हवासे कांपते हुए चम्पक द्वारा प्रकटित सुगन्धसे आकाशको युक्त करनेवाले, कुरवक फूलके किञ्जल्ककी धूलसे दिशाओंको मलिन करनेवाले, कामकी दिग्विजयमें सहायता-दक्ष आमके प्रशंसनीय पल्लवोंके आस्वादनसे सगर्व कोकिल युवा द्वारा स्पष्ट कण्ठसे कहा गया है पथिकजनोंके जीवनमें सन्देह जिन दिनोंमें ऐसे, वनदेवताके मुखके तिलककी तरह लगनेवाले तिलक प्रसूनकी कलियोंके समूहसे श्वेतमस्तक वाला वृद्ध बन गया है आसमान जिनमें ऐसे, कामदेवरूप आगके अङ्गारोंके समान प्रतीत होनेवाले कमलरूप सुराही (मद्यपात्र)में स्थापित पुष्परसरूप मदिराके सेवनसे मतवाले भ्रमरोंकी झङ्कार-समृद्धिसे विशाल हो गया है संयुक्त युवकोंका संभोग सुख जिन दिनोंमें एतादृश, स्त्रीसंभोगका वृत्तान्त मृत्युपर्यवसायी होगा ऐसा सोचकर एकान्तमें बैठे हुए राजा पाण्डुको खिलती हुई माधवीके बहानेसे हंसते हुए वसन्त ऋतुके दिन धीरे २ उस पर्वतकी तलहटी भूमिमें अवर्णनीय विकासको प्राप्त हुए॥

किं शुकस्य वदने रुचिरत्वं किं शुकस्य हृदयेऽपि वशित्वम्।
किंशुकस्य कुसुमेषु नदन्ती शंसति स्म मधुपालिरितीव॥ ६८॥

किं शुकस्येति। शुकस्य पक्षिविशेषस्य वदने चञ्चौ रुचिरत्वं सौन्दर्यं किं कीदृशम् ? पलाशपुष्पसमत्वं रक्तिमवक्रिमादिकृतं शुकवदनस्य सौन्दर्यं न गण्यमित्यर्थः, शुकस्य हृदये व्यासपुत्रस्य चित्तेऽपि कीदृशं वशित्वं जितेन्द्रियत्वम्,

तदपि न प्रशंस्यम्, कामोत्तेजकपलाशकुसुमदर्शनेन सत्त्वाप्यपनेयत्वादिति भावः। किंशुकस्य पलाशस्य कुसुमेषु नदन्ती शब्दायमाना मधुपालिः भ्रमरमाला इतीव शंसतिस्म कथयतिस्म। शुकमुखाभानि पलाशपुष्पाणि मुनीनामपि मोहकराण्याविरासन्नित्यर्थः ॥ ६८ ॥

पलाशके फूलोंपर गुञ्जार करती हुई भ्रमरमाला मानों कह रही थी शुककी चोंचकी लालिमा क्या है ? और शुकदेवमुनिके हृदयका वशित्वभी क्या है ? इस पलाश-पुष्पके समान शुकवदनभी पराजित है और इसको देखकर शुकमुनिभी अपना वशित्व खोदेंगे ॥८६॥

कुरवके रवकेलिभृतः सुधासममधुरं मधुरं मधु षट्पदाः ।
पपुरवापुरवार्यमपि स्मयं नृपवने पवनेरितपादपे ॥ ६९ ॥

कुरवक इति। पवनेरितपादपे वायुकम्पितद्रुमे अत्र नृपवने पाण्डोराश्रमवर्त्तिनि कानने कुरवके तदाख्यकुसुमभेदे रवान् गुञ्जितानि केलीः क्रीडाश्च बिभ्रति ये ते तथा रवकेलिभृतः षट्पदाः भ्रमराः सुधासममधुरं सुधोपमम् मधुरं हृद्यस्वादम् मधु पुष्परसं पपुरास्वादयामासुरपि च अवार्यं दुर्वारम् अतिप्रबलम् स्मयम् मदम् अवापुः प्राप्तवन्तः। वातकम्पितवृक्षे पाण्डोराश्रमे भ्रमराः पुष्परसं पीत्वा मत्ता अजायन्तेत्यर्थः। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमनुप्रासश्च ॥ ६९ ॥

हवासे झूमते हुए वृक्षोंसे भरे उस पाण्डुनृपके आश्रमस्थ वनमें कुरवकके वृक्षोंपर गुञ्जार तथा क्रीड़ा करनेवाले भौंरे अमृतसम स्वादु मधुर पुष्परस पीकर स्वतः अपरिहार्य मदसे मत्त हो रहे थे ॥ ६९ ॥

अथास्मिन्नमुना त[1]पोवनपरिसरे पटीरगिरिबन्धुना गन्धवहस्तनंधयेन संनिधिं नीयमानो म[2]द्रजःपरिग्रहस्तपस्यन्तमपि मनस्यन्तः कं परितापसंपदा न लिम्पेदित्यर्थान्तरमप्यलिगिरा बोधयन्त्यामिव वनवासन्त्याम[3]यं क्षणादेव क्षितिपतिरिक्षुधन्वनो लक्ष्यतामध्यरुक्षत् ।

अथेति। अथ एतदनन्तरम् वासन्त्याम् माधवीलतायाम् इति वक्ष्यमाणप्रकारकम् अर्थान्तरम् अन्यमर्थम् श्लिष्टं वाक्यमित्यर्थः, अपि अलिगिरा भ्रमरशब्देन बोधयन्त्याम् प्रतिपादयन्त्याम् इव अयम् क्षितिपतिः राजा पाण्डुः क्षणात् झटिति इक्षुधन्वनः कामदेवस्य शरव्यतां लक्ष्यत्वम् अध्यरुक्षत् आरूढः कामातुरो जात इत्यर्थः। वासन्त्या किमुक्तमित्यपेक्षायामाह—अस्मिन्निति। अस्मिन् अत्र कुटीरपरिसरे पर्णशालासविधे अमुना एतेन पटीरगिरिबन्धुना मलयाचलसम्बन्धिना गन्धवहस्तनन्धयेन बालपवनेन मन्दानिलेनेत्यर्थः, सन्निधिं नीयमानो समीपमुपाप्यमाणः मद्रजःपरिग्रहः मम वासन्त्याः रजसः परागस्य परिग्रहः संपर्कः,

१. 'तपोवनकुटीरपरिसरे'। २. 'मद्रजापरिग्रह'। ३. 'वासन्त्यामियम्'। इति पा०।

(अर्थान्तरे–मद्रजः मद्रदेशोद्भवः परिग्रहः स्त्री माद्रीरूपा ललना) तपस्यन्तम् तपस्यासंलग्नम् अपि कम् अन्तः मनसि चित्ते परितापसम्पदा न लिम्पेत् परितप्तं न कुर्यात्। सर्वोऽप्यस्मिन् समये वासन्तीपुष्परजसा सम्पर्कमवाप्य तपस्यापरायणः सन्नपि मनसि कामविकारं लभेतेति सर्वसाधारणी कामविकृतिरुक्ता, मद्रजा तत्पत्नी समीपस्था चेत् पाण्डुस्तपस्यन्नपि कामविकृतचेता जात इति पाण्डुपत्नीयोऽर्थः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः॥

इसके बाद इस पर्णशालाके पासमें बहनेवाले इस मलयाचल–सम्बन्धी बालक पवन–मन्दानिलके द्वारा समीप लाये गये वासन्ती परागके (माद्री–स्त्रीके) सम्पर्कमें आकर तपस्यामें निरत रहने वाला भी कौन जन अन्तश्चित्तमें कामविकारजन्य परितापको नहीं प्राप्त करेगा इस द्व्यर्थक वाक्यको भ्रमरके शब्दोंसे जब वनकी माधवीलता कहने लग गई तब–तुरन्त–यह राजा पाण्डु कामदेवके बाणका लक्ष्य बन गया, पाण्डुका हृदय काम पीडित हो गया॥ ६९॥

परिहृत्य तनुं चित्ते बाणं कामो मुमोच यत्।
अन्तरेवातिरक्तोऽभूदव्रणस्तद्बहिर्नृपः॥ ७०॥

परिहृत्येति। यत् यस्मात् कारणात् कामः कामदेवः तनुं शरीरं परिहृत्य विहाय चित्ते हृदये बाणं निजं शरं मुमोच त्यक्तवान् प्राहरदित्यर्थः, तत् तस्मात् नृपः पाण्डुः अन्तः चित्ते एव अतिरक्तः सातिशयकामासक्तः बहिः शरीरे अव्रणः अभूत्। यत्र प्रहारस्तत्रैव व्रणोदयस्तद्देश एव रक्तनिर्गमेन रागश्च भवति, अत एव कामेन हृदयेऽतिप्रहृतः पाण्डुर्बहिरव्रणो हृदये रक्तः सातिशयोद्रिक्तकामवासनश्चाजायते-त्याशयः॥ ७०॥

कामदेवने शरीर छोड़कर हृदय पर ही प्रहार किया था, अतएव राजा पाण्डु बाहरसे बिल्कुल अव्रण–व्रणरहित होकर भी भीतर हृदयमें अतिरक्त (खूनसे रंगा–सातिशयकामी) हो उठे॥ ७०॥

कं केलिदेशमुपयाम्यधुनेति ताव-
त्कङ्केलिसंवलनकल्पितचित्रशोभम्।
माद्र्या करेणुरिव साकमसौ करेण्वा
गूढं ययौ कुरवकद्रुलतानिकुञ्जम्॥ ७१॥

कं केलिदेशमिति। असौ नृपो राजा पाण्डुः तावत् आदौ अधुना कं केलिदेशम् क्रीडोपयुक्तं स्थानं रतियोग्यं निभृतं स्थलमित्यर्थः, उपयामि? इति (विभाव्य) करेण्वा गजस्त्रिया साकं सह करेणुर्गज इव तथा सन्निहितया माद्र्या साकं कङ्केलिवृक्षस्य वृक्षभेदस्य संवलनेन मिलनेन कल्पिता सृष्टा चित्रा आश्चर्यजननी

शोभा यस्य तादृशम् कुरवकद्रोः कुरबकवृक्षस्य लतानिकुञ्जं लतापिहितं स्थानं ययौ गतवान् । माद्रीमादाय लतागृहं प्रविष्ट इत्यर्थः । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । गजोपमया मदमत्ततोक्ता सती रतिप्रवृत्तौ प्रयोजिका व्यक्ता ॥ ७१ ॥

कामवासनासे पीडित होकर राजापाण्डुने पहले यह चिन्ताकी कि किस क्रीड़ाभवनमें प्रवेश करें, इस प्रकार विचार करके वह मतवाला हाथी जैसे हथिनीको साथ ले उसी तरह माद्रीके साथ कङ्केलि वृक्षका साहचर्य होनेसे जिसकी शोभा आश्चर्यजनक रूपमें बढ़ गई है ऐसे कुरबक वृक्षके निकुञ्जमें प्रवेश कर गये ॥ ७१ ॥

शापं च मृत्युप्रदमग्रजातेस्तापं च पत्युः स्मरजं निरीक्ष्य ।
दूरेतरस्मिन्सुरतेऽपि देव्या दोलायमानं[1] हृदयं तदासीत् ॥ ७२ ॥

शापमिति । अग्रजातेः ब्राह्मणस्य किन्दमाख्यमुनेः मृत्युप्रदम् मरणपर्यवसायिनं शापम्, पत्युः पाण्डोः स्मरजं कामवासनोद्रेकजनितं तापम् वेदनाञ्च निरीक्ष्य दृष्ट्वा सुरते रतिकेलौ दूरेतरस्मिन् अत्यन्तसन्निहिते सत्यपि (कामी यतिः कामिन्या प्रौढया च स्त्रिया समेतो रहसि स्थितः कालश्च वसन्त इत्येवमुन्मादकारणसमवधाने सत्यपीत्यर्थः) तदा तस्मिन्नवसरे देव्याः माद्र्याः तत् हृदयम् (यत्रैकत्र कामवासनया समं पत्युः कामवेदनाज्ञानं, परतश्च पत्युर्मरणज्ञानं विद्यते) दोलायमानम् कम्पमानम् किङ्कर्त्तव्यविमूढम् आसीत् अजायत । सा 'रमेय रतिं प्रार्थयमानं प्रियं निवारयेयं वे'ति निर्णेतुं न समर्थाऽऽसीदित्याशयः ॥ ७२ ॥

मृत्यु देनेवाले किन्दम मुनिके द्वारा दिये गये शापको और अपने प्रियतम राजा पाण्डु के हृदयमें लगी कामवासनारूप आगको देखती हुई माद्रीका हृदय उस समय अति सन्निहित रतिक्रीड़ाके विषयमें अति किङ्कर्त्तव्य विमूढ हो रहा था, वह कर्त्तव्यका निर्णय नहीं कर पा रही थी ॥ ७२ ॥

चाटुप्रयोगे चतुरः स पाण्डुः प्रसूनतल्पे प्रविवेशितायाः ।
क्षौमं बिभेद स्मरराजधानी[2]क्षौमं कराम्भोजदलेन तस्याः ॥ ७३ ॥

चाटुप्रयोग इति । चाटूनां प्रियमधुरवाक्यावलीनां प्रयोगे व्यवहारे कुशलः निपुणः प्रियानुनयनप्रवीण इत्यर्थः, स पाण्डुः प्रसूनतल्पे पुष्पनिर्मिते शयनीये प्रविवेशितायाः शायितायाः तस्याः माद्र्याः स्मरराजधान्याः कामनिवासभूतेर्वराङ्गस्य क्षौमं प्राकारभूतम् आवरकम् क्षौमम् वस्त्रम् कराम्भोजदलेन कररूपेण कमलपत्रेण बिभेद शिथिलीचकार । अत्र कामराजधानीप्राकारस्य कमलदलकरणकं भेदनं निबध्यमानं विरोधमाभासयति वस्तुतस्तु वस्त्रपर्यवसायित्वेन न विरोधः । 'क्षौमं दुकूले प्राकारे' इति विश्वः ॥ ७३ ॥

---

१. 'डोलायमानम्' । २. 'स्मरराजधान्याः' । इति पा० ।

प्रियाकी खुशामद करनेमें अनुनयनमें-निपुण उस राजा पाण्डुने फूलकी सेज पर सुलाई गई माद्रीके स्मरराजधानी-वराङ्गके प्राकाररूप वस्त्रको अपने कमलदलरूप हाथसे ढीलाकर दिया-खोल दिया ॥ ७२ ॥

तत्र तौ राजदम्पती मुनिशापबलपरिचिचीषयेव मुहुरभङ्गुरालिङ्गन-मङ्गलतरङ्गितकुचकुम्भसंभृतघर्मजलनिर्मितमदनयौवराज्याभिषेकमधरित-मधुरसमधुरिमाधरबिम्बविडम्बिताम्बरचरकुटुम्बिजीवनमतिजवपम्फुल्य-मानधम्मिल्लविगलदविरलवकुलमुकुलपुनरुक्तपुष्पतल्पम् विगणितवीणागु-णक्वणितमणितमसृणितमतिचिरप्रमुषितमसमशरसमरमुन्मीलयामासतुः।

तत्रेति। तत्र पुष्पशय्यायाम् तौ राजदम्पती माद्रीपाण्डू मुनिशापस्य किन्दम-प्रदत्तस्य 'रत्यन्तं जीवनं पाण्डोरि'तिशापस्य बलं सामर्थ्यम् तस्य परिचिचीषा परिचेतुमिच्छा 'सत्योऽसत्यो वाऽसावि'ति जिज्ञासा तया इव मुहुः वारंवारम् अभ-ङ्गुरेण अतिदृढेन आलिङ्गनमङ्गलेन आश्लेषसुखेन तरङ्गितौ पूर्णौ यौ कुचकुम्भौ ताभ्यां सम्भृतः सम्पादितः घर्मजलनिर्मितः स्वेदबिन्दुकृतः मदनयौवराज्याभि-षेको यत्र कर्मणि तत्तथा, आलिङ्गिताभ्यां सुखिताभ्यां च स्तनाभ्यां स्रवता घर्म-जलेन कृतकन्दर्पराज्याभिषेकमित्येतत्क्रियाविशेषणपदार्थः। अधरितस्तुच्छीकृतो मधुरसस्य मधुनः स्वादस्य मधुरिमा माधुर्यं येन तेन बिम्बेनेव अधरेण विड-म्बितम् अनुकृतम् अम्बरचरकुटुम्बिनां देवानाम् जीवनम् अमृतं यत्र तत्तथा, मधुरसातिशायिमाधुर्यशालिबिम्बोपमाधरानुकृतमित्येतदर्थः। अतिजवेन अति-वेगेन पम्फुल्यमानात् शिथिलीभवतः धम्मिल्लात् विगलद्भिः पतद्भिः अविरलैः व्यापकीभवद्भिर्बहुभिरित्यर्थः, वकुलमुकुलैः अशोकपुष्पैः पुनरुक्तं द्विगुणीकृतं पुष्प-तल्पं यत्र तत्तथा। रतस्यातिशयवेगप्रवृत्ततया चलिताद्धम्मिल्लान्निपतद्भिर्बहुभिः कुसुमैर्यत्र पुष्पशयनं द्विगुणीभूतपुष्पं जायते तथेति भावः। अवगणितं तुच्छतां गमितं वीणाया गुणस्य तन्त्र्याः क्वणितं शब्दो येन तादृशेन मणितेन रतिकूजितेन मसृणितं निविडीकृतम्। एतच्च रतविशेषणम्, एवमग्रेतनमपि। अतिचिरप्रमु-षितम् बहोः कालात्प्रतिबद्धम्, असमशरस्य कामदेवस्य समरं युद्धम् सुरतमि-त्यर्थः, उन्मीलयामासतुः प्रकटीचक्रतुः।

उस पुष्पशय्या पर पाण्डु तथा माद्रीने कामयुद्ध-सुरत क्रीडा प्रकट किया, मानो वह दोनों किन्दम मुनि द्वारा दिये गये शापके बलकी परीक्षा कर रहे हों उस रतिमें बारबार किये गये आलिंगनजनित सुखके होनेसे तरंगित कुचरूप कुम्भसे घर्म जल (स्वेद) चू रहा था मानो कामदेवका यौवराज्याभिषेक हो रहा था, मधुके रसको तुच्छ करनेवाले ओष्ठ बिम्बसे

१. 'मुहुर्मुहुः'। २. 'बिम्बचुम्बनाडम्बर'। ३. 'भणितम्'। ४. 'मुषितम्'। इति पा०।

अपने माधुर्यके द्वारा अम्बरचारी देवोंके जीवनाधार अमृतका अनुकरण किया जा रहा था, रतिरभसमें सवेग प्रवृत्त होनेके कारण खुले हुए केशपाशसे गिरनेवाले फूल उन दोनों की पुष्पशय्याको द्विगुणित बना रहे थे, वीणाके तारकी झङ्कारको मात करनेवाले रति-कालिक शब्दसे जो रतिक्रीड़ा युक्त थी और जिस रतिका भोग उन दोनोंने बहुत दिनोंसे छोड़ दिया था ॥ ७३ ॥

आयुषः संततिं दीर्घामावहन्नपि पौरवः ।
आयुषः संततेरन्तमाजगाम रतेरिव ॥ ७४ ॥

आयुष इति । पौरवः पाण्डुः आयुषः तन्नामकस्य स्ववंशपूर्वपुरुषस्य दीर्घां चिरानुवर्त्तिनीम् सन्ततिम् परम्पराम् आवहन्नपि सन्तानोत्पादनद्वारा कुर्वन्नपि (आयुषो जीवनादृष्टस्य दीर्घां सन्ततिम् अनुवृत्तिम् आवहन् धारयन्नपि, आयुषा युज्यमानोऽपीत्यर्थोऽपि प्रतिभासते) आयुषः सन्ततेः जीवनानुवृत्तेः अन्तं समाप्तिं रतेः स्त्रीसुखस्यान्तमिव आजगाम प्राप, समाप्तायामेव रतिक्रीडायां पाण्डुर्गता-सुरभवदिति भावः । श्लेषानुप्राणितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ७४ ॥

पुरुवंश प्रदीप राजा पाण्डु आयु नामक अपने पूर्वपुरुषकी वंश-परम्पराको सन्तान-जनन द्वारा लम्बी बनाते हुए भी (जीवनादृष्टकी विशालताको धारण करते हुए भी) आयुके अवसानको रतिके अवसानके समान ही प्राप्त हुए, अर्थात् रतिके समाप्त होते ही पाण्डुकी जीवन यात्रा समाप्त हो गई । आयु-नामक पुरूरवा और उर्वशीके पुत्र एक राजा हो गये हैं, वह चन्द्रवंशके प्रधान पुरुष थे ॥ ७४ ॥

नृपस्य दूरीकृतपाशसंगमं यमं विहायैकमुपेयुषो वधूम् ।
अजस्रमूरीकृतपाशसंगमो यमोऽपरः संनिदधे लतागृहे ॥ ७५ ॥

नृपस्येति । एकं दूरीकृतः त्यक्तः पाशस्य संसारस्य बन्धनरूपस्य संगमः यत्र-तादृशं त्यक्तविषयवासनं यमम् निगृहीतेन्द्रियगणतयाऽवस्थानं विहाय त्यक्त्वा वधूम् स्वस्त्रियं माद्रीम् उपेयुषः रतिसंगमेन प्राप्तवतो नृपस्य पाण्डोः अजस्रम् संततम् ऊरीकृतः स्वीकृतः पाशसंगमः पाशाख्यबन्धनसाधनं येन तादृशोऽयम् अपरो यमः (निग्रहातिरिक्तः) यमराजः लतागृहे संनिदधे समीपमागतः । इन्द्रि-यनिग्रहं त्यक्त्वा स्त्रिया सह कृतरतेः पाण्डोः समीपे यम आगत इत्याशयः । एकं यमं त्यक्तवतः समीपमन्यो यम आगत इति वृश्चिकभिया पलायमानस्याशीविष-मुखे विनिपातो जात इति बोध्यम् । अत्रेष्टार्थोद्यमादनिष्टावाप्तिरूपो विषमालङ्कार-भेदः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

सांसारिक बन्धनरूप पाशके संसर्गसे रहित एक यम-इन्द्रिय निग्रहरूपको छोड़कर अपनी

---

१. 'आररोह' । इति पा० ।

स्त्रीके साथ संभोग करनेवाले राजा पाण्डुके समीप लतागृहमें नित्य पाशधारण करनेवाला दूसरा यम–यमराज आकर उपस्थित हो गया ॥ ७५ ॥

आलिङ्गनेन कुरवो हरिणेक्षणाना-
मामोदगौरवभृतो भुवि सर्व एव ।
तन्मध्यभागपि तथा स कथं नु पाण्डु-
रालिङ्ग्य मद्रतनयामवधिं प्रपेदे ॥ ७६ ॥

आलिङ्गनेनेति । सर्वः एव कुरवः कुरवकवृक्षः हरिणेक्षणानाम् मृगनयनानाम् आलिङ्गनेन हस्ताभ्यामुपगूहनेन आमोदस्य सुगन्धस्य गौरवेण आधिक्येन भृतः पूर्णः भवतीति शेषः, यथोक्तम्—'पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः, शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः । आलिङ्गितः कुरवकः कुरुते विकास–मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति' इति । अपि च सर्वे एव कुरवः कुरुवंश्या राजानः हरिणेक्षणानाम् स्वप्रियाणां सुन्दरीणाम् आलिङ्गनेन गाढाश्लेषेण आमोदगौरवभृतः प्रभूतानन्दाः आसन्नित्यर्थः, तन्मध्यभाक् कुरवकवृक्षान्तर्गतः स पाण्डुः अपि (कुरुवंशमध्यगश्च) तदा मद्रतनयाम् माद्रीं नाम प्रियाम् आलिङ्ग्य अवधिम् जीवनधारणावधिम् मृत्युम् कथन्नु प्रपेदे प्राप्तः । तरुण्यालिङ्गितः कुरवोऽधिकं सुगन्धं वहति) कुरवश्च प्रियालिङ्गिताः प्रमोदमेवाभजन्त, परमिदं तु तर्कणीयं यदयं पाण्डुः कुरुमध्यगः कुरवकमध्यगश्च भूत्वापि प्रियामालिङ्ग्य कथं मृत इति भावः । 'कुरवः' इत्यस्य कुरवक इत्यर्थे करणीये वबयोरभेद आस्थेयो भवति । अत्रापि विषमभेदोऽलङ्कारः, स्पष्टमन्यत् । वसन्ततिलकं वृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ७६ ॥

सभी कुरवक वृक्ष मृगनयनियोंके आलिंगनसे अधिक सुगन्ध (पुष्पोद्गम द्वारा) पाते हैं, सभी कुरुवंशी राजगण प्रियतमाके आलिङ्गनके आनन्दको पाते रहे हैं, यह पाण्डु भी उन्हीं कुरवक वृक्षोंके बीचमें स्थित थे, उन्हीं कुरुवंशकी विचली सन्तानोंमेंसे थे, फिर भी न जानें, क्यों, प्रेयसीके आलिंगनसे उनकी जीवनावधिका ही अन्त हो गया ? ॥ ७६ ॥

निद्रया किल निमीलितं मृतेर्मुद्रया निजमुदीक्ष्य वल्लभम् ।
उद्वहा करमुदस्य विह्वला मद्रराजतनया रुरोद सा ॥ ७७ ॥

निद्रयेति । सा मद्रराजतनया माद्री निद्रया किल संभावनायाम् निद्रात्वेन संभाव्यया मृतेः मरणस्य चेष्टया निमीलितं मुकुलिताक्षं पिहितनयनं निजं वल्लभं प्राणनाथम् उदीक्ष्य दृष्ट्वा (पूर्वं निद्रात्वेन प्रतीतयाऽपि पश्चादस्तचेतनया मरणलिङ्गत्वेन ज्ञातया हतचेष्टतया निमीलितमस्तसर्वचेष्टं प्रियम्पश्यन्ती माद्री)

---

१. 'सदा' । इति पा० ।

विह्वला संभ्रान्तचित्ता सती करम् हस्तमुदस्य उत्क्षिप्य उद्दवा उच्चैः शब्दं कुर्वती रुरोद चक्रन्द। रथोद्धता वृत्तम्—'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात्॥७७॥

निद्राकी तरह प्रतीत होनेवाली मृत्यु-मुद्रासे अस्त-समस्त-चेष्ट अपने प्रियतम पाण्डुको देखकर माद्री हाथ उठाकर शब्द करती हुई विह्वल भावसे रोने लगी॥ ७७॥

तन्निशम्य सममेत्य कुमारैस्तादृशं पतिमवेक्ष्य रुदन्त्याः।
भोजपुंगवभुवोऽश्रुनिपातैर्भूरपि स्वयममुञ्चत बाष्पम्॥ ७८॥

तन्निशम्येति। तत् माद्रीकृतं क्रन्दनं निशम्य श्रुत्वा कुमारैः युधिष्ठिरादिभिः पञ्चभिः पुत्रैः समम् सह एत्य पाण्डुमाद्रीयुतं लताकुञ्जमागत्य तादृशम् मृतं पतिम् अवेक्ष्य दृष्ट्वा रुदन्त्याः भोजपुङ्गवभुवः भोजाधिपकुमार्याः कुन्त्याः अश्रुनिपातैः बाष्पवर्षैः भूः पृथिवी अपि (राजभार्यात्वेन एकस्यां राजभार्यायां रुदन्त्यां सत्यामन्यस्या राजभार्याया अपि रोदितुमुचितत्वात्) स्वयम् आत्मनैव बाष्पम् अश्रु अमुञ्चत अरोदीदित्यर्थः॥ ७८॥

माद्रीका उस प्रकार रोना सुनकर युधिष्ठिरादि पांचों राजकुमारोंके साथ कुन्ती वहाँ लताभवनमें आई, वहाँ आकर जब उसने पतिको उस दशामें देखा तो वह रोने लगी, उसके रोनेसे मानों पृथ्वी भी रोने लगी, (पृथ्वी भी राजभार्या होनेके कारण उसका रोना देखकर उसके साथ रोने लगी॥ ७८॥

माद्र्या तयाऽनुसृतया महितस्य राज्ञो
निर्वर्तितासु तनयैर्निखिलक्रियासु।
भूयोऽपि तौ सुमनसां पुरतः प्रकाशं
जायापती तु सुरतोत्सवमन्वभूताम्॥ ७९॥

माद्र्येति। तया स्वसंगमेन राजमरणप्रयोजिकया अनुसृतया सहमरणं सतीभावात्मकं प्राप्तया माद्र्या सह महितस्य लोकपूजितस्य राज्ञः पाण्डोः तनयैः पुत्रैर्युधिष्ठिरादिभिः निखिलक्रियासु श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिककर्मसु निर्वर्त्तितासु कृतासु सतीषु तौ जायापती माद्रीपाण्डू प्रकाशम् स्वर्गेऽमरणधर्मशरीरलाभेनोज्ज्वलम् सुरतोत्सवं संभोगसुखम् देवत्वप्राप्तिजनितमानन्दञ्च भूयः पुनरपि सुमनसां देवानां पुरतोऽग्रे अन्वभूताम् अनुभूतवन्तौ। 'सुरतोत्सव' शब्दे सुरतमेवोत्सव इति सुरता देवत्वम् तदुत्सव इति च द्विधाच्छेदेनार्थद्वयप्रतीतिः, 'सुरतं मैथुनेऽपि स्याद्देवत्वे सुरता स्त्रियाम्' इति विश्वः॥ ७९॥

माद्रीके साथ मरे हुए तथा लोकपूजित राजा पाण्डुकी और्ध्वदेहिक क्रिया उनके पुत्रों द्वारा पूर्णरूपमें की गई, फिर वह दोनों माद्री और राजा पाण्डु दम्पती देवोंके सामने

१. 'समवेत्य'। २. 'विपातैः'। ३. 'ततोऽनुसृतया सह तस्य'। इति पा०।

फिरसे सुरतोत्सव–रतिसुख या देवत्व–प्राप्तिजनित सुखका अनुभव करने लगे ॥ ७९ ॥

तदनु नव्यवैधव्यबहुव्यथायाः पृथायाः पुरतो निर्मर्यादपितृशोकवि-दीर्यमाणधैर्यैः सोदर्यजनपरिवार्यमाणाय हृदि विदितनिखिलधर्मजाताय धर्मजाताय महत्यामपि विपत्त्यां वैयात्येन भवितव्यमिति राजनयनिगमाङ्कुरं प्रकाश्य काश्यपादयो दयोपेताः शतशृङ्गमुनिपुंगवास्तुङ्गमणिसौधशृङ्गं कुलक्रमागतं कुरुनगरमेतानवतारयामासुः ।

तदन्विति । तदनु तत्पश्चात् नव्यवैधव्येन नवीनेन पत्युर्मरणेन बहुव्यथायाः अनन्तदुःखायाः पृथायाः कुन्त्याः पुरतः अग्रे निर्मर्यादेन अपारेण पितृशोकेन पितृमरणजदुःखेन विदार्यमाणधैर्यैः भिन्नधृतिभिः अधीरैरित्यर्थः, सोदर्यजनैः सहोदरभ्रातृभिः भीमादिभिः परिवार्यमाणाय परिवृताय सहितायेत्यर्थः, हृदि हृदये विदितनिखिलधर्मजाताय ज्ञातसमस्तकर्त्तव्यकलापाय धर्मजाताय यमपुत्राय युधिष्ठिराय महत्याम् गभीरायाम् अपि विपत्त्याम् आपत्तौ वैयात्येन धैर्येण भवितव्यम् 'न संभ्रमः कार्यः' इति उक्तप्रकारम् राजनयनिगमाङ्कुरं राजनीतिशास्त्रसारम् प्रकाश्य उपदिश्य दयोपेताः पाण्डवेषु दयालवः शतशृङ्गमुनिपुङ्गवाः शतशृङ्गाख्यपर्वतवासिमुनिजनश्रेष्ठाः काश्यपादयः काश्यपप्रभृतयः एतान् युधिष्ठिरादीन् पाण्डुपुत्रान् तुङ्गानि उन्नतानि मणिसौधानां रत्ननिर्मितभवनानां शृङ्गाणि शिखराणि यत्र तादृशम् कुलक्रमागतम् वंशानुपूर्व्या प्राप्तं कुरुनगरम् हस्तिनापुरम् अवतारयामासुः प्रापयामासुः । मृते पाण्डौ सद्यो वैधव्येनातिपीडितायाः पृथायाः पुरतः पितृशोककदर्थितसोदरजनयुताय निखिलधर्मरहस्यवेदिने युधिष्ठिराय महत्यपि दुःखेऽधीरता नावलम्बनीयेति राजनीतिरहस्यं बोधयित्वा शतशृङ्गवासिमुनिमुख्याः काश्यपादयो युधिष्ठिरादीन् उच्चप्रासादपरिवृतं वंशानुक्रमागतं हस्तिनापुरमानीतवन्त इत्यर्थः ॥

इसके बाद नवीन वैधव्य दुःखसे अतिपीड़िता कुन्तीके आगे अपार पितृशोकसे जिनके धैर्य टूट रहे हैं, ऐसे सोदरोंसे परिवृत एवं हृदयमें सभी प्रकारके धर्मरहस्योंको जाननेवाले धर्मराजको 'बड़ी विपत्तिके आने पर धीरता बनाये रखना चाहिये' इस प्रकार का राजनीति शास्त्रके रहस्यका उपदेश देकर शतशृंग पर्वतपर रहनेवाले ऋषियोंमें प्रधान तथा दयालु काश्यप आदि ऋषिगण इन युधिष्ठिरादि पाण्डुपुत्रोंको हस्तिनापुर ले आये, जो उच्च रत्नभवनोंसे युक्त तथा पाण्डवोंके कुलक्रमसे आती हुई राजधानी थी ॥

---

१. 'बहुविध' । २. 'विदीर्यमाण' । ३. 'धैर्याय सोदर्य' । ४. 'धर्मजाय' । ५. 'सत्यां वैयात्येन' । ६. 'नयनांकुशम्', 'नियमांकुशम्' । ७. 'शृङ्गसंकुलम्' । इति पा० ।

मन्दं मन्दमुपेत्य तत्र सदसो[1] मत्पाण्डुपुत्राङ्कुराः
क्वेति प्रेमपुरःप्रसारितकरः कुर्वन्दृढालिङ्गनम्।
स्पर्शं स्पर्शमिमान्निजाङ्कगमितान्भ्रातुः स्मरन्कौरवः
श्च्योतद्भिर्नयनाम्बुभिः स विदधे शोकं नदीमातृकम् ॥ ८० ॥

मन्दं मन्दमिति। तत्र तस्मिन्नवसरे पाण्डवेषु हस्तिनापुरमायातेष्वित्यर्थः, सः प्रसिद्धः कौरवो धृतराष्ट्रः सदसः सभाभवनात् मन्दं मन्दं शनैः शनैरेत्य आगत्य मम पाण्डोः पुत्राः अङ्कुरा इव मत्पाण्डुपुत्राङ्कुराः क्व कुत्र सन्ति? इति (वदन्) प्रेमपुरःप्रसारितकरः स्नेहेन हस्तौ अग्रे प्रसारयन् दृढालिङ्गनम् प्रेम्णा गाढालिङ्गनं (युधिष्ठिरादीनाम्) कुर्वन् इमान् अङ्कगमितान् क्रोडे कृतान् पाण्डुपुत्रान्युधिष्ठिरादीन् स्पर्शं स्पर्शं भूयो भूयः स्पृष्ट्वा भ्रातुः स्मरन् पाण्डुं ध्यायन् सन् श्च्योतद्भिः प्रवहद्भिः नयनाम्बुभिः शोकम् नदीमातृकम् नदी माता वर्द्धयित्री यस्य तथोक्तं चक्रे। तदीयः शोकोऽश्रुपयसा प्लावित इवाजायतेत्यर्थः। युधिष्ठिरादीनां हस्तिनापुरप्रवेशवृत्तमाकर्ण्य सभामण्डपाच्चलितो धृतराष्ट्रो मन्दं मन्दं तदन्तिकमागत्य प्रेम्णा करौ प्रसार्य तानालिङ्ग्य च तत्स्पर्शवशादेकसम्बन्धिज्ञानस्यापरसम्बन्धिस्मारकतया पाण्डोः स्मरणं कुर्वन् प्रवहमाणेनाश्रुणा शोकं जलाप्लुतं चकारेति तात्पर्यम्॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरादि पाण्डुपुत्र जब हस्तिनापुर आ गये तब यह समाचार धृतराष्ट्रने सुना, और वह सभामण्डपसे चलकर धीरे धीरे उनके पास पहुँचे, हमारे पाण्डुके वंशके अङ्कुर कहाँ हैं? ऐसा कहकर उन्होंने हाथ फैलाकर उन बालकोंको प्रेमसे गले लगाया, उनके शरीरोंका स्पर्श करते ही धृतराष्ट्रको अपने भाई पाण्डुकी याद आ गई, और पाण्डुकी स्मृतिमें बहनेवाले अश्रुप्रवाहने धृतराष्ट्रके शोकको नदीमातृक-आप्लावित कर दिया॥

पाण्डवेषु दृढतापरिणाहप्रायरूपतनु[2]संपदियत्ताम्।
स्पर्शनं विदधतैव दृशाऽन्धः पाणिना परिममौ धृतराष्ट्रः ॥ ८१ ॥

पाण्डवेष्विति। दृशाऽन्धः नयनरहितः स धृतराष्ट्रः पाण्डवेषु युधिष्ठिरादिषु या दृढता कायिकी शक्तिः, परिणाहो दैहिकी विशालता, तयोः प्रायो बाहुल्यम् रूपतनुसम्पदः सौन्दर्यस्य इयत्ताम् एतावत्त्वं स्पर्शनं विदधता स्पृशता पाणिना हस्तेनैव परिममौ ज्ञातवान्। प्रज्ञाचक्षुषो हि स्पर्शेनैव दृढतां विशालतां सौन्दर्यं च जानन्तीति धृतराष्ट्रोऽपि स्पृष्ट्वैव सर्वं ज्ञातवान्, तस्याप्यन्धत्वादित्यर्थः॥ ८१ ॥

आंखके अन्धे धृतराष्ट्रने पाण्डवोंमें कितनी कायिक दृढ़ता तथा विशालता है, कितनी

---

१. 'सदयो'। २. 'वल'। इति पा०।

सौन्दर्य सम्पत्ति है ! इन बातोंको केवल स्पर्श करनेवाले हाथके द्वारा ही अन्दाज कर लिया। अन्धे आदमीकी स्पर्श शक्ति कुछ विलक्षण होती है इसीसे छूकर ही वह सारी बातें जान गया ॥ ८१ ॥

दत्त्वा तं[1]त्तत्प्रत्यहं यद्यदिष्टं यावत्स्वेषामात्मजानां शतेऽपि ।
पाण्डोः पुत्रेष्वम्बिकासूनुरेतेष्वेकैकस्मिन्प्रेम तावद्बबन्ध ॥ ८२ ॥

दत्त्वेति । अम्बिकासूनुः धृतराष्ट्रः प्रत्यहं प्रतिदिनं यत् यत् वस्तु इष्टम् प्रियम् तत् तत् इष्टम् अशन-वसनादिकं दत्त्वा प्रदाय स्वेषाम् आत्मीयानाम् आत्मजानां पुत्राणां शतेऽपि यावत् यत्परिमाणं प्रेम आसीत् तावत् प्रेम एतेषु युधिष्ठिरादिषु एकैकस्मिन् प्रत्येकं बबन्ध धृतवान्। स्वपुत्रापेक्षयाऽधिकं तेष्वस्निह्यत इत्यर्थः ॥८२॥

धृतराष्ट्र प्रतिदिन जो वस्तु इन पाण्डुपुत्रोंको प्रिय होती थी वह दिया करते थे, और उनको अपने सौ पुत्रों पर जितना प्रेम था, उतना प्रेम वह प्रत्येक पाण्डव पर रखते थे ॥ ८२ ॥

एवं वत्सभावेऽपि भक्तिमत्सु तेषु निजपितृवत्सलतामसकृत्समीक्ष्य मत्सरेण [2]दुर्मनायमानो हृदयालवाले सु[3]योधनो राधेयप्रधानदु[4]र्बोध-मेधोत्सेधसविधधरणीरुहमधिरूढाम[5]कुतोरोधां विरोधविषवीरुधमेधांचक्रे ।

एवमिति । एवम् अनेन प्रकारेणेष्टवस्तुप्रदानकृपया वत्सभावे बाल्ये अपि भक्तिमत्सु गुरुजने धृतराष्ट्रादौ यथोचितां श्रद्धामावहत्सु तेषु युधिष्ठिरादिषु पाण्डवेषु निजस्य पितुः धृतराष्ट्रस्य वत्सलताम् प्रेमातिशयम् असकृत् अनेकधा समीक्ष्य दृष्ट्वा मत्सरेण अन्यशुभद्वेषेण दुर्मनायमानः (खिद्यमानः) सुयोधनः हृदयरूपे आलवाले पयोदानाय निर्मिते वृक्षाधोगर्त्ते जलाधारे राधेयप्रधानाः कर्णप्रभृतयो ये दुर्बोधाः दुष्टबुद्धयः तेषां मेधोत्सेधः बुद्ध्युन्नतिरेव सविधधरणीरुहः समीपवर्त्ती वृक्षस्तमधिरूढाम् आश्रिताम् अकुतोरोधाम् न विद्यते कुतोऽपि रोधो निवारणं यस्यास्तादृशीम् विरोधविषवीरुधम् विरोधरूपां विषलताम् एधाञ्चक्रे वर्धयामास । एधतेरन्तर्भावितण्यर्थताऽत्र बोध्या । अन्याऽपि लता क्वचनालवाले रोप्यते, तदाधारभूतः समीपे कोऽपि वृक्षोऽपेक्ष्यते, तस्या निरोधश्च प्रतिबध्यते, इयं हि विरोधविषलता दुर्योधनस्य हृदयरूप आलवाले प्ररूढा कर्णादीनां दुर्बुद्धिरूपं तरुमाश्रिता, कोऽपि रोधकश्च नैवाभूदतिदुर्ललितत्वात्तस्येति तात्पर्यम् । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः ॥

इस तरह बाल्यावस्थामें भी गुरुजन पर श्रद्धा रखनेवाले उन पाण्डुपुत्रों पर अपने

---

१. 'तेषाम्' । २. 'दुर्मनायमानो दुर्योधनो' । ३. 'दुर्योधनो' । ४. 'दुर्बोधमेधो' । ५. 'अकुतोरोधाम्' । इति पा० ।

पिताके प्रेमको बारबार देखकर डाहसे जलते हुए दुर्योधनने अपने हृदयरूप आलवालमें कर्ण-शकुनि आदियोंकी बढ़ी हुई दुर्बुद्धिरूप वृक्षपर अवलम्बित, किसी प्रकारके प्रतिरोधसे रहित, विरोधरूप विषलताको बढ़ाना प्रारम्भ किया ॥

तीव्रोदयानविनयान्दधतां क्रमेण दुर्योधनाद्यसुहृदां दुरहंकृतीनाम्।
पट्टाभिषेकमभिलष्यति फालदेशे कुट्टाकभावकुतुकं कुरुते स्म भीमः॥८३॥

तीव्रोदयानिति। क्रमेण तीव्रः दारुणः उदयः प्रकटीभावो येषां तांस्तथोक्तान् अविनयान् दुष्टचेष्टितानि दधताम् कुर्वताम् दुरहङ्कृतीनां निर्मूलाहङ्कारपूर्णानाम् दुर्योधनाद्यसुहृदाम् दुर्योधनादिशत्रूणाम् पट्टाभिषेकम् यौवराज्याभिषेकम् अभिलष्यति कामयमाने फालदेशे ललाटे भीमः कुट्टाकमुष्टिकुट्टने ताडने कुतुकम् कौतूहलं कुरुतेस्म। कटुपाकानविनयान्धारयतां निर्मूलगर्वशालिनां तेषां दुर्योधनादिशत्रूणां ललाटे यौवराज्यमिच्छति सति भीमस्तदुपरिप्रहारं कर्त्तुमैच्छत्, भीमो न मृष्यतीति चिन्तया ते यौवराज्यान्निराशा अजायन्तेत्यर्थः॥ ८३॥

क्रम क्रमसे कठोर अविनयोंको प्रकटित करने वाले एवं मिथ्या अहङ्कारसे भरे हुए दुर्योधनादि रिपुगणके ललाट जब यौवराज्याभिषेक होनेकी इच्छा करने लगे तब भीमने उन पर घूँसा ताननेका कौतुक किया। अर्थात् भीम नहीं सहन करेगा इसी भयसे दुर्योधनादि पाण्डव-शत्रुओंको यौवराज्यसे निराश हो जाना पड़ा॥ ८३॥

पञ्चधा प्रवहन्तीनां पवनात्मज एव सः।
कौरवक्रोधसिन्धूनां क्रमात्संगमभूरभूत्॥ ८४॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते प्रथमः स्तबकः।

पञ्चधेति। सः प्रसिद्धपराक्रमो यतोऽसौ पवनात्मजः वायुतनयः भीमः एव पञ्चधा पञ्चसु शाखासु युधिष्ठिरादिषु विभिद्य प्रवहन्तीनां स्यन्दमानानां क्रोधसिन्धूनां कोपनदीनां सङ्गमभूः सम्मेलनभूमिः अभूत्। यद्यपि दुर्योधनादीनां धार्त्तराष्ट्राणां कोपस्य पञ्चापि भ्रातरः पात्राणि, तेषां कोपनदीप्रवाहः पञ्चधाऽपि वहति, तथापि भीमबलाश्रयतया युधिष्ठिरादीनां धार्त्तराष्ट्रास्तस्मै एव समधिकमकुप्यन्निति मन्ये भीमे सर्वेऽपि कोपनदीप्रवाहाः समगंसतेति भावः॥ ८४॥

युधिष्ठिरादि पांच पाण्डवों पर होनेके कारण यद्यपि दुर्योधनादिकी कोपरूप नदी पांच मार्गोंसे बहती थी, तथापि उन नदियोंके सङ्गमका स्थान वायुपुत्र भीम ही थे। भीमके बल पर युधिष्ठिरादि निर्भर थे, अतः सर्वाधिक कोप उसी पर केन्द्रित हुआ था॥

इति मैथिलपण्डित-श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत-'प्रकाशे'
प्रथमस्तबक 'प्रकाशः'॥

---

१. 'फालभागे'। इति पा०।

द्वितीयः स्तबकः

एकदा तु ते [1]सर्वे सुपर्वसरितः सलिलेषु विहृत्[2]य समुत्तीर्णा वीचीभिरनीचीभिरुत्कूलितफेनकूटेष्विव पटगृह[3]वाटेषु परिगृहीतमनोहराम्बरपटीरहाराभ्यवहाराः कुमाराः [4]कुशलकुशीलवकुलशीलितविचित्रवादित्रकलशीरवविवशीकृतमन[5]सः सुखमासामासुः ।

एकदेति । एकदा एकस्मिन् कस्मिंश्चित् समये ते सर्वे कुमाराः राजपुत्राः कौरवाश्च सुपर्वणां देवानां सरितो गङ्गायाः सलिलेषु जलेषु विहृत्य जलक्रीडापूर्वकं स्नानं कृत्वा समुत्तीर्णाः तटभुवमायाताः सन्तः अनीचीभिः उन्नताभिः वीचीभिः तरङ्गैः उत्कूलितेषु तटदेशं प्रापितेषु फेनपटलेषु गाङ्गपयःफेनराशिष्विव स्थितेषु पटगृहवाटेषु वस्त्रनिर्मितगृहकक्ष्यान्तरेषु परिगृहीताः आसादिताः—मनोहरम् अम्बरं वस्त्रम् , पटीरः चन्दनलेपः, हारो मणिमाला, अभ्यवहारः भोजनम्—मनोहराम्बरपटीरहाराभ्यवहारा यैस्ते तथोक्ताः सन्तः कुशलानां गानविद्यानिपुणानां कुशीलवानां गायकानां कुलेन समुदायेन शीलितानां वाद्यमानानां विचित्रवादित्राणाम् नानाविधवाद्यानाम् कलशीनां घटवाद्यानां च रवैः शब्दैः वशीकृतानि आकृष्टानि मनांसि येषां ते तथोक्ताः सुखम् अक्लेशम् आसामासुः अवर्त्तन्त । 'गायकास्तु कुशीलवाः' इत्यमरः ॥

एक समय सभी राजकुमार कौरव तथा पाण्डव देवसरित् गङ्गाके जलमें विहार करके तट पर आये, पटनिर्मित छोलदारियोंमें—जो ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों बड़ी बड़ी तरङ्गोंने फेनोंकी राशि लाकर किनारे रख दी हो—साफ सुन्दर वस्त्र पहने, चन्दन लगाया, मणिमाल्य धारण किये, भोजन किया, फिर अच्छे अच्छे गायकों द्वारा बजाये गये नाना प्रकारके बाजे तथा कलशीवाद्यके शब्दने उनका मनोविनोद किया—इस प्रकार वे सुखसे रहते थे ।

रहसि नलिनतल्पे रत्नपर्यङ्ककल्पे
दिनविरतिसमीरैः सेव्यमानः स भीमः ।
तटभुवि कुसुमानां तादृशैर्गन्धपूरै-
रधिकमलसताया हानिदद्रौ निदद्रौ ॥ १ ॥

रहसीति । कुसुमानां पुष्पाणां तादृशैः वचसाऽप्रकाश्यैः गन्धपूरैः सुगन्धैः अलसताया निद्रायाः अनुष्ठाने आलस्यस्य हानिदाः ह्रासकराः द्रवः वृक्षा यस्यां तादृश्यां तथोक्तायाम् तटभुवि गङ्गातटभूमौ दिनविरतिसमीरैः सायङ्कालिक-

---

१. 'सर्वेऽपि' । २. 'चिरं विहृत्य' । ३. 'वाटीषु' । ४. 'कुशलकुशीलवबालककुलपरिशीलित' । ५. 'मानसाः' ।

वायुभिः सेव्यमानः आराध्यमानः सः प्रसिद्धपराक्रमो भीमः द्वितीयपाण्डुः रहसि एकान्ते रत्नपर्यङ्ककल्पे रत्ननिर्मितखट्वोपमेये नलिनतल्पे कमलदलशयनीये अधिकं गाढं निदद्रौ सुष्वाप। यत्र वृक्षाः स्वसुमैः प्रसारितैः सुगन्धैर्निद्रामाह्वयन्तीव तादृशी या जाह्नवीतटभूमिस्तस्यां क्वचनैकान्तभागे भीमो नलिनदलतल्पमास्तीर्य सुखमस्वाप्सीदित्यर्थः॥ १॥

फूलोंकी प्रखर गन्धसे निद्रा-सेवनके सम्बन्धमें आलस्यको दूर करनेवाले वृक्षोंसे युक्त गङ्गाके तट पर कहीं एकान्तमें सायङ्कालिक वायुसे सेवित भीम रत्ननिर्मित पर्यङ्ककी तुलना करनेवाले कमल-दलकी सेज पर गाढ़ निद्रामें सो गये॥ १॥

अथ निशीथे तथाभूतस्य तस्य जिघांसया कुरुनरेन्द्रनन्दनेन चोदितैर्नरेन्द्रैरुपेत्य युगपदेव झटिति निभृतं[1] समुद्घाटितेषु नियन्त्रणपेटकेषु—

अथेति। अथ भीमे निद्रामग्ने सति निशीथे अर्धरात्रे तथाभूतस्य गाढसुप्तस्य भीमस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया कुरुनरेन्द्रस्य धृतराष्ट्रस्य नन्दनेन पुत्रेण दुर्योधनेन चोदितैः भीमवधार्थमादिष्टैः नरेन्द्रैः मान्त्रिकैर्विषवैद्यैः (ये मन्त्रद्वारा वशगान् सर्पान्पालयन्ति, यथोपयोगं तान् व्यापारयन्ति च तैः) उपेत्य भीमसकाशमागत्य युगपत् सहैव झटिति शीघ्रं निभृतं प्रच्छन्नभावेन नियन्त्रणपेटकेषु सर्पधारणमञ्जूषासु समुद्घाटितेषु विवृतमुखेषु कृतेषु, (सर्पा बहिरेत्य जिह्वाप्रसारान् वितेनुरिति वक्ष्यमाणेन वाक्यपूर्त्तिः। दुर्योधनादिष्टा विषवैद्याः भीमस्य दंशनाय बहून्सर्पान् युगपदेव व्यापारयामासुरित्यर्थः। 'नरेन्द्रो विषवैद्येऽपि' इति विश्वः॥

भीमके सो जाने पर अर्धरात्रमें सोये हुए भीमको मरवा देनेकी इच्छासे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन द्वारा प्रेरित विषवैद्योंने भीमके पास जाकर एक ही साथ झटसे छिपकर अपनी अपनी पिटारियोंका मुख खोल दिया। (जो लोग मन्त्र द्वारा सांपोंको अधीन करके रखते हैं उन्हें विषवैद्य कहा जाता था, आजकल उन्हें 'संपेरा' कह सकते हैं, नियन्त्रण पेटक उस पेटारीको कहते हैं जिसमें सांप रखे जाते हैं)॥

सुते पितृस्वादिमसंप्रदायशुशुत्सयेव श्वसनाशनेन्द्राः।
समीरसूनुं समुपेत्य जिह्वाबहिःप्रसारान्बहुशो वितेनुः॥ २॥

सुत इति। श्वसनो वायुरशनं भक्ष्यं येषां ते श्वसनाशनाः सर्पास्तेषामिन्द्राः प्रधानसर्पाः सुते (वायोरिति शेषः) भीमे पितरि वायौ यः स्वादिमा स्वादः (सर्पैर्भक्ष्यमाणे वायौ यः स्वादः) तस्य यः सम्प्रदायः परम्परानुवृत्तिः पितुः पुत्रे सङ्क्रमः तस्य शुशुत्सा शोधनेच्छा परीक्षाकामना तया इव समीरसूनुं भीमम् समुपेत्य बहुशः अधिकम् बहिःजिह्वाप्रसारान् रसनाबहिष्करणव्यापारान् वितेनुः

[1] 'निभृतसमुद्घाटितेषु'। इति पा०।

चक्रुः । सर्पमुख्या भीमस्य समीपमागत्य स्वीया रसना बहिः प्रसारयामासुः, मन्ये ते परीक्षितुमिच्छन्ति यदस्माभिर्भक्षितपूर्वे वायौ यः स्वाद आसीत् सः स्वादो वायुसुते भीमे विद्यते न वेति । उपजातिर्वृत्तम् , हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारश्च ॥ २ ॥

संपेरों द्वारा छोड़े गये सर्पगण भीमके पास आकर अपनी अपनी जीभको ज्यादा बाहर निकालने लगे, उनका यह व्यापार ऐसा लगता था मानों वे इस बातकी परीक्षा लेना चाह रहे थे कि भीमके पिता वायुमें जो स्वाद है वह पुत्र भीममें परम्परा–क्रमसे आया है अथवा नहीं । सांप वायुभक्षी होनेके कारण वायुके स्वादको पहचानते हैं, इस समय भीमके स्वादकी जानकारीके लिये वह जीभ फैला रहे हैं ॥ २ ॥

सुप्तस्य तस्य तु सुयोधनभृत्यमुक्ता
वाताशनाश्च सकला वनदेवताश्च ।
आशीर्द्वयं वपुषि चायुषि च प्रतेनुः
पूर्वा न तत्र चरमैव पुपोष वीर्यम् ॥ ३ ॥

सुप्तस्येति । दुर्योधनभृत्यमुक्ताः दुर्योधनविषवैद्यप्रेरिताः वाताशनाः सर्पाः च सकलाः वनदेवताश्च तस्य सुप्तस्य भीमस्य वपुषि काये आयुषि जीवनादृष्टे च आशीर्द्वयम् द्विविधाः आशिषः दंष्ट्राव्यापारान् शुभकामनाश्च 'आशीः शुभाशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः । चक्रुः । तत्र द्वयोराशिषोर्मध्ये पूर्वा प्रथमा सर्पदंष्ट्राव्यापृतिरूपाऽऽशीः वीर्यं भीमप्राणहरणसामर्थ्यम् न पुपोष न चरितार्थवती, चरमा वनदेवताकृता भीमशुभाशंसैव वीर्यं भीमरक्षणरूपं सामर्थ्यं पुपोष कृतवतीत्यर्थः । सर्पैः कृतेऽपि शतशो दंष्ट्राव्यापारे वनदेवताप्रसादाद् भीमो नाम्रियतेति तात्पर्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

दुर्योधनके भृत्यों द्वारा भीमको मारनेके लिये छोड़े गये सर्पोंने आशीः—दंष्ट्राव्यापार किया और सारे वन–देवताओंने आशीः–शुभकामना की, आशीर्द्वयका प्रयोग एक ही साथ किया गया, इन दोनोंमें एक प्रथम आशीः भीमके शरीर पर तथा दूसरी आशीः भीमके आयु पर प्रयुक्त हुई । इन दोनों आशिषोंमें शरीर वाली आशीःका कुछ फल नहीं हुआ, केवल आयुवाली आसीःने ही अपना वीर्य दिखलाया । सांपोंके काटते रहने पर भी वन–देवताओंके आशीर्वादसे भीम नहीं मरे ॥ ३ ॥

मर्मदत्तदशना भुजङ्गमा मारुतेर्वपुषि सुप्तिभूरुहः ।
मुष्टिमेयतनवो विरेजिरे मूलिका इव बहिर्विनिर्गताः ॥ ४ ॥

मर्मेति । भुजङ्गमाः सर्पाः मारुतेः वायुसुतस्य भीमस्य वपुषि शरीरे मर्मसु हृदयादिमर्मस्थानेषु दत्तदशनाः प्रयोजितदंष्ट्राः सन्तः बहिर्विनिर्गताः भूमेः बहिर्निः-

२. 'रसना' । इति पा० ।

ष्ठुताः मुष्टिमेयतनवः समाहृताङ्गुलिः करो मुष्टिस्तेन मेया परिच्छेद्या तनुः येषां तादृशाः सर्पा मूलिकाश्च ते तथोक्ताः सर्पाः सुप्तिभूरुहः शयनतरोः मूलिकाः मूलानीव विरेजिरे। भीमे कृतदशनप्रहाराः सर्वात्मनोत्थितवपुषश्च ते सर्पाः शयनतरोर्मूलानीव प्रतिबभासिरे इत्याशयः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। रथोद्धतावृत्तम् ॥ ४ ॥

दुर्योधन द्वारा छुड़वाये गये सर्पोंने भीमकी देहके मर्म-स्थानों पर अपने दाँत गड़ाकर लटक गये, उनकी देह मुष्टिमेय प्रतीत होती थी, वह सर्प ऐसे प्रतीत होते थे मानों शयनरूपी वृक्षकी जड़ें बाहर निकल आयी हों ॥ ४ ॥

अन्येद्युरपि[1] पुनराजीवन्तं निद्रारुणनयनराजीवं तं स मुग्धधीः स्निग्ध इव सजग्धिकेलिकायामारालिकदापितकवलनिचोलितकरालगरलविह्वलं प्रलम्बितशिरसं[4] रज्जुभिः परिणाह्य परिणाहिनीभिरसुहृदां हृदयशूलमपि[5] शूलकीलिते निर्जरसरिदन्तर्जले विसर्जयामास। ५

अन्येद्युरिति। मुग्धा अज्ञानोपहता धीर्यस्य सः मुग्धधीः सः दुर्योधनः स्निग्धः प्रेमयुतः सुहृत् मित्रमिव (कपटमित्रम्) अन्येद्युः परस्मिन् वासरे (सर्पदंशतोऽप्यमृते भीमे) आजीवन्तं प्राणान् धारयन्तं निद्रया अरुणे रक्ताभे नयने एव राजीवे रक्तकमले यस्य तं तथोक्तम् भीमम् पुनः भूयः सजग्धिकेलिकायाम् सहभोजनक्रीडाप्रसङ्गे आरालिकैः पाचकैः (कर्तृभिः प्रयोज्यभूतैः) दापितैः कवलैर्ग्रासैः निचोलितेन अन्तर्हितेन करालेन गरलेन भीषणविषेण विह्वलम् मूर्च्छितम् अतएव प्रलम्बितशिरसम् अस्तचैतन्यतया स्थिरोर्ध्वमस्तकम् विषवेगवशेनोत्थितकचकलापं वा परिणाहिनीभिः विशालाभिः रज्जुभिः परिणाह्य बन्धयित्वा (भीममिव) असुहृदाम् अमित्राणाम् दुर्योधनादीनाम् हृदयशूलम् मनोदुःखम् अपि शूलकीलिते स्थूणाभिर्व्याप्ते निर्जरसरितः गङ्गाया अन्तर्जले पयसि विसर्जयामास पातितवान्। पुनरपरस्मिन्नहनि यदा दुर्योधनो भीमं सर्पदंशितमपि यदा जीवन्तं निद्रारक्तनयनं चापश्यत्तदा स तं सहभोजनाय न्यमन्त्रयत्तत्र च तस्मै सूदद्वारा प्रच्छाद्य विषमदापयत्तद्वेगविह्वलं घूर्णमानशिरसं च तं गङ्गाजले पातयामास, यत्र जले प्रागेव तद्वपुषोऽबहिर्भावाय स्थूणा निखाता आसन्, तद्विसर्जनेन च दुर्योधनः स्वं हृदयशूलमपि विसर्जितममंस्तेत्याशयः। 'आरालिका आन्धसिकाः' इति पाचकपर्यायेष्वमरः।

दूसरे दिन भी जब फिर भीम जीता ही देखा गया, उसकी आँखें सोते रहनेसे लाल कमलतुल्य हो रही थीं, तब दुर्योधन मुग्ध हो गया, उसने भीमको सहभोजन-केलिके लिये निमन्त्रित किया, और कपट मित्र बनकर पाचकोंके द्वारा दिये गये आहारमें छिपा

---

१. 'अपरेद्युः'। २. 'सग्धि', 'जग्धि',। ३. 'आरालिककरदापित'।
४. 'लम्बिशिरसम्'। ५. 'हृदि शूलम्'। इति पा०।

कर भयङ्कर विष दिलवा दिया, उस विषके वेगसे भीम विह्वल हो गये, उनका शिर लटक गया, तब उनको दुर्योधनने लम्बी-लम्बी रस्सियोंमें बंधवाकर शत्रुओंके हृदय-शूलके साथ साथ गङ्गाके गर्भमें फेंकवा दिया जहाँ पर पहले ही से कीलें गाड़ कर रखी गई थीं कि भीमका शरीर कहीं ऊपर तैरने न लग जाय ॥

तेषां तदानीं धृतराष्ट्रजानां तीरे च नीरे दिविषत्तटिन्याः ।
मरुत्सुतं मारयितुं प्रवीरं सारा गुणाः साधनतामवापुः ॥ ५ ॥

तेषामिति । तदानीं तस्मिन्काले तेषां धृतराष्ट्रजानां दुर्योधनादीनां दिविषदो देवाः तेषां तटिनी नदी गङ्गा तस्याः तीरे तटप्रदेशे नीरे जले च प्रवीरम् महाशूरं भीमं मारयितुं हन्तुं साराः सूदाः गुणाः रज्जवश्च साधनताम् प्रयोजकत्वम् अवापुः प्राप्ताः । सूदास्तटे विषं दत्त्वा रज्जवश्च नीरे तं बद्ध्वा दुर्योधनस्य साहाय्यं कृतवन्त इत्यर्थः । यद्वा सारा गुणाः भीमगताः श्रेष्ठा बलादयः साधनतां प्रापुस्तै-रेव सद्भिर्भीमस्य द्वेष्यतया वध्यत्वेनावधारणात् । 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे' इति विश्वः । अत्र भीमगतगुणानामेव तन्मरणसाधनतया वर्णना-ल्लेशो नामालङ्कारः, 'लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्' इति तल्लक्षणात्॥५॥

उस समय दुर्योधनादि द्वारा बहादुर भीमको मारनेकी जो चेष्टायें गङ्गाके तट पर या जलमें की जा रही थीं, उनमें भीमके गुण वीरत्व आदि ही कारण बन गये थे, अथवा गुण-पाचक, सार-विषदेनेवाले ही भीमके मरणमें साधन बन रहे थे ॥ ५ ॥

ततः पातालभुवि तदागमनकौतुकिना वासुकिना संमानितः स धृति-मानितस्ततोऽष्टासु दिशासु तदनुगुणपरिगणनं दिन[१]गणमत्ययशङ्किभिरि-तरैरपत्यैः सह विचित्य 'हा[२] वत्स ! रिपुभर्त्सन भीम ! क्व वा निषीदसि ?' इति विषीदन्त्याः कुन्त्या नवममपि वासरमनवममेव संजनयन् प्रभञ्जन-भूरमृताञ्जनैरिव दृशौ रञ्जयामास ।

तत इति । ततः भीमस्य जले निपातनात् परतः पातालभुवि नागलोके तदा-गमनकौतुकिना भीमागमनजन्याश्चर्ययुतेन कुतोऽयमागत इति संभ्रान्तेन वासु-किना नागलोकाधिपेन संमानितः कृतातिथ्यः सः धृतिमान् गंभीरः भीमः इतस्ततः समन्ततः अष्टासु दिशासु पूर्वादिषु तदनुगुणपरिगणनं दिनगणं दिक्संख्यासमान-सङ्ख्यकम् अष्टौ वासरानित्यर्थः, अत्ययशङ्किभिः भीमापायशङ्कायुतैः अपत्यैः युधि-ष्ठिरादिभिः स्वपुत्रैः सह साकं विचित्य अन्विष्य 'हा वत्स पुत्र, रिपुभर्त्सन शत्रु-मर्दन, भीम, क्व वा कुत्र निषीदसि तिष्ठसि ? इति एवं प्रकारेण विषीदन्त्याः खेदमनुभवन्त्याः कुन्त्याः नवमम् अपि वासरम् दिनम् अनवमम् (नवमभिन्न-

---

१. 'परिगणनदिनगणात्ययशङ्कितैः' । २. 'विचित्य-वत्स' । इति पा० ।

मिति विरोधप्रतिभासः, न अवमम् शून्यमनवमम् अशून्यम् इति परिहारः) अशून्यम् एव सञ्जनयन् कुर्वन् प्रभञ्जनसूनुः वायुसुतः भीमः अमृताञ्जनैरिव सुधानिर्मितचक्षुःप्रसाधनद्रव्यैरिव कुन्त्याः दृशौ रञ्जयामास स्वागमनेन प्रसादं गमयामास। भीमः पाताले तदागमनमाश्चर्यकरमिति चकितेन वासुकिनागेन सत्कृतः, तत्राष्टौ दिवसाननैषीत्तावदमी तद्भ्रातरो युधिष्ठिरादयोऽष्टासु दिशासु तमन्विष्टवन्तः, अमिलिते च तस्मिन् कुन्ती भृशं विलपितवती, नवमे चाहनि भीमो-मातुः पुर उपस्थाय तस्या दृशौ प्रसन्ने चकारेत्यर्थः।

इसके बाद भीमके पातालमें पहुँच जानेसे वासुकि नागको बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने भीमका सत्कार किया, इधर आठो दिशाओंमें उनकी संख्याके बराबर आठ दिनों तक कुन्ती अपने पुत्रों युधिष्ठिरादिकोंके साथ भीमको खोजकर—हाय बेटा शत्रुमर्दन भीम तूं कहाँ जाकर बैठ रहा है! इस प्रकार विलाप करने लगी, उसके नवम दिनको भीमने सूना नहीं जाने दिया, वह वायुपुत्र आकर कुन्तीकी आंखोंको शीतल कर दिया मानों उसने कुन्तीको आंखोंमें अमृतका अञ्जन लगा दिया हो॥

आगतस्य तस्य मदावलायुतबलावहानां पृदाकुपरिषदुपदापितदशकलशपीयूषाणां निषेवणेन विशेषितपरिपोषंगात्रं सवित्रीभुजान्तर इव सोदरकौरवहृदयेऽपि मोदविषादसंपदौ न ममतुः।

आगत·येति। आगतस्य पाताललोकात् समायातस्य तस्य भीमस्य—मदावलाः हस्तिनः अयुतम् दशसहस्राणि तेषां बलमावहन्ति प्रापयन्ति ये तेषाम् दशसहस्रकरिबलसमबलप्रदायिनाम् पृदाकुपरिषदा सर्पसमाजेन उपदापितानाम् उपहृतानाम् दशकलशपीयूषाणां कलशीभिर्घटैः परिमितानाम् अमृतानां निषेवणेन पानेन विशेषितं परिपोषं समधिकपुष्टं गात्रं वपुर्यस्य तादृशम्, (गात्रमिति विशेष्यं पृथक्कल्पनीयम्) सवित्र्याः जनन्याः मातुः कुन्त्याः भुजान्तरे बाहुयुगलमध्यभागे न ममौ इति क्रियाध्याहारः कर्त्तव्यः। मोदविषादयोः हर्षशोकयोः सम्पदौ संवृद्धी च क्रमशः सोदरकौरवयोः हृदये अपि न ममतुः। कुन्ती तमालिङ्ग्य क्रोडे उपवेशयितुं कामयमाना अपि स्थूलीभूततया तस्य तथा कर्त्तुं नापारयदिति स तद्भुजान्तराले न ममौ, युधिष्ठिरादिसोदरा हृदयेऽभिमानमानन्दं कौरवाश्चापरिमितं शोकमासादयामासुरिति भावः॥

भीमके आने पर दश हजार हाथिओंके बलको देनेवाले सर्पसमाजसे उपहृत दशघड़ोंमें भरे अमृतको पीकर मोटा हुआ उसका शरीर उसकी माता कुन्तीकी अंकपाली (अंक-

---

१. 'पृदाकुपरिवृढदापित'। २. 'पानाद्विशेष'। ३. 'परिपोषपात्रं गात्रं'।
४. 'इव कौरवहृदयेऽपि'। इति पा०।

वार) में नहीं अंटा और उनके सोदरोंके हृदयमें आनन्द तथा शत्रुओं-कौरवोंके हृदयोंमें विषाद नहीं अंटा ।

तदनन्तरम् ,

काष्ठां परां कार्मुककौशलस्य काष्ठाः परास्तानपि तद्यशोऽपि ।
प्रज्ञादृगारोपयितुं प्रवृत्तो व्यज्ञापयद्विष्णुपदीतनूजम् ॥ ६ ॥

तदनन्तरमिति । तदनन्तरम्—ततः पश्चात्—एतदुत्तरवाक्यान्वयि ।

काष्ठामिति । तदनन्तरं प्रज्ञादृग् अन्धः धृतराष्ट्रः तान् युधिष्ठिरान्पञ्चपाण्डवान् दुर्योधनान् शतं स्वपुत्रांश्च कार्मुककौशलस्य धनुर्विद्यायाः परां काष्ठां चरमं शिखरम् आरोपयितुम् , तेषां पाण्डवानां कौरवाणाञ्च यशः कार्मुककौशलजनितां कीर्त्तिम् अपि पराः काष्ठाः अन्याः दिशः सर्वाः प्राचीप्रभृतीः दिशः आरोपयितुम् अपि प्रवृत्तः कृतमतिः सन् विष्णुपद्याः गङ्गायाः तनूजं पुत्रं भीष्मम् व्यज्ञापयत् स्वाभिप्रायमसूचयत् इत्यर्थः । समुच्चयोऽलङ्कारः, अनेकक्रियायौगपद्यात् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ६ ॥

इसके बाद प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रने उन बालकों पाण्डुपुत्रों तथा अपने पुत्रोंको धनुर्विद्यामें खूब निपुण करने तथा उन बालकोंकी धनुर्विद्या-दक्षताजन्य यशको भी सभी दिशाओंमें फैलानेकी इच्छा करके गङ्गाके पुत्र भीष्मके प्रति अपना अभिप्राय प्रकट किया ॥ ६ ॥

सोऽपि कृत्यविदामग्रणीरपरेणेव शरजन्मना कृपेण बहुकृपेण निरवद्यवीर[1]यशोनिषद्यां चापविद्यामापाद्यापि तां पुनरुक्तयितुं दिशि दिशि जैत्रगुणं पौत्रगणं महता धननिवहेन सह विविधधनुरागमप्राणस्य द्रोणस्य चरणयोरु[2]पदीचकार ।

सोऽपि कृत्येति । कृत्यविदाम् कर्त्तव्यार्थज्ञानशालिनाम् अग्रणीः श्रेष्ठः सः भीष्मः अपि अपरेण द्वितीयेन शरजन्मना स्कन्देनेव तत्तुल्येनेत्यर्थः, बहुकृपेण सातिशयदयालुना कृपेण कृपाचार्येण निरवद्यानां निर्दोषाणाम् वीरयशसां शौर्यप्रभवकीर्त्तिसमुदयानां निषद्याम् आपणरूपाम् (एकत्रोपलब्धिभूमितया निषद्या-पदोपयोगः, आपणे हि सर्वमेकत्रोपलभ्यते) चापविद्याम् धनुर्वेदम् आपाद्य शिक्षयित्वाऽपि ताम् आवर्त्तयितुं पुनरुक्तयितुम् .. .वयितुम् दिशि दिशि सर्वासु दिक्षु जैत्रगुणम् जयशीलगुणेन ख्यातम् पौत्रगणं कौरवान् पाण्डवांश्च महता पूर्णेन धननिवहेन सम्पत्तिभारेण सह विविधधनुरागमप्राणस्य नानाविधधनुर्वेदरहस्यज्ञस्य द्रोणस्य तदाख्यस्य चरणयोः उपदीचकार उपहृतवान् । कर्त्तव्यविद् भीष्मोऽपि स्कन्दोपमेन कृपाचार्येण तान् शिक्षयित्वा तेषां विद्यायाः प्रकर्ष-

१. 'यशसो' । २. 'उपहारीचकार' । इति पा० ।

मापादयितुं दिशि दिशि ख्यातविद्यागुणं पौत्रगणं महताऽर्थराशिना सह द्रोणाय समर्पितवानित्याशयः । 'आपणस्तु निषद्यायाम्' इति-'उपायनोपहारोपदापदानि समानार्थानीति च कोषरसिकाः ॥

कर्त्तव्य जाननेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मपितामहने दूसरे स्कन्दके सदृश अस्त्रज्ञ तथा अति कृपालु कृपाचार्यके द्वारा अनिन्दनीय वीरयशका आश्रयभूत धनुर्विद्याकी शिक्षा दिला करके भी उनकी धनुर्विद्याको और अधिक दृढ़ करनेके लिये दिशाओंमें विदित-पराक्रम वाले अपने पौत्रोंको पूर्ण अर्थराशिके साथ नाना प्रकारके धनुर्वेदके रहस्यज्ञ द्रोणके चरणोंमें सौंप दिया ॥

सिन्धुजातकलशीभुवोस्तयोः [1]स्निग्धभावमवलोक्य तादृशम् ।
तत्र पौरनिकरः समाचरच्चित्रपूरजठरे निमज्जनम् ॥ ७ ॥

सिन्धुजातेति । तयोः सिन्धुजातः गाङ्गेयो भीष्मः, कलशीभूः द्रोणः, तयोः तादृशं स्निग्धभावम् अन्योन्यानुरागम् अवलोक्य दृष्ट्वा तत्र हस्तिनापुरे पौरनिकरः नगरवर्त्ती लोकः चित्रपूरस्य आश्चर्यरसस्य जठरे मध्ये निमज्जनं समाचरत् । समानविद्यानां परस्परयशःपुरोभागितानियमेऽपि भीष्मेण सह द्रोणस्य तादृशं प्रेमाणमालोक्य हस्तिनापुरवासिनो महति विस्मये निपेतुरित्याशयः । सिन्धुजातं समुद्रचयः कलशीभूश्चागस्त्यस्तयोः प्रेम विस्मयावहं भवेदेवेति चमत्कारः । अनन्तकविरयं द्रोणं कलशभुवमनेकधोक्तवानिति ध्येयम् ॥ ७ ॥

सिन्धुजात-गङ्गासुत भीष्मपितामह तथा कलशीभू-द्रोणमें इस तरहकी गाढ़ी प्रीतिको देखने वाले पुरवासीजन आश्चर्य-रसके मध्यमें डूब गये । सिन्धुजात-समुद्र समूह, कलशीभू-घटोद्भव अगस्त्य इनमें प्रेमका होना आश्चर्यकी बात है ही, परन्तु सिन्धुजातका अर्थ भीष्म एवं कलशीभूका द्रोण लिया जायगा तब प्रसङ्गका अर्थ साफ हो जायगा ॥ ७ ॥

कुमारास्तूर्णमारुक्षन् कुम्भयोनेरनुग्रहात् ।
[2]कोटिं कोदण्डसारस्य गुणिनस्ते गुणा इव ॥ ८ ॥

कुमारा इति । गुणिनः शौर्यादिगुणसम्पन्नाः कुमाराः युधिष्ठिरादयो दुर्योधनादयश्च कुम्भयोनेर्द्रोणस्य अनुग्रहात् कृपावशात् कोदण्डसारस्य धनुर्विद्यानैपुण्यस्य कोटिम् उत्कर्षं परां काष्ठां कोदण्डसारस्य धनुःश्रेष्ठस्य गुणाः मौर्वीसूत्राणि कोटिम् तदग्रदेशमिव तूर्णम् आरुक्षन् आरूढाः, यथोत्तमस्य धनुषो गुणो नम्यमानः सन् शीघ्रमेव कोटिमाटीकते, तथैव द्रोणानुग्रहवशाद्युधिष्ठिरादयस्त्वरितमेव धनुर्विद्यायां नैपुण्यमलभन्तेत्याशयः ॥ ८ ॥

जिस प्रकारसे धनुषकी प्रत्यञ्चा अच्छे धनुष पर झटसे अग्रदेशमें पहुँच जाती है, उसी

---

१. स्नेहभाव'। २. 'कोटीम्'। इति पा०।

प्रकार वे युधिष्ठिरादि राजकुमार द्रोणाचार्यके अनुग्रहसे शीघ्र ही धनुर्वेदकी कोटि पर-रहस्य पर पहुँच गये ॥ ८ ॥

कूलस्थस्यानुकुर्वन्कुरुसुतसदसः कुम्भयोनेः कदाचि-
त्स्नातुं मध्ये जलानां चिरकृतवसतेः सिन्धुभूवर्धमानः ।
आदौ पादौ निपीड्य स्फुटकमलरुचौ बिभ्रदन्तेवसत्त्वं
ग्राहो जग्राह कश्चित्स्वयमपि विजयास्त्रागमान्तं महान्तम् ॥ ९ ॥

कूलस्थस्येति । कदाचित् कूलस्थस्य गङ्गातटस्थितस्य कुरुसुतसदसः धर्मराजादि-शिष्यमण्डलस्य अनुकुर्वन् अनुकरणपरः सिन्धुभूवर्धमानः गङ्गानदीरूपभूमौ प्रवृद्धः कश्चिद् ग्राहः नक्रः जलान्तं मध्येऽन्तः पयसि स्नातुं स्नानाय चिरकृतवसतेः अधिककालपर्यन्तं स्थितवतः तस्य कुम्भयोनेः द्रोणस्य स्फुटकमलरुचौ पादौ चरणौ निपीड्य नितरां पीडयित्वा अन्तेवसत्त्वं समीपस्थत्वं च बिभ्रत् सन् स्वयमपि विजयास्त्रागमेन अर्जुनास्त्रप्रहारेण महान्तम् भीषणमन्तमवसानं जग्राह प्राप । अत्र—गङ्गातटवर्त्ति–युधिष्ठिरादयो यथा द्रोणशिष्यास्तथैव तच्छिष्यतां कामयमानः ताननुकुर्वन् कश्चिद् ग्राहः चिराय जले स्नानं कुर्वतो द्रोणस्य समीपमेत्य तत्पादौ निपीड्य वन्दित्वा च जयप्रदास्त्रवेदस्यान्तं प्रापेत्यर्थो ध्वन्यते । अत्रार्थे सिन्धुभुवा गाङ्गेयेन वर्धमानस्य पोषितस्येत्येवं विभक्ति विपरिणमय्य कुरुसुतसदोपि विशेषणीयम् । कदाचित्स्नातुं गङ्गामवतीर्णस्य द्रोणस्य चरणग्राही कश्चिन्मकरोऽर्जुनेन बाणद्वारा हत इति पौराणिकी कथाऽत्र ध्यातव्या । स्रग्धरावृत्तम्—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ॥ ९ ॥

एक समय युधिष्ठिरादि कुरुवंशीय तट पर बैठे थे, द्रोणाचार्य स्नान करनेके लिये गङ्गाजलमें उतरे और देर तक स्नान करते रहे, इतनेमें एक ग्राह समीप आकर उनके चरणको जोरोंसे पकड़ लिया, जो उनके चरण विकसित कमलकी तरह थे, और स्वयं भी अर्जुनके बाणके आनेसे भीषण अन्तको प्राप्त हुआ । वह ग्राह मानों तट पर बैठे युधिष्ठिरादिकी देखा देखी द्रोणका अन्तेवसत् छात्र बन गया, उनके चरण छुए, और विजयप्रद धनुर्विद्याकी शिक्षा ली यह भी अर्थ प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

ततस्ते सर्वोत्तरा अपि शरासनेषु[1] दक्षिणाः 'गुरुदक्षिणां कुरुत मह्यं द्रुह्यतो द्रुपदस्य युधि बलाद्गृहीतस्य समर्पणम्' इति गुरुणा चोदिताः सर्वेऽप्यहंपूर्विकया कयापि[2] विमतेषु कृतावज्ञसेनं याज्ञसेनं पुरं निरुध्य चिरमयुध्यन्त ।

ततस्त इति । ततः तदनन्तरम् ते युधिष्ठिरादयः सर्वोत्तराः सर्वविधधनुर्वेद-

१. 'शरासेषु' । २ पूर्विकया विमतेषु' । इति पा० ।

पारगाः अपि शरासनेषु बाणनिक्षेपेषु दक्षिणाः कुशलाः (उत्तराः दक्षिणाः इति विरोधः, परिहारस्तूक्त एव) द्रुह्यतः प्रतिज्ञाभङ्गद्वारा द्रोहं कुर्वतः द्रुपदस्य तदाख्यस्य राज्ञो युधि युद्धे बलाद् गृहीतस्य द्रुपदस्य समर्पणम् मह्यम् अर्पणम् गुरुदक्षिणां कुरुत, (अधुना यावत् यद् भवन्तो मयाऽस्त्रवेदमध्यापितास्तद्दक्षिणायां द्रुपदं गृहीत्वा मह्यमर्पयत, यतोऽसौ प्रतिज्ञाभङ्गेन मम द्रोही वर्त्तते) इति एवं गुरुणा द्रोणेन चोदिताः आदिष्टाः सर्वे युधिष्ठिरादि-दुर्योधनादयः कयाऽपि अहंपूर्विकया अहं पूर्वमहं पूर्वमिति प्रतिस्पर्द्धया विमतेषु शत्रुषु कृतावज्ञसेनम् तिरस्कारपरायणसेनासहितम् याज्ञसेनं पुरम् द्रुपदनगरं निरुध्य समन्ततः परिवार्य चिरं बहुकालपर्यन्तम् अयुध्यन्त युद्धं कृतवन्तः।

सभी धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कुमारगण जब बाण चलानेमें निपुण हो गये तब गुरु द्रोणने उन लोगोंसे एक समय कहा कि—मेरे द्रोही द्रुपदको युद्धमें बलपूर्वक पकड़ कर लादो, यही हमारी गुरु दक्षिणा होगी, इस पर सभी कुमार हम-हम करके शत्रुओं पर तिरस्कार दृष्टि रखनेवाली सेनासे युक्त याज्ञसेनपुर (द्रुपदपुर) को घेर कर बहुत काल तक लड़ते रहे॥

कृत्ते भल्लैर्धनुषि स गुरुद्रोहिणस्तस्य जीव-
ग्राहे बाहाञ्चलपरिचलत्खड्गवल्लीसहायः।
पुत्रावल्यां सुबलदुहितुः पूर्वपक्षी भवन्त्यां
सिद्धान्तोऽभूद्दिवि भुवि बुधैः श्लाघितः सव्यसाची॥१०॥

कृत्त इति। गुरवे द्रोणाय द्रुह्यति प्रतिज्ञाभङ्गकरणेन अपराध्यति स गुरुद्रोही द्रुपदस्तस्य भल्लैः बाणभेदैः धनुषि शरासने कृत्ते सति (द्रुपदेन बाणप्रहारेण छिन्ने धनुषि) सुबलदुहितुः गान्धार्याः पुत्रसमुदाये पूर्वपक्षीभवन्त्याम् पूर्वपक्षरूपतामाश्रयन्त्याम् सत्याम् तस्य जीवग्राहे द्रुपदस्य जीवतो ग्रहणे बाहायाः भुजस्य अञ्चलेऽग्रभागे परिचलन्ती भ्राम्यन्ती खड्गलता एव सहायो यस्य तथोक्तः केवलखड्गसाधन इत्यर्थः, दिवि स्वर्गे बुधैः देवैः भुवि पृथिव्यां बुधैः पण्डितैश्च श्लाघितः प्रशंसितः सव्यसाची अर्जुनः सिद्धान्तः सिद्धान्तोत्तरसमानः अभूत् अजायत। यथा क्वचित्पण्डितसभायां शास्त्रार्थे कतिचन पूर्वपक्षमातिष्ठन्ते, तत्रैकोऽपरः सिद्धान्तं व्यवस्थापयति, तथैवात्र युद्धे दुर्योधनादिषु गान्धारीतनयेषु द्रुपदस्य जीवग्राहे किञ्चिद् व्यापृत्य कृतप्रारम्भेषु सत्सु खड्गसहायोऽर्जुनस्तं तथा गृहीत्वा उत्तरपक्षरूपां युद्धसमाप्तिं कृतवानित्यर्थः। 'ज्ञानिचान्द्रिसुरा बुधाः' इत्यमरः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्—तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरूचेत्' इति। अयं श्लोको नैषधीयचरिततृतीयसर्गस्थस्य श्लोकस्यास्यच्छायामनुहरति—'अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम्। युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्' इति॥ १०॥

द्रोणाचार्यके द्रोही द्रुपदके द्वारा गान्धारी-तनय दुर्योधनादिके धनुष जब बाण द्वारा काट दिये गये, और इस प्रकार वे पूर्वपक्ष मात्र (युद्ध प्रारम्भ करनेवाले मात्र) रह गये तब हाथके अग्रभागमें तलवारको घुमानेवाले एवं स्वर्गमें देवों द्वारा तथा पृथिवी पर पण्डितों द्वारा प्रशंसित अर्जुन जीवित द्रुपदको पकड़कर ले आनेमें सिद्धान्त (युद्ध-समाप्ति कर) बन गये ॥ १० ॥

पार्थमेव पुरतो निधाय ते कौरवास्तदनु संनिधौ गुरोः ।
भक्तिभिर्व्यनमयन्निजं शिरः पार्षतस्तु परिभूतिलज्जया ॥ ११ ॥

पार्थमेवेति । तदनु ते युधिष्ठिरादयो दुर्योधनादयः कौरवाः कुरुवंश्याः अस्मिन्युद्धे विजेतृतया पार्थम् अर्जुनम् एव पुरो निधाय अग्रेकृत्वा गुरोः सविधे द्रोणान्तिके भक्तिभिः श्रद्धाभावैः निजं शिरः स्वमस्तकम् अनमयन् ।नतं कृतवन्तः, पार्षतः द्रुपदस्तु परिभूतिलज्जया पराजयजनितया त्रपया निजं शिरः अनमयदिति वचनविपरिणामेनान्वयः । द्रुपदे गृहीते सति सर्वे कुमाराः अर्जुनं प्रधानमग्रेकृत्वा भक्त्या गुरुं प्राणमन् , द्रुपदोऽपि तैरानीतो लज्जाऽधोमुखस्तस्थावित्यर्थः ॥ अत्र प्रस्तुतानां शिष्याणां प्रस्तुतस्य द्रुपदस्य चैकत्र शिरोनमनक्रियायामन्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः, 'प्रस्तुतानां पदार्थानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता' इति ॥ ११ ॥

इसके बाद सभी कुरुवंशी कुमारोंने पार्थको (जिसने युद्ध जीता था) आगे करके श्रद्धा भक्तिके साथ अपने आचार्य द्रोणके चरणोंमें शिर झुकाया, और द्रुपदने भी अपना शिर हारकी लाजसे झुका लिया ॥ ११ ॥

अथो गुरुर्नीतमधिज्यधन्वना पुरःप्रदेशं पुरुहूतसूनुना ।
तरङ्गिताक्षं तमवेक्ष्य विद्विषं वचो गभीरं वदति स्म सस्मितम् ॥१२॥

अथो गुरुरिति । अथो एतदनन्तरं द्रुपदे जीवग्राहं गृहीते सति अधिज्यधन्वना आरोपितमौर्वीकधनुर्धारिणा पुरुहूतसूनुना इन्द्रात्मजेनार्जुनेन पुरः प्रदेशं नीतम् अग्रे समानीय स्थापि द्रुपदं तरङ्गिताक्षम् भयचकितलोचनं लज्जया साश्रुनयनं वा अवेक्ष्य सस्मितं किञ्चिद् हासपूर्वकं गभीरम् सार्थगौरवं मर्मभेदि वचनं वदतिस्म उवाच ॥ १२ ॥

इसके बाद जब द्रुपद पकड़कर धनुर्धारी अर्जुन द्वारा आचार्य द्रोणके आगे उपस्थित किये गये तब आचार्य द्रोण भय-चञ्चल-नयन द्रुपदकी ओर देखकर निम्नलिखित गभीर वचन मुस्कुरा कर कहे ॥ १२ ॥

'अरे क्षत्त्रियसत्तम ! पुरा महत्तरमग्निदेश्यमग्निवेश्यं नाम मुनिमभ्र-

---

१. 'पार्षदः' । २. 'सस्मितः' । ३. 'रे रे' । ४. 'मग्निवेश्यं मुनि' । इति पा० ।

परिश्रमाय प्रश्रयेण सह शुश्रूषमाणस्त्वं मत्कृते पितुरनन्तरं ममाधिराज्यपदस्य प्रथममर्धं भवते वितीर्य ततः परमर्धमहमनुभविष्यामीति यद्यथा प्रत्यश्रृणुथास्तत्तथा निर्वर्तितं खलु धिग्विप्रमिति क्षुरप्रायेण विप्रियवचनेन प्रथीयसीं मनसि व्यथां मम वितीर्णवता महार्णवपरिधानवतीं वसुमतीं स्वयमेवा भवता नन भवता ।

अरे क्षत्रियसत्तमेति । अरे क्षत्रियसत्तम रे क्षत्रियश्रेष्ठ, रे अरे इति नीचताव्यञ्जकं सम्बोधनमाहतुः । क्षत्रियसत्तमेति क्षत्रियाधमतापर्यवसायि, अस्य सन्दर्भस्य व्याजस्तुतिरूपत्वात् । पुरा पूर्वकाले अग्निदेश्यम् प्रभावेणाग्नितुल्यम् अग्निवेश्यं नाम तदाख्याप्रसिद्धम् अस्त्रपरिश्रमाय अस्त्रविद्यामधिगन्तुम् प्रश्रयेण नम्रभावेन सह शुश्रूषमाणः परिचरन् त्वं द्रुपदः मत्कृते मम द्रोणस्यार्थे पितुः (द्रुपद) जनकस्य अनन्तरं वानप्रस्थग्रहणात् परतः मम द्रुपदस्य अधिराज्यपदस्य राज्यस्य अर्धम् समांशम् आदौ प्रथमम् भवते द्रोणाय वितीर्य दत्त्वा ततः परम् तुभ्यं दीयमानादर्धादवशिष्टमर्धम् अहम् द्रुपदोऽनुभविष्यामि भोक्ष्ये इति यत् यथा येन प्रकारेण प्रत्यश्रृणुथाः प्रतिज्ञातवानासीः तत्तथा निर्वर्त्तितम् पूरितम्; खलु पदमिहोपहासे, (प्रतिज्ञातदानस्य राज्यार्धस्य ग्रहणायोपस्थितं मां द्रोणं प्रति) 'धिग् विप्रं ब्राह्मणम्' इति क्षुरप्रायेण क्षुरवत्तीक्ष्णेन विप्रियवचनेन कटूक्त्या मम द्रोणस्य मनसि व्यथां मानहानिभवं कष्टं वितीर्णवता दत्तवता महार्णवरशनावतीं समुद्रकाञ्चीं (समग्राम्) वसुमतीं पृथ्वीम् स्वयम् आत्मना एव अनुभवता भुञ्जानेन भवता द्रुपदेन । अयमर्थः—पुराऽग्निवेश्याश्रमेऽधीयानेन त्वयाऽहमुक्तो यद्यदा पितुरनन्तरं मम राज्यकाल उपस्थास्यते तदा पूर्वं तुभ्यमहं राज्यार्धं प्रदाय शेषमर्धमहं भोक्ष्ये, तत्तु भवता तद्ग्रहणायोपस्थितं मां धिग्विप्रमिति धिक्कृत्य समस्तां महीं भुञ्जानेन साधु निरूढमित्यर्थः । अत्र व्याजस्तुत्या मिथ्याभाषित्वेनाधिक्षेपप्रत्ययः ॥

अरे क्षत्रिय श्रेष्ठ, पुराने कालमें अग्निके समान प्रतापी महात्मा अग्निवेश्य नामक मुनिसे नम्रतापूर्वक जब तुम धनुर्विद्याका अभ्यास कर रहे थे, तब तुमने हमसे प्रतिज्ञाकी थी कि जब पिताजीके बाद मैं राज्य प्राप्त करूँगा तब आधा राज्य तुमको देकर शेष राज्यार्धका स्वयं उपभोग करूंगा, उस अपनी प्रतिज्ञाका पालन तो तुमने खूब किया, जब हम प्रतिज्ञात राज्यार्ध ग्रहणकी कामनासे तुम्हारे पास गये तब छुरेकी तरह तीखे वचनोंसे मुझे धिक्कार कर समुद्र-वेष्टित इस पूरी पृथ्वीका उपभोग करके तुमने अपना वचन खूब रखा !! ॥

---

१. 'क्षुरप्रवरप्रायेण' । २. 'मम मनसि व्यथां वितीर्णवताऽर्णवरशनावतीम्' ।
३. 'स्वयमेवानुभवता भवता' ।

आबालवृद्धं जलसक्तमेव जनाः समस्ता द्रुपदं यदाहुः ।
तस्मात्त्वयि स्वीकृततादृशाख्ये कथं नु भज्येत न मित्रतेजः ॥ १३ ॥

आबालवृद्धमिति । यद् यस्मात् आबालवृद्धम् बालान् वृद्धाँश्चाभिव्याप्य सर्वे-बाला वृद्धाश्चेत्यर्थः, जनाः लोकाः द्रुपदं द्रोर्वृक्षस्य पदं मूलम् जलसक्तम् पृथ्वीगर्भ-वर्त्तिरसमग्नम् (डलयोरभेदात्) द्रुपदं तन्नामानं त्वाम् जडसक्तम् मूर्खसहचरम् आहुः । तस्मात् स्वीकृततादृशाख्ये गृहीततन्नामके त्वयि द्रुपदे मित्रतेजः सूर्यरश्मिः सुहृत्प्रभावश्च कथं न भज्येत विनश्येत् नु यथा जलसक्तमूले वृक्षे सूर्यतेजोऽकि-ञ्चित्करं भवति, तथैव मूर्खवेष्टिते त्वयि ममप्रभावस्तत्र राज्यप्रार्थनाकाले नापप्त-दिति भावः । अत्र 'द्रुपद' पदनिरुक्त्याऽर्थस्य समर्थनात् निरुक्तिर्नामालङ्कारः, तदु-क्तम्—'निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्' इति ॥ १३ ॥

बालकोंसे लेकर बूढ़ों तक सभी आदमी द्रुपद—वृक्ष मूलको जल सक्त—पानीसे भींगा कहा करते हैं, तुम भी द्रुपद नामधारी होनेके कारण जल सक्त—ड—लमें अभेद होनेके कारण मूर्ख जनावृत रहे, ऐसी स्थितिमें जैसे वृक्षों पर सूर्यका तेज अपना प्रभाव नहीं दिखलाते हैं, क्योंकि उसकी जड़ें पानीमें भीगी रहती हैं, उसी तरह मूर्खावृत होनेके कारण द्रुपद तुझ पर भी मेरे सदृश मित्रका कुछ नहीं प्रभाव पड़ा, अर्थात् तुमने मित्रके प्रति किये गये वादेको पूर्ण नहीं किया ॥ १३ ॥

इति व्याजस्तुतिवचनेन पौरवान्ते[2] भार्गवान्तेवसता प्रधर्षितः पार्षत[3]-स्तेन सार्धमर्धराज्यपरिवर्तनमात्रमङ्गीकृत्य[4] कृत्यविदां ककुदस्तौ जम्भ-रिपुकुम्भसंभवावुभावप्युपयमं[5] प्रवर्तयितुं कृतक्रतुनिर्वर्तनः[6] सोमकान्तिको-पास्यौ पुत्रौ भागीरथीवनावसथस्य[7] याजस्य मुनिराजस्य याजनानुग्रहेण परिजग्राह[8] ।

इति व्याजेति । इति उक्तप्रकारकेण व्याजस्तुतिवचनेन निन्दापर्यवसायिन्या स्तुतिवाचा पौरवान्ते पौरवकुमारगणसमक्षम् भार्गवान्तेवसता परशुरामशिष्येण प्रधर्षितः कृतभर्त्सनः निन्दितः पार्षतः द्रुपदः कृत्यविदाम् कर्त्तव्यार्थज्ञानशालिनां ककुदः श्रेष्ठः सन् तेन परशुरामशिष्येण द्रोणेन समम् सह अर्धराज्यपरिवर्त्तनम् 'गृहाणार्धं राज्यस्ये'ति दानरूपम् अङ्गीकृत्य स्वीकृत्यज म्भरिपुरिन्द्रस्तत्सम्भवम-र्जुनम् कुम्भसम्भवं द्रोणं तावुभावपि उपयमम् विवाहम् (अर्जुनसम्बन्धे) उप-यमम् यमान्तिकम् (द्रोणपक्षे) प्रवर्त्तयितुम् प्रापयितुम् कृतक्रतुनिर्वर्त्तनः कृत-

---

१. 'जड' । २. 'पौरवान्ते वसता' । ३. 'पार्षदः' ।
४. 'परिवर्तनेन परमङ्गीकृत्य' । ५. 'उपयममेव' । ६. 'कृतक्रतुनिर्वर्तनः' ।
७. 'तटवन' । ८. 'परिजग्राह । तावेऽपि । इति पा० ।

यज्ञः सोमश्चन्द्रस्तस्य कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तत् सोमकान्तिकम् आस्यम् मुखम्, उमया सहितः सोमः शिवः तस्येव कोपो यत्र तादृशम्, सोमकान्तिकास्यां पुत्रीम् चन्द्रमुखीं तनयां महादेववत्कोपनं च पुत्रम् पुत्रौ पुत्री च पुत्रश्चेति पुत्रौ (द्रौपदीधृष्टद्युम्नौ; (द्रौपद्योपयमोऽर्जुनस्य, धृष्टद्युम्नद्वारको वधश्च द्रोणस्येति कामनया कृतयज्ञो द्रुपदः) भागीरथीवनावसथस्य भागीरथीतटस्थवनवासिनः याजस्य याजनामकस्य मुनिराजस्य ऋषिप्रवरस्य याजनानुग्रहेण यज्ञसम्पादनकृपया परिजग्राह वृतवान्। द्रोणेन निन्दितो द्रुपदोऽर्धराज्यं तस्मै प्रदायापि मनसा दुःखितो याजनामकस्य मुनेः प्राधान्ये यज्ञं कृतवान् यत्र अर्जुनपरिणेयां द्रौपदीं नाम चन्द्रमुखीं तनयां शिववत्कोपनं द्रोणघातिनं धृष्टद्युम्ननामकं च पुत्रं वव्रे इत्याशयः॥ पुत्री च पुत्रश्चेति पुत्रौ, 'पुमान् स्त्रिया' (पा० १।२।६७) इत्येकशेषः॥

इस प्रकार पौरवोंके सामने भार्गवशिष्य द्रोणके व्याज-स्तुति वाले वचनोंसे लजवाये गये द्रुपदने आधा राज्य देनेका वादा करके कर्त्तव्य निर्णय कर लिया, और इन्द्रपुत्र अर्जुन एवं द्रोणको क्रमशः (उपयम-विवाह, उपयम-यमके समीप) पहुँचानेके लिये यज्ञ किया, जिस यज्ञके प्रधान आचार्य गङ्गातीरवर्त्ती वनमें रहनेवाले याज-नामक मुनि थे, और उस यज्ञमें उन्होंने चन्द्रमुखी कन्या द्रौपदी, एवं महादेवकी तरह कोपनस्वभाव पुत्र धृष्टद्युम्नका वर मांगा।

तातोऽपि धर्मतनयं तपनीयपीठ-
मारोप्य चक्षुरिव लब्धममुं तपोभिः।
आवर्जितैः कलशवारिभिरभ्यषिञ्च-
दानन्दबाष्पसलिलैरवनीं च पौराः॥ १४॥

तातोऽपीति। तातः धृतराष्ट्रः अपि तपोभिः तपस्याभिः स्वाचरितैर्व्रतोपवासादिभिरित्यर्थः, लब्धं पुनरासादितं चक्षुः नेत्रमिव (अन्धस्य पुनर्नेत्रलाभो यथाऽऽनन्दजनकस्तथाऽऽनन्दजनकमित्याशयः) धर्मतनयम् युधिष्ठिरं तपनीयपीठम् कनकासनम् आरोप्य उपवेश्य आवर्जितैः नानातीर्थोपहृतैः कलशवारिभिः घटस्थितजलैः अभ्यषिञ्चत् अभिषिक्तवान्, यौवराज्यं प्रदत्तवानित्यर्थः, पौराश्च आनन्दबाष्पसलिलैः हर्षाश्रुप्रवाहैः अवनीम् पृथ्वीम् अभ्यषिञ्चन्, 'राज्ञोऽभिषेके तद्वधूरभ्यभिषिच्यत' इति सम्प्रदायानुसारेणेयमुक्तिः। अयं श्लोकः चम्पूरामायणीयस्यास्य श्लोकस्य च्छायामनुहरति—'अभिषिक्ते तु सुग्रीवे रामश्यामपयोमुचा। अभिषेक्तुं स्थिता मेघास्तन्महीं महिषीमिव'॥ उत्प्रेक्षा व्यज्यते॥ १४॥

इसके बाद तात धृतराष्ट्रने तपस्याओंके द्वारा दुबारा पाई गई आंखके समान प्यारे

---

१. 'अभ्यषिञ्चन्'। २. 'अवनिम्'। इति पा०।

युधिष्ठिरको स्वर्ण सिंहासन पर बैठा करके नाना तीर्थों से लाये गये जलसे पूर्ण घटों द्वारा अभिषेक प्रदान किया, और पौरजनने अपने अपने आनन्दाश्रु-प्रवाहसे (उस अभिषिच्यमान राजाकी स्त्रीके समान) पृथ्वीको अभिषिक्त किया । राज्याभिषेकमें राजा-रानी दोनोंका अभिषेक किया जाता है, युधिष्ठिरका अभिषेक धृतराष्ट्रने किया, और उनकी भोग्या पृथ्वीका अभिषेक लोगोंने किया ॥ १४ ॥

आबिभ्रतो धरणिमङ्गदनिर्विशेषं
नानाधनायतिभिरस्य नयोदिताभिः ।
[1]पस्त्यं समस्तमपि वासव[2]संनिभस्य
कोशीबभूव कुतुकैः सह कौरवाणाम् ॥ १५ ॥

आबिभ्रत इति । धरणिम् अखिलां महीम् अङ्गदनिर्विशेषम् केयूरवत् (अनायासम्) आबिभ्रतः धारयतः वासवसन्निभस्य इन्द्रतुल्यस्य अस्य युधिष्ठिरस्य जयेन षष्ठांशभागग्रहणात्मकेन उदिताभिः सञ्जाताभिः नानाधनायतिभिः नानाप्रकारकसमृद्धीनामागमैः समस्तम् अपि पस्त्यम् भवनम् कौरवाणां दुर्योधनादीनाम् कुतुकैः कुतूहलैः सह कोशीबभूव कोशागारत्वमाप मुकुलीबभूव च । अयमाशयः—विनैवायासं भुवं पालयतो महेन्द्रपराक्रमस्य युधिष्ठिरस्य करग्रहणेन सम्पदतितरां ववृधे येन तदीयं सर्वमपि भवनं कोशागारभावमापन्नं, दुर्योधनादीनां च कुतुकं-राज्यमासाद्य कान्दशामयमनुभवतीत्येवंरूपं कुतूहलं शाम्यति स्मेति, महतामभ्युदयेन खलानां तादृशाचरणस्य स्वाभाविकत्वादिति 'निशातपस्त्यसदनभवनागारमन्दिरम्' इति-'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने धनवेश्मनि' इति चामरविश्वौ । सहोक्तिरलङ्कारः ॥ १५ ॥

राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण पृथ्वीको केयूरकी तरह अपने हाथसे अनायास धारण कर लिया, नयषष्ठांश भाग ग्रहणरूप करके बढ़ते रहनेसे उनका सारा राजप्रासाद ही कोशागार बन गया, और दुर्योधनादिके कुतूहल मुकुलित हो गये, जब युधिष्ठिर राजा हुए तब उनके विरोधी दुर्योधनादिके हृदयोंमें बड़ा कुतूहल था कि देखें इनका राज्य कैसे चलता है, जब उनका राज्य ठीकसे चलने लगा तब उनकी वह दुष्टभावना मुकुलित हो गई, वह फूल-फल नहीं सकी ॥ १५ ॥

पारेसिन्धु प्रथितं[3]ममितं प्रत्यहं वर्धमानं
सोढुं पार्थाभ्युदयमपटोः स्वात्मजस्यानुरोधात् ।
प्रीतो राजाऽप्यनुजतनयप्रेममार्गे प्रयातुं
मातुर्दोषादिव बहिरगादन्तरप्यन्धभावम् ॥ १६ ॥

---

१. 'पस्त्यम्' । २. 'नन्दनस्य' । ३. 'अमितं'; 'अथ तम्' । इति पा० ।

पारेसिन्ध्विति। राजा धृतराष्ट्रः प्रीतः युधिष्ठिरप्राप्तप्रजापालनजन्यकीर्त्तिधनागमादिभिः प्रसन्नः अपि पारेसिन्धु समुद्रस्य पारे प्रथितम् विस्तृतं ख्यातञ्च, अमितम् अनल्पम्, प्रत्यहम् प्रतिदिनम् वर्धमानम् पार्थाभ्युदयम् युधिष्ठिरस्य प्रतापम् सोढुम् मर्षयितुम् अपटोः असमर्थस्य स्वात्मजस्य दुर्योधनस्य अनुरोधात् आग्रहानुसरणात् अनुजतनयस्य भ्रातृपुत्रस्य युधिष्ठिरस्य प्रेममार्गे स्नेहवर्त्मनि प्रयातुं चलितुम् मातुः अम्बिकायाः दोषात् अक्षिनिमीलनरूपात् बहिः बाह्यनेत्रविषये इव अन्तरपि हृदयनेत्रविषयेऽपि अन्धभावम् अन्धत्वम् अगात् प्राप्तः। युधिष्ठिरे धृतप्रेमापि धृतराष्ट्रो दुर्योधनानुरोधाद्युधिष्ठिरप्रेममार्गानुसरणे चेतसाऽन्धो जातो यथाऽसौ मातुर्दोषाद्बाह्यनेत्ररहित आसीत्तथेति बोध्यम्। पुरा सत्यवत्याज्ञया व्यासेन सह सङ्गताऽम्बिका, तद्रूपं दृष्ट्वा सा भयं जुगुप्सां च भजमाना नयने न्यधत्त, अतएव च तद्गर्भतो धृतराष्ट्रोऽन्धो जात इति कथा भारते। मातुर्दोषाद्बहिर्नेत्रशून्यः पुत्रानुरोधाच्चान्तर्नेत्रशून्यो जातो राजा युधिष्ठिरं न्यूनप्रेमा जात इत्याशयः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥ १६॥

राजा धृतराष्ट्र यद्यपि युधिष्ठिरके प्रजापालनजन्य यश, धनागम, आदिसे प्रसन्न थे, फिर भी समुद्रके पर पार तक फैले हुए, अनन्त, दिनों दिन बढ़ने वाले युधिष्ठिराभ्युदयको नहीं सह सकने वाले अपने पुत्रके अनुरोधसे भतीजा युधिष्ठिरके ऊपर प्रेम करनेमें अन्तः अन्ध हो गये, उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त हो गई, जिससे वह युधिष्ठिरके प्रेम मार्ग पर नहीं चले, जैसे वह माताकी गलतीसे बाह्य चक्षुर्हीन हो गये थे। माताके दोषसे बाह्यान्ध धृतराष्ट्र पुत्रके दोषसे अन्तरन्ध हो गये, और युधिष्ठिरसे प्रेम करना छोड़ दिया॥ १६॥

तदनु सौबलीजानिरसौ बलीयसाऽमर्षेण धर्षितः सहजविनयं धर्मतनयमाहूय कृतावहित्थो गिरमित्थमुत्थापयामास।

तदन्विति। तदनु युधिष्ठिरादिविषये प्रेमस्यागात्परः सौबली गान्धारी जाया यस्यासौ सौबलीजानिः धृतराष्ट्रः बलीयसा महता अमर्षेण द्वेषेण धर्षितः पीडितः सन् सहजविनयं स्वाभाविकनम्रतोपेतं धर्मतनयं युधिष्ठिरं नाम पाण्डुतनयप्रथमम् आहूय आकार्य कृतावहित्थः विहिताकारगोपनः (द्वेषं प्रच्छादयन्नित्यर्थः) इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण गिरं वाचमुत्थापयामास प्रारेभे॥

इसके बाद गान्धारीके पति धृतराष्ट्र हृदयमें जबर्दस्त द्वेष धारण करके स्वाभाविक नम्रताके पात्र युधिष्ठिरको बुलाकर (अपने द्वेषको छिपाते हुए) इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया॥

'वत्स! संप्रति वारणावतं पुरमुपेत्य वारणाननगुरोरुत्सवं वारणाय विपदां निषेव्य सहानुजैस्तत्र वास्तव्यपौरजनभव्यया गिरा स्तव्यो निर-

१. 'वास्तव्यो गिरा पौरजनसुवास्तव्यो'। इति पा०।

वधिसुखामनुशाधि वसुधाम्' इति ।

वत्सेति । वत्सेति प्रीतिसम्बोधनं बालेषु, सम्प्रति अधुना वारणावतं नाम पुरं नगरमुपेत्य गत्वा विपदां सम्भाव्यमानानामापदां वारणाय दूरीकरणाय वारणाननः गणेशः तद्गुरोः पितुः शिवस्य उत्सवं नैमित्तिकं पाक्षिकादिकं पूजासम्भारम् निषेव्य अनुष्ठाय तत्र वारणावतपुरे वास्तव्याः वासिनो ये पौरजनास्तेषां भव्यया कुशलयुतया गिरा वाचा सह अनुजैः भ्रातृगणसहितः स्तव्यः प्रशंसनीयः सन् निरवधि मर्यादारहितं कालं यावत् सुखम् आनन्दो यस्यां तादृशीम्, अनन्तसुखसम्पन्नाम् इति वाऽर्थः, वसुधां पृथ्वीम् अनुशाधि पालय। अत्रापि गद्यभागे नैषधीयकाव्यस्याधस्तनश्लोकस्य च्छाया दृश्यते 'द्यां प्रशाधिगलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः' ॥

बेटा, इस समय तुम वारणावत नगरमें जाकरके विपत्ति दूर करनेवाले महादेवके उत्सवमें भाग लो, और वहाँ रहनेवाले पुरवासियोंकी कुशलिनी वाणीसे स्तुत होकर भाइयोंके साथ वहीं पर अनन्त सुख-समृद्धिसे भरी इस वसुधाका पालन करो ॥

तस्याशयं हृदि विदन्नपि धर्मसूनु-
स्तातस्य वाचमविलम्ब्य तथेत्यगृह्णात् ।
तत्तादृशेषु गुरुशासनपालनेषु
कूलंकषं गुणगणेन कुलं हि पूरोः ॥ १७ ॥

तस्याशयमिति । तस्य धृतराष्ट्रस्य आशयम् 'केनापि प्रकारेण पाण्डवाः पुरान्तरे स्थापनीया' इति गूढमभिप्रायं हृदि स्वचित्ते विदन् जानन् अपि धर्मसूनुः युधिष्ठिरः तातस्य पितृव्यस्य वाचम् वारणावतपुरप्रस्थानाज्ञां तथा भवदुक्तं तथास्तु इति एवम् अविलम्ब्य शीघ्रम् अगृह्णात् स्वीचकार । तत्रार्थान्तरन्यासमाह—तत्तादृशेष्विति । तादृशेषु गुरुशासनपालनेषु श्रेष्ठजनाज्ञास्वीकरणेषु तत् प्रसिद्धं पूरोः कुलं पुरुवंशः गुणगणेन स्वगुणराशिना कूलङ्कषम् परिपूर्णम् । पूरवो हि गुर्वादेशपालने प्रसिद्धाः, पूरुर्नाम पुत्रः पित्रे ययातये यौवनं ददाविति कथाऽत्र भित्तिभूमिः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । तल्लक्षणं यथा—'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोः' इति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके गूढ़ आशय—'किसी प्रकार पाण्डवोंको हस्तिनापुरसे हटावें' इस प्रकारके अभिप्रायको अपने मनमें समझते हुए भी स्वाभाविक नम्रताशाली युधिष्ठिरने तथास्तु कह कर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, क्योंकि उस प्रकारके आज्ञा-पालन-कार्यमें पुरुवंशके लोक अपने गुणोंसे परिपूर्ण होते आये हैं । 'तनय ययातिहिं यौवन दयऊ, पितु

---

१. 'सुखेन'; 'सुखम्' । इति पा० ।

आज्ञा अघ अयश न भयऊ' वाली कथाको दृष्टिमें रखकर पूरुवंशको गुरुजनकी आज्ञाके पालनमें सदा तत्पर कहा गया है ॥ १७ ॥

धर्मभूरनुजैः साकं तद्गिरा तत्पुरं ययौ।
कर्मचोदनया जीवः कायमन्यमिवेन्द्रियैः ॥ १८ ॥

धर्मभूरिति। जीवः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चप्राणाः, मनः, एतत्सप्तदशपदार्थसमष्टिरूपलिङ्गदेहो जीवः, स यथा इन्द्रियैः सह कर्मणः पापपुण्यरूपस्याचरितस्य (धर्मस्य पापस्य वा) चोदनया प्रेरणया अन्यं कायं शरीरं याति तथैव धर्मभूः युधिष्ठिरः अनुजैः भ्रातृभिः सह तद्गिरा धृतराष्ट्रवाचा (चोदितः) तत् वारणावतं नाम पुरं ययौ ॥ १८ ॥

जैसे जीव इन्द्रियोंके साथ धर्म-अधर्म रूप अपने कर्मकी प्रेरणासे शरीर-त्यागके बाद पुनः दूसरा शरीर ग्रहण करता है उसी तरह युधिष्ठिर अपने अनुजोंके साथ धृतराष्ट्रकी आज्ञासे उस वारणावत पुरको चले गये ॥ १८ ॥

सविनयमथ दर्शितं महीयः सचिववरेण पुरोचनेन शत्रोः।
जतुगृहमभजन्त तत्र पार्था जगदिव नूत्नमशेषवस्तुपूर्णम् ॥ १९ ॥

सविनयमिति। अथ पार्थाः पृथापुत्रा युधिष्ठिरादयः शत्रोः दुर्योधनस्य सचिववरेण प्रधानामात्येन पुरोचनेन तन्नामकेन दर्शितम् नयनगोचरतां नीयमानम् महीयः अतिदीर्घपरिणाहम् अशेषवस्तुभिः सकलैः पदार्थैः अशनवसनशयनासनादिभिः पूर्णम् जतुगृहम् लाक्षानिर्मितं भवनम् नूत्नं नवीनं जगत् भुवनम् इव अभजन्त प्राप्तवन्तः। यथा जगति सर्वं वस्तु विततं तथा तत्र लाक्षाभवनेऽपि सर्वं वस्तु विततमासीदिति सारांशः ॥ १९ ॥

इसके बाद पृथाके पुत्र युधिष्ठिरादि पाण्डव दुर्योधनके प्रधान सचिव पुरोचन द्वारा दिखलाये गये उस अतिविशाल लाक्षागृहका आश्रय लिया जो नये लोककी तरह सभी प्रकारकी वस्तुओंसे पूर्ण था ॥ १९ ॥

तत्र ते विदुरभृत्यभाषितैः सौबलेयशतमन्युहेतुना।
पञ्चतामपि परां धनंजयप्रापणेन जतुधाम्नि मेनिरे ॥ २० ॥

तत्र त इति। ते पार्थाः तत्र जतुधाम्नि लाक्षागृहे विदुरभृत्यभाषितैः विदुरप्रेषितसुरङ्गाखनकदूतोक्तिभिः सौबलेयशतस्य गान्धारीपुत्राणां शतसङ्ख्यानां दुर्योधनादीनां मन्युः पाण्डवानां विषये क्रोधः हेतुर्यस्य तेन सौबलेयशतमन्युहेतुना धनञ्जयप्रापणेन वह्निसंयोगेन (सुबलायाः देवमातुः अपत्यं पुमान् सौबलेयः स चासौ शतमन्युः इन्द्रः स हेतुर्जनको यस्य तादृशेन धनञ्जयप्रापणेन अर्जुनसंगमेन) पराम् अपरां पञ्चताम् पञ्चत्वम् मरणम् (एका पञ्चता पञ्चसंख्या-

वत्ता यथाऽर्जुनसङ्गमेन जाता तथाऽपरा पञ्चता ,मरणम् अग्निसंयोगेन भाविनीति) मेनिरे तर्कितवन्तः। पाण्डवा यथा वयमर्जुनासादितेन पञ्चसङ्ख्याका जातास्तथैवात्र लाक्षागृहे वह्निसंयोगेन पञ्चत्वं प्राप्स्याम इति दुर्योधनदुश्चिकीर्षितं विदुरभृत्यवाचा प्रतीयवन्त इत्यर्थः। अत्र श्लोके 'सौबलेयशतमन्युहेतुना' 'धनञ्जयप्रापणेन' इति पदद्वयं श्लिष्टं, तत्रार्थभेद उक्त एव पूर्वमिति बोध्यम्। 'शतमन्युर्दिवस्पतिः'–'धनञ्जयोऽर्जुने वह्नौ'–'स्यात्पञ्चता कालधर्मः' इत्यमरविश्वौ ॥ २० ॥

युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने विदुर–भृत्यके कहनेसे समझ लिया कि इस लाक्षागृहमें गान्धारीके पुत्र शतसङ्ख्यक कौरवोंके कोपसे लगायी जानेवाली आगके द्वारा हम लोग दूसरा पञ्चत्व प्राप्त करेंगे, एक बार तो देवमाताके पुत्र इन्द्रके द्वारा उत्पादित अर्जुनके मिलनेसे हमने पञ्चता पञ्चसङ्ख्यकता प्राप्तकी थीं। इस श्लोकमें सौबलेय–शतमन्यु, धनञ्जय यह दो शब्द तथा पञ्चता शब्द–श्लिष्ट हैं, सौबलेय–गान्धारीपुत्र, शत–सौ, मन्यु–कोप, धनञ्जय–आग, यह अर्थ पञ्चता–मृत्युमें, और पञ्चता—पञ्चसंख्यावाले अर्थ पक्षमें सौबलेय याने देवमाताके अपत्य, शतमन्यु–इन्द्र, (हेतु–जनक) धनञ्जय अर्जुन ॥ २० ॥

शिशमयिषुरपि द्विषां स मन्त्री निभृतशरारुरिमान्निगूढभावान् ।
अवसरमनलावृते निकेते प्रतिदिनमेधयितुं प्रतीक्षते स्म ॥ २१ ॥

शिशमयिषुरिति। निभृतः प्रच्छन्नः शरारुः घातको द्विषां पाण्डवद्रुहां मन्त्री स पुरोचनः निगूढः प्रच्छन्नो भावो येषां तान् निगूढभावान् विदुरभृत्योक्तं रहस्यं गोपयतः इमान् पार्थान् युधिष्ठिरादीन् अग्न्यावृते अग्निदग्धे निकेते जतुगृहे शिशमयिषुः शमं विनाशं प्रापयितुरपि प्रतिदिनम् अहन्यहनि एधयितुं वर्धयितुं पोषयितुम् , (इति विरोधः) एधयितुम् एधभावं नेतुं ज्वलनेन्धनभावं गमयितुम् अवसरं योग्यं समयं प्रतीक्षतेस्म प्रतिपालयतिस्म। पुरोचनो नाम दुर्योधनमन्त्री प्रकटं पाण्डवानाराधयन्नपि तान्दाहयितुमवसरं प्रतीक्षमाणस्तस्थावित्याशयः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २१ ॥

प्रच्छन्न होकर पाण्डवोंके घातमें रहनेवाला वह शत्रु–मन्त्री पुरोचन–अपनी रहस्यताको छिपाकर रखनेवाले इन पाण्डवोंको आग लगाकर जला डालनेकी इच्छा रखते हुए भी प्रतिदिन इनको (एधयितुं) बढ़ानेके लिये (या–एधयितुं–आगमें एध–इन्धन बनानेके लिये) अवसरकी प्रतीक्षा करता था ॥ २१ ॥

जातुचिदपत्यैः सह पञ्चभिर्भृत्यभावमिषादमीषामामिषफलेषु[1] विषं निनीषन्त्या निषादयोषित इव तस्य पुरोचनस्य निद्रायामपि द्राघिमाणं दातुकामेन तत्र सद्मनि क्षणदायामाशुशुक्षणिं क्षणान्निक्षिप्य जननीसोदर-

---

१. 'आमिषेषु'। इति पा०।

जननीचेतरसंवेशसुखमणिमञ्चायमानभुजशिखरसीमेन [1]भीमेन तस्माद्-गृहाद्विदुरकिंकरकृतलिङ्गया सुरङ्गया निर्जग्मे।

जातुचिदिति। जातुचित् कदाचित् अपत्यैः पुत्रैः (पञ्चभिः) सह-पञ्चपुत्रा, भृत्यभावमिषात् सेवकत्वव्याजात् अमीषां युधिष्ठिरादीनाम् आमिषफलेषु मांसेषु फलेषु भक्ष्यफलेषु वा विषं गरलं निनीषन्ती प्रापयितुकामा या (मांसे फले वा-विषं प्रदाय गुप्तरूपेण पाण्डवान्मारयितुं दुर्योधनेनादिष्टा धृतसेवकरूपा) निषाद-योषित् किराती तस्याः इव पुरोचनस्य शत्रुमन्त्रिणः (अपि) निद्रायां द्राघिमाणं चिरस्थायित्वं दातुकामेन आनेतुमिच्छता (विषप्रदानाय चेष्टमानां सपञ्चपुत्रां किरातीं पुरोचनं च दीर्घनिद्रां मृत्युं प्रापयितुमिच्छता) तत्र सद्मनि लाक्षा-गृहे क्षणदायां निशि क्षणात् झटिति आशुशुक्षणिं वह्निं निक्षिप्य प्रज्वाल्य जनन्याः मातुः कुन्त्याः सोदरजनस्य भ्रातृवर्गस्य च नीचेतरत् विपुलवत् संवेश-सुखम् निर्भरनिद्राऽऽनन्दस्तत्र मणिमञ्चायमाना मणिनिर्मितमञ्चसमाना भुज-शिखरसीमा स्कन्धाग्रदेशो यस्य तादृशेन तथोक्तेन भीमेन विदुरकिङ्करकृत-लिङ्गया विदुरप्रेषितभृत्यविहितचिह्नया सुरङ्गया अन्तर्भूमिपथेन निर्जग्मे बहि-रायातम्। पञ्चभिः पुत्रैः सह सेवकतामिषेण पाण्डवेभ्यो मांसे भक्ष्ये फले वा गोपयित्वा विषं दातुमिच्छन्त्या किरात्या सहैव पुरोचनमपि मारयितुमेकस्यां निशि तत्र जतुगृहे वह्निं निक्षिप्य स्वस्कन्धयोर्मातरं भ्रातॄंश्च निर्भरं शाययन् भीमो विदुरभृत्यबोधितसुरङ्गावर्त्मना तस्मात्स्थानान्तरमयासीदित्यर्थः। 'आमिषं पलले क्लीबे त्रिषु स्याद् भोग्यवस्तुनि' इति-'शिखावानाशुशुक्षणिः' इति च विश्वामरौ।

किसी समय पांचपुत्रोंके साथ भृत्यभावमें नियुक्त होकर भक्ष्यफल अथवा मांसमें छिपाकर पाण्डवोंको विष देना चाहनेवाली पञ्चपुत्रा निषादीकी ही भांति पुरोचनको दीर्घ निद्रा प्रदान करनेकी इच्छासे रातमें उस लाक्षागृहमें आग लगाकर-माता तथा भाइयोंकी सुख-निद्रामें मणिमय मञ्चका काम करती है जिसकी स्कन्धद्वयी-ऐसे भीम विदुर-भृत्य द्वारा संकेतित सुरङ्गकी राहसे उस घरसे बाहर निकल गये॥

पार्थद्विषां विग्रहमेकमेकं विभज्य सप्तापि शिखाः कृशानोः।
स्वीकृत्य तृप्ताः स्वशिरःप्रकम्पैः [2]श्लाघिरे तत्र समीर[3]पुत्रम्॥ २२॥

पार्थद्विषामिति। तत्र भीमकृताग्निक्षेपेण ज्वलति लाक्षागृहे कृशानोः अग्ने सप्तापि शिखाः पार्थद्विषाम् पाण्डवशुभमनिच्छतां किराती-तत्पुत्रपञ्चक-पुरोचना नाम् एकम् एकम् एकैकम् (सप्तानां शिखानां भागेष्वेकमेकं वपुः स्यात्तेषामपि सप्तत्वात्) विग्रहम् शरीरम् विभज्य विभागं कृत्वा स्वीकृत्य आस्वाद्य च तृप्ताः तुष्टाः सत्यः स्वशिरःप्रकम्पैः शिखाग्रभागधूननैः समीरपुत्रं भीमं शश्लाघिरे

---

१. 'भीमेन गृहात्'। २. 'संश्लाघिरे'। ३. 'सूनुम्'।

प्रशशंसुः । अग्नेः सप्तापि शिखाः सप्तापि तेषां शरीराणि विभज्यास्वाद्य तादृश-शरीरास्वादनावसरप्रदायिनः (स्वसुहृदो वायोः पुत्रस्य च) भीमस्य प्रशंसामिव शिखाग्रभागरूपशिरःकम्पेन सम्पादयामासुरित्याशयः । गम्योत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥२२॥

उस समयमें पार्थ पाण्डवके शत्रुभूत पञ्चपुत्रा निषादी और पुरोचनके सात शरीरों को एकएक करके बांटकर आस्वादन करनेवाली आगकी सात शिखाओंने अपने शिरोंको कंपा कंपाकर पवनपुत्र भीमकी प्रशंसाकी ॥ २२ ॥

प्रपश्यतां पौरनृणां प्रभाते सांक्रामिकं रोगमिवाधितापम् ।
आबिभ्रतामश्रुभिरेव शान्तिरापादि तत्राग्निहठात्क्रियायाः ॥ २३ ॥

प्रपश्यतामिति । प्रभाते प्रातःकाले (ज्वलत्तल्लाक्षागृहम्) प्रपश्यताम् वीक्षमाणानाम् (अतएव) सांक्रामिकम् एकस्य शरीरादन्यस्य शरीरे सङ्क्रमणशीलम् खर्जनप्रभृतिरोगमिव अधितापम् वह्निदाहम् आबिभ्रताम् धारयताम् (गृहे स्थितोऽग्नितापो मन्ये सङ्क्रम्येव दर्शकेषु गतः) पौरनृणां पुरवासिमनुष्याणाम् अश्रुभिः नेत्राम्बुभिः एव तत्र लाक्षाभवने अग्निहठात्क्रियायाः वह्निकृतस्य बलाद्दाहनस्य शान्तिः समाप्तिरापादि । पौरजनैः प्रज्वलल्लाक्षागृहमवेक्ष्य रुदद्भिः स्वाश्रुभिरेव (उपायान्तराभावात्) स वह्निरुपशमित इत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रातःकालमें जिन लोगोंने जलते हुए लाक्षागृहको देखा, वे लोगभी सन्तप्त होगये, मानों लाक्षागृहमें वर्त्तमान अग्नितापं संक्रामक रोगकी तरह दर्शकोंमें चला गया हो और सन्तापसे रोते हुए पौरजनोंने अपने अश्रुप्रवाहसे ही उस आगको शीतल किया (क्योंकि दूसरा कोई उपाय संभव नहीं था) ॥ २३ ॥

तत्रालये दग्धतनूनथैतान्निश्चित्य पार्थान्निजचारवाचा ।
दुःखापदेशेन सुयोधनाद्याः संमोदबाष्पं ससृजुः सभायाम् ॥ २४ ॥

तत्रालय इति । अथ लाक्षागृहदाहात्परतः निजचारवाचा स्वीयगुप्तचरभाषितेन तत्रालये तस्मिन् लाक्षागृहे एतान् पार्थान् दग्धतनून् भस्मीभूतशरीरान् निश्चित्य दुर्योधनाद्याः सर्वे भ्रातरः दुःखापदेशेन पाण्डुपुत्राणां मरणमुद्दिश्य रोदनं क्रियत इत्यपदिश्य सभायां निजपरिषदि संमोदबाष्पम् हर्षाश्रु ससृजुः विसृष्टवन्तः । चारमुखेनैषां पाण्डवानां भस्मीभावमाकर्ण्य मुदिताः कौरवाः पाण्डवमरणजन्यं दुःखं नाटयन्तो वस्तुतो जहृषुरित्याशयः ॥ २४ ॥

इसके बाद 'लाक्षागृहमें ये सभी पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ जल गये' यह समाचार जब गुप्तचरों द्वारा दुर्योधनादि कौरवोंको मिला तब वे ऊपर ऊपरसे सभामें पाण्डवोंके लिये रोते थे, परन्तु वस्तुतः वह उनका दुःखाश्रु नहीं था, वह उनका आनन्दाश्रु बह रहा था, उनको 'पाण्डवोंके मर जानेसे अब हमारा राज्य अकण्टक हो गया' यह समझकर खुशी हो रही थी ॥ २४ ॥

तावत्सोऽपि गन्धवहसूनुरन्धतमसबन्धुरं सक्थिजवसमुत्थितमरुदुत्पाटिततरुविटपवसतिविघटनसमुद्भ्रान्तशकुन्तकुलनिबद्धनिध्वानमध्वानं विलङ्घ्य कस्यचित्काननकासारतीरतरोरधिपरिसरमेतानवतार्य तदीयपरिरक्षणविचक्षणः क्षणमवतस्थे।

तावदिति। तावत् सुरङ्गाद्वारा निर्गमसमये सः प्रसिद्धपराक्रमो (भीमः) गन्धवहसूनुः वायुसुतः अन्धतमसेन गाढान्धकारेण बन्धुरं निविडं व्याप्तम्, सक्थ्नोः ऊर्वोः जवेन वेगेन समुत्थितः उद्गतो यो मरुत् वायुः तेन मरुता उत्पाटितानामुन्मूलितानां तरूणां वृक्षाणां विटपेषु शाखासु याः वसतयः पक्षिणां कुलायास्तेषां विघटनेन विध्वंसेन समुद्भ्रान्तानां भयचकितानां शकुन्तानां पक्षिणां कुलेन निबद्धः कृतो निध्वानः शब्दो यत्र तादृशम्, अध्वानं मार्गं विलङ्घ्य अतिक्रम्य कस्यचित् काननकासारतीरतरोः वनवर्त्तिसरोवरतटविटपिनः अधिपरिसरं समीपे एतान् भ्रातॄन् मातरं च अवतार्य स्कन्धदेशादवरोप्य तदीयपरिरक्षणविचक्षणः समातृकाणां भ्रातॄणां रक्षायां निपुणः (भीमः) क्षणम् किञ्चित् कालम् अवतस्थे विश्राय स्थित इति। सुरङ्गया प्रस्थितोऽसौ निविडतमसा व्याप्तं भीमस्य वेगेन वृक्षाणां पतनेन भ्रष्टनीडानां पतगानां कोलाहलेन मुखरितं कञ्चन पन्थानमतिक्रम्य कस्यचित् वनसरस्तटस्थितस्य तरोः समीपे तान्स्कन्धादवतार्य विश्राम्यतिस्म भीम इत्यर्थः॥

सुरङ्गके मार्गसे चलकर भीमने गाढ अन्धकारसे आच्छन्न, एवं भीमके जोरसे चलने के वेगसे उत्पन्न वायु द्वारा उखाड़े गये वृक्षोंकी शाखाओंके विघटनसे टूटे हुए घोसलोंके भयचकित पक्षियों द्वारा किया जा रहा है शब्द जिसमें ऐसे-मार्गको तय करके किसी वनवर्त्ती तालाबके तटस्थ वृक्षके पास अपने भाइयों और माताको अपने कन्धों परसे उतार कर रख दिया और उनकी रक्षामें सावधान रहकर कुछ देर तक विश्राम किया॥

तत्र कापि तरुणी तडिदाभा तं ययौ जतुगृहे सुहितेन।
चूषणाय तमसां वनमार्गे चोदिता हुतवहेन शिखेव॥ २५॥

तत्र कापीति। तत्र वनतडागतरुतले तडिदाभा विद्युदिव तरला प्रकाशशालिनी च जतुगृहे लाक्षागृहे सुहितेन (किरातीतत्पुत्रपञ्चकपुरोचनानां स्वादुपदार्थानां भक्षणेन) तृप्तेन हुतवहेन अग्निना प्रेरिता वनमार्गे भीमगन्तव्यकाननवर्त्मनि तमसां चूषणाय अन्धकारदूरीकरणाय चोदिता आदिष्टा (वह्नि) शिखा

१. 'धुरंधरं'। २. 'विटपविघटन'। ३. 'विघट्टन'। ४. 'कुलबद्ध'।
५. 'जागरविचक्षणः'; 'विचक्षणजागरः'; 'विचक्षणजागरूकः'। ६. 'सुखितेन'। इति पा०।

ज्वाला इव स्थिता कापि तरुणी तं भीमं ययौ प्राप। तत्र तरुमूले काचिदतिप्रकाशा तरुणी तं प्राप, सा भीमेन जतुगृहे वह्नये यो नरबलिः प्रदत्तस्तत्तृप्तेन वह्निना तन्मार्गतमोदूरीकरणाय प्रेरिता वह्निशिखेव प्रतीयतेस्म, इत्याशयः। जतुगृहसुखपदार्थतृप्तत्वं वह्नेः स्वशिखाप्रेषणे कारणत्वेनोपनिबद्धमिति काव्यलिङ्गम्, शिखारूपतोत्प्रेक्षा, तडिदाभा इत्युपमा चेत्यमीषां सङ्करः। स्वागता वृत्तम् ॥ २५ ॥

उस स्थान पर एक बिजलीकी तरह चमक वाली औरत भीमके सामने आई, वह ऐसी लगती थी, मानो लाक्षागृहमें भीमके द्वारा प्रस्तुत किराती आदिके शरीररूप उत्तम पदार्थके आस्वादनसे सन्तुष्ट होकर अग्निदेव द्वारा आदिष्ट भीमके मार्गमें वर्तमान अन्धकारको चूसनेमें तत्पर अग्निशिखा हो ॥ २५ ॥

अधरोष्ठविभागरेखिका सुदृशोऽस्या वदनेऽस्ति वा न वा।
इति सा हृदि तस्य संशयं परिमार्ष्टुं किल मौनमत्यजत् ॥ २६ ॥

अधरोष्ठेति। अस्याः भीमसमीपमायातायाः सुदृशः सुन्दर्याः वदने मुखे अधरस्य ओष्ठस्य च विभागरेखिका स्वल्पा भेदकरी कापि रेखा अस्ति वा नास्ति वा? इति एवं लक्षणं तस्य भीमस्य हृदि चित्ते सन्तं संशयं संदेहं परिमार्ष्टुं दूरीकर्तुं सा सुन्दरी मौनमत्यजत् जहौ। तडिदाभा सा सुन्दरी—अस्याः सुन्दरतनोर्मुखे निम्नोष्ठोर्ध्वोष्ठयोर्मध्ये विभेदरेखा विद्यते न वेति सन्देहमिव भीमस्य दूरीकर्तुं तं व्याजहार, येन रेखासत्त्वासत्त्वविषयः संशयः स्वयमेव दूरीभूत इति भावः। उत्प्रेक्षा स्फुटा ॥ २६ ॥

इस तरुणीके मुखमें नीचे-ऊपरके ओठोंके बीचमें विभाग रेखा है कि नहीं है? इस प्रकार सन्देहमें पड़े हुए भीमके सन्देहको दूर करनेके लिये उस तरुणीने मौनत्याग किया। उसके बोलनेसे भीमके हृदयका वह संशय मिट गया ॥ २६ ॥

[1]एतां प्रशास्ति भुजया वनराज्यसीमामेकः स्वयं नरभुजामृषभो हिडिम्बः।
अर्धांशभाग्जनवधे सममन्तकेन तुल्याभिधानपदया स्वसृमान्मया यः ॥२७॥

एतामिति। नरभुजाम् मनुष्यभक्षकाणाम् ऋषभः प्रधानभूतः, अतएव च जनवधे लोकानां मारणे अन्तकेन यमेन समम् अर्धांशभाक् समांशभागी (यावन्तो जना यमेन हन्यन्ते तावतां हन्तेत्यर्थः) हिडिम्बः नाम राक्षसः स्वयमेकः सहायकान्तरनिरपेक्षः भुजया बाहुबलेन एतां वनराज्यसीमाम् वनराज्यपर्यन्तभुवं शास्ति नियन्त्रयति, यो हिडिम्बः तुल्याभिधानपदा समाननामधारिण्या मया

---

१. 'एनां'। इति पा०।

हिडिम्बया स्वसृमान् भगिनीयुक्तः, अस्तीति शेषः। इमाम् वनभुवं मम भ्राता राक्षसराजो मानववधे यमेन सदृशश्च हिडिम्बः स्वयं शास्ति, तस्य हिडिम्बानासिकाऽनुजाऽहमस्मीति तात्पर्यम् ॥ २७ ॥

नरभोजियों–राक्षसोंमें प्रधान, नरसंहारमें यमके साथ समान भाग रखनेवाला मेरा भाई हिडिम्ब अकेले स्वयं इस वनभूमिका शासन करता है, और मैं उसीके नामके तुल्य नामवाली हिडिम्बा उसकी बहन हूँ ॥ २७ ॥

वीतशङ्कमिह तेऽद्य तिष्ठतः कीदृशं ककुदमित्ययं मम।
चित्तरङ्गभुवि नृत्तकौशलीमुत्तरङ्गयति चित्रलासकः ॥ २८ ॥

वीतशङ्कमिति। इह यमतुल्यहिडिम्बाधीनेऽपि कानने अद्य सम्प्रति वीतशङ्कं निर्भयभावेन तिष्ठतः वर्त्तमानस्य ककुदं धैर्यं कीदृशम्? इति एवंविधम् यत् चित्रं विस्मयः स एव लासको नृत्यकुशलो नटो मम चित्तरङ्गभुवि हृदयरूपरङ्गशालायाम् नृत्तं कौशलीम् स्वीयनर्त्तनक्रियावैदग्धीम् उत्तरङ्गयति प्रकटीकरोति। अत्र हिडिम्बशासितेऽतितरां भयङ्करेऽपि वने निर्भयतयाऽवस्थितस्य तव हृदये कीदृशं विलक्षणं धैर्यमिति विस्मयरूपो नर्त्तको मम हृदयरूपे मञ्चे स्वं कौशलं प्रकाशयति, त्वामत्रैवं दृष्ट्वा तव हृदयस्थितेन धैर्येणाहमति विस्मिताऽस्मीत्याशयः। साङ्गं रूपकम् ॥ २८ ॥

आज इस काननमें निर्भयभावसे बैठे हुए तुम्हारे हृदयमें कितना धैर्य है? यह विस्मयरूप नर्त्तक हमारे चित्तरूप रङ्गभूमिमें अपना नृत्तकौशल दिखला रहा है। हमारा हृदय आश्चर्य विभोर हो रहा है कि तुम्हारे कलेजे में कितनी जीवट है कि तुम यमपुरी समान हिडिम्ब–वनमें आकर भी निश्चिन्तभावसे बैठे हो! ॥ २८ ॥

रुधिरं पातुकामेन तेन वो हन्तुमीरिता।
अधरं पातुकामाऽहमस्मि ते रूपसंपदा ॥ २९ ॥

रुधिरमिति। रुधिरम् युष्माकं रक्तं पातुकामेन आस्वादयितुमिच्छता तेन यमकल्पेनैतद्वनस्वामिना हिडिम्बेन वः युष्मान् हन्तुं व्यापादयितुम् ईरिता उक्ता अहम् हिडिम्बा ते तव भीमस्य रूपसम्पदा सौन्दर्येण तव अधरं पातुकामाऽस्मि, त्वदीय रूपसम्पदाकृष्टा त्वया सह रन्तुमिच्छामीत्यर्थः ॥ २९ ॥

उस हिडिम्बने हमको तुम्हें मारनेके लिये प्रेरित किया है क्योंकि वह तुम्हारा रक्त पीना चाहता है, परन्तु रूप–सम्पत्तिसे मोहित होकर मैं तुम्हारा अधर चूमना चाहती हूँ, तुम्हारे रूपपर लट्टू होकर मैं तुम्हारी रतिकी भिक्षा चाहती हूँ ॥ २९ ॥

अद्य ते सविधमापतेदसौ हृद्यमेतदुचितं वचः शृणु।
मारणं रिपुषु तन्वताऽमुना मा रणं कुरु महान्बलेन सः ॥ ३० ॥

अद्य त इति । अद्य सम्प्रति असौ हिडिम्बः तव सविधं समीपम् आपतेत् आगच्छेत्, संभाव्यते तस्यात्रागमनम् इत्यर्थः, अतः हृद्यम् मनोहरमथ च उचितम् योग्यम् एतत् वक्ष्यमाणप्रकारं वचनम् मम कथनं शृणु आकर्णय, रिपुषु शत्रुषु विषये मारणं वधं तन्वता विदधताऽमुना हिडिम्बेन सह रणं युद्धं मा कुरु मा कृथाः, सः हिडम्बः बलेन महान् अतिशयितसामर्थ्यशाली, अतस्तेन युद्धं मरणनिमन्त्रणमित्याशयः ॥ ३० ॥

इसी समय वह हिडिम्ब तुम्हारे समीप आ सकता है, इसलिये हमारा यह मनोहर एवं उचित कथन सुनो, शत्रुओंके संहारमें निपुण उस हिडिम्बके साथ तुम युद्ध मत करो, क्योंकि वह बलमें महान् है ॥ ३० ॥

उपयामविधौ त्वरस्व मे कृपया मारशराः शरारवः ।
दिवि वा भुवि वाऽथ दिक्षु वा रमये त्वामुपनीय रंहसा ॥ ३१ ॥

उपयामेति । (हे धीर,) मे मम हिडिम्बाया रतिं प्रार्थयमानाया उपयामविधौ पाणिग्रहणकर्मणि कृपया त्वरस्व शीघ्रतां कुरु, तत्र कारणमाह—मारशरा इति । यतो मारशराः (मम विषये) कामबाणाः शरारवः घातकाः, कामो मामत्यर्थं पीडयति, विवाहेन न मम केवलं त्राणम्परं वः प्राणरक्षापि, यतः मारस्य शत्रोर्हिडिम्बस्य शराः शरारवः घातकाः, अतो निजान्प्राणान् रक्षितुमपि मम पाणिग्रहणाविषये त्वया त्वरणीयमित्याशयः । ननु तव पाणिग्रहणं कथन्नो रक्षायै जायेतेत्यपेक्षायामाह—दिवीति । दिवि स्वर्गे भुवि पृथिव्यां वा दिक्षु दूरदेशे वा रंहसा वेगेन त्वाम् उपनीय नीत्वा रमये क्रीडयामि । एवं मम पाणिग्रहणं तव कृते प्राणरक्षया समं सुन्दरीविहारप्रदमपीति तत्र शीघ्रताया औचित्यं व्यक्तीकृतम् ॥ ३१ ॥

कृपया तुम हमारे साथ विवाह करनेमें शीघ्रता करो क्योंकि कन्दर्पके बाण बड़े घातक हैं, अथवा हिडिम्बके बाण बड़े घातक हैं और विवाह हो जाने पर तो मैं तुमको स्वर्गमें या भूलोकमें कहीं भी वेगसे उड़ा कर ले जाऊँगी और तुम्हारे साथ निर्भर विहार करूंगी ॥ ३१ ॥

इत्येनां भाषमाणां रजनिचरपतिः क्रोधलिङ्गैः स्फुलिङ्गै-
र्दग्ध्वे[1]वाक्ष्णोरभीक्ष्णं स्फुटघटितभुजास्फोटवाचाटिताशः ।
बिभ्राणो बभ्रुकेश्यं त्वमिह वससि को मृत्युवक्त्रार्धजग्धो
दुर्बुद्धे ! तिष्ठ यासि क पुनरिति गिरा मेदुरः प्रादुरासीत् ॥ ३२ ॥

इत्येनां भाषमाणामिति । अभीक्ष्णम् वारं वारम् स्फुटम् प्रकटम् घटिताः कृताः ये भुजास्फोटाः भुजताडनानि तैः वाचाटिताः मुखरीकृताः आशाः दिशो येन स

१. 'दग्ध्वैव' । इति पा० ।

तथोक्तः, एवम् बभ्रु पिङ्गलवर्णं कैश्यम् असंयतकेशराशिम् बिभ्राणः धारयन् रजनिचरपतिः राक्षसमुख्यो हिडिम्बः, इति उक्तप्रकारं वचनं (भीमं प्रति) भाषमाणाम् एनाम् हिडिम्बां नाम स्वसारं क्रोधलिङ्गैः किमर्थमियमेभिः सह सस्नेहं संलपति ? किमर्थं वा नैनामाशु व्यापादयति ? इतिमूलकं कोपं प्रकाशयद्भिः अक्ष्णोः स्फुलिङ्गैः क्रोधाग्निकणैः दग्ध्वा इव स्थितः (हिडिम्बां प्रति रक्ताक्ताभ्यामिव नयनाभ्यां पश्यन् स्थित इत्यर्थः) हे दुर्बुद्धे मूढमते, मृत्युवक्त्रे मृत्युमुखे इह वने अर्धजग्धः अर्धभक्षितः मृत्युमुखपतितः त्वं को वससि वासं करोषि? तिष्ठ पुनः, क्व यासि गच्छसि ? इति गिरा वाचा मेदुरः युक्तः प्रादुरासीत् प्रकटीभूतः। अयमाशयः—रुधिरं पातुमाज्ञप्तायां हिडिम्बायां भीमस्य रूपसम्पदाऽऽकृष्टायां तदधरपानं कामयमानायां सत्यां स्वाज्ञापालने विलम्बमसहमानो हिडिम्बः कुपितो भुजास्फोटेन दिशो मुखरयन् प्रादुर्भूतः सन् भीमं प्रति—अरे दुर्बुद्धे कोऽसि त्वं योऽत्र मृत्योर्मुख इव वने वससि ? क्व यासि ? तिष्ठ, सद्योऽहमधुना त्वां यमपुरं नयामीति भाषमाणो भीमं तर्जयितुमायात इति ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कहती हुई इस हिडिम्बाको क्रोधसे भरी आंखोंसे निगलता सा हुआ बारबार ताल ठोंकनेकी आवाजसे दिशाओंको गुजाता हुआ, पिङ्गलवर्ण—केशों वाला, अरे मूढ, मृत्युमुखके समान इस वनमें वास करनेवाले तुम कौन हो ? जाते कहाँ हो ? ठहरो, इस तरहके शब्दोंका व्यवहार करनेवाला वह हिडिम्ब वहाँ प्रकट हुआ ॥ ३२ ॥

तस्मिन्रक्षसि नेदिष्ठे तादृक्षपरुषाक्षरे ।
अपमृत्युरिवोदस्थादनिलस्यात्मसंभवः ॥ ३३ ॥

तस्मिन् रक्षसि इति। तादृक्षाणि श्रुतिमात्रानुमेयकठोरभावानि परुषाणि कठोराणि वचनानि यस्य तस्मिन् तादृक्षपरुषाक्षरे तस्मिन् रक्षसि हिडिम्बे नेदिष्ठे समीपवर्त्तिनि सति अनिलस्यात्मसंभवो वायुपुत्रो भीमः अपमृत्युः असामयिकमरणम् इव उदस्थात् आसनं विहाय उदस्थात् उत्थितः। अत्रोपमया हिडिम्बवधो व्यज्यते ॥ ३३ ॥

उस तरह कठोर वचन उच्चारण करनेवाला वह राक्षस हिडिम्ब जब अति समीप आ पहुँचा तब वायुनन्दन भीम अपने स्थानसे उठकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

वृक्षेण वृक्षं गिरिणा गिरीन्द्रं हस्तेन हस्तं वचसा वचश्च ।
परस्परेण प्रतिरुध्य घोरं समीकमेतौ सममादधाते ॥ ३४ ॥

वृक्षेणेति। एतौ भीमहिडिम्बौ वृक्षेण तरुणा वृक्षम्, गिरिणा पर्वतेन गिरीन्द्रम् पर्वतश्रेष्ठं, हस्तेन भुजेन हस्तं भुजं, वचसा वचश्च प्रतिरोध्य वारयित्वा समम् एकसमानम् घोरं दारुणञ्च समीकम् युद्धम् आदधाते चक्राते। भीमहिडिम्बौ वृक्षप्रहारे एकेन कृते वृक्षेणैव तं वारयत एवमेव गिरिणा प्रहारे कृते तं गिरिणैव वारयतः,

तदेवं तयोः समबलं भीषणं युद्धं चक्रतुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

वे भीम और हिडिम्ब समान भावमें भीषण युद्ध करने लगे, एक ओरसे वृक्ष द्वारा प्रहार किये जाने पर दूसरा योद्धा उस प्रहारको वृक्षसे ही बचाता था, पर्वत-प्रहारको पर्वतसे, हस्त-प्रहारको हाथसे और तीखे वचनोंका उत्तर तीखे वचनोंसे देता था ॥ ३४ ॥

स्वसुः समक्षं स्वयमेव मुष्ट्या बलं बिडौजा इव वज्रसख्या ।
हिड़िम्बमेनं यमराजधानीकुटुम्बिमुख्यं कुरुते स्म भीमः ॥ ३५ ॥

स्वसुरिति । सः भीमः स्वयम् आत्मना वज्रसख्या अशनिवत् कठोरया मुष्ट्या मुष्टिप्रहारेण स्वसुः भगिन्याः हिडिम्बायाः समक्षम् पुरत एवैनं हिडिम्बं नाम राक्षसं बिडौजाः इन्द्रः बलं बलासुरम् इव यमराजधान्यां ये कुटुम्बिनः वासिनस्तेषां मुख्यं प्रधानम् कुरुतेस्म । पश्यन्त्यामेव हिडिम्बायां भीमो हिडिम्बं न्यवधीदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

इन्द्रने जैसे बलासुरको अपने वज्रसे मारकर यमपुर भेज दिया था, उसी प्रकार वज्रके समान बलवाली मुष्टिके प्रहारसे भीमने हिडिम्बको हिडिम्बाके सामने ही यमपुर निवासियोंका प्रधान बना दिया, अर्थात् मार करके यमलोक भेज दिया ॥ ३५ ॥

तदनु तिमिरकदम्बेन हिडिम्बेन निर्मुक्तात्तस्मादहर्मुखादिव वनात्[1]सं- ध्ययेव सरागया तया कमलपालिकया सह तपनभानव इव राजसूनवस्ते निष्क्रम्य शालिहोत्रमुनेः सरसि[2] वीतिहोत्रभासं व्यासं भगवन्तमासेव्य तत्र तन्निदेशादहानि कतिचिदतिवाहयांचक्रुः[3] ।

तदन्विति । तदनु हिडिम्बवधानन्तरम् तिमिरकदम्बेन तमःसमूहेन इव हिडिम्बेन तन्नामकरक्षसा निर्मुक्तात् रहितात् तस्मात् अहर्मुखात् प्रातःकालात् प्रत्यूषात् इव वनात् काननात् सरागया लौहित्ययुक्तया प्रेमपूर्णया च कमलपालिकया कमलमालया हिडिम्बया सह सन्ध्यया सह तपनभानवः सूर्यकरा इव ते राजसूनवः राजपुत्राः पाण्डवा निष्क्रम्य बहिर्भूय शालिहोत्रमुनेः सरसि सरसस्तीरे वीतिहोत्रो वह्निस्तस्य भा इव भाः कान्तिर्यस्य तं तथोक्तम् वह्निप्रभं भगवन्तं सर्वसामर्थ्यशालिनं व्यासं नाम मुनिम् आसेव्य अभ्यर्थनादिना सत्कृत्य तत्र सरस्तीरे तन्निदेशात् भगवतो व्यासस्य वचनात् कति चिदहानि कानि चन दिनानि अतिवाहयांबभूवुः गमयामासुः । यथा तमःसमूहात् निर्गताः सन्ध्यया सरागया युक्ताः सूर्यकरा भवेयुस्तथा पूर्णानुरागया हिडिम्बया सह तस्माद्वनान्निर्गताः पाण्डवाः शालिहोत्राख्यमुनिस्वामिकस्य सरसस्तीरे स्थितं वह्निसमानभासं व्यासं समभ्यर्च्य च तदादेशादरेण तत्र कतिचनाहानि न्यवात्सुरिति भावः । 'वीति-

---

१. 'वनमध्यात्' । २. 'सदसि' । ३. 'कानिचित्' । इति पा० ।

होत्रो धनञ्जयः', 'कृपीटयोनिर्ज्वलनः' इत्यग्निपर्यायेष्वमरः । तिमिरसमूहेन हिडिम्बस्य सन्ध्यया हिडिम्बायाः, अहर्मुखेन वनस्य, तपनभानुभिश्च पाण्डवानाः मुपमेयोपमानभावः कल्पितः ॥

इसके बाद तिमिर राशि सदृश उस हिडिम्बसे रहित अहर्मुख-प्रत्यूषके समान उस वनसे बाहर निकलकर सन्ध्याकी तरह सराग (लौहित्ययुक्त एवं प्रेमपूर्ण) उस कमल वनपालिका हिडिम्बाके साथ सूर्यकरके समान वे पाण्डुपुत्र शालिहोत्र-नामक मुनिके सरोवरके तट पर अवस्थित आगकी तरह देदीप्यमान एवं सर्वसामर्थ्यशाली भगवान् व्यास मुनिकी अभ्यर्थना करके उनके आदेशानुसार कुछ दिन वहाँ पर ठहर गये ॥

पुत्रं तत्र घटोत्कचं पवनभूसङ्गादनङ्गातुरा
प्राप्तं सर्वगुणैर्मनोजवसतां प्रासूत नक्तंचरी ।
कुर्यां वः स्मृत एव कर्मसु हरेः शक्तेरपि स्रंसना-
मित्युक्त्वा स पितॄन्यथाभिलषितं युक्तस्तया निर्ययौ ॥ ३६ ॥

पुत्रं तत्रेति ॥ तत्र शालिहोत्रमुनिसरस्तटे अनङ्गातुरा कामपीडिता नक्तञ्चरी राक्षसी हिडिम्बा पवनभुवः भीमस्य सङ्गात् संभोगात् सर्वगुणैः सर्वैः शौर्यादिगुणगणैः मनोजवसतां प्राप्तम् पितृसादृश्यमाप्तवन्तम् घटोत्कचं नाम पुत्रं प्रासूत जनयामास, सः जातो भीमपुत्रो घटोत्कचः—वः युष्माकम् पितॄणां कर्मसु उपयुक्तकार्यावसरेषु स्मृतः एव स्मृतिमात्रेण सन्निहितः सन् हरेः इन्द्रस्य शक्तेः सामर्थ्यस्य अपि स्रंसनाम् निष्फलनं कुर्याम् विदध्याम् इति उक्तप्रकारेण पितॄन् युधिष्ठिरादीन् उक्त्वा तया हिडिम्बया युक्तः सहितः यथाभिलषितं स्वेच्छया ययौ गतः । तत्र सरस्तटे भीमेन मिथुनीभूय हिडिम्बा भीमसमं घटोत्कचं नामतनयमजनयद्यस्य च पुत्रो—यदा क्वचन कर्मणि भवन्तो मांस्मरेयुस्तदा स्मरणमात्रेण सन्निहितोऽहमिन्द्रस्यापि शक्तिं विफलीकुर्यामिति युधिष्ठिरादीनभिधाय मात्रा हिडिम्बया सह यथाभिमतदेशं ययावित्यर्थः । 'अथ मनोजवसः पितृसन्निभः' इत्यमरः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

उस सरोवरके तट पर भीमके संयोगसे कामातुरा उस राक्षसी हिडिम्बाने सभी गुणगणोंसे भीम-समान घटोत्कच नामके पुत्रको जन्म दिया । उस लड़केने-जब कभी मौका पड़ने पर आप मुझे स्मरण करेंगे, तब आपके स्मरण करने मात्रसे उपस्थित होकर मैं (आपके विरोधमें खड़ी) इन्द्रशक्तिको भी व्यर्थ कर दूंगा, इस प्रकारकी बातें अपने बाप तथा चचा लोगोंसे कहकर अपनी माता हिडिम्बाके साथ यथेच्छ स्थानकी यात्राकी ॥ ३६ ॥

ततस्ते वन्याशनैर्धन्या धारितवसुधासुधाशनाकृतयः प्रावृषमिव बक-

बलाक्रान्तां पातालभुवमिव प्रत्यहं वर्धमानबलिशोकामङ्गराज्यसीमामिव सूर्यतनयानुकूलप्रतिष्ठां रविरथाक्षधुरमिवैकचक्रां पुरीं क्रमादाक्रम्य कस्यचिद्गृहमेधिनो गृहमध्यमेत्य सुखमध्यवात्सुः ।

तत इति । ततः घटोत्कचे मात्रा सह प्रयाते सति, वन्याशनैः वनभवकन्दमूलाद्याहारैः धन्यास्तुष्टाः श्लाघ्याश्च, धारिताः—वसुधा—पृथ्वी सुधाशनाः—अमृतभुजो देवाः भूदेवाः ब्राह्मणास्तेषामाकृतयो रूपाणि यैस्ते ब्राह्मणरूपधारिणः ते पाण्डुतनयाः, प्रावृषम् वर्षाकालमिव वकबलेन वकाख्यदानवसैन्येन वकपङ्क्तिसमूहेन च आक्रान्ताम् परिवृताम्, पातालभुवम् पाताललोकम् इव प्रत्यहं वर्धमानः दिनानुदिनमेधमानो बलिना प्रबलेन वकाख्यदानवेन हेतुभूतेन शोकः कष्टं यस्यास्ताम्, वर्धमानः बलेर्वैरोचनस्य शोको (पाताले बलिर्विष्णुना नागपाशैर्बद्ध इति तत्प्रभवः) यस्यां तां च अङ्गराज्यसीमाम् अङ्गाख्यदेशपर्यन्तभुवमिव सूर्यतनयायाः यमुनायाः अनुकूलं तटे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्यास्तां, सूर्यतनयेन कर्णेन पालकेन अनुकूला उचिता प्रतिष्ठा प्रशस्तिर्यस्यास्तां च, रविरथस्य सूर्यस्यन्दनस्य अक्षधुरं चक्रावलम्बितिर्यग्दारुभेदमिव एकचक्रां केवलैकचक्रयुताम् तदाख्यां च एकचक्रां नाम पुरीम् क्रमात् क्रमेण आक्रम्य अधिश्रित्य कस्यचित् गृहमेधिनो गृहस्थस्य गृहमध्यम् गृहम् एत्य प्राप्य सुखम् अक्लेशम् अध्यवात्सुः अवसन् ॥

इसके बाद वनमें मिलनेवाले कन्द—मूल—फल आदिके आहारसे सन्तुष्ट तथा ब्राह्मणकी आकृति धारण करनेवाले वे पाण्डव—वर्षा ऋतुकी तरह बगलेकी पांतसे युक्त एवं बकासुरके सैन्यसे घिरी, पाताललोककी तरह दिनोंदिन बढ़ रहा है बलिका शोक जिसमें ऐसी, और दिनों दिन बढ़ रहा है बलवान् बकासुरके कारण लोगोंका शोक जहाँ पर ऐसी, अङ्गराज्यकी सीमाकी तरह—कर्णके द्वारा पालित होनेसे जिसे उचित संमान प्राप्त है ऐसी तथा यमुनाके किनारे अवस्थित, सूर्यके रथकी धुरीकी तरह एक चक्के वाली तथा एकचक्रा नामकी नगरीमें आकर किसी गृहस्थके घर जाकर सुखसे रहने लगे ॥

भिक्षामटद्भिरथ तत्र पृथाकुमारैरर्धं विभज्य पृथगर्पितमन्नराशिम् ।
आकण्ठमभ्यवहरन्निखिलैः प्रतीकैः पुत्रो बभूव मरुतः पुनरुक्तपोषः ॥३७॥

भिक्षामिति । अथ तत्र एकचक्रानामपुरे भिक्षाम् अटद्भिः आहरद्भिः पृथाकुमारैः युधिष्ठिरादिभिः पृथक् प्रत्येकम् अर्धं विभज्य समांशविभागं कृत्वा अर्पितं अन्नराशिम् अन्नपूरम् आकण्ठं यावत्तृप्ति अभ्यवहरन् भुञ्जानः मरुतः पुत्रो वायु-

१. 'जगतीमिव' 'नगरीमिव'। २. 'गृह्यम्'। ३. 'उपेत्य'। ४. 'तनूजैः'। ५. 'अन्नराशेः'। इति पा०।

सूनुर्भीमः निखिलैः सर्वैः प्रतीकैः अवयवैः पुनरुक्तपोषः द्विगुणितपुष्टिः बभूव जातः॥३७॥

उस एकचक्रापुरीमें सभी पाण्डव भीख मांगकर लाये गये अन्नमेंसे अलग करके आधा-आधा अन्न भीमको देते थे, उसे यावत् तृप्ति खाता हुआ भीम सभी अङ्गोंमें दुगुना पुष्ट हो गया ॥ ३७ ॥

तत्र तत्र द्विजैरेते पृष्टा नाशं पृथाभुवाम्।
इत्यूचुर्वयमत्रैव विद्मस्तेषां तु संस्थितिम् ॥ ३८ ॥

तत्र तत्रेति। एते पाण्डुसुताः युधिष्ठिरादयः तत्र तत्र यत्र तत्र गोष्ठीषु द्विजैः पृथाभुवां युधिष्ठिरादीनां नाशं दाहजन्यं मरणं पृष्टाः सन्तो 'वयम् अत्र 'एकचक्रा' पुर्याम् एव तेषां पाण्डवानां संस्थितिम् मरणं विद्मः जानीमः' इति ऊचुः। अर्थात् 'ते मृताः' इत्यत्रैवास्माभिः श्रूयतेऽतो नास्ति तत्सत्यताविषयेऽस्माकं किमपि वक्तव्यमित्यर्थः। 'वयमत्रैव तेषां संस्थितिमवस्थानं जानीमः' इत्यपि सत्यमत्र प्रच्छाद्योच्यमानं बोध्यम् ॥ ३८ ॥

जहाँ तहाँ गोष्ठियोंमें जब एकचक्राके रहनेवाले ब्राह्मण इन पाण्डुपुत्रोंसे लाक्षागृहमें आग लगनेसे पाण्डवोंके मरणके विषयमें पूछते थे, तब वे लोग यही कहते थे कि हम तो उनके विषयमें मरनेकी बात यहीं पर सुन रहे हैं, (हम तो उनका यहां रहना जानते हैं, यह अर्थ भी उसमें छिपा है, जो सत्य है) संस्थितिका अर्थ मरण भी है और रहना भी, इस प्रकार सत्य-प्रकाशन और आकारगोपन दोनों ही इस श्लोक में किया गया है ॥

यक्षेण केनापि हतो हिडिम्ब इति ब्रुवाणेषु मिथो द्विजेषु।
आकूतगर्भं हसितं सगर्भ्याश्चक्रुर्मुखं वीक्ष्य समीरसूनोः ॥ ३९ ॥

यक्षेणेति। केनापि अज्ञातविशेषपरिचयेन यक्षेण हिडिम्बो हतः मारितः इति मिथः परस्परं ब्रुवाणेषु द्विजेषु ब्राह्मणेषु सत्सु सगर्भ्याः सोदराः युधिष्ठिरादयः समीरसूनोः वायुसुतस्य भीमस्य मुखम् वीक्ष्य दृष्ट्वा आकूतगर्भं साभिप्रायम् (अयमेव हिडिम्बहन्ता, यमत्रत्या अज्ञातपरिचयं यक्षमाचक्षते) हसितं स्मितं चक्रुः। अत्रत्यद्विजानां हिडिम्बहन्तुर्विषयेऽज्ञानं लक्ष्यीकृत्य जहसुरित्याशयः ॥ ३९ ॥

एकचक्रापुरीके ब्राह्मणगण जब आपसमें कहते थे कि हिडिम्बको किसी यक्षने मार दिया तब सोदरगण भीमके मुखकी ओर देखकर अभिप्राय-सूचक ढङ्गसे हंसा करते थे। उनके उस प्रकार हंसनेका यह अभिप्राय होता था कि जिसे यह ब्राह्मण लोग यक्ष कह रहे हैं वह तो यही है ॥ ३९ ॥

एकदा सायमन्तर्गृहे निरवग्रहं निष्पतद्भिर्बाष्पैस्तरङ्गितोत्तमाङ्गमपत्यमुत्सङ्गभुवि पुरोधाय यातुधानापराधभयानुरोधेन मन्दितं क्रन्दितमुत्सृ-

१. 'उत्सङ्गभुवि पत्युरपत्यं'। इति पा०।

जन्तीं कुन्ती समुपसृत्य विषादनिदानं विप्रायताक्षीमप्राक्षीत् ।

एकदेति । एकदा एकस्मिन्समये सायंकाले अन्तर्गृहे गृहाभ्यन्तरे निरवग्रहम् अनिवारितरूपेण निष्पतद्भिः स्रवद्भिः बाष्पैः अश्रुभिः तरङ्गितोत्तमाङ्गं सिक्तमुखम् अपत्यं बालकमुत्सङ्गभुवि क्रोडदेशे पुरोधाय निधाय स्थापयित्वा यातुधानस्य रक्षसोऽपराधः आज्ञाभङ्गरूपस्ततो भयं तदनुरोधेन (स्फुटरुदितेन वको नाम राक्षसो नाप्रसन्नो भवेदिति भयेनेत्यर्थः) मन्दितं मन्दीकृतं क्रन्दितं रोदनमुत्सृजन्तीं कुर्वतीं विप्रायताक्षीम् ब्राह्मणरमणीम् समुपसृत्य उपेत्य कुन्ती विषादनिदानं दुःखहेतुम् अप्राक्षीत् तद्रुदितकारणं जिज्ञासितवती । रुदन्तं बालकमङ्के कृत्वा रुदतीं ब्राह्मणीमुपेत्य कुन्ती तद्रुदितकारणं पृष्टवतीत्यर्थः ।

एक समय संध्याकालमें घरके भीतर धारा–प्रवाहरूपमें बहते हुए आंसुओंसे भींगा हुआ है सिर जिसका ऐसे बालकको गोदमें लेकर वक नामक राक्षसके रंज हो जानेके भयसे जोरसे न रोकर धीरे–धीरे रोती हुई ब्राह्मणकी स्त्रीके समीप जाकर कुन्तीने उससे रोनेका कारण पूछा ॥

साऽपि तां कृपालुतया हृदि लगद्गदां गद्गदाक्षरमाचचक्षे ।

साऽपीति । सा विप्रस्त्री अपि कृपालुतया दयालुमानसतया हृदि हृदये लगन् गदः परितापो यस्यास्ताम् मनसि खेदमावहन्तीम् तां कुन्तीम् गद्गदाक्षरम् दुःखास्फुटशब्दम् आचचक्षे ऊचे । ब्राह्मणी कुन्त्याः सहानुभूतिं दृष्ट्वा दुःखेन गद्गदस्वरेणोवाचेति ॥

उस ब्राह्मणीने देखा कि दयाके कारण कुन्तीके हृदयमें हमारे दुःखसे सन्ताप हो रहा है तब उसने गद्गद स्वरमें कहा—

साधयेयमिति धर्मसंग्रहं संदधाति मिथुनं परस्परम् ।
आधये परमनेकजन्मनोरावयोरजनि पापसंग्रहः ॥ ४० ॥

साधयेयमिति । धर्मः पितृणापाकरणरूपः संगृह्यते साध्यते अनेनेति धर्मसंग्रहः पुत्रस्तं साधयेयम् उत्पादयेयम् इति हेतोः मिथुनम् दम्पती परस्परं सन्दधाति संयुज्यते, पितॄणामृणं येन शुद्ध्यति तादृशं धर्म्यं पुत्रमुत्पादयितुमेव स्त्रीपुरुषौ परस्परं संयुज्येते इत्यर्थः, 'जायमानो ह वै त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् भवति स्वाध्यायेनर्षिभ्यः प्रजया पितृभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजाभ्यः पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुत्या पुत्रोत्पादनं धर्मं ज्ञात्वा दम्पती परस्परं मिलित्वा संभोगेन पुत्रमुत्पादयत इति प्रथमपादद्वयस्यार्थः । परं किन्तु अनेकानि बहूनि जन्मानि ययोस्तयोरनेकजन्मनोः बहूनि जन्मानि प्राप्तवतोरावयोः आधये मानस्यै व्यथायै पापसङ्ग्रहः दुःखसञ्चयः अजनि जातः, अनेनाल्पायुषा पुत्रेण विद्यमानयोरावयोः पापसञ्चय एवाधये परिणतः, अयं पुत्रो धर्मसञ्चयस्थाने दुःखप्रदत्वेन पापसञ्चय-

रूपो जात इत्यर्थः। अस्य पुत्रस्य निधनेन खेदमात्रफलको दम्पत्योरावयोः सङ्गमो जात इति भावः ॥ ४० ॥

पितृ ऋण चुकानेके लिये पुत्रोत्पादनके ख्यालसे ही दम्पति परस्पर संयोग करते हैं, यह कार्य उनका धर्म-संग्रह माना जाता है, परन्तु हम दोनों प्राणियोंके लिये यह पुत्ररूप धर्मसंग्रह पापसंग्रह होने जारहा है, क्योंकि यह लड़का नहीं रहेगा, हम दुःखमें घुला करेंगे ॥ ४० ॥

अयि ! किं ब्रवीमि परिपाकमंहसामतिभीषणो वक इति क्षपाचरः।
स्वसुरादरात्स्वयमिवागतो यमो यमुनावनान्तमवलम्ब्य वर्तते ॥ ४१ ॥

अयि किमिति। अयीति सस्नेहं सम्बोधनम् अयि, अंहसाम् स्वपापानां परिपाकं दुःखात्मना परिणतिं किं ब्रवीमि केन प्रकारेण प्रकाशयामि ? अकथनीयो मम दुःखपरिपाक इत्यर्थः, अतिदारुणः अतिभयङ्करः वक इति वकसंज्ञः क्षपाचरो राक्षसः स्वसुः यमुनायाः आदरात् स्नेहप्रकर्षात् स्वयम् अनाहूत एवागतो यम इव यमुनावनान्तम् तत्तीरवर्त्तिकाननप्रान्तम् अवलम्ब्य आश्रित्य वर्त्तते अस्ति। यमुनातीरकानने वको नाम राक्षस एको वसति यः स्वसुर्यमुनायाः स्नेहादागतो यम इव प्रतीयत इत्यर्थः। मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

अजी, अपने पापोंका परिणाम कहाँ तक बताऊँ ? हमारा दुःख अवर्णनीय है, क्योंकि वक नामक अतिदारुण राक्षस यमुना-तटस्थ वनप्रान्तमें रहता है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानो अपनी बहन यमुनाके प्रति स्नेह होनेके कारण स्वयं यमराज आया हो ॥ ४१ ॥

मा भून्नाशो युगपदिति नो भीरुभिर्जातु पौरैः
पूर्वैर्लब्ध्वाऽवसरमसकृत्प्रार्थनाभिः प्रक्लृप्तम्।[1]
एकैकस्मिन्नहनि वितरत्येकमेकं पुमांसं
नित्यं तस्मै बलिमिह जनस्तुङ्गमन्नस्य राशिम् ॥ ४२ ॥

मा भूदिति। नः अस्माकं सर्वेषां पुरवासिनाम् युगपत् सहैव नाशः वधः मा भूत् न जायताम् इति हेतोः भीरुभिः स्वस्वप्राणात्ययशङ्किभिः पूर्वैः प्राक्तनैः पौरैः पुरवासिभिः जातु कदाचित् अवसरं वकाय प्रार्थनायाः समयं लब्ध्वा प्रार्थनाभिः अनेकधाऽनुनयैः प्रक्लृप्तम् निश्चितम् एकैकस्मिन्नहनि प्रतिवासरम् एकमेकम् पुमांसं पुरुषं तुङ्गम् महोन्नतम् अन्नस्य राशिं च जनः एतत्पुरवासिलोकः इह नित्यं सदा तस्मै वकाय बलिम् वितरति ददाति। सर्वेषां जनानां युगपदेव विनाशो मा भूदिति पौरास्तत्समीपं गत्वा प्रार्थनाभिस्तमनुनीय च निश्चितं चक्रुर्यदेकः पुमान् महाँश्चान्नराशिः प्रत्यहं तव बलिरूपेणागमिष्यति मा वृथा

१. 'उपागतो'। २. 'कृत्वा'। इति पा०।

पुरजनकदनं कृथास्तदनुसारेण प्रत्यहं महताऽन्नराशिना सममेकं पुमांसमुपहरन्त्य- त्रत्या जना वकाय बलिरूपेणेत्याशयः ॥ मन्दाक्रान्ता वृत्तम्, लक्षणमन्य- त्रोक्तम् ॥ ४२ ॥

समूचे गाँवका एक साथ ही नाश न हो जाय इसलिये डरकर इस गाँव के पुराने वासिन्दोंने अवसर पाकर नानाप्रकारसे मिन्नतें करके तय कर दिया कि प्रतिदिन एक एक पुरुष तथा बड़ी सी अन्न राशि बलिके रूपमें दिया करेंगे, और उसी तरह प्रतिदिन दिया करते हैं ॥ ४२ ॥

तादृशः प्रलयकालकठोरो वासरः स तु ममालयभूमेः ।
द्वारि तिष्ठति बकात्परितुष्टात्पारितोषिकमिवाद्य जिघृक्षुः ॥ ४३ ॥

तादृश इति । तादृशः वक्तुमशक्यः क्रमप्राप्तश्च प्रलयकालकठोरः प्रलयसमय- समरौद्रः सः वासरः तु ममालयभूमेः मद्गृहस्थलस्य द्वारि अनतिदूरे तिष्ठति, यस्मिन्नहनि मद्गृहात् बलिर्देयः स वासरोऽतिसन्निहितः इत्यर्थः । अद्य परि- तुष्टात् मया दत्तेन बलिना परितुष्टात् वकात् पारितोषिकं सन्तोषसूचकमुपहारं जिघृक्षुरिव, मन्ये स वासरो मद्गृहमुपेत्य मया दीयमानं बलिं वकाय समर्प्य च ततः किमपि लिप्समान इवास्ति, अत एवासौ स्वार्थवशेन मद्गृहसमीपमागत इत्याशयः ॥ ४३ ॥

उस तरहका क्रम-प्राप्त एवं प्रलयकालके समान कठोर वासर हमारे घरके दरवाजे पर पहुँच गया है, ऐसा लगता है कि वह हमारे द्वारा दिये गये बलिसे परितोषित बकसे कुछ इनाम लेना चाह रहा हो । ऐसा होता है कि जिसे आप कुछ दिला दीजियेगा वह आप पर खुश होकर आपको कुछ पारितोषिक प्रदान करेगा, अतः जल्दी करके यह दुष्ट वासर हमारे घर पर आगया है, हम जो बलि देंगे, वह वकको प्राप्त कराकर यह वासर उससे कमीशनकी तरह कुछ पारितोषिक लेलेगा ॥ ४३ ॥

बालानिव प्रवयसोऽपि नराशनोऽयं
भुञ्जीत चेन्मम स एव हि पुण्यपाकः ।
बालेन भाव्यमिति तद्बलिषु व्यवस्था
कण्ठे पुनः कलयति[1] क्रकचस्य धाटीम् ॥ ४४ ॥

बालानिवेति । अयं नराशनः नरभोजी वकः बालान् इव प्रवयसः वृद्धानपि चेत् भुञ्जीत भक्षयेत्, तर्हि स एव (वककृतं वृद्धभक्षणम्) मम पुण्यपाकः पुण्य- फलोदयः सुखावहः स्यात् । यदि स बालानिव वृद्धानपि भक्षयेत्तदात्मानमेवोप- हृत्यास्मात्कष्टात् मुक्तिं लभेय तदेव नोपपद्यते इत्याह—बालेनेति । वकस्य बलिना

---

१. 'कलयते' । इति पा० ।

बालेन भाव्यमिति तद्बलिषु तद्भक्ष्येषु व्यवस्थानिर्णयः, तदियं विषमा व्यवस्था पुनः मम कण्ठे क्रकचस्य करपत्रस्य धाटीं शैलीं तुलनां करोति। तदीया बालभक्षण-व्यवस्था मामतिशयेन खेदयतीति भावः ॥ ४४ ॥

बालकोंकी तरह बूढ़ोंको भी अगर वह नरभोजी बक खा जाता तब तो मेरे पुण्यका उदय ही हो जाता, क्योंकि तब तो मैं अपनी बलि देकर इस कष्टसे छूट जाती, परन्तु उसने तो नियम बना रखा है कि बलिमें आया हुआ मनुष्य बच्चा ही होना चाहिये, उसका यह नियम हमारे गले पर आरे की भाँति चल रहा है, जैसे आरासे कोई मुलायम चीज कष्टसे कटती है, उसी तरह हमारा गला रेता जारहा है ॥ ४४ ॥

संतानमूलमिदमेकमपत्यमास्ते
संवर्तकालसहजश्च स राक्षसेन्द्रः ।
संभूयते च समयः क्षपया महत्या
संतीर्यतां कथमियं सखि ! मे विपत्तिः ॥ ४५ ॥

सन्तानमूलमिति। सन्तातस्य वंशपरम्परायाः मूलं कारणभूतम् इदं क्रोडे रुदत् एकं सजातीयरहितम् अपत्यम् पुत्ररूपम् आस्ते, तद्दानं वंशोच्छेदे परिणमेदित्यर्थः, ननु दयया कदाचिद्बको मुञ्चेदिदं तवापत्यमिति चेत्तत्राह—संवर्तेति। सः प्रसिद्ध-क्रूरभावः राक्षसेन्द्रः राक्षसराजः बकः संवर्त्तकालसहजः प्रलयकालतुल्यः, ननु कालान्तरे भावि दुःखमिति चिन्ता न कार्या, तत्राह—संभूयते इति। महत्या दुःखदुर्याप्यया क्षपया एकयैव रात्र्या समयो बलिप्रदानकालः संभूयते प्राप्यते (भूप्राप्तावात्मनेपदी), एकस्यां दुःक्षयायां क्षपायां वीतायामेव मम बलिप्रदान-स्यावसरः प्राप्तो भवतीति दुःखमतिसन्निहितमित्यर्थः। इयम् उक्तप्रकारा मे मम विपत्तिः हे सखि, कथं केन प्रकारेण सन्तीर्यताम् अतिक्रम्यताम्। एतादृशीं विपद-मह कथङ्कारमुत्तराणीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हमारे वंशको कायम रख सकने वाला यह एकमात्र पुत्र है, और यह राक्षस प्रलय-कालके समान निर्दय है। एक भयङ्कर रातभरके बाद बलि पहुँचानेका समय हो जायगा, यही हमारी विपत्ति है, सखी, बताओ किस प्रकार इस विपत्तिको पार करूँ? ॥ ४५ ॥

इत्युदीर्य सरभसावगाहनहृदयसमुत्कूलितं शोकसरःपूरमिव नयन-सलिलं विशृङ्खलं खेलयन्त्यै तस्यै 'तनयेषु द्वितीयः समरेष्वद्वितीयः सुतः सखि ! ते[1] दीयते। स एव तत्प्राणनाशने[2] बली भविष्यति। मा भैषीः' इति सा नरदेवमहिषी प्रत्यश्रौषीत्।

इत्युदीर्येति। इति उक्तप्रकारेण उदीर्य कथयित्वा सरभसं सवेगं यथा तथा अव-

१. 'मया ते'। २. 'तत्पीणनप्रणाशनयोः'। इति पा०।

ग्राहनं शोकसरसि।मज्जनं तेन हृदयात् समुत्कूलितं तटं प्रापितम् उपरि क्षिप्तमिति वा शोकसरसः खेदसरोवरस्य पूरं प्रवाहमिव नयनसलिलम् अश्रु विशृङ्खलं निष्प्रतिबन्धं खेलयन्त्यै पातयन्त्यै तस्यै ब्राह्मणभार्यायै—हे सखि, तनयेषु मम पञ्चसु पुत्रेषु द्वितीयः समरेषु युद्धेषु अद्वितीयः अप्रतिद्वन्द्वी सुतः स्वपुत्रो भीमः ते तुभ्यं दीयते, (स एव त्वया स्वसुतस्य परिवर्त्ते वकाय बलिरूपेण प्रेष्यताम्) सः मम द्वितीयः पुत्र एव तत्प्राणनाशने तस्य वकस्य प्राणानां नाशने हरणे बली भविष्यति सामर्थ्यवान् भविष्यति, तस्य वकस्य प्राणनं जीवनरक्षाकरं यदशनं तत्र बलीभविष्यति अबलिभूतोऽपि बलिरूपेणोपस्थास्यत इत्यप्यर्थः। मा भैषीः वंशलोपमुत्प्रेक्ष्य भयं मा कृथाः, इति एवं सा नरदेवमहिषी राजपत्नी कुन्ती प्रत्यश्रौषीत्—ब्राह्मणीपुत्रस्य स्थाने भीमस्य बलिरूपेण प्रेषणं प्रतिज्ञातवतीत्यर्थः।

इस प्रकार कहकर वेगपूर्वक उस ब्राह्मणीका हृदय शोक सरोवर में डूब गया, उसके डूबनेसे शोक-प्रवाह किनारेकी ओर ढकेल दिया गया हो, ऐसा लगनेवाला जो अश्रु था, उसको अप्रतिहत भावसे बरसाती हुई उस ब्राह्मण-स्त्रीसे राजपत्नी कुन्तीने कहा—हे सखि, हमारा जो दूसरा लड़का है वह युद्धमें बेजोड़ है, मैं उसे तुम्हें दे रही हूँ, वही उस दुष्ट वक की जीवनोपयोगी वलि बन जायगा (या-उसके प्राणसंहारमें बलशाली होगा) तुम डरो मत, इस प्रकार कुन्तीने अपनी प्रतिज्ञा सुना दी ॥

अनयोरथ दम्पत्योरश्रुहेतोः शुचः पदे।
आनन्दस्यातिरेकोऽभूदादेश इव तत्क्षणम् ॥ ४६ ॥

अनयोरिति ॥ अथ कुन्ती प्रतिज्ञाघोषणानन्तरम् अनयोः दम्पत्योः ब्राह्मण्याः ब्राह्मणस्य च अश्रुहेतोः रोदनप्रवर्त्तकस्य शुचः खेदस्य पदे स्थाने तत्क्षणम् प्रतिज्ञाकर्णनकाल एव आनन्दस्य अतिरेकः समृद्धिः आदेशः इव अभूत् अजायत। व्याकरणशास्त्रे यथा—शपि सति 'पा' धातोः स्थाने 'पिब' आदेशो भवति, तथैव शुचः स्थानमानन्दातिशयो गृहीतवान्, शोकाश्रूणि हर्षाश्रुभावेन परिणतानि जातानीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

इन दोनों—ब्राह्मणी और ब्राह्मणके हृदयमें जो शोक था, उसकी जगहमें तत्काल ही आनन्दातिरेक-प्रचुर आनन्द आदेशके रूपमें आगया। अर्थात् जैसे आदेश होने पर प्रकृतिकी निवृत्ति हो जाती है, उसी तरह शोक हट गया और उसकी जगह आनन्दने ले ली ॥ ४६ ॥

तमिमं प्रसुवा रहस्युदन्तं गदितो वायुसुतो बलावलेपात्।
मनसा न वकं लिलेह राज्यामनसा धारितमन्नराशिमेव ॥ ४७ ॥

तमिममिति । वायुसुतो भीमस्तमुक्तप्रकारकप्रतिज्ञाघोषणारूपम् उदन्तं वृत्तान्तं प्रसूः माता तया प्रसुवा कुन्त्या रहसि एकान्ते गदितः उक्तः सन् बला-

बलेपात् शौर्यगर्वतः राज्यां तस्यां निशि बकं नाम तमसुरं मनसा न लिलेह न स्पृष्टवान् सकृदपि तद्विषये न ध्यातवान्, शौर्येण स्वविजये विश्वासशालितया बकस्य विषये किमपि न चिन्तितवान्, अनसा शकटेन धारितम् बकायोपहर्तुं शकटोपरिस्थापितम् अन्नराशिम् एव लिलेह ध्यानेनास्वादयामास, श्वोऽप्रमाणेनान्नराशिना प्रभूत आहारो भवेदित्येतन्मात्रमचिन्तयदित्यर्थः। अनः शकटं तथा च नलोदये प्रयोगः—'यदरिपु सन्नामानस्थितयो यन्नुन्नमुदलसन्नामानः' ॥ औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

भीमको जब माता कुन्तीने अपनी उक्त-प्रकारक प्रतिज्ञाका समाचार एकान्तमें कहा तब उस वायुपुत्र भीमने अपने बाहुबलके गर्वके कारण रातमें एक बार भी मनमें उस बकासुरके बारेमें नहीं सोचा, उसने केवल गाड़ी पर लदी हुई उस अन्नराशिका (मनमें) आस्वादन किया, उसने केवल यही भर सोचा कि कल इस अन्नका प्रभूत भक्षण करूंगा ॥

अपरेद्युर्निखिल[1]जनानन्दकरे भगवति दिनकरेऽपि[2] मन्देहकुलमवस्कन्दितुमुदयगिरिशिखरमधिरूढे,—

अपरेद्युरिति। अपरेद्युः परस्मिन्नहनि निखिलजनानन्दकरे सकललोकहर्षकारिणि दृष्टिदूषकतिमिरापाकरणद्वारा समस्तजनहर्षकरे भगवति सर्वसामर्थ्यशालिनि दिनकरे सूर्ये अपि मन्देहकुलम् मन्देहानां नाम रक्षसां समूहम् अवस्कन्दितुं नाशयितुम् उदयगिरिशिखरम् अधिरूढे उदयाचलमागते सति, सूर्योदये सतीत्यर्थः, 'मन्देहा नाम राक्षसाः सूर्योदयं प्रतिबन्धन्ते ब्राह्मणदीयमानजलाञ्जलिबलेन सूर्येण निहन्यन्ते' इति कथात्र ध्यातव्या ॥

दूसरे दिन अन्धकारको दूर करके सभीकी आंखोंको रूपग्रहण-समर्थ बनाकर समस्त जनताको आनन्दित करनेवाले भगवान् सूर्य मन्देह नामक राक्षसोंके समुदायको मारनेके लिये जब उदयाचलकी चोटी पर चढ़ आये, तब—जब सूर्योदय होगया-तब ॥

स शकटमधिरुह्य भीमसेनो दधिकलशीकुलशीभरा[3]न्नराशिम्।
बकभवनवनं विवेश शाखानगरमिवान्तकवीरराजधान्याः ॥ ४८ ॥

स शकटमिति। सः मात्रा विज्ञापितोऽधिकान्नलाभसंभवेनानन्दश्च भीमः दधिकलशीनां दधिकुम्भानां कुलम् समूहः तमश्नुते व्याप्नोतीति कुलशी (शकन्ध्वादित्वात्पररूपेण दीर्घविरहः पिप्पल्यादित्वान्ङीप् च) पङ्क्तिः, तां भरतीति दधिकलशीकुलशीभरः अन्नराशिर्यत्र तादृशं दधिकलशीकुलशीभरान्नराशिम् दधिकुम्भसंभृतम् शकटम् वृषभयानम् अधिरुह्य अधिष्ठाय अन्तकवीरस्य यमस्य या

---

१. 'रखिल'। २. 'दिनकरे मन्देह'। ३. 'शेखरान्न'; 'पीवरान्न'; 'शीफरान्न' इति पा०।

राजधानी संयमनीपुरी तस्याः शाखानगरम् उपपट्टनम् इव वकभवनवनं विवेश प्रविष्टवान्। दधिकलशीकुलेषु अन्नानि स्थापयित्वा पूरितं शकटमधिरुह्य यमराज-राजधान्याः शाखानगरमिव वकाधिष्ठितं वनं भीमः प्राविशदित्यर्थः। 'यन्मूल नगरात्परं तच्छाखानगरम्' इत्यमरः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४८ ॥

दहीके मटकोंकी पङ्क्तिमें भरकर रखे गये अन्नसे पूर्ण उस गाड़ी पर बैठकर वह भीमसेन वकके घरवाले वनमें पैठा, वह वन ऐसा लगता था मानो वह यमराजकी राजधानी संयमनीका शाखा नगर–एक टोला–हो ॥ ४८ ॥

कङ्कालोच्चयकल्पितान्तकचमूशाटीकुटीविभ्रमे
तत्र क्रुद्धतदौपवाह्यमहिषश्वासोग्रचक्रानिले।
गृध्रध्वाङ्क्षशृगालघोषविकसद्रक्षोपदानस्तवे
भुञ्जानः शकटस्थ एव स तदा चक्रे महत्क्ष्वेलितम् ॥४९॥

कङ्कालेति। कङ्कालानां शरीरशल्यानाम् उच्चयेन समूहेन कल्पितः रचितः अन्तकचम्वाः यमसेनायाः शाटीकुटीविभ्रमः पटमण्डपसादृश्यं यत्र तादृशे (यत्र नराणां प्रत्यहं भक्ष्यमाणानां सक्थीनि यमसेनापटमण्डपवत्प्रतिभान्ति तत्र) क्रुद्धस्य कुपितस्य तदौपवाह्यस्य यमवाहनस्य महिषस्य श्वासवदुग्रः भयङ्करश्चक्रानिलः आवर्त्तवायुर्यत्र तादृशे, (यत्रावर्त्तवायुः कुपितयममहिषश्वाससादृश्यमावहति तत्र,) गृध्राः कंकाः, ध्वांक्षाः काकाः, शृगालाश्च तेषां घोषैः शब्दैः विकसन् प्रकटन् राक्षसः वकस्य अपदानस्तवः यशःस्तुतिः यत्र तादृशे, (यत्र वकभक्षितशेषं प्राणिमांसमश्नन्तो गृध्राः काकाः शृगालाश्च तदीयं विरुदमिव स्तुवन्ति, तत्र) वकभवनवने शकटस्थः यानारूढः एव भुञ्जानः शकटस्थितं बलिक्लृप्तमन्नं भक्षयन् स भीमो महत् घोरं क्ष्वेलितम् सिंहनादं चक्रे। अत्र तद्वने बलिरूपान्नभक्षणसिंहनादाभ्यां भीमस्य निर्भयत्वरूपं वस्तु ध्वनितम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

जहाँ पर राक्षस–भक्षित नरकङ्कालकी ढेर यमसेनाके पटमण्डपकी तरह प्रतीत हो रही थी, जहाँ पर जोरोंसे चलती हुई आवर्त्तवायु कुपित यममहिष–श्वास–वायुकी तरह उग्र थी और जहाँ गृध्र, काक एवं शृगाल अपने शब्दोंसे वकासुरका कीर्त्तिगान कर रहे थे, (वे राक्षसभक्षित–शेषमांस खाते हैं अतः उसकी कीर्त्ति कृतज्ञतासे गाते हैं) ऐसे उस वकभवन–वनमें गाड़ीपर बैठे बैठे ही गाड़ी पर रखे हुए अन्नराशिको खाते हुये भीमने जोरसे सिंहनाद किया ॥ ४९ ॥

सोऽपि तदिदं निशम्य बलिपुरुषविशेषमन्दितशकटागमनेन प्रथममेव

१. 'क्ष्वेडितम्'। २. 'भारमन्दित'। इति पा०।

कृतोन्मेषं रोषं द्विगुणयन् गिरिकंदरमन्दिरमुखात्सरभसं विनिर्गत्य,—

सोऽपीति। सः बकासुरोऽपि तत् इदं भीमस्य गर्जितं निशम्य श्रुत्वा बलिना बलिरूपेण अन्नेन पुरुषेण च (बलवता पुरुषेण भीमेन चेत्यप्यर्थः) विशेषेण अतितरां मन्दितं स्वल्पवेगीकृतं यच्छकटागमनं यानोपस्थानं तेन प्रथमम् भीमसिंहनादश्रवणात् पूर्वत एव कृतोन्मेषम् जातोदयं रोषं क्रोधं द्विगुणयन् समेधयन् गिरिकन्दरम् मन्दिरं वासगृहं तस्य मुखात् द्वारदेशात् सरभसं वेगेन विनिर्गत्य-(प्राद्रवदिति वक्ष्यमाणक्रियया वाक्यपूर्त्तिर्बोध्या) अयमेतदाशयः—भीमस्य गर्जितं निशम्य बकासुरो द्विगुणं कुप्यतिस्म, यतोऽसौ बलिपुरुषभारेण मन्दमागच्छतः शकटस्य विलम्बोपस्थित्या पूर्वत एव कुपित आसीत्तदेवमतिकुपितोऽसौ-कन्दराद्वाराद्बहिरेत्य वेगेनाधावदिति॥

उस बकासुरने भी जब भीम का सिंहनाद सुना तो उसका क्रोध दुगुना होगया, क्योंकि बलिभूत पुरुष (या बलवान् पुरुष) के भारसे गाड़ी कुछ अधिक विलम्बसे आई थी, इस प्रकार अति कुपित वह राक्षस कन्दरारूप अपने मन्दिरके दरवाजेसे वेगपूर्वक बाहर निकलकर ('दौड़ा' यह क्रिया आगे है)॥

एवं को वाऽपराघ्नोत्यमुमविगणयन्बाहुमत्रेति घुष्यन्
व्यक्तोरोरक्तरेखाकृतविरुदजगद्घातुकत्वप्रशस्तिः।
क्रोशन्मर्त्याङ्गखादत्वरणपरिचलत्सृक्कलग्नास्थिदण्ड-
स्थूले दंष्ट्रे दधानः पवनभुवमभि प्राद्रवद्यातुधानः॥ ५०॥

एवमिति। व्यक्ताभिः स्फुटदृश्याभिः उरसि वक्षोदेशे रक्तरेखाभिः रुधिरलेपधाराभिः कृतानि रचितानि विरुदानि विजयचिह्नानि यस्यास्तादृशी जगतो भूलोकस्य घातुकत्वेन वधेन प्रशस्तिः श्लाघा यस्य तादृशस्तथोक्तः, (उरसि कृतेन रुधिरलेपेन विजयचिह्नधारिणीं भुवनसंहारकत्वप्रशस्तिं बिभ्राणः) क्रोशतां कष्टवशेन रुदतां मर्त्यानां बलित्वेनागतानां मानवानामङ्गानां शरीरावयवकरपादादीनां खादने भक्षणे त्वरणेन शीघ्रतया परिचलतोः सृक्कणोरोष्ठप्रान्तयोः लग्नौ अस्थिदण्डाविव स्थूले विशालस्थूले दंष्ट्रे दन्तौ दधानः धारयन्, (भक्षणकाले रुदतां मानवानां शरीरावयवानाशु निगलन् तदस्थिखण्डतुल्ये विशाले दंष्ट्रे कलयन्) अत्र मदीये वने अमुं सकलसंहारकतया प्रसिद्धं मदीयं बाहुम् अविगणयन् अनाद्रियमाणः (अस्मादप्यबिभ्यत्) एवम् उक्तप्रकारेण सिंहगर्जनादिना को वाऽपराघ्नोति स्वापराधं प्रकाशयतीति घुष्यन् सचीत्कारं ब्रुवन् यातुधानः, राक्षसो बकः पवनभुवं भीममभिलक्ष्यीकृत्य प्राद्रवत् धावतिस्म॥ ५०॥

---

१. 'सृक्कि'। इति पा०।

स्फुट दृश्यमान छातीपर खिची रुधिरधारा रूप विजय-चिह्नोंसे जिसकी भुवनसंहार लीलाकी प्रशस्ति लिखी है, चिल्लाते हुए मानवोंके शरीरावयवोंके भक्षणमें जल्दी करनेके कारण ओष्ठप्रान्तमें चुभी हुई हड्डियोंकी तरह प्रतीत होनेवाले बड़े बड़े दांतोंको धारण करनेवाला, एवम् हमारे इस भवन-वनमें हमारे इस भुवनविजयी हाथसे भी नहीं डरनेवाला कौन आदमी इस प्रकारका अपराध कर रहा है, इस प्रकार चिल्लाकर कहता हुआ वह राक्षस वक पवनपुत्र भीमकी ओर दौड़ा ॥ ५० ॥

निजभुजयुगलीनियन्त्रणाभिर्नियमितयत्नपरस्परावुभौ तौ ।
निगडितनयनं निलिम्पपङ्क्तेर्निरवहतां निपुणं नियुद्धशिल्पम् ॥ ५१ ॥

निजेति । तौ उभौ द्वौ भीमबकासुरौ निजाभ्यां स्वीयाभ्यां भुजयोर्हस्तयोर्युगलाभ्यां द्वयाभ्यां नियमितः निरुद्धप्रसरः यत्नः परप्रहारप्रयासः यस्य तादृशं परस्परम् इतरेतरं ययोस्तौ तथोक्तौ सन्तौ (परस्परं भुजबन्धेन व्यर्थीकृतपरस्परप्रहारचेष्टौ इत्यर्थः) निलिम्पपङ्क्तेः देवसङ्घस्य निगडितनयनम् आश्चर्यरसस्तिमितनेत्रम् (आश्चर्याधानेन देवानां नयनानि स्थिराणि कुर्वन्तावित्येवं तयोर्विशेषणं फलति) निपुणं प्रबलतरं नियुद्धशिल्पं युद्धकौशलं निरवहताम् कृतवन्तौ तयोर्भीषणं युद्धं साश्चर्या देवा अप्यपश्यन्नित्याशयः ॥ ५१ ॥

अपनी भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीकी भुजाओंको नियन्त्रित करके एक दूसरेके मारक प्रयत्नों को विफल कर दिया करते थे, इस प्रकार यह भीम तथा बकासुर अपनी युद्धविद्या निपुणताका प्रदर्शन ही कर रहे थे कि देवगण आश्चर्यसे स्तिमितनेत्र होकर इनकी लड़ाईका अवलोकन करने लगे ॥ ५१ ॥

ततः,—

पुत्रस्य वायोर्भुजदौर्ललित्यं बकं वने तत्र चिरं चरन्तम् ।
निन्ये दशां कामपि राक्षसस्त्रीनेत्राभ्रवर्षर्तुविलासयोग्याम् ॥ ५२ ॥

ततः पुत्रस्येति । ततो युद्धकौशलप्रदर्शनानन्तरम् वायोः पुत्रस्य भीमस्य भुजयोर्दौर्ललित्यं दर्पः तत्र वने चरन्तं चिरात्तत्र स्वेच्छया भ्रमन्तं (चर-गतिभक्षणयोः) सत्त्वानि भुञ्जानं च राक्षसस्त्रियाम् निशाचरीणाम् नेत्राण्येवाभ्राणि मेघास्तेषां वर्षर्तोः वर्षाकालस्य यो विलासः धाराप्रवाहवृष्टिरूपः तद्योग्यां तदुचितां कामपि दशां निन्ये अवर्णनीयां स्थितिं प्रापयामासेत्याशयः । भीमभुजदर्पो राक्षसस्त्रीनेत्रमेघेषु वर्षर्तुमध्यवासयत्, ता अरुदन्, एतेन बकस्य मरणं पर्यायोक्तालङ्कारविषयः । अत्रोपजातिश्छन्दः ॥ ५२ ॥

पवनपुत्र भीमके भुजदर्पने उस वनमें विहार करनेवाले बकासुरको राक्षसोंकी स्त्रियोंके

---

१. 'नेत्राम्बु' । इति पा० ।

नयनरूप मेघकी वर्षाऋतु विलासके योग्य दशाको प्राप्त करा दिया, अर्थात् बकासुरकी वह दशा हो गई जिससे राक्षसियोंके नयनरूप मेघकी वर्षाऋतु आ गई, फलतः बकासुर मारा गया, उसके मरनेपर राक्षसियाँ रोने लगीं, यह अर्थ प्रतीत होता है, यहां पर्यायोक्तालङ्कार है, पर्यायोक्तमें वक्तव्य अर्थ घुमा-फिराकर ही कहा जाता है, यही उसका लक्षण है— 'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' ॥ ५२ ॥

तं विकृष्य पुरसीम्नि निशीथे तत्क्षणात्कुणपमर्शनदोषम् ।
मार्ष्टुकाम इव मारुतसूनुर्मातुरङ्घ्रिमुपसेवितुमागात् ॥ ५३ ॥

तं विकृष्येति । मारुतसूनुः भीमः तं बकासुरम् (शवरूपम्) निशीथे रात्रौ पुरसीम्नि ग्रामस्य सीमायां समीपे विकृष्य आकृष्य नीत्वा तत्क्षणात् तत्काल एव कुणपमर्शनदोषम् राक्षसस्पर्शजनितं पापम् मार्ष्टुकामः प्रक्षालयितुमिच्छुरिव मातुः कुन्त्याः अङ्घ्रिम् चरणम् उपसेवितुम् वन्दितुमागात् आयातः, 'न मातुर्दैवतं परम्' इति स्मरणान्मातृपादवन्दनायाः सकलपापापनोदकतया स्वकृतराक्षसशवस्पर्शजनितपापापनुनुत्सयेव भीमो मातरं नमस्कर्त्तुं तदैवायात इत्यर्थः । हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । 'राक्षसः कौणपः क्रव्यात् क्रव्यादोऽस्रप आसरः' इति 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इति चामरः ॥ ५३ ॥

उस बकासुरकी लाशको रातमें रातमें ही गांवकी सीमामें लाकर भीमने राक्षस-शव-स्पर्शजन्य पापका प्रायश्चित्त सा करनेके लिये माताके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये आगमन किया । मातासे बढ़कर कोई देवता नहीं है और मातृदेवता के प्रणामसे सभी पापोंके नष्ट हो जाने की पूरी आशा है ॥ ५३ ॥

आलोक्य यातुशवमेतदशेषपौरैरह्नोमुखे परवशीक्रियते स्म चेतः ।
आश्चर्यपूरपरिमेलनफेनिलाभिरानन्दसागरतरङ्गपरम्पराभिः ॥ ५४ ॥

आलोक्येति । अह्नोमुखे प्रातःकाले अशेषपौरैः सर्वैर्नगरवासिभिः एतत् यातुशवम् राक्षसस्य बकस्य मृतशरीरम् आलोक्य दृष्ट्वा चेतः स्वहृदयम् आश्चर्यपूरस्य विस्मयरसप्रवाहस्य परिमेलनेन सङ्गमेन फेनिलाभिः सफेनाभिः आनन्दसागरतरङ्गपरम्पराभिः हर्षाम्बुधिवीचिमालाभिः परवशीक्रियतेस्म अधीनतां नीयतेस्म । तादृशस्य दुर्धर्षस्य बकाख्यराक्षसस्य मृतं शरीरं दृष्टवतां पौराणां चेतांसि साश्चर्यानन्दसागरे निमग्नानि जातानीति भावः ॥ ५४ ॥

प्रातःकाल जब सभी पुरवासियोंने उस शवको देखा तो उनके हृदय आश्चर्य-रस-प्रवाहके मिलनेसे फेनायमान आनन्दसागरकी लहरोंसे पराधीन होने लगे, अर्थात् उनके हृदयमें आश्चर्य और आनन्द दोनों उमड़ पड़े । आश्चर्य इसलिये हुआ कि इस दुर्धर्ष राक्षसको मारनेवाला कौन है और वह कहाँ है, आनन्द इसलिये हुआ कि अब इसके द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंसे मुक्ति मिली ॥ ५४ ॥

भवनमेत्य तदा गृहमेधिनः पवनजे प्रवणीकृतमूर्धनि ।
प्रयुयुजे सममाशिषमक्षतैः प्रमुदितः पुरि तत्र महाजनः ॥ ५५ ॥

भवनमेत्येति । तत्र पुरि तदा प्रातःकाले गृहमेधिनः पाण्डवातिथेयस्य गृहस्थस्य भवनम् तदा पाण्डवावासभूतं गृहम् उपेत्य आगत्य प्रमुदितः दुरन्तदैत्यवधेन हृष्टः महाजनः तन्नगरवासि मुख्यजनः प्रवणीकृतमूर्धनि नम्रतया नतशिरसि पवनजे भीमे (विषये) अक्षतैः मङ्गलसूचकश्वेततण्डुलैः समम् सह आशिषः शुभेच्छाप्रकाशकवचांसि प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । दैत्यवधानन्तरं पुरमुख्या भीमस्य गृहमागत्य तमाशीर्भिरभ्यर्चयन्निति भावः ॥ ५५ ॥

उस समयमें जिसके घरमें पाण्डव टिके थे उस गृहस्थके घरपर आकर गांवके प्रधान लोगोंने नम्रतासे नत भीमके ऊपर प्रसन्न हृदयसे अक्षत तथा आशीर्वादकी वृष्टि की ॥५५॥

निशि जातु निकेतवेदिकाया[1] निकटे सुप्तिसुखं निषेव्य पार्थान् ।
पथिकोऽपररात्रजागरूकः प्रबभाषे गिरमीदृशीं प्रसङ्गात् ॥ ५६ ॥

निशीति । जातु कदाचित् पथिकः कश्चनाध्वनीनः निशि रात्रौ निकेतवेदिकायाः पाण्डवाध्युषितभवनप्राङ्गणवेदिकायाः निकटे समीपे सुप्तिसुखं निद्राजन्यमानन्दं निषेव्य उपभुज्य अपररात्रजागरूकः अरुणोदयवेलायां प्रबुद्धः सन् प्रसङ्गात् कथाप्रस्तावात् पार्थान् युधिष्ठिरान् पञ्चापि कुन्तीसुतान् ईदृशीम् वक्ष्यमाणलक्षणां गिरं बभाषे उवाच । कश्चित् पान्थो निशि पाण्डवगृहवेदिकासमये सुखं सुप्त्वा प्रातरुत्थाय पाण्डवैः सह वार्त्तालापस्य प्रसङ्गेन तान् वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाचेत्यर्थः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ५६ ॥

किसी समय रातमें पाण्डवोंके रहनेके घरकी वेदिकाके पास सानन्द शयन करके प्रातःकाल उठे हुए एक ब्राह्मणने कथाप्रसङ्गमें इस प्रकारकी बात पाण्डवोंसे कही ॥ ५६ ॥

'पाञ्चालिकां युवमनोरथसौधरत्न-[2]
पाञ्चालिकां हृदि ममेति ममेति कृत्वा ।
अद्य स्वयंवरमहाय नृपाः प्रयान्ति
दूतैः समं द्रुपदभूपतिराजधानीम् ॥ ५७ ॥

पाञ्चालिकामिति । युवमनोरथाः युवकानामभिलाषाः एव सौधानि भवनानि तेषां रत्नपाञ्चालिकाम् रत्ननिर्मितां पुत्तलिकाम् सर्वैर्युवभिरभिलाषविषयत्वेन मनसि नीताम् (सर्वेषां यूनां हृदयेषु भवनेषु रत्नप्रतिमाभावेन वसन्तीम्) पाञ्चालिकाम् द्रुपदात्मजाम् ममेति ममेयं स्यादिति ममेति ममेयं स्यादिति कृत्वा अद्य सम्प्रति नृपाः सर्वे भूपालाः दूतैः समं राज्ञामाह्वानाय द्रुपदप्रेषितैः दूतैः सहैव

१. 'वेदिकायाम्' । २. 'रत्नसौध' । इति पा० ।

स्वयंवरमहाय स्वयंवररूपायोत्सवाय द्रुपदभूपतिराजधानीम् द्रुपदाख्यनृपतिपुरीम् प्रयान्ति। अद्य सर्वे राजानो द्रौपद्यास्तस्याः स्वयंवरे सङ्गन्तुं त्वरमाणाः सर्वाभ्यो दिशाभ्यः समायान्ति, या द्रौपदी सर्वेषां यूनां हृदि वसतीवेत्यर्थः। 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः। 'सौधरत्नपाञ्चालिका' इति केवलपरम्परितरूपकमलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम्, तदन्यत्र लक्षितपूर्वम् ॥५७॥

युवकोंके हृदयरूप प्रासादमें रत्नप्रतिमाकी तरह अवस्थित द्रौपदीके विषयमें यह द्रौपदी हमको मिल जाय, इस प्रकारके भाव हृदयोंमें रखनेवाले राजगण आज द्रुपद द्वारा उन्हें बुलानेके लिये भेजे गये दूतोंके साथ ही स्वयंवर रूप उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये राजा द्रुपदकी राजधानी को जा रहे हैं ॥ ५७ ॥

भोक्तुमन्नमपि सूपसमग्रं दोग्धुमप्यभिनवप्रसवा गाः।
लप्स्यते[1] द्विजगणोऽपि च तस्माद्वत्सलाद्दुहितुरुत्सवकाले ॥ ५८ ॥

भोक्तुमिति। द्विजानां ब्राह्मणानां गणः समुदयः अपि भोक्तुम् सूपेन द्विदलेन समग्रं युतम् अन्नम् तण्डुलादि, दोग्धुम् अपि अभिनवप्रसवाः अचिरप्रसूताः गाः धेनूः, तस्मात् दानितया प्रथितात् द्रुपदात् नाम राज्ञः दुहितृवत्सलात् कन्यायां स्निह्यतो दुहितुः सुतायाः द्रौपद्याः उत्सवकाले स्वयंवरमहावसरे लप्स्यते प्राप्स्यति, स हि राजा कन्यावत्सलः, अतस्तत्स्वयंवरावसरे तन्निर्विघ्नतासम्पत्तयेऽवश्यं ब्राह्मणेभ्यो भोक्तुं ससूपमन्नं गाश्च दोग्धुं प्रदास्यति, एतेनास्माकं ब्राह्मणानामपि तत्र गमनं न निष्फलमित्युक्तम् ॥ ५८ ॥

राजा द्रुपद अपनी कन्याको बहुत अधिक प्यार करते हैं। वे उसके स्वयंवरोत्सवके समय ब्राह्मणोंको खानेके लिये दाल-चावल और दूहनेके लिये हालकी ब्याई गायें भी देंगे ॥ ५८ ॥

न हि तत्र भवेदपार्थता विजयः सिद्धिमुपैष्यति स्फुटम्।
युगपत्सुखमस्तु वो महद्द्रुतमागच्छत तन्महौजसः!' ॥ ५९ ॥

न हि तत्रेति। तत्र द्रौपदीस्वयंवरे अपार्थता गमनवैयर्थ्यं न हि भवेत्, विजयः अस्माकं प्रस्थानम् साफल्यम् सूपोपहितान्नलाभात्, इति स्फुटं स्पष्टम्, अतः हे महौजसः प्रकृष्टतेजःशालिनः, वः युष्माकं पञ्चानामपि युगपद् एकदैव महत्सुखं प्रभूतान्नगवादिलाभतः अस्तु जायताम्, (तस्मात् यूयं) द्रुतम् शीघ्रम् आगच्छतेति अभिधार्थः। तत्र द्रौपदीस्वयंवरे अपार्थता—पार्थस्य विरहः न हि भवेत्, विजयः—अर्जुनः, सिद्धिम्—सफलतां मत्स्ययन्त्रभेदनेन द्रौपदीवरणरूपाम्, वः युष्माकं युगपन्महत्सुखम्—पञ्चानामपि द्रौपद्या परिणयरूपम्। इत्यप्यर्थोऽनुरणनाभोऽवभासते इति बोध्यम् ॥ ५९ ॥

---

१. 'लभ्यते'। इति पा०।

द्रौपदी-स्वयंवरमें जाना व्यर्थ नहीं होगा, हम लोगोंकी यात्रा सूप-तण्डुल एवं धेनु लाभसे अवश्य सफल होगी, आप लोगों को इकट्ठे बहुत सुख मिल जायगा (क्योंकि आप पाँच रहेंगे) इसलिये हे तेजस्विवर, आप लोग शीघ्र आवें। द्रौपदीका स्वयंवर पार्थके बिना नहीं होगा, विजय-अर्जुनको मत्स्य-यन्त्र-भेदन द्वारा द्रौपदी लाभरूप सिद्धि अवश्य मिलेगी, आप सभीको एक साथ ही बहुत सुख मिलेगा-पाँचोंका ब्याह एक साथ ही हो जायगा, यह अर्थ भी झलकता है ॥ ५९ ॥

इति वाचमुपश्रुतिं द्विजातेर्हृदि कृत्वा सुधयेव निर्मितां ताम् ।
पथि भूसुरसंघमध्यभाजः प्रति पाञ्चालपुरं प्रतस्थिरे ते ॥ ६० ॥

इति वाचमिति । इति उक्तरूपाम् उपश्रुतिम् भविष्यतोऽर्थस्य सूचयित्रीम् सुधयेव अमृतेनेव निर्मिताम् ताम् अनुभवैकवेद्यस्वादाम् द्विजातेः ब्राह्मणस्य वाचं वाणीम् हृदि कृत्वा अभ्युपेत्य (मत्वा) ते पाण्डवाः पथि मार्गे भूसुरसङ्घमध्यभाजः ब्राह्मणसमूहमध्यगताः सन्तः पाञ्चालपुरं द्रुपदनगरं प्रति प्रतस्थिरे चलिताः । रात्रिचरमयामोक्ततया सत्यमिदं ब्राह्मणवचनं भवेदिति मनसि कृत्वा ब्राह्मणैः सह पाण्डवा द्रुपदनगरं प्रति चेलुरित्याशयः । उपश्रुतिपरिभाषा यथा हारावल्याम्— 'नक्तं निर्गत्य यत्किञ्चित् शुभाशुभकरं वचः । श्रूयते तद्विदुर्धीरा दैवप्रश्नमुपश्रुतिम्' इति ॥ ६० ॥

इस प्रकारकी सत्यत्वेन संभावित अतएव अमृतसे सनी हुई सी उस ब्राह्मणकी वाणीको हृदयमें रखकर वे पाण्डव ब्राह्मणोंके समुदायके बीचमें मिलकर द्रुपदपुर के लिये चल पड़े ॥ ६० ॥

ते पुनरप्यनेकदिननीतजनपदवनसीमानः पथि कृतोदयेन भगवता पराशरदायादेन 'जतुभवनपरिच्यवनेन वो नवो हर्षः पार्षतस्य समुन्मिषति' इति गिरानुगृहीताः साक्षात्प्ररोहता भुजप्रतापानलेनेव फल्गुनकरवेल्लितेन महताऽलाततेजसा निशि नितान्तसीमन्तितसंतमसया पदव्या त्रिविष्टपतटिनीं समया प्राविक्षन् ।

ते पुनरपीति । ते पाण्डवाः अनेकैः दिनैः बहुभिर्वासरैः नीताः अतिक्रान्ता जनपदस्य वनस्य च सीमानोऽवधयो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः पुनरपि भूयोऽपि पथि कृतोदयेन मार्गे प्रकाशितस्वस्वरूपेण (पूर्वं शालिहोत्रमुनिसरस्तटे व्यासस्य मिलितत्वेनेह पुनरुदयः प्रोक्तः) पराशरदायादेन पराशरात्मजेन व्यासेन—वः युष्माकं पाण्डवानां जतुभवनात् लाक्षागृहात् पावकदह्यमानात् परिच्यवनेन नि-

१. 'यूथ' । २. 'ते पुनरनेक' । ३. 'सदन' । ४. 'फाल्गुनकरवलितेन' । ५. 'तेजसो नितान्त' । ६. 'तटिनीं प्राविक्षत्' । ७. 'प्राविक्षन्' । इन्दीवरात्—' इति पा० ।

विघ्नं निर्गमनेन पार्षतस्य द्रुपदस्य नवो नूतनो विलक्षणो हर्षः आनन्दः समुन्मिषति जायते, द्रुपदो भवतां जतुगृहे दह्यमानेऽपि जीवितत्वं निशम्य विलक्षणमानन्दमनुभवतीत्यर्थः, इति एवंभूतया गिरा वाचा अनुगृहीताः अनुकम्पिताः सन्तः साक्षात् तुल्यकालं प्ररोहता संजायमानेन भुजप्रतापानलेन बाहुपराक्रमतेजसा इव फल्गुन–करवेल्लितेन अर्जुनबाहुद्वये भ्रमता महता दूरगामिना अलाततेजसा उल्मुकतेजसा निशि रात्रौ नितान्तं साधु सीमन्तितं द्विधा विभज्य पार्श्वयोरवस्थापितं सन्तमसं गाढान्धकारो यत्र तादृश्या पदव्या मार्गेण त्रिविष्टपतटिनीं गङ्गां समया समीपे प्राविक्षन् प्रविष्टाः। चलितेषु तेषु बहुभिर्दिवसैर्जनपदवनसीमानमतिक्रान्तवत्सु च पुनरपि व्यासः समुपस्थाय तेषां जतुगृहाद्रक्षया द्रुपदस्य महान्तं हर्षमावेदितवाननन्तरं च तेऽर्जुनकरधृतालाततेजसा दूरीकृताध्ववर्त्तितमसो गङ्गातटमवापुरित्यर्थः। 'दायादौ सुतबान्धवौ' 'अलातमुल्मुकं च' इति विश्वः। 'त्रिविष्टपतटिनीं समया' इत्यत्र 'अभितः परितः समया निकषा हाप्रतियोगेऽपी'ति द्वितीया॥

पाण्डवोंने कुछ दिनोंमें जब देशों तथा वनोंकी सीमायें पार कर लीं, तब फिर उनको भगवान् पराशरसुत व्यास मिले, और कृपा करके उन्होंने बताया कि लाक्षागृहके जल जानेपर भी पाण्डवोंके बालबाल बच जानेसे द्रुपद विलक्षण आनन्दका अनुभव करते हैं। इसके बाद अर्जुनने अपने हाथोंमें मशाल लिया, वह मशाल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अर्जुनके बाहुका प्रताप चमक रहा हो, उस मशालने रास्तेके अन्धकारको चीरकर अलग कर दिया और उसी प्रकाशके मार्गसे वे लोग गङ्गातटके पास पहुँच गये॥

तत्र खलु,—

इन्दीवरात्प्रतितरंगमनुप्रविष्टै-
बिम्बैरिवाब्धिदुहितुस्तरुणीकदम्बैः।
क्रीडन्समं पयसि चित्ररथो विलोक्य
पार्थान्रुरोध कुपितः प्रधनं चिकीर्षुः॥ ६१॥

तत्र खलु = तस्मिन् गङ्गातटे।

इन्दीवरादिति। इन्दीवरात् लक्ष्म्या आवासभूतात् नीलकमलात् प्रतितरङ्गम् प्रतिवीचि अनुप्रविष्टैः आयातैः अब्धिदुहितुः समुद्रतनयायाः बिम्बैः प्रतिबिम्बैरिव तरुणीकदम्बैः युवतिभिः समं सह पयसि क्रीडन् जलविहारमनुभवन् चित्ररथः पार्थान् (तत्र रहः केलिस्थाने आगतान्) पाण्डवान् विलोक्य प्रधनं चिकीर्षुः चित्ररथो नाम यक्षः तान् जिघांसुः (पार्थान्) रुरोध निवारितवान् कथमत्रायासीति निवार्य स्थित इत्यर्थः। गङ्गायाः पयसि स्थितानां कमलानां मध्ये वसन्त्याः लक्ष्म्याः प्रतिबिम्बानीव, स्त्रियो बहिर्भूताः चित्ररथस्य रमण्य आसन्, ताभिश्च सह जल-

केलिप्रवृत्तश्चित्ररथः पार्थानागच्छतस्तत्र वीक्ष्य स्वरहस्यविघ्नमुत्प्रेक्षमाणस्तान् हन्तुमिच्छया रुरोधेति भावः । पूर्वार्धे स्वरूपोत्प्रेक्षा, उत्तरार्धे काव्यलिङ्गश्चालङ्कारः ॥

उस गङ्गातटपर—

लक्ष्मीके आवासगृहरूप कमलोंसे हर तरङ्गमें एक एक करके निकली हुई लक्ष्मीकी प्रतिमूर्त्तियोंकी तरह अति सुन्दरी स्त्रियोंके साथ जलकेलिमें निरत चित्ररथने आते हुए पाण्डवोंको देखकर (हमारे इस गुप्तक्रीड़ास्थलमें ये क्यों चले आये अतः) इस क्रोधसे उन्हें मारनेके लिये घेर लिया ॥ ६१ ॥

अस्त्रमात्मसमनामदैवतं संप्रयुज्य समरे धनंजयः ।
तत्र तस्य रथमग्रवर्तिनं जातुषालयसहायमातनोत् ॥ ६२ ॥

अस्त्रमिति । धनञ्जयः अर्जुनः आत्मसमनामदैवतम् स्वसमाननामकम् स्वनामसमदैवतञ्च धनञ्जयनामकम् धनञ्जयदैवतं च, आग्नेयास्त्रमित्यर्थः समरे चित्ररथेन सह युद्धे सम्प्रयुज्य व्यवहृत्य तत्र युद्धे तस्य चित्ररथस्य रथं स्यन्दनम् जातुपालयस्य दग्धपूर्वस्य लाक्षागृहस्य सहायं सखायम् सदृशम् आतनोत् कृतवान् । अर्जुनस्तत्र युद्धे चित्ररथस्य यानं धनञ्जयास्त्रेण लाक्षागृहमिव दाहितवानिति भावः । ('धनञ्जयोऽर्जुने वह्नौ' इति विश्वः) ॥ ६२ ॥

अर्जुनने उस युद्धमें अपने नामके समान नाम तथा देवतावाले-धनञ्जय नामक अग्निदैवत अस्त्रका प्रयोग करके चित्ररथके रथको लाक्षागृहका साथी बना डाला, जिस प्रकार लाक्षागृह जल गया था, उसी प्रकार चित्ररथका रथ भी अर्जुनके द्वारा चलाये गये आग्नेयास्त्रसे जल गया ॥ ६२ ॥

गन्धर्वाणां पत्युर्गर्वजुषः सौरसैन्धवे तस्मिन् ।
पाथसि भङ्गः शिशिरो रोधसि भङ्गस्तु तापहेतुरभूत् ॥ ६३ ॥

गन्धर्वाणामिति । गर्वजुषः अहङ्कारशालिनः गन्धर्वाणां पत्युर्गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्य तस्मिन् सुरसिन्धोः गङ्गाया इदम् सौरसैन्धवं तत्र सौरसैन्धवे गाङ्गे पाथसि जले भङ्गः तरङ्गः शिशिरः शीतलः सुखावहः अभूत्, परन्तु रोधसि तस्या एव गङ्गायास्तटे भङ्गः अर्जुनकृतपराजयः तापहेतुः सन्तापकरः अभूत् अजायत । अत्रैकस्यैव भङ्गशब्दस्य तरङ्गपराभवो भयार्थकतया चमत्कारः, जले भङ्गः शीतलतया सुखावहस्तटे भङ्गस्तापहेतुरिति भावः । गीतिरार्याभेदो वृत्तम्— 'आर्या प्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः । दलयोः कृतयति शोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः' इति ॥ ६३ ॥

उस गर्वी गन्धर्वराजके लिये गङ्गाके पानीमेंका भङ्ग-तरङ्ग तो शीतल-सुखावह रहा, परन्तु तटपरका भङ्ग-पराजय तापका कारण हुआ । अर्जुन द्वारा किया गया पराजय बेड़ा सन्तापप्रद हुआ ॥ ६३ ॥

सख्यस्य लाभात्सपदि प्रहृष्यन्कुशीलवेन्द्रः कुरुनन्दनानाम्।
प्रादर्शयत्स्वां प्रथमं विनीतिं पश्चादमीषां पदवीं च रम्याम् ॥ ६४ ॥

सख्यस्येति। सपदि समये तस्मिन् कुशीलवानां गानदक्षाणां गन्धर्वाणामिन्द्रो राजा गन्धर्वराजः चित्ररथः सख्यस्य पाण्डवैः सह मैत्र्याः लाभात् प्रहृष्यन् आनन्दमनुभवन्सन् प्रथमम् आदौ कुरुनन्दनानां युधिष्ठिरादीनां पञ्चानां पाण्डवानाम् (पुरत इति शेषः) रम्याम् रमणीयां स्वां विनीतिं विनयं नम्रताम् विशिष्टां नीतिं पुरोहितेन सह राज्ञा गन्तव्यमित्युपदेशरूपाम्, पश्चात् विनीतिप्रदर्शनानन्तरम् अमीषां पाण्डवानां रम्यां स्वल्पकष्टां पदवीं पन्थानं च प्रादर्शयत् दर्शितवान्। उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६४ ॥

उस समय गन्धर्वराज चित्ररथने पाण्डवोंके साथ मित्रता प्राप्त कर प्रसन्न होकर पहले अपनी नम्रता या राजाको पुरोहितके साथ जाना चाहिये इस प्रकारकी अपनी रमणीय नीति और पीछे सुन्दर मार्गका प्रदर्शन कर दिया ॥ ६४ ॥

धर्मभूरथ सहोदरैः समं धौम्यमध्वनि समीक्ष्य विश्रुतम्।
प्राणिनामयमहिंसकोऽपि सन्पादपीडनममुष्य क्लृप्तवान् ॥ ६५ ॥

धर्मभूरिति। अथ मार्गद्वये चित्ररथेन प्रदर्शिते सति धर्मभूः धर्मसुतो युधिष्ठिरः विश्रुतं ज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्रख्यातं धौम्यं नाम ब्राह्मणम् अध्वनि मार्गे समीक्ष्य विलोक्य प्राणिनां सकलसत्त्वानाम् अहिंसकः अमारकः अनुपद्रावकः अपि अयम् युधिष्ठिरः सोदरैः समम् भ्रातृभिः भीमादिभिः सह अस्य धौम्यस्य पादपीडनं (चरणपीडाम्) पादवन्दनं च क्लृप्तवान् विहितवान्। अत्र यः प्राणिमात्रस्यानुपद्रावकः स कथं मुनेः पादौ पीडयेदिति विरोध आपातप्रत्येयः, पादपीडनशब्दस्य प्रणामपरत्वेन तत्परिहारः। विरोधाभासोऽलङ्कारः। रथोद्धतावृत्तम् ॥ ६५ ॥

चित्ररथके द्वारा नम्रता तथा पुरोहित रखनेका विचार, एवं सुन्दर मार्गरूप दो रास्तों के बता दिये जानेके वाद धर्मपुत्र मार्गमें ज्ञान-विज्ञाननिधिके रूपमें संसारमें प्रसिद्ध धौम्यमुनिको देखकर, किसी भी प्राणीके ऊपर हिंसा, द्वेष, उपद्रव आदि बुरे भाव नहीं रखनेवाले युधिष्ठिरने भी धौम्यके (चरणोंको पीड़ित किया) चरणोंमें भाइयोंके साथ प्रणाम किया। इस श्लोकमें 'पादपीडन' शब्दका चरणपीड़ा अर्थ करनेपर विरोध मालूम पड़ता है परन्तु पादपीडनका अर्थ प्रणाम करनेपर विरोध छूट जाता है ॥ ६५ ॥

यथाऽऽतिथ्यविधौ प्रीतः स पुरस्कुरुते स्म तान्।
तथाऽध्वगमने तेऽपि तं प्रश्रयवशंवदाः ॥ ६६ ॥

यथाऽऽतिथ्येति। सः धौम्यः प्रीतः पुरोहितपदप्रापणेन सन्तुष्टः आतिथ्यविधौ अतिथिसत्कारकर्मणि यथा तान् पाण्डवान् पुरस्कुरुतेस्म सममानयत्, प्रश्रयवशं-

वदाः नम्रतावशीभूतास्ते पाण्डवा अपि तथा तं धौम्यं नाममुनिम् अध्वगमने मार्गचलने पुरस्कुर्वतेस्मेति वचनविपरिणामेनान्वयः। धौम्यं पुरोहितपदे प्रतिष्ठाप्य तत्कृतातिथ्यसत्कृता इमे पाण्डवास्तं धौम्यमग्रे कृत्वा पथि चेलुरित्यर्थः ॥ ६६ ॥

पौरोहित्य पदपर प्रतिष्ठित किये जानेसे सन्तुष्ट धौम्यमुनिने जिस प्रकार पाण्डवोंका आतिथ्य सत्कार करके उन्हें सम्मानित किया, पाण्डवोंने भी उसी प्रकार नम्रता–वशीभूत होकर राह चलनेमें धौम्यको आगे कर लिया। पुरस्कुरुतेका अर्थ सम्मानित करना तथा आगे करना दोनों होते हैं, इसीसे यहाँ चमत्कार आ गया है ॥ ६६ ॥

धौम्यस्य सुधामधुरिमधौरेयीभिः स्वयंवरकथाभिः ।
द्रुपदपुरसरणिरेषां द्वित्राण्यभवत्पदानीव ॥ ६७ ॥

धौम्यस्येति। सुधायाः अमृतस्य मधुरिमा माधुर्यं तस्य धौरेयीभिः धुरन्धराभिः धौम्यस्य मुनेः स्वयंवरकथाभिः स्वयंवरविषयकवार्त्ताभिः एषां पाण्डवानां द्रुपदपुरसरणिः द्रुपदराजधानीमार्गः द्वित्राणि पदानि इव अभवत्। धौम्येन प्रस्तुताभिरतिमधुरसरसाभिः स्वयंवरकथाभिराकृष्टचित्ता इमे पाण्डवाः पथि श्रमं नान्वभूवन्नित्याशयः। आर्यावृत्तम् 'लक्ष्मैतत्सप्तगणाः गोपेता भवति नेह विषमेजः। षष्ठोऽयं सलघू वा प्रथमेऽर्धे नियतमार्यायाः। षष्ठे द्वितीयलान्ले परके मुखलाच्च सयतिपदनियमः। चरमेऽर्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः।' इति तल्लक्षणम् ॥ ६७ ॥

अमृतकी मधुरताके भारको ढोनेवाली, (अमृत समान सरस मधुर) धौम्यमुनिके द्वारा प्रस्तुत स्वयंवरकी कथाओंसे पाण्डवोंका द्रुपदपुर मार्ग दो-तीन पगके समान हो गया, अर्थात् धौम्यद्वारा वर्णित अमृतोपम मधुररसपूर्ण स्वयंवरकी कथाएं सुनते-सुनते वे पाण्डव विना थकानके द्रुपदपुर मार्गको तय कर गये ॥ ६७ ॥

भूदेवेष्वतिनिबिडेषु मध्यभाजां पञ्चानामपि युगपत्पृथासुतानाम् ।
पुस्फोर द्रुपदपुरं पुरःप्रदेशे वक्त्राब्जे सरभसमक्षि दक्षिणं च ॥ ६८ ॥

भूदेवेष्विति। अतिनिबिडेषु घनेषु बहुतयाऽत्यन्तव्याप्तेषु भूदेवेषु ब्राह्मणेषु मध्यभाजां मध्यगतानाम् पञ्चानामपि पृथासुतानां कुन्तीतनयानां युधिष्ठिरादीनाम् पुरःप्रदेशे अग्रे युगपत् सहैव तुल्यकालम् द्रुपदपुरम् द्रुपदनृपराजधानी पुस्फोर प्रकटीबभूव, पञ्चानामपि तेषां वक्त्राब्जेषु मुखकमलेषु दक्षिणं वामेतरत् नयनं च सरभसं पुस्फोर चचाल, ते सहैव द्रुपदराजधानीं ददृशुः, तेषां दक्षिणनेत्राण्यपि शुभव्यञ्जकानि सहैवास्फुरन्निति भावः, अत्र द्रुपदपुरदृग्विषयीभावाक्षिचलनयोः समानपदोपात्तयोर्यौगपद्यात्समुच्चयो नामालङ्कारः। प्रहर्षिणीवृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ६८ ॥

सघन पांतमें चलते हुए ब्राह्मणोंके बीचमें वर्त्तमान इन पाण्डवोंके सामने एक ही

साथ द्रुपदपुर स्फुट प्रकट हुआ, और उनके मुखाब्जमें दक्षिण नयन भी एक साथ ही फड़क उठे ॥ ६८ ॥

कुमारिकाया द्रुपदस्य भूपतेः कुचोपमाद्रव्यमिवाभिवीक्षितुम् ।
कुरूद्वहास्तत्र पुरे कुतूहलात्कुलालगेहं प्रथमं समाविशन् ॥ ६६ ॥

कुमारिकाया इति । द्रुपदस्य भूपतेः राज्ञः कुमारिकायाः स्वयंवरायाः द्रौपद्याः कुचोपमाद्रव्यम् स्तनोपमानपदार्थं घटम् अभिवीक्षितुमिव द्रष्टुम् इव ते कुरूद्वहाः कुरुवंशश्रेष्ठाः पाण्डवाः तत्र पुरे द्रुपदनगरे कुतूहलात् घटदर्शनोत्कण्ठापारतन्त्र्यात् प्रथमम् प्राक् कुलालगेहं समाविशन् प्रविष्टवन्तः, तत्रैव द्रुपदपुत्रीस्तनोपमानभूत-घटदर्शनस्यायत्नसम्पाद्यतया प्राक्तत्रैव जग्मुरिति भावः। कौतूहलवशेन द्रौपदी-दर्शनादपि प्राक् तत्कुचोपमानभूतं घटमेव द्रष्टुमचेष्टन्तेति बोध्यम् । अभिवीक्षितु-मिवेति हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ६९ ॥

उस नगरमें आनेपर पाण्डवोंने सबसे पहले कुम्हारके घरमें प्रवेश किया, मानों वे कुतूहलवश राजा द्रुपदकी कन्याके स्तनोंके उपमानभूत घटको देखना चाहते हों ॥ ६९ ॥

तामागमन्नथ पुरीं शतशः ससैन्याः
स्मारं युगोदयमिवाद्भुतमावहन्तः ।
भूपाः स्तुता भुजमुदस्य पठद्भिरग्रे
पद्यं निबद्धविरुदं पटुबन्दिवृन्दैः ॥ ७० ॥

तामागमन्निति । अथ एतदनन्तरम् अद्भुतम् आश्चर्यकरम् स्मारं कामसम्ब-न्धिनम् युगोदयम् कालप्रवृत्तिम् (यत्र धर्मयुगोदयस्तत्र सर्वे धर्मपरा एवं यत्र कामयुगोदयस्तत्र सर्वे कामप्रवृत्ताः सकामाः, तथा च) (आश्चर्यकरं कामयुगम्) आवहन्तः दधानाः प्रवर्त्तयन्तो वा कामातुरा इति भावाः ससैन्याः सेनासहिताः दक्षिणं सव्येतरं भुजं बाहुम् उदस्य उत्थाप्य निबद्धविरुदं यशोराशिमधिकृत्य प्रबद्धं राज्ञां दानस्य शौर्यस्य च वर्णनाय ग्रथितं पद्यम् अग्रे तेषां पुरः पठद्भिः गायद्भिः पटुवन्दिवृन्दैः चतुरवैतालिकसमुदयैः स्तुताः शतशः शतम् भूपाः राजानः तां पुरीम् द्रुपदनगरीम् आगमन् आयाताः । अथ बहवो भूताः सेनाभिः सह तां पुरमुपेता यैः सह सैन्यानि बभूवुः, ये वन्दिभिः स्तूयमाना आसन्, ये चाश्चर्यजनक-रूपेण कामयुताश्चासन् इत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७० ॥

इसके बाद आश्चर्यजनक कामयुगके उदयको धारण करनेवाले, (अर्थात् जिनके मनमें अद्भुत कामवासनाका भावावेश हो रहा था—ऐसे) सेनाओंसे युक्त, आगे आगे यशो-राशिको प्रदर्शित करनेवाले पद्योंको पढ़ते हुए चतुर वन्दियोंसे स्तूयमान सैकड़ों राजा उस नगरीमें आये ॥ ७० ॥

द्यावाभूमी निरुन्धन् यदुबलरजसां श्रेणिभिः सीरपाणि-
र्वेगादागात्स वीरः स्वविनयगुरुणा शौरिणाऽन्वीयमानः ।
आहारश्चायुधं च द्विषदवमतये येन संसेव्यमाने
ते द्वे हालाहलत्वं रणभुवि वहतो नामतः कृत्यतश्च ॥ ७१ ॥

द्यावाभूमी इति । यदुबलरजसां यादवसैन्योद्धतधूलीनां श्रेणिभिः समुदयैः द्यावाभूमी आकाशमवनीं च निरुन्धन् व्याप्नुवन् वीरः शूरः सीरपाणिः बलरामः स्वविनयगुरुणा स्वीयनम्रताख्यगुणेन श्रेष्ठत्वं धारयता अतिविनीतेन शौरिणा श्रीकृष्णेन अन्वीयमानः युक्तः सन् वेगात् द्रुतम् द्रुपदपुरमायातः । येन सीरपाणिना द्विषदवमतये शत्रुपराभवाय संसेव्यमाने भक्षणद्वारा धारणविधया च स्वीक्रियमाणे आहारः भक्ष्यं हाला, आयुधमस्त्रं हलं च द्वे अपि रणभुवि युद्धस्थले नामतः कृत्यतश्च हालाहलत्वं विषरूपत्वं वहतः धारयतः । कृष्णानुतो बलरामो यो हालां पिबति हलं च धारयति, ये द्वे अपि मिलती सती युद्धे शत्रूणां कृते नाम्ना हालाहलभावं कर्मणापि विषरूपत्वं धारयत इत्यर्थः । 'सुरा हलिप्रिया हाला' 'कृषको लाङ्गलं हलम्' 'हालाहलः कालकूटो गरलं विषमित्यपि' इति सर्वत्राभिधानरत्नमाला । स्रग्धरावृत्तम् , 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ ७१ ॥

यादव सेना द्वारा उड़ाई गई धूलिराशिसे पृथ्वी तथा आकाशको आवृत करते हुए एवं अपनी नम्रताके कारण श्रेष्ठता धारण करनेवाले बलरामजी वेगसे उस नगरीमें आ गये, जिनका आहार हाला, और अस्त्र हल, केवल शत्रुके पराभवके लिये ही सेवित होते हैं, और उनके आहार और अस्त्ररूप हाला एवं हल मिलकर युद्धमें वस्तुतः नाममें और काममें दोनों तरहसे हालाहल–विषरूप बन जाते हैं ॥ ७१ ॥

बिभ्राणो मणिदीप्रकुण्डलभरं कर्णत्रयं पार्श्वयो-
रग्रे चातिमनोज्ञरूपमखिलेष्वङ्गेषु दुर्योधनः
सेनादुन्दुभिनादतुन्दिलनभाः स्वस्यानुबिम्बायितै-
रासीदत्स नवाधिकैः परिवृतप्रान्तो नवत्यानुजैः ॥ ७२ ॥

बिभ्राण इति । मणिभिर्दीप्राणि खचितैः रत्नैः प्रकाशशालीनि यानि कुण्डलानि तेषां भरः समुदयो यत्र तादृशम् (कर्णयोः कुण्डलानां रत्नखचितत्वं, राधेयस्य कर्णस्य तु रविप्रदत्ते कुण्डले स्वत एव भास्वरवर्णे, उभयत्रापि मणिभिर्दीप्रत्वं मणिवद्दीप्रत्वं चेति समासभेदेनान्वयः) कर्णत्रयं श्रुती द्वे एकं च राधेयम् पार्श्वयो अग्रे च (पार्श्वयोः श्रुती अग्रे चातिप्रीतिपात्रं कर्णः) अखिलेषु च अङ्गेषु शरीरा

---

१. 'दीप्तकुण्डलधरं' । इति पा० ।

वयवेषु अतिमनोज्ञम् अत्यन्तसुन्दरं रूपं सौन्दर्यं बिभ्राणः धारयन्, सेनानां दुन्दुभिनादेन तुन्दिलं पूरितं नभो व्योम येन तादृशः, स्वस्य अनुबिम्बायितैः प्रतिबिम्बवत् प्रतीयमानैः नवाधिकैः नवत्या नवनवत्या अनुजैः कनिष्ठभ्रातृभिः परिवृतप्रान्तः वेष्टितः सः प्रसिद्धः दुर्योधनः प्रत्यासीदत् समायातः। द्रुपदपुरमायात इत्यर्थः॥ ७२॥

दोनों पार्श्वोंमें मणिखचितकुण्डलधारी दो कर्ण-कान, एवं आगे भी मणिकी तरह चमकनेवाले सूर्यदत्त कुण्डलधारी राधेय-कर्ण, इस प्रकार तीन कर्णोंको एवं सकल अङ्गों में रमणीय रूपको धारण करनेवाला, सेनाके डुन्दुभि शब्दसे आकाशको गुँजा देनेवाला, और निन्यानवे अनुजोंसे वेष्टित वह दुर्योधन भी द्रुपदनगरीमें पहुँच गया॥

तदनु परितः कीर्णैः पुष्पैस्तरंगितसौरभं
मणिमयमहामञ्चारूढावनीन्द्रपरम्परम्।
अगरुजनितैर्धूपैरालिह्यमानवितानकं
स्वनितपटहं प्रापुः पार्थाः स्वयंवरमण्डपम्॥ ७३॥

तदन्विति। तदनु वर्णितराजागमनात्परतः पार्थाः युधिष्ठिरादयः कुन्तीनन्दनाः परितः कीर्णैः समन्ततोऽलङ्कारादिषूपयुक्ततया व्याप्तैः पुष्पैस्तरङ्गितसौरभं समेधितसुगन्धं, मणिमयमहामञ्चेषु रत्ननिर्मितविशालसिंहासनेषु आरूढाः स्थिताः अवनीन्द्रपरम्पराः राजगणा यत्र तादृशम्, अगुरुजनितैः अगुरूत्थैः धूपैः सुगन्धद्रव्यधूमैः आलिह्यमानवितानकम् व्याप्तपटवितानम् स्वनितपटहं वाद्यमानवाद्यम् स्वयंवरमण्डपम् स्वयंवरार्थं कल्पितं सभास्थानं प्रापुः आगताः। सर्वेषु राजसु समायातेषु व्याकीर्णसुमनःसुगन्धियुक्तं मणिमयासनोपविष्टराजकं धूपव्याप्तवितानञ्च स्वयवरमण्डपं पार्थाः समायाता इत्यर्थः। हरिणीवृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'रसयुगं ह्रौन्सौ म्रौस्लो गोपदा हरिणी तदा'॥ ७३॥

इसके बाद पार्थगणने चारों ओर बिखरे हुए फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त, मणिमय मञ्चों पर बैठे हुए राजाओंसे वेष्टित, अगरके धूमसे व्याप्त हो रहा है जहाँका चँदोवा (पटावरण) ऐसे उस स्वयम्वर-मण्डपमें प्रवेश किया॥ ७३॥

जाग्रत्सोमककीर्तिसोमनिमिषत्पद्मावकाशात्यय-
प्राप्तेन्दीवरनित्यवासघटितश्यामप्रभा श्रीरिव।
पाञ्चालस्य सुता ततः परिजनैः सार्धं पुरः पश्यतां
राज्ञां बुद्धिमिवाधिरुह्य शिबिकां रङ्गस्थलीं प्राविशत्॥ ७४॥

जाग्रत्सोमकेति। जाग्रत् सदा दीप्यमानः यः सोमकानां पाञ्चालानां कीर्त्ति-

१. 'अत्ययात्'। इति पा०।

सोमो यशश्चन्द्रः तेन निमिषद्भिः सङ्कुचद्भिः पद्मैः कमलैः अवकाशस्य ससुख-निवासस्य अत्ययेन नाशेन प्राप्तः अगत्याऽङ्गीकृतः इन्दीवरेषु नीलकमलेषु नित्यवासः सदास्थितिः तेन घटिता जनिता श्यामा प्रभा कान्तिर्यस्यास्तादृशी श्रीः लक्ष्मीरिव पाञ्चालस्य द्रुपदराजस्य सुता कन्या द्रौपदी परिजनैः सखीभिः सार्धम् पुरः अग्रे पश्यतां दत्तदृष्टीनां राज्ञां बुद्धिमिव शिबिकां नरवाह्यं यानमारुह्य रङ्गस्थलीं सभामण्डपं प्राविशत् आगता। पाञ्चालानां निस्तन्द्रेण यशश्चन्द्रेण सर्वाणि कमलानि सङ्कुचितानि, तेन लक्ष्म्या वासस्थानानि नष्टानि, अतः सा केवले नीलकमले सततवासेन श्यामतां प्राप्ता, (सर्वेषु कमलेषु सत्सु तु सर्वत्रवासेन तद्रूपं स्वच्छं तिष्ठतिस्म) तादृशी श्रीरिवेयं राजसुता राज्ञां बुद्धीरिवारुह्य शिबिकां स्वयंवरमण्डपमापदित्यर्थः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

पाञ्चालराजाओंका कीर्त्तिचन्द्र सदा चमका करता है, जिससे सभी कमल मुकुलित हो गये, लक्ष्मीके वासका नाश हो गया, अब लक्ष्मीको केवल नीलकमलमें ही बाध्य होकर रहना पड़ रहा है, इसीसे वह काली पड़ गई है, ऐसी लक्ष्मीकी तरह वह द्रुपदराजपुत्री अपनी सखियोंके साथ राजाओंकी बुद्धिमें और शिविका-डोलीमें चढ़कर स्वयंवर-मण्डपमें आई ॥ ७४ ॥

द्रौपदीमुखशशिद्युतिसंपत्कौमुदीमहति रङ्गतटाके।
पक्ष्मचक्रयुगलं नृपतीनां तत्क्षणं विजघटे बहुदूरम् ॥ ७५ ॥

द्रौपदीति। तत्क्षणं द्रौपद्याः स्वयंवरमण्डपे प्रवेशकाले रङ्गः सभामण्डप एव तटाकः जलाशयस्तत्र द्रौपद्या मुखमेव शशी चन्द्रस्तस्य या द्युतिसम्पत् कान्तिसमूहः सैव कौमुदी चन्द्रिका तया महति सुन्दरे मनोज्ञे सति (द्रौपद्याः मुखशशिनः प्रभया कौमुद्या सभामण्डपे प्रकाशिते सति) नृपतीनां राज्ञां पक्ष्मचक्रयुगलं पक्ष्मरूपं चक्रवाकयुगं बहुदूरं विजघटे वियुक्तमभूत् , सर्वेऽपि राजानो निर्निमेष-दृष्ट्या तामपश्यन्नित्यर्थः। चन्द्रिकायां चक्रवाका विघटन्ते, द्रौपदीरूपकान्ति-चन्द्रिकायां राज्ञामक्षिपक्ष्मरूपं चक्रवाकयुगलं विघटितं, सर्वे निर्निमेषा अभूवन्नि-त्यर्थः। सावयवं रूपकमलङ्कारः ॥ ७५ ॥

उस समय सभामण्डपरूप तालाबमें द्रौपदीके मुखरूप चन्द्रमाकी कान्तिरूप चन्द्रिकाके फैल जानेपर राजगणकी बरुनीरूप चक्रवाकयुगल दूर—वियुक्त हो गये। चक्र-वाकके जोड़े चांदनीमें बिछुड़ जाते हैं, राजाओंकी आँखें निर्निमेष होकर द्रौपदीको देखने लगीं, यही सारांश है ॥ ७५ ॥

तां पश्यतः सदसि तस्य महीसुराणां वामेतरे महति वासवनन्दनस्य।
अन्तर्बलस्य सपदि प्रकटीबुभूषोरुद्गलनं किल भुजे स्फुरणं बभूव ॥ ७६ ॥

तां पश्यत इति। महीसुराणां ब्राह्मणानां सदसि मण्डले (स्थित्वा) तां द्रुपद-

पुत्रीं पश्यतः साक्षात्कुर्वतः तस्य वासवनन्दनस्य अर्जुनस्य महती श्लाघनीये वामतरे दक्षिणे भुजे बाहौ सपदि तत्काले प्रकटीबुभूषोः प्रकाशमासादयितुमिच्छतः अन्तर्बलस्य सारवत्तायाः उद्बल्लानम् सञ्चरणं नाम स्फुरणं सञ्चलनं बभूव। ब्राह्मणगोष्ठ्यां स्थितोऽर्जुनो यदा द्रौपदीमैक्षत तदा तस्य दक्षिणो बाहुः स्फुरतिस्म, मन्ये तदीयमन्तर्बलं प्रकाशमासादयितुमन्तर्व्यापारमिव व्यधत्तेति। उत्प्रेक्षा स्फुटा। 'दक्षिणाक्षिपरिस्पन्दः दक्षिणस्य भुजस्य च। हृदयस्य प्रसादश्च सद्यः संसिद्धिसूचकाः' इति शाकुनाः॥ ७६॥

ब्राह्मणोंकी मण्डलीके बीचमेंसे अर्जुनने जब राजपुत्री द्रौपदीको देखा तब उनका दायाँ हाथ ऐसा फड़कने लगा मानो उनका आन्तरिक पराक्रम प्रकट होनेकी इच्छासे छट-पटा रहा हो॥ ७६॥

तावत्सरभसमुपेत्य साक्षादादेष्टुमनाः प्रद्युम्न इव धृष्टद्युम्नः सायकैः साकं सकाशमुपनीतं स्वयंवरदिदृक्षया सपरिवारं प्रत्यासन्नमिव पन्नगपतिं चापं पुरस्कृत्य कन्यावलोकनधन्यान् राजन्यानेवमवादीत्—

तावदिति। तावत् तस्मिन्नवसरे सरभसम् झटिति उपेत्य समाभवनमध्यमाप्य साक्षात् सद्यः उपदेष्टुमनाः स्वाभिप्रायप्रकाशनेच्छुः प्रद्युम्नः कामदेव इव धृष्टद्युम्नः द्रुपदसुतः सायकैः साकम् बाणैः सह सकाशमुपनीतं समीपे स्थापितं स्वयंवर-दिदृक्षया आगतं सपरिवारं सपरिजनं पन्नगपतिं शेषनागमिव चापं धनुः पुरस्कृत्य अग्रे स्थापयित्वा कन्यावलोकधन्यान् द्रौपदीदर्शनकृतार्थान् राजन्यान् क्षत्रियान् एवं वक्ष्यमाणप्रकारम् अवादीत् उक्तवान्। धृष्टद्युम्नः साक्षात्काम इव, (सायकाः सर्पा इव चापः सर्पराज इव,) सपरिवारं पन्नगराजमिव चापमग्रे निधाय राज्ञो वक्ष्यमाणं वचनमूचे इत्यर्थः॥

तवतक स्वयम् उपदेश प्रदान करनेके लिये आये हुए कन्दर्पके सदृश धृष्टद्युम्नने बाणोंके साथ समीप लाये गये—स्वयंवर देखनेकी अभिलाषासे परिजनके साथ आये हुए शेषनागके समान चापको आगे रखकर द्रौपदीके दर्शनोंसे कृतार्थ राजाओंसे इस प्रकार कहा॥

'बाणेन संप्रति नृपा! दिवि लक्ष्यमेत-
त्तच्छायवद्भुवि निपातयितुं पटुर्यः।
मौर्वीमिमामिव स दक्षिण एव पाणौ
कुर्यात्स्वसारमभिदर्श्य मम स्वसारम्'॥ ७७॥

बाणेनेति। हे नृपाः, सम्प्रति अधुना यः कोऽपि दिवि आकाशे स्थितम् एतत्

१. 'समुपेत्य'। २. 'पतितमिव'। इति पा०।

लक्ष्यं यन्त्ररूपम् तच्छायवत् (यन्त्रच्छायातुल्यम्) बाणेन भुवि निपातयितुं भ्रंशयितुं पटुः दक्षः स्यात् , सः दक्षिणे पाणौ हस्ते इमां मौर्वीम् इव स्वसारम् निजपराक्रमम् अभिदर्श्य प्रदर्श्य मम धृष्टद्युम्नस्य स्वसारं भगिनीम् द्रौपदीम् अपि दक्षिणे पाणौ कुर्यात् परिणयेतेत्यर्थः। अये राजानः, यथाऽऽकाशे दृश्यमानस्यास्य यन्त्रस्यच्छाया भुवि पतति, तथा यो वीरो बाणेन यन्त्रमिदं विद्ध्वा भुवि पातयितुं पटुर्भविष्यति, स दक्षिणे पाणौ यथा मौर्वीं धारयन् भविष्यति तथैव तेन हस्तेन द्रौपदीमपि पत्नीत्वेन ग्रहीष्यतीति वीर्यशुल्केयं राजपुत्री न कुलधनादिशुल्का, तत्प्रदर्शयत पराक्रममित्यर्थः। अत्र द्रौपदीमौर्व्योः पाणिग्रहणरूपैकधर्मसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ७७ ॥

हे राजगण, आकाशमें दीखनेवाले इस यन्त्रकी छाया जैसे जमीनपर पड़ रही है, उसी तरह जो इस यन्त्रको जमीनपर गिरानेमें पटु हो सकेगा, वही अपना पराक्रम दिखलाकर दायें हाथमें मौर्वीकी तरह हमारी बहनको ग्रहण कर सकेगा अर्थात् उसीके साथ हमारी यह बहन ब्याह दी जायगी ॥ ७७ ॥

इत्थं प्रगल्भमुदिता रभसेन पीठा-
दुत्थाय चापमुपसृत्य करेऽपि कृत्वा ।
आत्मानमेव कृतयत्नमनैषुरार्तिं
मौर्वीलतां न तु महीपतिपङ्क्तयस्ताः ॥ ७८ ॥

इत्थमिति। इत्थं उक्तप्रकारेण प्रगल्भम् प्रौढभावेन उदिताः धृष्टद्युम्नेनोक्ताः ताः तत्र स्थिताः महीपतिपङ्क्तयः राजसङ्घाः रभसेन वेगेन पीठात् स्वासनात् उत्थाय चापमुपसृत्य चापस्य समीपे गत्वा करे अपि कृत्वा चापं गृहीत्वा च कृतयत्नम् विहितप्रयासम् आत्मानम् स्वम् एव आर्तिं पीडाम् अनैषुः प्रापयामासुः मौर्वीलतां धनुःप्रत्यञ्चां तु आर्तिं धनुष्कोटिं नानैषुः धनुस्तु नारोपितवत्य इत्यर्थः। राजान उत्थाय धनुःसमीपं गत्वा धनुरुत्थाप्यापि च तावता श्रमेणात्मानमेव पीडामलम्भयन् , मौर्वी तु तैः धनुष्कोटावारोपयितुं नाशक्यतेति भावः। 'आर्त्तिः पीडा धनुष्कोट्योः' इति विश्वः। परिसंख्याऽलङ्कारः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार धृष्टद्युम्न द्वारा ललकार करके कहे गये राजगण तेजीके साथ अपने आसनसे उठे, धनुषके पास गये, उसे उठाया, परन्तु इन प्रयासोंसे उन्होंने अपनेको ही आर्त्ति—पीड़ा पहुँचाई, मौर्वीलता—प्रत्यञ्चाको आर्त्ति—धनुष्कोटि तक नहीं पहुँचा सके, उनके द्वारा धनुष नहीं चढ़ा, खुद थककर बैठ गये ॥ ७८ ॥

दृष्ट्वाथ राजकमिदं द्विजसंघमध्यान्निर्गत्य संसदि निलिम्पपतेः कुमारः ।

---

१. 'द्विजमध्यसंघात्' । इति पा० ।

चापे शरं करधृते समधत्त लज्जां भूपेषु भूरि कुतुकं वसुधेन्द्रपुत्र्याम् ।।७९।।

दृष्ट्वाथेति। अथ निलिम्पपतेः देवेन्द्रस्य कुमारः पुत्रोऽर्जुनः इद धनुरारोपयितु मप्यशक्तं राजकं राजसमूहं दृष्ट्वा द्विजसङ्घमध्यात् ब्राह्मणमण्डलात् सदसि स्वयंवर-मण्डपे निर्गत्य निःसृत्य करधृते हस्तेकृते चापे धनुषि शरं बाणं समधत्त योजितवान्, भूपेषु तथाकर्त्तुमशक्तेषु राजसु भूरि प्रचुरमात्रया लज्जां समधत्त तांल्लज्जयामास, वसुधेन्द्रपुत्र्यां राजकुमार्यां द्रौपद्यां च कुतुकं कौतूहलं (किमयमेव मां वरीता ? इत्येवं रूपम्) समधत्त प्रकटी कृतवान्। अत्रैकेन शरसन्धान व्यापारेण राजसुलज्जासन्धानस्य द्रौपद्यां कौतुकाधानस्य च व्यापारद्वयस्य वर्णनाद्विशेषालङ्कारः ॥ ७९ ॥

अर्जुनने जब पृथ्वीपतियोंको धनुष चढ़ानेमें भी असमर्थ देखा तब वे ब्राह्मणमण्डलसे निकलकर सभामण्डपमें आये, धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया, इसीके साथ उन्होंने राजाओंको अतिशय लज्जित तथा राजपुत्रीको कुतूहलयुक्त भी कर दिया ॥ ७९ ॥

वीरेण तेन विशिखेन विलूनमूलं
चक्रभ्रमेण पतयालु तदा शरव्यम्।
अस्मिन्समाजवलये त्वयमेव दोष्मा-
नित्याहिताभिनयलीलमिवाबभासे ।। ८० ।।

वीरेणेति। तदा तेन वीरेण अर्जुनेन विशिखेन बाणद्वारा विलूनमूलम् छिन्नाधारं चक्रभ्रमेण चक्राकारभ्रमणेन चक्रवद् भ्रान्त्वा पतयालु पतत् शरव्यम् लक्ष्यत्वेन कल्पितं शरव्यं यन्त्रम्, अस्मिन् समाजवलये क्षत्रियब्राह्मणमण्डले तु अयम् अर्जुन एव दोष्मान् प्रशंसनीय बाहुशाली इति आहिताभिनयलीलम् धृतचेष्टा विशेषम् इव आबभासे रराज। यदार्जुनः स्वबाणेन लक्ष्यतया कल्पितस्य यन्त्रस्य मूलाधारमच्छैत्सीत् तदा चक्रवद्भ्रान्त्वा तद्यन्त्रमयतन्मन्ये तद्यन्त्रं नृत्याभिनयेनात्रसमाजेऽर्जुन एव प्रशंसनीय भुजशालीत्यूच इवेति भावः। 'पतयालुस्तु पातुके' इत्यमरः ॥ ८० ॥

वीर अर्जुनने बाणसे जब उस यन्त्रका मूल छिन्न कर दिया तब वह यन्त्र चक्रकी तरह नाचकर भूमिपर गिर पड़ा, उसका वह नाचना ऐसा लगा मानो वह अभिनयके द्वारा यह बता रहा हो कि इस ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके समाजमें तो यही अर्जुन प्रशंसनीय भुजबाला है ॥ ८० ॥

तदानीम्—

निष्पतत्सुरकराञ्जलिपुञ्जात्पुष्पवर्षमभितः कुरुवीरम्।

---

१. 'पुरुषेन्द्र'। इति पा०।

मन्दहास इति विक्रमलक्ष्म्याः संदधे सकलचेतसि बुद्धिम् ॥ ८१ ॥

निष्पतदिति। तदानीम् तस्मिन् यन्त्रे छिद्यमाने सुरकराञ्जलिपुञ्जात् देवकरपुरसमुदयात् कुरुवीरम् अर्जुनम् अभितः सर्वतः पतत् स्रंसमानं पुष्पवर्षं सुमनोवृष्टिः विक्रमलक्ष्म्याः पराक्रमश्रियः मन्दहासः स्मितम् इति बुद्धिं ज्ञानं सकलचेतसि सर्वेषां हृदये संदधे जनयामास। अर्जुनेन छिन्ने मत्स्ययन्त्रे देवैः कीर्णं पुष्पन्तदभितः पपात, पतच्च तत्पुष्पं पराक्रमश्रियोमन्दहासत्वेन लोकोऽबुध्यत सकल इत्यर्थः॥ स्वागता वृत्तम्॥ ८१॥

वीर अर्जुनने जब अपने बाणसे उस मत्स्य यन्त्रको काट गिराया तब अमरोंने अपनी-अपनी अञ्जलियोंसे अर्जुनकी चारों ओर फूलोंकी वृष्टि की, वे गिरते हुए फूल लोगोंको ऐसे प्रतीत होते थे, मानों वीर लक्ष्मी उस वीर अर्जुनको देखकर मन्दहास बिखेर रही हो॥

पाञ्चालपुत्रीप्रहिताः कटाक्षाः पाण्डोस्तनूजं परितो ववल्गुः।
माङ्गल्यमालाऽवतरेदिहेति माध्वीलिहः पूर्वमिवोपयाताः॥ ८२॥

पाञ्चालेति। पाण्डोस्तनूजं पुत्रमर्जुनं परितः समन्तात् पाञ्चाल पुत्री प्रहिताः द्रौपदी क्षिप्ताः कटाक्षत्रिभागदृक्पाताः—इह अत्रार्जुने माङ्गल्यमाला शुभाशंसिनी स्वयंवरस्रक अवतरेत् आगच्छेत् (इति संभाव्य) पूर्वं माङ्गल्यमालावतरणात् प्राक् उपयाताः आगताः माध्वीलिहो भ्रमराः इव ववल्गुः परिवारितवन्तः। अत्रार्जुने स्वयंवरस्रगागच्छेदिति संभाव्य पूर्वमेव पतिता भ्रमरावलीव द्रौपदीक्षिप्त कटाक्षावली सर्वतोऽर्जुनं पर्यवेष्टयन्नित्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ ८२॥

द्रौपदीके द्वारा चलाये गये जो कटाक्ष अर्जुनको चारो ओरसे परिवृत करने लगे, वे ऐसे लगते थे मानो यहाँ पर स्वयंवर माला आवेगी इस संभावनासे पहलेही आये हुए भ्रमर हों। जब अर्जुनने यन्त्र भेदन किया तब द्रौपदीने कनखियोंसे उसकी ओर देखा, उसीकी यह उत्प्रेक्षा की गई है॥ ८२॥

जननान्तरनेत्रवारिसृष्टत्रिपथाहेमपयोजगुम्फितेव।
बलवैरिभुवस्तयाधिकण्ठं वरणे चम्पकमालिका वितेने॥ ८३॥

जननान्तरेति। तया द्रौपद्या जननान्तरे पूर्वस्मिन् जन्मनि नेत्रवारिभिः अश्रुभिः सृष्टानि रचितानि यानि त्रिपथाहेमपयोजानि गङ्गासुवर्णकमलानि तैः गुम्फिता ग्रथिता इव चम्पकमालिका चम्पकपुष्पस्रक् वरणे पतित्वेन वरणार्थम् बलवैरिणः शक्राद्भूरुत्पत्तिर्यस्य तस्यार्जुनस्य अधिकण्ठं कण्ठे वितेने न्यस्ता। तदा द्रौपदी पार्थं पतित्वेन वरीतुमात्मनोहस्ते स्थितां चम्पकमालां तस्य कण्ठे निहितवती, पीतवर्णा सा चम्पकमाला द्रौपद्याः पूर्वजन्मनि तयाऽश्रुभिर्गङ्गापयसि सृष्टैः कनककमलैर्ग्रथितेव प्रतीयतेस्मेत्यर्थः। पुरा जन्मनि नालायनी (यात्रजन्मनि द्रौपदी) पत्यर्थं तपस्यन्ती तुष्टेन शिवेन महेन्द्राह्वानाय प्रेरिता सतीन्द्रागमने विलम्बेन

गङ्गापयसि निजाश्रूणि विसृज्य तैरश्रुभिः कनककमलानि जनयामासेति महाभारतीया कथात्र ध्यातव्या ॥ ८३ ॥

पूर्व जन्ममें अपने नेत्रजल–अश्रुसे पैदा किये गये गङ्गाके स्वर्णकमलोंसे विरचितसी चम्पकमाला इन्द्रके पुत्र अर्जुनके कण्ठमें पतित्वेन वरणके निमित्त डाल दी गई, द्रौपदीने पतिके रूपमे वरण करनेके लिये अर्जुनके गलेमें चम्पक माला डाल दी, वह चम्पकमाला पीतवर्ण होनेके कारण ऐसी प्रतीत होती थी मानो द्रौपदीने नालायनी नामक अपने पूर्व जन्ममें अपने आँसुओंसे गङ्गाके प्रवाहमें जिन कनक कमलोंकी सृष्टि की थी, उन्हीं कनककमलोंसे रची गई हो ॥ ८३ ॥

तदनु स महावीराग्रेसरः समग्रगुणशेखरितां नरपतिसुतामिव शरासनलतामुद्वहन्राज्ञां बलमवज्ञाय सभाङ्गणात्क्षणान्निश्चक्राम।[1]

तदन्विति। तदनु द्रौपद्या कण्ठे मालायामासंञ्जितायाम् महावीराणाम् शूराणामग्रेसरः प्रथमः सोऽर्जुनः समग्रगुणैः सौन्दर्य चारित्रादिभिः शेखरिताम् भूषिताम् (समग्रेण अखण्डेन गुणेन मौर्व्या च शेखरिताम् सनाथांचेति धनुर्लता पक्षे) नरपति सुताम् राजपुत्रीम् द्रौपदीम् इव शरासन लतां चापवल्लीम् उद्वहन् धारयन् राज्ञां क्षत्रियाणां बलं सामर्थ्यं सैन्यञ्च अवज्ञाय तिरस्कृत्य किममी करिष्यन्तीति तानविगणयन् इव सभाङ्गणात् स्वयंवरमण्डपात् क्षणात् तत्काल एव निश्चक्राम निरयासीत्।

इसके बाद शूराग्रगण्य अर्जुन समग्रगुणोंसे अलङ्कृत (एवम्–अखण्डित प्रत्यञ्चासे युक्त) राजकुमारीकी तरह धनुर्लताको धारण किये राजगणके बल तथा सैन्यकी परवाह नहीं करते हुए स्वयंवर मण्डपसे उसी समय निकल पड़े।

तदात्व[2] एव खलु खलोऽयमखिलानस्मानतिस्मयेन विस्मरन्कस्मैचिद्दुहितरं विप्राय प्रायच्छदिति द्रुतं द्रुपदाय द्रोहमुन्निद्रयतः कतिचन राजन्याञ्जन्याभिमुखान्प्रति सुलभोन्मेषेण[3] रोषेण, सरभसं भुजोन्नीतैरुपवीतैः कण्ठमावेष्ट्य ममायं यष्टेममायं विप्ररस्य लक्ष्यमिति वचनेन[4] चातिचापलं कुर्वाणान्धरणिगीर्वाणान् भवतां पुनराशीरेव जयराशीकरणायालमिति सस्मितं, निवर्तयन्नमर्त्यपतिकुमारो[5] युधि समारोपितधनुर्गुणनिरर्गलनिर्गलितेन शरनिकरेण तेषां परेषामधिकां दिशि दिशि कान्दिशीकतां दिदेश।

तदात्व इति। तदात्वे तत्काले एव अर्जुने निष्क्रामति सतीत्यर्थः, अयम् पुरोदृश्यमानः खलः दुष्टो द्रुपदः अतिस्मयेन महता गर्वेण अस्मान् राजन्यान् विस्मरन्

---

१. 'सभाङ्गणान्निश्चक्राम'। २. 'एव खलोऽयं'। ३. 'सुलभोन्मेषेण सरभस–'।
४. 'मिति जातिचापलं'। ५. 'कुमारोऽपि समा'। इति पा०।

उपेक्षमाणः कस्मैचित् अज्ञातनामगोत्राय विप्राय ब्राह्मणाय दुहितरं स्वां कुमारीं द्रौपदीं प्रायच्छत दत्तवान् इति एवम् द्रुतं शीघ्रं द्रुपदाय तदाख्याय राज्ञे द्रोहमुन्निद्रयतः द्वेषं जागरयतः द्विपतः कतिचन कतिपयान् राजन्यान् क्षत्रियान् जन्याभिमुखान् युद्धार्थमुद्यतान् प्रति सुलभोन्मेषेण आशुभाविना रोषेण कोपेन सरभसं वेगेन भुजोन्नीतैः करधृतैः उपवीतैः यज्ञसूत्रैः कण्ठमावेष्ट्य आवृत्य मम अयं यष्टेर्लक्ष्यम् अहमसुं लगुडेन हन्मि, ममायं विष्टरस्य महमिमं स्वासनेन ताडयामीति वचनेन च अतिचापलं कुर्वाणान् अतिचाञ्चल्यं नाटयतः धरणीगीर्वाणान् भूदेवान्, भवतां ब्राह्मणानाम् पुनः आशीः शुभाशंसा जयराशी करणाय विजयानां समाहाराय अलम् पर्याप्ता, इति एवं सस्मितं सेषद्धासं निवर्त्तयन् निषेधयन् अमर्त्यपतिकुमार इन्द्रात्मजोऽर्जुनो युधि समारोपितः धनुषि स्थापितो यो गुणः प्रत्यञ्चा ततो निरर्गलमप्रतिहतभावेन निर्गलितेन निष्क्रान्तेन शरनिकरेण बाण राशिना तेषाम् परेषाम् शत्रुभूतानां राज्ञाम् दिशिदिशि कान्दिशीकताम् भयेन पलायमानताम् दिदेश विहितवान् । अयमेतदभिप्रायः—यदा द्रौपदी अर्जुनस्य गले स्वयंवर माल्यमर्पितवती तदा राजानो द्रुपदाया द्रुह्यन्त्यदयमस्माननादृत्य कस्मैचिद्ब्राह्मणाय कन्यामदादिति, तेषां द्रोहमिममनुचितं मन्यमाना विप्रास्तान् राज्ञो दण्डेन विष्टरेण च मारयितुं प्रायतन्त, तथा चेष्टमानाँश्च विप्रान् भवदाशीरेव ममजयं साधयिष्यति मा वृथा एतान्भवन्तो वधिषुरिति सस्मितं निवर्त्य धनुष्या रोप्यमौर्वीं ततोऽबाधभावेन बाणान् वर्षन्नर्जुनः सर्वान् राज्ञो भयद्रुता नकरोदिति । 'कान्दिशीको भयद्रुतः' इत्यमरः ।

उस द्रौपदीने जब अर्जुनके गलेमें जयमाला डाल दी तब राजा लोग बिगड़ पड़े, उन्होंने यह कहकर द्रुपदसे द्वेष करना प्रारम्भ किया कि इस द्रुपदने हम लोगोंका अपमान करके एक ब्राह्मणको अपनी कन्या दे दी। उनके इस प्रकार कहनेसे ब्राह्मणोंको क्रोध हो आया, उन लोगोंने क्रोधसे जनेऊको हाथसे लेकर गलेमें लपेट लिया, अर्थात् मैं इसको लाठीका लक्ष्य बनाता हूँ, मैं इसको आसनका लक्ष्य बनाता हूँ इस प्रकार जल्दबाजी करते हुए ब्राह्मणोंको अर्जुनने यह कहकर हँसते हुए मना किया कि आपके आशीर्वाद ही हमारी विजयराशिके लिये पर्याप्त हैं। ब्राह्मणोंको इस प्रकार रोककर अर्जुनने अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाई और अबाध रूपमें बाणवृष्टि करने लगे, उनके बाणोंसे राजागण चारों ओर भयसे तितर-बितर हो गये।

तावदस्य राजसंघस्य जङ्घालतामनुकुर्वद्भिरिव रथार्वद्भिरपरार्णवाभ्यर्णमवतीर्णवति तूर्णमर्णोजबन्धौ तेन निहितां दीप्तिमपरामिव[1] तां दयितामनुरञ्जयन्नयमपि धनंजयस्तामेव वासभुवमाससाद ।

---

१. 'अपर इव' । इति पा० ।

तावदिति । तावत् तदा अस्य भयेन पलायमानस्य राजसंघस्य राजगणस्य जङ्घालताम् अतिद्रुतगमित्वम् अनुकुर्वद्भिः अनुहरद्भिः इव रथार्वद्भिः रथर्या जितैं रश्वैः अपरार्णवाभ्यर्णम् पश्चिमपयोधिसमीपम् तूर्णम् शीघ्रम् अवतीर्णवति आयाते अर्णः जलं तत्र जातम् अर्णोजं कमलं तद्बन्धौ सूर्ये तेन निहिताम् स्थापिताम् अपरां द्वितीयां दीप्तिं प्रभामिव तां दयितां प्रेयसीम् द्रौपदीम् अनुरञ्जयन् प्रीणयन् अयं धनञ्जयोऽर्जुनोऽपि तामेव प्राचीनां वासभुवम् आवासस्थलं कुलालगृहमाससाद प्राप्तः । राज्ञः पलायमानान् दृष्ट्वाताननुकुर्वन्तः सूर्याश्वा अपि पलायितुमारभन्त, तेन ते शीघ्रमेव कमलबन्धुमपरसागरसमीपं प्रापयन् , सूर्येण निशिस्वप्रभैकावह्नौ क्षिप्यते, तदियं द्रौपदी द्वितीया प्रभेव तस्य धनञ्जये क्षिप्ता, वह्निः सूर्यस्य प्रभां रागं प्रापयति, द्रौपदीमपि धनञ्जयोऽनुरञ्जयति, धनञ्जयपदस्य वह्निरर्जुनश्चार्थ इति बोध्यम् ॥

उस समय भागनेवाले राजगणकी द्रुतगामिताका अनुकरण करनेवाले रथमें जुते सूर्यके घोड़े भी तेजीसे भागने लगे जिससे भगवान् सूर्य भी शीघ्र ही पश्चिमसागरके समीप आ गये, और सूर्यके द्वारा छोड़ी गई दूसरी प्रभाकी तरह दीखनेवाली द्रौपदीका अनुरञ्जन करता हुआ अर्जुन अपने वासस्थलमें आ गये ॥

स्वेदाम्बुभिर्निटिलजैः पदयोः सवित्री-
मार्द्रीचकार स तया सह चापपाणिः ।
मोदाम्बुभिर्नयनजैस्तमियं च मौलौ
विस्मेरचेतसि कुलालवधूसमाजे ॥ ८४ ॥

स्वेदाम्बुभिरिति । चापपाणिः धनुर्धरः सोऽर्जुनः निटिलजैः ललाटदेशोद्भूतैः स्वेदाम्बुभिः घर्मजलैः सवित्रीं मातरं कुन्तीं तया द्रौपद्या सह सहितः पदयोः चरणावच्छेदेन आर्द्रां चकार द्रौपद्युपेतोऽर्जुनः कुन्त्याश्चरणौ ववन्दे, तद्वन्दनेन तच्छिरः सम्भूतस्वेदजलेन कुन्तीचरणौ क्लिन्नौ बभूवतुरित्यर्थः । इयं कुन्ती च विस्मरेचेतसि राजपुत्रीसहितार्जुनदर्शनेन चकितचित्ते कुलालवधूसमाजे तम् अर्जुनम् मौलौ शिरोदेशे मोदाम्बुभिः हर्षाश्रुविन्दुभिः आर्द्रां चकार, प्रणमतोऽर्जुनस्य मस्तकमाजिघ्रन्तीकुन्ती स्वहर्षाश्रुप्रवाहेण तन्मौलिमार्द्रीकृतवतीति च तात्पर्यम् ॥ ८४ ॥

द्रौपदीके साथ आकर धनुर्धारी अर्जुनने ललाटोत्पन्न पसीनेसे अपनी मांके चरण भिगो दिये, माताने आश्चर्यचकित कुलालरमणियोंके समाजमें अर्जुनका माथा सूंघा, जिससे कुन्तीके आनन्दाश्रुसे उनका सिर भींग गया ॥ ८४ ॥

कुवलयदृशः कुम्भं जिग्युः कुचैरिति भाषिते

१. 'भाषितैः' । इति पा० ।

करिवरशिरः कर्मेत्येवं प्रहृष्टमनाश्चिरम् ।
द्रुपददुहितुर्दृष्ट्वा तुङ्गौ कुलालपतिः कुचौ
निजमपि घटं निश्चित्यैवं नितान्तमलज्जत ॥ ८५ ॥

कुवलयदृश इति । कुवलये नीलकमले इव दृशो यासां ताः कुवलयदृशोवनिताः कुचैः स्वीयैः स्तनैः कुम्भं जिग्युर्जितवत्य इति भाषिते उक्ते सति (अत्रत्यस्य जयतेः) करिवरशिरः करिमस्तकम् एव कर्म (प्रोक्तवाक्ये कुम्भशब्दस्य गजशिरः परत्वम्) इति हेतोः चिरं बहुकालपर्यन्तं प्रहृष्टमनाः प्रसन्नहृदयः कुलालपतिः कुलालमुख्यः द्रुपददुहितुः द्रौपद्याः तुङ्गौ विशालौ कुचौ दृष्ट्वा निजमपि घटम् एवं विजितं निश्चित्य अवधार्य नितान्तम् अत्यर्थम् अलज्जत लज्जामनुबभूव । अयमाशयः—स्त्रीणां कुचैः कुम्भोजित इति श्रुत्वा तत्रस्थकुम्भशब्दस्य गजशिरः परत्वमेव न घटपरत्वमिति संभावयन् कुलालपतिः पूर्वं स्वीयं घटमपराजितं मत्वा महान्तमानन्दमन्वभूत्परं द्रौपद्याःस्तनौ पश्यतस्तस्य मनसि स्वघटस्यापि पराजयं मत्वा लज्जोदिता, स्वस्येव स्वीयपराजयस्यापि त्रपाकरत्वादिति । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ८५ ॥

रमणीके स्तनोंने कुम्भको विशालतामें परास्त कर दिया, ऐसा सुनकर कुलालराजने समझा कि यहाँ कुम्भसे मतलब है हाथीके मस्तकसे, और इस प्रकार सोचकर वह बहुत समय तक खूब खुश रहा, परन्तु जब उसने द्रौपदीके स्तन देखे तब उसे अपने घटोंकी भी पराजयका निश्चय हो गया, और इस प्रकार वह लज्जित हो गया ॥ ८५ ॥

अन्येद्युर्गृहमुपनीय पूजितांस्तान्
व्यासोक्त्या विदितवरः पुरामरातेः ।
पञ्चापि क्षितिपतिनन्दनान्सुतायाः
पाञ्चालो निशि परिणीतयेऽनुमेने ॥ ८६ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः ततः परस्मिन्नहनि पाञ्चालो राजा द्रुपदः व्यासोक्त्या व्यासस्य कथनेन पुरामरातेः शिवस्य विदितवरः ज्ञातवरदानः द्रौपद्या नालायनीजन्मनि पतिपञ्चकलाभात्मकवरदानविषयकज्ञानवान् सन्नित्यर्थः, तान् पञ्चापि क्षितिपतिनन्दनान् पाण्डवान्युधिष्ठिरादीन् पूजितान् सत्कृतान् निशि रात्रौ गृहमुपनीय स्वभवनं प्रापय्य सुतायाः द्रौपद्याख्यस्वकन्यायाः परिणीतये विवाहाय अनुमेने पञ्चभिरपि समं स्वपुत्र्याः पाणिग्रहणं स्वीकृतवानित्यर्थः । इयं तव कन्या पूर्वस्मिन् जन्मनि नालायनी नाम, भर्त्रर्थं तपस्यया शिवं प्रसादितवती, तेन च वरं वरीतुमादिष्टा 'पतिं मे देहि' इति पञ्चकृत्वो व्याहृतवती, शिवोऽपि पञ्चपतींल्लभस्वेति

---

१. 'एवम्' । इति पा० ।

स्वीकृतवान्। तदुवरप्रभावेणात्र जन्मनि पञ्चपतिलाभोऽस्या जायते इति व्यासस्य कथनं तर्क्यम् ॥ ८६ ॥

दूसरे दिन व्यासके कहनेसे जब द्रुपदको मालूम हो गया कि उनकी कन्याको पूर्वजन्ममें महादेवने पांच पति पानेका वरदान दिया था, तब उन्होंने युधिष्ठिरादि पांचों राजकुमारोंको सत्कार करके अपने घर बुलाकर सभीके साथ अपनी लड़कीका विवाह स्वीकार किया ॥ ८६ ॥

ततः परमीदृशोत्सवश्रवणात्परमानन्दमनुभवन्तीभिरन्तःपुरिकाभिः[1] परिवृतां तां सखीजना मण्डनमण्डपिकामुपनीय प्रसाधयितुमारभन्त।

ततः परमिति। ततः परं राज्ञा कन्यादानं स्वीकृत्य प्रारब्धे तत्संभारे सति ईदृशोत्सवश्रवणात् द्रौपदी धर्म्यं पतिपञ्चकं प्राप्नोतीति हर्षविषयं निशम्य परमानन्दम् उत्कटकोटिकं हर्षम् अनुभवन्तीभिः अन्तःपुरिकाभिः अवरोधजनैः परिवृतां वेष्टितां तां द्रौपदीम् सखीजनाः वयस्याः मण्डनमण्डपिकाम् मण्डनार्थं कल्पितां शालाम् उपनीय प्रापय्य प्रसाधयितुम् उद्वर्त्तनशिरोजसंयमनालङ्कारपरिधापनादिना सज्जयितुम् आरभन्त प्रारब्धवत्यः ॥

इसके बाद जब राजाने पांचों पाण्डवोंके साथ द्रौपदीका विवाह मञ्जूर कर लिया तब यह सुनकर अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंको बड़ा आनन्द हुआ, वे द्रौपदीको मुबारकवादी देनेके लिये आईं और उसे घेरकर बैठ गईं, तथा सखियोंने उसे मण्डनशालामें ले आकर संवारना प्रारम्भ कर दिया ॥

द्रौपद्याः पञ्चपत्नीत्वे द्रष्टुं लिपिमिवोत्सुका।
सीमन्तशिल्पव्याजेन शिरोजान्व्यभजत्सखी ॥ ८७ ॥

द्रौपद्या इति। सखी काचन वयस्या द्रौपद्याः पञ्चपत्नीत्वे पञ्चभिः परिणेयत्वे विषये लिपिं ब्रह्मणो लिखितं द्रष्टुं साक्षाद्विलोकयितुम् उत्सुका उत्कण्ठमाना इव सीमन्तशिल्पव्याजेन केशप्रसाधनकलाप्रदर्शनच्छलेन शिरोजान् व्यभजत् केशान् द्विधा विभक्तवती। इयं द्रौपदी पञ्चभिः परिणेष्यते, अयं विषयोऽस्याः कपाले ब्रह्मणा कुत्र लिखित इति मार्गमाणेव काचन सखी द्रौपद्याः शिरोजानां प्रसाधनं व्याजीकृत्य तान्विभज्य स्थापितवती, (येन ब्रह्मलिपिर्द्रष्टुं शक्येत इत्याशयः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ८७ ॥

किसी सखीने—द्रौपदीके पांच पति होंगे, यह बात उसके कपालमें कहाँपर लिखी है, इसका पता लगानेके लिये उसके शिरके वालोंको वारीकीके साथ संवारनेके छलसे उसके वालोंको बांटकर दो भागोंमें कर दिया (जिससे मांगवाली जगहपर ब्रह्माकी लिखावट पढ़ी जा सके) ॥ ८७ ॥

---

१. 'रन्तःपुरकाभिः'। इति पा०।

मृगमदतिलकं रराज तन्व्या मुखशशिना महसा बलाहृतायाः ।
चिकुरमिषजुषोऽपराधशान्त्यै नमितमपत्यमिवान्धकारवन्द्याः ॥ ८८ ॥

मृगमदेति । तन्व्याः कृशाङ्ग्याः द्रौपद्याः मृगमदतिलकं कस्तूरीकृतो ललाटस्थ-विन्दुः मुखशशिना मुखरूपेण चन्द्रमसा महसा स्वतेजो द्वारा बलात् हठात् आहृतायाः आनीतायाः चिकुरमिषजुषः केशपाशव्याजमाश्रितायाः अन्धकारवन्द्याः अन्धतमसरूपायाः वन्दीभूतायाः कस्याश्चित् स्त्रियाः अपराधशान्त्यै मातृकृताप-राधक्षमापणाय नमितं प्रणतीकृतम् अपत्यम् सन्ततिरिव रराज शुशुभे, अय-मर्थः—मुखरूपः शशी राजा, स स्वप्रतापेनान्धरूपां काञ्चन स्त्रियं वन्दी चकार, या चिकुरव्याजमुपेत्य मुखशशिनः समीपे तिष्ठति, सा स्वापत्यमिव मृगमद-तिलकं नमितं कृत्वा चन्द्रेण स्वापराधं क्षम्यमाणपेक्षते, काचन स्त्री वन्दीभूता स्वा-पत्यं प्रणमय्य स्वापराधं क्षमापयतीति व्यवहारानुरोधिनीयमुत्प्रेक्षा बोध्या ॥ ८८ ॥

कृशाङ्गी द्रौपदीके मुखमें लगाया गया कस्तूरी-तिलक ऐसा लगता था मानो मुख रूप चन्द्रमाद्वारा बलपूर्वक वन्दी की गई—और केशपाशके रूपमें उसके पास वर्त्तमान अन्धकार रूप बन्दीका बच्चा (मृगमदतिलक) प्रणाम करके अपनी माताके अपराधकी क्षमा-याचना कर रहा हो ॥ ८८ ॥

अधिनासिकाशिखरमाकलितं नवमौक्तिकं नरपतेर्दुहितुः ।
शुशुभे मुखाम्बुरुहमध्यचरस्मितहंसिकाजनितमण्डमिव ॥ ८९ ॥

अधिनासिकेति । नरपतेः राज्ञो द्रुपदस्य दुहितुः पुत्र्याः द्रौपद्याः अधिनासा-शिखरं नासाग्रे आकलितं योजितं नवमौक्तिकम्—मुखाम्बुरुहस्य मुखकमलस्य मध्यचरी अभ्यन्तरचारिणी या स्मितहंसिका ईषद्धासरूपा हंसी तया जनितम् उत्पादितम् अण्डम् कोशमिव शुशुभे रराज । द्रौपद्या नासाग्रे समासज्यमानं मौक्तिकं मुखाम्बुरुहमध्यचारिस्मितहंसीप्रसूतमण्डमिव प्रतीयतेस्मेत्यर्थः । अत्र मौक्तिके धावल्यवर्त्तुलत्वादिकृताऽण्डत्वोत्प्रेक्षारूपकं चालङ्कारौ ॥ ८९ ॥

राजकन्या द्रौपदी की नासाके आगे लगाया गया मौक्तिक ऐसा प्रतीत होता है मानो मुखकमलमें भ्रमण करनेवाली हंसीने अण्डा दिया हो, हंसीका अण्डा गोल चमक-दार होता है, इसीसे मोतीमें उसकी उत्प्रेक्षा की गई है ॥ ८९ ॥

सुतरां जनमोदमादधाते सुतनोर्मौक्तिकरत्नकर्णपत्रे ।
परिचेतुमिवाननेन्दुसेवां परिवेषस्य शिशू समीपभाजौ ॥ ९० ॥

सुतरामिति । सुतनोः सुन्दर्या अस्या द्रौपद्याः कर्णपत्रे कर्णिकानामके कर्णभूषणे द्वे आननस्य द्रौपदीमुखस्येव इन्दोः चन्द्रस्य सेवां परिचर्याम् परिचेतुम् अभ्यसि-

१. 'शशिनो'। २. 'सुदृशः'। इति पा० ।

तुम् समीपभागौ मुखेन्दुसकाशमुपेतौ परिवेषस्य परिधेः शिशू बालकाविव सुतराम् अत्यन्तं जनमोदम् लोकानामानन्दमादधाते सम्पादयतः। लोका द्रौपद्या वर्त्तुलधवले ते कर्णभूषणे दृष्ट्वाः प्रमोदमायान्ति ये चन्द्रसेवामभ्यसितुं तत्समीपागतौ परिवेषस्य शिशू इव प्रतीयेते इत्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्येन्दुमण्डलम्' इत्यमरः॥ ९० ॥

सुन्दरी द्रौपदीके कानोंमें पहनाये गये कर्णिका नामक कर्णाभरण लोगोंको आनन्द देते थे, वे कर्णाभरण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो परिवेषके बच्चे चन्द्रमारूप मुखकी सेवाका अभ्यास करनेके लिये चन्द्रमाके पास आये हों। परिवेष कहलाता है—चन्द्रमा या सूर्यके विम्बके चारों ओर कभी-कभी दीखनेवाला मण्डल, जिसे लोग 'सभा' कहते हैं॥ ९० ॥

ताटङ्के तरलमणिप्रभातरंगे तन्वङ्ग्या मुखमभितस्तदा व्यभाताम् ।
मूर्तत्वं प्रकटमुपेत्य जागरूके वर्णे द्वे नयनविपाठयोरिवान्ते ॥ ९१ ॥

ताटङ्के इति। तदा तरलाः चलाः मणीनां खचितरत्नानां प्रभातरङ्गाः कान्तिप्रवाहाः ययोस्तादृशे ताटङ्के कर्णभूषणे तन्वङ्ग्याः द्रौपद्याः मुखमभितः मुखस्य पार्श्वदेशयोः-नयनविपाठयोः नेत्ररूपबाणयोरन्ते अवसानभागे मूर्त्तत्वम् शरीरधारित्वमुपेत्य प्राप्य जागरूके विद्यमाने तयोर्विपाठयोरन्ते चरमेवर्णे ठकारौ इव व्यभाताम् प्रतीयेतेस्म। द्रौपद्याः कर्णयोः स्थितौ वर्त्तुलौ मध्यखचितश्यामलरत्नौ च ताटङ्कौ (नयनशरयो) नेत्रविपाठयोः अन्तिमौवर्णाविवमूर्त्तिमन्तौ प्रतीयेतेस्म, तौ हि वर्त्तुलाकारौ मध्यविन्दुघटितौ च लिख्येते देशविशेषे, तदाधारेणैवेयमुत्प्रेक्षा। 'ताटङ्कः कर्णभूषणम्' 'स्थलक्ष्वेडो विपाठश्च चित्रपुङ्ख शरः सरः' इति त्रिकाण्ड शेषः॥ प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ९१ ॥

जिनसे कान्तिकी तरङ्गें उठा करती हैं ऐसे ताटङ्क-कर्णभूषण-द्रौपदीके मुखके दोनों ओर ऐसे दीख पड़ते थे, मानो उसकी दोनों आँखोंमें वर्त्तमान (कन्दर्पके) विपाठ-शर के अन्तिम दो वर्ण हों। कर्नाट लिपिमें लिखा जाता है गोल तथा मध्यमें विन्दु देकर। उसीके आधारपर यह उत्प्रेक्षा की गई है। ताटङ्क भी गोल और मध्यमें श्यामरत्नसे खचित होता है, वह ऐसा लगता है मानो दोठ लिखे हों॥ ९१ ॥

सख्याः करोऽञ्जनविधौ सकृदेव गन्तु-
मापाङ्गभागमपटुः श्रममानशे यः ।
रेखावधेरनवगामितया दृगङ्गं
पूर्वोक्तमेव स पुनः पुनराललम्बे ॥ ९२ ॥

सख्या इति। सख्याः द्रौपदीप्रसाधनपरायाः कस्याश्चिद्वयस्याया यः करो हस्तः

१. 'दृगन्तम्'। इति पा०।

अञ्जनविधौ द्रौपद्या नेत्रयोरञ्जनकर्मणि अपाङ्गभागम् नेत्रान्तपर्यन्तम् सकृत् एकवारम् एव गन्तुम् प्राप्तुम् अपटुः असमर्थः सन् श्रमम् व्यापारबाहुल्यकृतं-खेदम् आनशे प्राप, सः करो रेखावधेः नेत्रविभाजकरेखारूपस्यावधेः अनवगामितया अज्ञातृतया पूर्वोक्तम् पूर्वं न्यस्ताञ्जनम् एव दृगङ्गम् नयनं पुनः आललम्बे आशिश्रिये, पुनरञ्जयितुमिति शेषः। नेत्रे अञ्जयन्ती सखी विशालस्य नेत्रस्यापाङ्गमेव गत्वा श्रान्ता सती रेखाया अपरिचयेन पारं प्राप्तमसंभावयन्ती पुनस्तदक्तमेवाप्ति–पुनराश्रितवत्यञ्जयितुमित्यर्थः। अत्र नयनयोस्तादृग्दैर्घ्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ९२ ॥

द्रौपदीकी प्रसाधनामें लगी हुई सखीका जो हाथ अञ्जन लगानेमें अपाङ्ग तक पहुँचकर एक बारमें ही थकावटका अनुभव करने लगा, उस हाथको नेत्रविभागकारिणी रेखाका ज्ञान नहीं हो सका, अतः उस हाथने उस अञ्जित नेत्रको ही पुनः अंजन लगानेके लिये अवलम्बित किया। आँखोंकी विशालतासे सखीके हाथको थककर पुनः अञ्जित नेत्रमें ही अञ्जन लगानेके लिये बाध्य होकर लौट आना पड़ा ॥ ९२ ॥

सकलमपि वपुावभूष्य तन्व्याः सपदि सखी विपुलेक्षणाम्बुजापि।
चिरतरमनवेक्ष्य मध्यदेशं करधृतकाञ्चनकाञ्चिरेव तस्थौ ॥ ९३ ॥

सकलमपीति। तन्व्याः कृशाङ्ग्याः द्रौपद्याः सकलम् समग्रम् वपुः शरीरं विभूष्य यथोचितालङ्करणादिना प्रसाध्यापि विपुलेक्षणाम्बुजा विशालाक्षी अपि सखी द्रौपदीवयस्या सपदि तत्काले मध्यदेशं कटिभागम् अनवेक्ष्य अनवलोक्य चिरतरं बहुकालपर्यन्तं करधृतकाञ्चनकाञ्चिः हस्तन्यस्तसुवर्णरशना एव तस्थौ स्थिता, क्व काञ्चीमिमां न्यस्येयमिति विभावयन्त्येवातिष्ठत्, इत्यर्थः। अत्र द्रौपदीमध्यभागस्यावलोकनसम्बन्धेऽपि तदसंबन्धाभिधानादतिशयोक्तिः, एवं सख्या नेत्रयोर्विशालतारूपदर्शनसामग्रीसत्त्वेऽपि दर्शनरूपकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिश्चेत्यनयोः सङ्करः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ९३ ॥

सखीने द्रौपदीका सारा शरीर अलङ्कृत करके जब काञ्ची पहनाना चाहा तब उसे विशाल आँखोंसे भी द्रौपदीका मध्यभाग नहीं दीख पड़ा, और इसलिये वह बहुत देर तक हाथोंमें सोनेकी बनी काञ्ची लिये खड़ी ही रह गई, कहाँ पहनावे यह नहीं समझ सकी ॥ ९३ ॥

काञ्चीकलापमणिबिम्बितपार्श्वयोषि-
त्कौशेयपङ्क्तिरवनीन्द्रसुता बभासे।
आविर्भविष्यदधिगोष्ठि कटीनिमग्नं
वासः शतं जनदृशामिव सूचयन्ती ॥ ९४ ॥

१. 'मध्ययष्टिम्'। इति पा०।

काञ्चीकलापेति । काञ्चीकलापे काञ्चीदामनि ये मणयो रत्नानि तेषु प्रतिविम्बिताः प्रतिफलिताकृतयः पार्श्वयोषितां समीपस्थरमणीनां कौशेयपङ्क्तिः पट्टवस्त्रमाला यस्याः सा तथोक्ता काञ्चीमणिप्रतिफलितसमीपस्थवनिताधृतकौशेयपरिधानसन्ततिः साऽवनीन्द्रसुता अधिगोष्ठि द्यूतसभायां (दुःशासनकृतवस्त्रापहरणवेलायाम्) आविर्भविष्यत् प्रकाशमासादयिष्यत् वासःशतम् अनन्तवासांसि कटीनिमग्नम् श्रोणीदेशेऽवस्थितं सूचयन्ती ज्ञापयन्ती बभासे दिदीपे । अयमाशयः—द्रौपद्याः काञ्चीमणिषु प्रतिबिम्बितानि समीपस्त्रीणां वासांसि दुःशासनकृतवस्त्रापहारसमये प्रकटीभविष्यन्ति वाससां शतानीव प्रच्छन्नानि स्थितानि प्रतीयन्ते-स्मेति । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९४ ॥

द्रौपदीकी काञ्चीमें खचित मणियोंमें प्रतिविम्बित होनेवाले समीपस्थ औरतोंके वस्त्र ऐसे मालूम पड़ते थे मानों द्रौपदीने कभी आगे चलकर द्यूतसभामें प्रकट होनेवाले अपने विशाल वस्त्रपुञ्ज कटिप्रदेशमें छिपाकर रख लिये हैं, उसीको लोगोंको बता रही हो कि देख लो हमने पहले ही इतने वस्त्र संचित कर रखे हैं, द्यूतसभामें हमारी लाज नहीं जा सकेगी ॥ ९४ ॥

आतङ्कपीडामददां पुराऽहमस्यास्तदा भाविषु वल्लभेषु ।
एवं विचिन्त्येव भयेन पादे लाक्षाकृतं धाम पपात तन्व्याः ॥ ९५ ॥

आतङ्केति । अहं लाक्षागृहं कर्तृ पुरावारणावतपुरनिवासावसरे अस्याः द्रुपदसुतायाः भाविषु भविष्यत्सु वल्लभेषु स्वामिषु आतङ्कपीडाम् शङ्काकृतं दुःखम् 'कदाचिद्वयमत्र दह्येमहि' इति संभावनया मनःकष्टम् अददां दत्तवत्, एवम् अनेन प्रकारेण विचिन्त्य स्मृत्वा स्वापराधं विभाव्य भयेनेव तदा सखीकृतद्रुपदतनयाप्रसाधनकाले लाक्षाकृतं धाम अलक्तकोपपादितं तेजः (लाक्षारचितं गृहम् च) तन्व्याः कृशाङ्ग्याः द्रौपद्याः पादे चरणप्रान्ते पपात निपतितम् । लाक्षाधाम्ना (नामसाम्याल्लाक्षागृहेण) चिन्तितं यदहमस्याः द्रौपद्या भाविनः पतीम् पाण्डवान् वारणावतपुराधिकरणकवाससमये दाहशङ्कया व्यथामदामिति तद्भयाकुलम् भूत्वा लाक्षाधाम—अलक्तकृतं रक्ताभं तेजोऽस्याश्चरणमशिश्रियत्स्वापराधक्षमापणप्रतीकारभूतत्वात् पादपतनस्येत्याशयः । लाक्षाधाम्नो लाक्षाधामत्वेन रूपणमुत्प्रेक्षा च ॥

लाक्षाधाम शब्दके दो अर्थ हैं, लाक्षासे बना घर और लाक्षा द्वारा प्रस्तुत तेजकान्ति, दोनों एक ही शब्दसे कहे जाते हैं, अतएव एक हैं, लाक्षाधाम—लाक्षागृहने सोचा कि मैंने उस समय, जब पाण्डव वारणावत पुरमें रहते थे, तब उनके हृदयमें दाहकी शङ्का उत्पन्न करके द्रौपदीके भावी पतियोंको मानसिक कष्ट दिया था, इसी बातको याद करनेसे डरकर

---

१. 'द्रुतम्' । इति पा० ।

वह लाक्षाधाम–लाक्षाकृत तेज इस समय कृशाङ्गी द्रौपदीके चरणोंमें गिर रहा है। (अपना अपराध क्षमा करानेके लिये) ॥ ९५ ॥

तस्याः सखीषु सकलास्वपि तत्तदङ्गं
वेगाद्विभूषितवतीषु विवाहवेषैः ।
कालक्ष्यासहनवृद्धपुरोहितानां[1]
कोपस्य पात्रमभवत्कुचशिल्पकर्त्री ॥ ९६ ॥

तस्याः सखीष्विति । सकलासु सर्वासु कलावित्सु च सखीषु तद्वयस्यासु तस्याः द्रौपद्याः तत्तदङ्गं करपादादि वेगात् शीघ्रतया विभूषितवतीषु वैवाहिकोपयुक्तालङ्कारादिना सज्जीकृतवतीषु अपि कुचशिल्पकर्त्री स्तनयोश्चित्रादिनिर्माणपरा सखी कालक्षयं शुभमुहूर्त्तापगमं न सहन्ते ते कालक्षयासहनास्तादृशानां वृद्धपुरोहितानां कोपस्य पात्रं क्रोधगोचरः अभूत् । सर्वास्सख्यस्तत्तदङ्गं प्रसाध्य निवृत्तकार्याः, परं विशालयोः कुचयोश्चिरप्रसाध्यतया तत्र विलम्बमादधत्यै सख्यै शुभमुहूर्त्तव्यतिगममसहमाना वृद्धाः पुरोधसः कोपं प्रकाशयामासुः इत्यर्थः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९६ ॥

द्रौपदीकी सभी अन्य सखियाँ सभी और अङ्गोंको वैवाहिक अलङ्कारोंसे वेगपूर्वक अलङ्कृत कर चुकीं, फिर भी विशाल कुचोंपर चित्रादि बनाने वाली सखीका कार्य सम्पन्न नहीं हो सका था, इसी समय शुभ मुहूर्त्तके बीतनेको नहीं बर्दास्त करनेवाले बूढ़े पुरोहित उस कुचचित्रकरी सखीपर बिगड़ पड़े कि यह व्यर्थ देर करती है, शुभ समय बीत जायगा ॥ ९६ ॥

एवमलंकृतामेनामालोक्य[2] स्वयमपि संध्यारुणिमसंपादितलाक्षाकृत्यामञ्जनतिलकरञ्जितमुखभागां[3] परिणेतुमिव प्रतीचीं दिशमुपगतवति भगवति भासांनिधौ,—

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण अलङ्कृतां सखीभिः भूषिताम् एनाम् द्रौपदीमालोक्य दृष्ट्वा स्वयम् आत्मना अपि—सन्ध्यारुणिम्ना सायन्तनरागेण सम्पादितं विहितं लाक्षाकृत्यं यावककार्यं यस्यास्तां तथोक्ताम्, अञ्जनतिलकेन कज्जलबिन्दुना (अञ्जनतिलकाख्याभ्यां वृक्षाभ्याञ्च) रञ्जितो भूषितो मुखभागो मुखदेशो यस्यास्तां तथोक्ताम्, प्रतीचीम् पश्चिमामाशाम् परिणेतुं वोढुमिव उपगतवति भगवति भासांनिधौ सूर्ये, सूर्येऽपि प्रतीच्या दिशया विवाहं कर्त्तुमिव तत्समीपमुपागच्छति सति, सूर्येऽस्तोन्मुखे सतीत्यर्थः ।

द्रौपदीको इस प्रकार सजी देखकर—खुद भी-सायंरागसे जिसने अलक्तक कार्य

---

१. 'कालक्षिपा' । २. 'अवलोक्य' । ३. 'मञ्जुलमुखभागाम्' । इति पा० ।

लिया है और अञ्जनतिलक नामक वृक्षरूप कज्जलबिन्दुसे जो शोभित है ऐसी प्रतीची दिशाके साथ विवाह सा सम्पन्न करनेके लिये जब भगवान् सूर्य प्रतीचीके समीप चले गये, तब—

तस्यामेव क्षपायां सपदि निजकुलोत्तंसपार्थोत्सवाना-
मालोकायेव साक्षाद्विशति हिमरुचौ द्यां शुभंयौ मुहूर्ते।
सोपानैरध्यरुक्षन्मरकतखचितैर्वेदिमेते कुमाराः
सालंकाराः पुरोधःसरभसनिहितैः संविधानैः समग्राम् ॥९७॥

तस्यामेवेति। तस्यामेव क्षपायां रात्रौ सपदि सद्यः निजकुलोत्तंसाः चन्द्रवंशालङ्काराः ये पार्थाः कुन्तीपुत्राः युधिष्ठिरादयस्तेषाम् ये उत्सवाः विवाहमङ्गलानि तेषाम् आलोकाय प्रत्यक्षीकरणाय इव हिमरुचौ चन्द्रे साक्षात् स्वयं द्याम् आकाशं विशति आगच्छति सति, शुभंयौ शुभान्विते मुहूर्त्ते समये सालङ्काराः गृहीतवैवाहिकवस्त्राभरणाः एते युधिष्ठिरादयः कुमाराः राजपुत्राः पुरोधोभिः पुरोहितैः सरभसंवेगेन निहितैः स्थापितैः संविधानैः उपकरणैः कुशपल्लवपुष्पादिभिः समग्राम् युक्ताम् वेदिम् वैवाहिकं मण्डपं मरकतखचितैः हरिन्मणिबद्धैः सोपानैः अध्यरुक्षन् आरूढवन्तः। जाते चन्द्रोदये युधिष्ठिरादयो वेदीमायाता इत्यर्थः॥ स्रग्धरावृत्तम्॥

उसी रातमें चन्द्रमा जब अपने वंशभूषण पार्थों के वैवाहिक उत्सवको देखनेके लिये खुद आकाशमें चढ़ गये, तब शुभ मुहूर्त्तमें युधिष्ठिर आदि राजकुमार–पुरोहितों द्वारा शीघ्रतासे रखे गये कुशादि साधनोंसे भरी वेदी पर नीलमसे बनी सीढ़ियोंके सहारे आरूढ़ हुए॥ ९७॥

तत्र मुहूर्तगुणेष्विव समन्तादोजायमानेषु दीपेषु मन्त्रविदां वदनेष्विव शब्दायमानेषु वाद्येषु कुलपालिकाः कमनीयमणिकोरकितैः कनकभूषणैरविकृतसहजरामणीयकां कन्यकाममीषां सकाशे निवेशयामासुः।

तत्रेति। तत्र विवाहमण्डपवेद्याम् मुहूर्त्तगणेषु वैवाहिकलग्नेषु इव समन्तात् सर्वतः ओजायमानेषु ओजोवद्भासमानेषु प्रकाशशालिष्वित्यर्थः। मन्त्रविदाम् मन्त्रोच्चारमाचरतां वैदिकानां वदनेषु मुखेषु इव वाद्येषु मङ्गलसूचकपटहादिषु शब्दायमानेषु शब्दं कुर्वाणेषु, कुलपालिकाः प्रसिद्धाः पतिव्रताः स्त्रियः कमनीयमणिकोरकितैः सुन्दररत्नराशिखचितैः कनकभूषणैः स्वर्णालङ्कारैः अविकृतसहजरामणीयकाम् अक्षुण्णस्वाभाविकसौन्दर्याम् कन्यकां कुमारीं द्रौपदीम् अमीषां पाण्डवानां सकाशे पार्श्वे निवेशयामासुः स्थापितवत्यः। शुभमुहूर्त्ते वाद्येषु सशब्देषु वैदिकेषु मन्त्रानुच्चारयत्सु च कुलस्त्रियः कन्यां वेदीस्थितानां पाण्डवानां समीपे

१. 'मणिगण'। २. 'मणिनिकायकोरकितैः'। इति पा०।

समानिन्युरित्याशयः । ओजःशब्दात्क्यङि कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति सलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः, ततः 'शानचि' 'ओजायमानेषु' इति रूपम् । अत्र मुहूर्त्तगणानां दीपैः मन्त्रविदां वाद्यैश्च साम्यप्रतीतिस्तुल्ययोगिताल‌ङ्कारं सृजति ॥

वेदीके ऊपर दीप जल रहे थे, मानो वे दीप मुहूर्त्त की तरह अपना ओजगुण प्रकाशित कर रहे हों, मन्त्र बोलनेवाले पण्डित मन्त्र बोल रहे थे, बाजे भी बज रहे थे, ऐसे ही समयमें सुन्दर रत्नोंसे शोभित स्वर्णाभरणोंसे अलङ्कृत होने पर भी जिसकी स्वाभाविक रमणीयतामें कुछ विकार नहीं पैदा हुआ है, ऐसी कुमारी द्रौपदीको सुहागिनोंने इन पाण्डवों के पास लाकर बिठा दिया ॥

पूतपार्श्वे कुशाङ्कूरैः पुरस्तान्मणिकुट्टिमे ।
प्राज्वलत्तस्य धौम्यस्य प्रतिबिम्बं[1] इवानलः ॥ ९८ ॥

पूतपार्श्वे इति । कुशाङ्कूरैः अभिनवकुशैः पूतपार्श्वे पवित्रसर्वभागे मणिकुट्टिमे मणिमयवेदिकायां पुरस्तात् अग्रभागे तस्य पुरोहितत्वेन वृतस्य प्रख्यातस्य च धौम्यस्य तदाख्यस्य मुनेः प्रतिबिम्बः प्रतिकृतिरिव अनलः वह्निः प्राज्वलत् । कुशैरास्तीर्यमाणैः पवित्रितसर्वभागे तत्र मणिमयकुट्टिमे वह्निः प्रादुरासीत्, मन्ये स धौम्यस्य तेजस्विनः प्रतिबिम्बः स्यादित्यर्थः । पुरोहितो वेद्यामग्निस्थापनाङ्गभूतं कुशास्तरणं कृत्वाऽग्निं स्थापितवान् इति कथाभागः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९८ ॥

कुशोंसे पवित्रीकृत सर्वभागा उस मणिमय वेदीपर आगेमें अग्नि प्रकट हुई, वह ऐसी लगती थी मानो तेजस्वी धौम्यकी प्रतिच्छाया हो ॥ ९८ ॥

धर्मान्प्रजाश्च बहु[2] संचिनुतानयेति
शाम्यत्समिच्चटचटात्कृतिभिर्ब्रुवाणः ।
तामात्मजां द्रुपदराज इवानलोऽपि
प्रादादिवोन्नतशिखाग्रकरेण तेभ्यः ॥ ९९ ॥

धर्मानिति । यूयम् पाण्डवाः अनया द्रौपद्या सह धर्मान् श्रौतान्स्मार्त्तांश्च विधीन् प्रजाः सन्ततीश्च बहु प्रभूतं यथास्यात्तथा संचिनुत सम्पादयत, इति शाम्यन्तीनाम् वह्नौ दह्यमानानां समिधां काष्ठानां चटचटात्कृतिभिः चटचटाशब्दैः इति प्रोक्तप्रकारकं वचनं ब्रुवाणः पार्थानुद्दिश्याभिदधानः अनलः वह्निः अपि द्रुपदराज इव ताम् आत्मजां पुत्रीम् (द्रौपद्या याजकृत यज्ञसम्भूतत्वेनाग्निपुत्रीत्वमपि सूपपन्नम्) उन्नतानां समेधिनां शिखानामग्रेण ऊर्ध्वभागेन करेण तेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रादात् सम्प्रदत्तवान् इव । अग्निर्द्रौपद्या जनकः स हि तां पाण्डवेभ्यः सम्प्रददाति, तस्य शिखाग्र एव करः, समिद्भिर्दह्यमानाभिः कृतश्चटचटा शब्द एव दानवाक्या-

१. 'बिम्बम्' । २. 'सह' । इति पा० ।

वलिः, इति चमत्कारकरोऽभिप्रायः, द्रुपदो यथा स्वहस्तेन तां पाण्डवेभ्यो धर्मभार्याभावेन ददौ तथा वह्निरपि ददाविवेत्युत्प्रेक्षा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९९ ॥

आप लोग इस द्रौपदीके साथ धर्मसंग्रह और पुत्रोत्पादन करें ऐसा कहकर द्रुपदने द्रौपदी नामक अपनी कन्या उन्हें दे दी और अग्निदेवने भी उन्हीं वाक्योंको जलती हुई लकड़ीकी चटचटाहट शब्दसे दुहराकर शिखाग्ररूप करसे द्रौपदीको पाण्डवोंको दे दिया ॥ ९९ ॥

अथ जातुषालयसमर्पणात्कृतं
परिपोषमस्य वपुषोऽभिवीक्षितुम् ।
स्पृहयालवः किल पृथासुताः क्रमा-
त्परिचक्रमुर्हुतभुजं वधूसखाः ॥ १०० ॥

अथ जातुषेति । अथ पाणिग्रहणानन्तरम् पृथासुता युधिष्ठिरादयः पञ्च भ्रातरः वधूसखाः वध्वा द्रौपद्या सहिताः जातुषालयसमर्पणात् लाक्षागृहरूपस्वादुभक्ष्यप्रदानात् कृतं जनितम् अस्य वह्नेः वपुषः कायस्य परिपोषम् पुष्टिम् अभिवीक्षितुम् समन्ततो विलोकयितुम् स्पृहयालवः काङ्क्षन्तः क्रमशः पूर्वदिक्क्रमेण हुतभुजं वह्निम् परिचक्रमुः प्रदक्षिणीकृतवन्तः । अस्माभिरस्मै वह्नये जातुषालयो भक्ष्यतया दत्तः, सोऽयं वपुषा कियतीं पुष्टिमधिगतवानिति समन्ततो द्रष्टुं कामयमाना इव पाण्डवा द्रौपद्या सहाग्निं परितो बभ्रमुरित्यर्थः, वैवाहिकविध्यङ्गभूताग्निपरिक्रमणस्य पुष्टिदर्शनत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । 'जतुत्रपुविकारे तु जातुषं त्रापुषं त्रिषु' इत्यमरः ॥ १०० ॥

पाण्डवोंने आगको समूचा लाक्षागृह भोज्यके रूपमें दिया था, उसे खा लेनेसे आगकी देहमें कितनी पुष्टि हुई है इसी बातको चारों ओरसे खूब अच्छी तरह देखनेकी इच्छा सी रखनेवाले युधिष्ठिरादि पाण्डवोंने उस समय वधू द्रौपदीके साथ अग्निकी प्रदक्षिणा की, वे उसके चारों तरफ घूमे ॥ १०० ॥

कठिनत्वसंपदवलेपभरात्कुचकुड्मलस्य कुरुवीरवधूः ।
कृतनिर्जयेव पतिपाणिधृतं पदमश्मनः शिरसि सा निदधे ॥ १०१ ॥

कठिनत्वेति । सा कुरुवीरवधूः द्रौपदी कुचः स्तनः कुड्मलः मुकुल इव तस्य कठिनत्वसम्पत् कठोरतारूपा समृद्धिस्ततोऽवलेपभरः गर्वातिशयस्तस्मात् कारणभूतात् कृतो विहितो निर्जयः पराजयो यया सा तथोक्ता इव अश्मनः शिलाखण्डस्य शिरसि उपरि पतिपाणिधृतम् पतिभिः स्वहस्तैर्धार्यमाणं पदम् स्वचरणं निदधे दत्तवती । अश्मोपरि चरणधारणं वैवाहिको विधिः, तत्र वधूः पतिधृतं

---

१. 'हुतवहम्' । इति पा० ।

स्वपादमश्मनि दधाति, तत्रोत्प्रेक्षते—मन्ये स्वकुचकाठिन्यद्वारा द्रौपदी अश्मनः काठिन्यं जितवती, जितकाठिन्यमश्मानं पराजयसूचकेन शिरसि चरणन्यासेनाभिभवति चेति। 'कुचकुड्मल'शब्देनोपमा। प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १०१ ॥

उस कुरुवीर वधू द्रौपदीने अपने कुड्मलाकार स्तनोंकी कठोरतासे पत्थरकी कठोरता जीत ली है, इसीलिये वह मानो पत्थरके सिरपर अपना वह चरण रख रही थी जिसे उसके पति पकड़े हुए थे। नववधू लज्जासे स्वयं पत्थरपर पैर नहीं रखती है, उस कार्यमें पतिदेव उसका चरण पकड़कर उसे पत्थरपर रखवा देते हैं, यही बतानेके लिये 'पतिपाणिधृत' कहा है ॥ १०१ ॥

कन्यया[1]भ्युपहृता विधिलाजाः कन्दलत्यनलरोचिषि पेतुः।
पञ्चवल्लभकराग्रविमर्दाद्बाहुवंशगलिता इव मुक्ताः ॥ १०२ ॥

कन्ययेति। कन्यया द्रौपद्या अभ्युपहृताः त्यक्ताः विधिलाजाः लाजहोमाख्यविवाहविध्यङ्गभूता लाजाः पञ्चानां युधिष्ठिरादीनां वल्लभानां पतीनां कराग्रैः हस्ताग्रभागैः विमर्दात् पीडनात् हेतो बाहुवंशात् द्रौपदीकररूपवंशात् गलिताः पतिताः मुक्ता इव कन्दलति ज्वलति अमलरोचिषि वह्नितेजसि पेतुः पतन्तिस्म। अयमाशयः—द्रौपदी लाजहोमकर्मणि पतिभिर्धृतबाहुः वह्नौ लाजान् विसृजति, तत्काले तस्मात् पतन्तो लाजाः पतिपञ्चकपीडिततद्धस्तवंशपतितानि मौक्तिकानीव प्रतिभान्तिस्मेति। वंशतो मौक्तिकमुत्पद्यत इति प्रसिद्धिमनुरुध्य हस्तपतितलाजानां वंशपतितमुक्ताभावेनोत्प्रेक्षणं कृतम्। लाजानां धावल्यान्मुक्तात्वं हस्तयोश्च वर्तुलत्वलम्बत्वाभ्यां वंशता संभाव्यते। स्वागतावृत्तम् ॥ १०२ ॥

कन्या द्रौपदी द्वारा गिराये गये लावा जलती हुई आगमें गिर रहे थे, वे ऐसे लगते थे मानों पांचों पतिओं द्वारा पीडित-धृत द्रौपदीके हाथ रूप वंशसे मोती गिर रहे हों। बांस हाथ-लावा मोतीकी तुलना उत्प्रेक्षाका फल है ॥ १०२ ॥

विधिचोदनासु मणिदीपयष्टिकापरितः[2]स्फुरत्प्रतिकृतेश्च सुभ्रुवः।
उभयोर्विवेचनविधौ पुरोधसःस्खलनं बभूव न तु मन्त्रतन्त्रयोः ॥ १०३ ॥

विधिचोदनास्विति। विधिचोदनासु वैवाहिककर्मरूपहोमादिविधौ प्रेरणासु इदं कुरु इदं कुरु इत्येवंरूपासु प्रक्रान्तासु—मणिदीपयष्टिका परितः स्फुरत्प्रतिकृतेः मणिमयदीपाधारप्रतिबिम्बितद्रौपदीप्रतिकृतेः सुभ्रुवः यथार्थद्रौपद्याश्च (मध्ये) उभयोः प्रतिकृतिसत्यद्रौपद्योः विवेचनविधौ यथार्थ ज्ञानकर्मणि पुरोधसो धौम्यस्य पुरोहितस्य स्खलनं भ्रमः बभूव, मन्त्रतन्त्रयोः मन्त्रपठनतदनुष्ठानयोस्तु स्खलनं भ्रमोनाभूत्। अयमाशयः—द्रौपदी वेद्यां स्वयं स्थिता, मणिमयदीपाधारे प्रति-

---

१. 'कन्यकाभ्युपहृताः'। २. स्फुरदिन्दिराप्रतिकृतेश्च'। इति पा०।

बिम्बिता तत्तनुश्च, अनयोः सादृश्यातिशयेन धौम्यो यदा कदाचित् कर्मोपदेशकाले द्रौपदीं विहाय तत्प्रतिकृतिमेवादिशति, सोऽयमेव भ्रमस्तस्य जातो न मन्त्रतन्त्रयोर्भ्रमो विस्मरणादिरूपो जात इति। परिसङ्ख्यालङ्कारः, भ्रमस्य मन्त्रतन्त्रविषयकत्वपरिहारेण द्रौपदी तत्प्रतिकृतिविवेचनविषयकतया व्यवस्थापनात्॥ १०३॥

द्रौपदी स्वयं भी वेदीपर बैठी थी, और वहाँ रखे गये मणिनिर्मित दीपाधारमें उसकी पड़ती हुई प्रतिमूर्त्तिरूपा दूसरी द्रौपदी भी वहाँ बैठी थी, ऐसी स्थितिमें धौम्य-पुरोहित को विधियाँ करवानेमें धोखा हो जाता था, कि कौन सच्ची द्रौपदी है और कौन प्रतिमूर्त्ति है, परन्तु मन्त्र-तन्त्रमें धोखा नहीं होता था॥ १०३॥

बाहुप्रताप इव साक्षिणि हव्यवाहे
सामन्तराजधरणेरिव याज्ञसेन्याः।
काङ्क्षासमं क्रमश एव करं गृहीत्वा
हर्षेण वृद्धिमभजन्नवनीन्द्रपुत्राः॥ १०४॥

बाहुप्रताप इति। अवनीन्द्रपुत्राः पाण्डुराजपुत्राः युधिष्ठिरादयः बाहुप्रतापे भुजवीर्ये इव हव्यवाहे वह्नौ साक्षिणि सति सामन्तराजधरणेः शत्रुनृपराज्यस्य इव याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः काङ्क्षासमम् इच्छासमकालम् एव क्रमशः ज्येष्ठानुपूर्व्येण क्रमेण च करं राजप्राप्यं भागं हस्तं च गृहीत्वा हर्षेण वृद्धिम् अभजन् समृद्धा जाताः। यथाऽमी राजकुमाराः स्वभुजवीर्यं साक्षीकृत्य करदराजभूरेर्यथेच्छं कर क्रमशो गृहीत्वा प्रसन्नतां यातास्तथैव वह्निं साक्षीकृत्येच्छासमकालम् ज्येष्ठानुक्रमेण द्रौपद्याः पाणिं गृहीत्वा हर्षेण पूर्णा जाता इत्यर्थः। तुल्ययोगिताकाव्यलिङ्गालङ्कारयोः सङ्करः॥ १०४॥

जिस प्रकार इन राजकुमारोंने अपने भुजवीर्यको साक्षी बनाकर सामन्त राजगणसे उनकी भूमिका कर-राजदेय भाग एक क्रमसे यथेच्छ लेकर वृद्धि प्राप्त की, उसी प्रकार वे अग्निको साक्षी बनाकर इच्छाकालमें ही ज्येष्ठक्रमानुसार राजकुमारी द्रौपदीका पाणिग्रहण करके भी हर्षसे पूर्ण हुए॥ १०४॥

पाञ्चालराजश्च स पाण्डवश्च पुष्यत्तमौ पूजकपूज्यभावम्।
आढ्यंभविष्णुत्वमकिंचनत्वं व्यत्यस्यतां ताविव यौतकैस्तैः॥१०५॥

पाञ्चालराजश्चेति। पूजकः सत्कारकर्त्ता पूज्यः पूजायोग्यश्च, तयोर्भावम् स्वरूपम् पुष्यत्तमौ अतिशयेनधारयन्तौ सः पाञ्चालराजः द्रुपदः, पाण्डवो युधिष्ठिरश्च तौ तैः रत्नहस्त्यश्वादिभिर्नानाविधैः यौतुकैः विवाहावसरप्रदेयैः आढ्यंभविष्णुत्वं धनिकत्वम् अकिञ्चनत्वं दारिद्र्यं च व्यत्यासयताम् परिवर्त्तितवन्तौ इव। अयमाशयः–

१. 'व्यत्यास्यताम्'; 'व्यत्यास्थताम्'। २. 'स्वैः'। इति पा०।

विवाहादस्मात्पूर्वं द्रुपदः आढ्यतमो युधिष्ठिरश्च दरिद्र आस्तां परं विवाहे द्रुपदस्ता-वन्ति यौतुकानि दत्तवान् यैर्दीयमानैः सः दरिद्रः कृतः, युधिष्ठिरश्च तैर्लभ्यमानैराढ्यः सञ्जातो मन्ये तदा तौ स्वं स्वं धनिकत्वं दारिद्र्यं च परिवर्त्तितवन्तौ इति । 'आढ्यं भविष्णुः' इत्यत्र 'कर्त्तरि भुवः' इतीष्णुच्, अनाढ्यः आढ्यो भवतीत्याढ्यं भविष्णुः, नास्ति किञ्चन यस्य सः अकिञ्चनः ॥ १०५ ॥

सत्कार करनेवाला राजा द्रुपद एवं सत्कार पाने वाला युधिष्ठिर उस समय दिये एवं पाये गये दहेजके कारण ऐसे लगते थे मानों वे दोनों अपनी धनिकता तथा गरीबी आपसमें परिवर्त्तित कर रहे हों । द्रुपद धनी थे वह पूजक थे, उन्होंने पूजनीय एवं दरिद्र जामाता युधिष्ठिरको बहुत सम्पत्ति दहेजमें दे दी, जिससे द्रुपद दरिद्र हो गये और युधिष्ठिर धनी हो गये, ऐसा मालूम पड़ा मानों यह दोनों आपसमें धनिकत्व एवं गरीबीका अदला-बदला कर रहे हों ॥ १०५ ॥

एवमन्तरिक्षनिक्षिप्तलक्ष्यवेधनलक्षणेन शुल्कनिष्केण निजकण्ठनि-ष्कायितकन्याभुजलतानेतान्पथि कौन्तेयानवगन्तारो दुरहंतारोपितनिवर्त-नमतयो विकर्तनतनयोपायविधेयैः सहायैः सह संमन्त्र्य समारब्धपूर्वस्य युद्धपलायनाध्ययनस्य द्वितीयावृत्तिविच्छित्तिं परिजिहीर्षमाणा इवं शकु-निभागिनेयाः सेनापुरःसरनिःसाणनिःसारितनिःस्वानलालितैः क्ष्वेलितैः क्षालितगवाक्षमौनरौक्ष्यं द्रुपदपुरं पुनरपि निरुद्ध्य निरुच्छ्वासयांचक्रुः ।

एवमिति । एवम् अनेन विवाहप्रकारेण अन्तरिक्षे आकाशे निक्षिप्तं यत् लक्ष्यं मत्स्यरूपं तस्य वेधनम् बाणेन भेदनं तल्लक्षणेन तत्स्वरूपेण शुल्कनिष्केण कन्यामूल्यतया देयधनेन हेतुना निजकण्ठनिष्कायितकन्याभुजलतान् स्वकण्ठा-वस्थापितद्रौपदीबाहून् (आकाशस्थापितमत्स्य यन्त्रभेदनरूपं कन्यामूल्यं प्रदाय तां परिणीय च तद्बाहुपाशालिङ्गित कण्ठान्) एतान् पञ्चवरान् पथि मार्गे पार्थान् युधिष्ठिरादीन् पाण्डवान् अवगन्तारः जानन्तः (एते पार्था एव कन्यां लब्धवन्त इति ज्ञात्वा) दुरहन्तया दुरहङ्कारेण आरोपिता जनिता (पार्थानां) निवर्त्तने द्रुपदान्तःपुरप्रवेशाद्वारणेमति येषां ते तथोक्ताः शकुनिभागिनेयाः (गान्धार्या-भ्राताशकुनिरतिदुर्मतिस्तद्द्दौरात्म्यं सूचयितुमिदं नाम) दुर्योधनादयः विकर्त्तन-तनयः सूर्यसुतः कर्णस्तस्योपायाः सामादयस्तद्विधेयैः वश्यैः सहायैः दुःशासना-दिभिः सह संमन्त्र्य विचार्य—समारब्धपूर्वस्य पूर्वमारब्धस्य युद्धात्पलायनरूप-स्याध्ययनस्य पाठस्य द्वितीयावृत्तिविच्छित्तिम् पुनरावृत्तिराहित्यञ्च परिजिहीर्ष-

१. 'वेध' । २. 'इव ते' । ३. 'ललितैः' ४. 'क्ष्वेडितैः' । ५. 'रौक्ष्यम्' । ६. 'नगरम्' । ७. 'निर्वार्य'; 'निर्वाय' । इति पा० ।

माणाः परिहर्त्तुमिच्छन्त इव (यदधीयते तद्द्विरावर्त्यते, तेन तदधीतं स्थिरं भवति, एभिरपि दुर्योधनादिभिः पाण्डवैस्सह युद्धे पलायनमधीतं तन्मा विस्मारीति बुध्येव पुनर्युद्धमारभ्य पलायनं कृत्वा तद्दृढीकर्त्तुं कामयमाना इवेत्यर्थः) सेनाग्रः पुरस्सरः अग्रदेशे स्थितो यो निस्साणो दुन्दुभिस्ततो निस्सारितः प्रकटी कृतोयो निःस्वानः शब्दस्तेन लालितैः पुष्टतां लम्भितैः (दीर्घतां गमितैः) क्ष्वेलितैः स्व-सिंहगर्जितैः क्षालितं दूरी कृतं गवाक्षाणां भवनवातायनानां मौनं निःशब्दत्वमेव शैथ्यं यत्र तादृशम् (शब्दपूरितेषु गवाक्षेषु तेषां मौनं क्षालितं भवेत्) द्रुपदनग-रम् पुनः अपि (एकदा द्रोणाज्ञया सपाण्डवाः कौरवाः पूर्वमपि द्रुपदपुरं निरुद्ध-वन्तोऽतोऽधुनातनं निरोधनं पुनरपीति विशेषितम्) निरुच्छ्वासयाञ्चक्रुः (तत्र-स्थप्राणिनां वहिर्निर्गमनादि प्रतिबन्धं कृत्वा) निरुच्छ्वासं चक्रुः परितोऽवरुद्धवन्त इत्यर्थः। 'समारब्धपूर्वस्य युद्धपलायनाध्ययनस्य द्वितीयावृत्ति परिच्छित्तिं परि-जिहीर्षमाणा इव' इत्युत्प्रेक्षा। 'विकर्त्तनार्क मार्त्तण्ड' इति 'विधेयोविनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः' इति चामरः॥

इस प्रकार आकाशमें रखे गये लक्ष्यका वे धन रूप कीमत चुकाकर अपने गलेमें नववधूकी भुजलता डाले हुए वरोंको पार्थ जानकर दुर्योधनादिने दुरहङ्कारवश सोचा कि इन्हें लौटा दें, अर्थात् शेष वैवाहिक विधिके लिये जानें न दें, अनन्तर शकुनिके भाञ्जे दुर्योधनादिने कर्णकी होशियारीसे अधीन रहनेवाले अपने साथियोंसे परामर्श करके द्रुपदके नगरको घेर कर निरुच्छ्वास कर दिया, वहाँके वासियोंके लिये सांस लेना भी कठिन कर दिया, मानों दुर्योधनादियोंने पाण्डवके साथ युद्धमें भागनेका जो पाठ पढ़ा था उसकी पुनरावृत्ति. विच्छेदको वे वचाना चाहते थे, उन लोगोंने उस द्रुपद नगरको घेरा जिसके भवनकी खिड़कियाँ सेनाके आगेमें वजती हुई दुन्दुभिके शब्दसे परिवर्धित दुर्योध-नादि सिंह गर्जनोंसे अपने मौनका भङ्ग कर रही हैं, अर्थात् जहाँ पर इनका भयङ्कर गर्जन तथा दुन्दुभिनाद घर घर व्याप्त हो रहा है॥

तत्क्षणमेव सत्वरं निर्गते[१]षु विविधैरायुधैरशून्येषु द्रुपदसैन्येषु।

तत्क्षणमेवेति। तत्क्षणम् पुरनिरोध समकालम् एव विविधैः खड्गगदादिभिर्नाना-प्रकारकैः आयुधैः प्रहरणैः उपेतेषु युक्तेषु द्रुपदसैन्येषु द्रुपदसैनिकेषु (युद्धार्थं) सत्वरं निर्गतेषु शीघ्रं पुराद्बहिरायातेषु सत्सु 'ते पृथासुता अपि पुरान्निरीयुः' इति वक्ष्यमाणेन वाक्यपूर्त्तिः॥

तत्काल ही नाना प्रकारके शस्त्र अस्त्रोंसे सज्जित द्रुपद सैनिक झट जब गांवके बाहर लड़नेके लिये निकल पड़े तब—॥

पृथासुतास्तेऽपि रथाधिरूढा द्विधा विचार्यैव[२] पुरान्निरीयुः।

---

१. 'निर्गत्वरेषु'। २. 'एव'। इति पा०।

शरैर्विधातुं द्विषतोऽपि चूर्णास्तत्सुभ्रुवामप्यलकानचूर्णान् ॥ १०६ ॥

पृथासुता इति । ते युधिष्ठिरादयः पृथासुताः पार्था अपि रथाधिरूढाः रथेषूपविष्टाः सन्तः शरैर्बाणैः द्विषतः शत्रून् दुर्योधनादीन् चूर्णान् खण्डशः कृतान्, तेषां द्विषतां सुभ्रुवां स्त्रीणाम् अलकान् केशान् अपि अचूर्णान् कुङ्कुमादि प्रसाधन चूर्णरहितांश्च विधातुं कर्त्तुम् द्विधा उभयथा विचार्य इव पुरात् द्रुपदनगरात् निरीयुः निर्याताः । युधिष्ठिरादयः पाण्डवा अपि रथानधिष्ठाय शत्रून्मारयितुं तेषां वधूनां वैधव्यकृतं केशेष्वसंस्कारं च सम्पादयितुं विचार्यैव नगरान्निर्याताः इत्यर्थः ॥

युधिष्ठिर आदि कुन्तीके पुत्र भी रथों पर बैठकर अपने शरोंसे शत्रुओंको चूर्ण करने एवं उनके मारे जानेके कारण उनकी स्त्रियोंके बालोंमें कुङ्कुमादिप्रसाधनचूर्णका राहित्य करनेके लिये विचार करके ही मानों निकल पड़े ॥ १०६ ॥

शङ्खान्दध्मुस्ताडयन्ति स्म भेरीश्चक्रुः [1]द्वेलाश्चापना[3]दान्विवव्रुः ।

सिद्धादीनां द्योसदां लालनीये युद्धारम्भे ते द्वयेऽपि प्रवीराः ॥ १०७ ॥

शङ्खानेति । ते द्वये प्रकारद्वैविध्येन प्रख्याताः पाञ्चालाः कौरवाश्च प्रवीराः योद्धारः दिवि स्वर्गे सीदन्ति तिष्ठन्ति ये ते द्योसदः आकाशचारिणः स्वर्गस्थाश्च तेषां द्योसदां सिद्धादीनाम् नारदादि मुनीनां सिद्धचारणादीनां च लालनीये प्रशंसनीये युद्धारम्भे युद्धाद्यक्षणे शङ्खान् दध्मुः अवादयन्, भेरीः ताडयन्तिस्म, क्ष्वेलाः सिंहनादान् चक्रुः विहितवन्तः, चापनादान् धनुष्टङ्कारान् विवव्रुः प्रकटी कृतवन्तः । द्वयोरपि पक्षयोर्वीरायुद्धोपक्रमकरणीय शङ्खवादनभेरीताडनसिंहनादधनुष्टङ्कारान् प्रारब्धवन्त इति भावः । शालिनी वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'शालिन्युक्ता म्तौतगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ॥ १०७ ॥

पाञ्चाल तथा कौरव उभय पक्षके वीरोंने आकाशचारी सिद्धादि द्वारा प्रशंसित उस युद्धके आरम्भमें शङ्ख फूँके, भेरियाँ बजाईं, सिंहनाद किये, और अपने धनुषोंको टंकारित किया ॥ १०७ ॥

अनयोर्बलयोर्महारथानामवलोकाय नभोजुषां सुरीणाम् ।

सुदृशां च पुरस्य सौधभाजां वरणस्रग्विधृतैव भेदिकाभूत् ॥ १०८ ॥

अनयोरिति । अनयोःबलयोः, कौरवपाञ्चालसैन्ययोः महारथानाम् प्रसिद्धयोद्धृणाम् अवलोकायदर्शनाय नभोजुषाम् आकाससमवस्थितानां सुरीणाम् देवाङ्गनानां सौधभाजां प्रासादशिखरमारूढानाम् पुरस्य द्रुपदनगरस्य वनितानां च भेदिका पार्थक्येन ज्ञापनकरी विधृता करस्थिता वरणस्रक् युद्धे मृतानां वीराणां पतित्वेन वरणार्थं रचिता माला एव अभूत्, अयमर्थः—प्रवर्त्तमाने युद्धे महारथा-

---

१. 'चक्रम्' । २. 'क्ष्वेडाम्' । ३. 'नादम्' । इति पा० ।

न्नवलोकयितुं द्रुपदपुरललनाः प्रासादमारुरुहुः देवाङ्गना अपि नभसि समायाताः तत्र तयोरतिशयितसाम्येन का देव्यः काश्चैतत् पुरवनिता इति ज्ञानं नाभविष्यत्परं देवबाला युधि मृतान् वरीतुं स्रजोहस्ते धृतवत्य आसन्निति सत्यपि भेदकान्तराभावे माला एव भेदं बोधयितुमलमभवन्निति । पौराङ्गनानां सौन्दर्यातिशयो व्यङ्ग्यः ॥ १०८ ॥

इन दोनों–(पाञ्चाल सैन्य–कौरव सैन्य) सैन्योंमें वर्त्तमान महारथियोंको देखनेके लिये आकाशमें आयी हुई देवबालाओं तथा प्रासाद शिखरोंपर आई हुई पुर ललनाओंमें भेद इतना ही रहा कि देवबालाओंके हाथोंमें वरणमालाएँ थीं और पुरललनाओंके हाथोंमें नहीं थीं । (देवललनायें युद्धमें मृत वीरोंके वरणार्थ माला लिये हुई थीं) ॥ १०८ ॥

आसीदतामाशु धनुर्धराणामासीदताम्यत्करकौशलानाम् ।
क्षणं मिथो बाणगणोपरोधाद्व्रणं न कस्यापि रणं नवं यत् ॥ १०९ ॥

आसीदतामिति । आशु त्वरया आसीदताम् अन्योन्यसमीपमागच्छताम् अताम्यत् करकौशलानाम् अत्रुटितहस्तलाघवानाम् (धनुर्ग्रहणशरसन्धानादिषु अविच्छिन्नयत्नकरजुषाम्) धनुर्धराणाम् मिथः परस्परम् बाणगणोपरोधात् शर निकरवारणात् (ईतोः) कस्यापि धनुर्धरस्य व्रणं क्षतं नाभूत् , यत् यस्मात् रणं युद्धं नवम् नूतनम् , अथ च वकार शून्यम् , व्रणशब्दे वकारच्युतौ रणशब्दः फलति, तदेवात्र चमत्कारकतया निबद्धम् । परस्परं सम्मिलितानां शरसन्धानादि व्यापृतकराणामपि तेषां धनुर्धराणां परस्परशरोपरोधव्याहतत्वेन क्षतस्यावसरो नूतने तत्र रणे नायासीदिति भावः ॥ १०९ ॥

वे धनुर्धर एक दूसरेके समीप पहुँचकर अपने हाथका कौशल शरसन्धान आदिमें दिखलाने लगे, परन्तु वे एक दूसरे के बाणोंको इस खूबीसे रोक रहे थे कि किसीको व्रण घाव नहीं लगा, वह युद्ध नया जो था ॥ १०९ ॥

द्विरदं द्विरदस्तुरगं तुरगो रथिकं रथिकः पदगं पदगः ।
इतरेतरमेत्य रणं विदधे दिवि नारदविस्मयनाकतरुम् ॥ ११० ॥

द्विरदमिति । द्विरदः हस्त्यारूढोयोद्धा द्विरदं स्वसमानं हस्त्यारूढं योद्धारम् , तुरगः अश्वारोही तुरगम् अश्वारोहिणम् , रथिकः रथी रथिकं रथस्थम् , पदगः पदातिः पदगम् पादचारिणम् , (इत्येवं प्रकारेण) इतरेतरम् अन्योन्यम् एत्य संयुज्य दिवि स्वर्गे नारदस्य यो विस्मयः आश्चर्यरसस्तस्य नाकतरुम् कल्पवृक्षम् (बह्वाश्चर्यप्रदमित्यर्थः) रणं युद्धं विदधे ॥ ११० ॥

---

१. 'बाणगणं निरुद्ध्य व्रणं विना तत्र रणं महीयः । २. 'रथिकं रथिको द्विरदं द्विरदस्तुरगं तुरगः' । ३. 'विदधौ' । इति पा० ।

हाथी पर बैठा हुआ हाथी वालेसे, घुड़सवार घुड़सवारसे, रथस्थ रथीसे एवं पैदल सेना पैदल सेनासे परस्पर भिड़कर स्वर्गस्थ नारदको आश्चर्यचकित कर देनेवाला युद्ध करने लगे। (नारदको आश्चर्य देनेमें कल्पवृक्ष अति आश्चर्यप्रदाता, जैसे कल्पवृक्ष खूब देता है, उसी तरह खूब आश्चर्य देनेवाला युद्ध होने लगा) ॥ ११० ॥

रजोन्धकारेषु दृशोऽन्धयत्सु करैः करान्कौतुकसूत्रचिह्नान् ।
परामृशन्तो युधि पाण्डुपुत्राः परस्परं पर्यहरन्प्रहारान् ॥ १११ ॥

रजोऽन्धकारेष्विति । रजसा सेनोद्धृतधूलिभरेण जनितेषु अन्धकारेषु तमस्सु दृशः नेत्राणि अन्धयत्सु सत्सु कौतुकसूत्रचिह्नान् प्रतिसरयुक्तान् करान् हस्तान् करैः परामृशन्तः स्पृशन्तः पाण्डुपुत्राः युधिष्ठिराद्याः परस्परम् अन्योन्यम् प्रहारान् आघातान् पर्यहरन् अवारयन् । अयमर्थः—सेनाभिरुद्ध तेन रजसाऽन्धकारे दृग्भिरन्योन्यमीक्षितुमशक्ताः पाण्डवाः परस्परं प्रहारोमाकारीति प्राक् कौतुकसूत्रयुतान् करान् परामृश्य सद्योजातविवाहतया कौतुकसूत्रयुक्तकरावयमेवेति प्रतीत्य च तादृशेतरकरानेव प्राहार्षुरिति ॥ १११ ॥

सेना द्वारा उद्धृत धूलिसे हुए अन्धकारमें आँखोंकी शक्तिके अकार्यक हो जानेपर पाण्डवोंने हाथद्वारा कंगनवाले हाथोंका स्पर्श करके परस्पर प्रहारको बचा लिया। पाण्डवोंने देखा कि कहीं ऐसा न हो कि हम एक दूसरे भाई पर ही प्रहार करने लग जांय, अतः उन्होंने एक तरकीव निकाली हाथसे हाथ छूकर देख लेते थे कि इसके हाथमें कंगन है कि नहीं ? कंगन रहने पर समझ जाते थे कि यह हमारे ही भाई हैं क्योंकि इनका अभी व्याह हुआ है, इस प्रकार वे अपने भाइयों पर प्रहार बचाते थे ॥ १११ ॥

सोमकेष्वपसर्पत्सु सूर्यसूनोः शितैः शरैः ।
कूजयामास कोदण्डं कुलिशायुधनन्दनः ॥ ११२ ॥

सोमकेष्विति । सूर्यसूनोः कर्णस्य शितैः तीक्ष्णैः शरैः बाणैः सोमकेषु पाञ्चालेषु अपसर्पत्सु पलायमानेषु सत्सु कुलिशं वज्रमायुधं प्रहरणं यस्यासौ कुलिशायुध इन्द्रस्तस्य नन्दनः पुत्रः अर्जुनः कोदण्डं स्वशरासनं कूजयामास गुणाकर्षणेन ध्वनयतिस्म । कर्णप्रेरितबाणैर्भिन्नधैर्येषु पाञ्चलेषु पलायमानेष्वर्जुनः कर्णेन सह प्रतियोद्धुं स्वं धनुष्टङ्कृतवानित्यर्थः ॥ ११२ ॥

सूर्य पुत्र कर्ण द्वारा चलाये गये तीक्ष्ण बाणोंके आघातसे जब पाञ्चाल–सैनिक भाग खड़े होने लगे तब वज्रायुध–इन्द्रके तनय अर्जुनने अपने धनुपका टङ्कार किया ॥ ११२ ॥

तेन जनन इव प्रधनेऽपि वृकोदरद्वितीयेन करोदरपरिकर्मीकृतस्य कार्मुकस्य धर्मनिर्माथिभिः शरोर्मिभिर्निकृत्तमर्मणो भयविसारिभिः स्वेद-

---

१. 'कुकुशायुध' । २. 'कृत' । ३. 'निर्मितेर्मर्मणो भयप्रसारिभिः' । इति पा० ।

वारिभिः स्वपदान्येव[1] यानपदेऽभिषिञ्चन्तः समराजिरकन्दलितपार्थयशश्च-तुर्थीचन्द्रकलावलोकनं[2] परिहर्तुमिव मुखं निवर्त्य सौबलेयाः केवलैरेव बाहुभिः कुरुपुट[3]भेदनं प्रति पलायांबभूवुः ।

तेन जनन इवेति । जनने जन्मनि इव प्रधने युद्धे अपि वृकोदरद्वितीयेन (जन्मनि वृकोदरपश्चाज्जाततया पार्थस्य वृकोदर द्वितीयत्वं प्रधने तु वृकोदरो द्वितीयोऽनुगन्तासहायो यस्य तत्त्वेन) तेन पार्थेन करोदरे बाहुमध्ये परिकर्मीकृतस्यालङ्कारभावं प्रापितस्य (हस्त धृतस्य) कार्मुकस्य धनुष वर्मनिर्माथिभिः कवचभेदिभिः शरोर्मिभिः बाणगणैः निकृत्तमर्माणः भिन्नान्तराः सौबलेयाः दुर्योधनादयः भयविसारिभिः भयेन समुत्पादितैः स्वेदवारिभिः घर्मतोयैः स्वपदानि निजपादान् एव यानपदे वाहनस्थानेऽभिषिञ्चन्तः समारोपयन्तः (भयेन हेतुना जनितैः स्वेदवारिभिः स्वीयपादानेव यानपदं लम्भयन्तः, पादचारिणः) समराजिरे रणाङ्गणे कन्दलितस्य प्ररोहतः पार्थयशश्चतुर्थीचन्द्रस्य अर्जुनकीर्त्तिरूपचतुर्थचन्द्रमसः कलायाः अवलोकनम् दर्शनम् परिहर्त्तुम् वर्जयितुमिव (यथा चतुर्थीचन्द्रदर्शनं लोकाः कलङ्कभीत्यावर्जयितुं मुखं परावर्त्तयन्ति तथैव दुर्योधनादयोऽपि पार्थस्य यशसो दर्शनं वारयितुम् इव) मुखं निवर्त्य परावर्त्य केवलैः निरायुधैरेव बाहुभिः कुरुपुटभेदनम् कुरुराजधानीं हस्तिनापुरीं प्रति पलायां बभूवुः पलायन्त ।

जन्मना वृकोदर द्वितीय तथा युद्धमें भी वृकोदरसे सहकृत पार्थने हाथमें धनुषको अलङ्कार की तरह धारण करके शत्रुओंके कवचोंको फाड़ देनेवाले बाणोंसे दुर्योधनादिके शरीरोंको क्षत विक्षत कर दिया तब भयसे बहते हुए पसीनेसे अपने चरणोंको ही सवारीके आसनपर प्रतिष्ठित करके वे दुर्योधनादि खाली हाथ युद्ध भूमिसे हस्तिनापुर भाग चले, उनका भागना ऐसा लगा मानो वे रणाङ्गणमें फैलते हुए अर्जुनके यशरूप चतुर्थी चन्द्रके अवलोकनको बचानेके लिये मुँह घुमा रहे हो ॥

बीभत्सुचापविवृतेषु महत्सु कर्मस्वेकं दृढं जगृहिरे युधि धार्तराष्ट्राः ।
वीक्ष्य स्थितेषु विमतेषु विलोलजीवं पृष्ठं प्रकाश्य गमनं पृथुना जवेन ॥११३॥

बीभत्सुचापेति । युधि धार्त्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः बीभत्सोरर्जुनस्य चापेन धनुषा विवृतेषु प्रकटीकृतेषु महत्सु श्लाघ्येषु कर्मसु व्यापारेषु एकम् कर्म दृढं जगृहिरे शिक्षितवन्तः, यद्यपि युद्धेऽर्जुनचापेन तानि तानि बहूनिकर्माणि प्रकटीकृतानि परन्तेषु मध्ये दुर्योधनादयः केवलमेकं कर्मैव शिक्षितुमशक्नुवन्, यथा गुरुणा बहुषुविषयेषु पाठितेषु मन्दश्छात्रः कमप्येकं ज्ञातुं प्रभुर्भवति तद्वदित्यर्थः । दुर्योधनादिभिः किङ्कर्मगृहीतमित्याह—वीक्ष्येति । विमतेषु शत्रुषु स्थितेषु विलोलजीवं

---

१. 'पदान्येव' । २. 'चन्द्रावलोकनं' । ३. 'पट' । इति पा० ।

चलं जीवनं वीक्ष्य मरगमुत्प्रेक्ष्य पृष्ठं प्रकाश्य दर्शयित्वा पृथुनाजवेन महतावेगेन गमनं पलायनम् । धनुरपि शत्रुषु स्थितेषु वीक्ष्य मान् विलोलजीवं चलत्प्रत्यञ्चं पृष्ठं स्वपश्चाद् भागं प्रकाश्य महतावेगेन गमनं चलनं करोति, ततोगृहीत शिक्षा इवामी गमनं चक्रुरिति भावः । गम्योत्प्रेक्षा । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ११३ ॥

युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके चापने बहुतसे कार्य दिखलाये परन्तु दुर्योधनादिने उनमेंसे केवल एक ही कार्य सीखा कि शत्रु सामने खड़े हों, उन्हें देखकर जीवनकी चलायमानता सोचकर पीठ दिखाकर बड़ी तेजीसे चल दिये, धनुष भी शत्रुओंको देखकर अपनी प्रत्यञ्चा (जीवा) को चलायमान करके और पीठ सामने करके बड़ी तेजीसे चलना प्रारम्भ कर दिया, उसीकी शिक्षासे दुर्योधनादि भी चल पड़े यह उत्प्रेक्षा की गई है ॥ ११३ ॥

विजयात्परमेतेषामृजवोऽप्यतिभीषणाः[1] ।
सद्यो गुणाः समुन्नेमुरवनेमुस्तु[2] धन्विनाम्[3] ॥ ११४ ॥

विजयादिति । एतेषां पाण्डवानां गुणाः शौर्यधैर्यादयः विजयात् परम्–तत्रत्य विजयात्परतः ऋजवः विनयान्विततया मृदवः सन्तोऽपि अतिभीषणाः शत्रुभयदाः सद्यः तत्कालएव समुन्नेमुः परमप्रकर्षमभजन् , धन्विनां परेषां धनुर्धराणाम् दुर्योधनादीनाम् गुणाः चापगताः प्रत्यञ्चाः शौर्यादयो वा अवनेमुः अनमन् , पराभवकृतां ग्लानिं नामावनतिमवापा इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

इन पाण्डवोंके शौर्य आदि गुण विनयान्वित होनेके कारण ऋजु होकर भी उस विजयके बाद परम प्रकर्षको प्राप्त हुए, और दूसरे धनुर्धरोंके गुण (प्रत्यञ्चा या शौर्यादि) अवनति–पराजय कृत ग्लानिको प्राप्त हुए ॥ ११४ ॥

ते निवृत्य नगरं समावसंस्तोषिता[4] द्रुपदराजपूजया ।
अप्यशेषजनकेन[5] शौरिणा जन्यभावमुपजग्मुषा समम् ॥ ११५ ॥

ते निवृत्येति । ते पाण्डवाः नगरं नृपतेर्द्रुपदस्य राजधानीं निवृत्य युद्धस्थलात् पुनरागत्य अशेषजनकेन सकलसृष्टिकर्त्रा अपि जन्यभावम् वराणां सख्यम् उपजग्मुषा प्राप्तेन शौरिणा कृष्णेन समं द्रुपदराजपूजया द्रुपदकृतसत्कारविशेषेण तोषिताः प्रसन्नाः समावसन् अधिश्रिताः । युद्धात्परावृत्तास्ते द्रुपदपुरे कृष्णेन सह द्रुपदकृतां सपर्यामुपभुञ्जानाः सुखमासामासुरिति भावः । जनकस्य जन्यत्वं विरोधं प्रतिभासयति, जन्यशब्दस्य वरसहचरत्वरूपार्थत्वेन तत्परिहारश्च । 'जन्याः स्निग्धावरस्य ये' इत्यमरः ॥ ११५ ॥

:वे पाण्डव युद्धस्थलसे लौटनेपर द्रुपदराज द्वारा किये गये सत्कारका सकल लोकका

---

१. 'अरिभीषणाः' । २. 'च' । ३. 'धन्वनाम्' । ४. 'समाविशन्भूषिता' ।
५. 'वन्यशेष' । इति पा० ।

जनक होकर भी (जन्यभाव–उत्पद्यमानता, एवं वरोंका सहचरत्व) जन्यभावको प्राप्त करनेवाले कृष्णके साथ भोग करते हुए द्रुपदपुरीमें आनन्दसे रहे ॥ ११५ ॥

पार्थ एव सहजेष्वखिलेपु प्रायशो युधि बलं श्रुतवत्याः ।
अन्वभूदधिकमीक्षणवृष्टीरर्जकांशमिव राजसुतायाः ॥ ११६ ॥

पार्थएवेति । अखिलेपु सहजेपु भ्रातॄणां मध्ये पार्थ एव अर्जुन एव युद्धे समरे बलम् अर्जुनस्य पराक्रमप्रकर्षं श्रुतवत्याः आकर्णितवत्याः राजसुतायाः द्रौपद्याः अर्जकः अर्जनकर्त्ता अधिकं स्वेतरभ्रातृप्राप्यभागादधिकम् अंशम् भागम् इव अधिकं भूयसा ईक्षणवृष्टीः अपाङ्ग वीक्षितानि अन्वभूत्, यथा सम्पत्तेरर्जकोऽधिकं भागमाप्नोति, तथैव पराक्रमाकृष्टा द्रौपद्यर्जुनायाधिकं स्निह्यन्ती तत्प्रीतयोऽधिकं तमैक्षतेत्यर्थः ॥ ११६ ॥

द्रौपदीने पार्थका पराक्रम सुना, उसके हृदयमें पार्थके लिये अधिक स्नेह जगा, उसने पाण्डवोंके बीचमें अर्जुनकी ओर अधिक दृष्टि वर्षा की, सस्पृह नयनोंसे उनकी ओर ज्यादे देखा, यह ऐसा प्रतीत हुआ मानों उपार्जन करनेवालेको कुछ ज्यादा भाग मिल रहा हो ॥ ११६ ॥

वृत्तान्तमेवमवकर्ण्य स राजवृद्धः क्षत्त्रा सकाशमुपनाय्य[2] सहानुजातैः ।
धर्मात्मजाय धुरि कंसभिदोऽर्धभावादन्वर्थतामथ[3] विभज्य ददौ स्वनाम्नः ॥

वृत्तान्तमिति । अथ स राजवृद्धो धृतराष्ट्रः एवम् उपरिवर्णितप्रकारम् लाक्षागृहान्निर्गमादारभ्य द्रुपदपुरे दुर्योधनादि पराजयान्तं वृत्तान्तम् समाचारम् अवकर्ण्य श्रुत्वा क्षत्त्रा विदुरेण (द्वारा) अनुजातैः अनुजैर्भीमादिभिः सह (धर्मराजं) सकाशम् स्वसमीपम् उपनाय्य आकार्य कंसभिदः कृष्णस्य धुरि अग्रे (तं साक्षिणं कृत्वा) धर्मात्मजाय युधिष्ठिराय स्वस्य नाम्नो 'धृतराष्ट्र' इति संज्ञायाः अन्वर्थताम् राज्यधारणम् समांशेन विभज्य द्विधा विधाय इव ददौ । पाण्डवानामीदृशं पराक्रमं श्रुत्वा विदुरद्वारा तानाहूय च कृष्णस्याग्रे धृतराष्ट्रो युधिष्ठिराय स्वराज्यस्यार्धं भागं दत्तवान् मन्ये स स्वांसंज्ञामेवान्वर्थां राज्यधारित्वार्थिकां तस्मै विभज्यददावित्यर्थः ॥ ११७ ॥

बूढ़े राजा धृतराष्ट्रने जब पाण्डवोंका लाक्षागृहसे निकल भागना, स्वयंवरोत्तर युद्ध विजय आदि वार्त्ता सुनी तब विदुरके द्वारा भाइयों सहित धर्मराजको बुलाया और भगवान् कंसहन्ता श्रीकृष्णके आगेमें अपना आधा राज्य धर्मराजको दे दिया, मानो उसने अपनी अन्वर्था–राष्ट्रधारण कर्त्तृत्वरूप अर्थयुक्त धृतराष्ट्र इस संज्ञाका ही आधा विभाग करके दे दिया हो ॥ ११७ ॥

---

१. 'वृष्टेरार्जकोंऽशम्' । २. 'उपनीय' । ३. 'भागात्' । इति पा० ।

तस्मिन्नाहितलक्षणे नृपसुते राज्याभिषिक्ते सति
स्वान्यक्षीणि दधुर्यदम्बु शिशिरं लिप्ताङ्गके कुङ्कुमैः ।
रागं यद्विभरांबभूवुरवहन्यद्वर्णिते वन्दिभि-
र्निष्पन्दत्वमतः स्वदृष्टिरिति तं पौरा विवव्रुः स्फुटम् ॥११८॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते द्वितीयः स्तवकः ।

तस्मिन्निति । आहितानि स्थितानि लक्षणानि राजत्व प्रापक विशालबाहुत्व-करकमलोपलक्ष्यमाणशङ्खचक्रचिह्नत्वादीनि यस्मिंस्तस्मिन् नृपसुते पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे राज्याभिषिक्ते कृतराज्याभिषेके सति—यत् यतः स्वानि लोकानाम् संबन्धीनि अक्षीणि नेत्राणि शिशिरम् आनन्दजन्यं शीतलम् अम्बु हर्षाश्रु दधुः धारितवन्ति, (नृपसुते च) कुङ्कुमैः काश्मीरजैः लिप्ताङ्गके चर्चितवपुषि सति रागं प्रेमरक्तत्वं च यत् विभरां बभूवुः, वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः वर्णिते स्तुते सति निःस्पन्दत्वम् स्तब्धत्वम् अवहन् प्रापुः, अतः पौराः पुरवासिनः तं नृपसुतं स्वदृष्टिः निजं नयनमिति विवव्रुः प्रकाशयामासुः । युधिष्ठिरं पौराः स्वनेत्रं मन्यन्तेस्म, यतस्तस्मिन्नभिषिच्यमाने तद्वदेव पौराणां नेत्राण्यपि हर्षाश्रुशीतलमधारयन्, तस्मिंश्च कुङ्कुमलिप्त शिरसि यथा स रक्ताङ्गः समजनि तथैव पौरनेत्राण्यपि सरागाणि प्रेमपूर्णान्यजायन्त, वन्दिभिः स्तुते च तस्मिन् यथा राजा स्तब्धः समजायत तथा तेषां नयनान्यपि स्तब्धान्यभूवन्नतः सर्वगुणसाम्याद्राजानमपि तेस्वनेत्रमिति प्रकारेण प्रकाशयामासुः । अति लोकानुरञ्जकोऽभूद्युधिष्ठिर इति भावः । उत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ११८ ॥

सभी सुलक्षणोंसे युक्त पाण्डुपुत्रके अभिषिक्त होनेपर पुरजनोंकी आँखें भी शीतल आनन्द वारिसे भींग गईं, फिर उनके सिरपर जब कुङ्कुम लेप किया गया तब जिस प्रकार युधिष्ठिर रक्त हुए उसी तरह पुरजनोंकी आँखें भी अनुरक्तरागपूर्ण हुईं, एवं जैसे वन्दियों द्वारा उनकी स्तुतिकी जानेपर वह स्तब्ध बैठे रहे उसी तरह पुरजन नयन भी स्तब्ध बैठे रहे, इन समताओंके कारण पुरजनोंने युधिष्ठिरको भी अपना नेत्र ही प्रकाशित किया, उनके आचरणमें युधिष्ठिर उनकी पुतलीसे बन गये ॥ ११८ ॥

इति मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्र मिश्र प्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे'
द्वितीयस्तवक 'प्रकाशः' ॥



---

१. 'नरपतौ' । इति पा० ।

तृतीयः स्तबकः

पितृव्यवाचाथ पृथातनूजो हरिं पुरोधाय समं बलौघैः।
परस्परस्नेहमिवैष मातुं प्रस्थं ययौ खाण्डवशब्दपूर्वम् ॥ १ ॥

पितृव्येति। अथ राज्याभिषेकात्परतः एषः पृथातनूजः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः पितृव्यस्य स्वपितृभ्रातुर्धृतराष्ट्रस्य वाचा वचनेनाज्ञया परस्परस्य अन्योन्यस्य (स्वपक्षस्य-दुर्योधनादेश्च) स्नेहं सौहार्दं मातुं प्रमापयितुम् इव खाण्डवशब्दपूर्वम् इन्द्रशब्दोपपदम् प्रस्थं तन्नामकमिन्द्रप्रस्थं हरिं श्रीकृष्णं पुरोधाय अग्रे कृत्वा बलौघैः सह ययौ। यथा कोऽपि किमपि मातुमिच्छुः सन् प्रस्थं नाम मानसाधनं समासादयति तथैवायमपि धर्मराजो धृतराष्ट्रस्याज्ञामुररीकृत्य दुर्योधनादिभिः सह स्वपक्षस्य सौहार्दं मातुमिवेन्द्रप्रस्थाभिधे नगरे भगवता सह गतवानित्यर्थः। अत्र प्रस्थ शब्दशक्तिमूलको वस्तु ध्वनिः। 'खाण्डवो बलसूदनः' 'कुडवः प्रस्थ इत्याद्याः परिमाणार्थकाः पृथक्' इत्युभयत्रामरः। उपजातिर्वृत्तम्, तल्लक्षणमुक्तमन्यत्रेति ॥१॥

इसके बाद अपने चाचा धृतराष्ट्रकी बात मानकर धर्मराज अपनी सेनाके साथ भगवान्को आगे लेकर इन्द्र प्रस्थ नामक नगरमें आ गये, मानों वह दुर्योधनादिके अपने पक्षके स्नेहका परिमाण करना चाहते हों। 'प्रस्थ' एक प्रकारका 'बटखरा' होता है, जिससे किसी वस्तुको तौला जाता है, धर्मराजने इन्द्रप्रस्थका आश्रय लिया, इस वाक्यमें प्रस्थ शब्द शक्त्या मान करना अभिव्यक्त होता है ॥ १ ॥

तत्र वनीभवति[1] वनीपकजनमनीषितपूरकपुरुकुलावनीपसुरसुरभिगोष्ठीगौष्ठीने देशे[2] स्मरणमात्रकृतसंनिधानेन[3] सकलशिल्पपारदृश्वना[4] विश्वकर्मणा स्वकर्मणा निर्मापितं[5] रामणीयकावलोकनसुलभविस्मयभारगुरुतरानमरान्वोढुमक्षमतया[6] क्ष्मातलमवलम्बमानैर्विमानैरिवाभ्रंलिहं[7] कुरुविन्दमणिमन्दिरैर्जम्भरिपुनिदेशेन[8] लम्भिततन्नामोपपदमिन्द्रप्रस्थमधिष्ठिताय[9][10][11] युधिष्ठिराय निवेद्य[12] स्वपुरेऽपि सुषमामीदृशीं परीक्षितुमिव स्यन्दनेन यदुनन्दनेन प्रयये।

तत्र वनीभवतीति। वनीयकजनानां याचकानां मनीषितानि अभीष्टानि तेषां पूरकाः सामग्र्येण दातारः ये पुरुकुलावनीपाः पुरुवंश्याः पृथ्वीभुजः ते एव सुरसुरभयः कामधेनवः तासां गोष्ठ्याः समूहस्य गौष्ठीने प्राक्तने स्थाने (यत्र याचका-

---

१. 'वनीभवती'। २. 'देशे प्रविश्य'। ३. 'नयनपात्रेण'। ४. 'पारदृश्वकर्मणा'। ५. 'विश्वकर्मणा निर्मापितं'। ६. 'कामनीयकविलोकन'। ७. 'क्ष्मातलम्'। ८. 'कुरुविन्दमणिमन्दिरैरभ्रंलिहम्'। ९. 'तन्नमो'। १०. 'पदं हरिप्रस्थम्'। ११. 'अधिष्ठाय'। १२. 'विनिवेद्य'। इति पा०।

भिलाषपूरकाः पौरवा राजानः पूर्वं न्यवसन् तत्रेत्यर्थः) तत्र देशे इन्द्रप्रस्थतया पश्चात्ख्यातिंगते तस्मिन् स्थाने वनी भवति लोकानध्युषिततयाऽसंस्कारवशात् काननभावं प्राप्ते स्मरणमात्रकृतसन्निधानेन स्मरणमात्रोपस्थितेन सकलशिल्प पारदृश्वना समस्तगृहनिर्माणादिकलानिपुणेन विश्वकर्मणा देवशिल्पिना स्वकर्मणा स्वीयेन यत्नेन निर्मापितं विरचितं, रामणीयकस्य सौन्दर्यस्य अवलोकनेन वीक्षणेन सुलभः यः विस्मयभारः आश्चर्यगौरवम् (तत्पुरवीक्षणजनितं देवानां हृदये जायमानं यदाश्चर्यं तेन तेषां गुरूभूतत्वमत्रोत्प्रेक्षितं बोध्यम्) तेन गुरुतरान् वृद्धभारान् अमरान् देवान् वोढुम् अक्षमतया अशक्ततया क्ष्मातलम् भूतलम् अवलम्बमानैः आश्रयद्भिः विमानैः सुरयानैरिव कुरुविन्दमणि मन्दिरैः पद्मरागमणिनिर्मितैः गृहैः अभ्रंलिहम् आकाशचुम्बि, (तत्रपुरे पद्मरागमणिनिर्मितानि गृहाणि विमानानीव प्रतीयन्ते, तानि विमानानि देवान् वोढुमशक्तानि सन्ति भूमिमाश्रितानीति क्रियोत्प्रेक्ष्यते) जम्भरिपुनिदेशेन इन्द्रस्याज्ञया लम्भिततन्नामोपपदम् इन्द्रशब्देन चिह्नितपूर्वभागं संज्ञायामिन्द्रशब्दसङ्घटितम् इत्यर्थः। इन्द्रप्रस्थम् नाम नगरम् अधिष्ठिताय आश्रितवते युधिष्ठिराय निवेद्य स्वपुरं गन्तुमिच्छामीति निवेद्य स्वपुरे द्वारकायाम् अपि ईदृशीम् इन्द्रप्रस्थवर्त्तिसुषमासा दृशीम् सुषमां परां शोभां परीक्षितुं ज्ञातुम् इव यदुनन्दनेन श्रीकृष्णेन स्यन्दनेन रथेन प्रययेप्रतस्थे चलितम्। श्रीकृष्णो मम पुरे शोभैतादृशी विद्यते न वेति ज्ञातुमिवेन्द्रप्रस्थात् द्वारकां गत इत्यर्थः। 'वनीयको याचनकः' 'गोष्ठं गोस्थानकं तत्तु गौष्ठीनं भूतपूर्वकम्' 'कुरुविन्दः पद्मरागः' इति सर्वत्रामरः॥

इन्द्रप्रस्थ नामक स्थान पुराने समयमें याचकोंकी कामना पूर्ण करनेमें कामधेनुभूत पुरुवंशी राजाओंका पूर्वतन स्थान था, फिर भी समयक्रमसे वह वन हो गया था, वहाँ स्मरणमात्र करनेसे विश्वकर्मा आकर उपस्थित हुए, वे सभी प्रकारके शिल्पोंके ज्ञाता थे ही, उन्होंने फिरसे अपने प्रयाससे वहाँ नगर निर्माण किया, उस नगरमें निर्मित नगर ऐसे लगते थे मानों उस नगरको देखनेसे देवोंको बड़ा अचम्भा हुआ, उस आश्चर्यभारसे वे भारी हो गये, अतः उन्हें नहीं वहन कर सकनेके कारण यह विमान पृथ्वीपर आ गये हैं, ऐसे वहाँके पद्मराग मणिके बने मकान थे जो आकाशको छू रहे थे, इन्द्रकी आज्ञासे उस नगरके नामके पूर्वमें इन्द्रशब्द लगा दिया गया, इस तरह वह इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया गया, वहाँ जब युधिष्ठिर प्रतिष्ठित हो गये तब भगवान् कृष्ण रथ पर आरूढ़ अपने नगर द्वारकाको चले गये, जानेके समय उन्होंने युधिष्ठिरसे अनुमति ले ली, वे इसलिये द्वारका गये कि देखें—इन्द्रप्रस्थकी सी शोभा द्वारकामें है या नहीं ?॥

प्राणायमानमहिलानथ पाण्डुपुत्रान्क्षोणाविमानतुजिघृक्षुरुदारभूमा[1]।

---

१. 'अपारभूमा'। इति पा०।

एणाजिनेन घटितोद्गमनीयकृत्यो वीणाविनोदरसिको मुनिराविरासीत् ॥२॥

प्राणायमानेति । अथ कृष्णे द्वारकां प्रयाते सति उदारभूमा महाप्रभावोपपन्नः एणाजिनेन मृगचर्मणा घटितम् सम्पादितम् उद्गमनीयकृत्यम् उत्तरीयान्तरीय-रूपवस्त्रद्वयकार्यं येन तथोक्तः वीणाविनोदरसिकः वीणावादनव्यसनी मुनिः नारदः प्राणायमाना अतिप्रियतया प्राणवदाचरन्ती महिला भार्या द्रौपदी येषां तान् प्राणायमानमहिलान् इमान् युधिष्ठिरादीन् पाण्डुपुत्रान् अनुजिघृक्षुः दर्शनदाने-नानुकम्पयितुकामः क्षोणौ भुवि आविरासीत् प्रकटीबभूव । इमान् पाण्डुपुत्रा-न्दर्शनप्रदानेनानुग्रहीतुकामो नारदो मृगचर्मणी वसानः पृथ्व्यामायात इत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

कृष्णके चले जानेके बाद उदार प्रभाववाले मृगचर्मको पहने हुए एवं वीणा बजाने वाले महर्षि नारद प्राणकी तरह अपनी स्त्री द्रौपदीसे प्रेम रखनेवाले पाण्डुपुत्रोंको दर्शन प्रदान करके अनुकम्पित करनेके लिये पृथ्वी पर उतरे ॥ २ ॥

तपोनिधेरागमनेन सद्यः सभा विभोः स्तब्धजनारवापि ।
वीणारवानुद्रुतभृङ्गमालाकोलाहलैर्घोषितदिङ्मुखाभूत् ॥ ३ ॥

तपोनिधेरिति । विभोः प्रभोर्धर्मराजस्य सभा तपोनिधेः तपस्विनो नारदस्य आगमनेन उपस्थित्या सद्यः तत्कालम् स्तब्धजनारवा शान्तलोकसञ्चारभाषणादि-शब्दाऽपि वीणायाः नारदसम्बन्धिन्या महत्यानाम वीणायाः रवान् तन्त्रीनादान् अनुद्रुतायाः अनुगच्छन्त्याः भृङ्गमालायाः भ्रमरततेः कोलाहलैः झङ्कारैः घोषितानि मुखराणि दिङ्मुखानि दिगवकाशाः यस्यां तादृशी अभूत् । यद्यपि तपस्विनो नारदस्यागमनेन तत्रस्थाः लोकाः स्तब्धा मूकाश्चाजायन्त तथापि नारदकरस्थवीणा-नुयतभ्रमरझङ्कारैर्दिशो मुखरीबभूवुरित्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३ ॥

यद्यपि नारदके आनेसे धर्मराजकी सभा स्तब्ध होकर निःशब्द हो गई, फिर भी नारदकी वीणाके शब्दका अनुगमन करनेवाले भ्रमरोंके झंकार-कोलाहलसे दिशायें मुखरित हो उठीं ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा नृपो देवमुनिं विनीतो मौलिस्रजां धूलिमधूलिवृन्दैः ।
सपङ्कमाधाय तदङ्घ्रियुग्मं विपङ्कमात्मानमयं व्यतानीत् ॥ ४ ॥

दृष्ट्वेति । अयं नृपो युधिष्ठिरः देवमुनिं नारदं दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य विनीतो नम्रः सन् मौलौ स्वशिरसि (स्थितानां) स्रजां पुष्पमालानां धूलयः परागाः मधूलयः मकरन्दाश्च तेषां वृन्दैः समुदयैः तस्य देवमुनेर्नारदस्य अङ्घ्रियुग्मं पादयुगलं सपङ्कं कर्दमयुतम् आधाय कृत्वा आत्मानं स्वं विपङ्कं निष्पापम् व्यतानीत् कृतवान् ।

१. 'निनाद' । २. 'तमङ्घ्रियुग्मे' । इति पा० ।

आगतस्य नारदस्य चरणौ नत्वा युधिष्ठिरः स्वं पापं प्राणुददित्यर्थः । अत्र नारदचरणयोस्सपङ्कत्वसम्पादनमुद्रया स्वीयपङ्कापनोदनं चमत्कारप्रदं वर्णितम् । उपजातिरेव वृत्तम् ॥ ४ ॥

धर्मराजने नारदको देखकर अपने शिरकी मालाके पराग तथा मकरन्दसे उनके चरणोंको पङ्कयुक्त बनाकर अपने सारे पाप पङ्क धो दिये । नारदके चरणोंमें धर्मराजने झुककर प्रणाम किया, उनके शिरपर वर्त्तमान पुष्पमालाकी धूलि तथा मकरन्दसे नारदका चरण मलिन हो गया, और नारदको प्रणाम करनेके कारण धर्मराजके सभी पाप धुल गये ॥ ४ ॥

मेध्यां बृसीमधिगतस्य [1]विरिञ्चिसूनोरास्थाय संविधिमुदारमुदां कुरूणाम् ।
तस्याद्भुतागमनहेतुपरिच्छिदायां चित्तानि दूरपथवर्तनतामवापुः ॥ ५ ॥

मेध्यामिति । मेध्याम् पवित्राम् बृसीम् व्रतिजनोचितमासनम् अधिगतस्य प्राप्तवतः तत्रोपविष्टस्येत्यर्थः, विरञ्चिसूनोः ब्रह्मात्मजस्य नारदस्य सन्निधिं सामीप्यावस्थानं प्राप्य लब्ध्वा उदारमुदाम् प्रवृद्धहर्षाणां कुरूणाम् युधिष्ठिरादीनां चित्तानि हृदयानि तस्य नारदस्य अद्भुतम् आश्चर्यकरं यदागमनम् अकस्मादुपस्थानं तस्य हेतोः कारणस्य परिच्छिदायां विभावने किमर्थमयमायात इति विचारे दूरपथवर्त्तनताम् सुदीर्घाध्वस्थितिम् दीर्घालोचनपरायणत्वम् अवापुः प्राप्तानि, नारदस्य समीपे स्थित्वा तत्सङ्गसुखमनुभवन्तो युधिष्ठिरादयः किमर्थमयमायात इति विषये दूरविभावनासक्तचित्ता अभूवन्नित्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५ ॥

ब्रह्माके पुत्र नारदजी पवित्र व्रतिजनोचित आसनपर बैठ गये, उनके समीपमें आकर बैठे हुए कुरु-युधिष्ठिरादिको अपार आनन्द हुआ, उनके चित्त दीर्घ भावनामें पड़ गये कि ये नारदजी अकस्मात् आये किस उद्देश्यसे हैं ? उन लोगोंने इस विषयमें बड़ी-बड़ी भावनायें करना प्रारम्भ कर दिया कि आखिर इनका यहाँ आना किस अभिप्रायसे हुआ है ? ॥ ५ ॥

निकुञ्चिते तेन धृता निजाङ्के विपञ्चिका मौनमवाप्य तस्थौ ।
पाञ्चालिकावन्दनवादशैलीमाधुर्यमाकर्ण्य विलज्जितेव ॥ ६ ॥

निकुञ्चित इति । निकुञ्चिते संकोचिते (अप्रसारिते) निजाङ्के स्वीये क्रोडे तेन नारदेन धृता विपञ्चिका वीणा पाञ्चालिकायाः द्रौपद्याः या वन्दनवादशैली प्रणामावेदनप्रकारस्तस्याः माधुर्यम् आकर्ण्य श्रुत्वा विलज्जिता ह्रीणा इव मौनमवाप्य मूकीभूय इव तस्थौ । अयमाशयः—उपविष्टो नारदो वीणां स्वाङ्के निधाय युधिष्ठिरादिभिः सह संलिलपिषया तद्वादनान्न्यवर्त्तत, तेन मूका वीणा द्रौपद्या नारदो-

---

१. 'विरञ्चि' । इति पा० ।

द्देश्यकप्रणामावेदने यत्स्वरमाधुर्यं तदाकर्णनेनैव मूकीभूय स्थितेत्युत्प्रेक्ष्यते । हेतूत्प्रेक्षास्फुटोऽलङ्कारः ॥ उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६ ॥

नारद पलथी मारकर बैठ गये, उनकी सिमटी हुई गोदमें वीणा मौन होकर पड़ी थी क्योंकि वे युधिष्ठिरादिके साथ बात करनेके अभिप्रायसे वीणा बजाना छोड़ चुके थे, उस समय वह वीणा ऐसी लगती थी मानो द्रौपदीने जो अपना प्रणाम नारदसे निवेदित किया उसमें उसका स्वरमाधुर्य सुनकर वह वीणा लज्जित हो गई हो ॥ ६ ॥

राज्ञामुना समुचितेषु सभाजनेषु पात्रैश्च पाणिविधृतैः प्रचलैश्च वेत्रैः ।
निर्वर्तितेषु रभसेन निवर्तितेषु स्मित्वा मिथो गिरमभाषत धातृसूनुः ॥७॥

राज्ञामुनेति । धातृसूनुः ब्रह्मणः पुत्रो नारदः अमुना राज्ञा युधिष्ठिरेण पाणिविधृतः परिजनकरगृहीतैः पात्रैः पूजोपकरणधारकस्थाल्यादिभिः सभाजनेषु सत्कारपूजनेषु निर्वर्त्तितेषु सत्सु प्रचलैः प्रसरद्भिः लोकान्निवारयितुं चलद्भिः वेत्रैः वेत्रदण्डैश्च सभाजनेषु सभास्थितलोकेषु रभसेन हठेन निवर्त्तितेषु दूरीकृतेषु सत्सु च मिथो रहसि एकान्ते स्मित्वा हासपूर्वकं गिरं वक्ष्यमाणलक्षणां वाचमभाषत, यदा युधिष्ठिरो भृत्यपात्रस्थितैः पात्रैर्नारदस्य पूजां समपादयद्यदा च वेत्रदण्डैस्ततः स्थानात् जनतां दूरीकृतवाँस्तदा एकान्ते जाते नारदः स्मयमानः सन् वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवानित्यर्थः ॥ ७ ॥

जब राजा युधिष्ठिरने परिजनहस्तस्थित पात्रोंसे नारदकी पूजा सम्पन्न कर दी, और कञ्चुकिहस्तावस्थित वेत्रदण्डों द्वारा सभामें वर्त्तमान जनसमुदायको वहाँसे हटा दिया, तब एकान्तमें नारदने मुस्कुराते हुए इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

लाक्षागृहाद्यदच्यावि साक्षादिव रतिः प्रिया ।
यद्व्यवाहि च युष्माभिस्तद्द्वयं हि सतां मुदे ॥ ८ ॥

लाक्षागृहादिति । (हे कुरवः, युष्माभिः) लाक्षागृहात् लाक्षागृहदाहजन्यसंभावितदाहात् यद् अच्यावि च्युतम् निस्सृतम् (आत्मानो गोपायिताः) यत् (च) साक्षात् रतिः रतितुल्या सुन्दरी प्रिया द्रौपदी व्यवाहि परिणयविधिना प्राप्ता तत् द्वयम् हि सताम् सज्जनानां मुदे हर्षाय जातमिति शेषः । परापन्निवृत्तेः परकीयशुभसम्पदश्च सज्जनानन्दहेतुतया भवत्सु लाक्षागृहसम्भाविताग्निदाहविपदो निवृत्तेषु सत्सु द्रौपदीस्वरूपस्त्रीरत्नलाभेन समृद्धवत्सु च सत्सु सतामानन्दः समधिकमपुष्यदित्यर्थः ॥ ८ ॥

आप लोग जो लाक्षागृहसे बच गये, और आपने जो साक्षात् रति सदृशी प्रिया द्रौपदी का पाणिग्रहण कर लिया इन दोनों बातोंसे सज्जनोंको आनन्द हुआ, फलतः हम भी आपके इन अभ्युदयोंसे प्रसन्न हैं ॥ ८ ॥

---

१. 'चपलैः' । इति पा० ।

स्वतोभातमतीनां वः कुतो वाऽन्यानुशासनम् ।
मौनं तु सुहृदाख्येये दूनं वक्तारमादिशेत्[1] ॥ ९ ॥

स्वतोभातेति। स्वतः आत्मना भाताः प्रकाशिताः मतयः कर्त्तव्याकर्त्तव्यबुद्धयो येषां तादृशानाम् भवतां पाण्डवानाम् अन्यानुशासनम् परकृतं हिताहितोपदेशनम् कुतः? नोपपद्यत इत्यर्थः। किन्तु सुहृदाख्येये मित्रवाच्ये विषये मौनम् मूकीभूयावस्थानम् वक्तारम् वचनसमर्थम् जनम् दूनम् सन्तप्तम् आदिशेत्, यदि वक्तुमीशः स्वतोभातमतीनामपि हिताहितं न ब्रूयात्तदासौ कदाचित्तापमनुभवेदिति बुद्ध्वा स्वतो विवेकिनोऽपि भवतः किञ्चिदुपदिशामीत्याशयः ॥ ९ ॥

यद्यपि आप स्वयं हिताहितज्ञानसम्पन्न हैं, आपको दूसरोंके उपदेशकी आवश्यकता नहीं हैं, परन्तु मित्रोंको जो बात कहनी चाहिये उस बात में चुप्पी लगा जाना कभी सन्तापप्रद हो जाया करता है, इसलिये आपसे कुछ कहना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

अष्टमी किल शिखा वधूरियं भाति याजमखवेदिबर्हिषः ।
यूयमभ्रसरिता वृतान्वयाः पावनः खलु भवत्समागमः ॥ १० ॥

अष्टमीति। इयम् प्रत्यक्षदृश्या वधूः द्रौपदी याजमखवेदिबर्हिषः याजनामकमुनेः मखे पुत्रेष्टियागे याः वेदयस्तासु स्थितस्य बर्हिषः अग्नेः अष्टमी सप्ताधिका शिखा ज्वाला (इव अतिप्रकृष्टप्रकाशा पूता च) अस्तीति शेषः; यूयम् पाण्डवाश्च अभ्रसरिता गङ्गया वृतः स्वपरिणेयत्वेन स्वीकृतोऽन्वयः वंशो येषां तादृशाः, भवतां द्रौपद्या युष्माकं च समागमः दाम्पत्यलक्षणः सम्बन्धः पावनः अतितरां पवित्रः, पुरा द्रुपदो याजं पुरोधसं कृत्वा पुत्रीयामिष्टिमकृतेति तत एव च द्रौपदी जातेति तस्यास्तन्मखवेदिवह्निशिखात्वमुक्तं तेन तस्याः कुलशुद्धिरभिधीयते, भवतां च वंशो गङ्गया वृतस्तद्युष्माकं समागमोऽतितरां पवित्र इत्यर्थः ॥ १० ॥

आपकी वहू द्रौपदी क्या है, याज नामक ऋषि द्वारा सम्पादित पुत्रीयेष्टि यागकी वेदीमे अवस्थित वह्निकी आठवीं शिखा है, और आपके वंशको स्वयं गङ्गाने (शान्तनुके साथ विवाह करके) वरण किया था, अतः आप लोगोंका यह विवाहसम्बन्ध अतीव पवित्र है ॥ १० ॥

जायया च पतिभिश्च कदाचिज्जायते स्म नहि दम्पतिशब्दः ।
अद्भुतस्य खलु तस्य जगत्यामर्थतामनुभवन्ति भवन्तः ॥ ११ ॥

जाययेति। जायया भार्यया (एकस्या भार्याया व्यञ्जनायैकवचनम्). पतिभिः स्वामिभिः बहुभिः (बहुवचनमत्रापि साभिप्रायम्) दम्पतिशब्दः कदाचिदपि नहि जायतेस्म भवतिस्म एका भार्या पतिश्चैक एतद्बोधयितुमेव दम्पतिशब्दः

[1] 'आवहेत्' । इति पा० ।

प्रयुज्यते, न तु बहवः पतयः पत्नी चैकेति बोधयितुम् । जाया च पतिश्चेति विग्रहे जायाशब्दस्य दम्भावो निपात्यते, तदा दम्पतिशब्दसिद्धिः स च दम्पतिशब्दः स्वभावतो जायामेकां तत्पतिञ्चैकमभिधत्ते, नत्वेकाधिकपतिसहचरितामेकां भार्यामाहेत्यर्थः । यूयम् पाण्डवाः द्रौपदी च अद्भुतस्य आश्चर्यकरस्य तस्य दम्पती शब्दस्य अर्थताम् वाच्यत्वम् अनुभवन्ति । एका द्रौपदी भार्या भवन्तश्च पञ्चपाण्डवाः पतयः इति न श्रुतं पूर्वमित्याश्चर्यं जनयति लोकानामित्याशयः । स्वागतावृत्तम् ॥ ११ ॥

जाया—स्त्री एक हो और पति बहुतसे हों, इस अर्थमें दम्पति शब्दका प्रयोग कभी भी नहीं हुआ था, यह आश्चर्यकी बात है कि आप पाण्डव तथा द्रौपदी उसी दम्पति शब्दसे कहे जाते हैं । अर्थात् आप पांचों पाण्डव द्रौपदीरूप एक पत्नीसे दम्पति कहे जाते हैं यह अद्भुत बात है ॥ ११ ॥

एकस्मै स्पृहयालूनामिष्टाय सुधियामपि ।
करस्थमेव ब्रुवते कलहं निधनावधिम् ॥ १२ ॥

एकस्मै इति । एकस्मै इष्टाय अभिलषितवस्तुने स्पृहयालूनाम् कामनाशालिनां सुधियां कर्त्तव्यज्ञानवताम् अपि निधनावधिम् मरणान्तम् कलहं विरोधम् करस्थम् हस्तगतम् अनायासलभ्यम् एव ब्रुवते वदन्ति नीतिविद इति शेषः । एकमेव वस्तु कामयमानाः सुधियोऽपि विरुध्य मरणान्तं तत्फलमाप्नुवन्तीति नीतिकुशला वदन्तीति भावः । तथोक्तं प्रसन्नराघवे—'एकामिषाभिलाषो हि मूलं वैरमहातरोः' इति ॥ १२ ॥

एक ही वस्तु की कामना करनेवाले सुधीजन भी मरणान्तिक परस्पर वैरको अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा नीतिज्ञोंका कथन है । यदि एक ही वस्तु की कामना दो व्यक्ति करने लगें तो वे कितने भी बुद्धिमान् क्यों न हों, उनमें मरणान्त विरोध अनायास उत्पन्न हो जाता है ॥ १२ ॥

सुन्दोपसुन्दौ सहजावभीकौ सुरेष्विव कापि सुराङ्गनायाम् ।
अन्योन्यमाहत्य पुरा यमस्य मनोभवेषोरिव लक्ष्यमास्ताम् ॥ १३ ॥

सुन्दोपसुन्दाविति । पुरा पूर्वसमये सुन्दोपसुन्दौ नाम सहजौ सोदरौ भ्रातरौ सुरेषु देवेषु (अभीकौ–निर्भयौ) इव क्वापि सुराङ्गनायाम् तिलोत्तमाख्यायां देवललनायां विषये अभीकौ कामुकौ सन्तौ अन्योन्यम् परस्परम् आहत्य प्रहारं कृत्वा मनोभवेषोः कामबाणस्य इव यमस्य लक्ष्यम् चक्षुर्विषयः वेध्यश्च आस्ताम् । सुन्दोपसुन्दौ नाम सोदरौ राक्षसौ तिलोत्तमां कामयमानौ परस्परप्रहारेण मृताविति पौराणिकी कथा । तौ हि देवेष्वभीकौ निर्भयौ तिलोत्तमायाञ्चाभीकौ कामुकौ—'अभीकः कामुके क्रूरे शंभौ च भयवर्जिते' इत्यमरः । यथा च तौ कामबाणानां

लक्ष्यौ वेध्यौ जातौ तथैव यमस्यापि लक्ष्यौ दर्शनविषयौ जाताविति भावः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ १३ ॥

पुराने जमानेमें सुन्द उपसुन्द नामक सोदर भ्राता दो राक्षस हुए थे, वे देवोंसे जिस प्रकार अभीक (निर्भय) थे उसी प्रकार तिलोत्तमाके विषयमें अभीक-कामुक थे, फलतः एकने दूसरे पर प्रहार किया और जिस प्रकार वे कामदेवके बाणोंके लक्ष्य-वेध्य हुए थे उसीप्रकार यमके लक्ष्य-दृग्गोचर बने, यमपुर गये। इस श्लोकमें-अभीक-निर्भय एवं कामुक, लक्ष्य-वेध्य एवं द्रष्टव्य यही श्लेष चमत्कार उत्पन्न करता है ॥ १३ ॥

तत्सौभ्रात्रशरव्यस्य द्वैधीकरणकेलये।
भवतां मारचापेषू भवतां मा वधूकृते ॥ १४ ॥

तदिति। तत् एकपत्नीविषये बहूनामनुरागस्य विपदाधायकत्वस्य दृष्टत्वाद्धेतोः भवतां पाण्डवानां सौभ्रात्रं भ्रातृस्नेह एव शरव्यं लक्ष्यं तस्य द्वैधीकरणं भेदनम् एव केलिः तस्मै मारचापेषू कामस्य धनुर्बाणौ वधू कृते द्रौपदीं निमित्ती कृत्य मा भवताम् न जायेताम्। अयमाशयः—एकस्याः कामिन्या विषये एकाधिकासक्तेर्भयावहत्वस्य दृष्टान्तैः प्रमितत्वेन सम्भवति भवतामपि सौभ्रात्रं कामस्य चापबाणौ छिन्द्यातां तन्माऽस्तु, अतः पूर्वत एव तद्विषये भवद्भिर्भवितव्यं दत्तावधानैरित्याशयः ॥ १४ ॥

ऐसा न हो कि कामदेवके धनुषबाण द्रौपदीके निमित्त आप लोगोंके भ्रातृस्नेहको लक्ष्य बनाकर उसके भेदनकी केलि करने लगे, अर्थात् द्रौपदी विषयक कामवासनासे प्रेरित होकर आप लोग भाई-भाई में कहीं लड़ न जांये ॥ १४ ॥

इति रहस्यं तपस्विनिदेशं शुभोदर्कं तर्कयन्तस्ते कौन्तेयास्तस्यैव समक्षमसिधारासगन्धां संधामिमामाबबन्धुः।

इतीति। इति प्रोक्तप्रकारकं रहस्यं गोप्यं तपस्विनिदेशं महर्षेर्नारदस्याज्ञां शुभोदर्कं कल्याणोपपादकं तर्कयन्तः भावयन्तः, तपस्विनोऽमुनानिदेशेन कल्याणमस्माकं जायेतेति परामृशन्तस्ते युधिष्ठिरादयः कौन्तेयाः कुन्तीपुत्राः तस्य नारदस्य समक्षम् पुरत एव असिधारासगन्धाम् खड्गधारासदृशीं दुर्लङ्घ्याम् इमाम् वक्ष्यमाणप्रकाराम् सन्धाम् प्रतिज्ञां नियमम् आबबन्धुः कृतवन्तः। 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः।

इस प्रकारका रहस्यभूत महर्षि नारदका वचन कल्याण कर समझते हुए पाण्डवोंने नारदके सामने ही यह असिधारा समान दुर्लङ्घ्य प्रतिज्ञा बांध ली।

एते वयं चातका इव जीवनमयं वर्षमेकैकमवलम्ब्य प्रियया सममनया सुखेन वत्स्यामः।

एते इति। एते वयं पाण्डवाः (पञ्चापि भार्यया एकया कृतविवाहाः) चातकाः पक्षिभेदाः इव जीवनमयम् विरोधनिरोधद्वारा जीवनप्रदम् एकैकं वर्षम् सम्वत्सरं वृष्टिं च अवलम्ब्य अनया प्रियया द्रौपद्या समं सुखेन आनन्देन वत्स्यामः स्थास्यामः। यथा चातका जीवनप्रदं जलवर्षमेकमादाय सुखं जीवन्ति तथा वयमपि मिथोविरोधपरिहारेण प्राणरक्षोपायं सम्वत्सरमेकमवलम्ब्य प्रिययाऽनया सहसुखं वत्स्याम इत्यर्थः। अत्र गद्यखण्डे जीवनमयम् इत्यत्र जीवनमयम् इत्यस्य जलरूपं वर्षमिति चातकपक्षे पाण्डवपक्षे च जीवन प्रदम् वर्षम् कालपरिमाणभेदमित्यर्थभेदः। स्पष्टमन्यत्।

हम पाण्डव एक वर्षका नियम बांध लेते हैं, जिससे परस्पर विरोध छूट जायगा हमारे जीवनकी रक्षा होगी, और प्रिया द्रौपदीके साथ सानन्द रहेंगे, जैसे चातक एक वृष्टि जलको पाकर अपनी प्रियाके साथ सानन्द रहता है। नियम ऐसा होगा कि उसे कोई लांघनेका साहस नहीं करेगा, वह हमारे बीचमें तलवारकी धारकी तरह रहेगा।

तथाभूतेष्वस्मासु यो मिथुनकृतोपवेशे देशे दृशापि प्रविशेत्सोऽयं वृजिनं विहातुमजिनं परिधाय सुकृतसार्थसमर्थापकतीर्थपरिमृष्टास्वष्टासु[1] दिक्षु तत्त्रिगुणसंख्यान्[2]पक्षान्क्षपयेदिति[3]।

तथाभूतेष्विति। तथाभूतेषु बद्धसन्धेषु एकं वर्षमनया सहामुकस्तिष्ठेदिति कृतनियमेष्वस्मासु पाण्डुपुत्रेषु सत्सु योऽन्यतम पाण्डवः मिथुनकृतोपवेशे सभार्येण पाण्डवान्यतमेनाध्युषिते देशे स्थाने दृशाऽपि (किमुतकायेन) प्रविशेत् सोऽयं वृजिनं विहातुं पापं परिमार्जयितुम् अजिनं चर्म परिधाय वसित्वा सुकृतसार्थ समर्थापकतीर्थपरिमृष्टासु पुण्यराशिजनक तत्तत्तीर्थयुतासु अष्टासु दिक्षु तत्त्रिगुण संख्यान् चतुर्विंशतिम् पक्षान् पञ्चदशदिवसात्मककालान् क्षपयेत् गमयेत्। यत्र द्रौपद्या सह स्थातुं निर्धारितपर्यायः कश्चिदस्मासु तिष्ठेत्तत्र स्थाने यदि तदितरः कश्चनास्मासु प्रविशेत् तदा कृतनियमभङ्गः सः नियमभञ्जनरूपं पापं प्रक्षालयितुं धृततपस्विवेषः सन् पुण्यप्रदतीर्थयुतास्वष्टासु दिक्षु भ्राम्यन् दिक्संख्यात्रिगुणसंख्यान् पक्षान् व्यतियापयेत्, वर्षमेकं गमयेदित्यर्थः। 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः।

नियम बांध लेने पर एक आदमीके साथ जहाँ पर द्रौपदी बैठी सोइ रहेगी यदि कोई दूसरा पाण्डव चला जायगा तो वह नियम भङ्गजन्य पापके प्रक्षालनके लिये चर्म पहनकर (तपस्वी वेष धारण करके) पुण्य राशि प्रदान करनेवाले तीर्थोंसे युक्त आठो दिशाओंमें चौवीस पक्ष (एक वर्ष) वितावे।

राजा निदेशकृदभूदिति धातृसूनोरन्तर्मुदो निरवधेरिदमास चिह्नम्।

---

१. 'परिपुष्टासु'। २. 'संख्याकान्'। ३. 'प्रक्षिपेदिति'। इति पा०।

यत्तस्य पाणिरकरोन्मृदुकण्ठगीतेर्वीणागुणे विवशरिङ्खणमङ्गुलीनाम् ॥१५॥

राजेति । मृदुकण्ठगीतेः मधुरकण्ठध्वनेः धातृसूनोः नारदस्य पाणिः करः वीणागुणे वीणोपरि अङ्गुलीनां करजानां विवशरिङ्खणम् अस्वायत्तं चलनमकरोत् (स्वतोऽङ्गुलयः परिचलिताः) इति अङ्गुलीनां स्वतः सञ्चारः—राजायुधष्ठिरः निदेशकृत् उक्तपालनकरः अभूत् इति करणात् निरवधेः अनन्तायाः अन्तर्मुदः आन्तरिकानन्दस्य चिह्नम् आस बभूव । युधिष्ठिरे नारदोक्तमर्थं स्वीकृतवति सति यन्नारदस्य करो वीणागुणोपरि भ्रमणं चक्रे, तेन नारदस्य हृदये राज्ञ आज्ञापालकत्व प्रतीत्योत्पद्यमानस्य महत आनन्दस्यानुमानमजायतेत्यर्थः । अत्र विवशाङ्गुलीस्खलनेनान्तर्मुदोऽनुमानालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

मधुर कण्ठ ध्वनि वाले नारदकी अङ्गुलियाँ वरवश वीणाके तारोंपर नांचने लगीं, इसीसे यह प्रकट होता था कि ब्रह्माके पुत्र नारदके हृदयमें युधिष्ठिर द्वारा अपनी आज्ञाके मान लिये जानेसे असीम आनन्द हो रहा है ॥ १५ ॥

तस्मिन्नभःसरणिमुत्पतिते मुनीन्द्रे सा तेषु पञ्चसु समं ववृते मृगाक्षी ।
सांक्रन्दनेषु विटपिष्विव दानलक्ष्मीर्मानोभवेषु जयसिद्धिरिवाशुगेषु ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्मुनीन्द्रे नारदे नभः सरणिम् आकाशमार्गं प्रत्युत्पतिते उद्गते सति सा मृगाक्षी हरिणनेत्रा द्रौपदी पञ्चसु तेषु पाण्डवेषु युधिष्ठिरादिषु पञ्चसु साङ्क्रन्दनेषु इन्द्रस्वामिकेषु पारिजातादिषु विटपिषु तरुषु दानसम्पदिव वितरण समृद्धिरिव पञ्चसु मानोभवेषु कामसम्बन्धिषु आशुगेषु बाणेषु सिद्धिः सर्वलोकजय इव समं तुल्यानुरागं ववृते स्थिता । अयमाशयः—नारदे वक्तव्यमुक्त्वा स्वर्गमार्गं प्रत्युत्पतिते सति सा द्रौपदी पञ्चापि पाण्डवान् समेनानुरागेण प्रसादयामास, यथा पञ्चस्वपि सुरतरुषु समानैव दानलक्ष्मीर्यथा वा पञ्चस्वपि कामबाणेषु समैव विजयशक्तिरिति । मालोपमाऽलङ्कारः, 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

नारद जब आकाशमार्गसे ऊपर उड़ गये तब वह मृगाक्षी द्रौपदी पांचो पाण्डवों पर समान भावसे वरतने लगी, जैसे पांचों सुरतरुओंपर दानशक्ति समान रहती है और कन्दर्पके पांचो बाणों पर भी लोक विजयशक्ति तुल्य ही रहती है ॥ १६ ॥

विप्रः कश्चन तत्र जातव्यथं भुजावुद्धृत्य चौरैर्हृता
गावो मे निखिला हतोऽस्मि विधिना वत्सोऽपि नो शिष्यते ।
राजन् ! राज्यमिदं विमुञ्च वसुधां शास्मीति सर्वान्नृपा-
न्किंवा हासयसीति रोषकटुवाग्द्वारं ययौ भूपतेः ॥ १७ ॥

---

१. 'इति नारदसंवादः' । २. 'इमान्' । ३. 'हासयसीति' । इति पा० ।

विप्रः कश्चनेति । तत्र इन्द्रप्रस्थपुरि जातु कदाचित्—'निखिलाः सर्वाः मे गावः, चौरैः तस्करैः हृताः चौर्येणनीताः विधिना भाग्येन हतोऽस्मि मृतोऽस्मि, वत्सोऽपि एकोऽपिवत्सो न शिष्यते न त्यक्तः, हे राजन् युधिष्ठिर, इदं (यत्र ब्राह्मणस्वमपि न सुरक्षितं तादृशमुपद्रवभूयिष्ठं) राज्यम् विमुञ्च त्यज, अहं तव स्थाने वसुधां शास्मि, पालयामि (मयि पालयति च नोपद्रवाः स्युरिति व्यङ्ग्यम्)। इति एवम् , सर्वान् नृपान् किं हासयसि ? सर्वेऽपि राजन ईदृशा एव क्लीवाः सञ्जाता यैर्ब्राह्मण रक्षाऽपि न कर्त्तुं पार्यते इति किमुपहासस्य पात्राणि करोषि ? इति एवञ्च रोषकटुवाक् कोपकठोरवचनः कश्चन विप्रो ब्राह्मणः भुजावुद्धृत्य हस्तावुत्थाप्य (आक्रोशन्) भूपतेर्धर्मराजस्य द्वारं ययौ प्राप्तः । कदाचिदेको ब्राह्मणो युधिष्ठिरस्य द्वारमायातः सन् आक्रोशयत् मम गावश्चौरैर्हृताः, त्वं मुञ्चराज्यं तव राज्येस्थितिर्नोपयुक्ता, त्वया राज्ञा सर्वेषां राज्ञामुपहासो भवतीति कथितवांश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

किसी समय एक ब्राह्मण युधिष्ठिरके दरवाजे पर आया, वह दोनों हाथ उठाकर क्रोधके मारे कड़वी बातें कह रहा था कि—हमारी सारी गायें चोरोंने हरली है, भाग्यने मुझे मार दिया, एक बछड़ा भी नहीं बचा है, महाराज, आप राज्य त्याग कर दें, मैं इस राज्यका शासन करूंगा (जिससे अपराधीको दण्ड दिया जा सके) आप क्यों अपने अकर्मण्यतासे सभी राजाओंका उपहास करवा रहे हैं ? ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तं मधुरस्मितोऽथ विजयः कृत्वासनादुत्थितिं
नत्वाङ्घ्रौ समवेद्य भृत्यमिह मां ब्रह्मन् ! सहस्व क्षणम् ।
गावस्ते स्वयमाव्रजेयुरधुनेत्याश्वास्य दस्यून्पुरः
प्राविक्षन्मनसा ततस्तु नृपतेः शस्त्राय गेहं स्वयम् ॥ १८ ॥

दृष्ट्वातमिति । अथ विप्रकृताक्रोशश्रवणानन्तरम् मधुरस्मितः मिष्टहासो विजयः अर्जुनः तं विप्रम् दृष्ट्वा पुरोवीक्ष्य आसनात् उत्थितिं कृत्वा ब्राह्मणस्य सत्काराय स्वमासनं विहायोत्थाय अङ्घ्रौ ब्राह्मणस्य चरणदेशे नत्वा प्रणम्य हे ब्रह्मन्, मां भृत्यं स्वसेवकं समवेद्य मत्वा क्षणं सहस्व तिष्ठ दासे मयि दयां कृत्वाऽत्र मां प्रतीक्षस्वेत्यर्थः । अधुना सम्प्रति ते तव ब्राह्मणस्य गावः चौरापहृता धेनवः स्वयम् आत्मनैव आव्रजेयुः परावृत्यागच्छेयुस्तत्राधिकस्य प्रयासस्यावश्यकतानास्ती-त्यर्थः । इति एवं प्रकारेण (तं ब्राह्मणम्) आश्वास्य धैर्यं लम्भयित्वा पुरः प्रथमं मनसा दस्यून् विप्रगवापहारकान् चौरान् प्राविक्षत् प्रविष्टः तान्ध्यातवान् , कतमे स्युरमीचौरा इति चिन्तितवान् , परतश्च ततः शस्त्राय शस्त्रमासादयितुं नृपतेः धर्म-राजस्य गेहं विश्रामागारं प्राविक्षत् प्रविष्टवान् । अत्र प्राविक्षत् इत्यस्य मनसेति-करणयोगे चिन्तनार्थता, निरूपपदकत्वे तु स्वार्थपरतेति बोध्यम् ॥ १८ ॥

उस आक्रोशपरायण ब्राह्मणको देखकर अर्जुन आसन छोड़कर खड़े हो गये, उसके

चरणोंमें शिर नवाया। आप मुझे अपना दास समझकर कुछ देरके लिये यहाँ प्रतीक्षा करें, आपकी गायें खुद लौट आवेंगी, इस प्रकार ब्राह्मणको आश्वासित करके अर्जुनने पहले मनसे चोरोंका विचार किया,–सोचा कि ब्राह्मणकी गायोंका चुरानेवाला कौन हो सकता है? इसके बाद खुद शरीरसे धर्मराजके विश्रामागारमेंसे शस्त्र लेनेके लिये उसमें पैठ गये॥

तत्र तेन जगृहे तरस्विना चक्षुषा नृपतिरङ्गनासखः।
पाणिना च सशरं शरासनं पूर्तये सपदि विप्रवासयोः॥ १९॥

तत्र तेनेति। तत्र नृपतेर्भवने तरस्विना बलवता वेगवता च तेन अर्जुनेन अङ्गनासखः स्त्रीद्वितीयः द्रौपद्या युक्तः नृपतिः युधिष्ठिरः चक्षुषा नयनेन सशरं बाणयुतं शरासनञ्च पाणिना हस्तेन सपदि तत्काले विप्रवासयोः विप्रगृहवियोगयोः पूर्त्तये भरणाय संगमाय च जगृहे दृष्टः उपादीयत च। अयमाशयः—तस्मिन् भवनेऽर्जुनो राजानं द्रौपद्या सह शयानं दृष्टवान् येन पूर्वोक्तप्रतिज्ञानुसारं तेन विप्रवासः—चतुर्विंशतिं पक्षान् यावत् तीर्थप्रवासः पूरणीय आपतितः, तत्रैव गृहे चासौ शरयुतं स्वं धनुर्गृहीतवान्येनासौ चौरैरपहृता गाः प्रत्यानीय ब्राह्मणस्य वासं गृहं पूरयिष्यतीति॥ १९॥

राजाके घरमें जाकर अर्जुनने अपने नेत्रसे द्रौपदीके साथ वर्त्तमान युधिष्ठिरको देखा, जिससे उनको नारदके सामने किये गये नियमके अनुसार तीर्थप्रवास करना पड़ेगा और हाथसे धनुषबाण उठाया, जिसके द्वारा वे हरी गई गायें लौटा कर ब्राह्मणके घर–विप्रवास–को गोधनसे पूर्ण करेंगे॥ १९॥

विनिर्गतोऽसौ विशिखानिव स्वकान् विमुक्तजीवान्विरचय्य तस्करान्।
नितान्तवेगामिव गोपरम्परां निवर्तयामास शुचं द्विजन्मनः॥ २०॥

विनिर्गत इति। असौ गृहीतशरासनः धृतचापोऽर्जुनः विनिर्गतः स्वपुरान्निष्क्रान्तः सन् स्वम् स्वीयान् निजान् विशिखान् बाणानिव तस्करान् चौरान् विमुक्तजीवान् त्यक्तप्रत्यञ्चान् मुक्तप्राणांश्च विरचय्य कृत्वा नितान्तवेगाम् अतिवेगेन प्रधावन्तीम् गोपरम्पराम् इव नितान्तवेगाम् अतिप्रवृद्धां द्विजन्मनो ब्राह्मणस्य शुचम् शोकम् निवर्त्तयाम गृहं प्रत्यावर्त्तयामास समापयामास च। अयमर्थः—चापमादाय चलितोऽर्जुनः स्वधनुःप्रत्यञ्चातो बाणान् विमुच्य तस्करान् गतजीवितांश्च विधाय गृहाभिमुखधावितया सातिशयवेगामिव ब्राह्मणस्य गां तदीयां प्रवृद्धां शुचम् अपि निवृत्तां चकार। अत्र जीवाशब्दस्य प्रत्यञ्चा जीवितं चार्थः—तथा चामरः—'जीवा जीवन्तिका भूमिर्मौर्वी जीवितवृत्तिषु' इति। अत्र तुल्ययोगिता द्वयम्॥२०॥

अर्जुन चाप लेकर गांवसे बाहर हुए, बाणोंको प्रत्यञ्चासे छोड़ा और दस्युगणकी जीवनलीला समाप्त हुई, अनन्तर मुक्त हुई गायें वेगके साथ ब्राह्मणके घर लौट आईं और ब्राह्मणकी बढ़ा हुआ शोक निवृत्त हो गया॥ २०॥

प्रयाणनम्रे तदनु स्वमौलौ पार्थस्य जज्ञे नियमाभिषेकः।
प्रागेव तीर्थोपगमात्पवित्रैर्बाष्पैर्नरेन्द्रस्य वियोगभीरोः॥ २१॥

प्रयाणनम्र इति। तदनु ब्राह्मणसम्बन्धिगवीप्रत्यावर्त्तनानन्तरम् प्रयाणनम्रे तीर्थयात्रार्थं युधिष्ठिराज्ञामासादयितुं तच्चरणप्रणते पार्थस्य स्वमौलौ निजमस्तके वियोगभीरोः अर्जुनवियोगाद्भीतस्य नरेन्द्रस्य राज्ञोयुधिष्ठिरस्य बाष्पैः अश्रुभिः तीर्थोपगमात् तत्तत्तीर्थप्राप्तेः पूर्वमेव नियमाभिषेकः व्रतस्नानम् जज्ञे अजायत। अयमाशयः—ब्राह्मणस्य गाः प्रत्यावर्त्त्य नियमरक्षार्थं तीर्थभ्रमणायोद्यतोऽर्जुनो राज्ञश्चरणयोः प्रणतस्तस्यां स्थितौ तद्वियोगभीतस्य राज्ञो नयनाभ्यां प्रवहमानोऽश्रुभरोऽर्जुनस्य शिरसि पतित्वा तं स्नपयामास, मन्येऽर्जुनस्तीर्थ प्राप्तेः पूर्वमेव नियमाभिषेकं प्राप्तवानिति। अत्र गम्योत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ २१॥

ब्राह्मणकी गायोंको लौटा कर अर्जुनने नारदके सामने की गई प्रतिज्ञाके पालनार्थ तीर्थयात्राकी तैयारी करके राजाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके चरणों पर शिर रखा; अर्जुनके भावी वियोगसे दुःखी युधिष्ठिरकी आंखोंसे आंसूका प्रवाह बह चला, उससे उनका शिर भींग गया, ऐसा लगता था मानों अर्जुनको तीर्थोंमें पहुँचनेसे पूर्व ही नियमस्नान प्राप्त हो रहा हो॥ २७॥

स धीरधीरत्युच्छ्रितेन कृच्छ्रेण राज्ञा कृताभ्यनुज्ञो[1] वल्कलं घनं घनाघलङ्घनाय[2] परिधाय मलयानिल इव मनुष्यधर्मणा राजन्वतीं काष्ठां प्रतिष्ठमानस्तपःप्रसादितस्य भगवतो भवानीवल्लभस्य साक्षात्कृपामिव भगीरथरथपथानुसारिणीं[3] तरंगिणीमुपगम्य तत्र पवित्रासु वीचिषु सायंतननियमाय ऋचोऽघमर्षणीर्जपन्मज्जनमकार्षीत्।

स धीरधीरिति। धीरधीः गभीरहृदयः सोऽर्जुनः अत्युच्छ्रितेन अतिप्रवृद्धेन कृच्छ्रेण अर्जुनवियोगकष्टेन राज्ञा युधिष्ठिरेण कृताभ्यनुज्ञः गन्तुमनुमतः सन् घनाघलङ्घनाय द्रौपदीयुक्त युधिष्ठिरदर्शनजन्यनियमभङ्गकृतमहापातकक्षपणाय घनं सान्द्रं वल्कलं तरुत्वचं परिधाय वसित्वा मलयानिलः दक्षिणपवन इव मनुष्यधर्मणा कुवेरेण राजन्वतीं शोभनराजयुक्ताम् काष्ठामुत्तरां दिशं प्रतिष्ठमानश्चलितः सन्, तपः प्रसादितस्य तपस्यया तोषितस्य भगवतो भवानीवल्लभस्य शिवस्य साक्षात् कृपाम् भगीरथेऽनुग्रहमिव भगीरथरथपथानुसारिणीम् यया दिशा भगीरथस्य रथोगतस्तया दिशागतां तरङ्गिणीं नदीं गङ्गाम् उपगम्य प्राप्य तत्र गङ्गायां पवित्रासु स्वभावपूतासु वीचिषु तत्तरङ्गेषु सायंतन नियमाय सायङ्कालिककर्त्तव्यभूतसन्ध्याविधिपूर्त्तये अघमर्षणीः पापापनोदिनीः ऋचः मन्त्रान् जपन् आवर्त्तयन् मज्जनम् स्नानम् अकार्षीत्॥

१. 'राज्ञो गृहीताभ्यनुज्ञो'। २. 'कल्कलङ्घनाय'। ३. 'रथानुसारिणीम्'। इति पा०।

गम्भीर बुद्धि अर्जुनको महाराज युधिष्ठिरने बड़े कष्टसे तीर्थयात्राकी अनुमति दी, अनुमति प्राप्त करके अर्जुनने उस नियमभङ्गजन्य महान् पापके प्रक्षालनार्थ गाढ़ा वल्कल धारण कर लिया, इसके बाद वह मलयाचल जैसे उत्तरकी ओर चला हो उसी तरह कुवेर द्वारा सुराज शालिनी (कुवेर पालिता) दिशा उत्तर दिशाको प्रस्थित हुए, मार्गमें उनको तपस्या द्वारा प्रसन्न किये गये भगवान् शङ्करकी कृपा तुल्य, भगीरथ रथ पथका अनुगमन करनेवाली गङ्गा नदी प्राप्त हुई, उसके पवित्र जलमें स्नान करके सायं समय प्राप्त सन्ध्याके प्रसङ्गमें पाप नाशक मन्त्रका जप किया ॥

नालीकात्कुवलयसंक्रमे स्खलित्वा मग्नाऽधः पयसि रमेव तत्र काचित् ।
तं दृष्ट्वा भुजगसुता मिथो रिरंसुः संतुष्टा हृदयमिवानयत्स्वगेहम् ॥ २२ ॥

नालीकादिति । तत्र गङ्गायाम् (सायङ्काले) नालीकात् कमलात् कुवलये यः सङ्क्रमः उत्प्लुत्यगमनं तत्र स्खलित्वा अधः पयसि जलान्तः मग्ना रमा लक्ष्मीरिव स्थिता काचित् भुजगसुता नागकन्या उलूपीनाम तम् अर्जुनम् दृष्ट्वा अवलोक्य सन्तुष्टा आकृष्टा सती मिथः एकान्ते रिरंसुः तेन सह विहर्तुकामा सती हृदयम् स्वचित्तम् इव गेहम् निजभवनम् आनयत् । सा तं पूर्वं यथा हृदये कृतवती तथैव स्वगृहमप्यानीतवतीत्यर्थः । लक्ष्मीः कमलवासिनी, सा हि सायं स्वावासकमले सङ्कुचति सति चन्द्रविकासि कमलं कुवलयमुत्प्लुत्यगच्छन्ती पयसि पतिताऽधो निमग्ना, सेव प्रतीयमाना काचनोलूपीनाम नागकन्या पयसि स्नान्तमर्जुनं दृष्ट्वाऽऽकृष्टचित्ता तं पूर्वं हृदये स्थापितवती पश्चाच्च स्वगृहं प्रापितवतीत्यर्थः । अत्र रमोपमयोलूप्या अलौकिक सौन्दर्यसम्पन्नत्वं द्योत्यते ॥ २२ ॥

कमलमें वास करनेवाली लक्ष्मी एक दिन सायंकालमें मुंदते हुए कमलसे कूद कर कुवलयमें जा रही थी, चूककर पानीमें गिर गई, उसीके समान प्रतीत होनेवाली कोई उलूपी नामकी नागकन्या, जो उस गङ्गाके जलमें वास करती थी, अर्जुनको देख कर आकृष्ट हो गई और एकान्तमें उनके साथ रमण करनेकी इच्छासे जैसे पहले उनको अपने हृदयमें प्रवेश कराया, उसी तरह उन्हें अपने घर ले गई ॥ २२ ॥

प्रहृष्य हृदि तत्रैषा मनुष्यं फणिनां रतैः ।
संतर्पयितुमारेभे कंदर्पसममर्जुनम् ॥ २३ ॥

प्रहृष्येति । तत्र गङ्गायाम् अवस्थिते स्वगृहे एषा उलूपी हृदि मनसि प्रहृष्य तादृशभोग्य पुरुषलाभेन सन्तुष्य कन्दर्पसमं कामसमानसौन्दर्यं मनुष्यम् मानववंशोद्भवं तमर्जुनं फणिनां रतैः नागलोकोचितैः रतिप्रकारैः सन्तर्पयितुं प्रसादयितुमारेभे उपचक्रमे । दुर्लभसमागमं नरं रञ्जयितुं तदननुभूतनागलोकोचित रतानि प्रकाश्यार्जुनं विनोदित वतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

१. 'उत्सेहे' । इति पा० ।

अर्जुनको प्राप्त करके उलूपी हृदयमें बहुत प्रसन्न हुई, मनुष्य योनिमें उत्पन्न अर्जुनको, जो रूपमें कन्दर्पके समान थे–प्रसन्न करनेके लिये उसने नागोचित रतिका प्रयोग करना प्रारम्भ किया ॥ २३ ॥

भोगाय तस्या भुजगेन्द्रपुत्र्याः फूत्कार एव स्फुटसीत्क्रियासीत् ।
कस्तूरिकाङ्कोऽजनि कण्ठनैल्यं[1] फणामणिः पल्लवशेखरोऽभूत् ॥ २४ ॥

भोगायेति । तस्याः भुजगेन्द्र पुत्र्याः नागराज कन्यायाः उलूप्याः भोगाय रतिसुखाय फूत्कारः सर्पजातीयश्वासः एव स्फुटसीत्क्रिया प्रकटः सीत्कारः अभूत्, कण्ठनैल्यम् सर्पजातिस्वभावसिद्धं कण्ठे नीलत्वं कस्तूरिकाङ्कः मृगमदलेपः अजनि जातः, फणामणिः फणस्थितं रत्नं च पल्लवशेखरः शिरोभूषणमभूत् । स्त्रियो हि पत्ये कामयमानाः संभोगसुखाभिव्यञ्जकं सीत्कारं कुर्वते, मृगमदं लिम्पन्ति, शिरसि भूषणं च धारयन्ति, अर्जुनाय स्निह्यन्ती सोलूपी स्वजाति सिद्धं फूत्कारमेव सीत्कारस्प्राकटयत्, कण्ठनैल्यमेव मृगमदलेपमविभः, फणामणिमेव च मस्तक भूषणमधारयदित्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

सर्पराजतनया उस उलूपीने संभोग सुखानुभवार्थ स्वजातिसिद्ध फूत्कारको ही सीत्कार बनाया, गलेकी अपनी कालिमाको ही कस्तूरीपङ्कलेप बनाया और उसके फणपर वर्त्तमान मणिसे ही शिरोभूषणका कार्य चला ॥ २४ ॥

पाण्योर्ज्यामर्शकाठिन्यं तस्य तत्कुचमर्दने ।
तस्याश्च तन्मुखास्वादे फलायाभूद्द्विजिह्वता ॥ २५ ॥

पाण्योरिति । तस्य अर्जुनस्य पाण्योः करयोः ज्यामर्शेन प्रत्यञ्चाघर्षणेन यत्काठिन्यम् कठोरत्वम् तत् तस्याः उलूपिकायाः कुचयोर्मर्दने विषये, तस्याः उलूपिकायाः द्विजिह्वता च तन्मुखास्वादे अर्जुनमुखचुम्बने विषये फलाय उपकाराय अभूत् । अर्जुनः सततं ज्याया आमर्शेन यत्करस्य काठिन्यमार्जिजत् तदुलूपी कठोरस्तनमर्दनकाले उपकारायाजायतैवं सोलूप्यपि यद्द्वितयं जिह्वाया अभृत तदर्जुनाधरपाने तदुपकारकमभूदिति भावः । अत्रोलूपीस्तनस्य सातिशय कठोरकरमृद्यतया कठोरतातिशयः, अर्जुनाधरस्य च जिह्वाद्वया स्वाद्यरसतया सरसतातिशयः ध्वन्यते ॥ २५ ॥

धनुषकी प्रत्यञ्चाका बराबर आमर्शन करते रहनेसे अर्जुनके हाथमें जो कठोरता आ गई थी, वह उसके द्वारा किये गये उलूपी कुचमर्दन कार्यमें उपकारी सिद्ध हुआ, इसी तरह उलूपीकी द्विजिह्वता उसके द्वारा विहित अर्जुनाधरपानमें उपकारिका साबित हुई ॥ २५ ॥

सुखाच्चक्षुःश्रवस्तन्व्याः सुरते मीलनं दृशोः ।

---

१. 'कण्ठकान्तिः' । इति पा० ।

चक्रे मणितवैदग्ध्यं तस्य काननकौमुदीम् ॥ २६ ॥

सुखादिति। चक्षुः श्रवाः सर्पस्तत्तन्व्याः नागसुन्दर्यास्तस्या उलूप्याः दृशोः नयनयोः सुरते रतिकाले (आनन्दानुभवात्) मीलनं पिधानं तस्य अर्जुनस्य मणितवैदग्ध्यं रतिकूजितवैदुष्यम् काननकौमुदीम् अरण्यचन्द्रिकां चक्रे विदधे। यथाऽरण्ये चन्द्रिका व्यर्था तदुपभोगक्षमजनदौर्लभ्यात्, तद्वदर्जुनस्यापि रतिकूजितपाण्डित्यं व्यर्थमजायत, तेन सह रममाणाया उलूप्याः चक्षुः श्रवस्तया चक्षुर्मीलने श्रवसोऽपि मीलितत्वेनार्जुनकृतरतिकूजितपाण्डित्यप्रदर्शनस्य श्रोत्रभावेन वैयर्थ्यादिति भावः। 'चक्षुः श्रवाः काकोदरः फणी' 'मणितं रतिकूजितम्' इत्युभयत्रामरः ॥ २६ ॥

नागसुन्दरी उलूपीने जब सुरतमें मजा आनेपर अपनी आंखें मूंद लेती थी, तब (चक्षुःश्रवा होनेके कारण उसके कान भी मुंद जाते थे। अर्जुनके द्वारा प्रकटीकृत रति कूजित पाण्डित्य जंगलकी चन्द्रिका बन जाते थे, जैसे जंगलमें बिखरी चांदनीका कोई उपभोक्ता नहीं होनेसे वह व्यर्थ जाती है, उसी तरह अर्जुन द्वारा प्रकटीकृत रति कूजित पाण्डित्य व्यर्थ जारहा था, क्योंकि उलूपीने आनन्दातिरेकसे आँखें मूंद ली थी उससे उसके कान भी मुंद गये थे, वह सुनती ही नहीं थी ॥ २६ ॥

श्लाघाकम्पात्प्रियरतेः शिरसोऽन्तःपथादधः।
च्युतो मणिरिवेरावान्सुषुवे तनयस्तया ॥ २७ ॥

श्लाघाकम्पादिति। तया उलूपिकया प्रियरतेः अर्जुनकृत सुरतव्यापारस्य श्लाघायाम् अभिनन्दने कम्पात् चलनात् शिरसः मस्तकात् अन्तःपथात् अभ्यन्तरमार्गात् च्युतः मणिः मस्तकस्थं रत्नम् इव तनयः पुत्र इरावान् नाम सुषुवे प्रासूयत। अयमाशयः—उलूपी अर्जुनकृतं रतं प्रशंसन्ती यन्मस्तकमकम्पयत्तेन शिरसि स्थितं तन्मस्तकरत्नमभ्यन्तरमार्गात् च्युतं तदिव प्रकाशमानता शालीरावान् नाम पुत्रस्तयाऽजन्यतेति। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २७ ॥

अर्जुन द्वारा की गइ रति की प्रशंसामें उलूपीने शिर कँपाया, उसके मस्तकका रत्न च्युत हुआ, मानो वही भीतरके मार्गसे निकल आया हो ऐसे इरावान् नामक पुत्रको उलूपीने जन्म दिया ॥ २७ ॥

इत्येकिकां स रजनीमपनीय तत्र श्वासैः समं स्वकुलसंभवपृष्ठमित्रैः।
मुक्तस्तया तटगतोऽनुचरान्द्विजातीनन्तर्वतोऽद्भुतरसैरतनोत्स्ववृत्त्या ॥२८॥

इत्येकिकामिति। इति प्रोक्तप्रकारेण तत्र उलूपी भवने सः अर्जुनः एकाम् एव एकिकाम् रजनीं रात्रिम् अपनीय गमयित्वा स्वकुलसंभवाः नागवंश्याः नागाः

---

१. 'भणितवैदग्ध्यं। इति पा०।

तेषां पृष्ठस्य मित्रैः (सर्पपर्याये 'दीर्घपृष्ठ' शब्दः, अतश्च स्वकुलसंभवपृष्ठतुल्यैः) विशालैः दीर्घैः श्वासैः समं सह तया उलूपिकया मुक्तः गन्तुमनुमतः सन् तटगतः गङ्गातीरमायातः अनुचरान् सहयात्रिकान् द्विजातीन् ब्राह्मणान् स्ववृत्त्या निज-वृत्तान्तेन अद्भुतरसैः आश्चर्यैः अन्तर्वतः (गर्भयुतान्–सहितान्) युक्तान् अत-नोत् कृतवान् । उक्तप्रकारेणोलूपी भवने निशामेकामतिवाह्य दीर्घैः श्वासैः समं तया गन्तुमनुमतोऽर्जुनो गङ्गातीरमागत्य तत्र तदागमनं प्रतीक्षमाणान् स्वसहयात्रि-कान् ब्राह्मणान् स्ववृत्तश्रावणद्वारा साश्चर्यानकृतेत्यर्थः । 'अन्तर्वत्नीतु गर्भिणी' इत्यमरः, तेन अन्तर्वत् पदस्य युक्तत्वमर्थः फलतीति बोध्यम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार उलूपीके साथ एक रात बिताकर अर्जुन उलूपीसे विदा हुए, उसने दीर्घ श्वासके साथ उन्हें विदा किया, वह गङ्गातट पर आये और वहाँ पर उनकी प्रतीक्षामें बैठे हुए सहयात्री ब्राह्मणोंको अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर आश्चर्य चकित कर दिया ॥२८॥

उलूपिकाया रतिदंशनैस्तैरुन्मस्तकं मोहमिवापनेतुम् ।
उदग्रवीर्यौषधिजन्मभूमिमुमागुरुं शैलमयं प्रपेदे ॥ २९ ॥

उलूपिकाया इति । अयम् अर्जुनः उलूपिकायाः स्वेन रमितायाः एतन्नामिकायाः नागकन्यायाः तैः प्रसिद्धैरनुभूतैश्च रतिदंशनैः सुरतकालिकदन्तक्षतैः उन्मस्तकम् उत्थापितशिरस्कम् उदितम् इत्यर्थः मोहम् विषविकारजां मूर्च्छाम् अपनेतुं दूरी-कर्त्तुमिव उदग्रवीर्याणां विषशमने महाप्रभावाणां पुलिकादिकानाम् ओषधीनाम् जन्मभूमिम् उत्पत्तिस्थानम् उमागुरुम् पार्वतीजनकतया प्रथितं शैलं पर्वतं हिम-वन्तं प्रपेदे गतः । अयमर्जुनो हिमवन्तं नाम पर्वतं गतो यत्र महाप्रभावा ओषधयः प्रादुर्भवन्ति, मन्ये स स्वेन रमितायाः उलूपीनामकनागकन्यायाः (विषधरवंश-जातत्वेन तस्या अपि सविषतया) दन्तक्षतैः सङ्क्रान्तमात्मनि विषवेगं शमयितु-मोषधिविशेषमन्विष्यतीवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २९ ॥

उलूपीके द्वारा किये गये सुरतकालिक दन्तक्षतोंसे अपने ऊपर होनेवाली विषविकार-मूर्च्छाको मानो दूर करना चाहते हुए अर्जुन महाप्रभाव ओषधियोंके जन्मस्थान रूप पार्वतीके जनक शैल–हिमालय पर गये ॥ २९ ॥

फालस्य पञ्चविशिखे पदयोः कृतान्ते हासस्य दानवपुरेष्ववलोकनस्य ।
शम्बायुधे पशुपतेरपदानपद्यं गायन्ति सिद्धमिथुनान्यशृणोत्स तस्मिन् ॥३०॥

फालस्येति । तस्मिन् हिमालये नाम पर्वते सोऽर्जुनः पशुपतेः शिवस्य फालस्य शिरसः पञ्चविशिखे पञ्चबाणे कामदेवे, (शिवेन शिरोऽवयवभूतललाटस्थितेन वह्निना कामो दग्धः, तेन कामदेवे विषये तत्फालस्यापदानम् यशस्करं वृत्तं कर्म)

---

१. 'भालस्य' । इति पा० ।

पदयोः शिवस्य चरणयोः कृतान्ते यमराजे, (पुरा शिवभक्तस्य मार्कण्डेयस्य प्राणानाहर्त्तुमागतो यमः शिवेन पादाभ्यां प्रहृत इति शिवपादयोर्यमविषयेऽपादानम्) (शिवसम्बन्धितः) हासस्य दानवपुरेषु त्रिपुरासुरनगरेषु, (रथः क्षोणी, यन्ता शतधृतिः, वासुकिर्धनुः, रथाङ्गे चन्द्रार्कौ, एवमादियुद्धसाधनं सम्पाद्य योद्धुं गतेन शिवेन त्रिपुरात्मकं रिपुं तुच्छं दृष्ट्वा हासः कृतः, इति शिवहासस्य दानवपुरविषयेऽपदानम्) अवलोकनस्य दृक्पातस्य शम्बायुधे वज्रायुधे इन्द्रे विषये, (इन्द्रःकदाचिच्छिवसाक्षात्काराय कैलाशं गतस्तत्र द्वारि रूपान्तरेण स्थितं शिवमनादृत्यान्तः प्रविशन् इन्द्रस्तेन रूपान्तरधृता शिवेन निषिद्धस्तं हन्तुम् वज्रमुद्यतवान् ततः शिवस्तमवलोकनमात्रेण स्तब्धसर्वावयवं कृतवानिति शिवविलोकनस्येन्द्रेऽपदानम्) एवमपदानपञ्चम् एतादृशवृत्तकर्मस्तुतिच्छन्दः गायन्ति गानकर्मीकुर्वन्ति सिद्धमिथुनानि विद्याधरयुगलानि अशृणोत्। स तत्र हिमालये सिद्धदम्पतिभिर्गीयमानं शिवस्य तत्तत्कर्म यशस्करमाकर्णितवानित्याशयः। अत्र विद्याधरमिथुनान्यशृणोत्' इति वाक्ये धर्मधर्मिणोरभेदोपचारेणैव विद्याधरमिथुनानां श्रृणोतिकर्मतोपपाद्या, प्रयुञ्जते एवं कवयः—यथा वाल्मीकिः—रुदती राक्षसीरशृणोत् कपिः, बाणश्च—'विलपन्तं कपिञ्जलमश्रौषम्' इति। एवं च गायन्ति सिद्धमिथुनान्यशृणोदित्यस्य सिद्धमिथुनकृतानि अपदानगीतानि अशृणोदित्यर्थः पर्यवस्यति, एवमेव 'रुदती राक्षसीरशृणोत् कपि'रित्यस्य राक्षसीनां रोदनमशृणोदिति 'विलपन्तं कपिञ्जलमश्रौषम्' इत्यस्य च कपिञ्जलविलापमश्रौषमित्यर्थो बोध्यः, स्पष्टमन्यत्॥ ३०॥

हिमालय पर रहनेवाले सिद्धोंके जोड़े महादेवके ललाटकी कामविषयक यशोगाथा, उनके चरणोंकी यमविषयक यशोगाथा, उनके हासकी दानवपुरविषयक यशोगाथा, और उनके देखनेकी इन्द्रविषयक यशोगाथा गा रहे हैं, उसे अर्जुनने सुना। अर्थात्—महादेवके भालदेशस्थ नेत्रोंने कामदेवको भस्म कर दिया, महादेवके चरणोंने मार्कण्डेयप्राणापहारोद्यत यमराजके ऊपर प्रहार किया, त्रिपुरासुरके ऊपर आक्रमण करनेके लिये जब महादेव सजकर दानवपुरमें पहुँचे तब अपने दुश्मनकी तुच्छता देखकर हँसने लगे, इन्द्रने जब रूपान्तर स्थित शिवका अपमान किया तब शिवजीने दर्शनमात्रसे इन्द्रको स्तब्धगात्र कर दिया, इस प्रकारकी शिवकी कीर्त्तियोंका सिद्ध लोग वर्णन कर रहे हैं उसे अर्जुनने सुना॥ ३०॥

तत्र[1] तस्य हिमाचलस्य[2] खरखुरपुटविनिमयविन्यासचन्द्रकितैरवतारपथैरपि रोमन्थफेनशकलतारकितैः प्रतीरनमेरुतलोपवेशैरप्यनुमेयहरवृषभस्वैरविहारासु कटकसरसीषु वृजिनानि विशोध्य वनमदावलकलभविदलि-

---

१. 'तत्र तत्र स तस्य'। २. 'हिमाचलस्य खुर'। इति पा०।

तसरलद्रुमप्रवालपरिमलसुरभिलेनोपत्यकावर्त्मना दिवि भुवि भरणकुशलाभ्यां महेन्द्राभ्यां परिगृहीतां हरितमवजगाहे।

तत्र तस्येति। सः पार्थः तत्र हिमालये तस्य हिमाचलस्य हिमालयस्य खरैः तीक्ष्णाग्रभागैः खुरपुटैः विनिमयेन वारंवारनिक्षेपेण चन्द्रकितैः अर्धचन्द्राकृतिरेखायुक्तीकृतैः अवतारपथैः जलपर्यन्तावरोहणवर्त्मभिः, रोमन्थेन चर्वितस्याकृष्यपुनश्चर्वणं रोमन्थस्तेन यत् फेनशकलं फेनखण्डं तेन तारकितैः सञ्जाततारोपमश्वेतखण्डयुतैः, प्रतीरनमेरुतलोपवेशैः तटस्थितच्छायाद्रुमतलावस्थानैः अनुमेयाः प्रतीतिपथागामिनः हरवृषभस्य शिववाहनवृषस्य स्वैरविहाराः यथेच्छविहृतयो यासु तादृशीषु कटकसरसीषु हिमगिरिनितम्बवर्त्ति सरस्सु (स्नानादिना) वृजिनानि पापानि विशोध्य अपनुद्य वनमदावलकलभैः अरण्यगजवालकैः विदलितानां भञ्जितानां सरलद्रुमप्रवालानाम् देवदारुवृक्षकिसलयानाम् परिमलैः सुगन्धैः सुगन्धिलेन सुरभीकृतेन उपत्यकावर्त्मना उपत्यकास्थिताध्वना दिवि स्वर्गे भुवि मर्त्यलोके च भरणकुशलाभ्याम् (दिवि भरणकुशलः पालनदक्षो महेन्द्रः शक्रः, भुवि भरणकुशलः धारणक्षमो महेन्द्रो नाम पर्वतस्ताभ्याम्) महेन्द्राभ्याम् शक्रपर्वत विशेषाभ्याम् परिगृहीताम् अवलम्बिताम् हरितम् दिशम् अवजगाहे प्राचीं गत इत्यर्थः। हिमालयं गतोऽर्जुनस्तत्रस्थितासु सरसीषु स्नातवान्, यासां सरसीनामवतारपथाः हरवृषखुरपातैश्चन्द्राकारचिह्नयुक्तीकृताः, तद्द्रुमाश्च तद्रोमन्थक्रियाच्युतफेनखण्डैस्तारकितमूलाः, तासु सरसीषु स्नानेन शोधितपापोऽसावर्जुनः अरण्यगजशावकभञ्जितदेवदारुपल्लवसुरभितेनोपत्यकापथेन प्रस्थितः प्राचीं दिशं ययौ यत्र महेन्द्रः पर्वतो वर्त्तते, यस्याश्च पतिरिन्द्रः, ययोर्महेन्द्रः पर्वतो भुवं धत्ते, महेन्द्रश्च शक्रो दिवमवतीत्यर्थः॥

उस हिमालयपर तीक्ष्ण खुर के पटकनेसे चन्द्राकार चिह्नयुक्त कर दिये गये हैं घाटके मार्ग जिसके और रोमन्थ क्रिया द्वारा च्युत फेनसे तारकायुक्त बना डाले गये हैं वृक्षमूल—इन हेतुओंसे अनुमान किया जाता है कि शिवजीके वृषभका स्वैर विहार जहाँ पर ऐसी नितम्बदेशस्थित सरसीमें स्नान करके अर्जुनने अपने पाप धो दिये, और वे वन गजके बच्चों द्वारा तोड़े गये देवदारु द्रुम पल्लवोंसे सुगन्धित हिमालयोपत्यका मार्गसे प्राची दिशाको गये, जहाँपर स्वर्गके पालन करनेवाले महेन्द्र-इन्द्र और पृथ्वीको धारण करनेवाले महेन्द्र पर्वत, दोनों महेन्द्र वास करते हैं। इन्द्र प्राचीदिशाके स्वामी हैं, अतः उनका वहाँ रहना वर्णित होता है॥

संफुल्ल्यमाननवकेतकपांसुगर्भैः
पर्यन्तनिर्झरजलैः फलिताभिषेकः।

---

१. 'तरलसरल'। २. 'पम्फुल्यमान'। ३. 'कलिताभिषेकः'। इति पा०।

पार्थः स तत्र जनकाभिधयेव हृष्टः
पादे चिरं परिचचार गिरिं महेन्द्रम् ॥ ३१ ॥

संफुल्यमानेति । संफुल्यमानानि सातिशयविकासशालीनि यानि नवानि प्रत्यग्र-प्ररूढानि केतकानि केतकीकुसुमानि तेषां परागाः धूलयो गर्भे अभ्यन्तरे येषां तैः ताहशैः पर्यन्तनिर्झराणाम् प्रान्तपातिजलप्रपातानां जलैः पानीयैः फलिताभिषेकः जातस्नानः सः पार्थः अर्जुनः तत्र पूर्वस्यां दिशि जनकस्य स्वपितुरिन्द्रस्य अभिधया नाममात्रेण तन्मात्रसाम्येनेत्यर्थः हृष्टः प्रसन्नः महेन्द्रं नाम गिरिं पादे चरणे प्रत्यन्त-भागे च चिरं बहुकालपर्यन्तं परिचचार पूजयामास सिषेव बभ्राम च । अयमाशयः— प्राचीं दिशमुपेतोऽर्जुनो महेन्द्रस्य पर्वतस्य प्रत्यन्तभागे नवविकसितकेतकीपराग-पूर्णनिर्झरजलैः सम्पादितस्नानः सन् स्वपितुर्नाम्ना समाननामानं महेन्द्रं चरणे चिरं परिचचार सिषेवे बभ्राम चेति भावः । अत्र महेन्द्रप्रत्यन्तभागे भ्रमणमेव महेन्द्रपादपरिचरणरूपेण वर्ण्यते ॥ ३१ ॥

फूले हुए नवीन केतकीपुष्प के परागसे युक्त पर्यन्तपाती निर्झरजलसे सम्पादित स्नानकार्य उस अर्जुनने अपने पिताके नाम मात्र सादृश्यसे युक्त महेन्द्र पर्वतको पाकर अति प्रसन्न हो महेन्द्रके पादमें परिचरण किया, उसकी उपत्यकाओंमें भ्रमण किया, उसकी चरणसेवा की यह अर्थ भी ध्वनित होता है ॥ ३१ ॥

निजनगरनिरीतो वासविर्दिक्षु सर्वा-
स्वपि परिणयहेतौ क्वापि यात्रामुहूर्ते ।
जनकपरिगृहीता सा दिगित्येव तस्यां
कथमपि न स जातां कन्यकां पर्यणैषीत् ॥ ३२ ॥

निजनगरनिरीत इति । वासवस्यापत्यं पुमान् वासविः अर्जुनः सर्वासु प्राच्यादिषु चतसृष्वपि दिक्षु परिणयस्य विवाहस्य हेतौ कारणीभूते क्वापि अनिर्वाच्यशुभ-योगयुक्ते मुहूर्त्ते निजनगरनिरीतः स्ववासग्रामादिन्द्रप्रस्थान्निर्गतः अपि सा प्राची दिक् जनकेन स्वपित्रा शक्रेण परिगृहीता ऊढा इत्येव हेतोः तस्यां दिशि प्राच्यां जातां कन्यकां (स्वसृभावात्तस्याः) न पर्यणैषीत् न परिणीतवान् । अयमाशयः— अर्जुनो यस्मिन् शुभसमये गृहात् प्रस्थितस्तस्मिन् समये एताहशो योग आसीद्य-त्तत्रप्रस्थितस्य सर्वास्वपि दिशासु परिणयः सञ्जायेत, परं स प्राच्यां जातां कन्यकां न परिणीतवान्यतः प्राची तत्पित्रा शक्रेण परिगृहीता, तस्यां जाता च कन्यातस्य भगिनीत्वादगम्येति ॥ ३२ ॥

अर्जुन किसी ऐसे शुभ मुहूर्त्तमें अपने गांव इन्द्रप्रस्थसे निकले थे कि सभी दिशाओंमें उनका विवाह हो जाय । परन्तु प्राची दिशा उनके पिता इन्द्रद्वारा परिणीत थी, प्राची-दिशामें उत्पन्न कन्यायें सौतेली बहन होनेके कारण उनके लिये अगम्य थीं, अतः अर्जुनने

प्राची दिशाकी कन्याओंमेंसे किसीका पाणिग्रहण नहीं किया ॥ ३२ ॥

जलधितटपदव्या झर्झरैश्चीरशब्दै-
रवमयमनुकुर्वन् राजतालीवनानाम्।
रतिपतिरथकारेणाद्रिणा लाञ्छितायां
दिशि विविधतटिन्यां दत्तचक्षुः प्रतस्थे ॥ ३३ ॥

जलधितटेति। अयम् अर्जुनः रतिपतेः मदनस्य रथम् वाहनभूतं मलयानिलं करोति तेन तथाभूतेन अद्रिणा मलयाचलेन लाञ्छितायां युक्तायां विविधतटिन्यां बहुनद्यां दिशि दक्षिणदिशायां दत्तचक्षुः क्षिप्तनयनः, (तां दिशं पश्यन्) झर्झरैः चीरशब्दैः परिहितवल्कलभवशब्दैः राजतालीवनानाम् तालवृक्षपत्राणाम् रवम् ध्वनिम् अनुकुर्वन् अनुहरन् जलधितटपदव्या समुद्रतीरस्थमार्गेण प्रतस्थे चलितः। अयमाशयः—'मलयमरुदायोधनरथः' इति शङ्करभगवत्पादोक्तदिशा मलयपवनस्य कामरथत्वप्रसिद्ध्या तादृशरथनिर्मात्रा मलयाद्रिणा युक्तायां दिशि दत्तदृष्टिः स्वशरीरधृतवल्कलोत्थरवेणतालतरुपत्रध्वनिमनुकुर्वन् दक्षिणदिशो निम्नतया नानानदीप्रवाहस्थलतां पश्यंश्चायमर्जुनो जलधितटगामिनाऽध्वना चचालेति। मालिनीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

इसके बाद कन्दर्पके रथको—दक्षिणानिलको प्रस्तुत करनेवाले मलय पर्वतसे युक्त एवं नानाविध नदियोंसे भरी हुई दक्षिण दिशाको देखते हुए, अपने वल्कलके शब्दसे ताल वृक्षके शब्दोंका अनुकरण करनेवाले अर्जुनने दक्षिण दिशामें ले जानेवाले समुद्रतटवर्त्ती मार्गसे प्रस्थान किया ॥ ३३ ॥

अक्ष्णां प्रचारादतिवर्तमानमालोकमालोकमसौ पयोधिम्।
तटेन गच्छंस्तरसोपलेभे चोलीहरिद्रासुरभीन्समीरान् ॥ ३४ ॥

अक्ष्णामिति। असौ समुद्रतटगामिनाध्वना प्रस्थितोऽर्जुनः अक्ष्णां प्रचारात् दृष्टिविषयात् अतिवर्त्तमानम् अतिक्रम्य स्थितम् (दूरप्रसृततया दृग्विषयबहिर्भूतम्) पयोधिं सागरम् आलोकम् आलोकम् दृष्ट्वा दृष्ट्वा (आभीक्ष्ण्ये णमुलो द्विरुक्तिः) तटेन समुद्रतटवर्त्मना तरसा वेगेन गच्छन् चोलीनां चोलदेशाङ्गनानां सम्बन्धिन्यो या हरिद्राः मुखकुचादिलिप्तास्ताभिः सुरभीन् शोभनगन्धपूर्णान् समीरान् वायून् उपलेभे प्राप्तवान् दृग्गोचरातिशायिनं पयोधिं पश्यन्नर्जुनो वेगेन गत्वा चोलदेशे तद्देशस्थिताभिर्वनिताभिः स्वीयमुखकुचादिषु लिप्यमानाभिर्हरिद्राभिः सुगन्धपूर्णान् वायूननुबभूवेत्यर्थः। चोलदेशाङ्गनानां हरिद्रालेपः प्रसिद्धस्तदनुरोधेनेयमुक्तिः ॥ ३४ ॥

दृष्टि विषयको पार करके वर्त्तमान सागरको देखते-देखते समुद्र-तट-मार्गसे वेगपूर्वक जाते हुए अर्जुनने चोलदेशकी स्त्रियों द्वारा अपने अङ्गोंमें लेप की गई हल्दीसे सुगन्धित वायुका अनुभव किया ॥ ३४ ॥

शैलो गर्भे शिशुरिव भुवः शासनाद्यस्य शेते
वातापिं यो जठरदहने कल्पयामास हव्यम्।
क्षोणीनग्नंकरणमहिमा कोपलेशो यदीय-
स्तस्यावासं दिशमभिययौ तापसस्येन्द्रसूनुः ॥ ३५ ॥

शैल इति। इन्द्रसूनुः अर्जुनः यस्य मुनेरगस्त्यस्य शासनात् शैलो विन्ध्यपर्वतः शिशुः बालक इव (आज्ञावशंवदः सन्) भुवः पृथिव्याः गर्भे कुक्षौ शेते निलीयते, योऽगस्त्यः वातापिं नाम दानवं जठरदहने जाठराग्नौ हव्यं हविः कल्पयामास, यदीयः यस्यागस्त्यस्य कोपलेशः क्रोधलवः क्षोणीनग्नङ्करणमहिमा समुद्रशोषण-द्वारा समुद्रवसनाया धराया नग्नतासम्पादकेन सामर्थ्येनोपपन्नः तस्य तापसस्य तपस्विनो मुनेरगस्त्यस्य आवासं निवासस्थलतां गतां दिशम् अभिययौ प्राप्तः। पुरा सूर्यमार्गावरोधायोद्यन्तं विन्ध्यं तत्समीपगतोऽगस्त्यः पादप्रणताय विन्ध्याय यावदहं दक्षिणस्या दिशो न परावर्त्ते, तावदेवमेव स्थेयमित्युदीर्य तं भूमौ निलाययामास, तेन तदीयशासनाद्विन्ध्यस्य शिशोरिव धराशायित्वमुच्यते, ब्राह्मणवधव्यसनिनं च वातापिमगस्त्यो निगीर्य पाचयामासेति तस्य तज्जठरानलहव्यरूपतोक्ता-समुद्रशोषणाच्च धरानग्नतासम्पादकसामर्थ्यशीलत्वमुपनिबद्धमिति बोध्यम्। पर्यायोक्तमलङ्कारः। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३५ ॥

जिसके प्रभावसे आज्ञा मानकर विन्ध्याचल पर्वत पृथ्वीकी गोदमें बच्चेकी तरह दुबका पड़ा है, जिसने वातापी नामक ब्राह्मण भक्षी राक्षसको अपनी जठराग्निमें हव्यका रूप दे दिया, जिसके थोड़ेसे कोपने (समुद्रपान द्वारा) समूची पृथ्वीको नग्न बना दिया था, ऐसे तपस्वी अगस्त्य मुनिके आवास कहला सकनेके गौरवसे युक्त दक्षिण दिशामें अर्जुन गये ॥ ३५ ॥

धृत्वा फलेषु सलिलानि कवेरजायाः
साम्यं परीक्षितुमिवाभ्रसरिद्गुणौघैः।
अभ्रंलिहैर्निबिडितां तटनारिकेलै-
रालोक्य चोलवसुधामयमभ्यनन्दत्[2] ॥ ३६ ॥

धृत्वेति। अयम् अर्जुनः कवेरजायाः कावेर्याः सलिलानि जलानि फलेषु नारिकेलेषु धृत्वा आदाय अभ्रसरितः आकाशगङ्गायाः गुणौघैः माधुर्यधावल्यादिभिः साम्यम् कवेरजाजलस्य धावल्यमाधुर्यादीनि तन्माधुर्यादितुल्यानि सन्ति न वेति तुलनां परीक्षितुम् ज्ञातुम् इव अभ्रंलिहैः आकाशचुम्बिभिः तटनारिकेलैः तीरवर्त्तिनारिकेलवृक्षैः निबिडितां व्याप्ताम् चोलवसुधाम् चोलदेशमहीम् आलोक्य अभ्य-

१. 'वर्तयामास'। २. 'वाराशिवास–'। इति पा०।

नन्दत् समधिकं सन्तोषमाप्तवान् । यत्र नारिकेलवृक्षाः स्वर्गङ्गाजलगते माधुर्य-धवलत्वे अत्र कावेरीपयसि विद्येते न वेति परीक्षितुमिव फलेषु जलमादायाकाश-गङ्गासमीपदेशपर्यन्तं गतास्तां चोलमहीमुपेत्यायमर्जुनोऽतितमामानन्दमविन्द-दित्यर्थः, अन्योऽपि कस्यचिद्वस्तुनो गुणान् अन्यवस्तुगुणेन सह तुलयितुं स्वीयं वस्तु तुलनीयगुणवद्वस्तुसमीपं नीत्वा तुलयन्तीति प्रसिद्धं व्यवहारमुपजीव्येयमु-त्प्रेक्षा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

कावेरीके जलमें आकाशगङ्गाके जलके समान स्वच्छता-मिठास आदि गुण हैं या नहीं इसकी तुलना करनेके लिये अपने फलोंमें कावेरीका जल भर करके आकाशगङ्गाके पास तक पहुँचे हुए नारिकेलके वृक्षोंसे युक्त चोल पृथ्वी (चोल नामक देशकी जमीन) को देखकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥

कालेन संगततमां[1] कटुतामवेत्य
स्वर्गौकसामथ[2] सुधारसनिःस्पृहाणाम् ।
अभ्रंलिहः[3] फलवतस्तटनारिकेलान्
सह्यात्मजासलिलवैवधिकानमंस्त ॥ ३७ ॥

कालेनेति । अथ कालेन बहुना समयेन सङ्गततमाम् अतिशयेन सञ्जातां कटुतां वैरस्य सहचरं काटवं रसविपर्ययम् अवेत्य ज्ञात्वा । (चिरकालपर्युषितेयं सुधा कट्वी जातेति) सुधारसनिःस्पृहाणाम् अमृतपानवीतरागाणाम् स्वर्गौकसाम् देवानाम्—अभ्रंलिहः आकाशचुम्बिनः फलवतः पानीयपूर्णप्रशंसनीयफलयुक्तान् तटनारिकेलान् तीरवर्त्तिनारिकेलितरून् (असौ अर्जुनः) सह्यात्मजासलिलवैवधि-कान् कावेरीजलभारवाहकान् अमंस्त ज्ञातवान् । नारिकेलवृक्षा जलपूर्णफलानि धृत्वा आकाशदेशे तिष्ठन्तो देवेभ्यः कावेरीवारि निवेदयितुं भारवाहका इव स्थिताः ज्ञाता अर्जुनेन, देवाश्चिरपर्युषितां सुधां कटुं मन्यमानाः स्पृहयन्ति हि कावेरीजलाय, तेनामी नारिकेलतरवो भारेषु तदारोप्य तेभ्य उपहर्त्तुमिव तदावासदेशपर्यन्तं गता इत्याशयः । 'वार्त्तावहो वैवधिकः' इत्यमरः । विविधः शिक्यद्वयसहितो दण्डविशेषो भारवहनसाधनं तेन भारं हरतीतिवैवधिकः, 'तेन वहति' इति ठक् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

बहुत समय बीत जानेके कारण अमृत बासी होकर बदमजा-कड़वा-हो गया है, देव-गण उसे पसन्द नहीं करते हैं, इसलिये ये नारियलके पेड़ अपने फलोंमें कावेरीका जल भर कर आकाश तक पहुँचा रहे हैं, मानों ये नारियलके वृक्ष देवोंके भरिया हों, अर्जुनको ऐसा प्रतीत हुआ। अर्जुनने जब नारियलके वृक्षोंको जो आकाशको चूम रहे थे देखा तो उसे ऐसा लगा मानो यह वृक्षगण देवोंके लिये कावेरीका जल पहुँचा रहे हों ।

---

१. 'हन्त महता' । २. 'अपि' । ३. 'अभ्रंलिहा' । इति पा० ।

वाँराशिवासजडमात्मवपुर्विशोष-
मानेतुमातपभरात्तटमुत्तरेण ।
लङ्कामिवागतवतीं निजपौरवर्जं
पार्थो विवेश नगरीमथ पाण्ड्यगुप्ताम् ॥ ३८ ॥

वाराशीति । (अथ चोलदेशप्राप्त्यनन्तरं) पार्थोऽर्जुनः वारां राशिर्वाराशिस्तत्र वासेन सततस्थित्या जडम् शीतम् आत्मवपुः स्वाङ्गम् आतपभरात् किरणसम्पर्कवशात् शोषम् शुष्कताम् आनेतुम् निजपौरवर्जम् स्वपुरवासिराक्षसपरित्यागपूर्वकम् आगतवतीम् लङ्कां नगरीम् इव तटमुत्तरेण तीरस्योत्तरतः पाण्ड्यगुप्ताम् मणिलूरपुरम् विवेश प्रविष्टः । अथ चोलान् गतस्यार्जुनस्य चिरं जलमध्यवासादार्द्रं स्वमङ्गमातपेन शोषयितुमिव (राक्षसान्विहाय) आयातां लङ्कामिव सर्वथा समृद्धां मणिलूरपुरं नाम पाण्ड्यराजधानीं प्रति गमनमभूदित्यर्थः । 'एनयाद्वितीया' इति वार्तिकेन तटमुत्तरेण इत्यत्र द्वितीया ॥ ३८ ॥

चोल देशमें जाकर अर्जुनने पाण्ड्यदेशकी राजधानी मणलूरपुरीमें प्रवेश किया, वह नगरी ऐसी सर्वथा समृद्ध थी कि उसे देखनेसे लगता था मानो बहुत देर तक जलमें वास करनेसे भींगे हुए अपने शरीरको धूपमें सुखानेके लिये अपने बाशिन्दे राक्षसोंको छोडकर लङ्का नगरी ही समुद्रके उत्तरी तट पर आई हो ॥ ३८ ॥

मणलूरपुरे संपद्गुणलूनालकामदे ।
जनदृष्टिकृतानन्दो जगाम कुरुकुञ्जरः ॥ ३९ ॥

मणलूरेति । कुरुकुञ्जरोऽर्जुनः सम्पद्भिः समृद्धिभिः गुणैः सौन्दर्यादिभिश्च लूनः छिन्नः अपासितोऽलकायाः कुवेरनगर्या मदो येन तादृशे तत्र मणलूरपुरे जनदृष्टिकृतानन्दः लोकानां दृष्टिभ्यः स्वदर्शनावसरप्रदानजन्यमानन्दं वितरन् जगाम प्रविष्टः, अत्र कुरुकुञ्जरपदस्य कुरुश्रेष्ठ इत्यर्थः, तथाचोक्तम्—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः । अत्र प्रसङ्गादर्जुनपरत्वं बोध्यम् ॥ ३९ ॥

इसके बाद कुरुकुञ्जर—कुरुवंश श्रेष्ठ अर्जुनने लोगोंकी दृष्टियोंको अपने दर्शनोंसे आनन्द प्रदान करते हुए उस मणलूरपुरमें प्रवेश किया, जो पुर अपनी समृद्धि तथा सौन्दर्यादि गुणोंके द्वारा अलका नामक कुबेरपुरीके गर्वको चूर करता था ॥ ३९ ॥

तत्र चित्राङ्गदा तेन व्यूढा राजकुमारिका ।
दर्शने दौहृदार्तौ च द्वयोरासीदनङ्गदा ॥ ४० ॥

तत्र चित्राङ्गदेति । तत्र नगर्याम् राजकुमारिका पाण्ड्यराजपुत्री चित्राङ्गदा तेना-

१. 'वारांशि' । इति पा० ।

र्जुनेन व्यूढा परिणीता, या द्वयोः अर्जुनस्य स्वस्याश्च क्रमशो दर्शने अवलोकने अनङ्गदा कामवर्धिका, दौहृदार्त्तौ गर्भपीडायां च अनङ्गदा अङ्गदाख्यभूषणविरहिणी आसीत् या दृश्यमानमात्राऽर्जुनस्य कामं समधुक्षयत्, स्वयं गर्भिणी भूत्वा च याऽङ्गदं नाद्रियतेस्म तादृशी चित्राङ्गदानाम पाण्ड्यराजपुत्री तेन परिणीतेत्यर्थः। चित्राङ्गदाप्यनङ्गदेति विरोधप्रतिभासः, परिहारस्तूक्त एव ॥ ४० ॥

उस नगरीमें पाण्ड्य राजकुमारी चित्राङ्गदाके साथ अर्जुनने विवाह किया; वह देखने भरसे ही अर्जुनके अनङ्गको बढ़ानेवाली थी, और गर्भ पीड़ाके कारण उसे अङ्गद नामक भूषण भी भार मालुम पड़ता था ॥ ४० ॥

एलालवङ्गतरुपिप्पलिकापटीर-
ताम्बूलिकाक्रमुकदम्पतिभावरम्याम्।
उद्यानभूमिमुपगम्य तया स पार्थः
सुख्यन्पितुः पदममन्यत बल्वजेभ्यः ॥ ४१ ॥

एलालवङ्गेति। एला स्त्री लवङ्गः पतिः, पिप्पलिका स्त्री पटीरश्चन्दनश्च पतिः, ताम्बूलिका रमणी क्रमुकश्च वल्लभस्तदेषां दम्पतिभावेन स्त्रीपुरुषसंबन्धेन (स्त्रीपुंभावेन मिथुनकृतप्रीत्यतिशयप्रत्ययः) रम्याम् उद्यानभूमिम् पुष्पवाटिकास्थलीम् उपगम्य प्राप्य तया चित्राङ्गदया नाम स्वस्त्रिया सुख्यन् आनन्दमनुभवन् सः पार्थोऽर्जुनः पितुः पदम् इन्द्रभावम् बल्वजेभ्यः तृणविशेषेभ्यः अमन्यत तानिव तुच्छं मन्यतेस्म 'बल्वजेभ्यः मन्यतेस्म' इत्यत्र 'मन्यकर्मण्यनादरेविभाषाऽप्राणिषु' इति चतुर्थी। 'सुख्यन्' इति 'सुखदुःख तत्क्रियायाम्' इति कण्डवादिपठितधातोर्यगन्ताच्छतरि रूपम्। एतदुद्यानचित्राङ्गदयोः स्वर्गोद्यानतदप्सरोधिकरमणीयतात्र व्यज्यते ॥ ४१ ॥

एला–लवङ्ग, पिप्पली–चन्दन, ताम्बूलीलता–सुपारीके वृक्ष, इनके जोड़ोंसे रमणीय उद्यानमें प्रियतमा चित्राङ्गदाके साथ सुखानुभव करनेवाले अर्जुनने अपने पिताके पद इन्द्रत्वको बल्वजतृणके समान समझा। अर्जुनकी दृष्टिमें वहाँका उद्यान नन्दनसे उत्तम और चित्राङ्गदा अप्सराओंसे अधिक सुन्दरी थी, अतः उन्होंने इन्द्रपदको कुछ महत्त्व प्रदान नहीं किया ॥ ४१ ॥

दिवसे शुभंयुगुणकोरकिते दयितं हृदि स्थितमिवार्तिमती।
अवतार्य सा भुवि कुमारमधादथ बभ्रुवाहन इति प्रथितम् ॥ ४२ ॥

दिवस इति। अथ सा चित्राङ्गदा आर्त्तिमती गर्भधारिणीसती शुभंयुगुणकोरकिते शुभप्रदगुणगणशालिनि दिवसे वासरे (प्राप्ते सति) हृदि स्थितं मनसि वर्त्त-

१. 'अभात्'। इति पा०।

मानं दयितं वल्लभं पार्थमिव बभ्रुवाहन इतिप्रथितं ख्यातं कुमारम् अवतार्य जनयित्वा भुवि पृथिव्याम् अधात् स्थापितवती। गर्भधारिणी सा पितुरनुरूपं पुत्रं बभ्रुवाहनं सुषुवे इत्यर्थः। अत्र बभ्रुवाहनेऽर्जुनोपमया तद्गतगुणगणसम्पन्नत्वं ध्वन्यते। प्रमिताक्षरावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'प्रमिताक्षरासजससैःकथिता' इति ॥४२॥

गर्भभारसे पीडित उस चित्राङ्गदाने शुभगुणयुक्त समयके आने पर अपने हृदयमें वर्त्तमान प्रियतम अर्जुनके समान पुत्र बभ्रुवाहन नामसे ख्यात कुमारको जन्म देकर पृथ्वी पर रख दिया। (जैसे किसीको जब भार नहीं उठता है तब वह जमीन पर रखकर सुखकी सांस लेता है) ॥ ४२ ॥

असावहंपूर्विकया प्रशंसतां सुतोदयं शोभनमीश्वरार्थिनाम्।
ददौ तथा दक्षिणदेशवासिनां तमेव दायादमुदारतल्लजः ॥ ४३ ॥

असाविति। उदारतल्लजः प्रशंसनीयौदार्ययुक्तोऽसावर्जुनः अहम्पूर्विकया अहम् पूर्वमहंपूर्वमितिस्पर्धया शोभनं सुतोदयं रमणीयपुत्रजन्मप्रशंसतां स्तुवताम् तथा ईश्वरार्थिनाम् अस्मभ्यमिमं तनयं राजत्वेन देहीति प्रार्थयमानानां दक्षिणदेशवासिनां चोलदेशवासिजनानां तम् बभ्रुवाहनम् एव दायादं स्वांशहरं पुत्रं राजभावेन ददौ दत्तवान् यदा बभ्रुवाहनो जातस्तदा सर्वे तद्देश्यास्तदुदयं स्तोतुमहंपूर्वमितिस्पर्द्धन्तेऽस्मभ्यं सुन्दरं शासकं देहीति च याचन्तेस्म, तदनुरोधादुदाराग्रणीरर्जुनस्तं स्वपुत्रमेव तेभ्योराजत्वेन दत्तवानित्यर्थः। उदारतल्लजत्वस्य समर्थकं पुत्रदानमिति साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरोऽलङ्कारः ॥ ४३ ॥

उदाराग्रगण्य अर्जुनने—मैं पहले स्तुति करूंगा मैं पहले स्तुति करूंगा इस प्रकार स्पर्धापूर्वक उस सुन्दर पुत्र जन्मकी प्रशंसा करनेवाले, एवं अपने लिये एक योग्यशासककी याचना करनेवाले दक्षिण देशवासियोंको अपना पुत्र बभ्रुवाहन ही दे डाला ॥ ४३ ॥

इति स तत्र कानिचिद्दिनान्युषित्वा प्रयामीति भाषितस्य पद्मावलम्बिबाष्पमेवोत्तरयन्तीं प्रेयसीं रहसि दृढालिङ्गनतरंगितवल्कलोत्तरीयमर्मरसहाध्यायि सीत्कृतिं पुलकझर्झरे कपोलतले परिचुम्ब्य तस्याः कथंचिदुदञ्चितानुमतिर्निर्गत्य रक्षोयोधिभिरिक्ष्वाकुपतिसेनाध्यक्षैरुत्पाटितानां मलयदर्दुरमहेन्द्रपादानां मूलशिलातलपरिदृश्यमानकराङ्गुलिनखरेखाव्यावर्तितकुलिशभयोच्चलितशैलसंस्थानबुद्धिभिः संनिवेशावटैः स्थपुटितामटवीं विलङ्घ्य पुत्रीनिकाररुषा पुलस्त्यान्वयस्य पुरीमुन्मूलयितुं प्रसारितेन भुवो भुजेनेव सेतुना कृतसीमन्तमुदन्वन्तमभजत।

---

१. 'श्रुतोदयम्'। २. 'इति तत्र दिनानि कानिचित्'। ३. 'सीत्कारम्'।
४. 'कपोले'। ५. 'कठिनतरत्कराङ्गुलि'। ६. 'उच्चालित'। ७. 'न्यक्कार'। इति पा०।

इति स इति । इति एवं प्रकारेण सः अर्जुनः तत्र चोलदेशे कानिचिद्दिनानि कतिपयवासरान् उषित्वा वासं कृत्वा प्रयामि गच्छामि इति भाषितस्य गन्तुमिच्छाऽर्जुनेनोक्तस्य वचनस्य पक्ष्मावलम्बिबाष्पम् पक्ष्मस्थितमश्रु एव उत्तरयन्तीं प्रतिवचनं कुर्वतीम् (तादृशस्य प्रेयसः प्रयाणानुज्ञामाकर्ण्य साश्रुनेत्राम् , (नतु प्रकटं रुदतीं तथासत्यमङ्गलाशङ्कायाः संभवात्) प्रेयसीम् प्रियतमाम् चित्राङ्गदाम् रहसि एकान्ते दृढालिङ्गनेन गाढाश्लेषेण तरङ्गितस्य चलितस्य वल्कलोत्तरीयस्य यो मर्मरध्वनिः मर्मरशब्दस्तत्सहाध्यायिन्यः तत्तुल्याः सीत्कृतयः प्रेयोवियोगदुःखजाताः सीत्कारा यस्यास्तां तथोक्तां चित्राङ्गदां पुलकझर्झरे सात्त्विकभावरूपरोमाञ्चविषमे कपोलतले गण्डस्थलविषये परिचुम्ब्य कथंचित् महता कष्टेन उदञ्चितानुमतिः प्राप्तगमनाभ्यनुज्ञः निर्गत्य तत्पुरतो बहिरागत्य रक्षांसि योधयन्ति ये तैः तथोक्तैः इक्ष्वाकुपतिसेनाध्यक्षैः रामसेनानायकैः अङ्गदजाम्बवदादिभिः उत्पाटितानां समुद्रे सेतुं रचयितुमुत्खातानाम् मलयदर्दुरमहेन्द्रपादानाम् तत्तत्पर्वतप्रत्यन्तपर्वतानाम् मूलशिलातलेषु अधः पाषाणप्रदेशेषु परिदृश्यमानाः स्फुटलक्ष्याः कठिनतराणां कर्कशानां तत्कराङ्गुलीनां जाम्बवदादिकराङ्गुलीनां रेखाः ताभिः न्यावर्त्तिता दूरीकृता कुलिशात् महेन्द्रवज्रात् भयेन भीत्या उच्चालितानां पलायितानां शैलानां संस्थानं प्राक्तनं स्थानमिदमिति बुद्धिः येषुः तैस्तथोक्तैः सन्निवेशावटैः स्थितिगर्तैः स्थपुटिताम् निम्नोन्नताम् , (रुदत्याऽऽलिङ्गितया च चित्राङ्गदया कथञ्चिदनुमतोऽर्जुनः पुरो गत्वा पर्वतसंस्थानानि दृष्ट्वा प्रागन्वमासीद्यदिमे पर्वता महेन्द्रवज्रभीत्या पलायिताः, परं यदा तन्मूलेषु जाम्बवदादीनां रामसेनापतीनामङ्गुलिनखरेखा अपश्यत्तदा तस्य सा बुद्धिरपगता, तदाऽमीपर्वतास्तैः सेनापतिभिरेव सेतौ निहिता इत्यमन्यतार्जुनः) अटवीं काननभूमिम् विलङ्घ्य निस्तीर्य, पुत्रीन्यक्काररुषा स्वसुतायाः सीताया अवमाननाजनितेन कोपेन पुलस्त्यान्वयस्य रावणस्य पुरीम् लङ्काम् उन्मूलयितुम् उत्पाटयितुम् प्रसारितेन दीर्घीकृतेन भुवः पृथिव्याः भुजेन हस्तेन इव सेतुना रामकृतेन बन्धेन कृतसीमन्तं द्विधा विभक्तम् उदन्वन्तं सागरम् अभजत प्राप्तवान् ।

इस प्रकार वहाँ कुछ दिन बिता कर अर्जुनने अपनी प्रेयसी चित्राङ्गदासे जानेकी अनुमति मांगी, जिसका उत्तर उसने अपने नयनोंमें भरे अश्रुसे ही दिया, इस प्रकार रोती हुई प्रियाको जो दुःखकी सिसकी भर रही थी—एकान्तमें आलिङ्गनके लिये चलते हुए अर्जुनके वल्कलसे मर्मरध्वनि हो रही थी, जो उनकी प्रेयसीकी सिसकीके समान लग रही थी, आलिङ्गित करके और रोमाञ्च से युक्त उसके कपोल पर प्रेमचिह्न चुम्बन करके अर्जुनने किसी प्रकार उसकी अनुमति प्राप्तकी, अनुमति प्राप्त करके आगे जाने पर राक्षसोंके साथ जिनका युद्ध हुआ था, ऐसे रामकी सेनाके सेनापति अङ्गद जाम्बवान् आदि द्वारा उखाड़े गये मलय महेन्द्र दर्दुर आदि पर्वतोंके प्रत्यन्त पर्वतोंमें उनकी जड़ोंमें

दीखने वाली हस्ताङ्गुलि नखरेखासे दूर हो गई है--यह पर्वत इन्द्रके वज्रके भयसे भाग गये हैं—ऐसी बुद्धि जिसकी ऐसे अर्जुनने समझ लिया कि यह पर्वत उन वानर सेनापतियो द्वारा ही उखाड़े गये हैं जिनके हाथकी अङ्गुलियोंके चिह्न यहाँ वर्त्तमान हैं, इस प्रकार उन बचे हुए पर्वतमूलोंसे निम्नोन्नत वनभागको पार करके अर्जुनने समुद्रको प्राप्त किया, उसके बीचमें बना सेतु ऐसा लग रहा था मानों माता पृथ्वी अपनी पुत्री सीताके प्रति रावण द्वारा किये गये अपमानसे रुष्ट होकर रावणकी पुरी लङ्काको उखाड़ कर फेंकनेके लिये हाथ फैलाये हो, इस प्रकारके सेतुसे द्विधा विभक्त उस समुद्रको अर्जुनने प्राप्त किया ॥

समीक्ष्य सेतुं रघुवीरनिर्मितं स चित्रभित्तीकृतधीर्धनंजयः ।
दिनेशवंशस्य तपोविचारणे चिरावकाशं विततान चेतसि ॥ ४४ ॥

समीक्ष्येति । सः समुद्रतीरगः धनञ्जयः रघुवीरनिर्मितं रामेण कारितपूर्वम् सेतुं बन्धं समीक्ष्य सादरमालोक्य चित्रस्य आश्चर्यरसस्यैव चित्रस्यालेख्यस्य भित्तीकृता आश्रयीकृता धीर्येन सः तथोक्तः आश्चर्यरसयुक्तबुद्धिरित्यर्थः, दिनेशवंशस्य सूर्यकुलस्य तपसः सुकृतस्य विचारणे भावनायाम् चेतसि स्वहृदि चिरावकाशं प्रभूतमवकाशं विततान विस्तारितवान् । सूर्यवंशेन कीदृशं तपःकृतं येन तत्रेदृशप्रभावशालीरामोऽप्यवतीर्ण इति चिरंभावयामासेत्याशयः ॥ ४४ ॥

राम द्वारा बनवाये गये सेतुको देखकर आश्चर्यरसमें पड़ गई है बुद्धि जिनकी ऐसे उस धनञ्जयने सूर्यवंशकी तपस्याके सम्बन्धमें भावना करता हुआ उस चिन्ताधाराको हृदयमें देर तक बनाये रहा। अर्जुनने देर तक यही सोचा कि सूर्य वंशने कौनसे तप किये जिससे उसमें भगवान् रामने जन्म लिया, जिनके प्रभावसे यह सेतु बांधा गया ॥४४॥

अब्धौ वानरपातिताचलशिलाभङ्गाभिघातैश्चिरा-
दक्ष्णान्धैः कुणिभिः करेण च पदा खञ्जैः पयोमानुषैः ।
वीचीवीथिषु कीर्त्यमानमनघं वृत्तं रघूणां प्रभोः
श्लाघं श्लाघमसौ तटेन हरितं प्राचेतसीमभ्यगात् ॥ ४५ ॥

अब्धाविति । असौ अर्जुनः अब्धौ सागरे वानरैर्हनूमज्जाम्बवत्प्रभृतिभी रामसेनापतिभिः पातिताः सेतुनिर्माणाय न्यस्ताः येऽचलाः पर्वताः तेषां शिलाभङ्गैः पाषाणखण्डैः येऽभिघाताः प्रहाराः तैश्चिरात् बहुकालतः अक्ष्णा चक्षुषा अन्धैः हतदृक्शक्तिभिः करेण कुणिभिः कुकरैः, पदा चरणेन खञ्जैः पङ्गुभिः पयोमानुषैः जलमानवैः वीचीवीथिषु तरङ्गरूपरथ्यासु (उपविश्य) कीर्त्यमानं गीयमानं रघूणां प्रभोः राघवश्रेष्ठस्य रामस्य अनघं पापापहारिवृत्तं चरितं श्लाघं श्लाघं प्रशस्य (धन्यो रामो यदीयं चरितममी गायन्तीति स्तुत्वा) तटेन समुद्रतीरवर्त्मना प्राचेतसीं

---

१. 'वितताप चेतसे'। २. 'वेदिषु'। इति पा०।

वारुणीं हरितं दिशं (प्रतीचीम्) अभ्यगात्। तत्र सेतुबन्धस्थले वानरपातित शिलाघातैर्नष्टाक्षिपाणिपादतया कार्यान्तराशक्त्या वीचीवीथिषूपविश्य रामचरितं गायन्ति जलमानुषास्तान् प्रशंसन्नर्जुनः समुद्रतटवर्त्मना प्रतीचीं दिशं प्रतस्थे इत्यर्थः। 'अक्ष्णाकाणः' 'करेण कुणिभिः' इत्यादौ 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

सेतु बांधनेके समय वानरोंने जो पर्वत ला ला करके समुद्रमें डाले, उनके शिलाखण्डोंसे आहृत होकर कुछ जल मानव अन्धे हो गये, कुछ लूले तथा लंगड़े हो गये, वे जल मानव तरङ्गरूप गलियोंमें बैठकर भगवान् रामके पावन चरित्रोंका गान कर रहे थे, अर्जुनने जब उनका रामयशोगान सुना तो वे उसकी प्रशंसा करने लगे, और समुद्र तट मार्गको अवलम्बन कर वरुणकी दिशा—पच्छिम चले गये ॥ ४५ ॥

गोकर्णमेत्य स कुलाद्रिसुताप्रियस्य पुष्पाणि मूर्ध्नि निदधे पुरुहूतसूनुः।
आगामिनां निजशरासनताडनानामत्रावकाश इति सूचयतेव दोष्णा ॥४६॥

गोकर्णमेत्येति। सः पुरुहूतसूनुः इन्द्रपुत्रः गोकर्णं नाम तीर्थविशेषम् एत्य प्राप्य कुलाद्रिसुतापर्वतराजपुत्रीपार्वती तस्याः प्रियस्य पत्युः शिवस्य मूर्ध्नि शिरसि—आगामिनां भविष्यतां निजशरासनेन स्वगाण्डीवधनुषा ताडनानाम् आघातानाम् अत्र शिवशिरसि अवकाशः स्थानम् इति सूचयता इव प्रकटयता इव दोष्णा बाहुना पुष्पाणि निदधे स्थापितवान्। गोकर्णतीर्थेऽर्जुनस्तत्र स्थितस्य शिवस्य शिरसि पुष्पाणि स्थापितवान् मन्ये संभाविनि किरातयुद्धे शिवस्य शिरसि बाणान् धास्यति, धास्यमानानां बाणानामत्रावकाशोऽस्तीति साम्प्रतिकपुष्पधारणेन सूचितवानिति-भावः। पुरा किल तपस्यतोऽर्जुनस्य बलं परीक्षितुं शिवस्तेन युयुधे प्रसह्य चास्त्राणि दत्तवानिति प्राचीनां कथामनुरुध्येयमुत्प्रेक्षा। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

गोकर्ण नामक तीर्थमें जाकर अर्जुनने पर्वतराजपुत्रीके स्वामी शिवजीके मस्तक पर फूल चढ़ाये, मानो उनके हाथ कह रहे थे, कि यहाँ पर भावीयुद्धमें गाण्डीवके बाणोंके लिये स्थान होगा। अर्जुनके साथ शिवजी का युद्ध हुआ था, जिसे किरातयुद्ध कहते हैं, उसमें अर्जुनने शिवजी के मस्तक पर बाण प्रहार किया था, इस समय जो फूल रखते थे, मानो यहाँ हमारे बाणोंको कमी स्थान मिलेगा यह बात सूचित कर रहे थे ॥ ४६ ॥

गोपृष्ठलग्नं कुलशैलकन्यासहायमन्तः सततं दधानः।
आश्चर्यमैक्षिष्ट तमेव देवं गोकर्णवासं कुरुराजसूनुः ॥ ४७ ॥

गोपृष्ठेति। गोपृष्ठलग्नम् वृषभपृष्ठदेशस्थितं कुलशैलकन्यासहायम् हिमालय-पुत्रीनाथं शिवमन्तः स्वहृदये सततं दधानः धारयन् (ध्यायन्) कुरुराजसूनुः अर्जुनः तम् शिवम् एव देवम् गोकर्णवासम् गोः कर्णेस्थितमिति विरोधप्रतिभासः, गोकर्णनामकक्षेत्रे स्थितमिति च तत्परिहारः, आश्चर्यम् चकितचकितम् ऐक्षिष्ट।

पृष्ठस्थत्वेन ध्यायमानस्य कर्णस्थत्वेन दर्शनमवश्यमाश्चर्यं प्रयोजयेदिति भावः ॥४७॥

जिस पार्वतीप्रिय शङ्करको अर्जुन गोपृष्ठस्थित मानकर हृदयमें रखते आ रहे थे, उन ही परमेश्वर महादेवको गोकर्ण (गाईके कान—अथवा गोकर्ण तीर्थ) में देखकर अर्जुनको आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा ॥ ४७ ॥

पापापनुत्त्यै परिकल्पितो यः प्रभासतीर्थे प्रथिते[1]ऽभिषेकः ।
सेतुं दृशा दृष्टवतो[2]ऽस्य सोऽसौ साध्यं विना जागरितो बभूव ॥ ४८ ॥

पापापनुत्त्यै इति । पापस्य मिथुनदर्शनजन्यदुरितस्य अपनुत्त्यै क्षयाय प्रथिते पापक्षयकरतया ख्याते प्रभासतीर्थे तन्नामके पुण्यतीर्थविशेषे (अर्जुनेन) यः अभिषेकः स्नानम् परिकल्पितः कृतः, सेतुं सागरबन्धं दृशा स्वदृष्ट्या दृष्टवतः साक्षात्कृतवतोऽस्यार्जुनस्य सोऽसौ अभिषेकः साध्यं विना (पापक्षयरूपं फलम् पूर्वं सेतुदर्शनेनैव जातमित्यधुना) फलमन्तरैव जागरितः स्थितः बभूव । स हि प्रभासतीर्थाभिषेकस्तस्य भाविने शुभायातिष्ठत्, सम्प्रतितत्साध्यतया सम्भावितस्य पापक्षयस्य सेतुदर्शनेनैवानुष्ठितत्वादितिभावः ॥ ४८ ॥

पाण्डवोंने नारदके सामने नियम बनाया था कि हममेंसे जो आदमी द्रौपदीके साथ एकान्तमें केलिपरायण स्वेतर भाईको देखेगा, वह एक वर्ष तक तीर्थों में घूमा करेगा, अर्जुन के द्वारा यह नियम भङ्ग हो गया, उस पापके प्रक्षालनार्थ वह प्रभासतीर्थमें स्नान करने आये थे, परन्तु प्रभासमें किया गया उनका स्नान फलसे खाली ही रहा, वह आगेके लिये ही सुरक्षित रहा, क्योंकि उनका वह पाप-जिसका क्षय प्रभासतीर्थस्नानसे किया चाहते थे, प्रभासतीर्थ आनेसे पूर्व सेतु दर्शनसे ही नष्ट हो चुका था, कहा है 'सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां तरन्ति ते'। ब्रह्महत्या पद यहाँ पर सर्वविध पापोंका उपलक्षक है ॥४८॥

पापापनोदे फलितेऽर्जुनस्य प्रागेव सेतोरवलोकनेन ।
प्रभासतीर्थे नियमाभिषेकः[3] पश्चात्सुभद्रागमहेतुरासीत् ॥ ४९ ॥

पापापनोदे इति । अर्जुनस्य पापापनोदे दुरितक्षये सेतोः समुद्रबन्धस्य अवलोकनेन प्रागेव प्रभासतीर्थेऽभिषेकतः पूर्वमेव फलिते निष्पन्ने सति पश्चात् उत्तरकालिकः प्रभासतीर्थे नियमाभिषेकः यथाविधिस्नानम् सुभद्रागमहेतुः सुभद्राप्राप्तिकारणम् आसीत् अभवत् । सेतुदर्शनादेव क्षीणपापस्यार्जुनस्य प्रभासेऽभिषेकस्तस्य सुभद्राप्राप्तावुपाकरोत्, पुण्यस्य पापक्षयशुभोदयोभयहेतुतया पापक्षयेऽचरितार्थस्वे शुभोदयजननस्वाभाव्यादिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्जुनके पापका क्षय तो सेतुके दर्शनोंसे ही हो गया था, फिर प्रभास तीर्थमें किया गया सविधि स्नान उनकी सुभद्रा प्राप्तिमें कारण बना । जिस प्रभासतीर्थसे उन्होंने अपने

---

१. 'प्रथिते'। २. 'स्पृष्टवतः'। ३. 'नियमावगाह' । इति पा० ।

पापोंको क्षय करना सोचा था, उसका कार्य पापक्षय पहले ही कारणान्तरसे सम्पन्न हो चुका था, अतः वह प्रभास तीर्थस्नान शुभोदयान्तरका कारण बनकर कृतार्थ हुआ ॥ ४९ ॥

ततो घनाविर्भवनाद्भियेव तत्रामलं मानसमस्य भेजे।
कर्णान्तरक्रौञ्चपथेन शोभायशोमरालो यदुकन्यकायाः ॥ ५० ॥

ततो घनेति। ततः प्रभासतीर्थे स्नानात्परतः तत्र प्रभासक्षेत्रे घनाविर्भवनात् वर्षाकालोपसरणात् भिया भयेन इव यदुकन्यकायाः यादववंशसुतायाः सुभद्रायाः शोभायशोमरालः सौन्दर्यकीर्त्तिरूपो हंसः कर्णान्तरक्रौञ्चपथेन कर्णमध्यरूपक्रौञ्च-वर्त्मना अमलं निर्मलम् अस्य अर्जुनस्य मानसं हृदयं भेजे प्राप। यथा वर्षागम-नाद्भीतो हंसः क्रौञ्चवर्त्मना मानसं याति तथैवायं प्रभासे सुभद्रासौन्दर्यकथाः कर्णातिथी चकारेत्यर्थः। समस्तवस्तुवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः। वर्षाकाले हंसा भारतं वर्षं विहाय मानसं सरो गच्छन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्योक्तिरियम् ॥ ५० ॥

जैसे बरसातके आनेसे डरकर हंस क्रौञ्चमार्गसे निर्मल मानस सर चले जाते हैं उसीतरह वर्षाके आगमनके भयसे सुभद्राके सौन्दर्य जन्य यशोरूप हंस कर्णमध्यरूप मार्गसे अर्जुनके निर्मल मानसमें प्रवेश कर गया, अर्थात् अर्जुनने सुभद्राके सौन्दर्य यशका श्रवण किया ॥ ५० ॥

स्मृतिपथस्थितयापि सुभद्रया जनसमक्षमिवासितुमात्तभीः।
द्विजकुलानि स तत्र समत्यजत्सहचराणि रतीशवशंवदः ॥ ५१ ॥

स्मृतिपथेति। अथ सुभद्रासौन्दर्ययशोवार्त्ताश्रवणानन्तरं स्मृतिपथस्थितया संकल्पगोचरया अपि सुभद्रया (हेतुभूतया) रतीशवशंवदः मन्मथबाधायुक्तः सः अर्जुनः जनसमक्षम् लोकानां समीपे आसितुं स्थातुम् आत्तभीः गृहीतभयः (भीतः) इव सहचराणि सहयात्रिकाणि द्विजकुलानि ब्राह्मणवृन्दानि तत्र प्रभासतीर्थे सम-त्यजत् त्यक्तवान् यदा स्मृतमात्रयैव सुभद्रया कामपीडितोऽसावर्जुनो लोक-समक्षमवस्थातुं भयमन्वभूत्तदासौ स्वसहयात्रिकान् ब्राह्मणान्यथेच्छं गन्तुं विसृष्ट-वानित्यर्थः ॥ ५१ ॥

ध्यानमें आइ हुई सुभद्राके चलते काम पीडा युक्त अर्जुनने जब लोकके सामने रहनेमें (रहस्य भेदका) भयका अनुभव किया, तब उन्होंने साथ-साथ चलते ब्राह्मणोंके दलोंको यथेच्छ जानेकी अनुमति प्रदान कर विदा कर दिया ॥ ५१ ॥

पयसा परिपूरितौ घटौ परिपश्यन्पथि पाकशासनिः।
कमलाक्षकनीयसीकुचौ कलयामास करस्थिताविव ॥ ५२ ॥

पयसेति। पाकशासनस्येन्द्रस्यापत्यं पुमान् पाकशासनिः अर्जुनः पथि मार्गे पयसा परिपूरितौ जलपूर्णौ घटौ परिपश्यन् वीक्षमाणः कमलाक्षस्य कृष्णस्य कनी-

यस्याः अवरजायाः सुभद्रायाः कुचौ स्तनौ करस्थितौ हस्तगतौ इव कलयामास ज्ञातवान्। यदार्जुनो मध्येमार्गं जलसंभृतौ कलशावपश्यत्तदैव सुभद्राप्राप्तिविषये कृतनिश्चयोऽजायत, यात्राकाले जलपूर्णघटदर्शनस्येप्स्यमाणवस्तु प्रदत्वेनाभ्युपेतत्वा-दित्यर्थः ॥ ५२ ॥

अर्जुनने जब रास्तेमें जलसे पूर्ण कलश देखे तभी उन्होंने भगवान्की छोटी बहन सुभद्राके स्तनोंको करगत समझ लिया, अर्थात् उनको सुभद्राकी प्राप्तिमें निश्चय हो गया, क्योंकि यात्राकालमें जलपूर्ण घटके दर्शनसे कार्य सिद्धिकी आशा दृढ़ हो जाती है ॥ ५२ ॥

तदानीं खलु,—

चक्राङ्गीमदपश्यतोहरचलच्छम्पासमुन्मेषणैः
पुष्प्यत्केतकगन्धसिन्धुविलुठत्पुष्पंधयान्धीकृतैः ।
मेदस्वीकृतकेकिनीकलकलैर्मेघंकराशामुखैः
पान्थानामपमृत्युभिः कतिपयैः प्रादुर्बभूवे दिनैः ॥ ५३ ॥

चक्राङ्गीति । चक्राङ्ग्यः चक्रवाकस्त्रियस्तासां मदो दिने निरन्तरप्रियसहवासदर्प-स्तस्य पश्यतोहराणि लुम्पकानि चलन्तीनां समुन्मिषन्तीनां शम्पानां समुन्मेषणैः विलसनैः, एवं पुष्प्यतां विकासं प्राप्नुवतां केतकानां गन्ध एव सिन्धुः सागरस्तत्र विलुठद्भिः सञ्चरद्भिः पुष्पन्धयैर्भ्रमरैः अन्धीकृतैः मलिनत्वं प्रापितैः, तथा मेदस्वी-कृताः पीनत्वं गमिताः केकिनीनां मयूरीणां कलकलाः कोलाहला यैस्तथाभूतैः, अपि च मेघङ्कराणि मेघायमानानि आशामुखानि दिगवकाशा येषु तादृशैः, अथ च पान्थानामपमृत्युभिः पथिकजनानां वियोगिनां विनैवायुरन्तं मृत्युप्रदैः कतिपयैः द्वित्रैः वार्षिकैः वर्षर्त्तुजातैः दिनैः प्रादुर्बभूवे जातम् । कतिपयानि प्रावृषेण्यानि दि-नानि प्रादुरासन्यत्राकालसन्ध्याऽऽगमेन दिनावच्छेदेन प्रियसहवाससौभाग्यशालि-नीनां चक्रवाकीनां गर्वो निर्धूयतेस्म, विद्युतः समुन्मिषन्तिस्म, केतकपुष्पसुगन्धि-सञ्चारिणोभ्रमराइतस्ततोदिशोऽन्धीकृतवन्तः, मयूरीणां रुतानि बहुलीभूतानि, सर्वा अपि दिशो मेघायमाना अभवन् , पान्थाश्चाकालिकं मृत्युमापद्यन्तेस्मेत्यर्थः । पश्य-तोहरः—चौरः, 'पश्यतोऽर्थं हरति यः स चोरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः । 'वाग्-दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' इति षष्ठ्याः अलुक् । मेघङ्करशब्दे 'मेघर्त्तिभयेषु कृञः' इति खशि खित्वान्मुम् ॥ ५३ ॥

चक्रवाकी गणको दिनमें निरन्तर प्रिय सहवासका घमण्ड था, मेघके उमड़ आनेसे उन्हें अकाल सन्ध्या हो जानेके कारण दिनमें ही प्रियवियुक्त होकर अपना गर्व छोड़ देना पड़ा, विजलियाँ चलने लगीं, फूलते हुए केतक पुष्पकी सुगन्ध रूप समुद्रमें सञ्चरण करने

---

१. 'कलरवैः' । इति पा० ।

वाले भ्रमरोंने दिशाओंको अन्धी बना दिया, केकिनी–मयूरीका शब्द अधिक हो गया, दिशाओंमें मेघ भर गये, पान्थोंकी अकाल मृत्युएँ होने लगीं; इस प्रकारके बरसाती दो चार दिन प्रकट हुए ॥ ५३ ॥

कालाम्बुदालिनलिकात्क्षणदीप्तिवर्त्या
संधुक्षितात्सपदि सध्वनिनिःसरद्भिः ।
वर्षाश्मसीसगुलिकानिकरैः कठोरै-
र्घर्माभियातिमवधीद्घनकालयोधः ॥ ५४ ॥

कालाम्बुदेति । घनकालो वर्षासमयः योधः योद्धा क्षणदीप्तिः विद्युत् एव वर्त्तिः अग्निमुखीरज्जुस्तया सन्धुक्षितात् प्रज्वलितात् कालाम्बुदालिः श्यामघनमाला एव नलिकं नालायुधविशेषस्तस्मात् सपदि सद्यः तत्क्षणमेव सध्वनि सतडतडाशब्दम् निःसरद्भिः कठोरैः कठिनैः वर्षाश्मसीसगुलिकानिकरैः करकारूपसीसकगुलिकासमुदायैः घर्माभियातिम् ग्रीष्मकालरूपं शत्रुमवधीत् मारितवान् । यथा कश्चन भटो नलिकास्त्रं वर्त्त्या सन्धुक्ष्य ततो निर्गतैः कठोरैश्च सीसकगुलिकानिकरैः स्वप्रतिपक्षं वीरं हन्ति, तथाऽयं वर्षासमयो विद्युता वर्त्त्या सन्धुक्षिताद्वर्षाकालिकश्यामलघनमालारूपनलिकास्त्रात् सशब्दं निस्सरद्भिः करकारूपगुलिकासमुदयैः ग्रीष्मसमयरूपं स्वशत्रुं पराजितवानिति तात्पर्यम् । समस्तवस्तुविषयं सावयवरूपकमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

वर्षाकाल रूप योद्धाने बिजली रूप पलीतेसे संयोजित मेघमाला रूप मशीनगनसे तड़-तड़ शब्दके साथ निकलनेवाली ओले रूप गोलीयोंसे तुरत ही ग्रीष्म समय रूप अपने दुश्मनको मार दिया । बन्दूककी नलमें बारूद भरी रहती है, उसमें जब पलीता लगाया जाता है तब उससे गोलियाँ निकलती तथा निशाने पर मार करती हैं, उसी बातको यहाँ मेघ तथा ग्रीष्मके युद्धमें बताया गया है । पूरा रूपक भरा है ॥ ५४ ॥

माध्वीलिहा विरुरुचे मलिनीकृताग्रा
कान्तारसीम्नि नवकेतकबर्हरेखा ।
दग्धाञ्चले स्मरभिया दयिताजनेन
संप्रेषिता पथिकभर्तृषु पत्रिकेव ॥ ५५ ॥

माध्वीलिहेति । माध्वी पुष्पमधु लिह्यते आस्वाद्यते येन तेन माध्वीलिहा भ्रमरेण मलिनीकृताग्रा श्यामीभूताग्रदेशा केतकबर्हरेखा केतकीकुसुमपत्रम् स्मरभिया कामभयेन हेतुना दयिताजनेन प्रियाजनेन पथिकभर्तृषु दूरगतेषु प्रियतमेषु विषये सम्प्रेषिता निसृष्टा दग्धाञ्चला अन्ते दग्धा पत्रिका लिपिः इव कान्तारसीम्नि वनप्रान्ते विरुरुचे प्रचकाशे । आपदि मग्ना गृहिणी पतिं त्वरितमायातमिच्छन्ती

तत्समीपे दग्धैकदेशां पत्रिकां प्रहिणोति, भ्रमरेणाश्रितैकदेशा केतकी तथैव ददृशे इत्याशयः। अत्र पथिकस्त्रीणामापदिमग्नता ध्वन्यते ॥ ५५ ॥

पुष्परस पायी भ्रमरोंसे जिसका आगेका भाग काला पड़ गया है ऐसा केतक पुष्प वनमें ऐसा प्रतीत होता था मानो वह कन्दर्पभयसे पथिक वधुओं द्वारा अपने पतियोंके पास भेजी कोर पर जली चिट्ठी हो। जब किसी पर कोई बड़ी मुसीबत आपड़ती है तब अपने सहायकको शीघ्र बुलानेके लिये जो पत्र भेजा जाता है उसका कोर जला डाला जाता है, उससे स्थितिकी गंभीरता प्रकट होती है, यहाँ पर प्रोषित पतिकाओं पर आपत्ति आई है, उन्हें कामदेवसे भय है अतः वह अपने पतिओंके पास केतक पुष्प रूप पत्र भेजती हैं, जिसका अग्रभाग जला हुआ सा लगता है क्योंकि उसपर भ्रमर बैठे हैं ॥ ५५ ॥

अर्जुनेषु सकलेषु विकासिष्वद्रिसीम्नि धृततादृशशब्दः।
एक एव विशुशोष विशेषादेतदम्बुभृदनेहसि चित्रम् ॥ ५६ ॥

अर्जुनेष्विति। अम्बुभृदनेहसि वर्षासमये अद्रिसीम्नि पर्वतभूमौ सकलेषु सर्वेषु अर्जुनेषु तदाख्यवृक्षभेदेषु विकासिषु विकासशालिषु सत्सु धृततादृशशब्दः तत्समानाभिधानाभिधेयः एकः (पार्थरूपोऽर्जुनः) विशेषात् सातिशयं विशुशोष शुष्यतिस्म एतत् चित्रम् यस्मिन् वर्षाकाले सर्वेऽर्जुनाः कानने विकसन्ति, तस्मिन्नेव समये एकोऽर्जुनः पार्थः (सुभद्रावियोगव्यथया) सातिशयं शुष्यतिस्म। सर्वविकाससमये एकस्य तज्जातीयस्य शोषो विस्मयमावहतीति भावः ॥ ५६ ॥

बरसातके दिनोंमें पर्वत पर जब कि सभी अर्जुन (वृक्ष) विकसित हो रहे थे, आश्चर्य की बात है कि एक अर्जुन (पार्थ) विशेषतः सूखता जाता था। सभी अर्जुनके विकास समयमें एक अर्जुन सूखता जाय यह आश्चर्यकी बात तो है ही ॥ ५६ ॥

वियत्यशेषासु विदिक्षु दिक्षु वियोगशिल्पीन्द्रविनिर्मितायाः।
तस्या मृगाक्ष्याश्च तडित्ततेश्च धनंजयः संविविदे न भेदम् ॥ ५७ ॥

वियतीति। वियति आकाशे अशेषासु सकलासु दिक्षु विदिक्षु (दिशः प्राच्यादयश्चतस्रः, विदिशश्चैशान्यादयश्चतस्रः, सम्मिलिताश्चता अष्टौ दिशो व्यवह्रियन्ते) वियोगशिल्पीन्द्रविनिर्मितायाः विरहरूपेण कारुवरेण चित्रितायाः मृगाक्ष्याः हरिणनेत्रायास्तस्याः सुभद्रायाः तडित्ततेः विद्युन्मालायाश्च भेदम् पार्थक्यम् धनञ्जयोऽर्जुनो न संविविदे न ज्ञातवान्। 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' इति प्रसिद्धोक्तिः, तदनुसारेण वियोगरूपः शिल्पीपार्थस्य दृष्टेः पुरतः सर्वासु दिक्षु सुभद्रायाश्चित्रं निर्मातिस्म, तच्चित्राणि च विद्युद्भिस्तुलितानि तदङ्गकान्तेर्विद्युत्प्रभत्वादतः सादृश्येन मिलितासु चित्रितासु सुभद्रामूर्त्तिषु तडित्ततिषु च भेदं बोद्धुमर्जुनो नाक्षमतेत्याशयः, सामान्यं नामालङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—'सामान्यं गुणसाम्येन विशेषो नोपलक्ष्यते' इति ॥ ५७ ॥

वियोगरूप कलाकारने सभी दिशा विदिशाओंमें मृगनयनी सुभद्राकी मूर्त्तियाँ गढ़ दी थीं, अर्जुनको सभी दिशाओंमें सुभद्रा ही सुभद्रा दीखती थी, वर्षा समयमें सभी दिशाओंमें विजलियां भी प्रकाशित होती थी, उन सुभद्रामूर्त्तियों तथा विजलियोंमें भेदको अर्जुन नहीं समझ पाते थे, (क्योंकि दोनोंकी चमक-दमक समान ही थी) ॥ ५७ ॥

मान्मथे[1] ज्वलति वासवसूनुर्मानसे परिणये यदुपुत्र्याः ।
लाजवापमिव कर्तुमुपेन्द्रं तत्सगर्भ्यमथ चित्तमनैषीत् ॥ ५८ ॥

मान्मथ इति । अथ वर्षासमयागमानन्तरम् वासवसूनुः इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः यदुपुत्र्याः सुभद्रायाः मानसे परिणये सङ्कल्पकल्पिते विवाहे ज्वलति दीप्यमाने मान्मथे कामविकारात्मकेऽग्नौ लाजवापं लाजहोमं कर्त्तुम् इव तत्सगर्भ्यं सुभद्रासोदरम् उपेन्द्रम् कृष्णम् चित्तम् अनैषीत् । लाजहोमकाले कन्याभ्रातुर्विवाहवेद्यामुपस्थितिरपेक्ष्यतेऽतोऽर्जुनो मानसे सुभद्रापरिणये लाजहोमं कर्त्तुमिवोपेन्द्रं स्वहृदयमानीतवान् , तद्विषये कमप्युपायमाचरितुमर्जुनो हरिं मनसा ध्यातवानित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ॥ ५८ ॥

अर्जुनके हृदयमें सुभद्राके साथ उनका सङ्कल्प-कल्पित परिणय सम्पन्न हो रहा था, वहां पर कामविकाररूप आग जल रही थीं, अर्जुनने उस विवाहके अङ्गभूत लाजहोमको सम्पन्न करनेके लिये सुभद्राके सोदर भाई कृष्णको हृदयमें बुला लिया, अर्थात् उस विषयमें कोई इन्तजाम कर देनेके लिये अर्जुनने भगवान्‌का अपने हृदयमें स्मरण किया ॥ ५८ ॥

अणुमात्रमिदं सहेत वोढुं न हि विश्वंभरमद्य मामितीव ।
मनसोऽध्यवरुह्य[2] तस्य दृष्टेः पुरतः प्रादुरभूत्पुमान्पुराणः ॥ ५९ ॥

अणुमात्रमिति । अद्य अधुना अणुमात्रम् अणुपरिमाणम् इदम् अर्जुनस्य हृदयम् विश्वम्भरं समस्तभुवनवहं मां कृष्णं वोढुम् धारयितुं नहि सहेत न क्षमेत, इतीव अत एव हेतोः पुराणः पुमान् पुराणपुरुषः, श्रीकृष्णः मनसो हृदयात् अध्यवरुह्य उत्तीर्य तस्यार्जुनस्य दृष्टेः नयनस्य पुरतोऽग्रे प्रादुरासीत् प्रकटीभवतिस्म । यद्यहमस्यार्जुनस्य हृदये तिष्ठेयं तदाऽणुपरिमाणतयाऽल्पीयं हृदयं मां विश्वम्भरतयाऽतिभारयुतं मां वोढुं न क्षमेत, अत एव हेतोर्भगवान् अर्जुनस्य हृदयं विहाय तस्य पुरः प्रकटीबभूवेत्यर्थः । हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५९ ॥

अर्जुनका मन-विश्वम्भर होनेके कारण अतिभारशाली हमारे वहनमें समर्थ नहीं हो सकेगा—क्योंकि मन अणुमात्र होता है, अतः भगवान् अर्जुनके हृदयसे उतर कर उसकी आंखोंके सामने प्रकट हो गये ॥ ५९ ॥

स्वैस्व[3]-चेष्टाकथानद्या द्वितीयर्तुगुणज्ञया ।

---

१. 'मन्मथे' । २. 'अप्यवरुह्य' । ३. 'स्वस्य चेष्टा' । इति पा० ।

न बभूवे तयोस्तत्र नयनानन्दिनोर्मिथः ॥ ६० ॥

स्वस्वेति। तत्र तस्मिन् कृष्णप्रादुर्भावसमये मिथः परस्परं नयनानन्दिनोः अन्योन्यप्रीतिजनकविलोकनयोः तयोः कृष्णार्जुनयोः स्वस्वचेष्टाकथानद्या स्वस्ववृत्तान्तकथनरूपया नद्या द्वितीयर्त्तोः ग्रीष्मस्य गुणः संक्षेपः (शोषरूपः) तज्ज्ञया तज्ज्ञानशालिन्या न बभूवे न जातं तयोः परस्परस्नेहिनोरन्योन्यस्य पुरः स्वस्ववृत्तान्तव्याहारनदी ग्रीष्मर्त्तुगुणं संक्षेपरूपं न वेत्ति स्म अन्योन्यकथासंक्षेपो नाभूदित्यर्थः। 'लङ्कानगर्यामुदयाच्चभानोस्तस्यैववारे प्रथमं बभूव मधौ' इत्यादिभास्कराचार्योक्तिदिशा वसन्ते सृष्ट्यादिस्मरणेन ग्रीष्मर्त्तोर्द्वितीयर्त्तुरूपता बोध्या ॥ ६० ॥

भगवान् तथा अर्जुन एक दूसरेको देखकर खुश हो रहे थे, वे अपनी अपनी कथा कहते जा रहे थे, उनकी कथारूपा नदी द्वितीय ऋतु–ग्रीष्मऋतुका गुण शोष या संक्षिप्त होना नहीं ग्रहण कर रही थी, उन दोनोंका प्रीत्यालाप शीघ्र समाप्त नहीं हो रहा था ॥६०॥

विजयो मधुरस्मितस्य भावं विदुषस्तस्य मतेन भिक्षुवेषः।
कुसुमास्त्रभयादिवातिगूढः कुहरे रैवतकस्य तिष्ठति स्म ॥ ६१ ॥

विजय इति। विजयः अर्जुनः भावं विदुषः अर्जुनमनोभावं जानतस्तस्य मधुरस्मितस्य साकूतमधुरहासभृतः श्रीकृष्णस्य मतेन सम्मत्या भिक्षुवेषः सन्न्यासिवेषधारी कुसुमास्त्रभयात् कामशरभीतेरिव अतिगूढः प्रच्छन्नः सन् रैवतकस्य तदाख्यपर्वतस्य कुहरे गुहागृहे तिष्ठतिस्म। संन्यासिवेषधारी विजयो भावं ज्ञात्वा हसतो भगवतः सम्मतिमादाय रैवतकपर्वतस्य कुहरेऽतिष्ठत्, मन्ये स कामास्त्रभयादात्मानं गोपायितुमिव तां विजनां स्थलीं स्वावासभूमीचकारेत्याशयः। उत्प्रेक्षा स्फुटा ॥६१॥

अर्जुनके मनोभावको समझकर सअभिप्राय मुस्कुराते हुए भगवान् कृष्णकी सम्मतिसे भिक्षुवेष अर्जुन उस रैवतकके कुहर–गुहागृहमें छिपकर रहने लगे, मानों वे कामास्त्रके भयसे छिपकर एकान्तमें रहते हों ॥ ६१ ॥

कथं सुभद्राकमनीयतायाः कल्पेत नुत्यै कविरुन्नतोऽपि।
चतुर्थमप्याश्रममस्य येन तां साधनीभूय दिदृक्षते स्म ॥ ६२ ॥

कथमिति। उन्नतः स्वकविताग़ुणेन प्रतिष्ठां प्राप्तोऽपि कविः कवितानिर्माणपरः सुभद्राकमनीयतायाः सुभद्रासौन्दर्यस्य नुत्यै प्रशंसायै कल्पेत क्षमः स्यात्, येन यतः (आश्रमेषु ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थसन्न्यासनामकेषु) चतुर्थम् अपि आश्रमम् अस्य अर्जुनस्य साधनीभूय सुभद्राप्राप्त्युपायरूपतामवलम्ब्य तां सुभद्रां दिदृक्षतेस्म द्रष्टुमिच्छतिस्म। यस्या दर्शनाय निवृत्तिभित्तिकश्चतुर्थः सन्न्यासाश्रमोऽपि अर्जुनस्य साधनीभूय स्पृहयति तद्रूपप्रशंसाकविभिरसाध्यैवेत्यर्थः। अनेन सन्न्यासाश्रमस्यापि रूपदर्शनस्पृहाकथनेन तत्सौन्दर्यस्यालौकिकत्वं व्यञ्जितम्। 'आश्रमोऽस्त्री' इति कथनादाश्रमशब्दोऽत्र क्लीवतया प्रयुक्तो वेद्यः ॥ ६२ ॥

ख्याति प्राप्त कवि भी सुभद्राकी सुन्दरताके वर्णनमें किस प्रकार समर्थ हो सकता है? जब कि चतुर्थ आश्रम सन्न्यास भी अर्जुनका साधन बनकर सुभद्राको देखनेकी इच्छा कर रहा है, जिस रूपका जादू निवृत्तिप्रधान सन्न्यास पर भी चल गया, भला उसके वर्णनमें कोई कवि किस प्रकार सफलता प्राप्त करेगा ॥ ६२ ॥

तदात्व एवाद्रितटात्पतिः श्रियः परिप्लवं तं प्रकृते शुभागमे ।
यदाशये ते शय एव तद्भवेदिति ब्रुवन्द्वारवतीं पुनर्ययौ ॥ ६३ ॥

तदात्व इति । श्रियो रुक्मिणीरूपाया लक्ष्म्याः पतिः श्रीकृष्णः प्रकृते तस्मिन् शुभागमे सुभद्रापाणिग्रहणरूपकल्याणाधिगतौ परिप्लवम् अधीरमानसम् स्याद्वा नस्यादितिसन्दिहानमानसमित्यर्थः यत् ते आशये अभिप्राये (मनसि) तत् (सुभद्रारूपं प्रियं वस्तु) ते तव अर्जुनस्य शये करे भवेदेवेति ब्रुवन् कथयन् पुनः अद्रितटात् रैवतकनामकतत्पर्वतात् द्वारवतीं नाम निजपुरीं तदात्वे तत्काले ययौ गतः । अर्जुनं समाश्वास्य तदिष्टसम्पादनौपयिकं विधिं सम्पादयितुं श्रीकृष्णो द्वारकां प्रस्थित इत्यर्थः । 'छन्दोऽभिप्राय आशयः' 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्युभयत्रामरः ॥ ६३ ॥

रुक्मिणी रूपा लक्ष्मीके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने सुभद्रा प्राप्तिके संबन्धमें सन्दिग्धचित्त अर्जुनसे कहा कि आपके मनमें जो बात है वह शीघ्र आपके हाथमें होगी, अर्थात् आपका इष्ट सिद्ध होगा, ऐसा कहकर वे रैवतकके तटसे उसी समय पुनः द्वारका चले गये ॥ ६३ ॥

तदनन्तरमहस्करमदतस्करमहा[1] महान्मस्करी रैवतकं गिरिमुपस्कुरुते[2] तस्य नमस्करणमस्माकं श्रेयस्करणमिति पुरोधोजनबोधनात्कुतूहलिना हलिना नगरमानीयमानं बहिरपि ज्वलता विरहानलज्वालेनेव काषायवाससावगुण्ठितवपुषं सव्यसाचिशब्दमत्सरेण स्मरवीरेण प्रवासरन्ध्रमन्वीक्ष्य[3] पन्नगपाण्डव्ययदुकुमारिकाणां कृते पृथगीरितां[4] त्रिशरकाण्डीमिव त्रिदण्डीं बिभ्राणं निजपल्लवकोमलिमनिर्जयशोकादिव शुष्केण पटीरदारुणा[5] पादुकीभूय परिचर्यमाणपादयुगलं[6] तं कुहनाभिक्षुं[7] संभ्रमेण वन्दमानेषु यदुवृन्देषु मुकुन्दोऽपि सविनयमुपागतश्चेतःपूरणावशिष्टैः[8] स्वसोदरीप्रेमरसैरिव तीर्थजलैः[9] पिचण्डिलं कमण्डलुं तदीयपाणेरादाय 'भगवन्! इत[10] इत एहि' इति राजभवनमुपनीय कन्य[11]कान्तःपुरे निवेशयामास ।

---

१. 'मह्न'। २. 'रैवतकगिरेः'। ३. 'अन्विष्य'। ४. 'पृथक्पृथक्'। ५. 'तरुणा'। ६. 'युगं'। ७. 'भावनाभिक्षुम्'। ८. 'अवशेषैः'। ९. 'जलैः पूरितं'। १०. 'इत इत इति'। ११. 'कन्यान्तःपुरे'। इति पा०।

तदनन्तरमिति। तदनन्तरम् हरेर्द्वारकागमनानन्तरम् अहस्करस्य सूर्यस्य यो मदस्तेजस्वितादर्पस्तस्य तस्करमपहर्तृमहस्तेजो यस्य तादृशस्तथोक्तः सूर्यादप्यधिकतेजाः महान् श्रेष्ठः मस्करीपरिव्राजकः रैवतकं नाम गिरिम् पर्वतम् उपस्कुरुते अलङ्करोति, रैवतकगिरिसमीपे तिष्ठति, तस्य परिव्राजकस्य नमस्करणं प्रणतिः अस्माकं यादवानाम् श्रेयस्करणम् इष्टसाधनमिति पुरोधोजनबोधनात् पुरोहितवचनात् कुतूहलिना तत्परिव्राजकनमस्करणादिष्वुतोत्कण्ठेन हलिना बलरामेण नगरम् द्वारकापुरं नीयमानं प्राप्यमाणम्, बहिरपि (हृदये का कथा ?।) ज्वलता दीप्यमानेन विरहानलज्वालेन सुभद्रावियोगानलप्रकाशेन इव काषायवाससा कषायरागरञ्जितसन्न्यासिधार्यवस्त्रेण अवगुण्ठितवपुषम् वेष्टितदेहम्, सव्येन साची बाणप्रयोक्ता सव्यसाची स एव शब्दो बोधको यस्य स सव्यसाची तच्छब्दमत्सरेण तच्छब्दवाच्यताप्रसूतेर्ष्यया स्मरवीरेण कामदेवेन प्रवासरन्ध्रम् प्रवासरूपम् प्रहारावकाशम् अन्वीक्ष्य विचार्यपन्नगकुमारिका उलूपी, पाण्ड्यकुमारिका चित्राङ्गदा, यदुकुमारिका सुभद्रा तासां कृते तासां विषये पृथक् प्रत्येकम् ईरितां प्रयुक्ताम् त्रिशरकाण्डीम् बाणकाण्डत्रयीम् इव त्रिदण्डीं वैष्णवयष्टित्रयं बिभ्राणं धारयन्तम्, निजपल्लवस्य चन्दनतरुकिसलयस्य यः कोमलिमा मार्दवं तस्य निर्जयः (अर्जुनपदाकृतः पराजयः) ततः शोकात् खेदात् इव शुष्केण पटीरदारुणा चन्दनकाष्ठेन पादुकीभूय चरणपादुकाभावमवाप्य परिचर्यमाणपादयुगलम् चरणयोः सेव्यमानम् तं कुहनाभिक्षुम् मायासन्न्यासिनम् अर्जुनम् यदुवृंदेषु यादवगणेषु संभ्रमेण त्वरया वन्दमानेषु नमस्कुर्वत्सु सत्सु मुकुन्दः श्रीकृष्णोऽपि सविनयम् नम्रभावेन उपागतः सन्न्यासिनोऽर्जुनस्य समीपमायातः, चेतःपूरणावशिष्टैः हृदयं पूरयित्वोर्वरितैः स्वसोदरीप्रेमरसैः सुभद्राप्रीतिरसैः इव तीर्थजलैः तत्तत्तीर्थोपहृताभिरद्भिः पिचण्डिलं पूर्णं कमण्डलुम् तदीयपाणेः अर्जुनकरात् आदाय गृहीत्वा भगवन्, इत इतः अस्यां दिशि एहि आगच्छ इति एवंप्रकारेण राजभवनं राजप्रासादम् उपनीय प्रापय्य कन्यकान्तःपुरे कन्यकाध्युषितेऽवरोधे निवेशयामास प्रवेशं कारितवान्। तदनन्तरं सूर्यादप्यधिकतेजस्वी कोऽपि सन्न्यासी रैवतके तिष्ठति स प्रणम्य इति पुरोहितोक्तिं प्रमाणीकृत्य तद्दर्शनोत्कण्ठितो बलरामस्तं नगरमनैषीत् तस्य सन्न्यासिनः शरीरे काषायं वसनं वर्त्ततेस्म तद्धृदयेऽभिमानो वियोगवह्निज्वाल इव प्रतीयतेस्म, तस्य करे दण्डत्रयी तिष्ठतिस्म, मन्ये सा तस्योपरि प्रहृता उलूपीचित्राङ्गदासुभद्राविषये कामस्य शरत्रयी सा, तदीयपादयोश्चन्दनकाष्ठपादुकावर्त्तत सा तथा प्रतीयतेस्म यथास्य पादेन कोमलतया चन्दनकाष्ठमजीयत, तदेव निजपराजयजनितखेदेन शुष्कीभूयास्य पराजेतुश्चरणौ परिचरति, तादृशं त कपटसन्न्यासिनमर्जुनं यदवः प्रणेमुः, तदैव कृष्णस्तत्रागतः, स तदीयकरतः कमण्डलुमादात्, स हि हृदयं पूरयित्वाऽवशिष्यमाणैः प्रेमजलैरिव तीर्थसलिलैः

पूर्णः प्रतीयतेस्म, कमण्डलुं स्वकरे गृहीत्वा कृष्णस्तं सन्न्यासिवेषमर्जुनं राजप्रासादमानीय कन्यान्तःपुरप्रवेशं कारितवानित्याशयः। उपमा उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ॥

इसके बाद सूर्यके तेजस्वितागर्वको दूर करनेवाला–सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी एक सन्न्यासी यहाँ रैवतकके समीपमें रहता है, उनका नमस्कार हितदायक है, यह बात पुरोहितजनसे सुनकर उन्हें देखनेके लिये उत्सुक बलरामने उनको द्वारकापुरमें बुला लिया, वह सन्न्यासी काषाय वस्त्रसे शरीरको ढके हुए था, वह ऐसा लगता था, मानो भीतरकी तरह बाहर भी सुभद्राविरहकी ज्वाला लिपटी हो, उसके हाथमें जो तीन दण्ड वर्त्तमान थे, वे ऐसे लगते थे, मानो कन्दर्पने अर्जुनके सव्यसाची शब्दसे पुकारे जानेसे मत्सर धारण करके इस प्रवासकालको प्रहारोपयुक्त समय जानकर उसके ऊपर उलूपी चित्राङ्गदा और सुभद्राके लिये अपने तीन बाणोंका प्रहार किया है, उसके पैरोंमें चन्दन की बनी पादुका थी, वह ऐसी लगती थी मानो चरणों द्वारा कोमलतामें पराजित होनेसे सूखा हुआ चन्दनकाष्ठ उसके चरणोंकी शुश्रूषा कर रहा हो, ऐसे कपटसन्न्यासीके पास आकर यादवगण जब उसे प्रणाम कर रहे थे तब भगवान्‌ने वहाँ आकर अर्जुनके हाथसे कमण्डलु ले लिया, वह कमण्डलु हृदयमें न समाते हुए सुभद्राप्रीतिरसस्वरूप तीर्थजलोंसे भरा था, कमण्डलुको अपने हाथोंमें लेकर भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि आइए महाराज, इधर आइए, ऐसा कहकर भगवान्‌ने उन्हें राजप्रासादमें ले जाकर कन्यान्तःपुरमें प्रवेश करा दिया॥

मार्गे शरत्रयममुष्य कृते विमुच्य
शेषं द्वयं पुनरिवोज्झितुमात्तलोभः।
शुश्रूषितुं तदनु सोदरचोदिताया-
स्तन्व्याः स्मरो नयनमेव शरं व्यतानीत्॥ ६४॥

मार्गे इति। तदनु अर्जुनस्य कन्यान्तःपुरे प्रवेशात् परतः स्मरः कामदेवः मार्गे तीर्थवर्त्मनि अमुष्यकृते अर्जुनस्य विषये शरत्रयं बाणपञ्चकमध्ये बाणत्रितयं विमुच्य (उलूपीचित्राङ्गदासुभद्रारूपललनात्रयविषयकानुरागजनने) प्रयुज्य शेषं द्वयं बाणयुगलं पुनः उज्झितुं मोक्तुम् आत्तलोभः धृतेच्छ इव शुश्रूषितुम् अर्जुनं सन्न्यासिनं परिचरितुम् सोदरचोदितायाः कृष्णेन आदिष्टायाः तन्व्याः सुन्दर्याः सुभद्राया नयनं चक्षुरेव शरं बाणं व्यतानीत् कल्पयामास। पञ्चसु बाणेषु त्रीन् बाणान्प्राणान् प्राक् प्रयुक्तवतः कामदेवस्य अवशिष्टं बाणद्वयं परिचर्यायै सन्निहितायाः सुभद्रायां नयनमेवाजायतेत्यर्थः। उत्प्रेक्षया रूपकं सङ्कीर्यते। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ६४॥

इसके बाद कामदेवने जो तीर्थयात्रामें उलूपी, चित्राङ्गदा एवं सुभद्राके विषयमें अर्जुन के ऊपर अपने तीन बाणोंका प्रयोग कर चुका था—सम्प्रति अपने सोदर भाई भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुनकी आराधनामें नियुक्त की गई सुभद्राके नयनको ही अपना अवशिष्ट

बाण बनाया ; पहले तीन बाण छोड़ ही चुका था, शेष दो बाणके रूपमें उसने सुभद्राके नयन ही प्रयुक्त किये ॥ ६४ ॥

वपुषा मधुरेण सुभ्रुवो[1] धनुषा चित्तभुवश्च[2] तर्जितः ।
तपसेव दिने दिने तनोस्तनिमानं जगृहे स मस्करी ॥ ६५ ॥

वपुषेति । स मस्करी कपटसन्न्यासी मधुरेण कोमलेन सुभ्रुवः सुन्दर्याः सुभद्रायाः वपुषा शरीरेण चित्तभुवः मनोजस्य मधुरेण पुष्पभवत्वात् मधुयुक्तेन धनुषा च तर्जितः सन्तापितः सन् तपसा तपस्यया इव दिने दिने अनुदिनं तनोस्तनिमानं कृशतां जगृहे प्राप्तवान् । कामपीडया जायमानं कार्श्यं तपःप्रभवत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । सेयं पञ्चमी कृशता नाम मन्मथावस्थोक्ता ॥ ६५ ॥

सुभद्राके मधुर-सुन्दर शरीर एवं कामदेवके मधुरसयुक्त पुष्प निर्मित बाणसे सन्तापित वह कपट सन्न्यासी अर्जुन दिनानुदिन दुर्बल हुआ जा रहा था, ऐसा लगता था मानो वह तपस्या ही से दुर्बल हुआ जा रहा हो ॥ ६५ ॥

प्रतिनिःश्वसिते दीर्घे पाणिना नासिकां स्पृशन् ।
भावयामास पार्थोऽयं प्राणायामसमापनम् ॥ ६६ ॥

प्रतीति । अयं पार्थः दीर्घे प्रतिनिःश्वसिते निःश्वासे पाणिना हस्तेन नासिकां स्पृशन् आमृशन् प्राणायामस्य वायुनिरोधस्य समापनम् अवसानं भावयामास बोधयामास । सुभद्रावियोगजं निःश्वासमन्योविद्यादिति तं गोपयितुमयं पार्थः पाणिना नासाग्रं स्पृष्ट्वा प्राणायामसमाप्तौ ममायं श्वासस्त्यज्यते नायं वियोगजो निश्वास इति लोकान्वञ्चयामासेत्यर्थः । तुलनार्थं द्रश्यतां नैषधीये—'मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्' इति । अत्र युक्तिर्नामालङ्कारस्तल्लक्षणमुक्तं यथा—'युक्तिः परातिसंधानं क्रियया मर्म गुप्तये' इति ॥६६॥

जब अर्जुनको सुभद्रा वियोगमें दीर्घ निःश्वास निकल पड़ता था तब वे हाथसे नाकका अग्रिम भाग छू कर यह बतानेका प्रयास करने लगते थे कि मैं प्राणायाम समाप्त करके श्वास छोड़ रहा हूँ, यह निःश्वास नहीं है, इस प्रकारसे वे भाव गोपन करते थे ॥ ६६ ॥

प्रणवोच्चरणे पुरः प्रसर्पन्[3]प्रबभासे यतिनस्तदाधरोष्ठः[4] ।
मुहुरग्रगतावनीन्द्रपुत्रीमुखमास्वादयितुं किलोज्झिहानः[5] ॥ ६७ ॥

प्रणवोच्चरण इति । तदा कपटयतिवेषधारणसमये प्रणवोच्चारणे ओङ्कारोच्चारणवेलायाम् पुरः प्रसर्पन् यतिनः अर्जुनस्याधरोष्ठः किल अग्रतायाः पुरःस्थितायाः अवनीन्द्रसुत्र्याः राजकुमार्याः सुभद्रायाः मुखम् आस्वादयितुम् अधरम् पातुम्

१. 'सुभ्रुवा' । २. 'चित्तभुवा' । ३. 'प्रसर्पत' । ४. 'अधरोष्ठम्' ।
५. 'उज्झिहानम्' इति पा० ।

मुहुः भूयोभूयः उज्जिहानः चलन् इव प्रवभासे प्रतीयते स्म। अयमाशयः—यति-वेषधारी पार्थो यदौङ्कारमुच्चारयति तदौष्ठ्यवर्णौकारोच्चारणकाले तदोष्ठः पुरश्चलति, मन्ये स सुभद्राधरपिपासयैव परिस्फुरतीति। स्वरूपोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। उत्पूर्वकाञ्जिहातेः शानचि उज्जिहानपदम्॥ ६७॥

यतिवेषधारी अर्जुन जब ओंकारका उच्चारण करते थे तब ओष्ठ्य वर्ण ओंकारके उच्चारणमें उनका ओठ आगेकी ओर चलता हुआ सा दीखता था, वह ऐसा लगता था, मानो आगे में बैठी हुई राजकुमारी सुभद्राके ओठका पान करना चाहता हो॥ ६७॥

कन्याकरे मृद्नति पादपद्मं पुष्यन्ति गात्रे पुलकाङ्कुराणि।
हरे हरे माधव माधवेति हरिस्मृतेरन्यथयांचकार॥ ६८॥

कन्याकरे इति। सः पार्थः कन्यायाः सुभद्रायाः करे पादयुग्मम् अर्जुनचरणद्वयं मृद्नति संवाहयति सति (अर्जुनपादयुगलं मर्दयति सति) पुष्यन्ति जायमानानि गात्रे स्वदेहे पुलकाङ्कुराणि रोमाञ्चविकारान् हरे हरे माधव माधव इति एवं हरिस्मृतेः भगवत्स्मरणरूपव्याजात् अन्यथयाञ्चकार गोपयति स्म। अयमाशयः—सुभद्रा यदाऽर्जुनस्य पादौ मर्दयति तदा कपटसंन्यासिनस्तस्य रोमाञ्चा उद्गच्छन्ति, भवन्तममुं रोमाञ्चोदयं लोको ज्ञात्वा मां लम्पटं मा ज्ञासीदिति मनसि कृत्यार्जुनस्तदा हरे हरे माधवेत्युच्चारयन् रोमाञ्चोऽयं भगवत्स्मरणजन्येति गोपनं कृतवान् इति। युक्तिरलङ्कारः॥ ६८॥

जब सुभद्रा यतिवेषधारी अर्जुनके चरणोंको दवाने बैठती थी, तब सात्त्विकभावके उदित होनेसे अर्जुनके रोमाञ्च हो आये, अर्जुनने देखा कि इन रोमाञ्चोंको देखकर लोग मुझे लम्पट नहीं कहीं समझने लग जाँय, अतः उसने हरे हरे माधव माधव कहकर यह रोमाञ्च भगवत्स्मरणजन्य है, कामजन्य नहीं यह बताकर अन्यथाभाव द्वारा गोपन कर दिया॥ ६८॥

एकदा निर्वर्त्य प्रत्यवसानकृत्यं प्रतिक्षणमिक्षुचापक्षुरप्रसंतक्षणेन समन्तात्पतितैः सत्त्वगुणशकलैरिव स्वेदबिन्दुभिर्व्याकीर्णां चामूरवीं त्वचमध्यास्य विश्राम्यन्तं तं कुहनासंन्यासिनं धवित्रेण वीजयन्ती सुभद्रा तैस्तैरिङ्गितैर्यतित्वे संशय्य तस्य तत्त्वजिज्ञासया सविनयमनुरहसि व्यजिज्ञपत्॥

एकदेति। एकदा एकस्मिन्समये प्रत्यवसानकृत्यम् भोजनरूपं कार्यं निर्वर्त्य

१. 'पुष्यत्सु'। २. 'पुलकाङ्कुराणि'। ३. 'प्रसंधुक्षणेन'। ४. 'श्वेत'। ५. 'विश्राम्यन्तं धवित्रेण'। ६. 'तैस्तैरिङ्गितैर्यतित्वे संशय्य तत्त्व'। इति पा०।

समाप्य प्रतिक्षणं सततं इक्षुचापक्षुरप्रसन्नक्षणेन कामबाणकृतभेदनेन समन्तात् पतितैः समन्ततो विकीर्यमाणैः सत्त्वगुणशकलैः सत्त्वगुणस्य खण्डैरिव स्वेदबिन्दुभिः घर्मजलैः व्याकीर्णां व्याप्तां चामूरवीं मृगसम्बन्धिनीं त्वचं चर्म अध्यास्य उपविश्य विश्राम्यन्तम् श्रममपनुदन्तं कुहनासन्न्यासिनम् मायायतिवेषधारिणम् तम् अर्जुनम् धवित्रेण मृगचर्मव्यजनेन वीजयन्ती वायुं चालयन्ती सुभद्रा तैस्तैः कामविक्रियापूर्णैः इङ्गितैः अर्जुनस्य चेष्टाभिः (तस्य) यतित्वे संन्यासिभावे संशय्य संदेहमासाद्य तस्य तत्त्वजिज्ञासया याथार्थ्यं ज्ञातुम् सविनयं नम्रभावेन अनुरहसि एकान्ते व्यजिज्ञपत् अर्जुनं सूचितवती। एकदाऽर्जुनः कृतभोजनतया स्वस्थो भूत्वा मृगचर्मण्युपविश्य विश्राम्यति स्म, तस्य देहात् स्वेदबिन्दवो निपत्य तदासने विकीर्णा कामेन स्वबाणैर्विदीर्णेभ्यस्तदङ्गेभ्यः पतिताः सत्त्वगुणकणा इव प्रतीयन्ते स्म। सा तदङ्गितैस्तस्य यतित्वे समदिग्ध, सा तत्त्वं ज्ञातुं तमेकान्तेऽकथयदित्याशयः। 'प्रत्यवसानं भोजनमभ्यवहारश्च जग्धिश्च' इति हलायुधः। 'धवित्रं व्यजनं तद्यद्रचितं मृगचर्मणा' इत्यमरः॥

एक समयमें भोजनादिकृत्य सम्पन्न करके अर्जुनरूप यति मृगचर्मासनपर बैठकर विश्राम कर रहे थे, प्रतिक्षण कामदेवके बाणों द्वारा प्रहारके होते रहनेसे शरीरके छिद जानेसे बिखरे हुए सत्त्वगुणखण्डकी तरह पसीनेकी बूदें आसनपर बिखरी पड़ी थी, सुभद्रा मृगचर्मनिर्मितव्यजनसे धीरे धीरे हवा कर रही थी, सुभद्राको अर्जुनकी कामचेष्टाओंसे सन्देह हुआ कि यह वास्तव सन्यासी नहीं है, उसने यथार्थता ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें अर्जुनसे इस प्रकार निवेदन किया॥

तपस्विन्नद्य मे प्रीतिस्तवाभ्यागमसंभवा।
कन्यामौनावकीर्णित्वे कल्पशाखाशिखायते॥ ६९॥

तपस्विन्निति। हे तपस्विन् यतिवर, तवाभ्यागमसंभवा त्वदागमनजन्या मे मम प्रीतिः प्रसन्नता कन्यामौनावकीर्णित्वे कन्याजनोचितसंलापनियमभङ्गे कल्पशाखाशिखायते कल्पतरुशाखाग्रभागवदाचरति बहुसंलापेच्छां जनयति। भवदागमनजन्यो हर्षः कन्यामपि मामप्रष्टव्यविषयकप्रश्नकरणे व्यापारयतीत्यर्थः। 'अवकीर्णीक्षतव्रतः' इत्यमरः॥ ६९॥

हे यतिवर, आपके आगमनसे मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ है वही मेरे हृदयमें कन्याजनोचित मौनव्रतको भङ्ग करनेके लिये अधिक इच्छा उत्पन्न कर रहा है। आपके आगमनसे मुझे इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ है कि मैं कन्याजनके लिये अपेक्षित मौनका भङ्ग करनेकी इच्छा करने लगी हूँ, कुछ पूछना चाहती हूँ॥ ६९॥

इदानीममी,—

इदानीम् इति। इदानीम् भवदागमनसमये, अमी—यादवाः।

आपके आनेपर यह यादवगण :

यदवः खलु पुण्यराशयो यतिनामिन्द्र ! तवाङ्घ्रिसंसेवनात् ।
शिरसैकमवाप्य यद्रजो मनसान्यत्परिवर्ज्यते च यैः ॥ ७० ॥

यदव इति । हे यतिनामिन्द्र यतिश्रेष्ठ, तवाङ्घ्रिसेवनात् भवदीय चरणसेवावसरलाभात् यदवः यादवाः खलु निश्चयेन पुण्यराशयः शरीरिणः पुण्यसङ्घा इव जाता इत्यर्थः, यत् यस्मात् एकं भवत्पादोत्थं रजः परागम् शिरसा स्वमस्तकेन अवाप्य प्राप्य यैः यदुभिः अन्यत् स्वहृदयस्थितं रजः वासनासञ्जातो रजोगुणः मनसा हृदयेन परिवर्ज्यते त्यज्यते । भवदागमेन भवत्पादभवं रजः शिरसा गृह्णन्तो निजहृदयगतं रजो जहतोऽमी यादवाः सातिशयपुण्यभाजो जाता इत्याशयः । एकरजोधारणं पररजो निरासकारणत्वेनोक्तमिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । 'रजः स्यादार्त्तवे रेणौ परागगुणयोरपि' इति विश्वः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७० ॥

हे यतिवर, आपके चरणोंकी सेवाका अवसर पानेसे यादवलोग अतिपुण्यशाली हो गये हैं, क्योंकि उन लोगोंने एक रज आपका चरणरज पाकर–दूसरा रज–अपने हृदयका रजोगुणप्रभव कामादिविकार छोड़ दिया है। आपके चरणोंकी वन्दनासे यादवोंका मानसिक विकार शान्त होगया है, अतः आपका आगमन उनको पुण्यभागी बना दिया है ॥७०॥

भगवन्नखिलं विबुध्यसे परमार्थं वद भावि मे शुभम् ।
प्रयता यतयो भवद्विधाः प्रणिधानेन हि दिव्यचक्षुषः ॥ ७१ ॥

भगवन्निति । हे भगवन् सामर्थ्यशालिन् , अखिलम् समस्तम् भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपं वस्तु विबुध्यसे जानासि, अतः मे मम भावि भविष्यत् शुभं कल्याणं यथार्थं वस्तुतः सत्यसत्यं वद कथय । हि यतः प्रयताः संयमपरायणाः भवद्विधाः त्वादृशाः दिव्यदृष्टयो यतयः योगिनः प्रणिधानेन समाधिना दिव्यचक्षुषः व्यवहिताव्यवहितजाताजातसकलवस्तुदर्शनयना भवन्ति । यतो भवादृशायतयः सर्वज्ञा भवन्ति, अतस्त्वमपि सर्वं वेत्सि, तेन मदीयं भविष्यच्छुभं मह्यं कथयेति भावः ॥७१॥

हे यतिराज, आप भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब जानते हैं, अतः हमारा भविष्य शुभ यथार्थरूपमें मुझे बता दें, आपके सदृश योगी समाधिके द्वारा दिव्यचक्षु हुआ करते हैं। आप समाधिके द्वारा सब जान सकते हैं, अतः कृपा करके मुझे बतावें कि हमारा भविष्य शुभ क्या कैसा है ॥ ७१ ॥

अवकर्ण्य तदेष मीलितः क्षणमक्ष्णोः प्रतिवाचमाददे ।
बहुना किमयि ! स्वकैर्गुणैर्विजयं प्राप्स्यसि योषितां कुले ॥ ७२ ॥

अवकर्ण्येति । एषः कपटसन्न्यास्यर्जुनः तत् सुभद्रावचनम् अवकर्ण्य श्रुत्वा क्षणम्

---

१. 'संगमे' । २. 'शिरसान्यदवाप्यसे रजो' । इति पा० ।

किञ्चित्कालपर्यन्तम् मीलितः पिहितदृष्टिः (प्रणिधानं करोमीति बोधयितुं मुद्रित-नयनः) अयि सुभद्रे, बहुना उक्तेन अधिककथनेन किम् ? नास्ति बहूक्तेन फलम् स्वकैः निजैः गुणैः शीलसौन्दर्यादिभिः योषितां कुले स्त्रीवर्गे विजयं सर्वोत्कर्षं प्राप्स्यसि लप्स्यसे। अर्जुनं नाम विजयं प्राप्स्यसीति च ध्वन्यते। 'विजयस्तु पार्थे' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

उस कपटसन्न्यासी अर्जुनने सुभद्राकी बातें सुनकर कुछ देरके लिये समाधि करनेका अभिनय करनेके लिये आंखें मूंद लीं, अनन्तर उत्तर दिया कि अयि सुभद्रे, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, तुम अपने शीलसौन्दर्यादिगुणोंसे ही स्त्रियोंके बीच विजय सर्वाधिक उत्कर्ष प्राप्त करोगी, विजय अर्जुनको प्राप्त करोगी यह अर्थ भी ध्वनित होता है ॥ ७२ ॥

पादाङ्गुष्ठनखं यस्ते फाले कुर्याद्विशेषकम् ।
स नरोऽपि स्मरेणार्तः सद्यः स्यादामिषं दृशोः ॥ ७३ ॥

पादाङ्गुष्ठेति। यः नरः ते तव सुभद्रायाः पादाङ्गुष्ठनखं चरणाङ्गुष्ठनखरं फाले स्वशिरसि विशेषकं तिलकं कुर्यात्, यो मनुष्यः प्रणयकुपितायास्तव प्रसादनाय त्वत्पदयोः प्रणमन् त्वच्चरणनखं स्वशिरसो भूषणभावं प्रापयेत्, सः स्मरेणार्त्तः काम-पीडितः नरः पुरुषः (अर्जुनश्च) ते दृशोः नयनयोः सद्यः तत्काल एव आमिषं भोग्यं विषयः स्यात् भवेत्। यस्ते प्रियस्तव मानमपसारयितुं तव चरणयोः प्रणंस्यति स नरः शीघ्रमेव त्वया दृश्येत, अचिरेणैव त्वया प्रियः प्राप्येतेत्यर्थः, तव चरणयोः त्वां प्रसादयितु कामोऽर्जुनस्त्वयाऽचिरेणैव द्रक्ष्यत इत्यपि ध्वन्यते। 'नरोऽर्जुने मनुष्येऽपि' इति हलायुधः ॥ ७३ ॥

जो नर मनुष्य (तथा अर्जुन) मानावस्थामें तुम्हारे चरणोंमें प्रणत होकर तुम्हारे चरणाङ्गुष्ठ नखसे अपने शिरको तिलकित करेगा तुम्हारे चरणोंमें प्रणत होकर तुम्हें मनावेगा, वह नर (अर्जुन) भी शीघ्र ही तुम्हारी आंखोंके समक्ष उपस्थित होगा, तुम्हारी आंखोंका आमिष-विषय-भोग्य वस्तु बनेगा ॥ ७३ ॥

इति सा तस्य वक्रिमस्पृशा वचसा श्रवसा च विश्रुतपूर्वैस्तैस्तैर्लक्षणैः सोऽयं संक्रन्दननन्दन इति निश्चयमणिं हृदयपेटिकापुटे निधाय 'भगवन् ! भवदभिहितयोर्विजय-नरशब्दयोः क्रमेण धर्मिपरता च विशेषनामता च तव कृपया भविता' इति तस्मै व्रीडतरलतरनयनं वदनं भवनमन्ती तस्थे ॥

१. 'भाले'। २. 'निपीतपूर्वैः'। ३. 'लक्षणैश्च'। ४. 'अयं यतिः'। ५. 'पेटक'। ६. 'शब्दयोर्धर्मिपरता विशेष'। ७. 'नामपरता'। ८. 'भवेत्'। ९. 'तरल नयनं'। १०. 'अवनमयन्ती'। इति पा०।

इतीति। इति उक्तप्रकारेण वक्रिमस्पृशा कौटिल्यपूर्णेन तस्य कपटसन्न्यासिनोऽर्जुनस्य वचसा (श्लेषपूर्णेन भाषणेन) श्रवसा कर्णेन विश्रुतपूर्वैः दूतवन्दीसखीमुखात् आकर्णितचरैस्तैस्तैर्दीर्घबाहुत्वपङ्कजनयनत्वसुरेखमुखत्वादिभिर्लक्षणैः सा सुभद्रा सोऽयं संक्रन्दननन्दनः इन्द्रपुत्रः अर्जुन इति निश्चयमणिं निर्णयरूपं मूल्यवद्रत्नं हृदयपेटिकापुटे हृदयरूपमञ्जूषाभ्यन्तरे निधाय स्थापयित्वा—भगवन्, महाराज, भवदभिहितयोः पूर्वतनपद्यद्वये भवतोच्चारितयोः विजयनरशब्दयोः क्रमेण आनुपूर्व्येण धर्मिपरता विशिष्टव्यक्तिवाचकता (विजयशब्दस्य धर्मपरत्वं विहाय धर्मिबोधकता) विशेषनामता (नरशब्दस्य सामान्यपुंमात्राभिधायित्वव्युदासने) विशिष्य कस्यापि पुंसो वाचकता च तव कृपया भविता भविष्यति (त्वत्कृपया ममकृते विजयशब्दो व्यक्तिविशेषवाची, नरशब्दोऽपि कस्यचनैकस्य वाची सम्पत्स्यते) इति एवं सव्रीडतरलतरनयनं लज्जया चञ्चलदृष्टिकं यथास्यात्तथा वदनम् मुखम् अवनमन्ती नीचैः कुर्वती तस्थे। एवमभिदधाना सा लज्जानतमुखी-जातेत्यर्थः।

इस प्रकार ध्वनिपूर्ण उनके वचनको सुननेसे तथा पहले सुने गये उनके तत्तद्गुणोंसे मिलान करके सुभद्राने यह वही इन्द्रपुत्र अर्जुन हैं ऐसा निश्चय कर लिया, इस प्रकारके निश्चयरूप रत्नको अपने हृदयरूप पेटीके खलमें रख लिया, और कहा—महाराज, आपने जो अपने कथनमें विजय और नर शब्द कहे हैं, वे क्रमशः धर्मिवाचक तथा खास व्यक्तिके वाचक भी मेरे लिये आपकी कृपासे हो ही जायेंगे, ऐसा कहकर अर्जुनके सामने लज्जासे चञ्चल नयन मुख झुकाकर बैठी रही॥

यमेवमुद्दिश्य तवोक्तिभङ्गी स एष दासोऽस्म्यनुकम्पनीयः।
इति प्रकाश्य क्षणमर्जुनत्वं चुचुम्ब तां चोरयतिः कपोले॥ ७४॥

यमिति। ततः हे सुन्दरि, यम् अर्जुनमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य एवम् उक्तप्रकारा तव उक्तीनां वचनानां भङ्गी प्रकारो रीतिः (प्रकटी भवति, यं लक्ष्यीकृत्य त्वमेवं व्यङ्ग्येनाभिदधासि, सः अनुकम्पनीयः दयनीयः तव दासः सदानुकूलाचारी एषः अर्जुनः अहमस्मि, इति एवम् अर्जुनत्वं प्रकाश्य कपटयतित्वं निराकृत्य स्वमर्जुनं घोषयित्वा चोरयतिः छद्मसन्न्यासी सोऽर्जुनस्तां सुभद्रां कपोले गण्डस्थले क्षणं सकृत् चुचुम्ब चुम्बितवान्। वंशस्थं वृत्तम्॥ ७४॥

जिसको लक्ष्य बनाकर तुम इस प्रकार वचनभङ्गीका प्रयोग कर रही हो, वह तुम्हारा दास मैं अर्जुन यही हूँ। इस तरह अपना अर्जुनरूपत्व प्रकाशित करके कपट सन्न्यासी अर्जुनने सुभद्राके गाल चूम लिये॥ ७४॥

स्वेदाम्बुपूरभरिते सुदृशस्तदास्याः[1] क्षेत्रे स्वकिंशुकशिलीमुखसीरकृष्टे।

१. 'तु तस्याः'। इति पा०।

पुष्पास्त्रकर्षकवरः पुलकच्छलेन श्रृङ्गारबीजनिकरान्निबिडानवाप्सीत् ॥७५॥

स्वेदाम्बुपूरेति। तदा चुम्बनकाले पुष्पास्त्रकर्षकवरः कामदेवरूपो निपुणः कृषकः स्वेदाम्बुपूरभरिते स्वेदजलप्रवाहपूर्णे स्वस्य यः किंशुकशिलीमुखः किंशुकाख्यपुष्पविशेषकृतो बाणः स एव सीरो हलस्तेन कृष्टे विदारिते अस्याः सुभद्रायाः क्षेत्रे शरीरे एव क्षेत्रे केदारे पुलकच्छलेन रोमाञ्चव्याजेन निबिडान् घनान् श्रृङ्गारबीजनिकरान् श्रृङ्गाररसस्य बीजसमूहान् अवाप्सीत् उप्तवान्। यथा कश्चन निपुणः कृषकः पयः पूर्णे सीरकृष्टे च क्षेत्रे बीजं वपति, तथैवायं कामदेवः सुभद्रायाः शरीरे क्षेत्रे स्वेदपयसाऽऽचिते किंशुकाख्यबाणरूपहलेन कृष्टे च रोमाञ्चरूपबीजराशीन् श्रृङ्गाररूपतरुजनकानवाप्सीदित्याशयः। समस्तवस्तुविषयं सावयवं रूपकमलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

पसीनेके जलसे भरे हुए तथा कामदेवके किंशुकबाणरूप हलसे जुते हुए सुभद्राके शरीर रूप खेतमें कामदेवरूप दक्ष किसानने रोमाञ्च व्याजसे खूब अधिक श्रृङ्गारके बीज बो दिये। खेतमें पानी भरा हो, वह हलसे जुता हो, उसमें यदि अधिक बीज डाल दिया जायगा तो ज्यादा उपज होगी, कामदेव हुआ किसान, पसीनेके जलसे पूर्ण तथा कामबाण क्षत सुभद्रा का शरीर हुआ खेत, रोमाञ्च बीज, श्रृङ्गाररस होगी फसल। इस प्रकार इसमें रूपक समस्तवस्तुविषयक सावयव है ॥ ७५ ॥

तस्यामेव वधूमिमां स रजनौ सद्योऽनुकूलां रहः
पाणौकृत्य विलोकितोत्सवभरो द्वाभ्यां हरिभ्यामपि।
पौरेषूभयथा जनेष्वबलतां प्राप्तेषु पार्थस्तया
जाग्रत्सारथिविद्यया सह रथारूढः पुरान्निर्ययौ ॥ ७६ ॥

तस्यामेवेति। तस्यामेव रजनौ रात्रौ अनुकूलाम् प्रणयिनीम् इमां सुभद्रारूपां वधूं पत्नीम् सद्यः शीघ्रं रहसि एकान्ते पाणौ कृत्य वैवाहिकेन विधिनाऽङ्गीकृत्य द्वाभ्याम् अपि हरिभ्याम् इन्द्रोपेन्द्राभ्याम् विलोकितोत्सवभरः दृष्टवैवाहिकोत्सवसमुदयः सः पार्थः पौरेषु द्वारकावासिषु जनेषु लोकेषु उभयथा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्याम् अबलताम् (बलरामस्यान्यत्रगतत्वेन) बलरामरहितत्वम् निर्बलत्वं च प्राप्तेषु सत्सु जाग्रती प्रकाशमाना सारथिविद्या रथचालनचातुरी यस्यास्तया सुभद्रया सह रथारूढः सन् पुरात् द्वारकानगरात् निर्ययौ प्रस्थितः। शीघ्रं तां परिणीय रथचालनचतुरया तया सह द्वारकातोऽर्जुनः प्रतस्थे, बलरामस्यानुपस्थिततया यादवास्तं रोद्धुमपि नापारयन्तीति भावः ॥ ७६ ॥

उसी रातमें अनुकूला सुभद्राके साथ एकान्तमें वैवाहिक विधि सम्पन्न हुआ, दोनों हरि–इन्द्र और उपेन्द्र अर्जुनसुभद्रा विवाहोत्सवके साक्षी रहे, बलराम शम्भु पूजा करनेके लिये द्वीपान्तर गये थे, अतः पुरवासी दोनों प्रकारसे अबल–बलरामरहित तथा शौर्यरहित

हो रहे, रथ चलानेकी कलामें निपुण सुभद्राके साथ रथ पर आरूढ़ होकर अर्जुनने द्वारका पुरसे प्रस्थान कर दिया ॥ ७६ ॥

आकर्ण्येदं जृम्भितानां यदूनां पार्थोद्देशात्क्रोधनत्वस्य जातेः।
ग्लानिं दातुं माधवो माधवोऽभूद्यत्रायत्ता कौरवी सा समृद्धिः ॥ ७७ ॥

आकर्ण्येति। इदं सुभद्राया हरणम् आकर्ण्य श्रुत्वा पार्थोद्देशात् अर्जुनमुद्दिश्य जृम्भितानां युद्धोद्यतानाम् यदूनाम् यादवानाम् क्रोधनत्वस्य कोपस्य जातेः जात्याख्यकुसुमभेदस्य ग्लानिं दातुम् ग्लानतां जनयितुम् (अनुत्साहं कर्त्तुम्) माधवः श्रीकृष्णो माधवो वसन्तोऽभूत्, (वसन्ते जाते म्लयिमानतायाः 'नस्याज्जातीवसन्ते' इत्यादि कविसम्प्रदायसिद्धतया भगवान् यादवानां कोपरूपस्य जातीकुसुमस्य ग्लानौ वसन्तभावं जगामेत्यर्थः) यत्र भगवति कौरवी कुरुवंश्यानाम् सा प्रसिद्धा समृद्धिः आयत्ता स्थिता, यत्र माधवे वसन्ते कौरवी कुरवपुष्पसम्बन्धिनी समृद्धिर्विकासादिरूपाऽऽयत्ता मर्यादिता। इदं सुभद्राहरणवृत्तमाकर्ण्य यद्यपि यादवः पार्थमुद्दिश्य रणायोद्योगं प्रारेभिरे तथापि श्रीकृष्णस्तेपामुद्योगं शिथिलयामास, यथा जातीपुष्पविकासं वसन्तः शिथिलयतीतितात्पर्यम्। शालिनीवृत्तम् ॥ ७७ ॥

इस सुभद्राहरण वृत्तान्तके सुननेसे यादवगण अर्जुनको उद्देश्य करके युद्धके लिये उद्यत हुए परन्तु श्रीकृष्णने उन्हें रोका, उनके कोपरूप जाती पुष्पके विकासमें वसन्त ऋतु का काम किया, जैसे वसन्तसे जातीका विकास रुक जाता है, उसी प्रकार भगवान्के समझानेसे यादवोंका कोप रुक गया, और जैसे वसन्त कुरव पुष्पकी समृद्धिका कारण होता है वैसे ही कृष्ण कुरुवंश-अर्जुनादि की समृद्धिके कारण भी थे ॥ ७७ ॥

रणोत्साहे शान्ते यदुजडिमकीर्तिध्वजलतां
मुहुः स्मारं स्मारं कपटयतितां वलिगतकुचम्।
हसन्त्याः प्रेयस्या दशनरुचिमित्रीकृतयशाः
शताङ्गेनाविक्षत्सुरपतितनूजो निजपुरीम् ॥ ७८ ॥

रणोत्साहेति। सुरपतेः इन्द्रस्य तनूजः पुत्रः अर्जुनः रणोत्साहे यादवानां युद्धोद्योगे शान्ते सति यदुजडिमकीर्त्तिध्वजलतां यदूनां जडिम्नां मूढभावेन या कीर्त्तिः प्रसिद्धिः तस्या ध्वजलताम् तत्प्रख्यापिकाम् (यादव एवंजडा यदीदृशमर्जुनस्य कपटयतित्वं न ज्ञातवन्तः इति प्रख्यापयन्तीम्) कपटयतितां स्वस्य प्रच्छन्नसन्न्यासितां मुहुः वारं वारं स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा वलिगतकुचं चलत्स्तनमण्डलं हसन्त्याः प्रेयस्याः सुभद्रायाः दशनरुचिमित्रीकृतयशाः दन्तकान्तितुलितकीर्त्तिः सन् शताङ्गेन रथेन निजपुरीम् स्वनगरीम् इन्द्रप्रस्थम् अविक्षत् प्रविष्टः। यदवो यदा भगवदनुरोधेन युद्धान्न्यवर्त्तन्त, तदा तेषां कपटयतिकृतवञ्चनया मूढत्वं स्मृत्वा उच्चैर्हसन्त्याः सुभद्राया दन्तकान्त्या समानीभूतयशा अर्जुनोरथे-

नेन्द्रप्रस्थं प्रविष्ट इत्यर्थः, कीर्त्तिध्वजलतामिति रूपकेण सह दशनरुचिमित्रीकृतयशा इति उपमासङ्कीर्यते ॥ ७८ ॥

जब यादवोंका रणोत्साह शान्त हो गया तब यादवोंकी बेवकूफीको प्रख्यापित करनेवाली अर्जुनकी छद्मसन्न्यासिताको याद करके बार-बार स्तनोंको कम्पित कर हंसती हुई सुभद्रा रूप अपनी प्रियतमाकी दन्तकान्ति समान धवल यशवाला अर्जुन रथपर बैठकर अपनी नगरी इन्द्रपुरीमें प्रवेश किया ॥ ७८ ॥

ततो मुहूर्ते सकलाभिनन्द्ये कुरूद्वहानां कुशलोदयाय ।
सुतं सुभद्रा सुषुवेऽभिमन्युं प्रवीरसूः सा तमिव[1] प्रवीरम् ॥ ७९ ॥

ततो मुहूर्त्ते इति । ततः अर्जुनसुभद्रयोः इन्द्रप्रस्थपुरीप्रवेशानन्तरम् प्रवीरसूः वीरजननी सा सुभद्रा कुरूद्वहानां कुरुवंशोद्भवानां पाण्डवानां कुशलोदयाय ऐहिकपारत्रिकशुभसम्पादनाय सकलाभिनन्द्ये सर्वजनप्रशंसनीये मुहूर्त्ते तम् अर्जुनम् इव प्रवीरम् शूरम् अभिमन्युं नाम सुतं पुत्रम् सुषुवे जनयामास । तमिवप्रवीरमित्युपमा । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ७९ ॥

सर्वजन प्रशंसनीय शुभमुहूर्त्तमें कुरुवंशोद्भव अपने पूर्वजोंके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणके साधक अभिमन्युको वीर जननी सुभद्राने जन्म दिया, वह पुत्र अभिमन्यु अपने पिता अर्जुनके समान ही बहादुर था ॥

पाञ्चालपुत्री च पतिव्रतानां प्रधानभावे कृतपट्टबन्धा ।
पञ्चापि सद्यः प्रतिभूरिव स्वान्पतीन्पितॄणामनृणानकार्षीत् ॥ ८० ॥

पाञ्चालपुत्रीति । पतिव्रतानां प्रधानभावे मुख्यपदे कृतपट्टबन्धा कृताभिषेका-सर्वैः पतिव्रतामुख्यपदे प्रतिष्ठापिता पाञ्चालपुत्री द्रौपदी च प्रतिभूः लग्निका इव स्वान् स्वकीयान् पञ्चापि युधिष्ठिरादीन् पतीन् सद्यः तदैव पितॄणाम् अनृणान् पितृणरहितान् सपुत्रत्वेन पितृणमुक्तान् अकार्षीत् कृतवती । एकैकस्य पत्युरेकैकं पुत्रं जनयित्वा तान् पितृणमुक्तान् कृतवतीत्याशयः । 'जायमानोहवै पुरुषस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् भवति स्वाध्यायेनर्षिभ्यः प्रजया पितृभ्यो यज्ञेन देवेभ्य इति 'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति च श्रवणात्पुत्रोत्पादनेन पाण्डवाः पितॄणामनृणा अभवन्निति बोध्यम् ॥ ८० ॥

पतिव्रताओंके मुख्य पदपर अभिषिक्ता पाञ्चालराजतनया द्रौपदीने भी अपने पांचो पतिओंको पितृ ऋणसे मुक्त करा दिया, जैसे प्रतिभू-जमानतदार किसीको अपनी ओरसे ऋण चुकाकर ऋणमुक्त करा देता है ॥ ८० ॥

अथ तेषां तादृशं पुत्रोत्सवमाकर्ण्य ऋतुर्वसन्तसामन्तो[2] राजन्यसंबन्धितया हर्षादिव समाजगाम ॥

---

१. 'तातमिव' । २. 'वसन्तः सामन्तराजसंबन्धितया' । इति पा० ।

अथेति। अथ पाण्डवानां पुत्रोत्पत्तिवार्त्ताश्रवणानन्तरम् तेषां पाण्डवानां तादृशं विलक्षणं पुत्रोत्सवम् पुत्रजन्म आकर्ण्य श्रुत्वा वसन्तसामन्तः वसन्तर्त्तोरनुचरः ऋतुर्ग्रीष्मर्त्तुः राजन्यसम्वन्धितया वसन्तो ऋतुराजस्तत्सम्वन्धितया (समानानां समानोदये हर्षस्य स्वाभाविकत्वेन ग्रीष्मो राज्ञामुदयेन हृष्यन्निवायातः) हर्षादिव समाजगाम समायातः।

इसके बाद पाण्डवोंके वैसे पुत्र-जन्मोत्सव की खवर पाकर वसन्तका अनुचर ग्रीष्म ऋतु राजसम्बन्धित्वके कारण हृष्ट-सा होता हुआ आ पहुँचा॥

तदानीं भगवान्पवमानस्तु भीमस्य पुत्रोत्पत्तिनिमित्ताशौचवत्तया लोकस्पर्शाय संकुचन्निव कतिचन दिनानि मलयं विहाय पदमेकमपि न चचाल॥

तदानीमिति। तदानीं ग्रीष्मसमये भगवान् पवमानः वायुदेवः भीमस्य पुत्रोत्पत्तिनिमित्ताशौचवत्तया पुत्रस्य भीमस्य पुत्रो जात इति जन्माशौचशालितया इव लोकस्पर्शाय लोकानां स्पर्शकर्मणे सङ्कुचन् लज्जमान इव (अशौचपाते लोकाः परान्न स्पृशन्तीति लोकाचारः, वायुः पौत्रजन्मना जाताशौच इव परस्पर्शे लज्जमानतया) कतिचन दिनानि कियतो वासरान् यावत् मलयं दिगवस्थितं पर्वतविशेषं विहाय पदम् एकमपि न चचाल न पस्पन्दे। ग्रीष्मे दक्षिणानिलसंचारविरहोऽत्राशौचवत्ताहेतुकतयोत्प्रेक्षितः।

उस समय भगवान् वायुदेव मलय पर्वतको छोड़कर एक पद भी नहीं चलते थे, मानो भीमके पुत्रकी उत्पत्ति होनेसे वायुदेव अशौचशाली होकर दूसरोंके स्पर्शमें लज्जाका अनुभव करते हों। (अशौच होनेपर लोग दूसरोंके स्पर्शको बचाते हैं॥

एतेन खल्वकरुणेन तपागमेन जीवातुरद्य मम [3]दूरत एव देशात्।
उत्सारितो मधुरितीव रुषा वनान्ते तत्स्वागतं परभृतो न समाचचार॥८१॥

एतेनेति। अकरुणेन निर्दयेन एतेन तपागमेन ग्रीष्मेण मम कोकिलस्य जीवातुः जीवनौषधरूपः प्राणदातेत्यर्थः मधुः वसन्तः अद्य देशात् स्वविषयात् एव दूरतः दूरदेशे निःसारितः गमितः, इति अस्मात् कारणात् रुषा कोपेन इव वनान्ते वनभूमौ परभृतः कोकिलो नाम तत्स्वागतं ग्रीष्मस्य स्वागतं न चकार, ग्रीष्मो कोकिलो मूकस्तिष्ठति, मन्ये कोकिलस्य प्राणप्रदो वसन्तोऽमुना ग्रीष्मेण स्वविषयादनेन ग्रीष्मेण निस्सारित इति कोपादसौ कोकिल आगतमपि ग्रीष्मं न स्वागतं व्याहरतीति भावः। ग्रीष्मे कोकिला न कूजन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्येयमुत्प्रेक्षा। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ८१॥

---

१. 'सुतोत्पत्ति'। २. 'कतिचिद्दिनानि'। ३. 'देशत एव दूरात्'। इति पा०।

इस निर्दय ग्रीष्म ऋतुने हमारे प्राणदाता वसन्तऋतुको देशसे ही निकाल बाहर कर दिया है, इसलिये कुपित कोकिल ग्रीष्मऋतुके आने पर भी उसका स्वागत नहीं कर रहा है। ग्रीष्ममें कोकिल नहीं कूजता है उसीकी उत्प्रेक्षा की गई है कि जिस ग्रीष्मने कोकिलोंके प्राणदाता वसन्तको निकाल बाहर किया उसीके आगमनमें यह कोकिल-समुदाय अपना असहयोग जतानेके लिये मौन साध कर बैठ गया है ॥ ८१ ॥

शिरीषपङ्क्तेः कुरुकामिनीनां शरीरवल्ल्या[1] सह मार्दवेन।
उपस्थिताभूदुपमा तदानीं तपःस्थितानां सुलभं हि सर्वम् ॥ ८२ ॥

शिरीषेति। तदानीं ग्रीष्मागमनसमये कुरुकामिनीनां द्रौपद्यादिललनानां शरीरवल्ल्या गात्रलतया सह शिरीषपङ्क्तेः शिरीषकुसुमसमूहस्य उपमा सादृश्यम् उपस्थिता अभूत्, अजायत, हि यतः तपःस्थितानां तपस्यानिरतानां ग्रीष्मे वर्त्तमानानाञ्च सर्वं दुरापमपि सुलभम्, यतोऽमूनि शिरीषकुसुमानि तपःस्थितानि अतएवाधुनैषां कुरुसुन्दरीभिः सह सादृश्यमजायत, यावदिमानि तपःस्थितानि नासंस्तावदेषां मार्दवापेक्षया कुरुसुन्दरीणां मार्दवस्यातिशयवत्तया तुलना नाजायत, सम्प्रति तु तपःप्रभावादिव तपःप्रभावादमीषां तुलना कुरुसुन्दरीणामङ्गैः समजनीति तात्पर्यम्। तपःस्थितानामिति पदं श्लिष्टम्, तथैव च सत्यर्थान्तरन्यासस्य सङ्गतिः। तपस्यार्थकतपःशब्दगतविसर्गस्य 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपोवक्तव्यः' इति लोपे तपस्थितानामिति रूपेऽर्थद्वयमपि सूपपादम्। अत्र श्लेषमूलकः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८२ ॥

ग्रीष्म समयके आ जाने पर कुरुसुन्दरी द्रौपदी आदि स्त्रियोंके अङ्गोंके साथ शिरीष पुष्प सुकुमारतामें बराबरी करने लगे, तपःस्थित–तपस्यापरायण एवं ग्रीष्ममें वर्त्तमान जनके लिये दुर्लभ क्या है? तपस्थित होने कारण ही शिरीषकुसुमोंको द्रौपदी आदि औरतोंके अङ्गोंसे तुलना प्राप्त हो सकी ॥ ८२ ॥

कुरुकेलिवनेषु मल्लिकाकुसुमेषु भ्रमरावलिर्बभौ[2]।
ऋतुना मधुगन्धगुप्तये जतुनाग्रे निहितेव मुद्रिका[3] ॥ ८३ ॥

कुरुकेलीति। कुरुकेलिवनेषु कुरुवंश्यानाममीषां पाण्डवानां क्रीडाकाननेषु मल्लिकाकुसुमेषु मल्लिकानामकश्वेतपुष्पभेदेषु स्थिता मधुपावलिः भ्रमरततिः ऋतुना ग्रीष्मेण मधुगन्धगुप्तये मल्लिकाकुसुमस्थितपरागसुगन्धसुरक्षायै अग्रे उपरिभागे जतुना नीललाक्षया निहिता मुद्रिका मुद्रा इव बभौ प्रचकाशे। यथा कोपि किमपि सुरक्षितीकर्तुं तदुपरि स्वमुद्रां स्थापयति तथैव कुसुमगतपरागसुगन्धयोर्गुप्तये स्थाप्यमाना मुद्रेव भ्रमरमाला प्रतीयते स्म। स्फुटोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। वैतालीयं वृत्तम् ॥ ८३ ॥

---

१. 'शरीरवल्या'। २. 'भ्रमरावली'। ३. 'मुद्रणा'। इति पा०।

पाण्डवोंके क्रीडाकाननोंमें वर्त्तमान मल्लिका-कुसुमों पर बैठे हुए भ्रमर-समुदाय ऐसे लगते थे, मानों ग्रीष्मऋतुने उन पुष्पोंमें वर्त्तमान मधु तथा सुगन्धकी सुरक्षाके लिये लाह की सील मुहर कर दी हो। आज भी लोग जिस चीजकी सुरक्षा करना चाहते हैं, उसपर लाहकी सील कर देते हैं ॥ ८३ ॥

शुभसौरभसंभृतानि भूमौ शुचिभूतान्यपि यानि पाटलानि ।
कलयेयुरतीव चित्रभावं क्षणपीतानि दृशा कथं न तानि ॥ ८४ ॥

शुभसौरभेति । भूमौ पृथिव्यां शुभसौरभेण उत्तमसुगन्धेन संभृतानि पूर्णानि शुचिभूतानि ग्रीष्मे जातानि यानि पाटलानि पाटलपुष्पाणि तान्यपि दृशा नेत्रेण क्षणं पीतानि सादरमवलोकितानि तानि पाटलापुष्पाणि चित्रभावम् आश्चर्यं कथं न कलयेयुः उत्पादयेयुः । स्वतः शुभ्राणां पाटलत्वं श्वेतरक्तत्वं ततश्च (दृशा) पीतत्वमिति आश्चर्यकरत्वमुचितमेव, यानि शुभ्राणि पाटलानि पीतानि तानि चित्रभावं कथं न कलयेयुः धारयेयुरिति भावः । शुचिभवानि पाटलवर्णानि च पीतानि सन्ति कथं नाग्निभावं गच्छेयुरिति च । 'शुचिः शुभ्रेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः ॥ ८४ ॥

सुन्दर सुगन्धसे पूर्ण पृथ्वीपर पवित्र या ग्रीष्ममें उत्पन्न पाटलपुष्प या पाटल-श्वेतरक्त-वर्ण थोड़ी देरके लिये आंखोंसे देखे गये (पीत) किस तरह चित्रभाव आश्चर्यकी सृष्टि नहीं करते । पाटल ग्रीष्ममें पैदा हुआ, देखा गया और आश्चर्यप्रद हुआ, शुचि, पाटल पीत मिल जाने पर चित्र बन जाता है, इसी बातकी भित्तिपर उत्प्रेक्षा तथा श्लेष किया गया है ॥ ८४ ॥

सीमन्तविद्युदवतंसशिरीषचापं
कैश्यं घनोऽयमिति कैः सुदृशां न जज्ञे ।
तस्याध एव निटिले[1] सततं यदासी-
त्तादृशी सलिलशीकरदुर्दिनश्रीः ॥ ८५ ॥

सीमन्तेति । सीमन्तः केशमध्यरेखैव विद्युत् विद्युल्लता यत्र तत्तथोक्तम् , अवतंसशिरीषम् भूषणीभूतं शिरीषकुसुमम् एव चापम् इन्द्रधनुर्यत्र सुदृशां स्त्रीणां तत्तथोक्तम् कैश्यम् केशसमूहः घनोऽयम् मेघोऽयम् इति एवंप्रकारेण कैः द्रष्टृभिः न जज्ञे न ज्ञायतेस्म । केशस्थितया मध्यमरेखया सीमन्तसंज्ञया विद्युद्वदतिदीप्तवर्णया भूषणीभूतेन शिरीषपुष्पेण चेन्द्रधनुराकारेण वनिताजनकचनिचये केन जनेन मेघोऽयमिति न सन्दिदिहे, मेघस्यापि श्यामत्वादासीत्तत्र मेघत्वभ्रमः सर्वेषामपीति भावः । केशानां मेघत्वे उपोद्बलकान्तरमाह—तस्येति । यत् यस्मात्

१. 'निटले' । इति पा० ।

तस्य केशस्य एव अधः अधोभागे निटिले ललाटदेशे तादृशी अनुभवैकवेद्या सलिलशीकरदुर्दिनश्रीः स्वेदजलबिन्दुकृता मेघाच्छन्नदिनलक्ष्मीः आसीत्। यत्र मेघो भवति तत्र दुर्दिनमपि समायाति, केशा मेघाः सन्ति तत्सहचरं चेदं ललाटस्थितजलबिन्दुकृतं दुर्दिनमिति तात्पर्यम्। अत्र सलिलशीकरैर्दुर्दिनरूपैः केशानां घनत्वानुमानादनुमानालङ्कारः, स च सीमन्तविद्युदित्यादिरूपकसङ्कीर्णः ॥ ८५ ॥

सीमन्तरेखारूप बिजली एवं भूषणीभूत शिरीपकुसुमरूप इन्द्रधनुषको देखकर स्त्रियोंके केशको किसने मेघ नहीं समझ लिया, क्योंकि केशपाशरूप घनके नीचे ललाट पर पसीने की बूंदरूपी दुर्दिनकी शोभा जो दीख रही है ॥ ८५ ॥

उग्रैः करैरुष्णरुचेः समन्तादूष्मायमाणाखिलदिङ्मुखस्य ।
आगन्तुमह्नः सविधं स्वकालेऽप्यनीश्वरेवापससर्प रात्रिः ॥ ८६ ॥

उष्णैरिति। उष्णैः अशीतैः उष्णरुचः सूर्यस्य उग्रैः असह्यैः करैः किरणैः समन्तात् सर्वतः ऊष्मायणाखिलदिङ्मुखस्य सन्तापितसकलदिशावकाशस्य अह्नः दिवसस्य स्वकाले सविधं समीपं प्रति आगन्तुं तदन्तिकमुपगन्तुम् अपि अनीश्वरा अशक्नुवती इव रात्रिः अपससर्प दूरं जगाम। सूर्यकिरणसन्तापितसकलदिशावकाशस्याह्नः समीपमपि गन्तुमशक्नुवतीव रात्रिर्दूरमपससर्पेति भावः ॥ ८६ ॥

सूर्यकी असहनीय कठोर किरणोंसे सन्तप्त हो गया है सारा दिशावकाश जिसमें ऐसे दिवसके पास भी—अपने नियत समयमें भी—आनेमें असमर्थ होकर रात्रि दूर भाग खड़ी हुई। ग्रीष्मकी रातें छोटी होती हैं, उसीकी हेतूत्प्रेक्षा है ॥ ८० ॥

वर्षास्वियं त्वरितमस्मदुपान्तभूमेरुन्मूलनं कलयतीति रुषावलीढैः ।
तीरद्रुमैः स्वनिकटादपसारितेव मध्यं जगाम सरितां सलिलस्य वेणी ॥८७॥

वर्षास्विति। इयं वेणी सलिलधारा वर्षासु वर्षर्त्तौ अस्माकम् तीरवर्तिद्रुमाणाम् उपान्तभूमेः समीपभुवः त्वरितं शीघ्रं यथास्यात्तथा उन्मूलनम् निपातनं कलयति करिष्यति रुषा कोपेन अवलीढैः युक्तैः तीरद्रुमैः तटतरुभिः स्वनिकटात् स्वप्रान्तदेशात् अपसारिता दूरं गमिता इव इयं सलिलस्य वेणी प्रवाहो मध्यम् नदीमध्यदेशं जगाम। पूर्वमियं वेणीतटतरुमूलपदन्तिमागताऽऽसीत्परं तटद्रुमाणां मूलमकृन्तदियं वर्षाकाले समृद्धजलाऽतः कुपितास्तटतरवस्तां स्वसमीपाददूरमपासारयन्नत एवेयं ग्रीष्मे मध्यदेशमाश्रयतीति भावः ॥ ८७ ॥

वर्षाऋतुके आनेपर यह सलिलप्रवाह हमारी जड़की जमीनको खोद डालेगी, इसी कारण क्रुद्ध होकर तटवृक्षोंने उस सलिलप्रवाहको अपने समीप देशसे दूर भगा दिया है इसीलिये ग्रीष्मका प्रवाह नदीपाटके मध्यदेशमात्रमें रह गया है ॥ ८७ ॥

---

१. 'सविधे'। २. 'ह्नि'।

देशे देशे जडिमकुरङ्गास्तेजोभल्लैर्दिनकरभिल्ले।
धावं धावं प्रहरति राज्ञां धारागेहं शरणमवापुः॥ ८८॥

देशेदेशे इति। जडिमानः शैत्यानि एव कुरङ्गाः मृगाः दिनकरभिल्ले सूर्यरूपकिराते देशे देशे सर्वेषु देशेषु धावं धावं भ्रान्त्वा तेजोभल्लैः स्वीयकरणनिकररूपभल्लनामकास्त्रभेदैः प्रहरंति प्रहारं कुर्वति सति राज्ञां धारागेहं यन्त्रधारागृहं शरणं रक्षकम् अवापुः प्राप्तवन्तः। यथा क्रूरैः किरातैरुपद्रुता मृगाः किमपि निभृतं गृहं शरणमाश्रयन्ते तथा दिनकरभिल्लेन करभल्लेन प्रह्वियमाणा अमी शैत्यरूपहरिणा राज्ञां यन्त्रधारागृहाण्येव शरणीचक्रुः। आतपभीतानि शैत्यानि यन्त्रधारागृहे एव निलीय प्राणान् ररक्षुरित्याशयः। 'पुलिन्दाः शबरा भिल्लाः किराताश्चान्त्यजाः पृथक्-' इति त्रिकाण्डशेषः। मत्तावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'ज्ञेयामत्तामभसगयुक्ता' इति॥ ८८॥

दिनकररूप किरात अपनी किरण रूप भाला लेकर सभी ओर दौड़ दौड़कर जब शैत्यरूप हरिणोंपर प्रहार करने लगा, तब वह शैत्यरूप हरिणने राजाओंके यन्त्रधारागृहमें शरण ली, अर्थात् सभी जगहें तो सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त होगई, केवल यन्त्रधारागृहमें ही कुछ ठंढक मिलती रही॥ ८८॥

अङ्गाङ्गसङ्गासहने तपर्तावन्योन्यमेवाभिमुखा युवानः।
वाचापि केचिन्मनसापि केचिद्दृशापि केचिद्दृढमालिलिङ्गुः॥८९॥

अङ्गाङ्गेति। अङ्गैः स्वकीयैः करमुखादिभिः अङ्गनां परकीयावयवानां सङ्गस्य स्पर्शस्य असहने अमर्षयितरि तपर्तौ ग्रीष्मसमये अन्योन्याभिमुखाः परस्पराभिमुखस्थिताः एव युवानः युवका युवत्यश्च, केचित् वाचा वचनेन अपि, केचित् दृशा दृष्ट्यापि दृढम् निर्भरम् आलिलिङ्गुः अन्योन्योश्लेषसुखान्यन्वभवन्निति भावः। अङ्गसङ्गसुखस्यालभ्यत्वे दर्शनसंभाषणादिनैव युवानोऽन्योन्यं समभावयन्नितितात्पर्यम्॥ ८९॥

अपने अङ्गोंसे दूसरेके अङ्गोंका स्पर्श करना जब कठिन हो जाता था, ऐसे ग्रीष्म समयमें युवक और युवतीगण, कोई वातें लड़ाकर, कोइ मनसे मन मिलाकर, और कोई आंखोंसे आंखें लगाकर एक दूसरेका दृढ़ालिङ्गन कर लेते थे। जब ग्रीष्मऋतुमें शारीरिक आलिङ्गन करना अशक्य सा हो गया तब युवकयुवतियोंने वाचिक, मानसिक, तथा दर्शनजन्य आलिङ्गनोंसे ही तृप्ति मान ली॥ ८९॥

एवं पचेलिमां हेलिमयूखकठोरिमकेलिं तस्य तनयायै निवेदयितुकामाभिरिव रामाभिर्निरन्तरोपान्तौ दृगध्वनि वसन्तौ वसन्तरतिकान्ता-

---

१. 'अभिमुखं'। २. 'हेलिमयूखकठोर' 'हेलिमयूखकेलि'। इति पा०।

विव जयन्तजनकानन्तरजकौन्तेयौ परिपाटलहंसपाददुरवगाहवनजातसनाथे पाथसि रोधसि च विहारैस्तेषां दिनानामौपयिकमातिथ्यमापादयितुं ¹तामेव भगवतीं सरितमापतताम् ॥

एवमिति। एवम् अनेन प्रागुक्तप्रकारेण पचेलिमां परिपक्वाम् पूर्णाम् हेलिमयूखकठोरिमकेलिम् सूर्यकिरणकठोरतालीलाम् तस्य सूर्यस्य तनयायै पुत्र्यै यमुनायै निवेदयितुकामाभिः कथयितुमिच्छन्तीभिः इव रामाभिः वनिताभिः निरन्तरोपान्तौ मिलितपार्श्वौ (सङ्गतौ) दृगध्वनि चक्षुर्वर्त्मनि वसन्तौ तिष्ठन्तौ वसन्तरतिकान्तौ वसन्तर्तुकामदेवौ इव जयन्तजनक इन्द्रस्तदनन्तरज उपेन्द्रः कौन्तेयः पार्थश्च तौ, परिपाटलैः रक्तवर्णैः हंसानां स्वनामख्यातानां पक्षिणां चरणैर्दुरवगाहैः प्रवेष्टुं मशक्यैः वनजातैः कमलैः सनाथे युक्ते पाथसि यमुनाजले, परिपाटलैः रक्ताभैः हंसपादैः सूर्यकिरणैः दुरवगाहैः प्रवेष्टुमशक्यैः वनजातैः तरुभिः सनाथे युक्ते रोधसि यमुनातटे च विहारैः जलक्रीडाभिः काननक्रीडाभिश्च तेषां ग्रीष्मर्तुसंबन्धिनां दिनानाम् औपयिकम् यथोचितम् आतिथ्यम् सत्कारम् उपयोगम् आपादयितुं कर्तुम् तामेव भगवतीम् पूज्याम् सरितम् यमुनाम् आपतताम् गतवन्तौ। सूर्यकिरणानाम् कठोरतायाः समग्रतां सूर्यकन्यायै निवेदयितुमिवागताभिः स्त्रीभिरसङ्गतौ दृश्यमानौ वसन्तकामदेवाविव स्थितौ कृष्णार्जुनौ रक्ताभहंसचरणदुःसञ्चारकमलकुलोपेते यामुने जले रक्ताभसूर्यकरैर्द्रुमैर्युक्ते च रोधसि यमुनातीरे विहारैः (जलक्रीडाभिर्वनविहारैश्च) ग्रीष्मीयदिवसानामुचितमुपयोगं विधातुम् यमुनामागतवन्तावित्यर्थः॥

इस प्रकार सूर्यकिरण कठोरतालीलाकी परिपूर्णताको सूर्यकी कन्या यमुनासे बतानेके लिये आई हुई सी रमणियोंसे युक्त, नयनके सामने आये हुए वसन्त एवं कामदेवकी तरह दीखनेवाले जयन्तपिताके अनुज भगवान् और अर्जुन, रक्ताभहंसपाद द्वारा दुष्प्रवेश कमलोंसे युक्त जल तथा रक्तवर्ण सूर्य किरणोंके लिये दुर्गम वृक्षोंसे युक्त यमुनातटमें विहारों से (जलक्रीडासे तथा वनविहारसे) गर्मीके दिनोंका उपयुक्त सत्कार करनेके लिये उसी भगवती यमुनामें उतरे॥

कल्लोलजाल²कपटेन कलिन्दपुत्र्या पादं प्रति प्रससृपे परमस्य पुंसः।
तिष्ठन्ति मे पुनरिह त्रिजगत्पवित्राः सख्यः कतीति ³समवेक्षितुकामयेव॥९०॥

कल्लोलेति। कलिन्दपुत्र्याः यमुनायाः कल्लोलजालपटलेन तरङ्गावलीसमुदयेन परमस्य पुंसः आदिपुरुषस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य पादं प्रति चरणसमीपे पुनः भूयः इह भगवत्पादयोः त्रिजगत् पवित्राः संसारस्य पवित्रतां कुर्वत्यः कति कियत्यः

---

१. 'भगवतीं तामेव'। २. 'वेग'। ३. 'सुविलोकितुकामयेव'। इति पा०।

मम सख्यः तिष्ठन्ति इति समवेक्षितुकामया द्रष्टुमिच्छन्त्या इव प्रससृपे गतम्। भगवतः पादयोः समीपमुपसरन्ती यमुनाऽत्र भगवत्पादे (गङ्गाप्रादुर्भावमूले-विष्णोः पादप्रसूतासि' इत्यादिवचसोक्ते) कतिमम सख्यः सन्तीति जिज्ञासमानेव बभारे इत्यर्थः। प्रससृपे इति भावे लिट्। हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९० ॥

भगवान्के चरणोंके पास आती हुई यमुनाकी तरङ्गावली ऐसी लगती थी, मानो वह देखना चाह रही हो कि इस भगवच्चरणमें और कितनी संसारको पवित्र करनेवाली हमारी सखियाँ वास करती हैं। गङ्गा भगवत्पादप्रसूता है, इससे यमुनाको आशा है कि गङ्गासरीखी भुवनपाविनि और नदियाँ भगवान्के चरणोंमें हैं, इसीलिये भगवान्के चरणोंके पास आकर वह देखना चाहती है कि और कितनी हमारी बहनें इन चरणोंमें छिपी हैं, उन्हें देख तो लूं॥ ९० ॥

तस्या जलेषु तरुणाम्बुदजातिवैरिष्वावर्तजालमनयोरुभयोर्व्यतानीत्[1]।
वीचीकराग्रविनिवारित[2]रामसीरव्यावल्गनोपजनितव्रणगर्तशङ्काम् ॥ ९१ ॥

तस्या इति। तस्याः यमुनायाः तरुणाम्बुदानां प्रौढश्यामलमेघानां जातिवैरिषु श्यामतया तत्पराजेतृषु—ततोऽपि श्यामलेषु वारिषु आवर्त्तजालम् जलभ्रमिः वीच्यः तरङ्गा एव कराग्राणि तैर्निवारितस्य प्रतीष्टस्य रामसीरस्य बलरामस्य हलस्य व्यावल्गनैः प्रहारैः जनितानां व्रणानां सम्बन्धिनौ ये गर्त्ताः खातानि तेषां शङ्कां सन्देहं सादृश्यकृतम् अनयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः व्यतानीत् कृतवत्। प्रौढमेघापेक्षयाऽप्यधिकश्यामलेषु यमुनायाजलेष्वावर्त्तौ दृश्यमानौ भगवदर्जुनयोर्मनसि बलरामप्रहृतहलकृतव्रणगर्त्तसन्देहं जनयामास, भगवदर्जुनौ जलभ्रमं दृष्ट्वा समभावयतां यदयं बलरामप्रहृतहलक्षतगर्त्तसमुद्यो भवेदित्याशयः। बलरामो यमुनां पुरा-हलेनाचकर्षेतिकथाप्रसिद्धा ॥ ९१ ॥

प्रौढ़ मेघोंकी श्यामलताको जीतनेवाले यमुनाके जलमें उठनेवाले जलभ्रम आवर्त्त (जिसे भँवरी, चकोह आदि नामोंसे पुकारते हैं) भगवान् और अर्जुनके हृदयोंमें तरङ्गरूप हाथके अग्रभागसे निवारित तथा बलराम द्वारा चलाये गये हलके आघातसे उत्पन्न व्रणके गढेका सन्देह उत्पन्न करता था। भगवान् तथा अर्जुनने जब यमुना जलमें पैदा होनेवाले आवर्त्त—जलभ्रमिको देखा तो ऐसी शङ्का उनके हृदयोंमें हुई कि यह बलराम द्वारा चलाये गये हलके आघातसे उत्पन्न व्रणकी खाई (गर्त्त, गढ़ा) तो नहीं है ॥ ९१ ॥

मुरारिनारीमुखपद्मपङ्क्तिर्जवेन योद्धुं जलदुर्गपद्मैः।
तीरेऽवतस्थे तिलकापदेशात्कृत्वा पुरः खेटकमण्डलानि ॥ ९२ ॥

मुरारीति। मुरारेः श्रीकृष्णस्य या नार्यः स्त्रियस्तासां मुखान्येव पद्मानि तेषां पङ्क्तिः जवेन वेगेन जलदुर्गपद्मैः पानीयदुर्गस्थितैः कमलैः योद्धुं तिलकापदेशात्

१. 'अतानीत्'। २. 'विनिवर्तित'। इति पा०।

ललाटावस्थितविशेषकव्याजात् खेटकानाम् पराघातवारकाणां चर्मणां मण्डलानि समूहान् पुरःकृत्वाऽग्रेऽवस्थाप्य इव तीरे यमुनातटेऽवतस्थे स्थिता। भगवतो वनितानां मुखानि विशेषरूपं चर्मादाय जलदुर्गस्थितकमलैः सह योद्धुकामानीव यमुनातीरेऽतिष्ठन्नित्यर्थः। तुलनार्थं दृश्यताम्—'कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्यबिभ्रती। तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजैर्नियोद्धुकामे किल बद्धवर्मणी'॥

भगवान् श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके मुखरूप पद्मका समुदाय यमुनातटपर खड़ा ऐसा लगता था मानो जलदुर्गमें वर्त्तमान कमलोंसे लड़नेके लिये तिलकरूप ढाल (चमड़ेका बना अस्त्र प्रहारावरोधक) लेकर आये हों॥ ९२॥

तासां विलासगमनं समवेक्ष्य तत्र
लाल्यत्वहेतुरपि लज्जितचेतनायाः।
वेगात्तिरोभवनविघ्नतया मराल्या
गर्ह्या बभूव नितरां गतिमन्दिमश्रीः॥ ९३॥

तासामिति। तत्र यमुनाजले तासां कृष्णवनितानां विलासगमनं सविलासां गतिं समवेक्ष्य आलोक्य लज्जितचेतनायाः त्रपितमनसः मराल्याः हंसास्त्रियः लाल्यत्वहेतुः प्रशंसाकारणम् अपि गतिमन्दिमश्रीः मन्दगतिकलसमृद्धिः वेगात् तिरोभवने निलीयावस्थाने विघ्नतया प्रतिबन्धरूपतया नितराम् अत्यर्थं गर्ह्या निन्दनीया बभूव। अयमाशयः-मरालीनां मन्दागतिः प्रशंसाहेतुतयाऽतीवादरणीया भवति, परं यदा यमुनाजलस्थामराल्यो भगवदङ्गनानां सविलासं गमनमालोक्य स्वगत्यपेक्षया तद्गतावुत्कर्षं ज्ञात्वा हीनगतित्वेनात्मानं निन्दन्त्यास्तिरोभवितुमैच्छन्, तदा तत्र तिरोभवनकर्मणि ता एव मन्दगतयो विघ्नमाचरन्नतो मराल्यस्तादृशीं गतिमतितरामनिन्दन्निति। अवसरवशेन निन्दास्तुती व्यवस्थाप्येते इति हृदयम्। अयं श्लोकश्छायामनुहरति निम्नोद्धृतस्य माघश्लोकस्य—'सलीलयातानि न भर्त्तुरभ्रमोर्नचित्रमुच्चैः श्रवसः पदक्रमम्। अनुद्रुतः संयति तेन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम्' इति॥ ९३॥

श्रीकृष्णकी स्त्रियोंका सविलासगमन देख कर लज्जित बुद्धि यमुनाजलस्थित मरालीने वेगसे छिपकर अपनी लाज छिपाना चाहा, परन्तु उसका मन्दगमन विघ्नकर हुआ अतः जिस मन्दगतिका वह बहुत आदर करती रही, वही मन्दगति उस समय उसके लिये निन्दनीय हो गया। मरालीको अपनी मन्दगति पर बड़ी ममता रहा करती है, परन्तु जब यमुना-मरालीने भगवान्की स्त्रियोंका सविलासगमन देखा तब उसे अपना गतिकी मन्दताके विषयमें बहुत हीनताका ज्ञान हुआ, जिससे लज्जित होकर उसने कहीं छिप

---

१. 'गर्हित'। इति पा०।

जाना चाहा, परन्तु वेगसे कहीं जाकर छिप जानेमें उसकी मन्दगतिने विघ्नकर दिया, अतः मरालीने उस पूर्वस्नेह भाजन मन्दगतिकी बड़ी निन्दाकी, उसने कहा होगा कि कहाँसे यह अभागिनी मन्दगति मेरे पीछे लग गई ? अगर यह नहीं होती तो जल्दीसे कहीं छिपकर मैं अपनी लज्जा बचा लेती ॥ ९३ ॥

शनैः शनैस्तासु सरितमवगाहमानासु ॥

कासांचिदीर्ष्ययेव[1] नितम्बबिम्बानि[2] निजावकाशदानावलम्बितोन्नतिभिरम्बुभिः पुलिनानि निचोलयांचक्रुः ॥

अपरासामसूययेव नाभिकुहराणि जलचूषणादावर्तजवावलेपमवालुम्पन्[3][4] ॥

इतरासां क्रुधेव कुचकलशाः[5] क्षोभणात्कनकोकनदकोशान्विदलयांचक्रुः[6][7] ॥

शनैः शनैरिति । तासु श्रीकृष्णवनितासु शनैः शनैः क्रमशो मन्दमन्दम् सरितम् नदीं यमुनाम् अवगाहमानासु प्रविशतीषु सतीषु—कासाञ्चित् तस्त्रीणाम् नितम्बबिम्बानि श्रोणीमण्डलानि ईर्ष्यया पुलिनेन सह स्वसाम्यकृतयेर्ष्यया इव निजावकाशदानावलम्बितोन्नतिभिः नितम्बबिम्बेभ्योऽवकाशं स्थानंदातुं स्वीकृतोन्नतिभिः उपरि प्रसरद्भिः अम्बुभिः जलैः निचोलयामासुः आच्छादयामासुः । इदमत्रबोध्यम्—भगवतः कापि स्त्री पयस्यवतरति तदीया श्रोणी जले मज्जति, तन्मज्जनायावकाशं ददज्जलं पुलिनमावृणोति, मन्ये नितम्बबिम्बम्—इदं पुलिनं विशालतायां मयाऽस्पर्धतातोस्तु जलेनाच्छादितमिति पुलिनमाच्छादयतीत्यर्थः । इतरासाम् अन्यासां भगवद्वनितानाम् नाभिकुहराणि नाभिरन्ध्राणि असूयया स्वसाम्यकृतकोपेन इव आवर्त्तजवावलेपं जलभ्रमगतं वेगगर्वम् जलचूषणात् पानीयराशिपानात् अवालुम्पन् लुप्तवत्यः । नाभयो गभीरा आवर्त्तेनोपमीयन्ते आवर्त्तैः साम्येनासूयावत्यो नाभयो जलं नीत्वाऽऽवर्त्तानां वेगवत्तां निरस्य तदीयं वेगवत्तादर्पं समापयन्नित्यर्थः । इतरासाम् अन्यासां भगवदङ्गनानां कुचकलशाः स्तनद्वन्द्वानि क्रुधा सादृश्यप्राप्तिचेष्टाकृतकोपेन इव क्षोभणात् सञ्चालनजन्याघातात् कनककोकनदकोशान् स्वर्णकमलमुकुलानि विदलयाञ्चक्रुः विभिदुः मुकुलितानि कमलानि स्तनसादृश्यमाप्नुवन्ति, मन्ये तदुत्थितकोपादिव काश्चित् स्त्रियः कमलमुकुलानि क्षोभयित्वा विदलयामासुरिति तात्पर्यम् ॥

धीरे धीरे जब भगवान्‌की स्त्रियाँ यमुनामें उतरीं तब कुछ औरतोंके नितम्बने पुलिन-

---

१. 'एव' । २. 'बिम्बाः' । ३. 'आवर्तकुलजवा' । ४. 'अवलुम्पन्' । ५. 'कुचयुगलानि' । ६. 'क्षोभणात्कोकनद' । ७. 'विदलयामासुः' । इति पा० ।

तट पर विशालतासाम्य कृत ईर्ष्या होनेके कारण नितम्बको जलमें स्थान देकर ऊपरकी ओर फैलनेवाले जलोंसे ढंक दिया। (पानीमें विशाल नितम्ब आया, पानीने उसे अवकाश देकर ऊपरकी ओर बढ़ना प्रारम्भ किया, क्रमशः पुलिन जलाच्छादित होते गये, मानो नितम्बने पुलिनको इसलिये जलाच्छादित कर दिया कि पुलिन विशालतामें नितम्बकी बराबरी करते रहे। दूसरी औरतोंकी नाभीरूप बिलोंने पानी चूसकर यमुना जलमें वर्त्तमान आवर्त्तके वेगको ही समाप्त कर दिया, क्योंकि पानी कम हो जाने पर वेग रहे कहाँ से ? नाभीरूप बिलोंने ऐसा इसलिये किया कि उन्हें आवर्त्तोंसे चिढ़ थी क्योंकि यह आवर्त्त नाभिके साथ समानताका दावा जो किया करते थे। अन्य स्त्रियोंके स्तनरूप कलशने पानी चलाकर कनककमलमुकुलोंको विदलित करवा दिया क्योंकि कमलमुकुल पर स्तनोंको क्रोध था क्योंकि वह स्तनकी तुलनाका दावा रखते थे॥

वक्षोजकुम्भनिवहाद्वनिताजनानां
ग्रीष्मर्तुना विनिहितं ग्रहराजपुत्री।
तापं पितुः स्वमहरत्तरलोर्मिहस्तै-
रन्यं न याति हि विभूतिरपत्यभाजाम्॥ ९४॥

वक्षोजेति। ग्रहराजस्य सूर्यस्य पुत्री यमुना ग्रीष्मर्त्तुना विनिहितं न्यासभावेन रचितम् पितुः सूर्यस्य तापम् ऊष्माणमेव स्वं धनं वनिताजनानां भगवतः स्त्रीणाम् वक्षोजकुम्भनिवहात् स्तनकलशसमुदयात् तरलोर्मिहस्तैः चञ्चलैस्तरङ्गरूपैः करैः अहरत् प्रापत् तत्रार्थान्तरन्यासमाह—हि यतः अपत्यभाजां सन्तानशालिनां जनानां विभूतिः सम्पत्तिः अन्यं सन्तानातिरिक्तं जनं न याति न प्राप्नोति। सूर्यस्य करतापरूपं धनं ग्रीष्मर्त्तुना तरुणीस्तनेषु निहितमासीज्जले स्नातीनां तरुणीनां स्तनेभ्यस्तं तापरूपं पैतृकं धनमियं यमुनासूर्यसुतातरङ्गरूपैः स्वकरैरादात्, यतः सापत्यानां धनं तदपत्यानि विहाय नान्यं याति, तेन तनयारूपया सन्तत्या सूर्यसम्बन्धिधनं गृहीतमित्युचितमेवेति। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ ९४॥

ग्रहराज सूर्यकी पुत्री यमुनाने अपने पिता सूर्यकी तापरूप सम्पत्ति, जिसे ग्रीष्मऋतुने स्त्रियोंके स्तनकलशोंमें अमानतके रूपमें रख छोड़ा था, (स्त्रियाँ जब यमुनामें पैठीं, उनके स्तन ठंढे हुए तब) तरङ्गरूप हाथोंसे ले ली, क्योंकि सन्तानवालोंका धन दूसरोंको नहीं मिलता है, अतः सूर्यका तापरूप धन यमुनाको मिला। स्त्रियोंके स्तनमें जो ग्रीष्मकृत ताप था वह यमुना जलमें आने लगा, यह तात्पर्य है॥ ९४॥

सुरनायकानुजमनोवशीकृतौ सुदृशो मुखैर्निपुणतां यथा ययुः।
सरसीरुहैर्न नलिनीलतास्तथा सकचान्यमूनि विकचानि तानि यत्॥९५॥

सुरनायकेति। सुदृशः सुन्दर्यः सुरनायकस्य देवाधिपस्येन्द्रस्य अनुजः कनीयान्

ञाता कृष्णः तन्मनसो तदीयहृदयस्य वशीकृतौ स्वाधीनीकरणे मुखैः स्वीयैराननैर्यथा यादृशीं निपुणतां दक्षतां ययुः प्रापुस्तथा तादृशीं निपुणतां नलिनीलताः कमलिन्यः सरसीरुहैः कमलैः कृष्णमनोवशीकृतौ न ययुः, यतः मुखानि सकचानिकेशयुतानि सरसीरुहाणि पुनः विकचानि केशरहितानि विकसितानि चासन् इति । भगवतो हृदयस्य हरणे तद्वध्वो यथा स्वैर्मुखैरक्षमन्त कमलिन्यस्तथा कमलैर्नाक्षमन्त, यतो मुखानि सकचानि कमलानि पुनर्विकचानि (विकासभाञ्जि) आसन्निति शेषः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, मञ्जुभाषिणीवृत्तम् ॥ ९५ ॥

भगवान्के मनको आकृष्ट करनेमें उनकी अवलाओंने अपने मुखोंसे जितनी सफलता पाई, उतनी सफलता कमलिनीकी कमलोंसे भगवान्के मनको आकृष्ट करनेमें नहीं मिली, क्योंकि मुख सकच-केशयुक्त थे, और कमल विकच (केशरहित-विकसित) थे ॥ ९५ ॥

यमस्वसुः[१] संनिधिमेत्य रात्रौ स्वकान्तिचोरं सुदृशामुरोजः ।
नालाग्रशूले नलिनं निवेश्य ववल्ग हर्षादिव वारिमध्ये ॥ ९६ ॥

यमस्वसुरिति । सुदृशाम् सुन्दरीणां भगवदङ्गनानाम् उरोजः कुचः रात्रौ निशि स्वकान्तिचोरम् स्वसादृश्यप्राप्तिकर्त्तारं स्वीयतुलाधरम् नलिनं कमलम् (कमलस्य रात्रौ मुकुलितत्वेन कुचकान्तिचौरता, रात्रावेव चौर्यस्य संभवाच्च) यमस्वसुः यमुनायाः सन्निधिम् समीपदेशम् एत्य प्राप्य नालाग्रशूले कमलदण्डरूपे शूले निवेश्य स्थापयित्वा वारिमध्ये पयसि ननर्त्त इव । अयमाशयः—यथा कश्चन कमपि स्ववित्तापहरं धृत्वा तं कस्यचिद्व्यवस्थापयितुः समीपं प्रापय्य दण्डयित्वा च प्रतीकारसमर्थताप्राप्त्यासन्तुष्यति, तथैव निशिमुकुलितत्वेन स्वकान्तिचौरं नलिनं युवत्याः कुचोऽयं यमुनायाः समीपे नालाग्रं शूलमारोप्य पयसि प्रमोदादिव नृत्यतीति ॥ ९६ ॥

रातमें मुकुलित होनेवाले कमल ने भगवान्की स्त्रीके कुचकी कान्ति चुराली थी, कुचने यमुनाके पास आकर उस कमलको नालाग्रभाग रूप शूली पर चढ़ा दिया और अपराधीको उचित दण्ड देनेकी खुशीमें पानीमें नृत्यसा करने लगा। कमल रातमें मुकुलित होने पर कुचकी कान्ति ग्रहण करते हैं, और चोरी भी रातमें ही संभव है ॥ ९६ ॥

व्यात्युक्षिकायां विपुलेक्षणासु वर्षन्नखद्योतवलक्षमम्भः ।
सखीमुदारां सरितस्तु तस्याः करोऽप्यसावीदिव कंसहन्तुः ॥ ९७ ॥

व्यात्युक्षिकायामिति । कंसहन्तुः श्रीकृष्णस्य करः हस्तः अपि व्यात्युक्षिकायाम् हस्तेनान्योन्यं जलक्षेपक्रीडायाम् विपुलेक्षणासु विशालनयनासु स्वसहचरीषु सुन्दरीषु नखद्योतवलक्षं नखप्रभाभासुरं (यामुनम्) अम्भः वर्षन् क्षिपन् सन् पुनः तस्याः यमुनायाः सखीं सुहृद्भूतां उदाराम् महतीं सरितम् भागीरथीम् असा-

१. यमः 'स्वसुः' । इति पा० ।

वीत् प्रादुर्भावयामास किम् ? पूर्वं भगवतः पादो भागीरथीं प्रादुरभावयदिदं प्रसिद्ध-मेव, अधुना जलप्रक्षेपक्रीडाकाले स्त्रीणामुपरि नखप्रभया धवलं वारिविकिरन् भगवतो हस्तोऽपि किमपरां यमुनायाः सखीं गङ्गां प्रादुर्भावयतोत्युत्प्रेक्षितं बोध्यम् ॥९७॥

हाथसे एक दूसरेके ऊपर जलका उछालना रूप क्रीड़ामें ('अन्योन्यो परि-हस्ताभ्यां व्यात्युक्षिर्जलसेचनम्') विशालाक्षी सुन्दरियोंके ऊपर नखकी कान्तिसे स्वच्छीभूत यमुना जल उछालता हुआ कंसघाती भगवान्का हाथ ऐसा लगता था मानो हाथने भी (पैरकी ही तरह) यमुनाकी अन्तरङ्ग सखी भागीरथीको जन्म दिया हो। भगवान्के हाथसे छूटता हुआ स्वच्छ जल ऐसा लगता था मानो वह हाथ दूसरी गङ्गाको उत्पन्न कर रहा हो। पैरने तो गङ्गाको उत्पन्न किया ही है, हाथ भी गङ्गाको उत्पन्न कर रहा हो, यही इस उत्प्रेक्षाका सार है ॥ ९७ ॥

उल्लासभाजा हरिणा प्रियायाः कह्लारमाल्ये कलिते कबर्याम् ।
अस्रैरसूयाहसितैश्च चित्रमुत्तं सितं वक्त्रमभूत्सपत्न्याः ॥ ९८ ॥

उल्लासेति। उल्लासभाजा आह्लादयुक्तेन हरिणा भगवता कृष्णेन प्रियायाः स्वप्रेयस्याः कस्याश्चिन्नायिकायाः कबर्याम् केशपाशे कह्लारमाल्ये रक्ताम्बुजमाल्ये कलिते परिधापिते सति सपत्न्याः अन्यस्याः स्त्रियः वक्त्रम् मुखम् अस्रैः उत्तं क्लिन्नम् असूयाहसितैः ईर्ष्याहासैश्च सितम् श्वेतम् अभूत्, उत्तं सितं भूषितम-भूदिति च चित्रम् आश्चर्यम्। केशोऽलङ्कृतोऽन्यस्या मुखंचामूष्यतपरस्या इति चित्रमजनि, परमार्थस्तु–भगवतैकस्याः प्रियायाः केशपाशे रक्तकमलमालया भूषिते सति परस्याः सपत्न्या मुखम् (अस्रैः उत्तं) साश्रु, असूयाहसितैश्च सितमजाय-तेति। 'उन्दी'क्लेदने धातोःक्तप्रत्यये 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकनिष्ठानत्वाभावे उत्तम् इति पदम्। 'आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च' इत्यमरः ॥ इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ९८ ॥

जलविहारमें सन्तुष्ट होकर भगवान्ने किसी प्रेयसीके केशपाशमें रक्तकमलकी माला पहना दी, उसे देखकर दूसरी सपत्नीका मुख आंसू तथा ईर्ष्याहाससे अलङ्कृत (उत्तंसित) हो गया, यह आश्चर्यजनक बात हुई, वस्तुतः अर्थ यह है कि सपत्नीका चेहरा आँसूसे भीग गया तथा ईर्ष्याहाससे श्वेत पड़ गया ॥ ९८ ॥

ग्लहं निमग्नग्रहणेषु कल्पयन्स्वयंग्रहा[1]श्लेष सुखं यदूद्वहः ।
सवर्णवर्ष्मा सलिले तडित्तनूः सुखादगृह्णात्सुदृशस्तु ता न तम् ॥९९॥

ग्लहमिति। सवर्णं यमुनाजलतुल्यकान्तिवर्ष्मशरीरं यस्य सः सवर्णवर्ष्मा यदूद्वहः यादवश्रेष्ठः स कृष्णः, निमग्नस्य जलान्तर्लीनस्य जनस्य ग्रहणेषु स्वयं ग्रहाश्लेषसुखं स्वयं ग्रहणपूर्वकालिङ्गनम् ग्लहं पणं कल्पयन् आरोपयन् तडिदिवतनु-

1. 'लिङ्ग' । इति पा० ।

र्यासां तास्तडित्तनूः विद्युदुपमशरीराः सुन्दरीः सलिले जलान्तः सुखात् अनायासम् अगृह्णात् धारयामास, ताः सुदृशः तु तं नागृह्णन्। अयमाशयः—जलक्रीडाकाले भगवान्नियमं स्थापितवान् यत् जले मग्नं जनो गृह्णाति तस्मै गृह्यमाणोजनः स्वयं ग्रहाश्लेपसुखं दद्यात्, एवं नियमे व्यवस्थापिते भगवान् सलिले निमग्नाः सुन्दरीरगृह्णात्तेन च नियमानुसारं स्वयं ग्रहाश्लेपं तास्तस्मैन्यतरन्, भगवन्तं तु सुन्दर्यो नागृह्णन्, यतस्तथा सति भगवानेव ताः स्वयमाश्लिष्येत्तथा च निर्दयाश्लेषकृतं कष्टं ता अनुभवेयुरिति। किञ्च स्त्रियो गौर्यस्तेन ताः सुखमगृह्णन्त, भगवाँस्तु श्यामलतनुतया जलमिलित कान्तिस्ताभिः सुखं नागृह्यतेति बोध्यम्। परिकरालङ्कारः॥ ९९॥

जलक्रीड़ाकालमें भगवान्ने नियम बांध दिया, बाजी लगा दी कि जो पानीमें डूबा हुआ जन पकड़ लिया जायगा उसको खुद गले लगकर पकड़नेवालेको आनन्दित करना पड़ेगा, इस नियमके बन जानेपर भगवान् बिजलीके सदृश वर्णवाली सुन्दरियोंको अनायास पकड़ लेते थे, परन्तु वह सुन्दरियाँ भगवान्को पकड़ नहीं पाती थीं, क्योंकि वह यमुना जल समानवर्ण थे, पानीमें उनका वर्ण मिल जाता था॥ ९९॥

फूत्कृतैः क्वचिदधःस्थितिचिह्नं बुद्बुदं हरिरुदस्य निमग्नः।
वञ्चयन्प्रतिवधूं[1] क्वचिदूरुस्तम्भमम्बुषु चुचुम्ब वराङ्ग्याः॥ १००॥

फूत्कृतैरिति। अम्बुषु जलेषु निमग्नः लीनो हरिः फूत्कृतैः मुखमारुतैः अधःस्थिति चिह्नम् जलान्तरवस्थानसूचकं बुद्बुदम् जलबिन्दुभेदम् क्वचिदेकत्र उदस्य उद्भाव्य प्रकटीकृत्य प्रतिवधूम् प्रियतमायाः सपत्नीं वञ्चयन् छलयन् क्वचिदन्यत्र वराङ्ग्याः सुन्दर्याः ऊरुस्तम्भं चुचुम्ब चुम्बितवात्। भगवतो बहुषु स्त्रीषु काचिदति प्रेयसी, जलविहारसक्तास्तु परा अपि, तत्र जले निलीनो हरिरेकस्याः प्रियतमाभिन्नायाः स्त्रियो निकटे बुद्बुदमुद्भाव्याहमत्रैव वर्त्ते न प्रियतमात्वेनमतायाः समीपंगत इति तां वञ्चयित्वा प्रच्छन्न एव प्रियतमापार्श्वे गत्वा वराङ्ग्याः प्रियतमायाऊरुदेशं चुम्बतिस्मेत्यर्थः॥ १००॥

जलक्रीडामें सक्त स्त्रियोंमें कोई स्त्री भगवान्की अधिक प्यारी थी, भगवान् उसे चूमना चाहते थे, अतः उन्होंने पानीमें डुबकी लगाकर किसी दूसरी स्त्रीके पास बुलबुले छोड़कर उसे ठग लिया कि वह उसीके पास पानीमें हैं और भीतर ही भीतर अपनी प्यारी वराङ्गी-सुन्दरीके पास पहुँचकर उसकी जंघा चूमली॥ १००॥

क्रीडती मण्डलीभूय कृष्णयोरप्सु यौवते।
तटिन्यास्तटयोः प्रान्ते ताटङ्के इव रेजतुः॥ १०१॥

क्रीडती इति। तटिन्याः तटयोः यमुनाया उभयोः कूलयोः मण्डलीभूय मण्डला-

---

१. 'प्रतिवधूः'। इति पा०।

कारेण स्थित्वा क्रीडती विहारपरायणे कृष्णयोः हर्यर्जुनयोः यौवते युवतिमण्डले प्रान्ते यमुनातीरे ताटङ्के इव रेजतुः शुशुभाते। तटिन्या यमुनाया उभयोस्तटयोरवस्थिते युवतीनां कृष्णार्जुनसम्बन्धिनीनां द्वेमण्डले मण्डलीभूयस्थिते क्रीडति च तडिदाभकायकान्तिशालितया वर्त्तुलाकारावस्थानेन च यमुनायाः कुण्डले इव प्रतीयेते स्मेत्यर्थः॥ १०१॥

जलक्रीड़ाकालमें यमुनाके दोनों तटोंपर मण्डलाकार खड़ी हुई तथा क्रीड़ा परायण युवतियोंके दोनों दल, एक दल भगवान्‌की स्त्रियोंका, तथा दूसरा अर्जुनकी स्त्रियोंका, ऐसे लग रहे थे मानो दोनों कानमें लगे हुए यमुनाके दो ताटङ्क हों॥ १०१॥

इति चिरं विहृत्य प्रतीरमुत्तीर्णाभिर्जलमेलनव्रीडादिव संकुचितात्मभिः कुचैरानमिताभिस्तदङ्गसङ्गसंगतशर्माणि[1] मर्मरगिरा संस्तुत्य पवनचञ्चलैरञ्चलैः श्लाघमानानीव वसनानि निर्वसित[2]वतीभिः कायकान्तिलता[3]कोरकाणि[4] कनकाभरणानि कामनीयकपुनरुक्तिमात्रस्य पात्रयन्तीभिर्वधूटीभिः सह तटाटवीं पर्यटतोस्तयोरग्रे दिशि दिशि कृशित[5]शिशिरेतराभीषुप्रकाशो जनदृशां कोशीकरण[6]देशिकः कोऽपि महसां राशिराविरासीत्।

इति चिरमिति। इति एवं प्रकारेण चिरं बहुकालपर्यन्तं विहृत्य जलविहारमनुभूय प्रतीरम् तटं प्रति उत्तीर्णाभिः, जलमेलनव्रीडात् जडस्य सङ्गेन जातादपत्रपाभरात् इव (जलसंगेन) सङ्कुचितात्मभिः लघूभुतैः कुचैः स्तनमण्डलैः आनमिताभिः, नतगात्रीभिः, तासां वनितानामङ्गैः स्तनादिभिः सङ्गेन सम्पर्केण सङ्गतानि जातानि शर्माणि सुखानि मर्मरगिरा स्वकीयमर्मरध्वनिना संस्तुत्य प्रशस्य पवनचलैः वायुवशाच्चलितैः अञ्चलैः वस्त्रप्रान्तैः श्लाघमानानि अभिनन्दयन्तीव वसनानि वस्त्राणि निवसितवतीभिः धारितवतीभिः, कायकान्तिः शरीरसौन्दर्यमेव लता वल्लरी तत्कोरकाणि तन्मुकुलरूपाणि कनकाभरणानि सुवर्णभूषणानि कामनीयकपुनरुक्तिमात्रस्य पात्रयन्तीभिः सौन्दर्यपुनरुक्तिपात्रतामानयन्तीभिः, वधूटीभिः युवतिभिः सहतटाटवीन् यमुनातटभुवि पर्यटतोः भ्रमतोस्तयोः कृष्णार्जुनयोरग्रे पुरतः दिशि दिशि सर्वासु दिक्षु कृशितः कृशतां गमितः क्षीणीकृतः शिशिरेतराभीषोः उष्णकरस्य सूर्यस्य प्रकाशो येन तादृशः सूर्यप्रकाशमपि मलिनीकुर्वाण इत्यर्थः, जनदृशां लोकलोचनानां कोशीकरणेमुकुलितत्वसम्पादने देशिकः आचार्यः (स्वतेजोभरेण लोकनेत्राणि मुकुलीकुर्वन्) कोऽपि अनिर्वचनीयः महसां राशिः प्रकाश-

---

१. 'संगमशर्माणि'। २. 'वसित'। ३. 'कनकलता'। ४. 'कोरकाणीव'। ५. 'क्शित'। ६. 'कोशीकार'। इति पा०।

पुञ्जः आविरासीत् प्रकटीभूयस्थितः। अयमाशयः—चिरं जले विहृत्य तदुपेताभिः जलरूपजडसङ्गजनितलज्जयेव लघुपरिणाहत्तां गतैः स्तनैर्नम्रीभूताभिः, तदङ्गसङ्गजातानि सुखानि मर्मरध्वनिना स्तुत्वा पवनचलैः शिरोभिरिवाञ्चलैः तदङ्गसङ्गसुखोपकारेण तदङ्गानि वन्दमानानीव वसनानि धारितवतीभिः शरीरकान्तिरूपलताकोरकाणीव स्वर्णाभरणानि शोभा पुनरुक्तिमात्रपात्रतां गमयन्तीभिर्युवतिभिः सहयमुनातीरभूमौ पर्यटतोस्तयोः कृष्णार्जुनयोः पुरतः कोपि लघूकृतसूर्यकिरणप्रकाशो लोकनयनानि स्वप्रभयामुकुलीकुर्वन् तेजस्वीपुरुषः प्रादुरासीदित्यर्थः॥

बहुत देर तक पूर्वोक्त प्रकारसे जलविहार करके तीरभूमिमें आई हुई, जड़—जलके सङ्गसे उत्पन्न लज्जासे मानो सङ्कुचित होगये हों ऐसे लघूभूत स्तनोंसे झुकी हुई, उनके अङ्गोंके स्पर्शसे उत्पन्न सुखोंकी मर्मरध्वनि द्वारा स्तुतिकरके पवनचलित अञ्चलरूप शिरसे उन्हें प्रणामसे करते हुए वस्त्रोंको धारण किये हुई, शरीरकी कान्तिरूपलताकी कोरकावलीके समान स्वर्णाभरणोंको सौन्दर्य पुनरुक्तिमात्रका पात्र बनाती हुई युवतियोंके साथ यमुनाके तटमें भ्रमण करते हुए कृष्ण तथा अर्जुनके आगे एक तेजोराशि प्रकट हुई जो सूर्यके प्रकाशको भी मन्द कर रही थी और जो लोगोंकी आंखोंको मुकुलित होना सिखला रही थी, अर्थात् जिसे देखतेही लोगोंकी आंखें झिप जाती थीं॥

उन्मिष्योन्मिष्य यत्नात्परिचलितयथापूर्वशक्त्याथ दृष्ट्या
तन्मध्ये वीक्ष्य कंचित्पुरुषमनुदितच्छायहस्तातपत्रम्।
अक्ष्णा ज्ञातेयमोतोर्विदधतमनयोः प्रश्रयाश्चर्यलब्धा-[1]
द्द्वैराज्यादाकुलाभूद्यदुकुरुवरयोस्तत्क्षणं चित्तसीमा॥ १०२॥

उन्मिष्येति। तत्क्षणं तस्मिन्समये यत्नात् कष्टेन उन्मिष्य उन्मिष्य नेत्रे उन्मील्य (पूर्वं तेजोऽभिघातेन लुप्ताऽपि चिरनेत्रनिमीलनेन लब्धत्वात्) परिचलित यथापूर्वशक्त्या आगतस्वाभाविकसामर्थ्यया दृष्ट्या तन्मध्ये तेजोराशिमध्ये अनुदितच्छायहस्तातपत्रम् छायारहितमातपत्रं करेण धारयन्तम् (उपरि सूर्यप्रभयाऽधश्च धारयितृप्रभयाछत्रस्य तस्य च्छाया राहित्यम्) अक्ष्णा स्वीयनेत्रेण ओतोः विडालस्य ज्ञातेयम् विदधतं कुटुम्बिनम् विडालसमाननेत्रम्, कञ्चित् अप्राप्तपरिचयं पुरुषं वीक्ष्य दृष्ट्वा अनयोः कृष्णार्जुनयोः चित्तसीमा मनोदेशः प्रश्रयेण नम्रतया आश्चर्येण विस्मयेन च लब्धात् प्राप्तात् द्वैराज्यात् द्वौराजानौ यत्र तस्य भावो द्वैराज्यं तस्मात् आकुला अभूत्। कृष्णोऽर्जुनश्च तं तेजोराशिं पुमांसं प्रति प्रश्रयभाजौ साश्चर्यौ च्चाभूतामित्यर्थः। स्रग्धरावृत्तम्॥ १०२॥

प्रयत्न करके पहलेकी सी शक्ति जुटाकर वारवार उन्मेष करके स्वस्थ बनी हुई आंखों

---

१. 'दत्त'। इति पा०।

से कृष्ण तथा अर्जुनने उस आगन्तुक पुरुषकी ओर देखा, वह एक छत्ता लिये हुए था, जिसके नीचे तथा ऊपर कहीं भी छाया नहीं थी, क्योंकि ऊपरमें सूर्यका प्रकाश था, और नीचे उस पुरुषकी प्रभा फैल रही थी। उस तेजस्वी पुरुषकी आखें बिडालकी आंखोंसे समानता करती थीं, उस पुरुषको देखकर अर्जुन तथा कृष्णके हृदयोंमें प्रश्रय तथा आश्चर्य दोनों एक साथ उदित हुआ, उस दिव्य पुरुषके देखनेसे अर्जुन तथा कृष्णके हृदयोंमें नम्रता तथा आश्चर्य दोनों भावोंके द्वैराज्यका उदय हो आया ॥ १०२ ॥

मुखे तिरोवेपथुभिर्वयःकृतैर्मुकुन्दवध्वः कृतसूचना इव ।
द्विजातिवृद्धस्य पथोऽस्य पार्श्वयोर्द्विधापसस्रुः सहसातिभीरवः ॥१०३॥

मुख इति। मुकुन्दस्य कृष्णस्य वध्वः स्त्रियः अस्य समागच्छतस्तेजस्विवृद्धस्य मुखे वयः कृतैः वार्धक्यजनितैः तिरोवेपथुभिः तिरश्चीनकम्पैः कृतसूचनाः पथोऽपसर्तुंकृतप्रेरणा इव अतिभीरवः अतिभीताः सत्यः पथः मार्गात् द्विधा द्वयोर्भागयोः अपसस्रुः अगच्छन्। कम्पमानवदनं वृद्धं तेजस्विनं पुरुषमायान्तं विलोक्य तदीयमुखकम्पमुद्रया मार्गादपसर्त्तुं प्रेर्यमाणा इव मुकुन्दवध्वोमार्गादपसृतवत्य इत्याशयः ॥ १०३ ॥

उस आते हुए तेजस्वी वृद्धपुरुषके मुखके कांपनेसे मानों मुकुन्दकी स्त्रियोंको प्रेरणा मिली कि यह हमें रास्तेसे अलग हट जानेका इशारा कर रहे है, और उसकी तेजस्वितासे सहम कर मुकुन्दकी स्त्रियाँ सहसा रास्तेसे हटकर दोनों भागोंमें खड़ी हो गईं ॥ १०३ ॥

ताभ्यां ततस्तस्य पदोः पुरस्तादपङ्कमात्मानमहो विधातुम् ।
स्पृष्टान्युदञ्चद्बहु[1]घर्मतोयैरष्टाभिरङ्गैरवनीरजांसि ॥ १०४ ॥

ताभ्याम् इति। ततः तस्य वृद्धतेजस्विनः समीपागमने सति ताभ्यां कृष्णार्जुनाभ्याम् आत्मानम् स्वम् अपङ्कम् विगतपापम् नीरजस्कम् च विधातुम् कर्त्तुम्, अहो आश्चर्यम्, तस्य वृद्धतेजस्विनः पदोः चरणयोः पुरस्तात् अग्रे उदञ्चद्बहुधर्मतोयैः चलत्स्वेदवारिभिः अष्टाभिः अङ्गैः करचरणादिशरीराद्यवयवैः अवनीरजांसि महीधूलयः स्पृष्टानि अस्पृश्यन्त। आत्मनः पापमपनोदयितुं तौ तच्चरणयोः साष्टाङ्गं प्रणेमतुरित्यर्थः। पङ्कं प्रक्षालयितुं क्लिन्नैर्गात्रैरवनीरजांसि स्पृष्टवन्त इत्याश्चर्यमिति ध्वनिः। विचित्रालङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—'विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया' ॥ १०४ ॥

उस तेजस्वी वृद्धपुरुषके समीप आ जाने पर वे दोनों कृष्ण और अजुंन अपने पापोंको दूर करनेकी इच्छासे (अपने शरीरको निष्पङ्क बनानेकी इच्छासे) चल रहा है स्वेद जल जिनसे ऐसे अपने आठों अङ्गों द्वारा जमीनकी धूलको छू लिया। उस तेजस्वी पुरुषके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। अपने शरीरको निष्पङ्क बनानेके लिये जमीन की धूलमें

---

१. 'घन'। इति पा०।

लोटने लगे यह आश्चर्यकी बात हुई, अपने पापोंको धो देनेके लिये उनके चरणोंमें गिरे यह वास्तविक अर्थ है ॥ १०४ ॥

परस्परासङ्गफलप्रदित्सया स्वजन्मतारैन्दववासराविव ।
उपस्थितौ तावुपसृत्य संभ्रमात्स[1] आशिषोऽनन्तरमेवमब्रवीत् ॥१०५॥

परस्परेति । सः वृद्धब्राह्मणरूपधरोऽग्निः परस्परम् अन्योन्यम् आसङ्गो मिलनं तस्य फलं भोजनम् तत्प्रदित्सया तद्दानसमीहया उपस्थितौ स्वजन्मतारैन्दव वासरौ जन्मनक्षत्रचन्द्रवासरौ इव (जन्मनक्षत्रेणसह चन्द्रवासरस्य योगे भोजनप्राप्तिरिति ज्यौतिषसिद्धान्तेनेदम्) उपस्थितौ तौ कृष्णार्जुनौ उपसृत्य समीपं गत्वा अनन्तरम् तत्पश्चात् आशिषोऽनन्तरम् इति वा, संभ्रमात् अत्यन्तसंभ्रमेण (भयक्षुद्रादिपीडिते हि संभ्रमः स्वाभाविकः) एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण अब्रवीत् उक्तवान् । 'अध्वा भोजनमालस्यम्' इत्यादिरीत्या भानुवारादेर्जन्मनक्षत्रयोगे मार्गभोजनादिप्रदत्वमुक्तम् , इमौ कृष्णार्जुनौ ममाग्नेर्जन्मनक्षत्रचन्द्रवासराविव परस्परमिलिततया मह्यमग्नये भोजनं प्रदातुमुपस्थिताविवतीव बुद्ध्वा वृद्धब्राह्मणवेषोऽसावग्निस्तयोः समीपं जगाम, आशिष उवाच, तदनन्तरं चार्त्ततया संभ्रमेण वक्ष्यमाणदिशोवाचेति भावः ॥ १०५ ॥

वह वृद्धब्राह्मणवेषधारी अग्नि परस्पर सम्मिलनद्वारा भोजनरूप फल देनेके लिये आये हुए जन्म नक्षत्र और चन्द्रवारके समान कृष्ण और अर्जुनके पास आकर आशीर्वाद दिया और उसके पश्चात् घबड़ाये हुए के समान निम्नलिखित प्रकारसे कहा । 'अध्वा भोजनमालस्यम्' इत्यादि फलकथन परायण ज्यौतिष वचनके अनुसार जब जन्मकालिक नक्षत्र और चन्द्रवारका योग होता है तब भोजन मिलता है, अग्निको मालूम हुआ कि हमारे जन्भ नक्षत्र और चन्द्र वार दोनों मिलाकर मुझे पूरा भोजन प्रदान करनेके लिये आये हैं, वही यह दोनों हैं, ऐसा समझकर ही वह उन दोनों कृष्ण और अर्जुनके पास आया, आशीर्वाद दिया और वक्ष्यमाण रीतिसे कहा ॥ १०५ ॥

क्षुत्प्रपीडयति मामयि वीरौ ! कुक्षिमेत्य चकितेव युवाभ्याम् ।
[2]याच्यते तदशनं बहु भोक्तुं यस्य तृप्यति पुरातिथिरेषः ॥ १०६ ॥

क्षुदिति । अयि वीरौ, युवाभ्यां दृश्यमानाभ्याम् चकिता भयाक्रान्ता इव कुक्षिम् उदरम् एत्यक्षुत् बुभुक्षा माम् अग्निम् पीडयति व्यथयति, (यथा कोऽपि कमपि भीषणं पदार्थं दृष्ट्वा चकितो भूत्वा क्वापि निभृते स्थाने निलीयते, तथैव भवन्तं दृष्ट्वा चकिता क्षुन्ममोदरे गत्वा स्थिता सती मां पीडयतीति भावः) एषः मल्लक्षणः अतिथिः यस्य अन्नस्य भक्ष्यमाणस्य तृप्यतिसन्तुष्टो भवति तत् खाण्डववनरूपम् अशनम् भोजनं बहुभोक्तुं यावत्तृप्ति भक्षयितुं याच्यते प्रार्थ्यते, खाण्डव-

---

१. 'तदाशिषो' । २. याचते' । इति पा० ।

रूपं वनं मह्यं भक्ष्यत्वेन प्रदाय मां तर्पयेति प्रार्थनां करोमीति यावत्। खाण्डवं नाम वनं दिधक्षामि तत्र मम साहायकं कुरुतमिति तात्पर्यम्। स्वागतावृत्तम् ॥१०६॥

आप दोनों वीरोंको देखकर भयभीत हो पेटमें पैठ कर यह भूख मुझे सता रही है, मैं भूखसे पीडित हूँ, ऐसा लगता है, मानों आपको देखकर डरी हुई भूख मेरे पेटमें पैठ गई हो, इसलिये—जिसमें मैं अतिथि तृप्त हो जाऊँ ऐसा खाण्डववनरूप भोजन भर पेट खानेके लिये मांग रहा हूँ। अर्थात् मैं खाण्डववनका दाह करना चाहता हूँ, बहादुरो, आप उस कार्यमें हमारी सहायता करें, यही मेरी प्रार्थना है॥ १०६॥

इत्थं स्वदक्षिणकरं पुरतः प्रसार्य
तस्यार्दतो वचनपार्ष्ण्यनुधाविवेगा।
ताभ्यां तथेति फणितिस्तु समाललम्बे
सत्स्वर्थना फलमदौहृदमेव सूते ॥ १०७॥

इत्थमिति। इत्थम् उक्तप्रकारेण स्वदक्षिणकरं स्वीयं सव्येतरं बाहुं पुरतः प्रसार्य अग्रे कृत्वा अर्दतः भोजनम् अर्थयमानस्य तस्याग्नेः वचनपार्ष्ण्यनुधाविवेगा तदीयवचनानुसारिवेगशालिनी, (येन वर्त्मना प्रार्थयितुरग्नेर्वचनं गतं तेनैव वर्त्मना वेगेन गच्छन्ती, तदीयोक्तिमनुसरन्ती) तथा त्वदर्थितं भोजनं ते दास्यामीत्येवं रूपा फणिति उक्तिः ताभ्यां कृष्णार्जुनाभ्यां समालम्बे आश्रिता, तौ तथाभोजनमर्थयमानस्याग्नेर्वचनस्य त्वरया स्वीकारं चक्रतुरित्यर्थः, तत्रार्थान्तरन्यासमाह—सत्स्विति। अर्थना प्रार्थना सत्सु महापुरुषेषु विषये क्रियमाणा अदौहृदं गर्भधारणं विनैव फलं सूते जनयति, अर्थना स्त्री सद्भिः सङ्गे सति त्वरितमेव फलमपत्यं जनयतीत्यर्थः। सन्तो विलम्बमकृत्वैवार्थिनोऽनुगृह्णन्तीति परमार्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ १०७॥

इस प्रकार हाथ पसार करके याचना करनेवाले अग्निदेवके वचनके पीछे द्रुतगतिसे कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा दिया गया—स्वीकार वचन चला, अर्थात् ज्योंही उसकी प्रार्थना समाप्त हुई कि इन दोनोंने तथा कहकर अपनी स्वीकृति दे दी, क्योंकि सज्जनोंसे की गई प्रार्थना बिना कालविलम्ब गर्भधारणके ही फलप्रद होती है॥ १०७॥

अथ मुदा कथितात्मयथातथाभावो भगवान्बृहद्भानुर्दन्तपटीयवनिकान्तर्नटत्स्मितयोर्देवकीपृथासुतयोर्धुरि गिरिदरीवसतिधुरीणविभावरीचरसरीसृपदिविषदरीशमेदुरीकृतदुरीहितताण्डवस्य खाण्डवस्य जगत्कण्ठेगडुत्वं तत्परिरक्षणदक्षस्य ऋभुक्षणस्तक्षके पक्षपातं च विनिवेद्य युव-

---

१ 'भणितिः'। २. 'जवनिका'। ३. 'नटीभवत्'। ४. 'ताण्डवस्य जगत्कण्ठे'। ५. 'गडुत्वं च'। ६. 'निवेद्य'। इति पा०।

योः कटाक्षबलेन क्षणाद्दिधक्षामीति स्वैमपेक्षितविशेषमाचचक्षे ॥

अथेति ; अथ श्रीकृष्णार्जुनाभ्यां खाण्डववनदाहे सहायतायाः करिष्यमाणतया स्वीकृतेरनन्तरम् मुदा हर्षेण कथितात्मयथातथाभावः उक्तस्वीयाग्निभावः भगवान् सामर्थ्योपपन्नः बृहद्भानुः वह्निः दन्तपटी एव यवनिका तिरस्कारिणी तस्याः अन्तः अभ्यन्तरभागे नटत् प्रसरत् स्मितं मन्दहसितं ययोस्तयोरीषद्धासशालिमुखयोः देवकीपृथासुतयोः कृष्णार्जुनयोः धुरि पुरतः—गिरिदरीषु पर्वतकन्दरासु वसतिधुरीणैर्निवासिभिः विभावरीचरैः राक्षसैः, सरीसृपैः सर्पैः, दिविषदरीशैः असुरश्रेष्ठैश्च मेदुरीकृतं व्याप्तं दुरीहितानां दुष्टचेष्टितानां लोकोपद्रवाणां ताण्डवं प्रकाशीभावो यत्र तस्य खाण्डववनस्य कण्ठेगडुत्वं महागुलिकारूपरोगविशेषत्वं यथासौ रोगो गलग्रहणद्वारानाशकरस्तथैवं खाण्डवमपि जगन्नाशकम् इत्याशयः, तस्य खाण्डवस्य परिरक्षणेदक्षस्य समर्थस्य ऋभुक्षणः शक्रस्य तक्षके तद्वनवर्त्तिनि महासर्पभेदे पक्षपातम् च विनिवेद्य अभिधाय युवयोः कृष्णार्जुनयोः कटाक्षबलेन साहाय्यप्रदानकृपया क्षणात् त्वरया (तत् खाण्डवम्) दिधक्षामीति स्वम्=निजम् अपेक्षितविशेषं कामितार्थमाचचक्षे उक्तवान्। अयमर्थः—यदा कृष्णार्जुनौ खाण्डवदाहे साहायकं स्वीकृतवन्तौ तदाऽग्निः स्वंपरिचयमदात्, स्मयमानमुखयोः कृष्णार्जुनयोः पुरतश्च पर्वतकन्दरावासिनां नक्तञ्चराणां, सर्पाणां, राक्षसविशेषाणाञ्च दुश्चेष्टितानां ताण्डवभूमिरिदं खाण्डवं जगदहितकरमिति शक्रश्चैतत्खाण्डववनवर्त्तिनस्तक्षकस्य स्नेहेनास्य खाण्डवस्य दाहं न सहिष्यत इत्यथापि भवतोरनुकम्पया धक्ष्यामि वनमिदमहमितिचाभ्यधात् इति।

इसके बाद कृष्ण तथा अर्जुन द्वारा सहायता करना स्वीकार करने पर अग्निदेवने अपना यथावत् परिचय दिया, कृष्ण तथा अर्जुनके ओठके भीतर मुस्कुराहट खेलने लगी, फिर अग्निने बताया कि पर्वत कन्दराओंमें रहनेवाले निशाचर, सर्प, तथा–देवगणके शत्रु श्रेष्ठ–राक्षस मुख्योंके दुश्चेष्टितोंकी ताण्डव लीलाका रङ्गमञ्च रूप यह खाण्डव संसारके लिये विनाशक है, इस खाण्डववनकी रक्षामें समर्थ इन्द्रवनमें रहनेवाले तक्षकनागके बड़े भारी पक्षपाती हैं, फिर भी आप दोनोंकी कृपासे हम खाण्डवको एक क्षणमें जलाकर खाक कर देंगे, इस प्रकार अग्निदेवने अपना अभिप्राय कह सुनाया ॥

भ्रूसंज्ञया यदुपतेः पुरुहूतसूनुः
संतुष्यतोऽथ जगृहे स तनूनपातः।
तूणौ च गाण्डिवसखौ तुरगांश्च शुभ्रा-
न्कान्तं रथं च नटता कपिकेतनेन ॥ १०८ ॥

भ्रूसंज्ञयेति। अथ अग्निवाक्यश्रवणानन्तरम्, स पुरुहूतसूनुः इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः

---

१. 'स्वयमपेक्ष्य'। इति पा०।

यदुपतेः श्रीकृष्णस्य भ्रूसंज्ञया भ्रुवाकृतेनेङ्गितेन सन्तुष्यतः साहायकस्वीकृतिप्रसन्नात् तनूनपातः वह्नेः सकाशात् गाण्डिवसखौ गाण्डीवनामकधनुषासहितौ तूणौ तूणीरद्वयं शुभ्रान् धवलवर्णान् तुरगान् अश्वान् नटता नृत्यता कपिकेतनेन कपियुक्तध्वजेन कान्तं रमणीयं रथं च जगृहे प्राप्तवान्। असाधारणैरेवोपकरणैस्तादृशस्य महतः कार्यस्य सम्पाद्यतया गाण्डीवाख्यं धनुस्तूणीरद्वयं शुभ्रांश्चतुरोऽश्वान् हनूमता ध्वजस्थितेन सनाथं रथं चाग्निस्तस्मैदत्तवान्स च तानि सा धनानि कृष्णाभिप्रायानुसारेण स्वीचकारेत्याशयः॥ १०८॥

इसके बाद इन्द्रके पुत्र अर्जुनने भगवान् द्वारा भ्रूका इङ्गित पाकर खुश होते हुए अग्निदेवसे दिये गये—गाण्डीवधनुपके साथ दो तूणीर, उजले घोड़े और कपिवर हनूमान्के ध्वजापर विराजमान रहनेके कारण सुन्दर रथ—स्वीकार किया। अर्थात् अग्निदेवने अर्जुन को कही गई चीजें दीं और अर्जुनने उन्हें स्वीकार किया॥ १०८॥

मरुन्मनोमार्गणवैनतेयपृथग्जयात्तैरिव कीर्तिशावैः।
चतुर्भिरश्वैः समुपास्यमानं स फाल्गुनस्तं रथमारुरोह॥ १०९॥

मरुदिति। सः फाल्गुनः अर्जुनः मरुतः वायोः, मनसः, मार्गणस्य बाणस्य, वैनतेयस्य गरुडस्य च एषां चतुर्णां पृथक् प्रत्येकं ये जयाः पराभवास्तेभ्यः आत्तैः प्राप्तैः कीर्त्तिशावैः यशःशिशुभिः इव स्थितैश्चतुर्भिरश्वैः समुपास्यमानं सेवितं तं वेगवत्तया प्रसिद्धं रथम् आरुरोह। रथे चत्वारोऽश्वास्ते मरुतं मनोबाणं गरुडं च जित्वा प्राप्ताः कीर्त्तिशावका इव प्रतीयन्ते, तादृशैरश्वैः सनाथमश्वं धनञ्जय आरुरुहदित्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ १०९॥

वह अर्जुन हवा, मन, बाण, एवं गरुड़को अलग-अलग जीतकर प्राप्तकीर्त्ति शिशुके समान प्रतीत होनेवाले अश्वोंसे युक्त उस रथपर आरूढ़ हो गये। अर्जुनने उस रथपर आरोहण किया जिसमें अति वेगशाली चार घोड़े जुते थे, वे घोड़े ऐसे लग रहे थे, मानो हवा, मन, बाण, एवं गरुड़की विजय करनेसे प्राप्त चार कीर्त्तिशावक हों॥ १०९॥

दशमुखनगरे पुरानुभूतं दहनहठात्करणं पुनर्दिदृक्षुः।
उपगत इव मारुतिः स साक्षादुदलसदस्य रथाग्रकेतनाङ्कः[2]॥ ११०॥

दशमुखेति। अस्य खाण्डवदाहप्रवृत्तस्यार्जुनस्य रथाग्रकेतनाङ्कः रथोपरिस्थितध्वजचिह्नभूतः कपिः दशमुखनगरे लङ्कायां पुरा लङ्कादाहसमयेऽनुभूतं साक्षात्कृतम्, दहनहठात्करणम् अग्नेर्बलात्कारं दिदृक्षुः द्रष्टुंकामयमानः अतएव साक्षादुपगतः मारुतिः हनूमान् इव उदलसत् अशोभत। अर्जुनस्य ध्वजाग्रेकपिचिह्नमवर्त्तत, तच्चिह्नभूतः कपिर्लङ्कायां यथाऽग्निः प्रागुदजृम्भत, तादृशमेव तदीयं

---

१. 'जयाप्तैः'। २. 'कितनाङ्कम्'। इति पा०।

जृम्भणं द्रष्टुमिच्छुरागतः साक्षाद्धनूमान् इव प्रतीयतेस्मेति तात्पर्यम्। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ११० ॥

अर्जुनके रथके ऊपर ध्वजा पर चित्रित कपि मूर्त्ति ऐसी लगती थी, मानों पुराने समयमें लङ्कामें साक्षात्कृत अग्निकी हठपूर्वक ध्वंस लीला पुनः देखनेकी इच्छासे आये हुए साक्षात् हनूमानजी विराजमान हों ॥ ११० ॥

तद्भुजावनुधावन्त्याः संग्रामेषु जयश्रियः।
जङ्घाद्वयधियं तूण्यौ[3] जनयामासतुस्तदा ॥ १११ ॥

तद्भुजाविति। संग्रामेषु युद्धेषु तूणौ अर्जुनाय वह्निनादत्तावक्षया तूणीरौ तस्य अर्जुनस्य भुजौ बाहू अनुधावन्त्याः अनुगच्छन्त्याः जयश्रियः विजयलक्ष्म्याः जङ्घाद्वयधियं जङ्घायुगलबुद्धिं तदा खाण्डववनदाहावसरे जनयामासतुः। अर्जुनस्य तूणीरौ विलोक्य लोकानां हृदये संशयो जायते यत्किमिदं युद्धे अर्जुनस्य बाहू अनुसरन्त्या विजयश्रियो जङ्घाद्वयमस्तीति। स्फुटोत्प्रेक्षा ॥ १११ ॥

युद्धमें अर्जुनके बाहुओंका अनुसरण करनेवाली विजयलक्ष्मीकी जङ्घाद्वयीके समान वे दोनों तूणीर उस खाण्डव वनके दाहकालमें लगते थे। अर्जुनने अपने पृष्ठके दोनों तरफ दोनों तूणीर बांध रखे थे, वे ऐसे प्रतीत होरहे थे मानो विजयलक्ष्मी युद्धमें अर्जुनके बाहुओंके पीछे चला करती है, यह उसीकी दोनों जङ्घाएँ हों ॥ १११ ॥

पवनसखदृशोर्मुदं वितन्वन्पटुतरटंकृतिकम्पिताटवीकः।
कुटिलमतनुतार्जुनः कराभ्यां गुणमिव[4] दण्डमथास्य गाण्डिवस्य ॥

पवनसखदृशोरिति। अथ अर्जुनः पवनसखस्याग्नेर्दृशोर्नयनयोर्मुदं हर्षं वितन्वन् जनयन् सन् पटुतरया गभीरया टङ्कृत्या धनुष्टङ्कारेण कम्पिताटवीकः कम्पितखाण्डववनः कराभ्यां हस्ताभ्याम् अस्य स्वहस्तधृतस्य गाण्डीवस्य गुणमिव रज्जुमिव दण्डमपि कुटिलं वक्रमकुरुत। यथार्जुनो धनुषो गुणंप्रत्यञ्चामाकृष्टवाँस्तथा तथा तद्दण्डोपि नतोजातः, एतेन बलवदाकर्षणं व्यञ्जितम् ॥ ११२ ॥

इसके बाद वायुके सखा अग्निदेवकी आंखोंको सन्तृप्त करनेवाले अर्जुनने गम्भीर धनुष टंकारसे वनको कँपाकर गाण्डीवके गुण-प्रत्यञ्चाकी तरह उसके दण्डको भी टेढ़ा कर दिया, अर्थात् जोरोंसे खींचकर झुका दिया ॥ ११२ ॥

अथ गरुडवलीमुखध्वजाभ्यामनुमतिमेत्य स संननाह हर्षात्।
बलरिपुमणिनीलमुत्प्रवालं वनमशितुं वडवास्यभूरिवाग्निः ॥ ११३ ॥

अथेति। अथ अर्जुनेन धनुषि टंकारिते सति गरुडध्वजः कृष्णः वलीमुखध्वजः कपिध्वजोऽर्जुनश्च तयोः अनुमतिम् अनुज्ञामेत्य प्राप्य सः अग्निः बलरिपुमणि-

---

१. 'तूणौ'। २. 'असकृत्'। ३. 'अपि'। ४. 'इव'। इति पा०।

नीलम् इन्द्रनीलमणिश्यामम् उत्प्रवालम् उद्गतनूतनपल्लवं वनम् अशितुं भक्षितुं दाहयितुं हर्षात् प्रसादमादाय सन्ननाह उद्यतोऽभूत्, वडवास्यभूः वडवानलः इव इन्द्रनीलमणितुल्यश्यामम् उद्गतविद्रुमं च वनं जलम् अशितुमिव, अयमाशयः—अर्जुनेन धनुषि टंकारिते कृष्णार्जुनानुमतिमादायाग्निः वनम् दग्धुं प्रवृत्तः, कीदृशं वनम्? इत्याह—वलरिपुमणिनीलम् इन्द्रनीलमणिश्यामलम्, उत्प्रवालम् उदितनूतनपल्लवं च। यथा वडवानलो वनम् जलम् अशितुं प्रवर्त्तते, वनं जलं तत्रापि—इन्द्रनीलमणिश्याममिति उत्प्रवालमिति च विशेषणं बोध्यम्, तत्रान्त्यविशेषणस्य सम्मुद्रजलपक्षे-प्रकटविद्रुमम् इत्यर्थः। श्लिष्टविशेषणोपमालङ्कारः ॥११३॥

इसके बाद गरुडध्वज—कृष्ण और कपिध्वज—अर्जुनकी अनुज्ञा प्राप्त करके अग्निदेवने इन्द्र नीलमणि की तरह श्यामवर्ण एवं नूतन पत्रोंसे युक्त उस खाण्डवनको दग्ध करनेकी सहर्ष तैयारी की, जैसे वडवानल—इन्द्रनीलमणि श्यामल तथा विद्रुमोंसे युक्त समुद्र जलको शोषित करनेकी तैयारी करता है ॥ ११३ ॥

शोणरुचा शिखयातिमहत्या बाणपुरावृतिवासनयेव।
चण्डतरोऽस्य[1] वनस्य समन्तात्कुण्डलनां[2] कलयन्ववृधेऽग्निः ॥११४॥

शोणरुचेति। अथ चण्डतरः अतिभीषणः अग्निः बाणपुरस्य शोणितपुरसंज्ञयाख्यातस्य बाणासुरनगरस्य आवृतिवासनया प्राकाररूपतयाऽवस्थानस्य संस्कारेण इव अतिमहत्या विशालया शोणरुचा रक्ताभया शिखया निजज्वालया अस्य खाण्डववनस्य कुण्डलनां कुण्डलाकारेण समन्ततो वेष्टनम् कलयन् कुर्वन् ववृधे समृद्धिमाप। पुरा बाणासुरस्य नगरं शोणितपुराख्यं वह्निना प्रकारभावं गतेनावेष्ट्यत, तत्संस्कारेणेवाग्निरिदं खाण्डवं वनमपि स्वीयया रक्ताभया ज्वालया समन्ताद् वेष्टयित्वाऽवर्धतेत्यर्थः। तोटकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा, तोटकवृत्तमिदं 'भभभागौ' इति ॥ ११४ ॥

अतिभयानक वह अग्नि अपनी लाल ज्वालासे उस खाण्डव वनको चारो ओरसे कुण्डलाकारसे वेष्टित करके बढ़ने लगा, उसका वह वेष्टित करना ऐसा लगता था मानो पुराने समयमें आग ने बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको प्राकार बनकर घेरा था, उसी वासना—संस्कारके वश इस समय वह खाण्डव वनको समन्ततः वेष्टित कर रही हो॥

प्रथमं पावकषिङ्गे परिरभ्य गृहीतपल्लवोष्ठपुटे।
उपकण्ठे[3] वनराजेरुदगादाकुलकपोतनादततिः ॥ ११५ ॥

प्रथममिति। पावको वह्निरेव षिङ्गः विटः तस्मिन् प्रथमं परिरभ्य समन्ततो वेष्टयित्वा आलिङ्ग्य च गृहीतः चुम्बितः दग्धुं धृतश्च पल्लव एव ओष्ठपुटो येन तादृशे सति वनराजेः वनपङ्क्तेः प्रियायाः उपकण्ठे समीपदेशे गलदेशे च आकुलानां भव-

---

१. 'चण्डतरस्य'। २. 'कुण्डलनम्'। ३. 'उपकण्ठम्'। इति पा०।

त्रस्तानाञ्च कपोतानां पारावतानां नादततिः आक्रन्दशब्दः (कपोतनादतुल्यः सुरतसुखशब्दश्च) उदगात् आविरासीत् । विटेन प्रियाया आलिङ्गनेन ओष्ठं पातुं प्रवृत्या च प्रियाया रसावेशवशात् कपोतशब्दोपमः शब्दः प्रकटीभवति, तथैव वह्नौ वनराजिं समन्ततो वेष्टयित्वा तदीयपल्लवान्दग्धुं प्रवृत्ते सति भीतानां कपोतानां संभ्रमध्वनिराविरासीदित्यर्थः ॥ समासोक्तिरलङ्कारः, 'समासोक्तिः परिस्फूर्त्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्' इति तल्लक्षणात् । संभोगस्यालिङ्गनपूर्वकत्वं रतिकूजितानां कपोतनादसाम्यं चोक्तं रतिरहस्ये यथा—'आदौ रतं वाह्यमिह प्रयोज्यं तत्रापि चालिङ्गनमेव पूर्वम्' । तत्र भावुककपोतवारिदेत्यादिना रत्यायासजनितो हुंकारो भणितमिति च ॥ ११५ ॥

विट जब आलिङ्गन करके प्रियाका अधर ग्रहण करता है तब उस प्रियाके कण्ठसे कबूतरके शब्दके समान रतिकालिक शब्द निकलता है, पावक रूप विटने प्रिया रूप अटवीका वेष्टन करके ओष्ठ रूप पल्लव पकड़ा है, कबूतर आर्त्तनाद करते हैं, मानो अटवी भणित कर रही हो ॥ ११५ ॥

क्रमेण प्रबलीभवतो भगवतः पवमानसखस्य तमालादिषु केषुचित्तरुषु पर्णोच्चयायमानैर्धूमैः[1] किंशुकादिषु केषुचिद् द्रुमेषु[2] स्तबकायमानैर्ज्वालाकंदलैस्तिलकादिषु[3] केषुचित् पचेलिमफलबीजायमानैः[4] स्फुलिङ्गैर्हरिचन्दनादिषु केषुंचिद्विटपिषु वल्कलायमानैरालोकैर्नीडवत्सु[5] केषुचित्परस्परपक्षिपक्षताडनरटनायमानैः प्लोषचटचटत्कारैश्च[6] परितः[7] परीतमपि तद्वनं मुहूर्तं[8] यथापुरमवतस्थे॥

क्रमेणेति । क्रमेण शनैः शनैः प्रबलीभवतो वर्धमानस्य भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः पवमानसखस्य वायुसखस्याग्नेः तमालादिषु केषुचित्तरुषु कतिपयद्रुमेषु पर्णोच्चयायमानैः पत्रराशिवदाचरद्भिः धूमैः (वर्धमानस्य वह्नेर्धूमराशिः केषुचित्तमालादिषु तरुषु तत्पत्रराशिरिव प्रतीयतेस्मेत्यर्थः) किंशुकादिषु रक्तकुसुमेषु केषुचिद्रुमेषु स्तबकायमानैः पुष्पगुच्छशोभामावहद्भिः ज्वालाकन्दलैः ज्वालाजालैः (वह्नेर्ज्वाला किंशुकादितरुपुष्पस्तबकतया प्रत्यभासतेत्यर्थः) तिलकादिषु केषुचित् रक्तबीजेषु तरुषु पचेलिमफलबीजायमानैः पक्वफलबीजवत्प्रेक्ष्यमाणैः स्फुलिङ्गैः (तिलकादिरक्तबीजतरुषु वह्निस्फुलिङ्गाः पक्वतद्बीजबुद्धिमकृषतेत्याशयः) हरिचन्दनादिषु केषुचित् रक्तत्वक्षु विटपिषु वृक्षेषु वल्कलायमानैः तत्तरुवल्कलतुलामधिरोहद्भिः आलोकैः वह्निप्रकाशैः, (वह्नेरालोकाः रक्तत्वचां हरिचन्दनादितरूणां

१. 'द्रुद्रष्टुमेषु' । २. 'पत्रोच्चयाय' । ३. 'केषुचित्स्तबका' । ४. 'पक्त्रिम' । ५. 'केषुचिद्वल्कलायमानैः' । ६. 'प्रोच्चचटचटत्कारैः' । ७. 'सर्वतः' । ८. 'तद्वनं यथापुरम्' । इति पा० ।

निकटे तदीयत्वच्चाबुद्धिमुदपादयन्निति भावः) नीडवत्सु पक्षिकुटीरशालिषु केषु-चिद्वटादितरुषु परस्परम् अन्योन्यं पक्षिणां पक्षाभ्यां ताडनेन प्रहारेण यद्रटनं तद्व-दाचरद्भिः रटनायमानैः प्लोषचटचटत्कारैः दाहजन्यचटचटाशब्दैः (अग्नेश्चटचटा-शब्दो नीडवत्सु वटादितरुषु पक्षिणां पक्षताडनानीव प्रतीयन्तेस्मेति) परितः परीतं व्याप्तमपि तद्वनम् यथापुरम् पूर्ववत् अवतस्थे । दाहात्पूर्वम् अपि तत्र वने तमालादिपत्राण्यासन्नेव, किंशुकस्तबका अभवन् , तिलकबीजानि रक्तान्यासन्, हरि-चन्दनवल्कलानि चालोकवर्णान्यासन् , पक्षिणोऽन्योन्यं पक्षाभ्यां प्राहरंश्च नीडेषु सम्प्रति दाहे प्रवर्त्तमाने धूमस्तमालपत्रात्मना, ज्वालाजालः किंशुकस्तबकरूपतया, अग्निस्फुलिङ्गारक्ताभतिलकबीजत्वेन आलोका हरिचन्दनवल्कलतया, दाहचटचटा-शब्दाश्च पक्षिपक्षाघातत्वेन संभाव्यमानाः किमपि नूतनत्वमभावयन्तो वनस्य यथा-पूर्वत्वं द्योतयन्तीति बोध्यम् ॥

क्रमशः जब आगकी वृद्धि हुई तब तमालादि वृक्षों पर आया हुआ धूम तमालका पत्ता सा लगता था, लाल पुष्पवाले किंशुकादि वृक्षों पर आई हुई वह्निकी ज्वाला पुष्पगुच्छ सी प्रतीत होती थी, तिलकादि वृक्ष पर फैलते हुए वह्निस्फुलिङ्ग उन वृक्षोंके रक्तवर्ण बीजके समान मालूम पडते थे, हरिचन्दनादि वृक्षों पर पड़ता हुआ वह्न्यालोक उन वृक्षोंके वल्कलकी समता पा रहे थे, और घोसलावाले वृक्षों पर दाहकी चटचटध्वनि ऐसी मालूम पड़ रही थी मानो पक्षिगण आपसमें पक्षप्रहार कर रहे हों, इस तरह आगसे वेष्टित होने पर भी वह वन यथापूर्वकी स्थितिमें प्रतीत होता था ॥

हुताशनपरित्रासादुच्चलन्त्या वनश्रियः ।
कबरीव श्लथा वेगात्कापि धूम्या खमानशे ॥ ११६ ॥

हुताशनेति । हुताशनपरित्रासात् अग्निभयात् उच्चलन्त्याः वनं विहायोर्ध्वं गच्छन्त्याः वनश्रियः काननलक्ष्म्याः वेगात् संभ्रमवशात् श्लथा मुक्तबन्धा कबरी-केशभार इव धूम्या धूमराशिः खम् आकाशम् आनशे व्याप्तवती । अग्निभयात् खाण्डववनं हित्वा गच्छन्त्या वनश्रियो वेगेन श्लथायाः कबर्याः सदृशी धूमराजि-र्दिवि वितायतेस्मेति भावः ॥ ११६ ॥

अग्निके भयसे खाण्डववनको छोड़कर ऊपरकी ओर भागती हुई वनलक्ष्मीके वेगवश खुले हुए केशभारके समान प्रतीत होनेवाली धूमराशि आकाशमें फैल गई ॥ ११६ ॥

वलयं धूमरेखाया वर्त्मनि द्योसदां[1] बभौ ।
भाविनः शरकूटस्य परितो मानसूत्रवत् ॥ ११७ ॥

वलयमिति । धूमरेखायाः धूममालायाः वलयं मण्डलम् द्योसदां देवानां वर्त्मनि मार्गे आकाशे भाविनः भविष्यतः शरकूटस्य बाणनिर्मितशालायाः परितः यावत्

१. 'द्युसदाम्' । इति पा० ।

मानसूत्रवत् मानसूत्रमिव बभौ। गृहं निर्मित्सुः पूर्वं यावतिदेशे गृहं निर्मेयं तावन्तं देशं मानसूत्रेण मिमीते, आकाशे व्याप्तं धूमरेखावलयं भाविनो बाणगृहस्य मानसूत्रमिव प्रतीयते स्म आकाशे बाणा व्याप्स्यन्ति, बाणैर्गृहमिव निर्मितं भविष्यति तस्य निर्मास्य मानस्य गृहस्य मानसूत्रमिव धूमरेखावलयं दिवि प्रतीयतेस्मेति भावः॥ ११७॥

आकाशमें फैला हुआ धूमलेखामण्डल ऐसा लग रहा था मानो अर्जुन द्वारा छोड़े गये बाणोंसे बननेवाले आकाशस्थायी बाणनिर्मित गृहका मानसूत्र (नक्शा) बनाया जा रहा हो॥ ११७॥

अस्यैव गाण्डिवभृतो भुवि भो जन[1]! त्वं
मल्लं तृणाय मरुतामपि मन्यमानम्[2]।
[3]बाह्वोर्बलं पठ पठेति वदन्निवाग्निः
स्फोटारवं स झटिति स्फुटयांचकार[4]॥ ११८॥

अस्यैवेति। भोः जन हे संसारस्थलोक, त्वं मरुतां देवानां मल्लं प्रधानयोधमिन्द्रमपि तृणाय मन्यमानम् अनाद्रियमाणम् अस्य पुरो विक्राम्यतः गाण्डिवभृतः गाण्डिवाख्यधनुर्धरस्यार्जुनस्य बाह्वोः भुजयोर्बलं सामर्थ्यं पठ पठ भूयोभूय उच्चारय इति वदन् इव कथयन्निव सोऽग्निः झटितित्वरया स्फोटेन वंशादीनामग्निसंयोगजेन दलनेन य आरवः पटपटाशब्दस्तं स्फुटयांचकार प्रकटयामास। अग्नौ प्रसरति वंशादयः पटपटाशब्दं कुर्वते मन्ये तैः शब्दैरग्निः संसारवासिनो बोधयति यद्यूयं शक्रमप्यनाद्रियमाणमर्जुनस्य पराक्रममेव स्तुतेति। उत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ११८॥

आगके फैलने पर वंशादिके विदलित होनेसे पट पट शब्द होने लगे, मानो आग उस पटपटा शब्दके द्वारा लोगोंसे कह रही थी कि अरे ओ संसारके वासियो, देवताओंके प्रधान इन्द्रको भी जिसने तृणवत् समझा, अर्जुनके उस बाहुबलकी ही तुम स्तुति करो॥ ११८॥

स्वपार्श्वयुग्मज्वलदग्निकन्दला वनान्तभाजोऽजगरा महत्तराः।
निशातवज्र[5]क्षतनिःसृतासृजां दशामयत्नाज्जगृहुर्महीभृताम्॥ ११९॥

स्वपार्श्वेति। स्वपार्श्वयुग्मे आत्मनो द्वयोर्भागयोः ज्वलन्तः दीप्यमानाः अग्निकान्दलाः वह्निसमूहा येषां ते तथोक्ताः, वनान्तभाजः खाण्डववनमध्यवर्त्तिनः महत्तरा अजगराः सर्पभेदाः, निशातं तीक्ष्णं यद्वज्रम् कुलिशं तत्क्षतेन तत्प्रहारेण निःसृतासृजाम् निर्गतशोणितानाम् महीभृताम् पर्वतानाम् दशां तुलाम् अयत्नात्

---

१. 'हे जन'। २. 'मन्यमानः'। ३. 'बाह्वोः'। ४. 'स्फुटयाम्बभूव'।
५. 'क्षतिनिःसृतासृजाम्'। इति पा०।

प्रयासं विनैव जगृहुः अवापुः । अजगराणां पार्श्वयोर्दीप्ता अग्नयः स्थितैस्तैरग्निभिस्तेऽजगरा इन्द्रवज्रप्रहारनिर्गतासृजां पर्वतानां तुलनामवापुरिति भावः । अजगराः पर्वता इव तत्पार्श्वस्था वह्नयश्च वज्रप्रहारस्रुतशोणितोपमाः प्रत्यभासन्तेति परमार्थः ॥ ११९ ॥

उभय भागमें जिनके अग्निकी ढेर लग रही है ऐसे खाण्डववनवर्ती बड़े बड़े अजगर इन्द्र द्वारा किये गये वज्रप्रहारसे निकले हुए रुधिरसे युक्त पर्वतोंकी समताको विना किसी प्रयासके प्राप्त कर रहे थे ॥ ११९ ॥

तत्र निकुरम्बाणि स्तम्बेरमाणामामूलमनलार्चिरवलम्बितदन्तमुसलानि प्रेमपरवशतया वशासु वितरितुं स्वसृक्क[1]भागविन्यस्तजग्धार्धसल्लकीपल्लवकवलानीव क्षणमलक्ष्यन्त ॥

तत्रेति । तत्र दह्यमाने खाण्डववने आमूलं मूलपर्यन्तम् अनलार्चिभिः अग्निशिखाभिः अवलम्बितानि धृतानि दन्तमुसलानि येषां तानि तथोक्तानि स्तम्बेरमाणां गजानां निकुरम्बाणि समूहाः प्रेमपरवशतया स्नेहवशंवदतया वशासु करिणीषु वितरितुं प्रदातुम् स्वेषाम् सृक्कभागेषु विन्यस्ताः स्थापिता जग्धार्धाः भक्षितार्धाः सल्लकीपल्लवानां कवला ग्रासा येषां तानीव क्षणम् कियत्कालपर्यन्तम् अलक्ष्यन्त प्रतीयन्ते स्म । अग्निना मूलपर्यन्तं दह्यमानदन्ता गजाः स्वप्रियाभ्यो दातुं सृक्कस्थापितसल्लकीपल्लवा इव प्रतीयन्ते स्मेत्यर्थः । सल्लकीपल्लवानामतिरक्ततया तत्पल्लवानां करिभिराद्रियमाणतया च सृक्कभागेऽवस्थापनस्य स्वभावसिद्धतया चेयमुत्प्रेक्षा ॥

उस वनमें कुछ हाथियोंका समुदाय था, उनके लम्बे लम्बे दाँतोंकी जड़तक आग फैल गई थी, लाल लपटें उनके सृक्कभागसे ऐसी लग रही थी, मानो वे हाथी अपनी प्रियतमा हथनियोंको प्रेमोपहारके रूपमें देनेके लिये अपने सृक्कभागोंमें अर्धभक्षित सल्लकीके पल्लव दबाकर रखे हों । सल्लकीके पल्लव लाल होते हैं, अत एव उन्हें अग्निज्वालाका उपमान बनाया गया है । सल्लकीपल्लव हाथियोंका प्रिय आहार है । देखिये—'जग्धार्धैर्नवसल्लकीकिसलयैस्तस्याः स्थितिं कल्पयन्नन्योवन्यमतङ्गजः परिचयप्रागल्भ्यमभ्यस्यति' मालतीमाधव ॥

सविधज्वलनोष्मवीचिभिः सपदि म्लानकपित्थशाखिनाम् ।
परिपाकसिताः फलव्रजाः प्रबभुः स्फोटकबुद्बुदा इव ॥ १२० ॥

सविधेति । सविधे समीपदेशे ज्वलनस्य अग्नेः ऊष्मणां ज्वालानां वीचिभिस्तरङ्गैस्तत्काले सद्यः म्लानानाम् शुष्यताम् कपित्थशाखिनाम् तदाख्यया प्रसिद्धानां

1. 'स्वसृक्कभागविन्यस्त' । इति पा० ।

तरूणाम् परिपाकसिताः समन्ततः पाकेन शुभ्रतां गताः फलव्रजाः फलानि स्फोटक-बुद्बुदा इव दाहजन्याः विस्फोटका इव प्रबभुः भासन्ते स्म। कपित्थतरोरधोदेशे ज्वलता वह्निना म्लानस्य तत्तरोः फलानि दाहकृतविस्फोटकतुलां दधुरित्यर्थः ॥१२०॥

कपित्थतरुके नीचे फैलती हुई अग्निकी ज्वालासे तत्काल झुलसे हुए कपित्थ वृक्षके फल जो अतिशयपाकसे शुभ्र हो गये, वे ऐसे लगते थे मानो दाहसे उस वृक्षके शरीरपर बुलबुलेके समान बहुतसे छाले निकल आये हों ॥ १२० ॥

निशि केवलं तमसि दीप्रतनुं[1] निजजातिमोषधितरुं निखिलम् ।
इतरे विजेतुमिव ते तरवो दिवसेऽपि जज्वलुरतीवतराम् ॥ १२१ ॥

निशीति । निशि रात्रौ तमसि अन्धकारे केवलम् एव दीप्रा भासुरा तनुः देह-लता यस्यास्तां निजजातिं स्वज्ञातिम् निखिलम् निशाप्रकाशिनं समस्तम् औषधि-तरुं विजेतुम् पराभवितुम् इव इतरे निशाप्रकाशशीलतरुभिन्नास्तमालादयस्तरवः दिवसेऽपि अतीवतरां नितराम् जज्वलुः दिदीपिरे । 'न बन्धुमध्ये धनहीनजीव-नम्' इति नीतेरिव तमालादयो वृक्षा निशाप्रकाशिन औषधितरून् स्पर्द्धया जेतु-मिव दिवसेऽपि (खाण्डवदाहे दह्यमानतया) अतीव जज्वलुरिति भावः ॥ १२१ ॥

कुछ औषधिवृक्ष रातमें अन्धकारमें ही केवल चमकते हैं, ऐसी अपनी जातिको उस तरहके समस्त औषधिवृक्षोंको जीतनेके लिये उनके वर्गसे अतिरिक्त वर्गमें पड़नेवाले यह पलाशतमालादिवृक्ष (खाण्डवदाहके समयमें) दिनमें भी खूब प्रज्वलित हुए। जैसे कोई अपने सजातीयकी प्रतिस्पर्द्धामें उसके द्वारा किये गये कार्यको और बढ़ा चढ़ा करके उसे पराजित करना चाहता है, उसी तरह केवल रात्रिमें अन्धकारमें चमकनेवाले इन सारे औषधवृक्षोंको परास्त करनेके लिये यह पलाशतमालादि वृक्ष दिनमें भी प्रज्वलित हो उठे ॥ १२१ ॥

दृप्तदानवनिशाचरवर्गस्तत्र गाण्डिवभृता निहतोऽपि ।
तन्निषङ्गयुगबाणगणानां संख्यया प्रतिभटत्वमकार्षीत् ॥ १२२ ॥

दृप्तेति । तत्र खाण्डववनदाहकाले गाण्डिवभृता अर्जुनेन निहतः पलायनकाले खण्डितः अपि दृप्तदानवनिशाचरवर्गः सगर्वदैत्यराक्षसगणः तन्निषङ्गयुगबाणगणानां तत्तूणीरद्वयवर्त्तिशरसमुदयानां सङ्ख्यया प्रतिभटत्वं स्पर्धाम् अकार्षीत्। अर्जुनः शतशः खण्ड्यमानास्ते तद्बाणसंख्यया तुलामधुः, यथा तव तूणीरयुगले कोटि-र्बाणानां तथा त्वया खण्डितानामस्माकमपि वपुषां कोटिरिति स्पर्धामधारयन्निति भावः । प्रत्यनीकमलङ्कारः । स्वागता वृत्तम् ॥ १२२ ॥

खाण्डववनदाहके समयमें गाण्डीवधारी अर्जुन द्वारा भागते हुए राक्षस दैत्य आदि खण्ड खण्ड कर दिये गये—मर गये, फिर भी उन्होंने अर्जुनके तूणीरयुगलमें रहनेवाले

---

१. 'दीप्त' । इति पा० ।

बाणोंकी सङ्ख्यासे स्पर्द्धा करना नहीं छोड़ा। अर्जुनसे नहीं उनके बाणोंसे संख्यामें स्पर्धा तो की। उन्होंने यही स्पर्धा की कि जिस प्रकार तुम्हारे बाणोंकी सङ्ख्या कोटि है, उसी तरह हमारी देह भी कट कर कोटि हो रही है, फिर हम क्या कम हैं॥ १२२॥

ज्वालतापभरकुण्डलिताङ्गीः क्ष्वेडसारघृतसेचनमृद्वीः।
सर्पपुंगवततीरतिहृष्टः शष्कुलीरिव चचर्व कृशानुः॥ १२३॥

ज्वालतापेति। कृशानुः अग्निः ज्वालानां निजशिखानां तापभरेण तापातिशयेन कुण्डलिताङ्गीः वक्रीभूतावयवाः क्ष्वेडसारो विषरसस्तदेवघृतं तस्य सेचनेन उक्षणेन मृद्वीः कोमलाः, शष्कुलीः चक्राकृतिभक्ष्यविशेषान् ('जलेबी' इति भाषायां ख्यातान्) इव सर्पततीः सर्पसमुदयान् अतिहृष्टः अतिप्रसन्नः सन् चचर्व अभ्यवजहार। यथा कोपि तापवक्राः घृताक्ताश्च शष्कुलीरतिप्रसन्नतया चर्वयति तथाऽग्निज्वालया वक्रीभूतसर्वावयवा विषरसरूपेण घृतेनासिक्ततया मृद्वीः सर्पततीः शष्कुलीरतिप्रसादेन चर्वयामासेति भावः। समस्तवस्तुविषयं रूपकमलङ्कारः॥१२३॥

अग्निज्वालाके अतिशय तापसे कुण्डलाकार हो गये हैं अङ्ग जिनके ऐसी, एवं विषरसस्वरूप घीके सेचनसे कोमल जलेबीके समान सर्पसमुदायको अग्निदेवने अति हृष्ट होकर चबाया॥ १२३॥

तावत्तक्षकरक्षणाय सहसा शक्रोऽधिरुह्य द्विपं
वज्रं न्यस्य तदीयमूर्ध्नि मरुतां संनाहयन्वाहिनीम्।
ब्रह्माण्डप्रतिरोधनेन विमुखैर्धूमैरिवारण्यजै-
रातस्तार नभस्तलं जलधरैरारब्धघोरारवैः॥ १२४॥

तावदिति। तावत् यावदर्जुनेन खाण्डवे दह्यमाने सर्पा अदह्यन्त तस्मिन् काले शक्रः इन्द्रः तक्षकस्य तदाख्यस्य सर्पराजस्य रक्षणाय दाहात्त्राणाय सहसा झटिति द्विपम् हस्तिनमैरावतम् अधिरुह्य तदीये मूर्ध्नि ऐरावतशिरसि वज्रं नाम स्वमायुधं न्यस्य निधाय मरुतां वाहिनीम् देवसेनां सन्नाहयन् युद्धायोत्साहयन् ब्रह्माण्डप्रतिरोधनेन ब्रह्माण्डभित्तौ प्रत्याघातेन विमुखैः पराङ्मुखीभूतैः प्रत्यावृत्तैः आरण्यजैः वन्यैः (खाण्डवदाहोत्थैः) धूमैरिव स्थितैः आरब्धघोरारवैः प्रारब्धभीषणनादैः जलधरैः मेघैः नभस्तलम् आकाशदेशम् आतस्तार आच्छादयामास। यावत्खाण्डवे सर्पा दग्धुमारब्धास्तावदिन्द्रः स्वप्रियस्य तक्षकनागस्य रक्षार्थं द्विपमधिरुह्य देवसेनां युद्धायोद्योजयन्सन् मेघैरम्बरतलमाच्छादयत्ते च मेघा ब्रह्माण्डप्रतिघातपरावृत्ता धूमा इव प्रतीयन्ते स्मेति भावः॥ १२४॥

जब खाण्डववनमें सर्प जलने लगे तब इन्द्रने तक्षककी रक्षाके लिये अपने हाथी ऐरावत पर चढ़कर उसके मस्तक पर वज्र रखा, देवसेनाको युद्धके लिये तैयार किया, और

ब्रह्माण्डभित्तिसे प्रतिहत होकर प्रत्यावृत धूमके समान प्रतीत होनेवाले मेघोंसे आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ १२४ ॥

ततस्तैरनेकैर्नाकौकसामनीकैर्मत्सरेण तदुपरि निपात्यमानदिग्भित्तिशिखराणामिव वेगादापततां वारिधौ वाडवहव्यवाडपि कवलितोऽयमस्माभिरितीव विद्युतः प्रकाश्य गर्जितेन तर्जयतामिव पर्जन्यानामासारसर्वाभिसारेण निर्वापिते वनाग्नौ मनाक्श्यामायमाने सति शोणायमानलोचनेन कपिकेतनेन तत्प्रतिचिकीर्षया शरकदम्बैरम्बरे निरवलम्बमाकलितां शालां छत्रीकृत्य पुनरपि समुन्नीयमाननिजकेतुरुषर्बुधो भगवानुद्दिदीपे ॥

तत इति । ततः तच्चकरत्नार्थमिन्द्रस्य संरम्भं दृष्ट्वा तैः प्रसिद्धैः नाकौकसाम् देवानाम् अनीकैः सैन्यैः मत्सरेण द्वेषेण तेषाम् कृष्णपार्थपावकानाम् उपरि निपात्यमानानाम् दिशामेव भित्तीनाम् इव (ये मेघा देवसैन्यैरर्जुनाद्युपरिपात्यमानादिग्भित्तय इव प्रतीयन्ते स्म तेषाम् इत्येकं मेघविशेषणम्) वेगादापतताम् जवेनागच्छताम्, वारिधौ सागरे अयम् वाडवहव्यवाट् वडवानलः अपि कवलितः भक्षितः इति इव एतत् बोधयितुमिव विद्युतः चपलाः प्रकाश्य द्योतयित्वा गर्जितेन स्तनितेन तर्जयताम् भीषयताम् इव (इदं द्वितीयं मेघविशेषणम् , समुद्रे जलेन सह वाडवाग्निरपि भक्षित इति स्वमुत्कर्षं बोधयितुकामा इव मेघा विद्युतः प्रकाशयन्तीति तदर्थः) पर्जन्यानाम् मेघानाम् आसारस्य धारासम्पातस्य सर्वाभिसारेण सर्वोद्योगेन अविरलवृष्ट्येत्यर्थः निर्वापिते शमिते वनाग्नौ खाण्डववनवह्नौ मनाक् स्वल्पं श्यामायमाने धूमाङ्गारादिभावेन मन्दीभूते सति, शोणायमानलोचनेन कोपरक्तीभूतचक्षुषा कपिकेतनेन अर्जुनेन तत्प्रतिचिकीर्षया इन्द्रकृतवृष्टिद्वारा खाण्डववनदाहे जायमानस्य विघ्नस्य निवारणाय अम्बरे आकाशे निरवलम्बं कुड्यस्तम्भाद्याधारवर्जम् शरकदम्बैः बाणगणैः आकलिताम् रचिताम् शालाम् बाणमयं भवनम् छत्रीकृत्य छत्रभावेनादाय पुनः अपि समुन्नीयमान ऊर्ध्वं प्रसार्यमाणो निजस्य वह्नेः केतुर्धूमो येन तथाविधः भगवान् उषर्बुधः वह्निः उद्दिदीपे प्रजज्वाल । 'धारासम्पात आसारः' 'सर्वाभिसारः सर्वौघः सर्वसंहननार्थकः' 'शोचिष्केश उषर्बुधः—आश्रयाशो बृहद्भानुः कृशानुः पावकोऽनलः' इति च सर्वत्रामरः ॥

इसके बाद वे अनेक स्वर्गवासियोंके सैन्य–कृष्ण अर्जुन तथा पावकके ऊपर द्वेषसे दिशा रूप दीवारें डाल रहे हों इस तरह प्रतीत होनेवाले एवं वेगसे आते हुए, समुद्रमें हम मेघोंने केवल जल ही नहीं वड़वानल भी पी लिया है इस बातको जाहिर करनेके

---

१. 'ततस्तैर्नाकौकसां' । २. 'हव्यवाहोऽपि' । ३. 'वने' । ४. 'शरशालां' । इति पा० ।

लिये बिजलियाँ चमकाकर अपने भयङ्कर गर्जनसे लोगोंको डरवाते हुए मेघोंके वर्षापात रूप सर्वात्मक उद्योगसे बुझकर जब खाण्डवाग्नि कुछ कम पड़कर श्यामसा लगने लगा तब कोपसे लाल हो रही हैं आखें जिसकी ऐसे कपिध्वज–अर्जुन द्वारा आकाशमें विना किसी अवलम्बनके बाणों द्वारा बनाए गए शालाभवनको छत्ता बनाकर फिरसे ऊपर उठाया है अपने ध्वजरूप धूमको जिसने ऐसे भगवान् अग्निदेव पुनः उद्दीपित हो उठे ॥

तत्रान्तरे प्रोषितवल्लभतया प्रेम्णा कुमारमश्वसेनं निगीर्य दहनार्चिरुष्णासहिष्णुतया पुनरपि निवृत्य[1] दिवं प्रयान्तीभिर्घनधाराभिरिव पन्नगकन्यकाभिः सह वनादुत्पतन्तीं तक्षककुटुम्बिनीमविलम्बितमेव श्वेतवाहनः [2]शितमुखेन शिलीमुखेन रसनायामिव ग्रीवायाम[3]पि द्विधा वि[4]दलयांचक्रे ॥

तत्रान्तरे इति । तत्रान्तरे तस्मिन्समये प्रोषितवल्लभतया तक्षकस्य पत्युः कुरुक्षेत्रगतत्वेन पतिवियुक्तया (तक्षकपत्न्या) प्रेम्णा पुत्रवात्सल्येन कुमारम् बालम् अश्वसेनं नाम निगीर्य सुरक्षार्थं कण्ठे निधाय दहनस्याग्नेरर्चिषां ज्वालानाम् उष्णस्य उष्णस्पर्शस्य असहिष्णुतया सोढुमशक्ततया पुनरपि निवृत्य परावृत्य दिवं प्रयान्तीभिः आकाशं प्रति निवर्त्तमानाभिः घनधाराभिः मेघवृष्टिभिः इव पन्नगकन्यकाभिः नागकन्याभिः सह वनात् दह्यमानात् खाण्डववनात् उत्पतन्तीम् उड्डीय गच्छन्तीम् तक्षककुटुम्बिनीम् तक्षकस्त्रियम् श्वेतवाहनः अग्निदत्तश्वेताश्वयुक्तरथारूढः अर्जुनः अविलम्बितम् शीघ्रम् एव शितमुखेन तीक्ष्णाग्रभागेन शिलीमुखेन बाणेन रसनायाम् जिह्वादेशे ग्रीवायाम् कण्ठदेशेऽपि च द्विधा द्वयोः स्थानयोः खण्डद्वयं वा विदलयां चक्रे अच्छैत्सीत् । अयमर्थः—यदा वृष्ट्याशम्यमानोऽप्यग्निरर्जुनरचितशरमयशालाच्छत्रमादाय पुनरदीप्यत तदा वियुक्तपतिका तक्षकस्त्री प्राणरक्षार्थं कतिभिः नागकन्याभिस्सह ततो वनादुत्पपात, वियत्युत्पतन्त्यश्च ता वह्निज्वालां सोढुमशक्ततया–पुनर्दिवं परावर्त्तमाना जलधारा इव प्रतीयन्ते स्म, एवमुत्पतन्तीं तां तक्षकवधूमर्जुनो निशिताग्रेण स्वशरेण जिह्वायां शिरसि च द्विधाऽच्छिनदिति ॥

उस समयमें तक्षक कुरुक्षेत्र गया था, अतः अकेली तक्षक की स्त्री पुत्रके प्रति वात्सल्यसे उसे निगल गई, (सुरक्षित स्थान कण्ठमें रख लिया) और नागकन्याओंके साथ उस वनसे ऊपर की ओर उड़ी, उड़ती हुई नागकन्याएँ ऐसी लग रही थीं मानो आगको बुताने के लिये इन्द्र द्वारा छोड़ी गई जलधारायें आगकी गर्मीको नहीं सह सकनेके कारण पुनः आकाशकी ओर लौटी जा रही हों, ऊपरकी ओर जाती हुई तक्षक पत्नीको देखकर शीघ्र ही श्वेतवाहन अर्जुनने तीक्ष्ण मुखवाले अपने बाणसे जीभकी तरह गर्दनके भी दो खण्ड कर

१. 'निवर्त्य' । २. 'शातमुखेन' । ३. 'ग्रीवायां द्विधा' । ४. 'विदलितां चक्रे' । इति पा० ।

दिये। जीभ तो नागिनिओंकी पहलेसे ही द्विधा रहती है, अर्जुनने अपने तीक्ष्ण बाणसे उस तक्षकस्त्रीका गला भी द्विधा कर डाला।

नभसि कृते शरकूटे न पपाताशुगविनुन्नमम्बुमुचाम्।
तस्मिन्खाण्डववह्नौ तक्षकपत्न्याः कबन्धमेव परम्॥ १२५॥

नभसीति। नभसि आकाशे (अर्जुनेन) शरकूटे बाणमये गृहे कृते सति आशुगविनुन्नम् वायुचलितम् अम्बुमुचाम् मेघानाम् कबन्धम् एव उदकमेव तस्मिन् खाण्डववह्नौ न पपात न पतितम्, परम् आशुगविनुन्नम् अर्जुनशरच्छिन्नम् तक्षकपत्न्याः कबन्धम् अपमूर्धकलेवरम् तस्मिन् खाण्डववह्नौ पतितम्। अर्जुनेन बाणमयशालानिर्माणद्वारा निरुध्यमानाः पयोदजलधारास्तु तत्र खाण्डववह्नौ न पेतुः परं तक्षकपत्न्या बाणच्छिन्नं शिरः पतितम्। अत्र कबन्धद्वयपाते प्रसक्ते पातस्य तक्षकपत्नीकबन्ध एव नियमनात् परिसंख्यालङ्कारः॥ 'आशुगौ वायुविशिखौ' इत्यमरः। 'कबन्धमुदकेन स्त्रीगतमूर्धकलेवरे' इति वैजयन्ती। गीतिश्छन्दः॥१२५॥

जब अर्जुनने आकाशमें बाणोंका घर बना दिया, बाणोंसे अच्छिद्ररूपमें आकाशको आवृत कर दिया तब वायुद्वारा चालित मेघका पानी खाण्डववह्निमें नहीं गिरा, परन्तु बाणसे छिन्न तक्षकस्त्रीका धड़-शिरसे शून्य गात्र खाण्डववह्निमें आकर गिरा॥ १२५॥

अथ स कुपितः स्वयं कौशिकोऽपि चकितचकितं वियति विहितोपसरणं नवजननीशोकदयनीयं हृतवालं तमहिबालं परिगृह्य लालनया परितोषमनैषीत्॥

अथेति। अथ तक्षकवधूशिरश्छेदानन्तरम् कुपितः स कौशिक इन्द्रः स्वयं व्यालग्राही च वियति आकाशे चकितचकितं सभयं विहितोपसरणं कृतसञ्चारम् नवेन सद्यः समुपस्थितेन जननीशोकेन मातृवधविपत्त्या दयनीयं शोच्यां दशां गतम् हृतवालम् मातृमुखस्थतया मातुः शिरसिच्छिद्यमाने छिन्नपुच्छं[1] तम् अश्वसेनं नाम अहिबालं तक्षकपुत्रम् परिगृह्य गृहीत्वा लालनया आश्वासनेन परितोषम् सन्तोषम् अनैषीत् प्रापयामास। सर्पग्रहणसामर्थ्यद्योतनायैवेन्द्रस्य कौशिकपदेनोपादानं बोध्यम्। 'महेन्द्रगुग्गुलुलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः॥

तक्षककी स्त्रीके मार जानेपर कुपित होकर कौशिक इन्द्रने आकाशमें भयसे चलनेवाले अश्वसेन नामक तक्षक पुत्रको—जिसकी पूंछ मातृशिरश्छेद कालमें मातृमुखस्थ होनेके कारण काट दी गई थी और जो तत्काल मरी माताके शोकसे दयनीय स्थितिको प्राप्त था पकड़कर आश्वासन प्रदान करके सन्तोषित किया॥

सुतं तमभ्येत्य सुरैरशेषैः क्रुध्यन्नथायुध्यत घोरमिन्द्रः।
चक्रे स दावस्य च तक्षकस्य यदग्निमत्तां यदनग्निमत्ताम्॥ १२६॥

---

१. 'विनयः'। इति पा०।

सुतमिति । अथ अश्वसेनाश्वासनानन्तरम् क्रुध्यन् कुपित इन्द्रः सुतम् पुत्रम् अपि तम् अर्जुनम् अशेषैः सुरैः सह अभ्येत्य उपेत्य घोरं यथास्यात्तथा अयुध्यत युद्धं कृतवान् । यत् यस्मात् सः अर्जुनो नामेन्द्रपुत्रः दावस्य खाण्डववनस्य अग्निमत्तां अग्नियुक्तत्वम् चक्रे, तक्षकस्य च अनग्निमत्ताम् (अग्निं मथ्नातीत्यग्निमत्, तस्य भावोऽग्निमत्ता न अग्निमत्ता अनग्निमता ताम्) यज्ञेऽग्निमन्थनानर्हत्वम्, सपत्नीकस्यैव यज्ञेऽधिकारात्पत्नीवधेन यज्ञानर्हत्वम् चक्रे इत्यर्थः । यतोऽर्जुनः खाण्डववने वह्निं ज्वालितवाँस्तत्तक्षकवधूं चावधीदत इन्द्रो देवसेनयोपेतस्तत्समीपमागत्योत्कटं युद्धमारब्धवानिति भावः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १२६ ॥

तक्षकवधूके मारे जाने पर कुपित होकर इन्द्र समस्त देवसैन्य लेकर अर्जुनके समीप आकर घोर युद्ध करने लगे, क्योंकि अर्जुनने खाण्डववनको अग्निमान् प्रज्वलित कर दिया था, और तक्षकको अनग्निमत्—अर्थात् अपत्नीक होनेके कारण याज्ञिक कर्मानर्ह बना दिया था ॥ १२६ ॥

वनस्य तस्योपरि केवलं तदा सहस्रनेत्रस्य च सव्यसाचिनः ।
निषङ्गनीडोत्पतितानि पत्रिणां कुलानि कोलाहलकेलिमादधुः ॥१२७॥

वनस्येति । तदा इन्द्रार्जुनयुद्धसमये वनस्य खाण्डववनस्य उपरि ऊर्ध्वभागे केवलम् सहस्रनेत्रस्य इन्द्रस्य सव्यसाचिनोऽर्जुनस्य निषङ्गाः तूणीरा एव नीडानि वासस्थानानि तेभ्य उत्पतितानि बहिर्गतानि पत्रिणां बाणानां (पक्षिणामिति च) कुलानि समूहाः कोलाहलकेलिम् कलकलध्वनिक्रीडाम् आदधुः चक्रुः । तस्मिन्नवसरे केवलं तयोर्बाणा एव निषङ्गेभ्यो निर्गत्य निपत्य जृम्भन्त, शकुनयस्तु पूर्वमेव दग्धा अभूवन्निति भावः ॥ १२७ ॥

उस इन्द्रार्जुनयुद्धके समयमें खाण्डववनके ऊपर इन्द्र तथा अर्जुनके तूणीररूप नीड़-घोसलोंसे निकले पत्री-बाणरूप पक्षियोंके समुदाय ही कोलाहल करते रहे, पक्षी तो खाण्डववनके दाहमें ही जल चुके थे ॥ १२७ ॥

शरान्विपाठानपि पारदृश्वनः श्रुतेर्विधायाशु विमुञ्चतस्ततः ।
कुरूद्वहात्साध्वसरोगिणो हरेरभूद्भिषग्दूरतरप्रसर्पणम्[1] ॥ १२८ ॥

शरानिति । विपाठान् स्थूलान् विपाठसंज्ञकान् वा शरान् श्रुतिपारदृश्वनः कर्णसंगतान् कृत्वा आशु त्वरया विमुञ्चतः विसृजतः ततः कुरूद्वहात् कुरुवंशभवात् अर्जुनात् साध्वसरोगिणः भयरूपरोगग्रस्तस्य भीतस्य हरेः इन्द्रस्य दूरतरप्रसर्पणं दूरदेशगमनम् पलायनम् भिषक् वैद्यः रक्षकोऽभूत् । विपाठान् त्रुटितपाठान् श्रुतेः शरान् दोषान् विधाय पारदृश्वनः वेदपारंगतस्य ततोऽर्जुनात् साध्वसरोगिणो लज्जितस्य हरेः पलायनमेव रक्षकमभूदिति च ध्वन्यते । यथा कश्चन वेदाध्यायी कश्चन वेदपारगस्य पुरतो वेदस्य त्रुटितं पाठं कृत्वा शरान्नामदोषान् विधाय

१. 'दूरतरापसर्पणम्' । इति पा० ।

लज्जमानो विदुषा निगृहीतस्सन् वादात्पलायते तथेन्द्रोऽर्जुनेन स्थूलान् विपाठसंज्ञान् वाणान् कर्णपर्यन्तमाकृष्यत्य ज्यमानान् सोढुमपारयन् भीत्या पलायनमेव ततो भयाद्रक्षकं रोगात्रातारं वैद्यमिव शरणीकृतवानिति भावः॥ अत्रार्जुनेन्द्रवृत्तान्ताभ्यां विद्वदविद्वद्वृत्तान्तप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ १२८ ॥

अर्जुनने जब विपाठनामक स्थूल बाणोंको कान तक खींचकर शीघ्रतासे छोड़ना प्रारम्भ किया तब भीत होकर इन्द्रने उस भयरूप रोगसे बचनेके लिये भाग जाना दूर हट जाना हीं वैद्य चुना। भागनेसे ही रक्षा मानकर इन्द्र भाग खड़े हुए। वेदपारदर्शी विद्वान्के आगे यदि कोई गलत पाठ विपाठ करके शरनामक वेददोष करनेके कारण वह पाठ छोड़नेके लिये आगृहीत होता है तो उसे संकोचरूप रोगसे पिण्ड छुड़ानेके लिये अपसरणरूप वैद्यकी शरणमें ही जाना होता है, यह अर्थ भी ध्वनित होता है ॥ १२८ ॥

जयन्तमेकं युधि सोढुमक्षमे जयन्तमन्यं सुतमीक्षितुं गते ।
पुरीं बलद्वेषिणि घोषकैतवाज्जहास शङ्खद्वितयं च कृष्णयोः ॥ १२९ ॥

जयन्तमिति । युधि युद्धे जयन्तम् पराभवन्तम् एकम् सुतम् पुत्रमर्जुनम् सोढुम् शस्त्रादिना प्रतियोद्धुम् अक्षमे असमर्थे बलद्वेषिणि इन्द्रे अन्यं जयन्तं नाम सुतम् ईक्षितुं द्रष्टुम् पुरीम् स्वनगरीम् स्वर्गं गते सति कृष्णयोः कृष्णार्जुनयोः शङ्खद्वितयम् घोषकैतवात् विजयध्वनिच्छलात् जहास इव । युद्धादिन्द्रे पलायिते जयलाभात्कृष्णार्जुनौ स्वं स्वं शङ्खं दध्मतुरित्यर्थः।व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा॥१२९॥

इन्द्र जब युद्धमें पराभव प्रदान करनेवाले एक पुत्र अर्जुनको सहन करनेमें प्रतियोधित करनेमें असमर्थ होकर जयन्त नामक दूसरे पुत्रको देखने अपनी पुरी स्वर्ग चले गये तब विजयध्वनिके छलसे कृष्ण तथा अर्जुनके दोनों शङ्ख हंसने लगे। विजय होनेसे कृष्ण तथा अर्जुन दोनोंने अपने-अपने शङ्ख फूंके ॥ १२९ ॥

ततः कृशानोर्विपरीनवर्णस्वनामवाच्यादिव भीतभीतम् ।
मयं वने दैत्यमयं ररक्ष स चक्रपाणेरिव शक्रसूनुः ॥ १३० ॥

तत इति । अयं स्वः प्रसिद्धपराक्रमः शक्रसूनुः अर्जुनः विपरीतवर्णस्वनामवाच्यात् 'मय' इति नाम्नोऽक्षरयोर्विपरीतत्वेन यम इति संज्ञा जायते तद्वाच्यात् यमात् इव कृशानोः वह्नेः भीतभीतम् अतिभयभीतम् मयं नाम दैत्यं वने चक्रपाणेः कृष्णादिव ररक्ष । कदाचिन्मयं हन्तुमुद्यताद् भगवतो यथा तथाऽधुना वह्नेरपि तमर्जुनोऽरक्षीदित्याशयः ॥ १३० ॥

अपने नाम मय शब्दके अक्षरोंको उलट देनेसे जो संज्ञा बनती है उससे प्रतिपाद्य— अर्थात् यमके समान उस आगसे उस वनमें अर्जुनने भयभीत मय नामक दैत्यकी रक्षा की, जैसे मयको एक बार भगवान् मारने लगे थे तो उनसे बचाया था ॥ १३० ॥

क्षेत्रमप्यधिपतिं कुरुपूर्वं संश्रितौ सपदि दैवबलेन ।
चर्वितुः सकलखाण्डवमग्नेस्तक्षकावभजतां विघसत्वम् ॥ १३१ ॥

---

१. 'अधिपति' । इति पा० ।

क्षेत्रमिति । कुरुपूर्वम् क्षेत्रं स्थानं कुरुक्षेत्रन्नाम, कुरुपूर्वमधिपतिं कुर्वधिपतिं कुरुराजमर्जुनञ्च सपदि खाण्डववनदाहसमये दैवबलेन भाग्यवशात् संश्रितौ गतौ (तक्षको नाम नागराजो भाग्यवशात्तस्मिन्समये कुरुक्षेत्रं गत आसीत्तक्षा शिल्पी एव तक्षको मयो नाम भाग्योदयादर्जुनं शरणं गत इति च) तक्षकौ नागमयौ सकलखाण्डवं समस्तं खाण्डववनं चर्वितुः भक्षयितुर्दग्धुरग्नेर्विघसताम् भोजनशेषत्वम् अभजतां प्राप्तवन्तौ । वह्निना सकलं वनं दहतापि तक्षको नागराजः कुरुक्षेत्रगतत्वेन देवशिल्पी तक्षा एव तक्षको मयश्चार्जुनशरणगतत्वेन न दग्धाविति भावः । 'अमृतं विघसो यज्ञशेषभोजनशेषयोः' इत्यमरः । स्वागता वृत्तम् ॥ १३१ ॥

यद्यपि अग्निदेवने समस्त खाण्डववन जला दिया, तथापि खाण्डववनदाहकालमें भाग्यवश तक्षक नामक नाग कुरुक्षेत्र चला गया था, और तक्षादेवशिल्पी मय भाग्यवश अर्जुनकी शरणमें आगया, अतः यह दोनों तक्षक समस्त खाण्डवदाही अग्निदेवके भोजनशेष बनकर जलनेसे बच गये ॥ १३१ ॥

अथ स्मित्वा तुन्दं परिमृशति मन्दायितगतौ
समापृच्छ्य प्रीत्या त्रिदिव[1]मुपयाते हुतवहे ।
रथाभ्यां मौनिभ्यां घनसलिलसेकेन महता
विजेत्रौ तौ कृष्णौ विविशतुरुपान्तं नरपतेः ॥ १३२ ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते तृतीयः स्तबकः ।

अथ स्मित्वेति । अथ खाण्डवदाहानन्तरम् स्मित्वा ईषद्धसित्वा तुन्दमुदरं परिमृशति स्पृशति, मन्दायिता आहाराधिक्यान् मन्दीभूता गतिः सञ्चारो यस्य तस्मिन् हुतवहे वह्नौ प्रीत्या सस्नेहं समापृच्छ्य अनुज्ञां याचित्वा त्रिदिवम् स्वर्गं प्रति उपयाते गते सति महता सातिशयेन घनसलिलसेकेन जलदकृतजलवृष्ट्या मौनिभ्याम् निःशब्दाभ्यां रथाभ्यां स्यन्दनाभ्यां विजेत्रौ जयलक्ष्मीसमेतौ तौ कृष्णौ कृष्णार्जुनौ नरपतेर्युधिष्ठिरस्य उपान्तं समीपं विविशतुः गतवन्तौ । खाण्डवे दग्धे तृप्ततयाऽऽनन्दातिरेकवशतस्तुन्दं स्पृशति भोजनाधिक्यान्मन्दगतौ च वह्नौ सस्नेहं गमनानुज्ञामर्थयित्वा स्वर्याते सति प्रचुरजलवृष्ट्या पथः कर्दमिततया निःशब्दाभ्यां रथाभ्यां कृष्णार्जुनौ युधिष्ठिरसमीपमाजग्मतुरित्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३२ ॥

इसके बाद मुस्कुरा करके पेट पर हाथ फेरते हुए एवम् आहाराधिक्यसे मन्दगतिवाले अग्निदेव जब स्नेहपूर्वक जानेकी अनुमति लेकर स्वर्ग चले गये तब प्रचुर वृष्टि होनेके कारण पङ्किल मार्गमें निःशब्दभावसे चलनेवाले रथों पर आरूढ होकर विजयलक्ष्मीसे युक्त श्रीकृष्ण तथा अर्जुन राजा युधिष्ठिरके पास आये ॥ १३२ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे' तृतीयस्तबक 'प्रकाशः' ॥

---

१. 'अभियाते' । इति पा० ।

चतुर्थः स्तबकः

याते ततो निजपुरीं यदुवंशकेतौ राज्ञे मयो मणिसभां रचयांबभूव ।
यस्या रुचं समवलोक्य शुचाधुनापि जीवं गतागतजुषं वहते सुधर्मा ॥१॥

यात इति । ततः युधिष्ठिरसमीपमागतयोः कृष्णार्जुनयोः यदुवंशकेतौ ध्वजवद्यदुवंशप्रख्यापके कृष्णे निजपुरीं स्वां नगरीं द्वारकां याते गते सति मयो नाम शिल्पी (योऽर्जुनेन रक्षितः) राज्ञे युधिष्ठिराय मणिसभां मणिनिर्मितमास्थाननिकेतनं रचयांबभूव निरमात्, यस्या युधिष्ठिरसभाया रुचं कान्तिं समवलोक्य सुधर्मा देवसभा अधुना सम्प्रति अपि जीवं निजान् प्राणान् बृहस्पतिं च गतागतजुषं गमनागमनशीलं धारयति वहते । देवसभायां बृहस्पतेर्गमनागमनं स्वाभाविकम्, अन्यस्या अपि परोत्कर्षासहिष्णोः शोकेन प्राणा गतागतमिव कुर्वते, तदेवात्र जीवपदश्लेषेण विवक्षितम् । 'जीवः प्राणिनिगीष्पत्तौ' इत्यमरः । अत्र सुधर्मायास्तादृशदुःखासम्बन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ १ ॥

यदुवंशकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले भगवान् कृष्ण जब अपनी नगरी द्वारकाको चले गये तब मयनामक शिल्पीने युधिष्ठिरके लिये एक मणिका सभाभवन बनाया, जिस सभाको देखकर सुधर्मा नामक देवसभाको इतना दुःख होता है कि उसका जीव-प्राण (बृहस्पति) गतागत करने लगता है, प्राण निकलने लगते हैं ॥ १ ॥

तामधिष्ठास्नुमभ्येत्य तं मखं कर्तुमन्वशात् ।
विपञ्चीरवसारज्ञो नृपं चीरवसांवरः ॥ २ ॥

तामधिष्ठास्नुमिति । ताम् मयनिर्मिताम् सभाम् आस्थानशालाम् अधिष्ठास्नुम् अधिष्ठितम् नृपम् युधिष्ठिरम् अभ्येत्य उपेत्य विपञ्चीरवसारज्ञः वीणानादरहस्यज्ञाता चीरवसां वल्कलधारिणां मुनीनां वरः नारदमुनिः मखं कर्त्तुं अश्वमेधेन यष्टुम् अन्वशात् आदिदेश । एकदा नारदो युधिष्ठिरमासाद्य तमश्वमेधं कर्त्तुमन्वरुणदित्याशयः ॥ २ ॥

मयनिर्मित सभामें आसीन राजा युधिष्ठिरके पास आकर वीणावादनविद्याके रहस्यको जानने वाले वल्कलधारियों-मुनियोंमें अग्रगण्य नारदने युधिष्ठिरसे अश्वमेध यज्ञ करनेको कहा ॥ २ ॥

ततो दूताहूतः पुरुहूतानुजो निरन्तरायमेव महान्तं सप्ततन्तुमुपहर्तुमनसः कौन्तेयस्योपान्ते रहसि मुहूर्तं संमन्त्र्य साक्षादुत्साहप्रभावाभ्यां

---

१. 'आगत्य' । २. 'आहर्तुमनसः' । ३. 'संमन्त्र्योत्साहप्रभावाभ्यां' ।
४. 'प्रभवाभ्याम्' । इति पा० ।

मूर्तौ मन्त्र इव तत्प्रहिताभ्यां गन्धवहसुधान्धोधिपनन्दनाभ्यामनुसंधीयमानगमनो नदीतटाकैर्द्विमातृकतया [1]स्वपालयितारमनुकुर्वतो विविधान्यदुर्लभवसुधान्यसमेधितवसुधान्[2]मगधान[3]वगाह्य विशृङ्खला[4]मोदितगिरिव्रजमपि शृङ्खलाखेदितमहीभृत्कुलं जराघटितदेहमपि देदीप्यमान[5]बलसंपन्नमाशाजेतारमपि परार्थोपहारजागरितारं मागधमपि विगीतव्यापारं द्वैमातुरं महारथं [6]जरासंधं [7]पृथिवीनाथमेत्य प्रधनं ननाथ ॥

तत इति । ततो नारदे तथोक्तवति सति महान्तम् प्रयत्नविशेषसम्पाद्यम् सप्ततन्तुं यज्ञम् राजसूयम् निरन्तरायम् अन्तरापातिविघ्नपरिहारेण निर्विघ्नम् उपहर्त्तुंमनसः चिकीर्षतः कौन्तेयस्य युधिष्ठिरस्य उपान्ते समीपे रहसि एकान्ते दूताहूतः युधिष्ठिरप्रेषितदूताकारितः पुरुहूतानुजः उपेन्द्रः मुहूर्त्तं किञ्चित्कालपर्यन्तं सम्मन्त्र्य विचारविनिमयं कृत्वा (सर्वान् राज्ञो वशीकृत्यैव राजसूयः कर्त्तव्यः जरासन्धश्चाखिलराजजेता, जिते तस्मिन्नेकस्मिन्सर्वेजिताः, अतः स एव पूर्वं जेतव्य इत्थं विचार्येत्यर्थः) तेन धर्मराजेन प्रहिताभ्याम् प्रेषिताभ्याम् सह गन्तुमादिष्टाभ्याम् गन्धवहनन्दनो वायुपुत्रो भीमः, सुधान्धसोऽमृतभुजो देवास्तेषामधिपस्येन्द्रस्य नन्दनः पुत्रोऽर्जुनश्च ताभ्यां भीमार्जुनाभ्याम् अनुसन्धीयमानम् अनुगम्यमानम् अनुक्रियमाणं गमनं प्रस्थानं यस्य तथोक्तः, (अतएव च) साक्षात् मूर्त्तिमद्भ्याम् उत्साहप्रभावाभ्याम् उत्साहशक्तिप्रभावशक्तिभ्याम् अनुसन्धीयमानगमनः युक्तः मन्त्र इव, (यथोत्साहशक्तिप्रभावशक्तिभ्यामुपपन्नो मन्त्रो दुर्वारप्रसरस्तथैव कृष्णोऽपि भीमार्जुनाभ्यामुपेतो दुर्वार इत्यर्थः) नदीभिः तटाकैः खातैश्च द्विमातृकतया द्विविधसस्योत्पादकसाधनसामग्रीसम्पन्नतया (द्विमातृकतया द्वाभ्यां मातृभ्यां जनितम्) स्वपालयिताम् स्वरक्षकम् अनुकुर्वतः अनुहरतः (इदमेकं मगधानित्यस्य विशेषणम्, मगधा अपि नद्या खातैश्च युक्ततया द्विमातृकाः सन्तो द्वाभ्यां मातृभ्यां जनितं जरासन्धं नाम स्वशासकमनुकरोति) विविधानि नानाप्रकाराणि अन्यदुर्लभानि यानि वसूनि धनानि धान्यानि व्रीहिभेदाश्च तै समेधिता समृद्धिं गमिता वसुधा पृथ्वी येषांस्तथोक्तान्, मगधान् नाम भूभागविशेषान् अवगाह्य प्रविश्य, विशृङ्खलम् निष्प्रतिबन्धम् आमोदितः सन्तोषितः गिरिव्रजः पर्वतभरः गिरिव्रजनामाराजधानी च येन तथोक्तमपि शृङ्खलाखेदितम् निगडबन्धेन क्लेशितम् महीभृत्कुलम् राजवर्गो येन तं तथोक्तम् । शृङ्खलामोदितगिरिव्रजस्यापि शृङ्खलाखेदितमहीभृत्कुलत्वोक्त्याऽऽपाततो विरोधप्रतिभासः, परिहारस्तूक्त एव । जराघटितदेहम् जरया नाम राक्षस्या योजितदेहम् अपि देदीप्यमानेन प्रकाशमानेन बलेन सैन्येन साम-

१. 'स्वपालयितारमिव' । २. 'मागधान्' । ३. 'अधिगम्य' । ४. 'हर्षित' । ५. 'देहबलसंपदम्' । ६. 'महारथं पृथिवीनाथं' । ७. 'पृथ्वीनाथमुपेत्य' । इति पा० ।

र्थ्येन च सम्पन्नम् युक्तम्, जरायुक्ततनोरपि बलवत्त्वमिति विरोधप्रतिभासः परिहारकोर्थस्तूक्तएव। आशाजेतारम् दिशां विजयिनम् अपि परार्थापहारे परकीयसम्पत्तिहरणे जागरितारम् जागरूकम्, आशाविजेतानिरस्ताभिलाषः परार्थापहरणजागरूक इति विरोधः, परिहारस्तूक्तविधया मागधम् मगधाख्यदेशोत्पन्नम् अपि विगीतव्यापारम् निन्दिताचारम् मागधस्य स्तुतिपाठकस्य गानव्यापारवैमुख्यमिति विरोधः। द्वैमातुरम् द्वयोर्मात्रोरपत्यम् महारथम् 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युध्यति यो भटः, स महारथसंज्ञः स्यात्' इति परिभाषितस्वरूपम् जरासन्धं नाम पृथिवीनाथम् राजानम् एत्य आसाद्य प्रधनं युद्धं ननाथ याचितवान्। कृष्णो भीमार्जुनाभ्यां सह मगधाधिपं जरासन्धमुपेत्य तं युद्धायाहूतवानिति भावः। पुरा किल केनचिन्मुनिना दत्तं सन्तानप्रदं फलं द्विधा खण्डयित्वा एकैकं खण्डं भुक्तवतीभ्यां मातृभ्यां खण्डशः प्रसूतं शरीरभागद्वयं त्यक्तम्, तच्च त्यक्तं भागद्वयं निशि सञ्चरन्ती काचिज्जरानामपिशाची सन्दधे, स एव जरासन्धोऽभूदिति पुरावृत्तमत्रानुसन्धेयम्॥

इसके बाद यज्ञको निर्विघ्न समाप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले युधिष्ठिरने दूतके द्वारा इन्द्रानुजको बुला भेजा, वह आकर एकान्तमें युधिष्ठिरके साथ विचार करने लगे कि जयके बाद ही राजसूय किया जाता है, अब तक जरासन्धने सब लोगों पर विजय पाई है, उसी पर विजय प्राप्त कर लेनेसे सबकी जीत मान ली जानी चाहिये, अतः उसे जीतनेके लिये उत्साहशक्ति तथा प्रभावशक्तिके समान वायुपुत्र भीम तथा अमृतभोजी देवोंके अधिपति इन्द्रके पुत्र अर्जुन उनके साथ हो लिये, वह मूर्त्तिमान् मन्त्रकी तरह चले। (जैसे उत्साहशक्ति तथा मन्त्रशक्तिसे सम्पन्न मन्त्र कार्यकर होता ही है, उसी तरह भगवान् भी भीम तथा अर्जुनके साथ होनेसे अवश्य जरासंधवध रूप कार्यमें सफल होंगे, यह वस्तु उपमालङ्कारसे व्यङ्ग्य होती है) नदी तथा तालाबोंके कारण मगधकी भूमि द्विमातृक थी, (दोनों तरह सस्य जननी थी) वह द्विमातृक मगध अपने स्वामी जरासन्धका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जरासन्ध भी द्विमातृक था। मगध देश दूसरे स्थानोंके लिये दुर्लभ धनधान्यसे सम्पन्न था। उस मगध देशमें जाकर उन्होंने जरासन्धसे युद्धकी याचना की, जो जरासन्ध—अप्रतिबन्धरूपसे गिरिव्रज नामक अपनी राजधानीको खुश करके अन्य राजगणको बेड़ियों से जकड़कर कष्ट देता था, (इसमें विश्रृङ्खलामोदित गिरिव्रज और श्रृङ्खलाखेदित महीभृत्कुलमें विरोधाभास है) जरासन्ध जरा नामक राक्षसी द्वारा योजित देह होकर भी दीप्तिशाली सैन्यसे युक्त था, (इसमें जराका बुढ़ापा अर्थ करनेपर विरोध प्रतीत होता है) जरासन्ध सभी दिशाओं पर विजय प्राप्त करके भी दूसरोंकी सम्पत्ति अपनानेमें सदा तत्पर रहता था, जिसने सारी आशा-अभिलाषा वशमें कर ली है वह दूसरोंकी सम्पत्ति क्यों लेगा, यही विरोध है) जरासन्ध मगध देशमें पैदा होकर भी निन्दिताचार था, (मागधबन्दी होकर गानव्यापारशून्य होना विरुद्ध

हैं) जरासन्ध दो माताओंसे खण्डशः उत्पन्न हुआ, बड़ा वीर था, सभी राजाओंको अधीन करके सारी पृथ्वीपर अधिकार रखता था ॥

तत्क्षणमतितितिक्षया[1] 'त्वमष्टादशकृत्वो दृष्टापजयोऽसि, अयं पुनरितरः किशोरः' इति कृष्णावुभावप्यवधीर्य हिडिम्बबक[2]कुटुम्बशोकोदयादारभ्य प्रवीरजनकर्णिकामौक्तिकायमानकीर्ते[3]रात्मनः संमुखीनं दृढतरपरिकरबन्धं[4] जरासंधं गन्धवहनन्दनः पञ्चदशदिनानि नियुध्य तेषां[5] तृतीयभाग[6]परिसंख्यानपदाभिधेयेन सह योजयामास[7] ॥

तत्क्षणमिति । तत्क्षणम् कृष्णकृतयुद्धप्रार्थनाकाले अतितितिक्षया महत्याक्षमया त्वम् कृष्णः अष्टादशकृत्वः अष्टादशधा दृष्टापजयः प्रत्यक्षीकृतपराजयः असि, अयं पुनः इतरः अर्जुनः किशोरः बालः, इत्येवमुभौ अपि कृष्णार्जुनौ अवधीर्य युद्धानर्हतोक्त्या अपमत्य, हिडिम्बबकयोस्तन्नामकयोः राक्षसयोः कुटुम्बस्य स्त्रीकन्यादेः शोकोदयात् खेदप्रादुर्भावात् (तद्वधावसरादित्यर्थः) आरभ्य प्रभृति प्रवीरजनस्य शूरलोकस्य कर्णिका श्रोत्रभूषणभेदस्तन्मौक्तिकायमाना तद्गतमौक्तिकवदाचरन्ती कीर्त्तिर्यस्य तस्य हिडिम्बादिराक्षसमारणात् प्रभृति वीरजनाकर्ण्यमानयशसो वीरत्वेन गण्यमानस्य आत्मनः स्वस्य भीमस्य सम्मुखीनं पुरःस्थितं दृढतरपरिकरबन्धं दृढ अतिगाढः परिकरबन्धः युद्धसज्जोपयुक्तो मध्यबन्धो यस्य तं तथोक्तम्, जरासन्धं नाम गन्धवहनन्दनः वायुसुतो भीमः पञ्चदशदिनानि नियुध्य युद्धं कृत्वा तेषां युद्धदिनानां पञ्चदशानां तृतीयभागस्य दिवसपञ्चकस्य परिसङ्ख्यानं अपगमकं पदं पञ्चतेति पदं तदभिधेयेन तद्वाच्यार्थेन योजयामास संघटयामास । पञ्चदशदिनानि युध्यमानोजरासन्धो भीमेन हत इत्याशयः ॥

जब कृष्णने जरासन्धसे युद्ध की प्रार्थना की तब जरासन्धने बड़ी शान्तिके साथ—तुम तो अठारह बार मेरे साथ युद्धमें हार चुके हो, और यह अर्जुन लड़का है, इस प्रकार दोनोंका—कृष्ण तथा अर्जुनका अपमान करके जरासन्ध भीमके सम्मुख दृढ़ परिकर बांध कर खड़ा हो गया, क्योंकि भीम ने जब हिडिम्बासुर तथा बकासुरका वध करके उनके कुटुम्बको शोकान्वित किया था तबसे भीमकी कीर्त्ति वीरजनोंके कानोंको भूपित करनेमें मौक्तिकका आचरण कर रही थी, जब भीमके साथ जरासन्धकी लड़ाई हुई तब भीमने पन्द्रह दिनों तक युद्ध करके युद्धके दिन पन्द्रह उनका तीसरा भाग हुआ पाच, उस शब्दसे अर्थात् पञ्चत्व शब्दसे कहे जानेवाले अर्थ पञ्चत्व–मृत्युसे जरासन्धको युक्त किया, मार दिया ॥

---

१. 'अतितितिक्षुतया'। २. 'हिडिम्बकुटुम्ब'। ३. 'भुजकीर्ते' ४. 'बन्धं समीरकुमारः पञ्च'। ५. 'एषाम्'। ६. 'भागसंख्यान'। ७. 'घटयांबभूव'। इति पा०।

हते तस्मिंस्त्रयो दीप्ता हरिप्रस्थमुपाययुः ।
आगामिनि मखे हव्यमादित्सव इवाग्नयः ॥ ३ ॥

हत इति । तस्मिन् जरासन्धे हते भीमेन मारिते सति दीप्ताः जरासन्धवधेन भासुरकान्तयः त्रयः कृष्णभीमार्जुनाः आगामिनि पुरःसम्पाद्ये मखे राजसूये हव्यम् होमद्रव्यम् आदित्सवः बुभुक्षवः (तत्रोपस्थातुमीहमानाः) त्रयोऽग्नयः आहवनीयगार्हपत्यदाक्षिणात्यनामका इव हरिप्रस्थमिन्द्रप्रस्थं नाम पुरम् उपाययुः आजग्मुः ॥ युधिष्ठिरयज्ञसम्पत्तयेऽपेक्षितस्य जरासन्धवधस्य सम्पत्त्या त्रयाणां दीप्तत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

जरासन्धके मारे जानेसे दीप्तिशाली तीनों जन—कृष्ण, भीम एवं अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आ गये, मानो होनेवाले यज्ञमें हव्य-पदार्थ-ग्रहणकी इच्छा रखनेवाले तीनों अग्नियाँ—आहवनीय, गार्हपत्य, दाक्षिण—हों ॥ ३ ॥

कृष्णे गते यदुपुरीं क्षितिपानुजानां
जित्वा दिशः प्रतिनिवृत्तवतां चतुर्णाम् ।
कोशे ममुः परमसिप्रवरा गृहीता
दोष्णोर्बलेन महता न तु हेमपुञ्जाः ॥ ४ ॥

कृष्णे गते इति । कृष्णे यदुपुरीं गते द्वारकां गतवति सति चतस्रो दिशः प्राच्यादिकाः जित्वा प्रतिनिवृत्तवतां परावृत्तानां चतुर्णाम् क्षितिपस्य धर्मराजस्य अनुजानां भीमार्जुननकुलसहदेवाभिधानां भ्रातॄणाम् दोष्णोः बाह्वोः महता बहुना बलेन सारेण गृहीताः करे कृताः असिप्रवरा खड्गश्रेष्ठा एव कोशे खड्गपिधाने आवरके ममुः मान्तिस्म (दिशां जितत्वेन खडगाः कोशमाश्रयन्तिस्म) दोष्णोर्महता बलेन करे राजदेयभागे गृहीताः करदीकृतभूपालैर्दत्ताः तैरासादिताश्च हेमपुञ्जाः स्वर्णराशयः परम् परन्तु कोशे धनाधारगृहे न ममुः न मान्तिस्म । दिक्षु जितासु युद्धं व्यरमत्परं धनागमो न व्यरमदित्यर्थः ॥ 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने धनवेश्मनि' इति विश्वः । अत्र हेमपुञ्जानां खड्गानां च प्राप्तस्य कोशे मानस्य खड्गमात्रे नियमनात् परिसङ्ख्याऽलङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

भगवान्के द्वारका चले जानेपर प्राच्यादि चारों दिशाओंको जीतकर इन्द्रप्रस्थको लौटे हुए युधिष्ठिरके छोटे भाई भीम आदिके बलशाली बाहुओं द्वारा जोरोंसे पकड़ी गई तलवारें तो कोश–म्यानमें आ गईं, किन्तु उनके बाहुओंसे कररूपमें गृहीत स्वर्णराशियाँ कोश–खजानेमें नहीं समा सकीं । इतना धन करमें लाये कि वह खजानेमें रखा नहीं जा सका ॥ ४ ॥

उपायनत्वेन नृपाय सर्वैर्दत्तेषु वित्तेष्वखिलेषु भूपैः ।
पार्थस्य पुर्याः क्षितिरेव भेजे वसुंधरावाचकवाच्यभावम् ॥ ५ ॥

उपायनत्वेनेति। सर्वैः नानादेशसमुत्पन्नैः भूपैः राजभिः अखिलेषु समस्तेषु वित्तेषु स्वसम्बन्धिषु धनेषु नृपाय युधिष्ठिराय उपायनीकृतेषु उपहृतेषु सत्सु (अन्यासां राजपुरीणां धनराहित्येन) केवला पार्थस्य पुर्याः इन्द्रप्रस्थनगर्याः क्षितिः एव वसुन्धरावाचकवाच्यभावम् वसुन्धरापदप्रतिपाद्यत्वम् भेजे प्राप। अन्यासां पुरीणां वसुना शून्यतयाऽस्याश्च धनपूर्णतया वसुन्धरेत्यन्वर्था संज्ञा केवलमिन्द्रप्रस्थस्यैवावर्त्ततान्यासां तु सा रूढा संज्ञैवेति बोध्यम्। अतिशयोक्तिः स्फुटैव ॥ ५॥

सभी राजोंने जब सारा धन धर्मराजको उपहृत कर दिया तब केवल पार्थकी नगरी इन्द्रप्रस्थ ही वसुन्धरा शब्दका प्रतिपाद्य रह गई, सभी नगर धनशून्य होनेके कारण— 'वसु धरतीति' व्युत्पत्तिसे बने वसुन्धरा शब्दसे कहे जाने योग्य नहीं रहे, केवल इन्द्रप्रस्थ ही वैसा रहा, क्योंकि उसमें तो सारी सम्पत्ति थी ॥ ५॥

नरदेवमगाज्जये प्रतीच्या नकुलेनैव[1] वसूनि विस्तृतानि[2]।
दधदानकदुन्दुभिस्वनैर्द्यां दलयन्नानकदुन्दुभेः कुमारः॥ ६॥

नरदेवमिति। विस्तृतानि बहूनि वसूनि धनानि दधत् धारयन् आनकदुन्दुभेः वसुदेवस्य कुमारः श्रीकृष्णः आनकानां पटहानां भेरीणां च स्वनैः शब्दैः द्याम् आकाशं दलयन् भिन्दन् (वाचालयन्) प्रतीच्याः पश्चिमाया दिशः जये सति नकुलेन सहैव नरदेवं युधिष्ठिरम् अगात् पुनरायातः। जरासन्धवधानन्तरं द्वारकां गतो भगवान् पश्चिमामाशां जित्वा बहूनि धनानि सहानयता विजयवाद्येनाकाशं च पूरयता नकुलेनैव सह पुनर्युधिष्ठिरसमीपमागतवानित्याशयः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ६॥

विस्तृत धनराशि लिये भगवान् श्रीकृष्ण नाना प्रकारके विजयवाद्योंसे आकाशको मुखरित करते हुए पश्चिमदिशाको जीतकर लौटनेवाले नकुलके साथ ही पुनः युधिष्ठिरके समीप आ गये ॥ ६॥

हरिणा स ततः कृताभ्यनुज्ञो हविरादातुमिवागतेन साक्षात्।
क्रमवेदिपुरोधसां समूहैः[3] क्रतुमाहर्तुमुपक्रमं प्रचक्रे॥ ७॥

हरिणेति। ततः कृष्णागमनानन्तरं स धर्मराजः साक्षात् प्रत्यक्षीभूय हविरादातुं हूयमानं द्रव्यजातं ग्रहीतुम् इव आगतेन आयातेन हरिणा श्रीकृष्णेन कृताभ्यनुज्ञः यज्ञं प्रारब्धुं लब्धानुमतिः सः धर्मराजः क्रमवेदिनाम् कर्त्तव्यकर्मपौर्वापर्यज्ञानशालिनाम् पुरोधसां याज्ञिकक्रियावेदिनामृत्विजां समूहैः सह क्रतुं राजसूयं नाम यज्ञम् आहर्तुम् कर्त्तुम् उपक्रमम् प्रारम्भं प्रचक्रे कृतवान्। हरिणा स्वं यज्ञभागमादातुमिव साक्षादुपस्थितेनादिष्टो धर्मराजो याज्ञिककर्मानुष्ठानक्रमज्ञानवतां

१. 'इव'। २. 'विस्मृतानि'। ३. 'क्रमविद्भिरथद्विजां समाजैः'। इति पा०।

पुरोधसां समूहैः सह राजसूयं यागमारब्धवानिति भावः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७ ॥

अपना यज्ञभाग लेनेके लिये साक्षात् शरीर धारण करके आए हुए भगवान् श्रीकृष्णसे अनुमति लेकर धर्मराजने याज्ञिककर्मकलापके पौर्वापर्यको जाननेवाले ऋत्विजोंके साथ राजसूय यज्ञ करनेका उपक्रम किया ॥ ७ ॥

प्राग्वंशेऽप्युत्तमे तिष्ठन् प्राग्वंशं पुनराविशत् ।
कुरीरशिरसा पत्न्या कुरुवीरः स दीक्षितः ॥ ८ ॥

प्राग्वंश इति । उत्तमे रमणीये प्राग्वंशे हविर्गेहे तिष्ठन्नपि कुरीरं जालं शिरसि यस्यास्तया द्रौपद्या नाम पत्न्या दीक्षितः यज्ञदीक्षावान् सः कुरुवीरः पुनः प्राग्वंशं हविर्गृहम् आविशत् आगतः । प्राग्वंशे तिष्ठतः प्राग्वंशागमनं विरुद्धमिव भासते, प्राग्वंशे प्राचां कुरुययात्यादीनां वंशे कुले इत्यर्थेन च तत्परिहारः । कुरीरं जालं तद्ग्रहणं च यज्ञदीक्षितपत्न्या विहितम् । कुरीरं माङ्गलिकमन्यद्वस्त्विति केचित् ॥८॥

अपने पूर्वके पुरुष कुरु ययाति आदिके वंशमें वर्त्तमान तथा यज्ञदीक्षित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज शिरपर कुरीर-जाल या मङ्गल वस्तु धारण करनेवाली धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ पुनः प्राग्वंश हविर्गृहमें आये । प्राग्वंशमें अवस्थितका प्राग्वंशमें आना विरोधकी प्रतिभा उत्पन्न करता है, प्राग्वंशका अर्थ प्राचीनोंका वंश-कुल करनेपर उसका परिहार हो जाता है ॥ ८ ॥

[1]आप्सातुमिच्छुरनलो हविरत्र रुच्य-
मानीलधूमकुलनिर्ग[2]मनापदेशात् ।
जग्धान्पुरा जतुनिकेतनभित्तिखण्डान्
कुक्षिस्थितानिव ववाम गुरूनजीर्णान् ॥ ९ ॥

आप्सातुमिति । अनलः वह्निः अत्र युधिष्ठिरसम्पाद्ये राजसूये रुच्यं स्वादु हविः होमलब्धं द्रव्यजातम् आप्सातुम् भक्षितुम् इच्छुः पुरा लाक्षागृहदाहावसरे जग्धान् भक्षितान् गुरून् बहुकालपाच्यान् अत एव अजीर्णान् कुक्षिस्थितान् उदरवर्त्तिनः जतुनिकेतनभित्तिखण्डान् लाक्षाभवनभित्तिशकलान् आनीलस्य श्यामस्य धूमकुलस्य धूमराशेर्निर्गमनस्य बहिर्भावस्यापदेशात् छलात् इव ववाम वान्तवान् । यथा कश्चन भुक्तपूर्वं किमप्यजीर्णमुदरे वर्त्तमानं वमति, वमनजागृतबुभुक्षश्च रुच्यं भोज्यान्तरमश्नाति, तथैवायं पुरा लाक्षागृहभित्तिखण्डानि भक्षयित्वा तानि गुरूणि पाचयितुमक्षमो वह्निः सम्प्रति नीलधूमराशिव्याजेन वान्त्वा राजसूये रुच्यं हविरादातुमात्मानं सज्जीकरोतीत्यर्थः । अपह्नुतिगर्भोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

---

१. 'आघ्रातुम्' । २. 'निर्गलना' । इति पा० ।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें स्वादिष्ट हवनीय पदार्थोंको खानेकी इच्छा रखनेवाले अग्निदेव काले धूमस्तोमके निर्गमनके बहाने लाक्षागृहदाहके समयमें खाये हुए एवं अभी तक नहीं पचे हुए लाक्षागृहभित्तिके टुकड़ोंको वमनके द्वारा मानो निकाल रहे थे। आगसे काला धुआँ क्या निकल रहा था, आग अजीर्णभावमें अवस्थित पुराकालमें खाये गये लाक्षागृहकी दीवारके टुकड़ोंको वमन द्वारा पेटसे निकाल रही थी ॥ ९ ॥

तत्र प्रवर्ग्यजनितं दिवि धूमचक्र-
मालक्ष्यते स्म विबुधान्प्रति पावकेन।
आनाकदुर्वहहविर्द्रविणेन वेगा-
दाह्वानपत्रवलयं किल नीयमानम् ॥ १० ॥

तत्रेति। तत्र यज्ञे प्रवर्ग्येण राजसूययज्ञाङ्गकर्मविशेषेण जनितम् उत्पादितम् धूमचक्रम् धूमराशिः दिवि आकाशे आनाकम् स्वर्गपर्यन्तं दुर्वहम् वोढुमशक्यम् हविः हव्यद्रव्यमेव द्रविणं धनं यस्य तेन तथोक्तेन पावकेन अग्निना विबुधान् देवान् प्रति वेगात् तीव्रतया नीयमानम् उह्यमानम् आह्वानपत्रवलयम् निमन्त्रणपत्रमण्डलम् इव आलक्ष्यतेस्म। प्रवर्ग्यजनितो धूमभरो दिवि विततो देवान् प्रतिनीयमानं निमन्त्रणपत्रमिव प्रतीयतेस्म, शीघ्र च तत्र प्राप्यते, यतो वाहकोऽग्निर्हव्यद्रव्यभारेण मन्दगतिः सम्पन्नोऽस्तीति भावः। स्फुटोत्प्रेक्षा ॥ १० ॥

प्रवर्ग्य नामक यज्ञकार्यमें उत्पन्न धूमराशि ऐसी लगती थी, मानो स्वर्ग पर्यन्त दुर्वह हविर्द्रव्यसे भाराक्रान्त अतएव मन्दगति अग्निदेव द्वारा नीयमान देवोंका निमन्त्रण-पत्र हो। देवता लोगोंका यज्ञमें आह्वान होता है, अग्निकी प्रथम पूजा द्वारा निर्गत धूम ही मानो देवोंका निमन्त्रण-पत्र होता है ॥ १० ॥

मेदस्विनं विपुलखाण्डवभक्षणेन
देहं निजं चलयितुं शिखिनोऽक्षमस्य।
उद्गम्य संज्वलितुमुत्तरवेदिकाया-
मालम्बनाय किल यूपवरोऽन्तिकेऽभूत् ॥ ११ ॥

मेदस्विनमिति। विपुलस्य अतिविस्तृतस्य खाण्डवस्य तत्संज्ञया ख्यातस्य वनस्य भक्षणेन मेदस्विनम् स्थूलम् अतिमांसलम् निजं देहं स्वां तनुम् चलयितुम् सञ्चारयितुम् अक्षमस्य अशक्तस्य शिखिनः पावकस्य, उद्गम्य उत्थाय गत्वा उत्तरवेदिकायाम् संज्वलितुम् सम्यक् ज्वलनकार्यं सम्पादयितुम् आलम्बनाय अवलम्बनदानाय यूपवरः यज्ञियस्तम्भविशेषः अन्तिके समीपेऽभूत्। अन्योऽपि बहुभक्षणेन संजातस्थूलभावः क्वचिदन्यत्र किमपि कर्मानुष्ठातुं यियासुस्सन् दण्डमवलम्ब्य गच्छति, तथाऽयमग्निर्भक्षितखाण्डववनतयाऽतिमेदस्वीभूत्वोत्तरवेदिकां गत्वा जिज्वलिपुर्यूपमवलम्बत इति भावः ॥ ११ ॥

अतिविस्तृत खाण्डववनके खानेसे मोटे हुए अग्निदेव अपनी देहको चलानेमें असमर्थ होकर उत्थान द्वारा उत्तर वेदीमें पहुँचकर जलनेके लिए यूपका अवलम्बन करने लगे। जैसे अधिक खाकर मोटा बना हुआ कोई आदमी चलनेमें अशक्त होकर लाठीके सहारे चलता है वही दशा अग्निकी हुई ॥ ११ ॥

बिम्बेन सङ्गं बिसपुष्पबन्धोर्नाथः कलानां न यथा विदध्यात् ।
तथैव देवास्ततृपुस्तदानीमत्यद्भुतानां हविषां[1] विशेषैः ॥ १२ ॥

बिम्बेनेति । कलानां नाथः चन्द्रः बिसपुष्पबन्धोः कमलकुलप्रेयसः सूर्यस्य बिम्बेन मण्डलेन सह सङ्गम् एकत्रवासम् यथा न विदध्यात् न कुर्यात्, तदानीं राजसूयानुष्ठानसमये अत्यद्भुतानाम् अतिस्वादूनां हविषां हव्यद्रव्याणां विशेषैः प्राचुर्यैः देवाः तथैव ततृपुः तृप्ताः अभवन् । इदमत्र बोध्यम्, यदा देवाश्चन्द्रमसोऽमृतमयीः कलाः पिबन्ति तदा क्षीणश्चन्द्रः अमावास्यायां सूर्येण सह सङ्गच्छते, युधिष्ठिरयागे स्वादुभिर्हव्यद्रव्यैस्तृप्ता देवा अमृताय अस्पृहयन्तश्चान्द्रीः कला नापिबन्निति चन्द्रस्य क्षीणत्वाभावेन सूर्यबिम्बेन सह सङ्गस्यावसरो नाजनीति भावः । अत्र देवानां तादृशतृप्त्यसम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ १२ ॥

उस राजसूय यज्ञमें देवोंने स्वादिष्ट हव्यद्रव्योंसे इतनी तृप्ति लाभ की कि उनको चन्द्रमाकी कलाके पानकी जरूरत नहीं रही, फलतः चन्द्रमाको सूर्य-बिम्बके साथ सङ्गकी आवश्यकता नहीं हुई । देवों द्वारा कलारूप अमृतके पिये जानेपर क्षीण चन्द्रमा अमामें सूर्यमण्डलके साथ रहता है, देवोंको यज्ञने इतना तृप्त कर दिया कि वे अमृत नहीं पीते, चन्द्रमा क्षीण नहीं होता, फलतः चन्द्रमा सूर्यबिम्बके सङ्गको अनावश्यक समझकर छोड़ देता है ॥ १२ ॥

सर्वेषु वर्णेष्वपि दातुरस्मात्संप्राप्तवत्स्वर्थमजातशत्रोः ।
नवर्ण एकस्तु कदापि लेभे नार्थं क्रतूनामिह सार्वभौमे ॥ १३ ॥

सर्वेष्विति । इह अस्मिन् क्रतूनां यज्ञानां सार्वभौमे प्रधाने राजसूये सर्वेषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु जातिषु (अकाराद्यक्षरेषु च) दातुरस्मादजातशत्रोः सकाशात् स्वम् अर्थजातम् धनम् (वाच्यम् च) सम्प्राप्तवत्सु अधिगतवत्सु, एकः नवर्णः नकारः तु कदापि स्वम् अर्थम् निषेधरूपम् (जातु कदाचिदपि) नहि लेभे । अयमर्थः— युधिष्ठिरेऽर्थं वितरति सति सर्वे वर्णाः स्वाभिमतमर्थं लेभिरे, (सर्वाण्यक्षराणि च स्ववाच्यमर्थं प्राप्तवन्ति, परन्तु) एको 'न' वर्णः स्ववाच्यं निषेधं नाधिगतवान्, तत्र यज्ञे कस्यापि याचितुर्निषेधेन तिरस्कारो नाकारीति । तुलनायां दृश्यताम्— 'नाक्षराणि पठता किमपाठि, प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि । इत्थमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः' ॥ १३ ॥

---

१. 'हविषामशंपात्' । इति पा० ।

उस यज्ञराज राजसूय यज्ञमें अजातशत्रु युधिष्ठिरके हाथसे सभी वर्णोंको यथाभिमत धन मिल रहा था (सभी अक्षर अपना अभिधेय पा रहे थे) परन्तु एक न वर्णको कभी भी अपना अभिधेय–अर्थ प्रतिषेध नहीं प्राप्त हुआ। अर्थात् उस यज्ञमें युधिष्ठिरने किसी प्रार्थीसे निषेध–वचन नहीं कहा, केवल नकारको अपने अर्थसे वञ्चित रह जाना पड़ा ॥१३॥

तत्र नानाजनपदमेदिनीवल्लभमल्लमुकुटमणिकिरणपल्लविते यज्ञवाटे त्रिपथगा[1]पृथातनूजाभ्यां नियुक्तो, वैमात्रेयैर्भ्रातृभिर्जतुभवनवनसवनेषु पृथक्पृथगाराधिततया स्वेनाप्यातिथ्याया[2]मन्त्र्यमाणेन वीतिहोत्रेणेव ज्वलता हेमपात्रेण परिष्क्रियमाणपाणितलः सहदेवो निखिलभक्तजनकृत्यनिर्वहण[3]भारेणेव निभृतावयवं सभ्यलोकलोचनपद्मयुगल[4]पङ्क्तिपरस्परवैमुख्यवदान्यरूपकोमलिमानं महर्षिजनवलयमध्यमहेन्द्रनीलरत्नं चिरंतनं[5] पुमांसं स[6]मासाद्य प्रथममर्घ्येण परिपूजयांचक्रे ॥

तत्रेति। नानाजनपदानां भिन्नभिन्नदेशानां ये मेदिनीवल्लभमल्लाः राजश्रेष्ठाः तेषां मुकुटेषु मस्तकालङ्कारेषु (स्थितानां) मणीनां किरणैः कान्तिभिः पल्लविते सञ्जातपल्लवे (रक्ताभतत्कान्तिभी रञ्जिते) तत्र तस्मिन् यज्ञवाटे राजसूयशालायाम् त्रिपथगातनूजेन भीष्मेण पृथातनूजेन च युधिष्ठिरेण ताभ्यां द्वाभ्यां नियुक्तः कृष्णमर्चयितुमादिष्टः, वैमात्रेयभ्रातृभिः भीमार्जुनयुधिष्ठिरैः क्रमेण जतुभवने लाक्षागृहे वने खाण्डवे सवने राजसूये च पृथक् पृथक् आराधिततया संतोषितत्वेन (लाक्षागृहे भीमेनाग्निस्सन्तोषितः खाण्डववनेऽर्जुनेन तर्पितः राजसूये च युधिष्ठिरेण सन्तर्पित इति स्पर्धया वैमात्रेयकृतकर्मानुष्ठानेनात्मनोन्यूनत्वं निरसितुकामः सहदेवो वह्निमातिथ्याय निमन्त्र्य स्वकरयोधृतवान्, यत्तस्य हस्ते हेमपात्रं तिष्ठति स्म, तद्धेमपात्रं वह्निरिव प्रतीयते स्मेति हृदयम्) स्वेन आत्मना सहदेवेनापि आतिथ्याय आतिथ्यसत्कारमाचरितुम् आमन्त्र्यमाणेन निमन्त्र्याहूतेन ज्वलता देदीप्यमानेन वीतिहोत्रेण वह्निना इव हेमपात्रेण स्वर्णभाजनेन परिष्क्रियमाणपाणितलः भूष्यमाणबाहुः सहदेवो नाम कनिष्ठपाण्डवः निखिलभक्तजनकृत्यनिर्वहणभारेण इव समस्तस्वभक्तलोककार्यसम्पादनजन्मनाऽऽयासेन इव निभृतावयवं शान्तसकलगात्रम्, सभ्यलोकानां सभास्थजनानां लोचनानां पद्मयुगलपङ्क्तिभ्यः पद्मसमूहेभ्यः परस्परवैमुख्यवदान्यः परस्परसङ्गराहित्यदाता रूपकोमलिमा सौन्दर्यमाधुर्यं यस्य तं तथोक्तम्, यदीयं सौन्दर्यं पश्यन्तः सभ्या निर्निमेषमासते तं तथाभूतमिति यावत्, महर्षिजनवलये ऋषिसमुदाये वलये इव मध्यमहेन्द्रनीलरत्नं

---

१. 'त्रिपथा'। २. 'निमन्त्र्यमाणेन'। ३. 'निर्वाहभारेण निभृता'। ४. 'युग्म'। ५. 'चिरत्नम्'। ६. 'आसाद्य'। इति पा०।

मध्यगतेन्द्रनीलमणिमिव प्रतीयमानम् चिरन्तनं पुमांसं पुराणपुरुषं समासाद्य उपसृत्य अर्घ्येण प्रथमं सर्वतः प्राक् पूजयामास। सभायां सर्वेषूपविष्टेषु भीष्म-युधिष्ठिराभ्यामाज्ञप्तः सहदेवो भगवन्तं शान्तभावेनावस्थितं मुनिजनमध्यगतं वासुदेवं सर्वत आदौ यथोचितार्घ्यादिना सत्कृतवानिति॥

नाना देशके राजश्रेष्ठोंके मुकुटोंमें खचित मणियोंकी किरणोंसे रञ्जित उस राजसूय यज्ञशालामें त्रिपथगातनूज–भीष्म तथा पृथातनूज–युधिष्ठिरसे आदिष्ट होकर सहदेवने—जिनके हाथका सुवर्णपात्र ऐसा लग रहा था—मानों उनके वैमात्रेय भाइयों—भीम, अर्जुन–युधिष्ठिरसे लाक्षागृह–खाण्डव–तथा राजसूयमें अलग-अलग आराधित वह्निको सहदेव भी आतिथ्य सत्कारके लिये निमन्त्रित किया हो, ऐसे हेमपात्रसे उनका हाथ अलंकृत था, भगवान्‌के पास पहुँचकर सबसे पहले अर्घ्य द्वारा उनकी पूजा की, भगवान् उस समय सभामें शान्तभावसे ऐसे बैठे थे, मानों सकल भक्तजनोंके कार्यको करते करते उनके अङ्ग थक गये हों, उनके सौन्दर्यकी मधुरता सभी दर्शकोंकी आँखोंकी पक्ष्मपङ्क्तियोंको परस्पर वैमुख्यप्रदान कर रही थी, अर्थात् उनकी सुन्दरताको लोग निर्निमेष भावसे देख रहे थे, वह भगवान् मुनियोंके समुदायमें (वलयमें) इन्द्रनीलमणिकी तरह दीख रहे थे, तथा वह आदि पुरुष थे॥

तावत्प्रकोपात्तरलाधरस्य प्रतिक्षितीशानभयानकस्य।
वेदीभुवं तत्र विहाय वह्निश्चेदीशितुश्चित्तमिवाविवेश॥ १४॥

तावदिति। तावत् यावत्सहदेवो भगवन्तमर्चयति तत्काले प्रकोपात् कृष्णस्याग्रपूजादर्शनप्रभवक्रोधात् तरलौ चलौ ओष्ठौ यस्य तस्य तथोक्तस्य अतएव प्रतिक्षितीशानभयानकस्य प्रत्यर्थिराजगणभयङ्करस्य चेदीशितुः शिशुपालस्य चित्तं हृदयम् वह्निः यज्ञाहितोऽग्निः तत्र यज्ञशालायाम् वेदीभुवं वेदीरूपं स्वं स्थानम् विहाय आविवेश प्रविष्ट इव। कृष्णस्याग्रपूजां विलोक्य शिशुपालस्य मनः कोपेन जज्वाल, मन्ये वेदीगतो वह्निः स्वं स्थानं विहाय तद्धृदयं प्रविष्ट इत्याशयः॥१४॥

जब तक सहदेवने श्रीकृष्णका सत्कार किया तब तक शिशुपालके ओठ कोपसे चलने लगे, और सभी प्रत्यर्थिभूपालोंको उसे देखकर भय होने लगा, ऐसा मालूम हुआ मानों वेदीको छोड़कर वह आग शिशुपालके हृदयमें प्रवेश कर गयी हो, उसका हृदय कोपसे जल उठा॥ १४॥

सदसि न विकृतो यदच्युतोऽभूत्स तु परुषाक्षरमण्डलेन शत्रोः।
बहिरवसदुपेत्य तच्छ्रवोभ्यां बहुतरकुण्डलनीलरत्नलक्ष्यात्॥ १५॥

सदसीति। सः अच्युतः श्रीकृष्णः तु सदसि सभायां शत्रोः विरोधिनः शिशुपालस्य परुषाक्षरमण्डलेन कटुवाक्यसमूहेन यत् विकृतः कोपादिविकारयुक्तः

१. 'बहिरिव सदुपेत्य'। इति प.०।

नाभूत्, तत् बहुतराणि भूयांसि यानि कुण्डलनीलरत्नानि कुण्डलप्रोता नीलमणयस्तल्लक्ष्यात् तद्व्याजात् तच्छ्रुवोभ्यां भगवतः कर्णाभ्यां बहिः उपेत्य गत्वा (तदनुचितवचोनिचयः) अवसत् । अयमाशयः—भगवान् शिशुपालस्य वचांसि नाकर्णितवानिव, यतस्तद्वाचो भगवत्कर्णलम्बितकुण्डलनीलरत्नप्रभाव्याजाद्बहिरेवावसन्नतोऽश्रुततद्वचनतया भगवतो मनसि विकारो नाजायतेति ॥ १५ ॥

विरोधी शिशुपालकी कठोर बातोंसे सभामें अच्युत श्रीकृष्ण तनिक भी विचलित नहीं हुए क्योंकि उसकी कटु बातें भगवान्के कुण्डलोंमें खचित बहुतसे नीलरत्नोंकी कान्तिके बहाने कानोंके बाहर ही बैठी रहीं, वे बातें कानों तक पहुँची ही नहीं, फिर भगवान्के विचलित होनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ॥ १५ ॥

अश्लीलवागिह समाप्तिमती[1] न वेति
संद्रष्टुकाममिव दानववैरिचक्रम् ।
कल्पान्ततिग्मकरकल्पमनल्पवेगं
कण्ठे बिभेद रणकर्मणि दामघोषम्[2] ॥ १६ ॥

अश्लीलवागिति । ततः कुपित चेदिकटुवाक्प्रयोगानन्तरम् कल्पान्ततिग्मकरकल्पं प्रलयार्कतुल्यम् अतिभ्राजिष्णु अनल्पवेगम् अतिवेगवत् च दानववैरिचक्रम् श्रीकृष्णस्य सुदर्शनं नाम चक्रम् इह शिशुपालकण्ठे अश्लीलवाक् अनुचितशब्दराशिः समाप्तिमती समाप्ता न वा ? इति सन्द्रष्टुकामम् वीक्षितुमिच्छन् इव रणकर्मणि तत्र वाग्युद्धपूर्वके युद्धे दामघोषम् दमघोषस्यापत्यम् शिशुपालं नाम कण्ठे कण्ठदेशावच्छेदेन विभेद छिन्नवत् । यथा कुत्रापि पिहितमुखे वस्तुनि किमपि वस्त्वन्तरमस्ति न वेति द्रष्टुमिच्छँस्तद्वस्तु भिनत्ति तथा भगवतश्चक्रं शिशुपालकण्ठेऽवशिष्यतेऽश्लीलवचनराशिरथवा समाप्त इति वीक्षितुमिव तत्कण्ठमभिनदित्यर्थः। 'दामघोषम्' दमघोषजम्, यथाह माघः—'चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमोदमघोषजः' ॥ १६ ॥

शिशुपालके कण्ठमें कडवी बातें समाप्त हो चुकी हैं या बच रही हैं, इस बातको मानो देखना चाह रहा हो ऐसा, और प्रलयकालिक सूर्यकी तरह चमकदार तथा अति वेगशाली भगवान्के सुदर्शन नामक चक्र ने युद्धमें शिशुपालको कण्ठदेशमें भिन्न कर दिया । किसी बन्द पात्रमें वर्त्तमान कोई वस्तु है या समाप्त हो गई इस बातका पता लगानेके लिये जैसे उस पात्रका भेदन करके देखा जाता है उसी तरह भगवान्ने शिशुपालके कण्ठमें गालियाँ बची हैं या समाप्त हो गई इस बातका पता लगानेके लिये उसका गला काट दिया ॥ १६ ॥

---

१. 'समाप्तवती' । २. 'रणसीमनि दामघोषिम्' । इति पा० ।

इति तस्य दुर्मतेरायुषा सह समापिते सवनकर्मणि निर्मितावभृथाप्लवनमुपदात्वेन दत्तपूर्वाणि वित्तान्युत्तमर्णानिव पुनर्द्विगुणमेव ग्राहितान्सर्वानुर्वीपतीन् प्रस्थापितवन्तं पौरवं तमनुज्ञाप्य चैद्यनिधनोत्सवेन सुदर्शनस्येव स्वपुरजनलोचनस्यापि नवास्रकणिकार्द्रतामनुभवितुमना इव सनातनः पुमान्पुरीं पुरानुभूतकुशस्थलीनाम्नीं प्रतस्थे ॥

इति तस्येति। इति एवं प्रकारेण दुर्मतेः भगवन्तं प्रतीर्ष्याकलुषतया दुष्टबुद्धेः तस्य शिशुपालस्य आयुषा जीवितसमयेन सह सवनकर्मणि राजसूययज्ञरूपकार्ये समापिते अवसानं गमिते सति निर्मितावभृथाप्लवनम् कृतयज्ञान्तस्नानं (पूर्वम्) उपदात्वेन उपहाररूपेण दत्तपूर्वाणि पूर्वं दत्तानि वित्तानि उत्तमर्णान् इव पुनः यज्ञान्ते द्विगुणं ग्राहितान् स्वीकारितान् (ये राजानो यावद्वित्तमुपहाररूपेण दत्तवन्तस्तान् दत्तद्वैगुण्येन प्रत्यावर्त्तितवन्तम्) सर्वानुर्वीपतीन् राज्ञः प्रस्थापितवन्तम् विसृष्टवन्तम् पौरवं युधिष्ठिरम् अनुज्ञाप्य गृहगमनायामन्त्र्य सनातनः पुमान् पुराणपुरुषः कृष्णः चैद्यनिधनोत्सवेन शिशुपालमरणजन्मना हर्षेण सुदर्शनस्य तन्नामकस्य स्वचक्रस्येव स्वपुरजनलोचनस्यापि स्वनगरवासिलोकनयनसमूहस्यापि नवास्रकणिकाभिः अचिरोद्गतहर्षाश्रुबिन्दुभिः आर्द्रताम् सेकम् अनुभवितुमनाः द्रष्टुमिच्छन्, (यथा शिशुपालवधेन जातेन सुदर्शनं नवरुधिरकणेनार्द्रमजनि तथा तन्निधनवार्त्ताश्रवणेन मत्पुरवासिजनलोचननिवहोऽपि प्रत्यग्रोद्गतानन्दाश्रुकणिकाभिः सिक्तमस्त्विति कामयमानः सन्नित्यर्थः) पुरा कृष्णवासात् पूर्वम् अनुभूतकुशस्थलीनाम्नीम् कुशस्थलीतिसंज्ञया प्रथितामधुना द्वारकासंज्ञां पुरीम् प्रतस्थे प्रचलितवान्॥

इस प्रकार उस दुर्बुद्धि शिशुपालकी आयुके साथ ही राजसूय यज्ञके समाप्त हो जाने पर यज्ञान्त स्नान करके राजा युधिष्ठिरने जब उपहारमें पहले दिये गये धनको दुगुना करके राजाओंको लौटा दिया मानों वह ऋणदाता रहे हों, और सब भूपालोंको अपनी अपनी राजधानीके प्रति बिदा कर दिया, तब भगवान्ने युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमती ली और चैद्यके निधनरूप उत्सवसे जिस प्रकार सुदर्शन गरम खूनकी बूंदोंसे अपनेको सींचा है; उसी तरह पुरवासि जनके नयन भी नवोद्गत आनन्दाश्रुबिन्दुओंसे सींचे जाँय, यह कामना रखनेवाले पुराणपुरुष श्रीकृष्ण अपनी नगरी द्वारकापुरीको चले, जिस नगरी का प्राचीन नाम कुशस्थली था॥

अन्धभूपतनयोऽपि बलौघैर्हास्तिनं पुरमवाप्य विलक्षः।
सौबलिं गिरमसौ बलवन्तं दुर्विचाररचनासु चचक्ष्ते॥ १७॥

---

१. पौरजनस्यापि'। 'स्वपौरलोचनस्यापि'। २. 'अनुभावयितुमनाः'। इति पा०।

अन्धभूपेति। असौ अन्धभूपतनयः धृतराष्ट्रसुतः दुर्योधनोऽपि बलौघैः सैन्यसमुदयैः सह हास्तिनं पुरम् धर्मराजराजधानीम् अवाप्य प्राप्य विलक्षः धर्मराजैश्वर्यदर्शनविस्मितः सन् दुर्विचाररचनासु कुटिलमन्त्रणाकृतिषु बलवन्तं सौबलिं सुबलस्य नाम्नो राज्ञोऽपत्यं शकुनिम् प्रति गिरं वक्ष्यमाणलक्षणां वाचं चचक्षे उक्तवान्। हस्तिनापुरागतो दुर्योधनो धर्मराजविभवावलोकनेन विस्मितः सन् कुटिलं शकुनिं प्रति वक्ष्यमाणवचनमुवाचेत्यर्थः। स्वागतावृत्तम् ॥ १७ ॥

अन्धे राजा धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन ससैन्य हस्तिनापुर आया, वहाँ पर युधिष्ठिरका विभव देखकर वह विस्मित हो गया और विस्मित होकर उसने दुष्ट विचारकी रचनामें निपुण–दुरभिसन्धिदक्ष–कुटिल शकुनिसे इस प्रकारके वचन कहे ॥ १७॥

अग्नेरपत्यमिति हेम यदाहुरेत-
न्मिथ्या न मातुल ! विरोधिमखेऽनुभूतम् ।
तत्स्मर्यमाणमखिलक्षितिपोपनीतं
नक्तंदिवं दहति चित्तमिदं यतो मे ॥ १८ ॥

अग्नेरपत्यमिति। हे मातुल, मातृभ्रातः, शकुने। हेम सुवर्णम् अग्नेरपत्यम् अग्निजन्यम् इति यद्वाक्यमाहुः, एतत् हेम्नः अग्निजन्यत्वम् , मया विरोधिमखे विरोधिनो ज्ञातेर्युधिष्ठिरस्य मखे राजसूयेऽनुभूतम् साक्षात्कृतम्। अखिलैः क्षितिपैः राजभिः उपनीतमुपहृतं करत्वेन समर्पितं वा इदं सुवर्णं स्मर्यमाणम् अपि भावनोपनीतम् अपि यतो यस्मात् मे मम दुर्योधनस्य चित्तं नक्तंदिवम् अहर्निशं दहति ज्वलयति। यदि हेमसुवर्णजन्यं न स्यात्तदा स्मर्यमाणतया हृदयगतं सन्मम हृदयं कथं दहेत्, दहति तु स्मर्यमाणमतो निश्चीयते वह्निजन्यत्वं तस्य, तथात्वे सत्येव दाहकत्वोपपत्तेरिति भावः ॥ १८ ॥

मामा, लोग सोनेको आगकी सन्तान कहते हैं यह बात मिथ्या नहीं है, मैंने अपने विरोधी ज्ञाति धर्मराजके यज्ञमें इसका अनुभव किया था, उस यज्ञमें समस्त राजवर्ग द्वारा उपहार या कर रूपमें दिया गया सोना इस समय याद आने पर भी हमारे हृदयमें सन्तापकी सृष्टि कर रहा है, यदि सोना अग्निजन्य नहीं होता तो स्मर्यमाण होकर हृदयमें आनेपर हृदयमें जलन क्यों पैदा करता, इससे सिद्ध होता है कि सोना अग्निजन्य है ॥१८॥

वल्गत्कुचं परिजहास सभावलोके
मां द्रौपदी मणिभुवि स्खलितं यदुच्चैः ।
तत्साधु जातमिति वक्तुमिव स्नुषां स्वां
मत्प्राणवायुरयमुत्क्रमणोच्छुरास्ते[1] ॥ १९ ॥

---

१. 'ततः,—अधुना–'। इति पा०।

वल्गादिति । सभायाः मणिमयसभामण्डपस्य अवलोके दर्शनसमये मणिभुवि वज्रकृतकुट्टिमे स्खलितम् जले स्थलम् स्थले च जलम् इति विपरीतज्ञानवन्तं माम् द्रौपदी वल्गत्कुचं हासक्षोभात् चलत्स्तनभारं यत् उच्चैः परिजहास परिहासमकरोत्, तत् परिहसनं साधु उपयुक्तं जातम् इति स्वां निजां स्नुषां पुत्रवधूं वक्तुमिव अयं मम प्राणवायुः उत्क्रमणेच्छुः बहिर्भवितुकामः आस्ते । सभायां पश्यतो मम जाते जले स्थलत्वप्रकारके स्थले च जलत्वप्रकारके ज्ञाने द्रौपदीकम्पमानकुचं यथा तथा यद्धसितवती, तत्तदीयं हसितमुचितमजायतेति वक्तुमिव द्रौपदीं नाम स्वां स्नुषामुपैतुमयं मम प्राणवायुर्निर्गन्तुमिवेच्छतीति भावः । अत्र वायोर्भीमपितृत्वेन द्रौपद्या वायुस्नुषात्वं कल्पितम् ॥ १९ ॥

मणिमय सभा देखनेके समय हमने जब जलको स्थल तथा स्थलको जल समझनेकी गलती की थी, द्रौपदीने उस समय जोरोंका ठहाका लगाया जिससे उसके स्तन हिलने लगे, उसका वह हँसना उचित था इसी बातको अपनी पुत्रवधू द्रौपदीसे बतानेके लिये हमारे यह प्राण निकलनेकी इच्छा कर रहे हैं। मैं उस अपमानके कारण मर जाना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

अधुना युधि सेनाभिर्विधुन्वानो धरातलम् ।
विधाय निधनं तेषां निगृह्णीयामिमां शुचम् ॥ २० ॥

अधुनेति । अहम् एवमपमतोऽहम् अधुना सम्प्रति सेनाभिः सैन्यैः धरातलं भूतलं युधि युद्धे विधुन्वानः कम्पयन् तेषां युधिष्ठिरादीनां निधनं प्राणापहारं विधाय कृत्वा इमाम् तदपमानजनितां शुचं खेदं निगृह्णीयाम् शमयेयम् । अनुज्ञायां लोट् ॥ २० ॥

मेरा बड़ा अपमान हुआ है अतः अब मैं चाहता हूँ कि सेनासे समस्त भूमण्डलको कंपाकर युद्धमें युधिष्ठिरादिके प्राणहरण द्वारा अपने इस खेदका शमन करूं ॥ २० ॥

इति निगद्य व्रीडाव्यथानद्योः संगमे निमग्नमेनमभग्नकैतवबन्धुः गान्धारपतिरुत्तारयितुमेवमुत्तरमादत्त ।

इतीति । इति उक्तप्रकारेण निगद्य उक्त्वा व्रीडाव्यथानद्योः लज्जादुःखरूपयोः सरितोः सङ्गमे एकत्रमिलनस्थाने निमग्नम् ब्रुडितम् एनम् दुर्योधनम् अभग्नकैतवस्य अप्रतिहतकपटविद्यायाः (अक्षविद्यायाः) बन्धुः (तत्र कुशलः) गान्धारपतिः गान्धारदेशाधीशः शकुनिः उत्तारयितुं लज्जादुःखनद्योः परम् पारं लम्भयितुम् उत्तरं प्लवम् प्रतिवचनं च आदत्त गृहीतवान् । श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कारः ॥

---

१. 'विधूनानो' । २. 'रसातलम्' । ३. 'निधाय' । ४. 'तेषु' ।
५. 'बन्धो' । इति पा० ।

इस प्रकारकी बात कहकर लज्जा तथा खेदरूप नदियोंके सङ्गममें डूबते हुए दुर्योधनको पार पहुँचानेके लिये अप्रतिहत द्यूत विद्याका पारदर्शी पण्डित शकुनि नामक उस गान्धारांशने निम्नप्रकारक उत्तररूप प्लव—तरणसाधन अपनाया ॥

जय्यतां कथमुपैति तेऽर्जुनो वत्स ! यद्युधि भयात्पलायिताः ।
केवलं हरिमुखा न नामतो वेगतोऽपि मरुतोऽभवन्सुराः ॥ २१ ॥

जय्यतामिति । हे वत्स दुर्योधन, अर्जुनः तृतीयपाण्डवस्तव जय्यतां जेतुं शक्यत्वं कथं केन प्रकारेण उपैति, अर्जुनस्त्वया कथमपि जेतुं न शक्य इत्यर्थः, यद्युधि यस्यार्जुनस्य युद्धे भयात् पलायिताः विद्रुताः हरिमुखाः इन्द्रप्रभृतयः सुराः केवलं नामतः संज्ञामात्रेण मरुतो न, अपितु वेगतः अपि मरुतो वायवः अभवन् यद्युद्धे इन्द्रादयो देवा वायुवेगेन पलायिपत, तमर्जुनं त्वं कथं जेष्यसि, अतो युद्धेन खेदविनोदनमशक्यसम्पादनम् इत्यर्थः ॥ २१ ॥

वत्स दुर्योधन, तुम इस अर्जुनको किस प्रकार जीत सकोगे ? जिसके साथ युद्धमें भयसे भागते हुए इन्द्रादि देवगण केवल संज्ञामात्रसे ही मरुत् नहीं रहे, वेगसे भी मरुत्—वायु बन गये। अर्जुनके साथ लड़नेमें डरकर इन्द्रादि जब वायुवेगसे भागते हैं तब तुम उस अर्जुनको किस प्रकार जीत सकोगे ॥ २१ ॥

अपि च,—

न वीक्षितुं जगति शक्नुयुरत्र के वा भीमं प्रकोपधृतभीमगदाङ्कबाहुम् ।
एकैकमुष्टिहतये स्म भवन्ति नालं यस्याहवे बकबृहद्रथभूर्हिडिम्बाः ॥२२॥

न वीक्षितुमिति । अपि च किञ्च प्रकोपात् क्रोधाद्धेतोः धृता भीमा भयजननी गदा सैव अङ्कः चिह्नम् यस्य तादृशो गदायुक्तो बाहुर्यस्य तं तथोक्तं भीमं वीक्षितुं द्रष्टुम् अत्र जगति के वा शक्नुयुः के समर्थाः स्युः । कोपेन धृतया गदया युक्तं बाहुं बिभ्रतं भीमं लोके कोऽपि वीक्षितुमपि न प्रभवते किमुत जेतमिति सामान्यतो जेतृनिषेधेन त्वयाप्यसौ न जेतव्य इति विशेषो व्यज्यते । तस्य अजेयत्वे उपोद्बलकमाह— एकैकेति । यस्य भीमस्य आहवे युद्धे बको बकासुरः बृहद्रथभूः जरासन्धः हिडिम्बो नाम हिडिम्बाभ्राता च एते सर्वेऽपि ख्यातिभाजो वीरा एकैकमुष्टिहतये एकैकमुष्टिप्रहाराय अपि अलं योग्या न भवन्ति, यस्यैकमुष्टिप्रहारमपीमे वीरा न सोढुमपारयँस्तज्जयस्य नितान्तमसम्भाव्यत्वमिति भावः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २२ ॥

क्रोधसे धारण की गई गदारूप चिह्नसे युक्त भुजशाली भीम की ओर देखनेवाला भी इस दुनियामें कोई नहीं है, जिसके युद्धमें बकासुर, जरासन्ध तथा हिडिम्बनामक दैत्य एक एक मुक्केके योग्य भी नहीं हो सके। जिसके मुष्टिप्रहारको वैसे वैसे बहादुर नहीं सह सके उसे तुम क्या, इस संसारमें कोई भी नहीं जीत सकता है ॥ २२ ॥

ताभ्यामुपास्यमानस्य तपसस्तनुजन्मनः[1] ।
व्यापादेऽपि प्रसक्तिः का विशेषात्तादृशां[2] रणे ॥ २३ ॥

ताभ्यामिति । ताभ्यां पूर्वोदितसामर्थ्याभ्याम् अर्जुनभीमाभ्याम् उपास्यमानस्य भागद्वये स्थित्वाऽऽराध्यमानस्य तपसो धर्मस्य तनुतन्मनः पुत्रस्य धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य व्यापादे द्रोहचिन्तनेऽपि काः प्रसक्तिः शक्तिः अस्माकमिति शेषः, विशेषात् तादृशाम् भीमार्जुनादिसेवासौभाग्यशालिनां युधिष्ठिरादीनाम् रणे (नः) का प्रसक्तिः, नैवास्ति सामर्थ्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

उन भीम तथा अर्जुनसे सेवित धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्रोहकी चिन्ता करनेकी शक्ति हम लोगोंको नहीं है, खास करके उनके ऐसे शूरोंके साथ रणकी शक्ति तो हम लोगोंको नहीं ही है ॥ २३ ॥

तथाप्यहं तु तव च तेषां च[3] परस्परं[4] विभवे परिपणनपदाधिरोहिणि[5] क्षणादक्षममाणेन जगत्सामान्यतामक्षसंप्रदायेन तं पराजयघण्टापथे संचारयिष्यामि[6] ॥

तथापीति । तथापि—यद्यपि युद्धेनासौ युधिष्ठिरो न पराभवितुं शक्यस्तथाप्युपायेन तमहं पराभवितुं क्षम इत्यवतारयति तथापीति । अहम् शकुनिः तव दुर्योधनस्य तेषां पाण्डवानां च परस्परम् अन्योन्यम् विभवे समस्तायां सम्पदि परिपणनपदाधिरोहिणि पणत्वेन स्थाप्यमाने सति—यदाक्षक्रीडायां त्वया तैश्च निजः सर्वोऽपि विभवः पणत्वेन स्थापयिष्यते तदेत्यर्थः जगत्सामान्यताम् सर्वसाधारणताम् अक्षममाणेन असहमानेन सर्वविलक्षणेन असामान्येन अक्षसम्प्रदायेन द्यूतपाटवेन क्षणात् झटिति तम् युधिष्ठिरम् पराजयघण्टापथे पराजयराजमार्गे संचारयिष्यामि भ्रमयिष्यामि पराजेष्ये इत्यर्थः । 'घण्टापथो राजमार्ग' इत्यमरः ॥

(यद्यपि युद्धमें युधिष्ठिरको कोइ नहीं परास्त कर सकता है) फिर भी जब तुम्हारा तथा पाण्डवोंका सारा विभव परस्पर बाजी लगा दिया जायगा, अर्थात् जुएमें जब तुम दोनों अपनी अपनी सारी सम्पत्ति दाँवपर रख दोगे तब, सर्वातिशायी अपने द्यूतकौशलके द्वारा मैं तुरत उनको पराजयरूप राजमार्ग पर चला दूंगा, अर्थात् हरा दूंगा ॥

वित्ते हृते दरिद्रास्ते विसृष्टा बन्धुभिः स्वयम् ।
विनाशं वा शुचा यायुर्विदेशं वाथ लज्जया ॥ २४ ॥

वित्ते हृत इति । वित्ते सर्वस्वे हृते द्यूतकपटेन अपहृते सति दरिद्राः निःस्वास्ते पाण्डवाः बन्धुभिः भ्रातृपुत्रादिभिरपि स्वयम् विसृष्टाः त्यक्ताः सन्तः शुचा धन-

---

१. 'तपस्यातनु' । २. 'न्मादृशाम्' । ३. 'तेषां च परस्पर' । ४. 'परस्परस्य' । ५. 'परिणयनपथा' । ६. 'इति' । इति पा० ।

परिजनत्यागमूलकेन खेदेन विनाशं मरणं यायुर्गच्छेयुः, अथवा लज्जया निःस्वताऽवाप्तिजनितत्रपया विदेशम् देशान्तरं वा यायुः गच्छेयुः, 'सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमन'मिति भर्तृहर्युक्तेरित्थमुक्तम् ॥ २४ ॥

इस तरह जुएमें जब उनकी सारी सम्पत्ति हर ली जायेगी तब दरिद्र हो जानेपर उनके भाई पुत्र आदि बन्धु उन्हें स्वयं छोड़ देंगे और शोकसे वे या तो मर जायेंगे, अथवा लज्जाके कारण कहीं परदेशमें जाकर छिपेंगे ॥ २४ ॥

त्वं ततस्तु सुखमात्मसंयुतैः सोदरैः सदृशसंख्यकाः समाः ।
नीरराशिहरिनीलमेखलां निःसपत्नमनुभुङ्क्ष्व मेदिनीम् ॥ २५ ॥

त्वं ततस्त्विति । ततः पाण्डवेषु शुचाम्रृतेषु लज्जया परदेशं वा प्रयातेषु त्वम् दुर्योधनः नीरराशिः सागर एव हरिनीलमेखला इन्द्रनीलमणिरचिता काञ्ची यस्यास्तां तथोक्ताम् मेदिनीम् पृथ्वीम् आत्मसंयुतैः स्वोपेतैः सोदरैः भ्रातृभिः संदृशी शतस्वरूपा संख्या येषां ताः शतसंख्याः समाः संवत्सरान् सुखं विना प्रयासम् निःसपत्नम् अकण्टकं च अनुभुङ्क्ष्व पालय अनुशाधि ॥ २५ ॥

इस तरह पाण्डवोंके मर जाने या परदेशमें जाकर छिप जाने पर तुम इस सागरवेष्टिता पृथ्वीको अनुजोंसे युक्त अपनी संख्याके संवत्सर तक एकसौ वर्ष तक सुखसे तथा अकण्टक रूपमें भोग करो ॥ २५ ॥

इत्थंकारं रहसि कल्पिते[1] कैतवदुरध्वे तावुभावप्यनुधावितुं दिव्यचक्षुषा तेनान्धेन वसुंधराधिपतिना नवमणिमण्डपिकाप्रवेशोत्सवव्याजादाहूतः सानुजो धर्मजः[2] कुरुपत्तनमुपेत्य बन्धुतया प्रत्युद्गम्यमानो दुस्तरं भाविवनवासवर्षमेकैकमेकैकेन[3] प्रणिपातपुण्येन सुप्रतरं करिष्यन्निव पितृव्यं द्वादशकृत्वः पदयोः प्राणंसीत् ॥

इत्थङ्कारमिति । इत्थंकारम् अनेन प्रकारेण विचार्य रहसि एकान्ते कल्पिते व्यवस्थापिते कैतवदुरध्वे द्यूतरूपच्छलमार्गे सति, शकुनिदुर्योधनाभ्यां द्यूतं कर्त्तुं स्थिरीकृते सतीत्यर्थः, तौ उभौ शकुनिदुर्योधनौ अनुधावितुम् अनुगन्तुम् तदीयं मतं समर्थयितुमित्यर्थः, दिव्यचक्षुषा दूरदृष्टिना तेन अन्धेन वसुन्धराधिपतिना राज्ञा धृतराष्ट्रेण नवायाम् प्रत्यग्रनिर्मापितायाम् मणिमण्डपिकायां मणिमयसभायां प्रवेशोत्सवस्य व्याजात् कपटात् आहूतः आकारितः सानुजः भ्रातृभिर्युक्तो धर्मजः धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः, बन्धुतया बन्धुगणेन प्रत्युद्गम्यमानः प्रत्युत्थानादिसत्कारेणाद्रियमाणः सन् दुस्तरम् कठिननिस्तारम् भाविवनवासवर्षम् एकैकम् एकैकेन प्रणिपातपुण्येन प्रणामजन्मना सदहृष्टेन सुप्रतरम् अनयासव्यतियाप्यं करिष्यन्

---

१. 'कल्पितकैतव'। २. 'धर्मानुजः'; 'धर्मात्मजः'। ३. 'एकैक'। इति पा०।

इव पितृव्यं धृतराष्ट्रं द्वादशकृत्वो द्वादशधा पदयोः तच्चरणयोः प्राणंसीत् प्रणतवान् । एवं शकुनिदुर्योधनाभ्यां स्थिरीकृते कपटद्यूतप्रयोगे तयोर्विचारमनुमोदयता धृतराष्ट्रेण मणिमयनवसभाभवनप्रवेशोत्सवव्याजात्समाहूतो युधिष्ठिरः सानुजः समागत्य दुर्योधनादिभिः सत्क्रियमाणो धृतराष्ट्रस्य चरणयोर्द्वादशधा प्रणतवान्, मन्ये द्वादशवर्षाणि वने व्यतियाप्यानि भविष्यन्ति, तानि वर्षाणि दुस्तराणि बहुविघ्नत्वात्तेषां सुखयाप्यता पुण्योदयादेव संभवति, अतएवैकस्य वर्षस्य सुयाप्यत्वायैकप्रणामजं पुण्यं कल्पेतेति स धृतराष्ट्रचरणयोर्द्वादशकृत्वः प्रणतवानितिभावः ॥

इस प्रकार जब शकुनि और दुर्योधनने छलद्यूत करनेका विचार कर लिया तब धृतराष्ट्रने भी उनके अनुसरणमें दिव्यचक्षुका कार्य किया, अर्थात् धृतराष्ट्रने भी समर्थन किया, और उस अन्धे राजा धृतराष्ट्रने नवनिर्मित मणिसभाप्रवेशोत्सवके छलसे युधिष्ठिरको बुला भेजा, भाइयोंके साथ युधिष्ठिर कुरुकी राजधानीमें आये, दुर्योधनादि बन्धुओंने उनका सत्कार किया, उन्होंने धृतराष्ट्रके चरणोंमें बारह बार प्रणाम किये, मानों होनेवाले वनवासके बारह वर्ष बड़े दुस्तर होंगे, उनमेंसे प्रत्येक वर्षको प्रत्येक प्रणामके पुण्यसे सुतर–आसान–बना रहे हों ॥

अवभृथाम्बुकणैरिव नूतनैरधिगतामथ जालकमौक्तिकैः[1] ।
स्वकबरीं द्रुपदस्य सुतापि सा सुबलजापदयोः समनीनयत्[2] ॥ २६ ॥

अवभृथेति । अथ सा द्रुपदस्य सुता द्रौपद्यपि नूतनैः नवीनैः अवभृथाम्बुकणैः अवभृथनामकयज्ञान्तस्नानसंबन्धिभिरिव स्थितैः जालके नाम शिरोभूषणे मौक्तिकैः मुक्ताभिः अधिगताम् उपेताम् स्वकबरीम् निजं केशपाशं सुबलजापदयोः गान्धार्याश्चरणयोः समनीनयत् प्रापितवती । यावद्युधिष्ठिरो धृतराष्ट्रं प्रणमति तावद्द्रौपद्यपि गान्धारीं प्रणतवती, प्रणामकाले तत्कबरी गान्धारीचरणौ पस्पर्श, तस्यां कबर्यां भूषणभावेन स्थापिता मुक्ता अवभृथस्नानसङ्गतजलबिन्दव इवाभासन्तेत्याशयः ॥ २६ ॥

अभी अभी किये गये यज्ञान्त स्नानकी जलबिन्दुओंके समान लगने वाले भूषणके मोतियोंसे जगमगाते हुए अपने केशपाशको द्रौपदीने भी गान्धारीके चरणोंपर रखा, अर्थात् जबतक युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको प्रणाम कर रहे थे, तब तक द्रौपदीने भी गान्धारीको प्रणाम किया ॥ २६ ॥

अनुजाभिरनामयानुयुक्तेरभिनन्द्य ऋतुलाभलालनाभिः ।
सदनाय ससर्ज तं विनीतं स धृताकारनिगूहनो महीपः ॥ २७ ॥

अनुजाभिरिति । धृताकारनिगूहनः अवलम्बिताकारगुप्तिः स्वं मनोगतं दुरभिसन्धिं न प्रकाशयन् इत्यर्थः सः महीपः धृतराष्ट्रः अनामयानुयुक्तेः कुशलप्रश्नस्य

१. 'मौक्तिकजालकैः' । २. 'समनीयत' । इति पा० ।

अनुजाभिः अनुचरीभिः पश्चाज्जाताभिः क्रतुलाभलालनाभिः राजसूययज्ञसम्पादन-प्रशंसाभिः अभिनन्द्य प्रशस्य तं धर्मराजं सदनाय विश्रामनिकेताय ससर्ज प्रेषित-वान्। पूर्वं कुशलं पृष्ट्वा तदनन्तरं राजसूययज्ञानुष्ठानं प्रशस्य च धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरं सदनं प्रेषितवानिति भावः॥ २७॥

अपने मनकी दुरभिसन्धिको छिपाते हुए धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरके आनेपर कुशल प्रश्न करके पीछे राजसूय यज्ञकी सराहना की और तब युधिष्ठिरको सदन-विश्रामस्थानमें भेज दिया॥ २७॥

तावन्मदीयतनुभेदिभटान्तहेतु-
वैरं मिथः प्रभविता कुरुभूभुजां श्वः।
इत्यन्तराहितशुचेव दिशि प्रतीच्यां
मन्दायमानमहसा रविणा निपेते॥ २८॥

तावदिति। तावत् तस्मिन् काले श्वः प्रभाते मदीयतनुभेदिनीम् मृत्वा मम मण्डलं भित्त्वा स्वर्गच्छताम् युद्धे मरिष्यताम् भटानाम् वीराणाम् अन्तहेतुः मरणकारणम् कुरुभूभुजाम् कौरववंशोद्भवानां राज्ञाम् मिथः परस्परं वैरं विरोधः (द्यूतकृतापमानजन्म) प्रभविता सम्पत्स्यते इत्यन्तराहितशुचा इव एवंप्रकारकान्तःस्थितखेदेन इव मन्दायमानमहसा मन्दीभूततेजसा रविणा प्रतीच्यां दिशि पश्चिमाशायां निपेते पतितम्। श्वः कुरुवंश्यानां राज्ञां तद्वैरं जन्म ग्रहीष्यति यत् बहूनां भटानां मरणं कारयिष्यति, म्रियमाणाश्च ते स्वर्गगामिनः सूर्यमण्डलं भित्त्वा स्वर्गं गमिष्यन्ति, इति स्वमण्डलभेदसम्भावनाजनितशुचेव मन्दीभूततेजाः पश्चिमदिशि पपातेत्यर्थः॥ २८॥

कल कुरुवंशियोंका आपसमें वह विरोध जन्म लेगा जो सूर्यमण्डलभेदन करनेवाले वीरोंकी मृत्युका कारण बनेगा, इसी खेदको अन्तःकरणमें रखे रहनेके कारण मन्द तेज सूर्य पश्चिम दिशामें गिर पड़े॥ २८॥

दिग्धे संतमसैः सान्द्रैर्दिशापदिशचत्वरे।
सर्वाः प्रजास्तदा राज्ञा समारुक्षन्दृशा तुलाम्॥ २९॥

दिग्धे इति। ततः सूर्ये पश्चिमायां पतिते अस्ते सति सान्द्रैः गाढैः सन्तमसैः तमोभिः दिशापदिशचत्वरे प्राच्यादिदिशासु ईशान्यादिष्वपदिशेषु चत्वरे अङ्गणे च दिग्धे व्याप्ते सति (सर्वतः तमसि प्रसृते सति) सर्वाः प्रजाः लोकाः दृशा उपहतया राज्ञा धृतराष्ट्रेण तुलाम् साहश्यम् समारुक्षन् प्राप्ताः। यथा राजाऽन्धस्तथा प्रजा अपि तमसा लुप्तदृक्शक्तयो जाता इत्यर्थः॥ २९॥

---

१. आहत'। २. 'राज्ञः'। इति पा०।

गाढ़े अन्धकारने जब सभी दिशा विदिशारूप चत्वरको व्याप्त कर लिया तब किसीको कुछ दीखता नहीं था, ऐसा मालूम होता था मानो सारी प्रजाने (अन्धकारसे अन्धी होकर) अपने अन्धे राजाकी आँखके अंशमें समानता प्राप्त कर ली हो॥ २९॥

मनुजावलीनयनवर्त्मने पुनर्मघवादिदेवममभावगोचराः।
ककुभो विभेजुरमृतांशुभानवः क्षणमेव तं प्रथमशैलरोहिणः॥ ३०॥

मनुजावलीति। तं क्षणम् एव तस्मिन्नेव क्षणे समये प्रथमशैलरोहिणः उदयाद्रेः प्रकटीभवन्तः अमृतांशुभानवः चन्द्रकिरणाः मनुजावल्याः मनुष्यसमुदायस्य नयनवर्त्मने नयनानां मार्गाय मानवनेत्रप्रचाराय (मनुष्यैः द्रष्टुम्) पुनः भूयः मघवादीनाम् इन्द्रादीनाम् देवानाम् ममभावगोचराः ममत्ववर्त्तिनीः इन्द्रादिदेव-सम्बन्धिनीः प्राच्यादिकाः ककुभो दिशः विभेजुः विभक्ताः कृतवन्तः। कियतैव-कालेन जाते चन्द्रोदये पूर्वशैलात्प्रकटीभवन्तश्चन्द्रकरा लोकचक्षुःप्रसाराय यथा-पूर्वं प्राच्यादिदिशो व्यभजन्नित्याशयः॥ ३०॥

उसी समय उदयशैलसे प्रकट होनेवाले चन्द्रमाके करोंने मनुष्योंकी दृष्टियोंके प्रसारके लिये फिरसे इन्द्रादि देवतोंके ममत्वका स्थान—इन्द्रादिदेवोंके अधिकार में रहनेवाली ऐन्द्री आदि दिशाओंको यथापूर्वरूपमें विभक्त कर दिया॥ ३०॥

अथोपकार्यामधितिष्ठतोऽस्य संदर्शनायानिशमापतद्भिः।
अशेषपौरैरति[2]बाल्यमित्रैरशेषि किंचिन्न तया रजन्या[1]॥ ३१॥

अथोपकार्यामिति अथ उपकार्याम् उपवेशगृहम् अधितिष्ठतः भूषयतः अस्य युधिष्ठिरस्य सन्दर्शनाय विलोकनाय अनिशम् सततम् आपतद्भिः आगच्छद्भिः अतिबाल्यमित्रैः युधिष्ठिरस्य बाल्यकालसुहृद्भिः अशेषपौरैः सर्वैः नगरवासिभिः अशेषि अवशिष्टम्, तया रजन्या रात्र्या तु किञ्चित् अल्पम् अपि नाशेषि न अव-शिष्टम्। उपकार्यायां वर्त्तमानस्य तस्य दर्शनाय समागच्छतां पौराणां समवायो यावदायात्येव, तेषामागमनं यावन्न समाप्तं तावद्रात्रिरेव समाप्ता जातेति भावः। परिसंख्यालङ्कारः, उभयत्र प्राप्तस्य शेषीभावस्य रात्रेर्व्यवच्छिद्य पौर-मात्रे नियमनात्॥ ३१॥

इसके बाद चन्द्रोदय हो जानेपर उपवेशशाला—बैठकमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये सर्वदा आते हुए उनके बाल्यसुहृद् सकल पुरवासिजनोंके कारण कुछ मिलनेवाले ही मिलनेसे बच गये, उस रात्रिका शेष नहीं रहा, रात्रि शेष हो गई, मिलनेवालोंके आगमन का ताँता नहीं टूटा॥ ३१॥

धर्मजन्मा ततः कर्म निर्मायाहर्मुखोचितम्।

---

१. 'ताः'। २. 'बाल'। इति पा०।

सभां स भासुरां पौरैर्भूपैश्चापाक्षवेदिभिः ॥ ३२ ॥

धर्मजन्मेति। ततः प्रभातकाले धर्मजन्मा धर्मात्मजो युधिष्ठिरः अहर्मुखोचितम् प्रातःकालयोग्यं कर्म सन्ध्यावन्दनादि निर्माय कृत्वा अक्षवेदिभिः द्यूतविद्याकुशलैः पौरैः ग्रामवासिभिः भूपै राजभिश्च भासुरां दीप्यमानां सभां द्यूतशालाम् आप आयातः ॥ ३२ ॥

इसके बाद प्रातःकालमें धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रातःकालोपयुक्त सन्ध्यावन्दनादि कार्य सम्पन्न करके द्यूतविद्याविशारद नगरवासिजन तथा नृपगणसे सुशोभित द्यूतशालामें पधारे ॥

तत्र चित्रीयमाणेष्वनल्पचतुरिमजल्पाकेषु[2] सभाशिल्पेषु दृशं परिकल्पयतः प्रज्ञादृशं[3] निकषा मूर्ते तृतीयगुण इव[4] दिविषदृषभनीलदृषदासने निषीदतोऽमुष्य कुरुकुलप्रदीपस्य प्रतीपं निविशमानः शकुनिः स्थानाद्भ्रंशयितुं साक्षात्कृतसंनिधी[5] रिक्तमध्यमवर्णया तदीयाभिख्यया वाच्यो ग्रहविशेष इव[6] प्रासङ्गिकेन पथा दुरोदरविहारेऽवतारमचिरम[7]भिरोचयामास ॥

तत्रेति। तत्र द्यूतसभायाम् चित्रीयमाणेषु चित्रीयमाणेषु आश्चर्यजनकेषु अनल्पस्य महतः चतुरिम्णः चातुर्यस्य जल्पाकेषु अभिधायिषु अनल्पचातुर्यद्योतकेषु सभाशिल्पेषु सभाभवननिर्माणपाटवेषु दृशं स्वं नयनं परिकल्पयतः व्यापारयतः प्रज्ञादृशं धृतराष्ट्रं निकषा समीपे मूर्त्ते शरीरधारिणि तृतीयगुणे तमसि इव दिविषदृषभ इन्द्रस्तस्य नीलदृषत् नीलाश्म तदासने इन्द्रनीलमणिनिर्मितासने निषीदतः उपविष्टस्य अमुष्य एतस्य कुरुकुलप्रदीपस्य कुरुवंशप्रकाशकस्य प्रतीपम् अभिमुखम् निविशमानः स्थितः शकुनिः स्थानाद् राज्यपदात् भ्रंशयितुं पातयितुं साक्षात् प्रत्यक्षभावेन कृतसन्निधिः समीपमुपगतः रिक्तमध्यवर्णया दूरीकृत'कु'रूपमध्यमाक्षरया तदीयाभिख्यया शकुनिरूपतत्संज्ञया (शकुनिशब्दे मध्यमवर्णलोपे शनीतितया संज्ञया) वाच्यः शनिपदबोध्यो ग्रह इव प्रासङ्गिकेन कथाप्रस्तावागतेन पथा मार्गेण दुरोदरविहारे द्यूतक्रीडायाम् अवतारम् भागग्रहणम् अचिरम् शीघ्रम् अभिरोचयामास रुचिविषयीकारयामास। तत्र सभायामिन्द्रमणिनिर्मित आसने उपविष्टः सभाभवनसौन्दर्यं पश्यन् युधिष्ठिरः पुरत उपविष्टेन शनिनेव शकुनिना कथाप्रसङ्गेन द्यूतक्रीडायां भागं ग्रहीतुमनुरुध्यानुकूलित इत्याशयः ॥

उस समय आश्चर्यजनक एवं असाधारण चतुरताको कहनेवाले सभाभवनशिल्पको देखते हुए एवं धृतराष्ट्रके समीपमें तमोगुणकी तरह नीलवर्ण इन्द्रनीलमणिनिर्मित आसन पर बैठे कुरुकुलभूषण महाराज युधिष्ठिरके सामने बैठा हुआ शकुनि ऐसा प्रतीत होता

---

१. 'भूयः प्रापाक्षदेविभिः'। २. 'चारिम'। ३. 'दृशः'। ४. 'गुण इव तृतीये'। ५. 'संनिधिरमध्यम'। ६. 'वाच्य इव ग्रहविशेषः'। ७. 'अचिरात्'। इति पा०।

था मानो युधिष्ठिरको राज्यपदसे नीचे उतारनेके लिए आया हुआ शनिग्रह हो, (शकुनि शब्दमें मध्यमाक्षरके हटा देने पर बननेवाली संज्ञाका अभिधेय शनि होता है, उसीकी तरह दीखनेवाले उस शकुनिने) प्रासङ्गिक वार्त्तालापके द्वारा द्यूतक्रीड़ाके लिये महाराज युधिष्ठिरको तैयार कर लिया ॥

अथ सदसि महत्यामाज्ञयासौ नियत्याः
सुमतिमपि विमुह्य द्यूतमार्गे प्रवृत्तम् ।
बहुषु जनपदेषु प्राप्नुवत्सु ग्लहत्वं
सपदि सुबलसूनुर्धर्मसूनुं विजिग्ये ॥ ३३ ॥

अथ सदसीति । अथ युधिष्ठिरेण द्यूतक्रीडास्वीकारे सति महत्यां विशालायां सदसि सभायाम् नियत्या भाग्यलेखाया आज्ञया सुमतिमपि कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञानवन्तम् अपि विमुह्य मूढभावं प्रपद्य द्यूतमार्गेऽक्षक्रीडायां प्रवृत्तम् धर्मसूनुं युधिष्ठिरम् बहुषु कतिपयेषु जनपदेषु विभिन्नदेशेषु ग्लहत्वं प्राप्तवत्सु पणत्वेन स्थापितेषु सुबलसूनुः शकुनिः विजिग्ये जितवान् । यद्यपि युधिष्ठिरः कर्त्तव्यविदासीत्तथापि भाग्यवशान्मूढो भूत्वा तस्यां सभायां द्यूतं कर्त्तुं प्रावर्त्तत, अथ च स्वीयाखानादेशान्पणीचकार, तदा कैतवपटुः शकुनिस्तं जितवानितिभावः 'स्त्री नपुंसकयोः सदः' इति वचनात् सदसः स्त्रीलिङ्गत्वम् । मालिनीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

यद्यपि युधिष्ठिर सुमति अर्थात् कार्याकार्य ज्ञानवान् थे, तथापि भाग्यकी आज्ञासे मूढ़ होकर उन्होंने उस भरी सभामें द्यूत खेलना स्वीकार कर लिया, और अपने नाना देशों को दाँवपर रख दिया, फिर द्यूतपटु शकुनिने उन्हे हरा दिया ॥ ३३ ॥

एकेन यत्सुबलभूर्युगपद्ग्रहीतु-
मक्षेण सर्वविषयान्नृपतेरशक्नोत् ।
अस्मात्परं जगति वाच्यतयाभ्युपेत्य
तिष्ठेत किं नु परमाद्भुतवाचकाय ॥ ३४ ॥

एकेनेति । सुबलभूः शकुनिः एकेन अक्षेण द्यूतपाशेन इन्द्रियेण च नृपतेः युधिष्ठिरस्य सर्वविषयान् सर्वान् देशान् सकलान्ग्राह्यान् शब्दस्पर्शादीन् च युगपत् एकसमयेन ग्रहीतुम् जित्वा स्वायत्तीकर्त्तुम् ज्ञातुम् च अशक्नोत् शक्यते स्म, अस्मात् एकेन पाशेन सर्वेषां देशानां जयात्, एकेनेन्द्रियेण एककालावच्छेदेन सर्वपदार्थज्ञानाच्च परम् अधिकम् अद्भुतवाचकाय आश्चर्यद्योतकाय शब्दाय वाच्यतया अर्थतया अभ्युपेत्य तत्समीपे गत्वा किंनु तिष्ठेत किमितोऽद्भुतमधिकं स्यात् ? न किमपीतोऽद्भुतमधिकं कोऽपि अद्भुतवाचकः शब्दः प्रतिपादयितुं क्षमो यत् शकुनि-

१. 'आज्ञया' । २. 'प्राप्तवत्सु' । इति पा० ।

रेकेन पाशेन युधिष्ठिरेण पणीकृतान् सर्वान् देशान् जितवान्, एकेनेन्द्रियेण तुल्यकालं सर्वानेव शब्दस्पर्शादीन् विषयांश्च जग्राहेति । 'अयौगपद्याज्ज्ञाननां प्रतिनियतविषयग्राहकत्वाच्चेन्द्रियाणामेकेनेन्द्रियेण सहैव सकलवस्तुज्ञानं यथाऽत्याश्चर्याय जायते, तथैव युधिष्ठिरस्य सर्वदेशानामेकदैव पणीकरणं तेषां जयश्च लोकानामत्याश्चर्यमजनयदिति भावः ॥ ३४ ॥

शकुनिने एक ही पासेसे एक ही बारमें राजा युधिष्ठिरके समस्त विषयों देशोंको जीत कर ले लिया, एक ही इन्द्रियसे एक ही साथ सकल शब्दस्पर्शादि विषयोंका ज्ञान किया यह बात बड़े आश्चर्यकी हुई, इससे बढ़कर आश्चर्यजनक क्या हो सकता है, आश्चर्यवाचक शब्दके अर्थरूपमें क्या उपस्थित हो सकता है? 'परमाद्भुतवाचकस्य वाच्यतया अभ्युपेत्य किं नु तिष्ठेत्?' परमाद्भुतवाचकशब्दके अर्थके रूपमें क्या हो सकता है? कुछ भी इससे बढ़कर आश्चर्य नहीं हो सकता है ॥ ३४ ॥

प्रतिदेवनमेवमेव भूषाः प्रचुरान्रत्नचयांश्च हेमराशीन् ।
सहजान्सह जाययास्य जित्वा स तु गान्धारपतिर्जगर्ज हर्षात् ॥३५॥

प्रतिदेवनम् इति । सः गान्धारपतिः शकुनिः तु प्रतिदेवनम् सर्वेषु देवनेषु अक्षपरिवर्त्तनेषु एवम् उक्तप्रकारेण अस्य युधिष्ठिरस्य भूषाः भूषणानि प्रचुरान् नानाविधान् बहून् रत्नचयान् मणिराशीन् स्वर्णनिचयांश्च, जायया द्रौपद्या सह सहजान् भ्रातॄन् भीमादींश्च जित्वा द्यूते विजित्य हर्षात् प्रसन्नतावशात् जगर्ज गर्जितवान् । क्रमशो युधिष्ठिरेण पणीकृतान् अलङ्कारान् बहून्मणीन् स्वर्णराशीन् द्रौपद्या नाम्न भार्यया सह सहजान् भ्रातॄन्भीमादींश्च जित्वा स्ववशीकृत्य शकुनिरानन्देन गर्जितवानिति भावः ॥ ३५ ॥

हर दाँवपर जब राजा युधिष्ठिर भूषण, नानाप्रकारके रत्न, सोनेकी राशि एवं स्त्रीके साथ भाइयोंको भी हार गये तब गान्धारदेशाधीश शकुनि बहुत जोरसे हर्षके कारण गरजने लगा ॥ ३५ ॥

तत्रान्तरे,—

घटीचेटी नोऽभूद्बहुपतिवधूटी द्रुपदजा
वराकीं तामत्रानय परिषदीत्यग्रजगिरम् ।
हरन्द्वैतीयीकः सुबलतनयासूनुषु जवा-
त्समुत्तस्थौ साक्षादवनिमवतीर्णो यम इव ॥ ३६ ॥

घटीचेटीति । तत्रान्तरे तस्मिन्समये युधिष्ठिरसर्वस्वविजयवेलायाम्, बहूनां युधिष्ठिरादीनां पञ्चानां भ्रातॄणां पतीनां वधूटी भार्या इयं द्रुपदजा द्रौपदी नः

---

१. 'रत्नमयांश्च' । २. 'कोशान्' । ३. 'धरणिम्' । इति पा० ।

अस्माकम् घटीचेटी कुम्भदासी जलाहरणकर्त्री भृत्याऽभूत्, वराकीं घटीदासीत्वेन तुच्छां तां द्रौपदीम् अत्र परिषदि आनय प्रापय हठादाहर इति एवं प्रकाराम् अग्रजगिरम् दुर्योधनवाचं हरन् अनुसरन् सुबलतनयासूनुषु गान्धारीपुत्रेषु द्वैतीयिकः द्वितीयः दुःशासनः साक्षात् प्रत्यक्षीभूय अवनिम् पृथ्वीतलम् अवतीर्णः आयातः यमः यमराज इव जवात् वेगात्समुत्तस्थौ द्रौपदीं सभायामानेतुं चलित इत्यर्थः ॥ शिखरिणीवृत्तम्, 'रसैरीशैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥३६॥

इसी समय दुर्योधनने आज्ञा दी कि यह बहुत पतियोंकी स्त्री द्रौपदी (द्यूतमें जीती गई होनेके कारण) हमारी कुम्भदासी पनभरनी हो गई, उसे सभामें हाजिर करो, उसकी आज्ञाको मानकर गान्धारीके पुत्रोंमें द्वितीय दुःशासन साक्षात् पृथ्वीपर उतरते हुए यमराजके समान अपनी जगहसे वेगपूर्वक उठा ॥ ३६ ॥

दृष्ट्वा भिया सदसि धावनमाचरन्त्याः
कैश्ये चकार स कराङ्गुलिमानताङ्ग्याः ।
वक्षोरुहेषु च महीपपुरंध्रिवर्गो[1]
नासाग्रसीम्नि सुधियश्च नदीसुताद्याः ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वेति । सः द्रौपदीं बलाद् आकृष्य नेतुमायातो दुःशासनः दृष्ट्वा बलान्नेतुमायातं यमोपमं दुःशासनमालोक्य भिया भीत्या सदसि सभायाम् धावनम् इतस्ततः पलायनम् आचरन्त्याः आनताङ्ग्याः कुचादिभारेण नतावयवाया द्रौपद्याः कैश्ये कचभारे कराङ्गुलिं हस्ताङ्गुलिविनिवेशनं चकार, बलादाकृष्य नेतुं तस्याः केशानग्रहीदित्यर्थः महीपपुरन्ध्रिवर्गाः राजस्त्रीसमुदयाः वक्षोरुहेषु स्वस्वस्तनेषु (हृदयेषु) 'कराङ्गुलिम् हस्तविनिवेशेन दुःखप्रकाशनं चक्रुः, तथा सुधियः बुद्धिमन्तो नदीसुताद्याः भीष्मादयः नासाग्रसीम्नि नासाग्रदेशे अङ्गुलिं चक्रुः कोयं दैवसंयोगः ? नेदमुचितं जातमिति चिन्तामिव प्रकाशयामासुः । अत्रैकस्यैव कराङ्गुलिं चक्रुरित्यस्य द्रौपद्याः कचेषु पुरन्ध्रीगणेषु भीष्मादिषु चान्वयाचमत्कारो दीपनकृतः ॥३७॥

जब दुःशासन बलपूर्वक घसीटकर सभामें ले जानेके लिये द्रौपदीके पास आया, तब द्रौपदी सभामें इधर-उधर भागने लगी, क्योंकि वह उस दुष्ट दुःशासनसे डरती थी, उस समय उस दुष्टने नताङ्गी द्रौपदीके बालोंमें अपने हाथकी अङ्गुलियाँ लगा दीं, अर्थात् केश पकड़कर द्रौपदीको सभामें ले जाना चाहा, उसकी इस अनुचित चेष्टासे दुःखी होकर अन्तःपुरकी राजललनाओंने अपने स्तनों-हृदयों पर अंगुलियाँ रख लीं, छाती पर हाथ रखकर खेद प्रकट किया, और बुद्धिमान् भीष्म आदिने अपनी नासिकाके अग्रभागमें अंगुलियाँ रख लीं, अर्थात् उन लोगोंने आश्चर्य प्रकट किया कि न जाने क्या दैवयोग है कि ऐसी अनुचित बात घट रही है ॥ ३७ ॥

---

१. 'वर्गौ' । इति वा० ।

तत्र स दुर्मेधा बलवदाकर्षणोद्भिदुराणि स्वेदपृषन्तीव भूषाजालकमुक्ताफलानि धारयन्त्याश्चिकुरभारात्करतलनिष्पीडननिर्गलितां कालिमधारामिव निर्भरकुवलयगर्भकमाल्यरसझरीमश्रुभिः सह वर्षन्त्यास्तस्याः पातिव्रत्यलक्ष्मीनिवासस्फटिकप्राकारमिव दुकूलमप्याहर्तुं प्रावर्तत ॥

तत्रेति । तत्र सभायाम् दुर्मेधाः भ्रष्टबुद्धिः सः दुःशासनः बलवत् दृढम् आकर्षणेन उद्भिदुराणि उद्भेदभाञ्जिप्रकटीभूतानि स्वेदपृषन्ति स्वेदविन्दून् इव भूषाजालकमुक्ताफलानि भूषणखचितमौक्तिकानि धारयन्त्याः, (द्रौपद्याः भूषणेषु बहूनि मुक्ताफलान्यासंस्तानि तद्वपुषि दृढाकर्षणोद्गतस्वेदजलपृषन्तीव प्रतीयन्तेस्मेत्यद्विशेषणार्थः) चिकुरभारात् केशसमूहात् करतलनिष्पीडननिर्गलिताम् हस्तनिष्पीडितक्षरिताम् कालिमधाराम् नैल्यप्रवाहमिव निर्भराणि सान्द्राणि बहूनि कुवलयानि नीलकमला गर्भे अभ्यन्तरे यस्य तादृशस्य माल्यस्य शिरोमाल्यस्य रसझरीम् रसप्रवाहमिव अश्रुभिः नयनवारिभिः सह वर्षन्त्याः विसृजन्त्याः (द्रौपद्याः केशपाशे स्थितानां कुवलयगर्भमाल्यानां रसा बलवत्पीडनेन क्षरिताः सन्तः केशच्युताः नैल्यधारा इव प्रतीयन्ते स्म, तान् रसप्रवाहांश्च साऽश्रुभिः सहामुञ्चदिति विशेषणस्यास्यार्थः । तस्याः द्रौपद्याः पातिव्रत्यं पतिमात्रसंयोगित्वं तदेवव्रतं नियमस्तल्लक्ष्म्याः निवासाय वसतये स्फटिकप्राकारम् श्वेतप्रस्तरनिर्मितवरणमिव दुकूलम् वस्त्रम् अपि आहर्तुम् आक्रष्टुम् प्रावर्त्तत प्रवृत्तः । दुःशासनस्तद्वासांस्यपि हर्तुं प्रावर्त्ततेति भावः ॥

उस सभामें दुष्टबुद्धि दुःशासनने—जोरोंसे घसीटकर लाई जानेके कारण निकले पसीनेकी बूंदोंके समान भूषणमें सजाये गये मोतियोंको धारण करनेवाली, हाथसे मसले जानेके कारण केशसे बहती हुई नील धाराके समान प्रतीत होनेवाली कुवलययुक्त माल्यनिर्गत मरन्द प्रवाहधाराको आंसुओंके साथ बरसाती हुई उस द्रौपदीके वस्त्रको भी खींचना प्रारम्भ कर दिया, जो वस्त्र उसकी पातिव्रत्यलक्ष्मीके निवासप्रासादका स्फटिकनिर्मित प्राकारके समान लगता था ॥

तादृक्षे समुपस्थिते परिभवे सभ्येषु वाचंयमे-
ष्वाध्यायत्सु विधेर्बलं स्वदयितेष्वन्येष्वशक्तेष्वपि ।
निश्चित्यार्तिमतां गतिं यदुपतिं नीव्यां करौ कुर्वती
सा चक्रन्द तदोच्चकैरिह हरे ! त्रायस्व हा मामिति ॥ ३८ ॥

तादृक्षे इति । सा द्रौपदी तादृक्षे तथाविधेऽनुभवैकवेद्ये परिभवे अपमाने वस्त्रा-

१. 'आकर्षणभयोद्भिदु' । २. 'भूषामुक्ताफलानि' । ३. 'भरात्' । ४. 'अपहर्तुम्' । ५. 'तमुच्चकैः' । ६. 'यदुपते' । इति पा० ।

पहारप्रवृत्तिजनिते समुपस्थिते प्राप्ते सति, सभ्येषु भीष्मादिषु सभाजनेषु वाचंयमेषु धर्मसौक्ष्म्यनिर्धारणाशक्त्या मूकभावं भजत्सु, स्वदयितेषु स्वपतिषु युधिष्ठिरादिषु विधेर्नियत्याः बलं सामर्थ्यं निध्यायत्सु चिन्तयत्सु सत्सु, अन्येषूदासीनजनेषु अशक्तेषु ततः परिभवात् त्रातुमक्षममाणेषु सत्सु आर्त्तिमतां पीडितानां गतिं परायणं रक्षकं यदुपतिं श्रीकृष्णं निश्चित्य अवधार्य नीव्यां स्ववस्त्रग्रन्थौ द्वौ अपि करौ हस्तौ कुर्वती (द्वाभ्यामपि स्वहस्ताभ्यां नीवीग्रन्थिं धारयन्ती सती) इह सभायाम् हे हरे, मां विपद्यमानां त्रायस्व अस्मादपमानाद्रक्ष इति एवम् उच्चकैः उच्चैः शब्दपूर्वकम् चक्रन्द विललाप। सर्वेषु तत्रत्येषु रक्षाविमुखेषु सत्सु भगवन्तमेव त्रातारमवधार्य सा तमेवाहूय रक्षां प्रार्थितवतीति भावः॥ ३८॥

इस तरहके महान् वस्त्रापहरणरूप अपमानके उपस्थित हो जाने पर भी जब भीष्मादि सभासद धर्मसूक्ष्मताके निश्चयमें लगकर चुप रहे, उसके पति युधिष्ठिरादि भाग्यके सामर्थ्य की चिन्तामें लगे रहे, और तटस्थ जन भी उसके उद्धारमें अशक्त हो गये, तब द्रौपदीने निश्चय कर लिया कि पीडितोंकी रक्षामें भगवान् ही समर्थ हो सकते हैं, और ऐसा निश्चय कर लेनेके बाद उसने जोरसे पुकारा—'हे हरे, मुझे इस कष्टसे उबारो'॥ ३८॥

तस्याः सभायां ह्रियमाणवस्त्रात्तन्व्या नितम्बात्सहसाविरासीत्।
कंसारिकारुण्यपयःपयोधेः कल्लोलमालेव दुकूलपङ्क्तिः॥ ३९॥

तस्या इति। सभायां संसदि सर्वजनसमक्षम् ह्रियमाणवस्त्रात् दुःशासनेनाकृष्यमाणवाससः तस्याः तन्व्याः कृशाङ्ग्याः द्रौपद्याः नितम्बात् श्रोणीभागात् कंसारेः कृष्णस्य कारुण्यं दयैव पयः पानीयं तत्पयोधेः तत्सागरस्य कल्लोलमाला तरङ्गपरम्परा इव दुकूलपङ्क्तिः वस्त्रराशिः सहसा हठात् आविरासीत् प्रकटीबभूव। दुःशासने वस्त्रमाकर्षति भगवन्तं त्रातारमाक्रन्दन्त्यास्तस्या द्रौपद्या नितम्बदेशात् कृष्णदयासागरतरङ्गमालेव वस्त्रपरम्परा झटिति प्रादुर्बभूवेति भावः। कृष्णस्य कृपया सा नग्ना नाजायत, तस्या वस्त्रमजस्रं ववृधे इत्याशयः॥ ३९॥

भरी सभामें खींचा जा रहा है वस्त्र जिसका ऐसी द्रौपदीके नितम्बभाग परसे वस्त्रकी ढेर निकलने लगी, वह ऐसी लगती थी मानो भगवान्की दयाके सागरमें तरङ्गमालायें उठ रही हों॥ ३९॥

हृते हृते वाससि हृद्यरूपं वासोऽन्तरं यद्ववृधे वराङ्ग्याः।
नरस्य तेनैव न कस्य तत्र चित्तस्य नो[1]व्योऽजनि चित्रपूरः[2]॥ ४०॥

हृते हृते इति। यत् यस्मात् वराङ्ग्याः सुन्दर्याः तस्याः द्रौपद्याः (एकैकस्मिन्) वाससि वस्त्रे हृते हृते सति हृद्यरूपं सुन्दरं वासोऽन्तरम् अन्यद्वस्त्रम् ववृधे,

---

१. 'नव्यो'। २. 'चित्रकूटः'। इति पा०।

(एकस्मिन्वाससि हृतेऽन्यत्प्रकटितं पुनस्तस्मिन् हृतेऽन्यत्पुनरेवम्) प्रकटीबभूव, तेन प्रतिवस्त्रापहारमन्यवस्त्राविर्भावेण एव चित्रपूरः आश्चर्यप्रवाहः कस्य जनस्य चित्तस्य मनसः (कर्तृभूतस्य) नाव्यः नावा तार्यः न अजनि। सर्वस्यापि चित्तेषु अगाधो विस्मयरसः प्रकटीबभूव, सर्वेषामपि मानसान्यगाधे विस्मये मग्नानीवाजायन्तेति भावः ॥ ४० ॥

उस सुन्दरी द्रौपदाके वस्त्रोंके हरे जानेपर दूसरे सुन्दर वस्त्र प्रकट होने लगे, इससे सभी दर्शक मनुष्योंके हृदय अगाध-नावसे पार करने योग्य आश्चर्यप्रवाह में डूब गये, सब लोगोंके हृदयमें असीम विस्मय हुआ कि एक वस्त्र खींचनेपर दूसरा सुन्दर वस्त्र प्रकट होने लगा ॥ ४० ॥

अदृश्यस्यापहारेऽपि वर्धितानेकवाससः।
अम्बरप्रायता त[1]स्या मध्यस्योभयथाप्यभूत् ॥ ४१ ॥

अदृश्यस्येति। अदृश्यस्य अतिसूक्ष्मतया द्रष्टुमयोग्यस्य अपहारे वस्त्राणां दुःशासनद्वारा कर्षणेऽपि वर्धितानेकवाससः वृद्धिप्राप्तबहुवसनस्य (भगवदनुकम्पया सम्पद्यमाननवनवानेकवस्त्रस्य) तस्याः द्रौपद्या मध्यस्य मध्यभागस्य उभयथा प्रकारद्वयेन अपि अम्बरप्रायता-अदृश्यतामूलकेन आकाशसाम्येन अम्बरप्रायता। आकाशसमता, नानावस्त्राविर्भावस्थानतया च अम्बरप्रायता बहुलवस्त्रता वस्त्रमयता अभूत्। बहुवस्त्रोत्पत्ते वस्त्ररूपता अम्बरप्रायता, सूक्ष्मत्वादाकाशसादृश्यादम्बरप्रायतेति प्रकारद्वयेनापि तन्मध्यस्याम्बरप्रायताऽजायतेति बोध्यम्। 'प्रायो वयसि बाहुल्ये साम्ये निरशनव्रते' इत्यमरः। अयं श्लोको निम्नलिखित शिशुपालवधीयश्लोकस्य च्छायां गृह्णाति—'आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि' इति ॥ ४१ ॥

सूक्ष्म होनेसे अदृश्य होनेके कारण, तथा दुःशासन द्वारा वस्त्रके खींचे जाने पर भी अनेक वस्त्रके बढ़ते जानेके कारण द्रौपदीका मध्यभाग दोनों प्रकारके अम्बरप्रायता— (आकाशसादृश्य, वस्त्रमयत्व) का स्थान हो गया ॥ ४१ ॥

चे[2]लानि कर्षंश्चिरमन्धसूनुस्तस्यास्तु नग्नंकरणः स नाभूत्।
श्रमात्स्खलित्वा धरणौ पतन्सन्दन्तावलेरेव जनव्रजानाम् ॥ ४२ ॥

चेलानीति। सः अन्धसूनुः धृतराष्ट्रपुत्रो दुःशासनः चेलानि द्रौपद्याः वस्त्राणि चिरं कर्षन् बहुकालं यावदपहरन्नपि तस्याः द्रौपद्याः नग्नङ्करणः विवस्त्रत्वसम्पादकः नाभूत् नाजायत, तु किन्तु श्रमात् चिरकालपर्यन्तं वस्त्रकर्षणजन्यखेदात् धरणौ भूमौ स्खलित्वा पतन् सन् जनव्रजानाम् पश्यतां लोकानां दन्तावलेः दन्तपङ्क्तेः

१. 'तस्य'। २. 'चैलानि'। इति पा०।

एव नग्नङ्करणः अनावृतत्वसम्पादक अभूत्। वस्त्रं चिरमपकर्षन्नपि दुःशासनो भगवत्कृपया वर्द्धितानेकवाससो द्रौपद्या नग्नतां कर्त्तुं नाक्षमत, परं श्रमाद्भूमौ पतन् सन् लोकानां दन्तानेव नग्नानकृत, लोकानहासयदित्याशयः। अत्र द्रौपदीदन्तावल्योः प्रसक्तस्य नग्नत्वस्य जनदन्तावल्यामेव नियमनात् परिसंख्यालङ्कारः ॥४२॥

यद्यपि दुःशासन देर तक द्रौपदीका वस्त्र खींचता रहा, परन्तु वह उसको नग्न-निवस्त्र-नहीं बना सका, (क्योंकि भगवान्की कृपासे वस्त्र बढ़ता ही जाता रहा) हाँ, थककर-वस्त्र खींचते खींचते बेहोश होकर जब वह जमीन पर गिर पड़ा तब जनसमुदायकी दन्तावलि-दन्तपङ्क्तिको वह जरूर नग्न-अनावृत बना सका, उसका उस प्रकार गिरना देखकर सभी हंसने लगे, उनके दाँत नग्न हो गये ॥ ४२ ॥

अथ तथाभूतपरुषयोषाभिषङ्गरोषकलुषेण पृषदश्वजनुषा परिषदि भीषणमेवं बभाषे ॥

अथेति। अथ तथाभूतेन तादृशेन (वचसाऽप्रकाश्येन) परुषेण कठोरेण निर्ममेण योषायाः स्त्रियो द्रौपद्या अभिषङ्गेण पराभवदुःखेन यो रोषः दुःशासनविषयः कोपः तेन कलुषेण विकृतचित्तेन अधीरेण पृषदश्वो वायुः ततो जनुर्यस्य तेन पृषदश्वजनुषा वायुसुतेन भीमेन परिषदि सभायां भीषणं भयजनकभावेन एवं वक्ष्यमाणप्रकारं वचनं बभाषे उच्यते स्म। 'पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः' इत्यमरः ॥

इसके बाद दुःशासन द्वारा किये गये द्रौपदीके निर्मम अपमानजनित कोपसे अधीर होकर वायुपुत्र भीमने भरी सभामें भीषण रूपसे इस प्रकारके वचन कहे ॥

उरसि स्खलदूष्मलं मृगाक्ष्याः समितावस्रमिदं यथाहमक्ष्णा।
द्विषतः कचकर्षिणोऽप्यमुष्या रसनेनानुभवेयमेवमेव ॥ ४३ ॥

उरसीति। समितौ भीष्मादियुक्तायां सभायां मृगाक्ष्याः द्रौपद्याः उरसि वक्षसि स्खलत् निपतत् ऊष्मलम् सन्तापाधिक्यवशादुष्णम् अस्रम् अश्रु अहम् अक्ष्णा स्वदृष्ट्या यथा येन प्रकारेण अन्वभवम् दृष्टवान्, एवमेव अमुष्या द्रौपद्याः कचकर्षिणः केशाकर्षणप्रवृत्तस्य द्विषतो दुःशासनस्य उरसि वक्षोदेशे (हृदयाभ्यन्तरे अस्रम् शोणितम्) रसनेन जिह्वया अनुभवेयम् पिबेयम्। अहमधुना यथा रुदत्या द्रौपद्या वक्षसि प्रसृमरमश्रु स्वदृष्ट्या पश्यामि, तथैव दुःशासनं व्यापाद्य तदीयहृदयं विदार्य च ततो निर्यदुष्णं शोणितं पास्यामीति प्रतिज्ञा वाक्यार्थः। अस्रपदे श्लेषः, अनुभवतिपदेऽपि ॥ औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ४३ ॥

जिस तरह मैंने इस सभामें द्रौपदीकी छाती पर गिरते हुए उसके उष्ण अश्रु अपनी

१. 'कर्षणो'। इति पा०।

आंखसे देखे हैं उसी तरह द्रौपदीके केशको खींचने वाले इस शत्रुभूत दुःशासनकी छाती पर (हृदयसे) निकलते हुए उसके उष्ण रक्तको अपनी जीभसे पी लूंगा ॥ ४३ ॥

किं च सरसीव चलत्कबन्धबन्धुरे समराजिरे तामरसच्छदानिव शतमपि विमतानेतान्हेमन्त इवाहं धार्तराष्ट्रशब्दशेषां महागदापत्तिं गमयिष्यामीति ॥

किं च सरसीवेति । किञ्च अपिच चलद्भिः इतस्ततः सञ्चरद्भिः कबन्धैः अपमूर्धकलेवरैः बन्धुरे विषमे कबन्धेन जलेन च बन्धुरे रमणीये सरसि सरोवरे इव समराजिरे युद्धाङ्गणे विमतान् शत्रून् एतान् शतसङ्ख्यकान् दुर्योधनादीन् तामरसच्छदान् कमलपत्राणि इव हेमन्तः शीतर्तुः धार्त्तराष्ट्रशब्दशेषाम् हंसनादमात्रशेषाम् धार्त्तराष्ट्रसंज्ञामात्रावशेषाञ्च महागदस्य शीतपातरूपस्य आपत्तिं महत्या गदयाऽऽपत्तिं च शमयिष्यामि प्रापयिष्यामि । यथा हेमन्तः सरसि जलपूर्णे कमलपत्राणि महतो विनाशरूपगदस्य पात्रीकरोति केवलं हंसनादं शेषयति च, तथाहमपि युद्धाङ्गणे कबन्धव्याप्ते सर्वानपीमान् दुर्योधनादीन् शत्रून् महत्या गदया निपातयिष्यामि, केवलं 'धार्त्तराष्ट्र' पदप्रतिपाद्यतामात्रं संज्ञामात्रं तेषां स्थास्यतीति भावः । 'धार्त्तराष्ट्रोऽसिते हंसे धृतराष्ट्रसुतेऽपिच' इति विश्वः ॥

जैसे हेमन्त ऋतु जलपूर्ण सरोवरमें कमलके पत्तोंको पालेके द्वारा विनष्ट कर देता है, केवल हंसोंकी बोलीभर शेष छोड़ देता हैं, उसी तरह विना शिरके धड़ोंसे पटी रणभूमिमें मैं इन सौ संख्यावाले दुर्योधनादि शत्रुओंको अपनी गदासे मौतके घाट उतारकर केवल उनका 'धृतराष्ट्रपुत्र' रूप नामही शेष छोड़ दूँगा ।

तत्र सुत्राम्णः पुत्रोऽप्येवं प्रतिजज्ञे,—

तत्रेति । तत्र सभायाम् सुत्राम्णः इन्द्रस्य पुत्रोऽर्जुनोऽपि एवं वक्ष्यमाणरूपेण प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् ।

उस सभामें इन्द्रके पुत्र अर्जुनने भी इस प्रकारकी प्रतिज्ञाकी ॥

उत्सेकात्कृतहस्ततालममुना गान्धारपुत्रीभुवा
राधासूनुरसौ जहास सदसि ग्राम्यं ब्रुवन्यत्ततः[3] ।
यस्यां जात्वपि देहिनोऽभ्युदितता नैवाभिनिर्मुक्तता
स्यातां द्वे अपि गाण्डिवो मम तु तां निद्रामसुं नेष्यति ॥४४॥

उत्सेकादिति । असौ राधासूनुः कर्णः सदसि तस्यां द्यूतसभायाम् उत्सेकात् गर्वात् ग्राम्यम् अश्लीलम् वचनम् ब्रुवन् भाषमाणः अमुना गान्धारपुत्रीभुवा गान्धारीपुत्रेण दुर्योधनेन कृतहस्ततालम् तद्धस्तोपरि स्वीयं हस्तं निपात्य ध्वनि-

---

१. 'विचलत्' । २. 'च्छदानीव' । ३. 'यत्नतः' । इति पा० ।

विशेषमुद्भावयन् यत् जहास हासं कृतवान्, ततः तेन तदीयेनापकर्मणा तु मम गाण्डीवो धनुः असुं कर्णं कृततादृशापराधं यस्यां निद्रायां जात्वपि कदाचिदपि अभ्युदितता अभिनिर्मुक्तता (चेति दोषद्वयं) न स्यातां तां दीर्घनिद्रां मरणं नेष्यति प्रापयिष्यति। असुमपकारिणं कर्णं रणेऽहं हनिष्यामीति प्रतिज्ञा बोध्या। सुप्ते सूर्योदये अभ्युदितता दोषः, सुप्ते सूर्यास्ते च सति अभिनिर्मुक्तता दोषः, ताभ्यां यस्यां निद्रायां न सम्बन्ध इति सा दीर्घनिद्रामृत्युः। एतद्दोषद्वयस्वरूपमुक्तममरे—'सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च। अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ च यथाक्रमम्' इति अत्र पर्यायोक्तमलङ्कारः, पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

दुर्योधनके हाथ पर हाथ मारकर तालियाँ देकर इस सभामें अवाच्य बोलता हुआ यह कर्ण जो मेरा उपहास कर रहा है, उसके बदलेमें मेरा यह गाण्डीव धनुष कर्णको उस नींदमें सुला देगा, जिस नींदमें सो जानेपर अभिनिर्मुक्तता तथा अभ्युदितता नामक दोष लगते ही नहीं हैं, सोते रहने पर यदि सूर्य उदय लें तब अभ्युदितता और यदि उसी तरह सोते रहने पर सूर्य अस्त हों तब अभिनिर्मुक्तता नामक दोष मनुस्मृतिमें कहा गया है, परन्तु जो अनन्तनिद्रामें सो जाता है उसे यह दोष नहीं लगते हैं, अतः मैं कर्णको अनन्तनिद्रामें सुला दूँगा, मार दूँगा ॥ ४४ ॥

इति तयोस्तादृशेन वीरवादेन[1] 'अयि! सुखमिहास्स्व' इति करास्फालननिदर्शिते[2] सक्थन्येव[3] तव मृत्युः स्यादिति सुयोधनं प्रति याज्ञसेन्याः शापेन च भयात्[4]तगन्धाभ्यामन्धदंपतिभ्यां यथापुरं राज्यं प्रत्यर्प्य हरिप्रस्थं प्रति प्रस्थापितो युधिष्ठिरः पुनरपि कृतमन्त्रैरमित्रैरयमाहूतमात्रोऽर्धपथा[5]द्विधिना गलहस्तिकया विनिर्वर्तित[6] इव तामेव सभां प्रत्यावर्तत ॥

इति तयोरिति। इति उक्तप्रकारेण तयोः भीमार्जुनयोः तादृशेन उक्तरूपेण वीरवादेन प्रतिज्ञावाक्येन, 'अयि द्रौपदि, इह मम जङ्घायां सुखमास्व उपविश' इति एवं प्रकारेण करास्फालितदर्शिते करास्फालनपूर्वकं प्रदर्शिते सक्थनि जङ्घाप्रदेशे एव तव दुर्योधनस्य मृत्युः स्यात्—यत्र जङ्घाभागे मामुपवेष्टुं ब्रूषे तस्यैव जङ्घाभागस्य भङ्गेन तव मरणं भावि, इति एवं सुयोधनं प्रति दुर्योधनं लक्ष्यीकृत्य याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः शापेन आक्रोशेन च भयात्तगन्धाभ्याम् भीतिपराभूताभ्यां (कदाचिदेषां क्लिश्यमानानां वचांसि सत्यानि स्युरिति संभाव्य भयभीताभ्याम्) ताभ्याम् अन्धदम्पतिभ्याम् धृतराष्ट्रगान्धारीभ्याम् यथापुरं पूर्वतननिर्विशेषं राज्यं हस्तिनापुराधिपत्यं प्रत्यर्प्य परावर्त्य हरिप्रस्थं प्रति प्रस्थापितो विसृष्टः युधिष्ठिरः

---

१. 'वीरवादेन सुखं'। २. करास्फालितदर्शित। ३. 'निजसक्थिन्येव'।
४. 'शापेन भयात्त'। ५. 'आहूतमात्रोऽयमर्ध'। ६. 'निवर्तित'। इति पा०

पुनरपि कृतमन्त्रैः कृतविचारैः 'अपमता इमे चमां न करिष्यन्ति, अतः पुनर्द्यूतेनेमान् वनं प्रेषयामस्ततो न संभवति भयम्' इत्यभिसंदधानैर्दुर्योधनशकुनिकर्णादिभिः अमित्रैः शत्रुभिः आहूतमात्रः आकारितः सन्नेव अर्धपथात् मध्यमार्गात् विधिना दैवेन गलहस्तिकया कण्ठे हस्तं दत्त्वा विनिवर्त्तितः प्रत्यावर्त्तितः इव अयम् युधिष्ठिरः ताम् एव सभां प्रत्यावृतः पुनरागतः, 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः॥

इस प्रकार भीम और अर्जुनके प्रतिज्ञावचन और—'अरी, आओ मेरी इस जङ्घा पर मौजसे बैठो' इस तरह हाथकी तालीसे इशारा देकर जिस जङ्घापर मुझे बैठनेको कह रहा था उसी जङ्घा पर आघात पाकर तू मरेगा' इस तरहका द्रौपदीका शाप सुनकर भयभीत होकर धृतराष्ट्र तथा गान्धारीने युधिष्ठिरका द्यूतमें हारा राज्य पूर्ववत् वापस कर दिया, और उन्हें इन्द्रप्रस्थके लिये विदा भी कर दिया। फिर उनके शत्रु दुर्योधन, शकुनि और कर्णने विचार-विमर्श किया कि–'इन लोगोंका हमने बड़ा अपमान किया है, यह यदि राज्यारूढ रहेंगे तब हम लोगोंको चैनसे नहीं रहने देंगे, अतः फिरसे जुआमें हराकर इन्हें वन भेज दिया जाय, जिससे कोई सन्देह नहीं रहे' इस प्रकार विचार करके उन लोगोंने युधिष्ठिरको फिरसे जुआ खेलनेको बुलाया, और वह बुलाने पर तुरत उसी सभामें फिर लौट आये, ऐसा मालूम हुआ मानो भाग्य उन्हें गरदनिया देकर आधी राहसे लौटा लाया हो॥

भूताभिविष्ट इव बोधवतां वरोऽपि
भूयोऽपि धर्मतनयः सह सौबलेन।
आधत्त देवनविहारमनार्यजुष्ट-
माद्याक्षरं[1] विजहदेव पणोऽपि [2]योऽभूत्॥ ४५॥

भूताभिविष्ट इति। बोधवतां कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञानवतां वरः श्रेष्ठोऽपि धर्मतनयः युधिष्ठिरः भूताभिविष्टः पिशाचाविष्ट इव (उन्मत्त इव) भूयः पुनरपि सौबलेन शकुनिना सह अनार्यजुष्टम् अभद्रजनसेवितम् देवनविहारम् अक्षक्रीडाम् आधत्त प्रारब्धवान्। यः देवनविहारः एव आद्यक्षरं प्रथमं वर्णम् 'दे' रूपं विजहत् त्यजन् पणोऽभूत् तत्र द्यूते 'वनवासः' एव पणत्वेन स्थिरीकृत इत्यर्थः। ज्ञानवानपि युधिष्ठिरः पुनः शकुनिना सह द्यूतक्रीडामारभत, तत्र च द्यूतक्रीडायाम् वनविहारः वनवास एव पणः कृतः, यो जयेत स वनं गच्छेदिति पणबन्धं कृतवानितिभावः॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान रखनेवालोंमें अग्रगण्य होकर भी धर्मपुत्र युधिष्ठिर भूताविष्टकी तरह उन्मत्त होकर उस दुष्ट शकुनिके साथ द्यूत खेलने लगे और बाजी यही लगाई गई कि जो हारेगा वह वनमें जायगा। 'देवनविहार' द्यूतक्रीड़ा' इसका प्रथम अक्षर 'दे' उसे हटा देनेपर बचा 'वनविहार' यही पण–बाजी रखा गया। वनविहार–वनवास॥ ४५॥

---

१. 'आद्याक्षरम्'। २. 'सः'। इति पा०।

कितवे शकुनौ वशंवदान्किरति स्वेन करेण पाशकान्।
विजयेन सदा पुरस्कृतोऽप्यभवत्तेन स पृष्ठतः कृतः ॥ ४६ ॥

कितव इति। कितवे धूर्ते अक्षकलाविदग्धे शकुनौ दुर्योधनमातुले वशंवदान् स्ववशगान् पाशकान् अक्षान् स्वेन करेण निजहस्तेन विकिरति चालयति सति विजयेन अर्जुनेन जयेन च सदा सर्वदा पुरस्कृतः अग्रतः कृतः युक्तः अपि सः धर्मराजः तेन विजयेन द्यूतक्रीडाविषयकविजयेन पृष्ठतः कृतः अपमतः, यद्यपि युधिष्ठिरः सर्वत्र जयेन युज्यते स्म (विजयेनार्जुनेन चानुगम्यते स्म) परं तत्र क्रीडायां विजयस्तं पृष्ठतश्चक्रे, तं नानुजगाम, स विजयी नाभूत, पराजितो जात इत्यर्थः। विजयेन पुरस्कृतोऽपि पृष्ठतः कृत इति विरोधः, अर्जुनेनादृतोऽपि जयेन रहित इति च तत्परिहारः। विरोधाभासः स्फुटोऽलङ्कारः ॥ ४६ ॥

उस धूर्त शकुनिने जब अपने वशमें रहनेवाले पासेको अपने हाथसे फेकना प्रारम्भ किया तब विजय–जीत से सदायुक्त पुरस्कृत होनेवाले युधिष्ठिर भी विजयसे रहित पृष्ठतः कृत हो गये, विजय अर्जुनसे सेवित होकर भी उस द्यूतविद्यामें पराजित हो गये ॥ ४६ ॥

उत्थायाथ क्षितीन्द्रः क्षणमपि धरणौ स्थातुमस्यामयुक्तं
प्रत्यर्थिस्वीकृतायामिति सह सहजैः सत्यसंधः सजानिः।
पाणौ क्षत्तुर्निधाय प्रसुवमतितरामन्तरुत्तप्यमानां
पद्भ्यां प्रापद्वनानि व्यथितहृदमुचत्पौरलोकस्तु दृग्भ्याम् ॥४७॥

उत्थायेति। अथ पराजयानन्तरम् सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः धर्मराजः युधिष्ठिरः प्रत्यर्थिस्वीकृतायाम् शत्रुवशंगतायाम् अस्यां धरणौ राज्ये क्षणम् अल्पकालम् अपि स्थातुम् अयुक्तम् नोचितम् इति (विचार्य) उत्थाय ततः स्थानाद्गन्तुमुत्थाय अन्तः स्वहृदये अतितराम् अत्यर्थम् उत्तप्यमानां पुत्राणामुपरीदृशविपदुपनिपातेन खिद्यमानां प्रसुवम् मातरं क्षत्तुः विदुरस्य पाणौ हस्ते निधाय (कुन्त्या रक्षणावेक्षणादिभारं विदुरोपरि निधाय) सजानिः सस्त्रीकः सहजैः भ्रातृभिः सह पद्भ्याम् पादचारेण वनानि काननानि प्रापत् गतवान् पौरलोकः नगरवासिजनसमूहस्तु व्यथितहृत् सखेदहृदयः सन् दृग्भ्याम् नयनाभ्याम् वनानि जलानि अश्रूणि अमुचत् रुरोद। स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४७ ॥

हार जानेके बाद धर्मराजके पुत्र युधिष्ठिरने सोचा कि यह पृथ्वी अब हमारे शत्रुओंके अधिकारमें हो गई, इस पर एक मिनट भी रहना ठीक नहीं, ऐसा सोचकर वह उठ खड़े हुए, पुत्रोंपर विपत्तिके आ जानेसे रोती हुई माता कुन्तीको विदुरके हाथोंमें सौंप दिया और खुद अपनी स्त्री द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ बिना किसी सवारीके पैदल ही जंगलोंमें

---

१. 'मस्यां न युक्तम्'। २. 'देवुर्निधाय'। इति पा०।

चले गये, और नगरवासी लोग उनकी विपत्तिसे कष्ट प्राप्त करके आँखोंसे आँसू गिराने लगे, रोने लगे ॥ ४७ ॥

कान्तारवर्त्मनिमृगाः पुरतो निषण्णाः
शान्ताकृतेः सधनुषोऽपि निषङ्गिणोऽपि ।
उत्थाय तस्य पटुमर्मरचारु चीरं
रोमन्थलोलचिबुकेन मुखेन जघ्नुः ॥ ४८ ॥

कान्तारवर्त्मनीति । कान्तारवर्त्मनि वनमार्गे पुरतः अग्रे निषण्णाः उपविष्टाः मृगाः हरिणाः उत्थाय सधनुषः धनुर्धारिणः अपि निषङ्गिणः तूणीरयुतस्यापि शान्ताकृतेः सौम्यवपुषः तस्य धर्मराजस्य चीरं वल्कलम् रोमन्थलोलचिबुकेन रोमन्थक्रियाचपलमुखाग्रभागेन मुखेन पटुमर्मरचारु मधुरध्वनिसुन्दरं यथा तथा जघ्नुः आस्वादयन् । यद्यपि युधिष्ठिरो धनुषा तूणीरेण च युक्त आसीद्थापि शान्ताकृतेस्तस्य समीपमागत्य निर्विकारमनसो हरिणास्तदीयं वल्कलं रोमन्थचलितेन मुखाग्रेण भक्षितुमारेभिरे, यत्र स्पृश्यमानेभ्यो वल्कलेभ्यो मर्मरध्वनिर्निरगात् इत्याशयः । 'अथ मर्मरः, स्वनिते वस्रपर्णानाम्' इत्यमरः । अत्र शान्ताकृतित्वस्य पदार्थगत्या मृगकर्तृकवल्कलचुम्बनकारणत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥४८॥

वनमार्गके ऊपर बैठे हुए हरिण धनुर्धर तथा तरकसयुक्त रहनेपर भी शान्त आकृति वाले युधिष्ठिरके पास आकर रोमन्थक्रियाके लिये चलते हुए मुखाग्र से उनके वल्कलको चूम लेते थे, उस समय उन वल्कलोंसे मधुर मर्मर ध्वनि निकल रही थी ॥ ४८ ॥

परागपूर्णे पथि तस्य पादरेखा घटस्य प्रतिमा मनोज्ञाः ।
भक्त्योपनीता वनदेवताभिः पाद्योदकुम्भा इव जाग्रति स्म ॥ ४९ ॥

परागेति । परागपूर्णे कोमलरजोयुते पथि वनमार्गे घटस्य प्रतिमाः घटाकृतयः मनोज्ञाः रमणीयाः तस्य युधिष्ठिरस्य पादयोः चरणयोः रेखाः कलशाकृतिचिह्नानि वनदेवताभिः काननाधिष्ठातृदेवताभिः भक्त्योपनीताः सादरमुपहृताः पाद्योदकुम्भाः पादोदकघटा इव जाग्रतिस्म प्रतीयन्ते स्म । परागपूर्णे पथि चलतो युधिष्ठिरस्य चरणपातेन जातानि तच्चरणवर्त्तिकलशरेखाचिह्नानि वनदेवताभिर्युधिष्ठिरसत्काराय्योपहृताः पादोदकघटा इव प्रतीयन्तेस्मेत्याशयः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ४९ ॥

कोमल धूलसे भरे हुए वनमार्गमें चलते हुए युधिष्ठिरके चरण पड़नेसे उनके चरण में वर्त्तमान कलश रेखासे सुन्दर-सुन्दर घटकी प्रतिमायें बन जाती थीं, वह ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो युधिष्ठिरके स्वागतार्थ वनदेवताओं द्वारा लाये गये पादोदक कुम्भ हों ॥४९॥

---

१. 'सीपर्ण' । इति पा० ।

क्रमेण[1] ते सजानयो विलङ्घ्य विविधानि विपिनानि[2] जह्नुमुनिकर्णश-[3]ष्कुलीपथवशेन शिक्षितैर्गतिविशेषैरिव गम्भीरै[4]रावर्तै[5]रुपासिक[6]जनताहृतानि संसारचक्राणीव दर्शयन्तीं कोकनदवदनोदितै[7]रिव कोककुटुम्ब[8]कूजितैः कुमारस्य देवव्रतस्य कुशलं[9] पृच्छन्तीमिव[10] भागीरथीं पुरस्कृत्य[11] तत्र तां निशीथिनीं पश्चाच्चक्रुः ।

अपरेद्युरतिमात्रबुभुक्षितानुयात्रिकसत्रिजनपरित्राणाय पवित्रैः स्तोत्रैः प्रसेदुषा चित्रभानुना दत्तमक्षय्यमन्नपात्रमादाय[12] ते कलत्रे निदधुः ।

क्रमेणेति । सजानयः समानस्त्रीकाः सस्त्रीका वा ते पाण्डवाः विविधानि नानाप्रकारकाणि विपिनानि वनानि विलङ्घ्य जह्नुमुनेः जह्नुनामकस्य ऋषेः कर्णशष्कुल्यां शष्कुल्याकृतौ कर्णे यः पन्था सञ्चारमार्गः तद्वशेन तत्र यातायातवशेन शिक्षितैः अभ्यस्तैः गतिविशेषैः गमनप्रकारैरिव गभीरैः आवर्त्तैः जलभ्रमिभिः उपासकजनाहृतानि सेवकजनेभ्यो गृहीतानि संसारचक्राणि इव दर्शयन्तीं प्रकटयन्तीं कोकनदवदनोदितैः कमलरूपमुखनिर्गतैः कोककुटुम्बकूजितैः चक्रवाकपरिवारशब्दैः कुमारस्य पुत्रस्य देवव्रतस्य भीष्मस्य कुशलम् अनामयं पृच्छन्तीम् इव भागीरथीं गङ्गां पुरस्कृत्य पुरः प्राप्य तत्र गङ्गातीरे निशीथिनीं रात्रिं पश्चाच्चक्रुः व्यतियापयामासुः । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिवसे ते पाण्डवाः अतिमात्रम् अत्यन्तं बुभुक्षितानां क्षुधितानाम् अनुयात्रिकाणाम् सहगच्छताम् सत्रिजनानां यज्वनां लोकानां परित्राणाय बुभुक्षाशमनद्वारा रक्षणाय पवित्रैः स्तोत्रैः आदित्यहृदयादिभिः प्रसेदुषा प्रसन्नेन चित्रभानुना सूर्येण दत्तम् समर्पितम् अक्षय्यम् अरिच्यमानम् अन्नपात्रम् भोजनभाण्डम् आदाय स्वीकृत्य ते पाण्डवास्तत् पात्रं कलत्रे द्रौपद्यां निदधुः समर्पितवन्तः । क्रमशः सस्त्रीकास्समानस्त्रीकाश्च ते पाण्डवा नानाकाननानि व्यतियाप्य गङ्गातटं गताः, तत्र गङ्गायां बहवो जलभ्रमयः अभवन् , मन्ये कुटिले जह्नुमुनेः कर्णे वासेन तया कुटिला गतयोऽशिक्ष्यन्त, तयैव शिक्षया गङ्गा कुटिलया गत्या भ्रमति, उपासकास्तत्र गङ्गायां स्नात्वा स्वं मुक्तं कृत्वा स्वीयं संसारचक्रं तत्र गङ्गायां विसृजन्ति, तानि चक्राणीव जलभ्रमयो भासन्ते, तत्र गङ्गायां कमलवनेषु चक्रवाकाः कूजन्ति, मन्ये गङ्गा स्वीयेन कमलमुखेन चक्रवाकशब्दद्वारा चिरवियुक्तस्य स्वपुत्रस्य भीष्मस्य कुशलमिव पृच्छति, तदेतादृशीं गङ्गामुपेत्य ते तां रात्रिं

---

१. 'ते विलङ्घ्य' । २. 'वनानि' । ३. 'शष्कुलिकापथेन' । ४. 'गम्भीरैः' । ५. 'उपासकजनादाहृतानि' । ६. 'जनादाहृतानि' । ७. 'उदीरितैः' । ८. 'कुटुम्बिनी' । ९. 'कुशलमिव' । १०. 'पृच्छन्तीं भागीरथीं' । ११. 'पुरस्कृत्य तां' । १२. 'मादाय कलत्रे' । इति पा० ।

तत्रैव गमयामासुः, प्रातश्च अतिबुभुक्षिताननुगच्छता मुनीन् सन्तर्पयितुं सूर्यं स्तवैः प्रसाद्य लब्धमक्षय्यं भोजनपाकपात्रमासाद्य तद्द्रौपद्यै समर्पितवन्त इत्याशयः।

क्रमशः अपनी स्त्रीसे युक्त वे पाण्डव नानाप्रकारके वनोंको पार करके गङ्गाके किनारे आये, गङ्गामें जलभ्रमि-आवर्त्त उठ रहे थे, वे आवर्त्त ऐसे लगते थे, मानों जह्नु मुनिके कानमें वासके द्वारा सीखे गये वक्र गमनसे गङ्गा चल रही हो, और गङ्गामें जो श्रद्धालु जन स्नान द्वारा मुक्त होकर अपना संसारचक्र वहीं छोड़ जाते हैं, जलभ्रम द्वारा गङ्गा उन्हीं चक्रोंको दिखा रही हो, कमलरूप गङ्गाके मुखसे प्रकट होनेवाले चक्रवाकके शब्दोंसे मानों वह अपने पुत्र देवव्रत-भीष्मका कुशल समाचार पूछ रही हो, ऐसी गङ्गाको आगे पाकर वे पाण्डवगण उस रात्रिमें वहीं ठहर गये। प्रातःकाल अति क्षुधित साथ चलने वाले यज्वगणको तृप्त करनेके लिये पवित्र आदित्य हृदयादिस्तोत्र द्वारा सूर्यको प्रसन्न करके उनसे दिये गये अक्षय्य-कभी भी खाली नहीं होनेवाली हण्डी (भोजनपाक पात्र) प्राप्त करके उसे द्रौपदीके जिम्मे लगा दिया॥

वनं ततः काम्यकमेत्य तेषु वसत्सु भीमस्तु नियोद्धुकामम्।
[1]किर्मीरमुग्रं कुणपाशनेन्द्रं क्षिप्रं तदाहारदशामनैषीत्॥ ५०॥

वनमिति। ततः सूर्यादक्षय्यपात्रप्राप्त्यनन्तरं तेषु पाण्डवेषु काम्यकं नाम वनम् अरण्यम् एत्य प्राप्य वसत्सु तिष्ठत्सु सत्सु भीमो नाम द्वितीयपाण्डवः नियोद्धुकामम् बाहुयुद्ध कर्त्तुम् इच्छन्तम् उग्रम् भयङ्करम् कुणपाशनेन्द्रम् शवभक्षिराक्षसप्रधानम् किर्मीरन्नाम क्षिप्रम् आशु तदाहारदशाम् तदीयभोजनसाम्यम् शवभोजिनाम् भक्ष्यस्य शवस्य स्थितिम् निष्प्राणत्वमित्यर्थः अनैषीत् प्रापयमास। किर्मीरमवधीदित्यर्थः॥ ५०॥

सूर्यसे अक्षय्यपात्र प्राप्त करनेके बाद पाण्डव काम्यकवनमें पहुँचकर वहीं पर रहने लगे, किर्मीरनामक एक शवभोजियोंमें प्रधान तथा भयङ्कर राक्षस भीमसे बाहुयुद्ध करने आया, भीमने झट उसे उसके आहार-शव-की दशामें पहुँचा दिया, अर्थात् भीमने उसका वध कर दिया॥ ५०॥

ततश्चर[2]न्द्वैतवने स सार्धं वध्वा कदध्वालसतामबुद्ध्वा।
मूलानि सर्वस्य शुभस्य भूपो मूलानि जग्राह मुनीन्द्रसंघात्॥ ५१॥

ततश्चरन्निति। सः भूयो धर्मराजः कदध्वनि कुशकण्टकादिसङ्कुलतया कुत्सिते वर्त्मनि अलसतां श्रमकृतं शैथिल्यम् अबुद्ध्वा अविगणय्य, कुत्सितेऽपि पथि श्रममविभावयन्नित्यर्थः, वध्वा स्त्रिया द्रौपद्या सह ततः काम्यकवनात् चरन् निर्गच्छन् सन् द्वैतवने द्वे रागमात्सर्ये इते गते यस्मात् तद्द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतं तच्च वनं

1. 'किम्मीर'। 2. 'चिरम्'। इति पा०।

द्वैतवनं तपोवनं तस्मिन् सर्वस्य समस्तस्य शुभस्य मूलानि कारणानि मूलानि कन्दादीनि भोज्यानि मुनीन्द्रसङ्घात् ऋषिसमुदयात् (आतिथ्यरूपेण जग्राह स्वीकृतवान् । काम्यकवनान्निर्गत्य वर्त्मकृतं श्रममविगणय्य युधिष्ठिरो द्वैतवनमायातः सन् ऋषिभिरातिथ्यरूपेण दीयमानानि सर्वशुभजनकानि मूलानि भोज्यानि प्राप्तवानिति भावः ॥ ५१ ॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको साथ लेकर रास्तेके कष्टोंका ख्याल बिना किये काम्यक वनसे निकलकर द्वैतवन नामक तपोवनमें आये और वहाँ पर सकल शुभके देनेवाले मूल-कन्द रूप भोज्य वस्तु आतिथ्यके रूपमें मुनियोंसे प्राप्त किये ॥ ५१ ॥

तत्राथ ते सत्यवतीसुतस्य पादारविन्दात्प्रविसृत्वरीभिः ।
नखप्रभाभिर्नवपुष्पपङ्क्तीर्जटालतानां जनयांबभूवुः ॥ ५२ ॥

तत्राथेति । अथ एतदनन्तरं ते पाण्डवाः सत्यवतीसुतस्य व्यासस्य पादारविन्दात् चरणकमलात् प्रविसृत्वरीभिः प्रकर्षेण निर्गच्छन्तीभिः नखप्रभाभिः चरणनखकान्तिभिः जटालतानां निजशिरसि स्थितानां जटारूपाणां वल्लरीणां पुष्पपङ्क्तीः कुसुमसमूहान् जनयांबभूवुः उत्पादयामासुः । व्यासदेवस्य चरणयोः प्रणमतामेषां पाण्डवानां जटास्तच्चरणनखप्रभाभिर्मिलितास्तदानीं ता नखप्रभास्तज्जटावल्लरीणां कुसुमभावमभजन्नेति भावः । रूपकमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

इसके बाद वे पाण्डव सत्यवतीपुत्र व्यासदेवके चरणोंसे अधिक मात्रामें निकलने वाली नखप्रभासे अपनी जटारूपी लताकी पुष्पपङ्क्तिसी बनाली, अर्थात् उन लोगोंने व्यासके चरणों पर अपने शीश रखे, व्यासके चरणोंके नखोंकी अति प्रसृमर श्वेतरक्त कान्ति उनके मस्तकों पर फैल गई, वह ऐसी लगने लगी मानो उनके शिरकी जटारूप लताओंमें फूल लगे हों ॥ ५२ ॥

तस्मिन्कवौ तापसयूथनाथे स्वातीमथाजग्मुषि वासभूमिम् ।
तेषामतिक्षामतया युतानां शुचाक्षिदेशेष्वतिवृष्टिरासीत् ॥ ५३ ॥

तस्मिन्निति । अथ तापसयूथनाथे मुनिवृन्दमुख्ये तस्मिन् कवौ भारतग्रन्थनिर्मातृतया कवित्वशालिनि व्यासे (कवौ शुक्रे च) वासभूमिम् (पाण्डवनिवासदेशम्) स्वातीं स्वाती नाम नक्षत्रभेदम् (शुक्रस्य वासदेशतया ज्यौतिषे प्रसिद्धम्) आजग्मुषि आगते सति शुचा दुःखेन अतिक्षामतया सातिशयकार्श्येन युतानां तेषां पाण्डवानाम् अक्षीण्येव देशास्तेषु नेत्ररूपदेशेषु अतिवृष्टिः समधिका वृष्टिः आसीत् । अयमर्थः यथा शुक्रे स्वातीनक्षत्रमायाते (तुलामायाते सति) ऽतिवृष्टिर्भवति तथा व्यासे समागते सति पाण्डवानां नेत्ररूपदेशेष्वतिवृष्टिः प्रावर्त्तत,

---

१. 'पङ्क्तिम्'। २. 'इव'। इति पा०।

व्यासं दृष्ट्वा पाण्डवा रुरुदुः, 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' इति प्रसिद्धेरित्याशयः। स्वातीगतस्य शुक्रस्य वृष्टिप्रदत्वं प्रसिद्धं तथा च पठ्यते- 'स्वातीगते शुक्र इवातिवृष्टिः' इति, समस्तवस्तुविषयं सावयवरूपकमलङ्कारः ॥५३॥

जैसे शुक्रकवि अपनी वासभूमि स्वातीमें आजाते हैं तब अतिवृष्टि देशोंमें होती है, उसी तरह मुनिजनमुख्य कवि व्यासदेव जब पाण्डववासभूमिमें आये तब शोकसे अतिकृश हुए पाण्डवोंके नेत्ररूप देशमें अतिवृष्टि होने लगी, व्यासदेवको देखकर पाण्डवोंके नयनोंसे आंसूकी धारा बहने लगी ॥ ५३ ॥

प्रसृमरतनुभासा प्रावृषेण्यान्स मेघा-
न्दिशि दिशि विदधानो दीर्घदर्शी तदानीम् ।
कुरव इति महान्तं शब्दमाबिभ्रतोऽपि
स्ववचननिपुणिम्ना तानशोकानकार्षीत् ॥ ५४ ॥

प्रसृमेति। तदानीम् तस्मिन् काले दीर्घदर्शी अव्याहतज्ञानतया दूरदर्शी स व्यासः प्रसृमरतनुकान्त्या व्यापनशीलया शरीरप्रभया दिशि दिशि सर्वासु दिशासु प्रावृषेण्यान् मेघान् वार्षिकान् जलदान् विदधानः (सर्वासु दिशासु श्यामां स्वदेहप्रभां विस्तार्य सर्वासां दिशां सजलजलदावृतत्वमिव कुर्वाणः सन्) 'कुरवः' इति महान्तं प्रतिष्ठाप्रदं शब्दम् वाचकम् आबिभ्रतः (कुरव इत्यभिधया वाच्यान्) अपि तान् पाण्डवान् स्ववचननिपुणिम्ना आश्वासनप्रदस्वीयवचनचातुर्येण अशोकान् विगतखेदान् अकार्षीत्) कुरवका अशोका जाता इति विस्मयावहम्, तदेवात्र 'कुरवः' इति कुरुशब्दतः सम्पाद्य चमत्कारजनकं कृतम् ॥ व्यासकृतेन विपदि धर्ममवलम्बनीयमित्यादिनाश्वासनेन पाण्डवाः शुचं निरास्थन्निति भावः ॥५४॥

चारों ओर फैलने वाली अपने शरीरकी श्यामल कान्तिसे सभी ओर मेघोंकी सृष्टि करनेवाले व्यासदेवने 'कुरवः' इस प्रतिष्ठाजनक महान् शब्दसे पुकारे जानेवाले उन पाण्डवोंको अशोक बना दिया, कुरवकको अशोक बनाना ही इसका कवित्व चमत्कार है ॥ ५४ ॥

त[1]स्मात्प्रतिश्रुतिरिति प्रतिपद्य विद्या-
मालिङ्ग्य धर्मतनयेन विसृज्यमानः ।
पार्थो हिमाचलमगात्परमास्त्रमाप्तुं
शंभोः कृपाजलनिधेश्चरणार्चनाभिः ॥ ५५ ॥

तस्मादिति। पार्थः अर्जुनः तस्मात् व्यासात् प्रतिश्रुतिरिति नाम्ना प्रसिद्धां शैवीं विद्यां विधानपूर्वकं मन्त्रम् प्रतिपद्य ज्ञात्वा धर्मतनयेन युधिष्ठिरेण आलिङ्ग्य साश्लेषं

१. 'अस्मात्' । इति पा० ।

विसृज्यमानः गन्तुमनुज्ञातः सन् कृपाजलधेः दयासागरस्य शम्भोः शिवस्य चरणार्चनाभिः आराधनाभिः परमास्त्रम् पाशुपतम् अस्त्रम् आप्तुं लब्धुं हिमाचलं हिमालयम् अगात् गतवान् व्यासेनोपदिश्यमानप्रतिश्रुतिमन्त्रो युधिष्ठिरेणानुज्ञातश्चार्जुनः शिवमाराध्य पाशुपतमस्त्रमवाप्तुं हिमालयं गत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इसके बाद अर्जुनने व्यासदेवसे प्रतिश्रुति नामक शिवमन्त्र प्राप्त किया, युधिष्ठिरने अर्जुनको गले लगाकर जानेकी अनुमति दी, फिर अर्जुनने दयासागर शिवजीके चरणोंकी आराधना द्वारा पाशुपतास्त्र पानेके लिये हिमालयकी यात्रा की ॥ ५५ ॥

यस्मिन्हिमानीभृति यक्षवृन्दमङ्गेषु सर्वेष्वपि मञ्जुलेषु ।
नखम्पचोष्णं नलिनेक्षणानामुरोजमेवातितरामुपास्ते ॥ ५६ ॥

यस्मिन्निति । हिमानीभृति प्रालेयपूर्णे यस्मिन् हिमाचले यक्षाणां देवयोनिविशेषाणां वृन्दं समूहः नलिनेक्षणानां कमलाक्षीणां सुन्दरीणां स्त्रीणाम् सर्वेषु अपि अङ्गेषु शरीरावयवेषु मञ्जुलेषु सुन्दरेषु सत्स्वपि नखम्पचोष्णम् अत्युष्णतया नखपाचकम् उरोजम् स्तनम् एव अतितराम् भूयसा उपास्ते सेवते । सत्स्वपि सर्वेष्वङ्गेषु कमनीयेषु यक्षा यत् केवलमुरोजमात्रमुपासते तद्धिमस्यैव तत्र स्थितस्य प्रभाव इति भावः ॥ ५६ ॥

जिस हिमालय पर्वत पर रहनेवाले यक्ष–अपनी स्त्रियोंके सारे शरीरावयवोंके अतिशय सुन्दर रहने पर भी नखम्पचोष्ण–नखको पका देने वाली गर्मीसे युक्त स्तन भागकी ही अधिक सेवा करते हैं, अधिक काल स्तनोंसे ही चिपटे रहते हैं क्योंकि उस स्थितिमें पालेकी ठंढक उन्हें कम सता पाती है क्योंकि स्तनकी गर्मी उनकी बहुत रक्षा कर देती है ॥ ५६ ॥

यो वत्सतामेत्य वसुंधराया निपीय[1] रत्नावलिकान्तिपूरान् ।
मनःशिलावप्रझरीमिषेण दरीमुखैरुद्गिरतीव तृप्तः[2] ॥ ५७ ॥

यो वत्सतामिति । यो हिमालयः वसुन्धरायाः पृथिव्याः वत्सताम् वत्सभावम् एत्य प्राप्य रत्नावलिकान्तिपूरान् मणिगणप्रभाजालं निपीय निकामं पीत्वा तृप्तः मनःशिलावप्रझरीमिषेण मनःशिलानिर्झरव्याजेन दरीमुखैः गुहारूपैः आननैः उद्गिरतीव वमतीव । यथा कोऽपि वत्सो मातुः पयोऽधिकं पीत्वा मुखेन वमति तथाऽयं हिमालयो मातृस्थानीयाया धरायाः रत्नावलिकान्तिपूरान् पीत्वा तृप्तः मनःशिलानिर्झरव्याजेन दरीमुखैः रत्नावलिकान्तिपूरानिव वमतीति भावः । अयं श्लोकः कालिदासीयं–'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे । भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्' इतिपद्यमुपजीवति ॥ ५७ ॥

---

१. 'निपीत' । २. 'तृप्त्या' । इति पा० ।

जो हिमालय बछड़ा बनकर वसुन्धरारूप गौका रत्नावलि कान्ति समुदाय रूप पयः यथेच्छ पीकर तृप्तहो मैनशिल—एक प्रकारका गैरिकद्रवके प्रवाहके व्याजसे गुहारूप मुखसे उगलसा रहा है। दरियोंसे मैनशिलके झरने गिर रहे हैं वे ऐसे लगते हैं मानों हिमालय रूप बछड़ेने जो पृथ्वी रूप गौका रत्नकान्ति समूह रूप दूध खूब छककर पी लिया था, तृप्त होकर–अघाकर–उसीका वमन कर रहा हो ॥ ५७ ॥

आरोहतस्तं तरसा समीरकिशोरकः स्वेदजलाणुराजिम्।
निपीय तस्याननपद्ममाध्वीं[1] द्विरेफभावं प्रकटीचकार ॥ ५८ ॥

आरोहत इति। तम् तथाभूतं हिमालयं नाम पर्वतम् आरोहतः क्रामतः तस्य पार्थस्य स्वेदजलाणुराजिम् प्रस्वेदवारिकणिकाम् आननपद्ममाध्वीम् मुखकमल-मकरन्दं तरसा निपीय समीरकिशोरकः मन्दवायुः द्विरेफभावं भ्रमरत्वं प्रकटीचकार। समीरकिशोरकः–बालो वायुः–मन्दवायुः समीरकिशोरकशब्दस्य रेफद्वय-घटिततया द्विरेफः, यथा भ्रमरशब्दस्य रेफद्वयघटिततया स द्विरेफः, सोऽयं समीर-किशोरको न नाममात्रेण द्विरेफः किन्तु पद्ममाध्वीपानकर्तृत्वेनापीत्युपपादयति—आरोहत इति हिमगिरिमारोहतोऽर्जुनस्यास्य पद्ममकरन्दरूपां स्वेदजलकणिका-राजिमाचामन्नसौ समीरकिशोरः स्वं द्विरेफभावं द्रढयतीति तात्पर्यम् ॥ ५८ ॥

उस हिमालय पर चढ़ते हुए अर्जुनके पसीनेकी बूंदोंको—जो उसके मुखकमल पर मकरन्दकी तरह मालूम पड़ रही थीं—पीता हुआ मन्द पवन अपने समीरकिशोरत्वको प्रकट कर रहा था। 'समीरकिशोर' शब्दमें दो रेफ हैं अतः वह द्विरेफ हुआ, वही समीरकिशोर रूप द्विरेफ अर्जुनके चेहरे रूप कमलपर फैली हुई स्वेद बिन्दु रूप मकरन्द राशिका पान करके अपना द्विरेफत्व–भ्रमरत्व–प्रकट कर रहा था ॥ ५८ ॥

शिवाख्ययोरेकतनुत्वकारणं त्रिलोकपित्रोर्महसोस्तपोवनम्।
मिथोऽर्च्यमानं मिथुनैस्तपस्विनां तथेच्छुभिस्तत्र ननाम पाण्डवः ॥५९॥

शिवाख्ययोरिति। तत्र हिमालये पाण्डवः अर्जुनः त्रिलोकपित्रोः लोकत्रयीजनकयोः शिवाख्ययोः शिवशिवापदाभिधेययोः महसोः तेजसोः पार्वतीपरमेश्वरपदाभिलप्ययोः एकतनुत्वकारणम् एकशरीरकत्वसम्पादकम् (अभेदकरणम्) तथेच्छुभिः स्वयोरपि तादृगेकतनुत्वमभिलप्यद्भिः तपस्विनां मिथुनैः स्त्रीपुंसैः मिथः रहसि अर्च्यमानम् पूज्यमानं तपोवनं ननाम। अर्जुनस्तत्तपोवनं प्राप्य प्रणमति स्म यत्र पार्वतीपरमेश्वरावभेदं गतौ, यत्र च तदभेदप्राप्तिवृत्तान्तश्रवणेनात्मनोरपि तथाऽभेदं कामयमानाः दम्पतिलोकास्तपोवनं तदाराधयन्तीति भावः। हेतुरलङ्कारः ॥ ५९ ॥

अर्जुनने उस हिमालय पर वर्त्तमान शिवतपोवनको प्राप्त करके उसे प्रणाम किया

---

१. 'माध्वी'। इति पा०।

क्योंकि उसी तपोवनमें सिद्धि प्राप्त करके लोकत्रयीके जन्मदाता शिव-शिवा शब्दोंसे पुकारे जाने वाले पार्वती-परमेश्वर रूप तेज एकतनु-अभिन्न-होगये हैं, और इसी बातको सुननेसे बहुत तपस्वी जोड़े अपनेको अभिन्न-पार्वती शिवकी तरह नित्यमिलित बनानेके लिये उस तपोवनमें आराधना कर रहे हैं॥ ५९॥

तत्र दर्भदलमुष्टिमाहरन्संनिधास्यदृषभोपदामिव।
चित्तमीशपदयोः समादधत्तप्तुमारभत दुश्चरं तपः॥ ६०॥

तत्र दर्भेति। तत्र शिवतपोवनेऽर्जुनः सन्निधास्यतः कदाचित् समीपमागमिष्यतः ऋषभस्य शिववृषभस्य नन्दिनः उपदाम् उपहारमिव दर्भदलमुष्टिम् मुष्टिमितदर्भान् आहरन् नयन्, (आगमिष्यतो हरवृषस्योपायनत्वेन संभाव्यमानं मुष्टिमितं दर्भमाहृत्य पुरः स्थापयन्) किञ्च—ईशस्य महादेवस्य पदयोश्चरणयोः चित्तं समादधत् निवेशयन् सन् शिवं ध्यायन्नित्यर्थः दुश्चरं कष्टसाध्यम् तपः तप्तुम् कर्तुमारभत प्रारब्धवान्। रथोद्धतावृत्तम्। 'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति च तल्लक्षणम्॥ ६०॥

अर्जुन जब उस शिवतपोवनमें आगये तब वे नियमानुसार कुशदलकी मुष्टि लाकर ऐसे रखने लगे—मानो आनेवाले महादेवके वृषभ नन्दीका उपहार रख रहें हों, वे अपना हृदय शिवजीके चरणोंमें लगाये रहते, और बराबर उन्हींका ध्यान किया करते, इस तरह अर्जुनने कष्टसाध्य तप करना प्रारम्भ कर दिया॥ ६०॥

चतुरस्तपःस्थितिविशेषविधौ चरणं निधातुमखिलेन निजम्।
स जुगुप्समान इव शत्रुजिते प्रपदेन तिष्ठति भुवः स्म तले॥ ६१॥

चतुर इति। तपःस्थितिविशेषविधौ तपस्यासम्बन्धिनामासनभेदानां विधावनुष्ठाने चतुरः दक्षः सोऽर्जुनः शत्रुजिते द्यूतकपटेन शत्रुभिरायत्तीकृते भूतले अखिलेन सर्वांशेन चरणं निधातुं पादं स्थापयितुम् जुगुप्समानः त्रपमाण इव प्रपदेन पादाग्रभागमात्रेण भुवस्तले तिष्ठति स्म। अयमाशयः—तपस्याकालोपयुक्तासनभेदविदर्जुनः पादाग्रेण भुवमवलम्ब्य तपश्चरितुं प्रवृत्तो मन्ये शत्रुभिरायत्तायां भुवि सर्वात्मना चरणं निधातुमसौ लज्जत इवेति तात्पर्यम्॥ अत्र तपस्योपयोगितया पादाग्रेण भुव आलम्बनं शत्रुजितमहीस्पर्शविषयक-जुगुप्साहेतुकतयोत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ ६१॥

तपस्याकालोपयुक्त आसन आदिका ज्ञान रखने वाला वह अर्जुन केवल पादाग्र भागसे पृथ्वी पर अवस्थित होकर तप करने लगा—मानों द्यूत-कपट द्वारा शत्रुओंसे स्वायत्तकी गई पृथ्वीपर वह अपना चरण पूर्ण रूपसे रखनेमें जुगुप्सा-लज्जाका अनुभव

१. 'विधातुम्'। इति पा०।

करता हो। दूसरेकी पृथ्वी पर सम्पूर्ण चरण रखनेमें लज्जितसा होकर केवल पादाग्र पृथ्वी पर अवस्थित करके अर्जुनने कठोर तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥

भानौ ललाटन्तपभानुजाले प्रविष्टदृष्टिं परितस्तमग्निः ।
भूयोऽपि भोक्तुं विपिनं दिशेति प्रेम्णोपरुन्धन्निव दृश्यते स्म ॥ ६२ ॥

भानाविति । ललाटंतपम् शिरस्तापनक्षममतितीव्रं भानुजालं किरणसमूहो यस्य तादृशे ललाटन्तपभानुजाले भानौ सूर्ये प्रविष्टदृष्टिम् तन्मयीभावेन ध्यानविधया स्थापितचक्षुषम् तम् अर्जुनं परितः तस्य समन्ततः (चतुर्ष्वपि भागेषु स्थितः) अग्निः भूयः पुनः अपि भोक्तुं भक्षयितुं दग्धुम् विपिनम् खाण्डवमिव किमप्यन्यत् वनम् दिश देहीति एवं प्रकारेण प्रेम्णा स्नेहेन उपरुन्धन् उपरुध्याग्रहेण प्रार्थयमान इव दृश्यते स्म ददृशे। सूर्यनिविष्टदृष्टिः समन्ततः स्थापितवह्निश्च पार्थः पञ्चाग्निव्रतमाचरन्नग्निना खाण्डववनभक्षणलोभेनोपचितममत्वेन पुनरपि किमप्यन्यद्वनं भोक्तुं देहीति उपरुध्यागृह्यमाण इव प्रतीयते स्मेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारेण पञ्चाग्निव्रतचर्या ध्वन्यते। तुलनार्थं दृश्यताम्-शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा। विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत' इति कुमारे ॥ ६२ ॥

ललाटको तपा देनेवाली किरणोंसे युक्त सूर्यमें अपनी दृष्टिको प्रविष्ट करके बैठे हुए— अनन्य चित्तसे अति प्रखर तेजवाले सूर्यकी ओर देखते हुए-सूर्यका ध्यान करते हुए अर्जुनके चारो भागमें अवस्थित वह्निदेव ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो वे पुनः अर्जुनसे उसे घेरकर आग्रह प्रार्थना—अनुरोध कर रहे हों कि मुझे कोई दूसरा वन खानेको दो। खाण्डव वनको खाकर उनका लोभ बढ़ गया है, वह पुनः कोई दूसरा वन अर्जुनसे मांग रहे हैं। यह उत्प्रेक्षा पञ्चाग्नि व्रतका द्योतन करती है, पञ्चाग्नि व्रतमें तपस्वीके चारो ओर आग होती है और वह सूर्यको देखा करता है ॥ ६२ ॥

तपोविधौ स पावकेन सर्वदिक्षु वासवि-
स्तदा बभूव वेष्टितो धनंजयत्वबान्धवात् ।
अजीजनत्तमङ्गराजमङ्ग ! वैरिणं भवा-
नितीव रोषितो दिनेश एव चक्षुरक्षिपत् ॥ ६३ ॥

तपोविधाविति । तदाऽर्जुनेन पञ्चाग्निव्रते आरभ्यमाणे वासविः इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः तपोविधौ तपोऽनुष्ठानप्रक्रमे पावकेन अग्निना धनञ्जयत्वबान्धवात् धनञ्जय इति नामसाम्यकृतसौहार्दात् सर्वदिक्षु सर्वतः वेष्टितः बभूव। अग्निरर्जुनं धनञ्जयपदाभिधेयत्वकृतमैत्रीमाहात्म्यात् समन्ततो वेष्टितवानित्यर्थः। (अथ च स वासविः)

१. 'रोषितः'। इति पा०।

अङ्ग हे सूर्यदेव, भवानेव वैरिणं मम प्रधानशत्रुं कर्णं नाम अङ्गराजम् अजीजनत् उत्पादितवानिति रोषादिव कोपादिव दिनेशे एव सूर्यं प्रत्येव आत्मनः चक्षुः नयनम् अक्षिपत् निदधे। अन्योऽपि शत्रुपितरं कोपरक्तेन चक्षुषाऽवलोकयति, तद्वदयं पार्थो भास्करं प्रति कोपरक्तेन चक्षुषाऽपश्यदिवेति भावः। पञ्चचामरं वृत्तमिदम्—तल्लक्षणं यथा—लघुर्गुरुर्निरन्तरं भवेच्च पञ्चचामर'मिति ॥ ६३ ॥

तपस्यामें लग्न—पञ्चाग्निव्रत नामक तपस्यामें निरत अर्जुन वह्निदेवसे चारों तरफसे घिरा हुआ था मानो धनञ्जय नामसादृश्यकृत बन्धुत्वसे वह्निदेव उसे वेष्टित किये हुए हैं, और उसने सूर्य पर दृष्टि लगा रखी थी, मानो वह कोप करके सूर्यदेवसे कह रहा था कि आपने ही हमारे शत्रु अङ्गराज कर्णको जन्म दिया है। पञ्चाग्निव्रतमें उपासकके चारों तरफ आग रहती है और वह सूर्यकी ओर टकटकी लगाये रहता है, इसी पर यह उत्प्रेक्षाकी गई है कि आग धनञ्जय—नामसाम्यकृत बन्धुत्वसे अर्जुनको घेरकर स्थित है, और सूर्यकी ओर वह इसलिये कोपसे देख रहा है कि सूर्यने उसके शत्रु कर्णको जन्म दिया है ॥ ६३ ॥

पाराशरिप्रापितमन्त्रभागैराराधयञ्शंकरमन्तरङ्गे।
सप्तापि चर्षींस्तपसा विजेतुं सप्तत्वमाप स्वयमेक एव ॥ ६४ ॥

पाराशरीति। पराशरस्य मुनेरपत्येन पाराशरिणा व्यासेन प्रापितस्य उपदिष्टस्य मन्त्रस्य प्रतिश्रुतिविद्यायाः (सप्तभिः) भागैः अन्तरङ्गे स्वमनसि शङ्करं शिवम् आराधयन् पूजयन् ध्यायन् सः अर्जुनः स्वयम् एक एव अद्वितीयः सन्नपि सप्त सप्तसंख्यकान् अपि मुनीन् मरीच्यादीन् तपसा तपोऽनुष्ठानेन विजेतुं पराजेतुम् इव स्वयम् आत्मना सप्तत्वम् जटासहितत्वम् आप। अत्र तपोनियमनिष्ठतया स्वतः प्राप्तायाः जटायुक्ततायाः सप्ततायाः सप्तर्षिजयहेतुकत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ६४ ॥

पराशरपुत्र व्यास द्वारा उपदिष्ट प्रतिश्रुति विद्याके सात भागों द्वारा अपने हृदयमें महादेवका ध्यान करते हुए अर्जुनने मानो अपनी उग्र तपस्यासे सात ऋषियों—मरीचि आदियों—को जीतनेके लिये एक होकर भी सप्तत्व—सप्तसंख्यकत्व या जटाधारित्व—प्राप्त कर लिया। सप्त शब्दका दोनो अर्थ है, सात संख्यावाला, और जटायुक्त, देखिये सारस्वत कोषमें लिखा है—'सप्तोऽदन्तो जटायुक्ते नान्तः सङ्ख्यान्तरे स्मृतः ॥ ६४ ॥

फलपर्णजलानिलाशनानि प्रविहाय क्रमशस्तपस्यतोऽस्य।
विषयेषु न लोलतां प्रपेदे विजयस्याक्षगणः कराग्र एव ॥ ६५ ॥

फलपत्रेति। फलपत्रजलानिलानाम् अशनानि देहनिर्वाहार्थं भक्षणानि क्रमशः विहाय पत्रं स्वीकृत्य फलत्यागः, जलं स्वीकृत्य पत्रत्यागः, अनिलं च वायुं च

१. 'पत्र'। २. 'अक्षगुणः'।

स्वीकृत्य जलस्य त्यागः, एवमुत्तरोत्तरभक्ष्यस्वीकारेण पूर्वपूर्वभक्ष्यत्यागेन तपस्यतः अनुष्ठानं कुर्वतोऽस्य विजयस्य अक्षगण इन्द्रियवर्गः रुद्राक्षगणश्च विषयेषु शब्दस्पर्शरूपादिषु लोलतां ग्रहणाभिमुख्यं न प्रपेदे न प्राप अपितु कराग्रे हस्ताग्रभागे एव लोलतां चलतां प्राप। तस्याक्षगण इन्द्रियवर्गः विषयपराङ्मुखोऽतिष्ठत् तस्याक्षगणो रुद्राक्षकृता जपमाला च कराग्रे चलति स्म। विषयपराङ्मुखतया स मन्त्रजपं कृतवानित्याशयः ॥ ६५ ॥

क्रमशः अर्जुनने फल, पत्र, जल, वायुका भोजन छोड़कर तप करना प्रारम्भ किया, फल छोड़कर पत्ते खाता, पत्ते छोड़कर जल पीता, बादमें जल छोड़कर वायु पर रहता, इस तरह क्रमशः आहार छोड़कर वह तप करता रहा, इस दशामें उसके अक्षगणने-इन्द्रियोंने-तो चञ्चलता-विषयोन्मुखता-छोड दी, परन्तु अक्षगण रुद्राक्षनिर्मित जप मालिका हाथके अग्र भागमें बराबर चलती रही, अव्याहत गतिसे जप चलता रहा ॥६५॥

तत्तादृशेन तपसा तरुणेन्दुमौलिं
[1]तन्वन्द[2]यापरवशं तनयो मघोनः।
पादाग्रमेव धरणौ [3]प्रणिधाय तस्था-
[4]वुद्यम्य बाहुमुपरीह फलानि लिप्सुः ॥ ६६ ॥

तत्तादृशेनेति। मघोन इन्द्रस्य तनयः पुत्रोऽर्जुनः तत्तादृशेन तेनातिदुश्चरेण तपसा तपस्यानुष्ठानेन तरुणेन्दुमौलिं बालचन्द्रशेखरं शिवम् दयापरवशं कृपाप्रवणं तन्वन् कुर्वन् (शिवस्य हृदये कारुण्यमुद्रेचयन्) फलानि वृक्षस्थितफलानि तपःफलानि च दुरासदत्वानि लिप्सुः आदातुमिच्छुः प्रेप्सुश्च बाहुम् हस्तं निजम् उपरि उद्यम्य उत्थाप्य पादाग्रम् चरणयोरग्रदेशम् एव धरणौ पृथिव्यां प्रणिधाय अवस्थाप्य तस्थौ स्थितोऽभूत्। यथाऽन्य उच्चदेशस्थफलानि प्रेप्सुः पादाग्रेण स्थितो बाहुमुत्क्षिपति, तथाऽयमुन्नतं तपः फलं प्रेप्सुरुपरिकृतहस्तः पादाग्रमात्रस्पृष्टभूतलश्च कृच्छ्रं तपः कृत्वा शिवं दयाद्रुतं कर्तुं प्रावर्त्ततेति भावः। अत्र फलपदे रूपकेणोत्थापितयोत्प्रेक्षया शिवस्य फलवृक्षोपमाप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारान्तरध्वनिः ॥ ६६ ॥

इन्द्रका पुत्र अर्जुन अपनी उस दुश्चर तपस्यासे शिवके हृदयमें दयाका सञ्चार करनेके लिये पृथ्वी पर केवल पादाग्र मात्र स्थापित करके हाथ उठाकर खड़ा रहा करता था, मानो किसी उच्च फलकी कामना कर रहा हो। जैसे किसी उच्चफलको पानेकी इच्छा रखनेवाला पैरके एक भागसे पृथ्वीको छूता हुआ हाथ ऊपर उठाये रहता है उसी तरह उच्चफल-पाशुपतास्त्रकी प्राप्तिसे दुर्जयत्व-को पानेकी इच्छासे अर्जुनने अङ्गुष्ठमात्रसे पृथ्वी पर अवस्थित होकर उत्थितहस्त हो तीव्र तपस्या की। 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः' की छाया इस कविता पर पड़ती सी प्रतीत होती है ॥६६॥

---

१. 'कुर्वन्' २. 'कृपा'। ३. 'प्रविधाय'। ४. 'प्रोद्यम्य'।

निरुध्य वायुं निभृतं तपस्यतः शिरःसमुत्था दशदिग्विसृत्वरी ।
नटत्स्फुलिङ्गा नवधूमसंततिः स्फुटीचकारास्य धनंजयाभिधाम् ॥६७॥

निरुध्येति । वायुं प्राणवायुं निरुध्य समाधिवश्यतया हृदि व्यवस्थाप्य निभृतं निष्ठुरं तपस्यतः तपस्यां कुर्वतोऽस्यार्जुनस्य शिरःसमुत्था मस्तकभागोत्थिता दशदिग्विसृत्वरी दशस्वपि दिशासु प्रसरणशीला नटत्स्फुलिङ्गा प्रकटीभवदग्निकणा च नवधूमसन्ततिः नूतना धूमपरम्परा धनञ्जयाभिधां धनञ्जय इति संज्ञाम् स्फुटीचकार दृढीचकार । धनञ्जयो वह्निस्तस्य च वायुनिरोधे सति धूममाला समन्वतो व्याप्नोति, स्फुलिङ्गाः प्रादुरासतेऽयमर्जुनोऽपि तथेति सिद्धमस्य धनञ्जयसंज्ञकत्वमिति भावः । धूमस्फुलिङ्गयोर्दर्शनेन धनञ्जयत्वज्ञानादनुमानं नामालङ्कारः ॥ ६७ ॥

समाधिवशीभूत प्राण वायुका नियमन करके एकान्त तपस्यापरायण उस अर्जुनके शिरसे उठकर दश दिशाओंको व्याप्त करती हुई तथा स्फुलिङ्गोंसे व्याप्त नई धूमपङ्क्तिने अर्जुनके धनञ्जय नामको सार्थक सिद्ध कर दिया । आगमें भी हवाके रुक जाने पर धूममाला ऊपरकी ओर उठती है जिसमेंसे स्फुलिङ्ग निकलते हैं ॥ ६७ ॥

तस्याथ नारदमुखात्तपसः प्रभावं
श्रुत्वा हरस्त्रिजगतामधिपो दयालुः ।
देव्या दृशा सदसि सूचिततद्दिदृक्षो-
दित्सन्नभीष्टमपि लुब्धकतामयासीत् ॥ ६८ ॥

तस्याथेति । अथ सदसि सभायां नारदमुखात् देवर्षिकथनद्वारा तस्य अर्जुनस्य तपसः प्रभावं महत्त्वं श्रुत्वा (अर्जुनोऽतिकठिनं तपस्यतीति निशम्य) दयालुः तदीयतपस्याद्रुतहृदयः, देव्याः पार्वत्याः दृशा नेत्रचेष्टया सूचिततद्दिदृक्षो ज्ञातपार्वतीहृदयस्थार्जुनदर्शनलालसः पार्वती तपस्यन्तमर्जुनं दिदृक्षतीति तन्नेत्रचेष्टयाऽवगम्य अभीष्टम् अर्जुनस्य काम्यमानं फलम् दित्सन् दातुमिच्छन् अपि शिवः लुब्धकताम् शबरत्वम् लुब्धत्वञ्च अयासीत्, दातुमिच्छोर्लुब्धत्वमयुक्तमिति विरोधः, वरं दातुं शबरवेषधारणमिति च तत्परिहारः ॥ ६८ ॥

सभामें नारदके कहनेसे अर्जुनके तपःप्रभावको सुनकर दयालु हो, शिवने-पार्वती की नयन-भङ्गीसे यह समझकर कि यह तपस्या-परायण अर्जुनको देखना चाहती है-अर्जुनको अभीष्ट वर-प्रदान करनेके लिये लुब्धक-शिकारी-शबरका रूप ग्रहण कर लिया । शबरके रूपमें अर्जुनको अभीष्ट फल देनेके लिये तैयार हो गये ॥ ६८ ॥

हेरम्बगण्डमदपङ्कवि[1]शेषकौ तौ
स्कन्दौपवाह्यशिखिपिच्छकृ[2]तावचूडौ ।

१. 'विशेषकाङ्कौ' । २. 'विलासचूडौ' । इति पा० ।

[1]भूषाधुनीतटतरुच्छदक्लृप्तवस्त्रौ
कोदण्डिनौ व्यरुचतां कुहनाकिरातौ ॥ ६९ ॥

हेरम्बेति। तौ पार्वतीपरमेश्वरौ हेरम्बस्य गजाननस्य गण्डयोः कपोलयोः यो मदपङ्कः तत्कृतो विशेषकः तिलकं ययोस्तादृशौ गजानन—मदवारिकृततिलकौ, स्कन्दस्य कार्त्तिकेयस्य य औपवाह्यः राजवाहनभूतः शिखी मयूरस्तस्य पिच्छेन कृतः अवचूडः शिखाभूषणं ययोस्तौ तथोक्तौ, किञ्च भूषाधुन्याः भूषणीभूतायाः नद्याः गङ्गायाः तटतरुच्छदैः पुलिनप्ररूढपादपपत्रैः क्लृप्तं सम्पन्नं वस्त्रम् परिधानीयं ययोस्तौ तथाविधौ कोदण्डिनौ धनुर्धारिणौ कुहनाकिरातौ मायाशबरभेषौ व्यरुचताम् रेजतुः। किराता हि गजमदकृततिलका मयूरपिच्छचूडा वृक्षपत्रवल्कवस्त्राश्च धनुरादाय च चरन्ति पार्वतीपरमेश्वरावपि गणेशरूपगजमदपङ्कस्य विशेषकं कार्त्तिकेयवाहनमयूरपिच्छस्यावचूडं स्वशिरोभूषणीभूतगङ्गानदीतटतरुपत्रकृतं वस्त्रं चासाद्य धृतधनुषौ मायाकिरातौ भूत्वा व्यरुचतामिति भावः। महतां परिकरान्वेषणे स्वीया एवोपकुर्वत इत्याशयः॥ ६९ ॥

महादेव और पार्वतीने जब माया–किरातका रूप बनाया तब उन लोगोंने गजानन के मद–पङ्कसे टीका काढ़ लिया, कार्त्तिकेयके वाहन मयूरके पिच्छोंसे शिरपर कलंगी सी बनाली, और शिरपर प्रवाहित होनेवाली गङ्गानदीके तटपर उत्पन्न वृक्षोंके पत्रोंसे वस्त्रका कार्य सम्पादित किया, इस प्रकार सज–धजकर धनुषसे लैस होकर वे दोनों माया–किरात खूब भले लगते रहे ॥ ६९ ॥

शबरत्वजुषः [2]वरस्य पुंसः शशिखण्डान्नु शकार[3]संविधानम्।
भजति स्म तदा शिखण्डभावं भगवन्मस्तकभूषणं यदेषः ॥ ७० ॥

शबरत्वेति। शबरत्वजुषः शबररूपधारिणः वरस्य श्रेष्ठस्य पुंसः शिवस्य शशिखण्डात् शशिखण्डपदात् शकारसंविधानम् शकाररूपाक्षरयोगः नु किमु ? यत् यस्मात् एषः भगवन्मस्तभूषणम् शशिखण्डः तदा शिवस्य शबरभावधारणवेलायां शिखण्डरूपत्वम् शिखण्डशब्दभावं भजति स्म। अयमाशयः—वरः पुरुषः शिवः तद्भूषणं च शशिखण्ड इतीयं वस्तुस्थितिः, तत्र भूषणभूतशशिखण्डस्याक्षरेण योगे वरः पुरुषः शबरो जातः, अतो भूषणवाचकशशिखण्डशब्द आद्यक्षरेण शकारेण हीनः शिखण्डः सन् भूषणतां शबरभावे गत इति। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ७० ॥

वर पुरुष–श्रेष्ठ पुरुष–शिवजीने जब शबरत्वरूप धारण किया तो वरमें 'श' अक्षर शशिखण्ड रूप उनके भूपणके नाममेंसे आकर जुड़ गया, वह वरसे 'शबर' बन गये, अब भूषणमें शशिखण्डके स्थानमें शिखण्ड ही रह गया, अतः वही उनका शबरभावमें भूषण रहा, शिखण्ड–मयूरपिच्छ ॥ ७० ॥

---

१. 'भूषानदीतटरुह'। २. 'परस्य'। ३. 'संनिधानम्'। इति पा०।

तदानीमेव रजतगिरिशिखरान्निर्गच्छन्तौ, किमेतदिति सांशयिकैरपि तदनुसरणोचितवेष[1]रचनानुकूलैः प्र[2]मथकुलैः परिवार्यमाणौ, समुच्चलितलाङ्गूलमितस्ततो धावद्भिर्दूरचारश्रमविदारितवदनलम्ब[3]मानरसनाग्रनिपा[4]तिनीभिः सृणिकाकणिकाभिर्वनपद्धतिं शुद्धतरीं[5] कुर्वद्भिर्दृढ[6]तरश्वसितकम्पमानावयवैस्तेषु तेषु व[7]नगुल्मेषु श्वा[8]पदानन्विष्यान्विष्य हुंकारमाचरद्भिर्विश्वनिगमविश्वकद्रुभिरविमुच्यमानपार्श्वभागौ, दीपकमृगायमाणनिजहरिणशावकपार्ष्णिभागानुधावनौ, भाविनि पदे पदे वनदेवताभिरर्प्यमाणसुरतरुप्रसवास्तरणेन प्रशमिततुहिनजडिमोद्वेगे[9]न हिमवतः कटकपथेन सविलासं संचरमाणौ, कावेतौ [10]कदाचिदप्यदृष्टपूर्वौ वनमस्मदीयमा[11]क्रमत इति रोषकषायिततया निवारयितुकामैरपि तेजोवि[12]शेषेण प्रतिहतोत्साहैरन्यैः[13] शवरयुवभिः केवल[14]मवलोक्यमानौ, जटावल्लरीमूलपल्ल[15]वमुकुलीभवदञ्जलिभिस्तपस्विपुञ्जैर्नभसि विमानवेगं निरुध्य हर्षाश्रुभिर्मरुद्भिश्चा[16]भिवर्ष्यमाणजयशब्दौ, तौ जगदादिमौ दंपती [17]सनियममुपासीनस्य शुनासीरसुतस्य तपोवनसीमानं शनैः शनैरासीदताम् ।

तदानीमेवेति । तदानीम् शवररूपधारणकाले एव रजतगिरिशिखरात् कैलासशिखरात् निर्गच्छन्तौ बहिश्चलन्तौ, एतत् शिवयोः किरातरूपधारणं किम् कुतः ? अथवा काविमौ किरातौ पार्वतीशिवौ तदन्यौ वा ? इति सांशयिकैः अनिश्चितमतिभिः अपि तदनुसरणोचितवेषरचनानुकूलैः किरातरूपधारिशिवानुगमनोपयुक्तकिरातवेषधारणपटुभिः प्रमथकुलैः शिवस्य गणैः परिवार्यमाणौ वेष्टितौ, समुच्चलितलाङ्गूलम् उत्थापितपुच्छम् इतस्ततः यत्र तत्र धावद्भिः वेगेन समुपसर्पद्भिः दूरचारश्रमेण दूरागमनखेदेन विदारितात् उन्मुक्तात् वदनात् मुखात् लम्बमानायाः लम्बीभूतायाः रसनायाः जिह्वाया अग्रतः पुरोदेशात् निपातिनीभिः पतनशीलाभिः सृणिकाकणिकाभिः लालाजलबिन्दुभिर्वनपद्धतिं काननमार्गं शुद्धतरीं कुर्वद्भिः पवित्रतां नयद्भिः, दृढतरनिःश्वसितकम्पमानावयवैः अतिप्रवृद्धश्वासवेगचलत्पार्श्वोदरा-

---

१. 'वेषविरचनाकुलैः' । २. 'पारिषद' । ३. 'लम्बायमान' । ४. 'पातिनीभिः' । ५. 'शुद्धतरीमिव' । ६. 'द्रुततर' । ७. 'वनगुल्मिषु' । ८. 'श्वापदानि' । ९. 'शावकानुधाव्यमानपार्ष्णिभागौ प्रशमिततुहिनजडिमोद्वेगेन भाविनि पदे पदे वनदेवताभी रच्यमानतरुप्रसवास्तरणेन हिमवतः' । १०. 'कावेतावप्यदृष्ट' । ११. 'आक्रमेते' । १२. 'विशेषप्रति' । १३. 'आरण्यैरन्यैः' । १४. 'आलोक्यमानौ' । १५. 'मूलमुकुली' । १६. 'सममभिवृष्यमाण' । १७. 'सविनयम्' । इति पा० ।

दिभिः, तेषु तेषु वनगुल्मेषु कुञ्जेषु श्वापदान् मृगविशेषान् अन्विष्यान्विष्य भूयो भूयो मृगयित्वा हुङ्कारम् शब्दभेदम् आचरद्भिः कुर्वद्भिः, विश्वे समस्ता निगमाः वेदा एव विश्वकद्रवः मृगयाकुशलाः शुनकास्तैः अविमुच्यमानौ सदा सेवितौ पार्श्वभागौ प्रान्तदेशौ ययोस्तौ तादृशौ, दीपकमृगः किरातादिभिर्वध्यमृगान् वञ्चयितुं वर्द्धितो मृगस्तद्वदाचरन् यो निजहरिणशावकः शिवस्य स्वीयो भूषणहरिणशावकस्तत्पार्ष्णिभागम् खुरचिह्नं प्रति अनुधावनं गमनं ययोस्तौ तथोक्तौ, भाविनि पदे पदे सर्वस्मिन्नेव पुरोभाविनि चरणपाते वनदेवताभिः अर्प्यमाणानाम् उपह्रियमाणानाम् सुरतरुप्रसवानाम् मन्दारादिदेववृक्षोद्गतानां पत्रपुष्पादीनाम् आस्तरणेन हेतुभूतेन प्रशमिततुहिनजडिमोद्वेगेन मन्दीभूतशीतकृतकष्टेन हिमवतो हिमालयस्य कटकपथेन उपत्यकामार्गेण सञ्चरमाणौ चलन्तौ, कौ एतौ ? कदाचित् अपि अदृष्टपूर्वौ नावलोकितौ, तथापि नितान्तपरिचितस्वेऽपि अस्मदीयं वनम् आक्रमतः आखेटेन कदर्थयत इति रोषकषायिततया कोपकलुषीभावेन निवारयितुकामैः निरोद्धुमिच्छद्भिः अपि तेजोविशेषेण अनयोर्माया-शबरयोः प्रभावबाहुल्येन अन्यैः मार्गैर्वर्त्मभिः शबरयुवभिः केवलम् आलोक्यमानौ, (न तु वार्यमाणौ) जटा एव वल्लर्यो लतास्तासां मूले आदिभागे पल्लवमुकुलं किसलयद्वयसंपुटमिव सम्पद्यमानः मुकुलीभवन् अञ्जलिः येषां तैः तथोक्तैः मस्तकन्यस्ताञ्जलिभिः तपस्विपुञ्जैः मुनिगणैः नभसि च आकाशे विमानवेगं स्वीययानगमनं निरुध्य प्रतिवध्य मरुद्भिः देवैश्च हर्षाश्रुभिः प्रमोदाश्रुधाराभिः सह अभिवर्ष्यमाणजयशब्दौ उच्चार्यमाणजयकारौ जगदादिमौ प्रपञ्चपितरौ दम्पती पार्वतीशिवौ सनियमम् यथाविधि उपासीनस्य उपासनामाचरतः शुनासीरसुतस्य इन्द्रपुत्रस्यार्जुनस्य तपोवनसीमानम् तपस्याभूमिम् शनैः शनैः क्रमशः आसीदताम् प्राप्तौ। 'सृणिका स्यन्दिनी लाला' 'श्वाविश्वकद्रुर्मृगयाकुशलः' 'अलङ्कृतौ दीपकं क्लीबं मृगे ना मृगवञ्चके' इति ते ते कोशाः॥

शबरका रूप बनाकर कैलास-शिखरसे बाहर निकलते हुए—यह क्या है? यह हमारे प्रभुही हैं या और कोई हैं इस विषयमें संशययुक्त होकर भी उनके अनुगमनोपयुक्त वेषरचनामें निपुण पारिषदों से घिरे हुए, पूंछ उठाये इधर-उधर दौड़कर बहुत दूर तक चलते रहनेके कारण खुले हुए मुखसे लटकती हुई जीभके अग्रभागसे गिरनेवाली लारकी बूंदोंसे वनमार्गको पवित्र बनाने वाले और जोरोंसे सांस लेनेके कारण हिल रहे हैं शरीरावयव जिनके ऐसे, एवं झाड़ियोंमें मृगोंको बारबार ढूंढ़कर हुँकार करने वाले समस्त वेदरूप शिकारी कुत्तोंसे घिरे, मृगवञ्चनाके लिये पोषित दीपक मृगके समान अपने भूषणमृगके खुर-चिह्नों पर चलनेवाले, हर अगले डग पर वनदेवता द्वारा मन्दारतरुके पत्रपुष्पके विछाये रहनेसे हिमकी ठंढकका कष्ट कम हो गया है ऐसे हिमालयोपत्यका-मार्गसे चलते हुए, ये कौन हैं? ये तो कभी नहीं देखे गये? क्यों

ये यहाँ हमारे वनमें शिकार कर रहे हैं? इस तरह कुपित होकर भी शबर युवक जिन्हें–अधिक प्रभावशालिता के कारण देखते भर हैं कुछ टोकते नहीं, ऐसे और ललाट पर स्थापित किया है अञ्जलिको जिन्होंने ऐसे मुनिजन, तथा विमान रोककर आकाशचारी देवगण आँखोंमें आनन्दाश्रु भरकर जिनका जयजयकार करते हैं ऐसे प्रपञ्चके जनक दम्पति पार्वती–शिव धीरे धीरे नियमपूर्वक तपस्या करनेवाले इन्द्रपुत्र अर्जुनके तपोवन–सीमा पर पहुँचे॥

तत्र खलु,—

आपादलम्बिजटमातपमात्रभक्षमूर्ध्वीभवद्भुजमुदारतपःकृशाङ्गम्।
दृष्ट्याऽनुगृह्य कुरुवीरमुनीन्द्रमेनं त्रेधा बभूव सुतवत्सलता भवान्याः॥७१॥

आपादेति। आपादं पादपर्यन्तं लम्बिन्यो लम्बमानाः जटा यस्य तं तथोक्तम्, आतपमात्रभक्षम् फलपत्रजलानिलानेपि विहाय सूर्यकरमात्राहारम्, ऊर्ध्वीभवद्भुजम् उपरिक्षिप्तबाहुम्, उदारतपःकृशाङ्गम् अतिमहत्या तपस्यया दुर्बलदेहम् एनम् कुरुवीरमुनीन्द्रम् अर्जुनरूपं तपस्विश्रेष्ठं दृष्ट्या अनुगृह्य कृपादृशा वीक्ष्य भवान्याः सुतवत्सलता पुत्रवात्सल्यं त्रेधा बभूव त्रिधा व्यभज्यत, कुमारगणनाथविषयकतया द्विधास्थिता भवान्याः पुत्रप्रीतिरर्जुनविषयतयाऽप्युदितत्वेन त्रिधा प्रवृत्ता, सुतस्नेहेन पार्वती तमनुगृहीतवतीत्यर्थः॥ ७१॥

जिसके पैरों तक जटा लटक रही है, जो केवल सूर्यकिरण–मात्र पान करके जी रहा है, जिसने अपने हाथ ऊपर उठा रखे हैं, जो कठोर तप करते रहनेसे अति दुर्बल हो गया है, ऐसे कुरुवंशी अर्जुनरूप तपस्विश्रेष्ठको देखकर भवानीका पुत्र–वात्सल्य तीन भागोंमें बँट गया। इससे पहले उनका वात्सल्य कार्त्तिकेय और गणेश इन दो पुत्रों पर होनेके कारण दो जगह बंटा था, अब उनका वात्सल्य अर्जुन पर हो गया अतः त्रिधा बँट गया॥ ७१॥

क्षोदयन्नथ महीं खुरपातैः कोऽपि कोपकुटिलो वनकोलः।
घोरघूत्करणघोणमुपागात् कुक्षिमाश्रमभुवः कुरुसूनोः॥ ७२॥

क्षोदयन्निति। अथ कोपकुटिलः कोपेन क्रूरः कोऽपि वनकोलः अरण्यवराहः खुरपातैः खुरन्यासैः महीं पृथ्वीं क्षोदयन् चूर्णयन् सन् घोरेण भयङ्करेण घूत्करणेन घुर्घुरशब्देन उपलक्षिता घोणा नासाग्रभागो यत्र कर्मणि तथा कुरुसूनोः अर्जुनस्य आश्रमभुवः तपस्यास्थानस्य कुक्षिम् मध्यभागम् उपागात्। अत्रान्तरे खुरपातैर्भुवं दलयन् घोणया घोरं घुर्घुरशब्दं कुर्वन् कोपि कोपी वनवराहोऽर्जुनस्य तपस्याश्रमस्य मध्यमुपागतवानिति भावः। 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः' इत्यमरः॥ ७२॥

---

१. 'भक्ष्य'। इति पा०।

इसके बाद खुरपातसे पृथ्वीको चूर्ण करता हुआ, कुपित कोई वनवराह घोरघूत्कारसे युक्त नासाग्र भागसे फूत्कार करता हुआ (घुरघुर शब्द करता हुआ) कुरुवंशी अर्जुनके तपस्याश्रमके मध्य भागमें आकर उपस्थित हुआ ॥ ७२ ॥

तं वीक्ष्य रौद्रवपुषं मृगशावकेषु त्रासाद्विशत्सु कटिलम्बितवल्कभागान् ।
पर्याकुले कलकलैरपि पक्षिजाले पार्थो निवृत्य नियमाज्जगृहे शरासम् ॥७३॥

तं वीक्ष्येति । रौद्रवपुषं भीषणशरीरं तं वनकोलं वीक्ष्य दृष्ट्वा मृगशावकेषु हरिणपोतेषु कटिलम्बितवल्कभागान् अर्जुनस्य कटिप्रदेशे लम्बमानान् परिधानवल्कलैकदेशान् त्रासात् वनकोलापादानकाद्भयात् विशत्सु रक्षार्थं प्रविशत्सु, पक्षिजाले पक्षिगणे च कलकलैः शब्दैः पर्याकुले व्यग्रे सति पार्थः नियमात् समाधेः निवृत्य विरम्य शरासं धनुः जगृहे गृहीतवान् आर्त्तत्राणस्य तपसोऽप्यतिपुण्यतया पीडितान् हरिणपक्षिणस्त्रातुमर्जुनो विरमिततपस्यः सन् धनुरादत्तेति भावः ॥ ७३ ॥

भयङ्कर शरीर वाले उस वन-वराहको देखकर जब भयके मारे मृगशावक अर्जुनके कटि प्रदेशमें लटकने वाले वल्कलके एक भागमें छिपने लगे, और पक्षिगण कलकल शब्दसे व्याकुलता प्रदर्शित करने लगे, तब पार्थने समाधिको विश्राम देकर धनुष उठा लिया, आर्त्तोंका त्राण भी तो तपस्या ही है ॥ ७३ ॥

मुनिरेष यदाऽभ्ययाद्वराहं मुखरज्यालतिको जवाज्जिघांसुः ।
शबरो ददृशे तदाऽभिधावन्धनुराकृष्य सहानुयायिवर्गैः ॥ ७४ ॥

मुनिरेष इति । मुखरा सटङ्कारशब्दा ज्यालतिका प्रत्यञ्चारूपा लता यस्य तादृशः धनुष्टंकारयन् एषः मुनिः अर्जुनः यदा जिघांसुः वराहं हन्तुमनाः जवात् वेगात् अभ्ययात् अभिमुखं गतः, तदा तत्रैव काले धनुराकृष्य चापमास्फालयन् अनुयायिवर्गैः अनुचरगणैः सह अभिधावन् वराहाभिमुखमुपसर्पन् शबरः (लोकैः) ददृशे दृश्यते स्म । यदैवार्जुनः प्रहर्त्तुमाकृष्टचापो वराहमुपगतस्तदैव तदभिमुखमनुधावन् कश्चन सानुचरः शबरो लोकैरवलोकित इत्याशयः ॥ ७४ ॥

धनुषको टङ्कारित करके जब यह मुनिरूप अर्जुन मारनेके लिये वेगसे उस वन-वराहके अभिमुख चले जा रहे थे, उसी समय लोगोंने देखा कि एक सानुचर शबर धनुष ताने हुए उस वन-वराहका पीछा करता चला आ रहा है ॥ ७४ ॥

मा मुञ्च बाणं मदनुद्रुतेऽस्मिन्नपेहि जाल्मेति किरातनेतुः ।
वचः स लक्ष्यं मनसो न कुर्वन्वराहमस्त्रस्य चकार लक्ष्यम् ॥ ७५ ॥

मा मुञ्चेति । हे जाल्म, असमीक्ष्यकारिन्, मदनुद्रुते मयाऽनुधाविते अस्मिन् वराहे बाणं मा मुञ्च न प्रहर, अपेहि अन्यतो गच्छ, इति उक्तप्रकारकं किरातनेतुः

---

१. 'अनुधावन्' । इति पा० ।

शबरनायकस्य वचः वचनम् मनसः लक्ष्यम् विषयम् मनोगोचरं ध्यानोपनीतम् न कुर्वन् अनाद्रियमाणः उपेक्षमाणः सः अर्जुनः वराहं सूकरं लक्ष्यं चकार विभेद। किरातनेतुः पश्यत एव तद्वचोऽनाकर्णितकेनानादृत्य वराहे बाणं मुक्तवानित्यर्थः ॥७५॥

अरे ओ अविवेकी मूर्ख, मैं जिसका पीछा करता आ रहा हूं उस सूकर पर तुम बाण मत चलाओ, जाओ हटो, इस तरह कही गयी कपटी किरात–नायककी बातको मनमें न लाकर अर्जुनने उस वन–वराह पर अस्त्र चला दिया, उसे अपने अस्त्रका लक्ष्य बना ही दिया ॥ ७५ ॥

शिलीमुखाभ्यां शिवसव्यसाचिनोः समुज्झिताभ्यां युगपत्किटेस्तनौ।
समं विभज्यायुरभुज्यत क्षणात्सहोदराभ्यामिव पैतृकं धनम् ॥ ७६ ॥

शिलीमुखाभ्यामिति। युगपत् एककालम् किटेः वराहस्य तनौ देहे समुज्झिताभ्यां विसृष्टाभ्यां शिवसव्यसाचिनोः शिवस्य अर्जुनस्य च शिलीमुखाभ्यां बाणाभ्याम् (तस्य वराहस्य) आयुः जीवनम् क्षणात् शीघ्रं समम् तुल्यभागं विभज्य सहोदराभ्यां भ्रातृभ्यां पैतृकम् धनमिव अभुज्यत। यथा सोदरौ भ्रातरौ पैतृकं धनं समं विभज्य भुञ्जाते तथैव शिवेनार्जुनेन च प्रयुक्तौ बाणौ सूकरस्यायुः समं विभज्य भुक्तवन्तौ। वंशस्थं वृत्तम् ॥ ७६ ॥

शिव तथा अर्जुन द्वारा एक समयमें सूकरके शरीर पर छोड़े गये बाणने उसके प्राणोंको एक साथ बांट कर खा लिया, जैसे दो सहोदर भाई पैत्रिक धनको बांट कर उपभोगमें लाते हैं। दोनों बाण साथ लगे, और उनसे उस वाराहकी मृत्यु हो गई ॥ ७६ ॥

ततः कुपितोऽपि कुरुप्रवीरस्तपःशान्ततया नातिपरुषमेवमुवाच।

तत इति। तत एवं जाते वराहवधे कुपितोऽपि शिवेन कृताद्बाणप्रयोगादात्मनोऽपमानमिव विभाव्य जातमन्युरपि कुरुप्रवीरः अर्जुनः तपःशान्ततया चिरतपोऽनुष्ठानार्जितशमेन हेतुना नातिपरुषम् नातिकटुवचनम् एवम् वक्ष्यमाणदिशा उवाच। यद्ययं तपःपरो नास्थास्यत्तदेतोऽपि परुषमभ्यधास्यदित्याशयः ॥

वराहके मारे जाने पर शिव द्वारा किये गये बाणप्रहारसे कुपित अर्जुनने वक्ष्यमाण–प्रकारक अनतिकठोर (थोड़ा कम कडुवे) वचन कहे ॥

अस्मिन्ममावसथमापतिते मया प्रा-
ग्लक्षीकृते शबर! यत्प्रहृतं त्वया तत्।
शापस्य वाथ धनुषोऽसि वशे तथापि
सोढं ममाद्य तपसा च भुजोष्मणा च ॥ ७७ ॥

---

१. 'तदा'। २. 'क्षणम्'। ३. नातिपरुषमुवाच'। ४. 'वशः'। इति पा०।

अस्मिन्निति। हे शवर ! मम आवसथं निवासदेशम् आश्रमम् आपतिते आगते (किञ्च) मया प्राक् पूर्वं लक्ष्यीकृते शरव्यतां प्रापिते अस्मिन् वराहे यत् यस्मात् त्वया प्रहृतं बाणः प्रयुक्तः तत् तेनापराधेन मम शापस्य ब्राह्मबलस्य अथवा धनुषः क्षात्रपराक्रमस्य वशे अधिकारक्षेत्रे असि वर्त्तसे। मदावासदेशागतत्वेन मयैव प्राग्लक्ष्यीकृतत्वेनोत्पन्नमत्स्वत्वेऽत्र वराहे यत्त्वं प्रहृतवानसि तमिमं तवापराधं दण्डयितुं प्रभवति मम शापश्चापश्च, शापेन त्वां दग्धुं बाणेन त्वां व्यापादयितुं वाऽहमीशे—तथाऽपि अद्य मम तपसा भुजोष्मणा च बाहुबलेन सोढम् मर्षितं तवाग इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अजी शवर, हमारे आश्रममें आये हुए और मेरे द्वारा पहले ही लक्ष्य बनाये गये इस सूकर पर जो तुमने बाण चलाकर अपराध किया है, उस अपराधके कारण तुम हमारे चाप और शाप दोनों के वशमें हो, चाहूँ तो मैं तुमको शाप देकर भस्म कर दे सकता हूँ या बाणसे विद्ध कर सकता हूँ, फिरभी आज हमारे तप तथा बाहुबलने क्षमा कर दी है ॥ ७७ ॥

इति तस्य मुनेरन्तर्दर्परसपरीवाहवेणीमिव वाणीमाकर्ण्य क्षोणीधर-धन्वापि सस्मितं प्रत्यभाणीत्,—

इति तस्येति। इति उक्तस्वरूपाम् अन्तः हृदये दर्परसस्य गर्वस्य परीवाहः उपकुल्या तस्य वेणीं प्रवाहम् इव तस्य मुनेरर्जुनस्य वाणीं वाचम् आकर्ण्य क्षोणी-धरधन्वा त्रिपुरदाहे मेरुं चापभावेन प्रयोजितवान् पर्वतचापः शिवोऽपि सस्मितं समन्दहासं प्रत्यभाणीत् प्रत्युत्तरं ददौ। शिवस्य क्षोणीधरधनुष्ट्वमुक्तं यथा 'रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ, इत्यादि महिम्नः स्तोत्रे 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः ॥

उस मुनि अर्जुनकी उक्त प्रकार हृदयमें वर्त्तमान गर्वके स्रोतके प्रवाहके समान अन्तर्वर्ती गर्वको प्रकट करनेवाली वाणीको सुनकर क्षोणीधरधन्वा—पर्वतही जिसका धनुष हो—ऐसे शिवने मुस्कुराहटके साथ प्रत्युत्तर दिया ॥

मृदुबुद्धिरङ्ग ! वचसैव लक्ष्यसे मृगहिंसनं विपिनसीमनीदृशम् ।
शतशः स्वधर्म इति पठ्यते बुधैः शबरस्य वा वद तपोधनस्य वा ॥७८॥

मृदुबुद्धिरिति। अङ्ग हे मुने ! वचसा एव स्वोक्तवचनेनैव त्वं मृदुबुद्धिः लक्ष्यसे प्रतीयसे, वनसीमनि वनभुवि ईदृशं मृगहिंसनं मृगयाद्वारा मृगवधः स्वधर्म इति बुधैः पण्डितैः शतशः अनेकधा पठ्यते, सः स्वधर्मः शबरस्य किरातस्य स्वधर्मः अथवा तपोधनस्य स्वधर्मः इति वद कथय। मृगयया वनजन्तुवधो यः स्वधर्मतया बुधै-रुक्तः स किरातस्य मुनेर्वा स्वधर्म इति कथयेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

हे मुने ! आप मन्दबुद्धि हैं यह आपके वचनोंसे ही ज्ञात हो रहा है, आप यह तो

बताइये कि मृगयाद्वारा वनप्राणियोंकी हिंसाको विद्वानोंने जो धर्म बताया है वह किसका स्वधर्म है किरातोंका या मुनिजनोंका ? ॥ ७८ ॥

तत्स्वकुलाचारादप्रमाद्यते मह्यमयुक्तकारिणापि[1] त्वया कियद्दूरं प्रकाश्यते तपसीव[2] बाहावप्याहोपुरुषिका।

तदिति। तत् तस्मात् मृगहिंसायाः शबराणां कृते स्वधर्मत्वेनोक्तत्वात् स्वकुलाचारात् निजकुलधर्मतः अप्रमाद्यते अस्खलिताय स्वकुलोचितं धर्ममनुतिष्ठते मह्यम् मामुद्दिश्य—अयुक्तकारिणा मुनिजनगर्हितमृगवधप्रवृत्तेन त्वयाऽपि कियद्दूरं कियत्पर्यन्तम् तपसि तपोऽनुष्ठान इव बाहौ भुजवीर्येऽपि आहोपुरुषिकागर्वः प्रकाश्यते, अनुचिताचारिणस्तव धर्मादप्रमाद्यतो मम पुरः स्वतपसो निजभुजवीर्यस्य वा चर्चा नितान्तहास्येत्याशयः। 'आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात् संभावनात्मनि' इत्यमरः॥

अपने कुल-धर्मसे नहीं स्खलित होनेवाले मेरे सामने अनुचित आचरण करनेवाले होकर आप जो अपने तप तथा भुजबलके सम्बन्धमें आहोपुरुषिका—आत्मप्रशंसा—प्रकाशित कर रहे हैं वह कितना प्रकाशित करेंगे ? अर्थात् स्वधर्मच्युत होने के कारण आपकी यह स्वप्रशंसा स्वधर्म पर दृढ़ रहनेवाले मेरे सामने नहीं चल सकती है॥

संदृश्यते खलु तपस्तव शुद्धमेत-
द्यज्जन्तुहिंसनविधौ दृढबद्धकच्छम्।
आस्तामिदं भुजबलं च मृगात्ययेऽस्मि-
न्साहायकं यदुपजीवति मे शरस्य॥ ७९ ॥

सन्दृश्यत इति। एतत् तव मुनेः तपः तपोऽनुष्ठानं शुद्धं निर्दूषणं दृश्यते यत्तव-तपः जन्तुहिंसनविधौ प्राणिवधकर्मणि बद्धकच्छम् सन्नद्धं विद्यते, नेदं शुद्धं यतो जीवहिंसाकलङ्कितमित्यर्थः, एवं तपसोऽसारतामुक्त्वा भुजवीर्यमपि दूषयितुमाह—आस्तामिति। इदं च त्वया प्रशस्यमानम् भुजबलम् आस्ताम् एकतस्तिष्ठतु, (नात्र-किमपि सारमस्ति,) यत एतत् तव भुजबलम् अस्मिन् मृगात्यये वराहवधे मम शरस्य मया प्रयुक्तस्य बाणस्य साहायकं सहायतामुपजीवति अपेक्षते, यदि मया बाणो न प्रयुक्तः स्यात्तदा त्वदीयेन बाणेन केवलेनासौ वराहो नैव व्यापादितः स्यादित्युपहासो बोध्यः॥ ७९ ॥

आपका यह तप तो शुद्ध मालूम पड़ रहा है क्योंकि यह प्राणिवधमें तत्पर है, (अर्थात् आप जिस अपने तपकी डींग हांक रहे हैं वह तो प्राणिवधसे कलङ्कित है) और आप अपने भुजबलको रहने दीजिये वह तो इतना हीन है कि इसी वराह-वधके लिये

१. 'कारिणापि कियत्'। २. 'तपसि बाहा'। इति पा०।

हमारे बाणकी सहायताका अपेक्षी रहा। अर्थात् आपको जिस भुजवीर्यका इतना अभिमान है वह ऐसाही है कि यदि मैं बाण चलाकर सहायता न की होती तो केवल आपके बाण भरसे वह वराह मरता भी नहीं ॥ ७९ ॥

ईदृशीं वचनरीतिमपास्यन्नेहि सान्त्वय कियानसि मे त्वम् ।
अक्ष्णि किंचिदरुणिम्नि जगत्यामन्तकोऽपि मदतीव बिभीयात् ॥ ८० ॥

ईदृशीम् इति । ईदृशीम् एवंविधाम् 'शापस्य वाऽथ धनुषोऽसि वशे' इत्यादिरूपाम् वचनरीतिम् वाग्भङ्गीम् वचनक्रमम् अपास्यन् परिहरन् एहि आगच्छ मत्समीपम् , सान्त्वय अपराधक्षमापणादिना मामनुनय, त्वं मे मम पुरतः कियान् कियन्मात्रः असि अत्यल्पोऽसीत्यर्थः । (मम) अक्ष्णि नयने किञ्चिदरुणिम्नि मनाक् शोणायमाने सति जगत्यां लोके अन्तकः मृत्युरपि मत् मत्सकाशात् अतीव अत्यन्तं बिभीयात् भयं लभेत । ईषदरुणनेत्रस्य मम मृत्योरपि भयजनकत्वे लोकदृष्टे तव वृथा विकत्थना नोचितेति भावः। अत्र लोचनारुण्यमात्रेणान्तकत्रासरूपवाक्यार्थस्य सान्त्ववादकरणं प्रति हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ स्वागतावृत्तम् , लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ ६० ॥

'तुम हमारे शाप या चापके वशमें हो' इस तरह बोलनेकी रीति छोड़कर क्षमा-प्रार्थना आदिसे मुझे शान्त कर लो, तुम हमारे सामने होते ही कितने बड़े हो ? मेरी आँख अगर थोड़ी लाल हो जाय तो इस लोकमें मृत्यु भी मेरे भयसे थर-थर कांपने लगे। अतः तुम्हारा हित इसीमें है कि तुम साम-वचनोंसे मुझे मनाकर अपनी रक्षा कर लो ॥ ८० ॥

इति शंकरस्याहंकारवादेन[2] सातङ्कः कुरुकुलशशाङ्कः[3] पुनरपि कामपि[4] गिरमेवमङ्कुरयामास ।

इतीति । इति उक्तप्रकारेण शङ्करस्य किरातवेषधरस्य हरस्य अहङ्कारवादेन स्वसामर्थ्यख्यापकवचनेन सातङ्कः किमयं जगद्विलक्षणः स्यात् इति सवितर्कः मनसि किञ्चिदुत्पन्नभयो वा कुरुकुलशशाङ्कः कुरुवंशप्रकाशकत्वात्तत्र चन्द्रः अर्जुनः पुनरपि भूयोऽपि कामपि गिरं वाचम् एवं वक्ष्यमाणदिशा अङ्कुरयामास उवाच। शिववचनेन मनसि जातशङ्कोऽर्जुनः पुनरेवमभाषतेत्यर्थः, 'रुक्तापशङ्कास्वातङ्कः' इत्यमरः ॥

शबरवेषधारी शङ्करकी इस प्रकार अहङ्कार-पूर्ण बातें सुनकर—क्या बात है कि यह इतनी धृष्टता कर रहा है ? इसमें कोई विश्वविलक्षण तत्त्व तो नहीं है ? इत्यादि शङ्काओं से युक्त (भीत) अर्जुन—जो कुरुकुलकी ख्याति बढ़ाने वाला था, पुनः इस प्रकारसे कहने लगा।

---

१. 'ईदृशम्' । २. 'न्यक्कारवादेन' । ३. 'कुरुशशाङ्कः' । ४. 'गिरं कामपि । इति पा० ।

यस्माद्वनेचरकुलाधम ! जल्पसि त्व
मेवं मनः पुलकयन् स्वजनस्य दृप्तः।
तस्मादसंशयमुपान्तजुषः किरात्या-
स्ताटङ्कमेव सहसे न कपोलमित्रम् ॥ ८१ ॥

यस्मादिति। हे वनेचरकुलाधम, शबरकुलकलङ्क, दृप्तः गर्वशाली त्वं स्वजनस्य स्वकान्तायाः स्वानुचरवर्गस्य वा मनः पुलकयन् आपातरमणीयाभिर्मिथ्याशौर्य-प्रकाशिकाभिर्वाग्भिः प्रमदयन् एवं प्रोक्तप्रकारकं वचनं यस्माद् जल्पसि वदसि, तस्मात् उपान्तजुषः स्वपार्श्वस्थितायाः किरात्याः कपोलमित्रम् गण्डस्थलस्य शोभाजनकं ताटङ्कमेव केवलं कर्णभूषणम् न सहसे न मृष्यसे। त्वदीयं कठोरमीदृशं वचनं नान्यस्मै फलाय कल्पते केवलं तव मरणं मया सम्पाद्यमानमुपपाद्य वैधव्य-दानद्वारा तव स्त्रियाः कपोलस्थलं निस्ताटङ्कं सम्पादयेदित्याशयः। अनेन भाषणेन त्वं मम वध्यतां भजसे इति तात्पर्यम्, पर्यायोक्तं नामालङ्कारः॥ ८१ ॥

अरे शबरकुलकलङ्क, गर्वोद्धत होकर अपने परिजनोंके हृदयको पुलकित करने वाली यह बोली जो तूँ निकाल रहा है—'सान्त्वय' इत्यादि बातें जो मुझसे कह रहा है, उससे मालूम होता है कि तूँ इस समय तुम्हारे साथ रहने वाली अपनी इस पत्नी के गालों पर झूलनेवाले ताटङ्कको नहीं बरदाश्त कर रहा है, अर्थात् तूँ ऐसी बातें कह कहकर मुझे कुपित किये दे रहा है, इसका फल होगा तुम्हारा वध, अनन्तर यह तुम्हारी सहचरी विधवा हो जायगी, वैधव्यके कारण यह ताटङ्क नहीं रख सकेगी, फलतः इस तुम्हारे कटु भाषणका यही परिणाम होगा कि तुम अपनी स्त्रीके कपोल पर लटकने वाले इन ताटङ्कोंको उतरवाकर रहोगे॥ ८१ ॥

तादृग्वचः श्रवणदाहि मुनेर्निशम्य-
सर्वे गणा हृदि रुषा निजिघांसवोऽपि।
देव्या विलोक्य वदनं स्मितगर्भगण्डं
तूणार्धकृष्टविशिखेन करेण तस्थुः ॥ ८२ ॥

तादृगिति। सर्वे गणाः शबरवेषधरहरानुगाः प्रमथाः तादृक् उक्तप्रकारम् श्रवण-दाहि अतिकटुतया कर्णसन्तापकरं मुनेः तपस्विनोऽर्जुनस्य वचः वचनं निशम्य श्रुत्वा हृदि स्वचित्ते रुषा अर्जुनोपरि कोपेन निजिघांसवः निहन्तुमिच्छवः धृतार्जुन-वधकामा अपि सन्तः देव्याः पार्वत्याः स्मितं गर्भे यस्य तत्तथा गण्डं वदनं मुखं विलोक्य पार्वत्या मुखं स्मेरं विलोक्य तूणात् तूणीरात् अर्धं कृष्टः बहिर्भावितः शरो बाणो येन तादृशेन निषङ्गोद्धृतशरार्धभागेन करेण (उपलक्षिताः) तस्थुः स्थिताः। अर्जुनस्य तथा कठोरं वचनं निशम्य तद्वधेच्छया निषङ्गतः शरार्धमुद्धृत्यापि

गणाः पार्वत्याः स्मयमानकपोलं मुखं वीक्ष्य तदीये मनसि रोषाभावं ज्ञात्वा हन्तव्यो न वाऽयमिति तदाज्ञां प्रतीक्षमाणा इव स्थिता इति भावः। अत्र पुत्रवत्सलदेवी-स्मेराननावलोकनस्य विशेषणविधया गणैर्बाणमोक्षनिवृत्तिं प्रति हेतुत्वात् काव्य-लिङ्गमलङ्कारः ॥ ८२ ॥

उस प्रकारके अर्जुन मुनिके वचन—जो अतिकटु होनेके कारण कानोंको जलाते थे, सुनकर शिवके पीछे चलने वाले प्रमथोंने मनमें इच्छाकी कि इसे मार गिराया जाय, यह अब बड़ी धृष्टता कर रहा है, इसका वध कर देना चाहिये, तदनुसार उन लोगोंने तरकससे बाणोंका आधा भाग खींचकर हाथमें भी कर लिया, परन्तु जब उन लोगोंने देखा कि पार्वतीके कपोलों पर मुस्कुराहट खेल रही हैं, तब उनके हृदयोंमें सन्देह हो गया कि क्या बात है कि देवी मुस्कुरा रही हैं, क्या यह मारने योग्य है या अवध्य है ? इसी चिन्तामें वे लोग पार्वतीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहे, बाणोंको उसी तरह अर्धकृष्ट रूपमें हाथमें लिये रहे, चलाया नहीं ॥ ८२ ॥

अथ भिल्लमल्लकुरुवल्लभावुभौ परिफुल्लभल्लकुलशल्यपल्लवैः ।
स्थगितावलोकसरणिं दिवौकसां समरं भयंकरजवं वितेनतुः ॥ ८३ ॥

अथ भिल्लेति । अथ भिल्लमल्लः किरातमुख्यः शिवः, कुरुवल्लभः अर्जुनश्चोभौ परि-फुल्लैः विकासभाग्भिः प्रकाशशालिभिः–भल्लकुलानाम् बाणभेदानां शल्यानि अग्र-भागा एव पल्लवानि तैः दिवौकसां देवानां स्थगितावलोकसरणिम् आच्छादितदृष्टि-पथं भयङ्करजवं भीषणवेगप्रवृत्तं समरं युद्धं वितेनतुः चक्रतुः । अथ शिवार्जुनौ भल्ल-बाणान् दिवि वितत्य देवानां युद्धदर्शनप्रवृत्तानि नयनानि विफलयन्तौ वेगेन युयु-धाते इत्याशयः । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ॥ ८३ ॥

इसके बाद शबर–मुख्य शङ्कर तथा कुरुवल्लभ अर्जुन, दोनो अतिवेगसे युद्ध करने लगे, उन दोनोने अति प्रकाशशाली भल्ल नामक स्थूल बाणोंके अग्रभाग रूप पल्लवोंसे आकाशचारी देवोंके देखनेके मार्गको आवृत कर दिया—आकाशको ढक दिया ॥ ८३ ॥

श्लथसन्धिगरुद्भिरेष[1] बाणैः श्रवणालम्बिजपाक्षसूत्रघर्षात् ।
प्रमथेशमवाकिरत्स[2] दिव्यं प्रतिमालिङ्गमिव प्रसूनपुञ्जैः ॥ ८४ ॥

श्लथबन्धेति । स एषः अर्जुनः श्रवणालम्बिनां कर्णस्थितानां जपाक्षसूत्राणाम् जपसाधनरुद्राक्षमालानाम् घर्षात् घर्षणात् श्लथाः शिथिलतां गताः सन्धयः येषां तथाभूताः गरुतः पत्राणि येषां तैः तथाविधैः (तपोनिरतस्यार्जुनस्य करस्थिता अक्षमाला युद्धकाले तत्कर्णयोर्लम्बन्ते, ताभिर्घृष्टानां तत्स्कन्धस्थिततूणीरवर्त्तिनां बाणानां सन्धिपत्राणि शिथिलितानि, तादृशैर्बाणैरित्यर्थः) प्रमथेशम् शिवम् अवा-

१. 'बन्ध' । २. 'तदीयम्' । इति पा० ।

ऽकरत् आच्छादितवान् , इव यथा स दिव्यम् अत्याश्चर्यकरं प्रतिमालिङ्गं पूजोपयुक्तं शिवविग्रहं प्रसूनपुञ्जैः पुष्पराशिभिरवकिरति ॥ ८४ ॥

कानमें लटकने वाले जपमालाके घर्षणसे ढीला पड़ गया है सन्धि जिसका—ऐसे पत्रों वाले बाणोंसे अर्जुनने महादेवको ढक दिया, जैसे वह उनके दिव्य प्रतिमालिङ्गको पूजाके समयमें रोज ढक दिया करता था ॥ ८४ ॥

सरुषीव हरे विकृष्टचापे सशरं[1] शैलसुतापि जातशङ्का ।
मघवत्सुतमङ्गलाय देवी मनसा यातइषु[2]श्रुतिं जजाप ॥ ८५ ॥

सरुषीवेति । हरे शबरवेषधारिणि शिवे सरुषि कृतककोपधारिणि इव सशरं बाणेन सह विकृष्टचापे आस्फालितधनुषि सति जातशङ्का किमत्याहितमुपस्थापयेदिति भीता सती देवी शैलसुता पार्वत्यपि मघवत्सुतमङ्गलाय अर्जुनस्य कल्याणं सम्पादयितुं मनसा स्वहृदयेन 'यात इषुः' इति श्रुतिं मन्त्रं जजाप आवर्त्तयामास, महादेवे धनुषा सह चापमास्पृशति सति भीता पार्वत्यपि पार्थस्य मङ्गलाय 'यात इषुः' इति मङ्गलजनकं मन्त्रमावर्त्तयितुमारेभे इत्यर्थः। 'यात इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः । शिवा शरव्या या तव तया नो रुद्र मृडय' इति मन्त्रस्वरूपम् , अर्थस्तु—हे रुद्र, ते तव या इषुः बाणः शिवतमा अतिशयशुभप्रदा, यत् ते धनुः शिवं बभूव, या तव शरव्या लक्ष्यम् शिवा मङ्गलं बभूव, तया इष्वा तेन धनुषा तथा शरव्यया नोऽस्मान् मृडय सुखय' इति ॥ ८५ ॥

कृत्रिम कोपका अभिनय करके जब महादेवने बाणके साथ धनुष उठाकर उसे खींचा तब देवी पार्वती मनमें डर गईं कि क्या! महादेव प्रहार कर देंगे, तब तो ठीक नहीं होगा, इस प्रकार डरकर अर्जुनकी मङ्गल-कामनासे पार्वतीने अपने मनमें 'यात इषुः' इत्यादि मन्त्र जपना प्रारम्भ कर दिया ॥ ८५ ॥

ससंभ्रमाकृष्टधनुर्गुणोऽपि शंभुः कृपाम्भोनिधिरिन्द्रसूनौ[3] ।
संबद्धमात्रान्कतिचिच्च देहे चक्रेऽपराद्धान्कतिचिच्च बाणान् ॥ ८६ ॥

ससंभ्रमेति । कृपाम्भोनिधिः दयासागरः शम्भुः ससम्भ्रमं सत्वरं यथा स्यात्तथा आकृष्टधनुर्गुणः कर्णान्ताकृष्टचापजीवः सन्नपि इन्द्रसूनोः अर्जुनस्य देहे कतिचित् बाणान् सम्बद्धमात्रान् केवलं स्पृष्टान् कतिचिच्च अपराद्धान् लक्ष्यात् च्युतान् स्खलितान् अकार्षीत् । यद्यपि शिवो धनुराचकर्ष, परमर्जुने दयां कृत्वा काँश्चित् बाणान् केवलमर्जुनदेहस्पृशः कतिचिच्च बाणान् लक्ष्यमर्जुनदेहं विसृज्यान्यत्र गतानकार्षीदित्यर्थः। दयापरतया युद्धस्याभिनयमिव चकार नतु वस्तुतः प्रजहारेत्याशयः ॥

दयाके सागर महादेवने यद्यपि धनुषको आकृष्ट कर लिया, उसपर बाण भी चढ़ाया, परन्तु इन्द्रपुत्र अर्जुनके ऊपर दया होनेके कारण कुछ बाणोंको अर्जुनके शरीरसे छुला

१. 'सहसा'। २. 'इषुः'। ३. 'सूनोः'। इति पा०।

भर दिया (चोट नहीं लगने दी) और कुछ बाणों को तो लक्ष्यच्युत ही बना दिया, अर्जुनके शरीर तक पहुँचने भी नहीं दिया ॥ ८६ ॥

विगाह्य शंभुं विजयस्य बाणाः पुनः पदत्वं पुपुषुर्न दृष्ट्योः।
नरादुदारादभिगम्य लुब्धं न मार्गणा यान्ति खलु प्रकाशम् ॥ ८७ ॥

विगाह्येति। विजयस्य अर्जुनस्य बाणाः शराः शम्भुं विगाह्य शिवं प्राप्य पुनः दृष्ट्योः नयनयोः पदत्वं विषयत्वं न पुपुषुः न प्रापुः, अर्जुनेन शिवमुद्दिश्य प्रहितास्तदङ्गेषु प्रविष्टा इव पुनर्दृश्यता नाजायन्तेति भावः। तत्रार्थान्तरन्यासमाह–नरादिति। मार्गणाः याचकाः बाणाश्च उदारात् महतो दातुश्च नरात् मनुष्यात् अर्जुनाच्च लुब्धं कृपणं जनं किरातं च प्राप्य प्रकाशं लोचनगोचरत्वं न यान्ति न पुनर्दृश्यन्ते खलु। यथा याचकाः प्रागुदारं पुरुषं प्रपद्य पश्चात्कृपणं गत्वा पुनः कृपणद्वारं नोपसर्पन्ति तत्र न दृश्यन्ते, तथैव प्राग् नरमर्जुनं प्राप्य पश्चात् लुब्धं शबरं शिवं गता बाणा नादृश्यन्त। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ८७ ॥

अर्जुन द्वारा शिवको लक्ष्य करके छोड़े गये बाण महादेवको प्राप्त करनेके बाद फिर कभी आंखोंके गोचरत्वको नहीं प्राप्त कर सके, अर्थात् शिवके पास पहुंच कर लुप्त होते गये, फिर दीखते नहीं थे, जैसे मार्गण–याचक (बाण) उदार महान् दाता नर अर्जुनसे छूटकर लुब्ध लोभी कृपण (शबर) के पास जाकर फिर प्रकाशमें नहीं आता है। एक याचक यदि उदारके पास आये, और बादमें उसे लुब्धसे पाला पड़े तो वह अपनी याचकताको नहीं प्रकाशित करता है ॥ ८७ ॥

निःस्वे निषङ्गयुगले नितराममर्षी
चापेन मूर्ध्नि गिरिशं पुर एव देव्याः।
पार्ष्णिप्रमुक्तधरणिः प्रजहार वेगा-
त्कुर्वन्व्रणं स कुटिलं शशिखण्डमित्रम् ॥ ८८ ॥

निःस्वे इति। निषङ्गयुगले तूणीरद्वये अपि निःस्वे दरिद्रे बाणरूपसम्पदारहिते सति नितराम् अमर्षी अतिकुपितः सोऽर्जुनः पार्ष्णिभ्यां गुल्फाधोभागाभ्यां प्रमुक्ता त्यक्ता धरणिः पृथ्वी येन तथोक्तः पादपश्चाद्भुवं हित्वाऽङ्गुष्ठमात्रेण धरणिमाश्रयन् शशिखण्डमित्रं चन्द्रकलासदृशं वक्रं कुटिलं व्रणम् आहतिक्षतं कुर्वन् करिष्यन् वेगात् वेगमाश्रित्य देव्याः पुरः एव पार्वतीसमक्षम् एव गिरिशं शिवं मूर्ध्नि शिरोदेशे चापेन धनुर्दण्डेन प्रजहार आघातं कृतवान्, यदाऽर्जुनस्य तूणीरयोर्बाणाः सर्वे समाप्तास्तदा बाणाभावात्प्रहर्त्तुमशक्त्याऽतिकुपितोऽसावर्जुनः शिवस्य शिरसि प्रजिहीर्षया धरणिं पादाङ्गुष्ठमात्रेण स्पृशन् सन् पार्वत्यां पश्यन्त्यामेव मस्तके चापेन प्रहृतवान् येन प्रहारेण चन्द्रशकलमिव क्षतमजायतेति भावः ॥ ८८ ॥

---

१. 'पुनः'। २. 'कुपितः'। इति पा०।

जब अर्जुनने देखा कि उसके दोनों तरकस बाणसे खाली हो रहे हैं, तब उसे बड़ा क्रोध हुआ, उसने केवल अङ्गुष्ठ मात्रही पृथ्वी पर रखा और पैरका पिछला भाग पृथ्वीसे उठा लिया, (जिससे ऊंचे महादेवके शिर पर प्रहार कर सके) पार्वतीके सामने ही उसने वेगसे महादेवके मस्तक पर अपने चापका प्रहार किया, जिस प्रहारसे महादेवके मस्तक पर चन्द्रकलाके समान एक तिरछा घाव (व्रण-क्षत) हो जाय ॥ ८८ ॥

धनुषाभिहतात्समुत्थितैर्धरकन्यारमणस्य मस्तकात् ।
विपुलैरिव रक्तशीकरैर्विनिपेते मणिभिः फणाभृताम् ॥ ८९ ॥

धनुषेति । धनुषा अर्जुनचापेन अभिहतात् ताडितात् धरकन्या पार्वती तद्रमणस्य शिवस्य मस्तकात् समुत्थितैः चलितैः फणाभृताम् सर्पाणां मणिभिः विपुलैः दीर्घैः रक्तशीकरैः इव विनिपेते पतितम् । अर्जुनचापाहतात् महादेवमस्तकात् तच्छिरोभूषणपन्नगानां मणयः पतन्तः सन्तः आहताच्छिवस्य शिरसः पतन्तो रुधिरबिन्दव इव प्रतीयन्ते स्म । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ८९ ॥

अर्जुनके चापसे आहत शिवके शिर परसे उड़कर गिरते हुए सर्पफणामणि ऐसे लगते थे, मानो उनके शिरमें चोट लगनेसे बड़ी बड़ी रक्तबिन्दुएं गिर रहीं हों ॥ ८९ ॥

देवस्य तस्य जगतां जनकस्य चित्ते
पार्थप्रहारजनुषः प्रमदाम्बुराशेः ।
भूषाधुनीतटभुवि द्विपवक्त्रबाल्य-
वप्रक्रियाभिरुदितः प्रमदः कणोऽभूत् ॥ ९० ॥

देवस्येति । जगतां समस्तलोकानां जनकस्य तस्य देवस्य हरस्य चित्ते पार्थप्रहारजनुषा पार्थकृतताडनजन्मनः प्रमदाम्बुराशेः आनन्दसागरस्य (पुरतः) भूषाधुनी अलङ्कारभूता गङ्गानदी तस्यास्तटभुवि तीरे द्विपवक्त्रस्य गजाननस्य बाल्ये शिशुत्वे वप्रक्रियाभिः तिर्यग्दन्तप्रहारैः उदितः उत्पन्नः प्रमदः हर्षः कणः बिन्दुः अभूत् । अर्जुनकृतताडनजन्मनः प्रमदाम्बुराशेः पुरतो मस्तकभूषणीभूतगङ्गातटे बाल्ये वप्रक्रीडामभ्यस्यतो गजाननस्य दन्तप्रहारेण जनितः प्रमदः कणतुल्यो मतः, सागरबिन्द्वोर्यावन्मात्रातारतम्यं तावदेवार्जुनकृतप्रहारजन्यानन्दवप्रक्रीडापरगणेशकृतदन्तप्रहारजन्यानन्दयोर्मात्रातारतम्यं शिवो मतवान्, इति । 'उत्खातकेलिर्दन्ताद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति विश्वः ॥ ९० ॥

समस्त जगत्के पिता महादेवके चित्तमें अर्जुन द्वारा किये गये प्रहारसे उत्पन्न आनन्द सागरके आगेमें शिरोभूषणीभूत गङ्गा नदीके तट पर लड़कपनमें गजानन द्वारा किये गये खेलमें दन्त-प्रहारसे उत्पन्न हर्ष एक बूंद समझा गया । शिवजीने पार्थ-प्रहार-

१. 'नदी' । इति पा० ।

जन्य हर्ष-समुद्रको आगे अपने पुत्र गजाननकी बालक्रीड़ासंबन्धी प्रहारसे उत्पन्न हर्ष विन्दुतुल्य—अतिस्वल्प समझा ॥ ९० ॥

स[1] गाण्डीवदण्डोऽपि खाण्डवे तक्षकवधूवधसाधनतया चिरमयमस्मत्कुलविरोधीति क्रोधनैस्त[2]स्य जटावनकुटुम्बिभिः कुण्डलिभिर्भक्षित इव तत्क्षणं नालक्ष्यत ।

ततोऽयं दैवविपर्ययः किमु[3]तामुष्य माया किमिति चिन्तापरतन्त्रेणापि धैर्यदत्तहस्तोत्साहेन 'तिष्ठ तिष्ठ[4] जडात्मन् ! एवमर्जुनं[5] निर्जित्य यशोऽर्जितुमिच्छसि ?' इति कृततर्जनेन सितवाहनेन वृ[6]षवाहनं प्रति नियोद्धुमारेभे ।

स गाण्डीवेति । सः येनार्जुनः शिवशिरसि प्राहरत्सः गाण्डीवदण्डः गाण्डीवाख्यधनुर्दण्डः अपि खाण्डवे तदाख्यवनदाहे तक्षकवध्वाः तक्षकगृहिण्याः वधस्य साधनतया करणत्वेन चिरं बहुकालमयम् धनुर्दण्डः अस्मत्कुलस्य सर्पवंशस्य विरोधी इति—यतोऽयं खाण्डवेऽस्मत्सगोत्रां तक्षकगृहिणीमवधीदतोऽयं मद्रिपुः—इति हेतोः क्रोधनैः कृतकोपैः तस्य शिवस्य जटावनकुटुम्बिभिः जटावने निवसद्भिः कुण्डलिभिः सर्पैः भक्षित इव तत्क्षणं तत्र काले नालक्ष्यत अदृश्यतां गतः । शिवमाहात्म्याद् गाण्डीवदण्डोऽप्यदृश्यो जातस्तदा ज्ञायते स्म यदसौ शिवजटावासिभिः सर्पैर्भुज्यते स्म यतस्ते तक्षकवधूं खाण्डवे खण्डितवतेऽस्मै गाण्डीवाय कुप्यन्ति-स्मेति भावः ॥

ततः शबरशरीरे गाण्डीवलयानन्तरम् अयं शबरवपुषि गाण्डीवलयः मम दैवस्य भाग्यस्य विपर्ययः प्रतिकूलभावः किम् ? अथवा अमुष्य युध्यमानस्य शबरस्य माया इन्द्रजालम् किम् ? इति चिन्तापरतन्त्रेण एतादृशचिन्ताचुम्बितहृदयेनापि धैर्यदत्तहस्तोत्साहेन गाम्भीर्यसमेधितरणोद्यमेन—तिष्ठ तिष्ठ जडात्मन् मूर्ख एवं प्रकारेणैतेन अर्जुनं निर्जित्य पराजित्य यशोऽर्जितुम् कीर्त्तिं प्राप्तुमिच्छसि ? एवमेवार्जुनवञ्चनया यशस्वी भवितुं कामयसे ? नेदं सम्भवति, इति एवं कृततर्जनेन शबरं भर्त्सयता तेन सितवाहनेन श्वेताश्वेनार्जुनेन वृषवाहनं शिवं प्रति तेन सह नियोद्धुं युद्धं कर्त्तुम् आरेभे प्रवृत्तम् ॥

उसी समय अर्जुनका गाण्डीव दण्ड भी उस किरातकी देहमें लीन हो गया, ऐसा मालूम हुआ—मानों खाण्डव वनमें तक्षककी स्त्रीके वधमें हेतु बननेके कारण यह गाण्डीव सर्पकुलका चिरविरोधी है अतः शिवकी जटाओंमें वास करनेवाले सांपोंने गाण्डीवको खा लिया हो ।

---

१. 'तत्र स' । २. 'तस्यैव देवस्य' । ३. 'किममुष्य' । ४. 'तिष्ठ' । ५. 'अर्जुनमेवम्' । ६. 'वृषभवाहनम्' । इति पा० ।

उस समय—क्या यह हमारे भाग्यकी प्रतिकूलता है? या यह इस शबरकी माया-इन्द्रजाल है? इस तरह चिन्तामें पड़े हुए—फिरभी गंभीरतासे समेधित-युद्धोत्साह अर्जुनने—ठहरो ठहरो, अरे मूर्ख शबर, क्या इसी तरह अर्जुनको हराकरके तूं? कीर्त्ति उपार्जित करना चाहता है? इस तरह महादेवको ललकार कर उनके साथ फिरसे लड़ना प्रारम्भ कर दिया ॥

परुषे मुनिमुष्टिताडने पतिते लुब्धकवामवक्षसि ।
शिथिला जगलुः किरातिकायाः सितगुञ्जामणिहारयष्टयः ॥ ९१ ॥

परुष इति । परुषे कठिने मुनिमुष्टिताडने अर्जुनकृतमुष्टिप्रहारे लुब्धकवामवक्षसि शबरस्य सव्ये भागे वक्षसि पतिते सति किरातिकायाः शबर्याः सितगुञ्जामणिहारयष्टयः शुभ्रैर्गुञ्जामणिभी रचिताः स्रजः शिथिलाः श्लथबन्धनाः सत्यो जगलुः पतन्ति स्म । अर्जुनेन शबरं प्रहरता कृते मुष्टिपाते दैवयोगाच्छबरस्य वामोरसि पतिते सति (शिवस्यार्धनारीश्वरत्वेन तद्वामभागस्य पार्वतीरूपतया) तत्सहचर्याः किरातिकायाः शुभ्रगुञ्जाराशिनिर्मिताः स्रजः शिथिलबन्धाः सत्यो गलिता भवन्तिस्मेति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ९१ ॥

अर्जुन मुनि द्वारा किये गये कठोर मुष्टिप्रहारके दैववश किरातके बाई छातीपर लग जानेसे उसके साथ चलने वाली किरातीके गलेमें लटकती हुई उजली गुञ्जामणि निर्मित माला शिथिल-बन्धन होकर जमीनपर बिखर गई। इसका तात्पर्य यह है कि किरातवेष शिव अर्धनारीश्वर हैं उनका बाँया हिस्सा पार्वती है, बाँये हिस्से पर प्रहार लगनेसे पार्वतीकी माला ढीली पड़कर जमीनपर गिर गई ॥ ९१ ॥

उपवासकृशे भृशं मुनेरुरसि स्वीकृतमुष्टिमार्दवः ।
प्रजहार हरोऽपि पीडनात्परिहर्तुं स्वमिवास्य हृद्गतम् ॥ ९२ ॥

उपवासेति । हरः शिवः अपि भृशम् अत्यर्थम् उपवासेन अनाहारेण कृशे दुर्बलतामापन्ने मुनेः अर्जुनस्य उरसि वक्षोदेशे—अस्य अर्जुनस्य हृद्गतं हृदये वर्त्तमानं स्वं निजं शिवम् पीडनात् आघातात् परिहर्त्तुं रक्षितुम् इव स्वीकृतमुष्टिमार्दवः अङ्गीकृतमुष्टिशैथिल्यः सन् प्रजहार आजघान । हरोऽपि शिथिलया मुष्ट्याऽर्जुनस्य वक्षसि प्रहृतवान् । मन्ये शिवोऽर्जुनस्य चित्ते वसन्तमात्मानं प्रहाराद्रक्षितुमिवासौ शिथिलमुष्टिरभूदिति । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९२ ॥

महादेवने भी मुष्टिप्रहार किया—परन्तु उन्होंने देखा कि हमारा प्रतियोद्धा अर्जुन चिरकालतक उपवास करनेके कारण बहुत दुबला हो गया है अतः उन्होंने अपनी मुट्ठीको मृदुल-ढीली करके प्रहार किया, उनका यह मुष्टिमार्दव-विधान ऐसा लगा मानों वह

---

१. 'ताडनात्' । इति पा० ।

अर्जुनके भक्तिपूर्ण हृदयमें आराध्य देवके रूपमें अवस्थित अपने (शिव) को प्रहारसे बचाये रखना चाह रहे हों॥ ९२॥

इति परस्परमुष्टिप्रहारवृष्टिपरिमुष्टवनकुसुमपरागभस्माङ्गरागौ सरभसमेकेन बाहुना जटासु गृहीत्वाऽपरेण बाहुना वलयितगलनालौ तौ शबरतपोधनौ यदा महत्यामधित्यकायामापततां तदा झटिति घटितद्वारदरीगर्भनिरुद्धसिद्धमिथुननिबद्धहाहाकारस्तीरवनदूरोत्सर्पिवीचिवेगोत्पाटिताकृष्टमुनिजनपर्णशालासहस्रसुरस्रवन्तीपूरो दर्वीकरविभुकंधराखर्वीकरणपटुभारोऽयमुर्वीधरपतिरासीत्।

इति परस्परेति। इति एवं प्रकारेण परस्परमुष्टिप्रहारवृष्टिभिः अनवरतान्योन्यकृतमुष्टिपातनवर्षणैः परिमृष्टः दूरीकृतः वनकुसुमपरागः काननोद्भवपुष्परजोलेपः (शिवस्य) भस्माङ्गरागः विभूतिलेपश्च (अर्जुनस्य) ययोस्तौ तथोक्तौ, सरभसम् वेगेन एकेन बाहुना भुजेन जटासु गृहीत्वा जटामादाय अपरेण द्वितीयेन बाहुना भुजेन वलयितगलनालौ पाशेनेवान्योन्यस्य कण्ठमावेष्टयन्तौ तौ शबरतपोधनौ किरातवेषः शिवो मुनिरर्जुनश्च यदा यस्मिन् काले महत्याम् विस्तृतायाम् अधित्यकायाम् पर्वतोर्ध्वभूमौ आपततां पततः स्म, तदा तस्मिन् काले तयोः पातेन अयं हिमवान् नाम उर्वीधरपतिः पर्वतराजः झटिति सत्वरं घटितं पिहितं द्वारं यासां तासां दरीणां गुहानां गर्भेषु अभ्यन्तरभागेषु निरुद्धाः वन्दीभूता ये सिद्धमिथुनाः देवयोनिविशेषद्वन्द्वानि तैर्निबद्धः कृतः हाहाकारो हाहाध्वनिर्यत्र तादृशः, तीरवनेषु तटवर्त्तिकाननेषु दूरोत्सर्पिणीभिः वीचिभिस्तरङ्गैः वेगेन त्वरया उत्पाटितानि विरूढानि आकृष्टानि स्वसविधमानीतानि च मुनिजनानां पर्णशालासहस्राणि येन तथाभूतः सुरस्रवन्तीपूरो गङ्गाप्रवाहो यत्र तथाभूतः, दर्वीकराणां सर्पाणां विभोर्नायकस्य शेषनागस्य कन्धरायाः ग्रीवायाः खर्वीकरणे नमने भाराधिक्यवशादधः प्रापणेः पटुः समर्थो भारो यस्य तादृशश्चासीत्। अयमाशयः—अर्जुनः शिवश्च मुष्टियुद्धे मुष्टिपातपरम्परया द्वयोरपि शरीरे वर्त्तमानं काननपुष्परजो विभूतिलेपं च परिमृष्टवान् वेगेन एकेन बाहुना जटामादाय परेण कण्ठं वेष्टयित्वा च यदा तौ किरातार्जुनौ हिमालयोर्ध्वभूमौ पतितौ तदा तयोर्भारेणातिचलितस्य हिमालयस्य दरीणां द्वाराणि सद्य एव व्यधीयन्त, तत्र वन्दीभूताश्च सिद्धमिथुना हाहाकारमारभन्त, गङ्गायाः प्रवाहश्चोच्छ्रलितः सन् तटवर्त्तिषु वनेषु गताभिर्वीचिभिर्मुनिजनानां बहूनि पर्णसदनानि समुत्पाट्याकृष्य च स्वस्मिन्निलीनान्यकृत, शेषनागस्य कन्धरा भाराधिक्येन नताऽजायतेति॥

---

१. 'बाहुना'। २. 'कण्ठनालौ'। ३. 'सिद्धमुनि'। ४. 'निबद्ध'। ५. 'तीरवण'। ६. 'वीचि'। ७. 'पटुतरभारो'। इति पा०।

इस प्रकार जब अर्जुन और शिव अन्योन्यके ऊपर मुष्टिप्रहारकी वृष्टि करने लगे तब उन मुष्टिवृष्टियोंसे महादेवके शरीर पर लगा वनकुसुमरज लुप्त हो गया और अर्जुनकी देह पर का विभूतिलेप पुंछ गया, उन दोनोंने एक-एक हाथसे परस्परकी जटा पकड़ ली, एक हाथसे गला वेष्टित कर लिया, इस प्रकार एक दूसरेसे उलझकर जब किरात और अर्जुन उस विस्तृत पर्वतकी ऊर्ध्वभूमिमें आकर गिरे, उस समय वह हिमालय-- शीघ्रतासे बन्द होनेवाले दरवाजों वाली गुहाओंमें वन्दीभूत सिद्ध-मिथुन जहाँ हाहाकार कर रहे हैं, जहाँ पर गङ्गा-प्रवाहने उछलकर दूर तक फैलनेवाली अपनी तरङ्गोंसे मुनिजनोंकी हजारों पर्णशालाओंको उखाड़कर अपनी ओर खींच लिया है, और जिसके भारसे सर्पराजके फणगण अवनत हुए जा रहे हैं—ऐसा हो गया ॥

अवाङ्मुखत्वेन निपात्य शंभुना समुज्झितोऽयं ददृशे विमोहितः ।
तवाद्य जामातरि मे दशामिमां निवेदयेत्यद्रिमिव ब्रुवन्रहः ॥ ९३ ॥

अवाङ्मुखत्वेनेति । शम्भुना किरातवेषेण शिवेन कर्त्रा अवाङ्मुखत्वेन अधोमुखीकृत्य निपात्य भूमौ पातयित्वा समुज्झितः त्यक्तः विमोहितः मूर्च्छितश्चायम् अर्जुनः—हे हिमालयाद्रे, तव जामातरि कन्यापतौ शिवे मम इमां मूर्च्छारूपां दशाम् निवेदय ज्ञापय इति उक्तप्रकारेण आर्द्रं हिमगिरिं प्रति रहः एकान्ते ब्रुवन् कथयन्निव ददृशे दृष्टः अवाङ्मुखीकृत्य किरातवेषेण हरेण पातितं तेन समुज्झितं मूर्च्छितं चार्जुनं दृष्ट्वा लोका मेनिरे यदयमर्जुनो हिमवन्तमनुरुणद्धि यन्महादेवमाख्याहि ममेमां मरणकल्पां दशाम् इति ॥ ९३ ॥

किरात-वेषधारी शिवने जब अर्जुनको नीचे मुखकर जमीन पर गिराकर छोड़ दिया तब वह मूर्च्छित होकर वहीं पड़ा रहा, देखनेवाले समझते थे कि अर्जुन मूर्च्छित नहीं है, वह लोगोंसे छिपाकर हिमालयसे कह रहा है कि हे पर्वतराज, कृपा करके आप अपने जामाता शिवसे हमारी यह मरणान्तिक दशा सूचित कर दें ॥ ९३ ॥

पार्थस्य तस्य भुजयोः परमेश्वरोऽसौ
वीर्यं विलोक्य युधि विस्मयमानचेताः ।
चापव्रणे सुरनदीकणसेकशङ्का-
मप्युत्सृजन् मुहुरकम्पयदुत्तमाङ्गम् ॥ ९४ ॥

पार्थस्येति । असौ परमेश्वरः किरातवेषः शिवः युधि युद्धे तस्य पार्थस्य भुजयोः बाह्वोः वीर्यं सामर्थ्यम् विलोक्य दृष्ट्वा विस्मयमानचेताः चकितहृदयः सन् चापव्रणे अर्जुनकृतचापप्रहारसंजातमस्तकक्षते सुरनदीकणसेकशङ्काम् तस्मिन् सद्यः क्षते गङ्गाजलबिन्दुसेकेन अधिका व्यथा भविष्यतीति भयम् अपि उत्सृजन् परिहरन् सन् मुहुः भूयोभूयः उत्तमाङ्गं स्वं शिरः अकम्पयत् चालितवान् । युद्धेऽर्जुनबाहुबलमवलोक्य चकितः शिवः शिरःकम्पे गङ्गाजलकणपाते क्षते व्यथाऽधिक्यं

स्यादित्यप्यगणयन् शिरश्चालनेन पार्थस्य वीर्यं धैर्यं च श्लाघितवानिति भावः ॥९४॥

परमेश्वरने युद्धमें जो अर्जुनका बाहुवीर्य देखा तो उनका हृदय अचरजसे भर गया, उनको यह शङ्का भी नहीं रोक सकी कि–शिर हिलाने पर गङ्गा–जलकण गिरेंगे, और उनके संसर्गसे अर्जुन द्वारा किये गये चाप–प्रहारके घावमें वेदना बढ़ जायगी—उन्होंने बार बार शिर हिलाकर अर्जुनके वीर्य तथा धैर्यकी बड़ी तारीफ की ॥ ९४ ॥

तथाविध एवासौ चिरादा[1]चरितचेतनास्वागताचारः शनै[2]रुत्थाय पुरतो घ[3]ण्टाघणघणात्कारसहचरेण कण्ठगर्जितेन कर्णयोः क[4]ल्पितसुधारसमोद्वे महोद्वे निषेदिवांसम्, भुजमूलप्रसारितगिरिजापाणि[5]युगलनखराङ्कुरधोरणीद्विगुणीकृतहारमणिरमणीयवक्षसम्, पारिषदगणाञ्जलिकमलवनमध्यराजहंसायमानम्, मार्दवभरितशार्दूलचर्मनिर्मितप[6]ल्ययनपर्यङ्कोपरिभागतिर्यगर्पित[7]चरणपल्लवसंवाहनपरेण शिलादकुमारेण च द[8]र्पदुर्ललननिवारणाय मु[9]खबन्धनकनक[10]शृङ्खलेन निरुध्य मुहुर्मुहुः करपुटास्फालितककुदशृङ्गेण [11]भृङ्गिणा च लक्ष्यमाणोभयपक्षभागम्, गाण्डीवदण्डताडन[12]परिपीडितचूडाशशिनमाश्वासयितुमवतरद्भिरुडुनिकरैरिव सुरतरुकुसुम[13]वर्षैरवकीर्यमाणम्, जटाभस्मकुश[14]चीरधारिभिस्तैरेव चतुर्भिराम्नायपुरुषैः परिपठ्यमानशतरुद्रीयविरुदप्रबन्धम्, अम्बरे सविधमवलम्बमानैस्तु[15]म्बुरुप्रभृतिभिः सुरवैणिकैरुपवीण्यमानभक्तजनर[16]क्षणापदानप्रकरणम्, कर्णपूरीकृततमालमञ्जरीम[17]धुमिषेण कटाक्षात्साक्षात्कृपामिव वर्षन्तम्, प्रज्वलद्भिः परिष्कारपन्नगफणारत्नैर्नूनं शरव्रणैरिवा[18]नुरज्यमानावयवम्, अवतंसशशिकलाप[19]रिगलितकिरणधारापातशीतास[20]हिष्णुतयेव दन्तपटगर्भवर्तिना स्मितेन सूचितहृदयप्रसादम्, भगवन्तं महादेवमुद्वीक्ष्य [21]पद्मतटरुहविटपिसमुत्पाटनपटुभिः प्रमोदाश्रुपूरैर्नदीमातृकायमाण[22]पुलकाङ्कुरः सविनयमुपसृत्य पादारविन्दयोः सहस्रकृत्वः प्राणंसीत् ॥

---

१. 'चेतनाचरित'; 'आपतितचेतना'। २. 'शनैः शनैः'। ३. 'घण्टाभरणघणघणत्कार'। ४. 'परिकल्पित'। ५. 'युगनखरेखाङ्कुर'। ६. 'पल्ययनाङ्कोपरि'। ७. 'तैकचरण'। ८. 'दर्पसमुल्ललन'। ९. 'मुखबद्धकनकशृङ्खले'। १०. 'शृङ्खलैः'। ११. 'भृङ्गिरिटिना'। १२. 'गाण्डीवताडनपीडितम्'। १३. 'निकरैः'। १४. 'भसित'। १५. 'तुम्बरु'। १६. 'रक्षा'। १७. 'मधुझरीमिषेण'। १८. 'व्रणमिवानुबध्यमानावयवमासन्नावतंसितशशि'। १९. 'कलागलित'। २०. 'सहिष्णुनेव'। २१. तटरुहनिमेषविटपि'। २२. 'पुलकप्ररोहः'। इति पा०।

तथाविध इति । तथाविधः अवाङ्मुखीभूय पृथिव्यां पतितो मूर्च्छितश्च एव असौ अर्जुनः चिरात् बहुकालात् आचरितः कृतः चेतनायाः संज्ञायाः स्वागताचारः स्वागतविधिः येन तथोक्तः सन् चिरेण लब्धचेतनः सन् शनैः मन्दम् उत्थाय पुरतः स्वस्याग्रदेशे घण्टाघणघणात्कारसहचरेण घण्टाशब्दसहितेन कण्ठगर्जितेन कर्णयोः श्रोतृजनश्रोत्रविलयो कल्पितसुधारसमोक्षे दत्तामृतवृष्टौ (स्वशब्देन घण्टाशब्देन च भक्तानां कर्णयोरमृतमिवार्पयति) महोच्चे वृषराजे नन्दिनि निषेदिवांसम् आसीनम् , भुजमूलाभ्यां कक्षाभ्यां प्रसारितस्य गिरिजायाः पार्वत्याः पाणियुगलस्य भुजद्वितयस्य नखराङ्कुरधोरणीभिः नखप्रभाधाराभिः द्विगुणीकृतैः प्रवर्धितद्युतिभिः हारमणिभिः रमणीयवक्षसम् शोभमानवक्षःस्थलम् , पारिषदगणानां प्रमथानाम् अञ्जलयः एव कमलानि तेषां वनस्य समुदयस्य मध्ये राजहंसवदाचरन्तम् (अञ्जलिं बद्ध्वा स्तुवतां प्रमथानां मध्ये तिष्ठन्तम्) मार्दवभरितेन अतिमृदुना शार्दूलचर्मणा निर्मितस्य रचितस्य पल्ययनपर्यङ्कस्य पृष्ठास्तरणरूपशयनीयस्य उपरिभागे ऊर्ध्वदेशे तिर्यगर्पितस्य वक्रभावेन स्थापितस्य चरणपल्लवस्य पल्लवकोमलस्य शिवपादस्य संवाहने मृदुमर्दनकर्मणि तत्परेण लग्नेन शिलादकुमारेण नन्दिकेश्वरेण च दर्पदुर्ललननिवारणाय गर्वहेतुकोत्प्लवननिरोधाय मुखबन्धनकनकशृङ्खलेन स्वर्णनिर्मितखलीनेन निरुध्य वशेऽवस्थाप्य मुहुर्मुहुः पुनः पुनः करपुटास्फालितककुदशृङ्गेण कुञ्चितपाणिपरामृष्टककुदशृङ्गेण भृङ्गिणा गणभेदेन च लक्ष्यमाणोभयपक्षभागम् चिह्नितोभयभागम् , गाण्डीवदण्डेन अर्जुनस्य तन्नामकेन चापेन यत्ताडनं प्रहारस्तेन परिपीडितम् आहतं चूडाशशिनम् शिवभूषणचन्द्रमसम् आश्वासयितुम् सान्त्वयितुम् इव अवतरद्भिः आकाशादध आगच्छद्भिः उडुनिकरैः तारागणैः इव सुरतरुकुसुमवर्षैः मन्दारवृक्षपुष्पवृष्टिभिः अवकीर्यमाणम् आच्छाद्यमानम् , जटाभस्मकुशचीरधारिभिः तैः किरातेश्वररूपधरैः एव चतुर्भिः आम्नायपुरुषैः पुरुषाकारैर्वेदैः परिपठ्यमानः उच्चार्यमाणः शतरुद्रियरूपो विरुदप्रबन्धो यशःप्रशस्तिर्यस्य तं तथोक्तम् , अम्बरे आकाशे सविधम् अवलम्बमानैः समीपमुपसर्पद्भिः तुम्बुरुप्रभृतिभिः वैणिकैः वीणावादनप्रवीणैः उपवीण्यमानम् वीणयोपगीयमानम् भक्तजनरक्षापदानप्रकरणं स्वाश्रितमार्कण्डेयादिजनरक्षाकीर्त्तिप्रस्तावम् , कर्णपूरीकृता श्रोत्राभरणभावं नीता या तमालमञ्जरी तस्या मधुनः मकरन्दस्य मिषेण व्याजेन कटाक्षात् नेत्रप्रान्तात् साक्षात् प्रत्यक्षं सुधाम् अमृतमिव वर्षन्तम् प्रवाहयन्तम् , प्रज्वलद्भिः भासमानैः परिष्कारपन्नगफणारत्नैः भूषाभुजङ्गफणामणिभिः नूत्नैः अचिरभवैः शरव्रणैः बाणाघातक्षतैः इव अनुरज्यमानावयवम् रक्तगात्रम् अवतंसशशिकला भूषणीभूतचन्द्रकला ततः परिगलितस्य निर्गतस्य किरणधारापातस्य किरणप्रवाहस्य यच्छीतं जाड्यं तदसहिष्णुतया सोढुमक्षमतया इव दन्तपटगर्भवर्त्तिना ओष्ठनिलीनेन (अन्योऽपि शीतासहिष्णुः पट-

गर्भे निलीयते) स्मितेन ईषद्धासेन सूचितहृदयप्रसादम् आन्तरिकीं प्रसन्नतां व्यञ्जयन्तम्, भगवन्तं सर्वसामर्थ्ययुक्तम् महादेवं शिवम् उद्वीक्ष्य आलोक्य पक्ष्मणोः तटरुहविटपिनः तीरवर्त्तिनो वृक्षा निमेषाः तेषां समुत्पाटने उन्मूलने पटुभिः दक्षैः प्रमोदाश्रुपूरैः आनन्दाश्रुप्रवाहैः नदीमातृकायमाणपुलकाङ्कुरः अति-समृद्धपुलकराजिः सन्नुपसृत्य तदन्तिकमुपेत्य पादारविन्दयोः कमलरूपयोः शिव-चरणयोः सहस्रकृत्वः सहस्रधा प्राणंसीत् प्रणतवान् ॥

नीचे मुंह करके जमीन पर बेहोश पड़े हुए अर्जुनने बड़ी देरके बाद चेतना प्राप्तकी, धीरेसे उठे तो आगेमें–घण्टाकी घनघनाहटके साथ मिले हुए कण्ठगर्जितसे भक्तजनोंके कानोंमें अमृत बरसानेवाले वृषराजपर आसीन, भुजमूल–कक्ष होकर फैलाये गये गिरिजाके दोनों हाथोंके नखोंकी प्रभासे दुगुनासा प्रतीत होनेवाले हारमणियोंसे शोभित वक्षः-स्थलशाली, प्रमथगणकी अञ्जलिरूप कमलवनके बीच राजहंसकी तरह प्रतीत होनेवाले, अतिकोमल व्याघ्रचर्मसे निर्मित वाहन–पृष्ठास्तरणरूप बिछावनपर टेढ़ा करके रखे गये चरणको सहलानेमें संलग्न नन्दिकेश्वरसे तथा वेगसे कूदने न लगे इस हेतु सोनेकी मुख-बन्धन रज्जुसे संयत करके बार–बार करपुटके आश्वासनसे जिसका ककुद तथा शृङ्ग आस्फालित किया जा रहा है ऐसे भृङ्गीसे सेवित है दोनों भाग जिनका ऐसे, जिनके चारो ओर मन्दारतरुके फूल बिखरे हैं मानों गाण्डीवकी चोटसे पीड़ित चन्द्रमाकी तसल्ली के लिये तारे इकट्ठे हुए हों, ऐसे, जटा–कुश–भस्म–वल्कलधारी किरातेश्वरके समान वेषवाले चार वेद पुरुष जिनके शतरुद्रियंरूप यशोगाथाका गान करते हैं ऐसे, आकाशमें थोड़ा नीचे उतरकर तुम्बुरु प्रभृति स्वर्गके वादक लोग जिसकी भक्त–रक्षा–जनित कीर्त्तिको वीणापर गाते हैं, ऐसे, कानमें भूषणरूपसे लगाई गई तमालमञ्जरीके मकरन्दके व्याजसे जो साक्षात् कटाक्षसे अमृतकी वर्षासी कर रहा है ऐसे, चमकते हुये भूषण–सर्पोंकी फणाके मणिगणसे जिसका शरीर रंगा हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानों अभी–अभी किराता-र्जुन युद्धमें लगे बाणके घात्रोंसे शरीर रंगा गया हो, भूषणरूपमें वर्त्तमान चन्द्रमासे गिरनेवाली किरणधारके शैत्यको नहीं बरदाश्त कर सकनेके कारण जिनकी हँसी दन्तपट-ओठमें छिपी हुई है, ऐसी हँसी द्वारा जो आन्तरिक प्रसन्नताकी सूचना दे रहे हैं ऐसे, भगवान् महादेवको देखकर पपनीरूप तटपर पैदा होनेवाले निमेपरूप वृक्षोंको उखाड़ फेंकनेमें दक्ष आनन्दाश्रु–प्रवाहोंसे अति समृद्ध होकर उपज गया है पुलकाङ्कुर जिसका ऐसे अर्जुनने नम्रताके साथ शिवजीके चरणारविन्दोंमें हजार बार प्रणाम किया ॥

स्वामिन्! मया जडधिया त्वयि देवदेवे वाचा शरेण धनुषा दृढमुष्टिना च ।
यत्ते चतुर्विधमकारि रणे तदागः क्षन्तव्यमद्य भवता करुणार्णवेन ॥६५॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिन् नाथ, रणे युद्धे देवदेवे देवानामपीश्वरे त्वयि भगवति

१. 'देवदेव' । इति पा० ।

शिवे जडधिया मूढमतिना मयाऽर्जुनेन वाचा, वचनेन (कुत्सितशब्दप्रयोगेण) शरेण बाणेन, धनुषा गाण्डीवदण्डताडनेन, दृढमुष्टिना उरस्याघातेन च चतुर्विधम् चतुष्प्रकारकम् ते आगः अपराधः अकारि, तत् करुणार्णवेन दयासागरेण भवता अद्य सम्प्रति क्षन्तव्यम्। साधूनां क्षमासारतया भवतः क्षमैव मम शरणमिति भावः॥ ९५॥

हे नाथ, युद्धमें आप महादेवके विषयमें मूढ़मति मैंने वचन, बाण, धनुष तथा मुष्टि इन चारोंके द्वारा जो अपराध किये हैं, हे दयासागर आप उन्हें आज क्षमा कर दें। आपके द्वारा उन अपराधोंकी क्षमा ही मेरी शरण है॥ ९५॥

इति विज्ञापयन्तमेनं पारिजातपल्लवतल्लजप्रतिमल्लस्य पाणितलस्य[1] परामर्शनेन प्रमुषितव्रणवेदनाङ्गं[2] प्लवंगकेतनमनङ्गशासनोऽप्येवमवादीत्—

इति विज्ञापयन्तमिति। इति उक्तप्रकारेण विज्ञापयन्तं निवेदयन्तम् एनम् अर्जुनम् पारिजातस्य स्वर्वृक्षभेदस्य ये पल्लवतल्लजाः प्रशस्यानि किसलयानि तेषां प्रतिमल्लस्य वैरिणस्तत्कोमलतायुतस्य पाणितलस्य निजकरतलस्य परामर्शनेन स्पर्शेन प्रमुषितव्रणवेदनाङ्गम् व्रणकष्टरहितसर्वावयवम् प्लवङ्गमकेतनम् कपिध्वजमर्जुनम अनङ्गशासनः स्मरहरोऽपि एवम् वक्ष्यमाणदिशा अवदत् आश्वासितवान्॥

इस प्रकार निवेदन करते हुए अर्जुनको पारिजात तरु-पल्लवके समान कोमल पाणितलसे छूकर शरीरगत व्रणवेदनाको हरते हुए महादेवने भी उस कपिध्वजसे इस प्रकार कहा—

यथा तृतीयेन युधि प्रवीर! तवापराधेन भवामि तुष्टः[3]।
तथा न भक्त्या तपसां विभूत्या तरुप्रसूनार्चनया च[4] बह्व्या॥ ९६॥

यथेति। हे प्रवीर, तव त्वत्कृतेन युधि तृतीयेन अपराधेन चापकृतताडनात्मना यथा तुष्टो भवामि तथा महत्या अगाधया भक्त्या श्रद्धया, तपसां विभूत्या तपस्यासंपदा, तरूणां नानाजातीयवृक्षाणां प्रसूनैः कुसुमैः बह्व्या नानारूपया अर्चया पूजया वा न तुष्टो भवामि। शूराणां शौर्यादन्यन्नाभिमतमिति तव चापताडनकृतशौर्यप्रदर्शनेन यावती मम तुष्टिर्जाता न तावती पूजादिभिरिति॥ ९६॥

हे वीर, युद्धमें किये गये तुम्हारे तीसरे अपराधसे (चाप-ताडनसे) मैं जितना तुम पर खुश हूँ उतना न भक्तिसे न तपस्याओंसे, न नाना वृक्षोंके फूलों द्वारा की गई बहुत सी पूजाओंसे मैं खुश हूं, अर्थात् तुम्हारी निर्भयतापूर्ण शूरतासे मैं अति प्रसन्न हूं॥ ९६॥

इति सुधामाधुरीधुरीणं[5] वचनमभिधाय,—

---

१. 'पाणिपल्लवस्य'। २. 'रणवेदना'। ३. 'हृष्ट'। ४. 'अपि'।
५. 'सुधामधुरिमधुरीणं'। इति पा०।

इति इति। इति एवम् सुधामाधुरीधुरीणम् अमृतवन्मधुरं वचनम् अभिधाय उक्त्वा॥

इस प्रकार अमृतकी मधुरताके भारको वहन करनेवाले वचन कहकर—

तत्क्षणाद्धनुरिषूनपि तांस्तान्संनिधाप्य विभुरस्त्रमपि स्वम्।
पाण्डवाय धनुराहतिरीतेः पारितोषिकमिव प्रदिदेश॥ ९७॥

तत्क्षणादिति। तत्क्षणात् तस्मिन्नेव समये विभुः व्यापकः शिवः, धनुः अन्तर्हितं गाण्डीवं तान् तान् शिववपुषि लीनान् इषून् बाणान्, सन्निधाप्य स्वमहिम्ना उपस्थाप्य धनुराहतिरीतेः गाण्डीवद्वाराताडनपद्धतेः पारितोषिकम् सन्तोषप्रदानम् इव स्वं स्वकीयमस्त्रम् पाशुपतास्त्रम् अपि पाण्डवाय अर्जुनाय दिदेश दत्तवान्, तत्क्षणमेव शिवोऽर्जुनाय गुप्तं गाण्डीवाख्यं तदीयं धनुः लुप्तान् प्रयुक्तपूर्वान् बाणांश्च प्रत्यावर्त्य गाण्डीवद्वाराताडनस्य पारितोषिकमिव स्वं पाशुपतास्त्रमपि समर्पितवानिति तात्पर्यम्॥ ९७॥

उसी समय व्यापक महादेवने पहले तो उनका गाण्डीव धनुष तथा बाण लौटा दिये जो गुप्त हो गये थे, पीछे अपना पाशुपत अस्त्र भी अर्जुनको दिया, मानो वह अर्जुन द्वारा प्रदर्शित गाण्डीव द्वारा आघात-पद्धतिका पुरस्कार हो॥ ९७॥

तस्याथ पाशुपतलाभदुरापदीप्तेरक्ष्णोः समक्षमपरिप्लवपक्ष्मपङ्क्तेः।
आश्चर्यवृत्तिरखिलैरनुगामिभिः स्वैरन्तर्दधे स भगवानमृतांशुमौलिः॥ ९८॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते चतुर्थः स्तबकः।

तस्याथेति। अथ पाशुपतास्त्रदानात्परतः आश्चर्यवृत्तिः अद्भुतव्यापारः ताडने वरप्रदः सः अमृतांशुमौलिः चन्द्रचूडः शिवः पाशुपतलाभदुरापदीप्तेः पाशुपतास्त्रलाभेनेतरजनदुर्लभतेजसः अपरिप्लवपक्ष्मपङ्क्तेः निर्निमेषनयनस्य तस्य अर्जुनस्य अक्ष्णोः नेत्रयोः समक्षम् एव पुरत एव अखिलैः समस्तैः स्वैः अनुगामिभिः अनुचरैः प्रमथादिभिः सह अन्तर्दधे तिरो बभूव। अर्जुनाय पाशुपतास्त्रं दत्त्वा विस्मयनीयप्रभावः सगणः शिवोऽन्तरधादिति भावः॥ ९८॥

पाशुपत अस्त्र दे देनेके बाद आश्चर्यमय व्यापार वाले चन्द्रचूड शिवजी पाशुपत अस्त्रके मिल जाने से शत्रुओं द्वारा दुर्लभ तेजसे सम्पन्न, तथा अपलक नेत्रोंसे देखते हुए अर्जुनकी आँखोंके सामनेही अपने सकल अनुगामी प्रमथादिके साथ अन्तर्हित हो गये॥ ९८॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे'
चतुर्थस्तबक 'प्रकाशः'॥

---

१. 'तत्क्षणम्'। २. 'संनिधाय'। ३. 'अक्ष्णः'। इति पा०।

पञ्चमः स्तबकः

अथ सविधतपोधनैः कृताशीरमरपतेर्धृतशासनः स पार्थः ।
रयजितपवनं समातलिः सन्रथमधिरुह्य मुदा दिवं प्रतस्थे ॥ १ ॥

अथ सविधेति । अथ पाशुपतास्त्रलाभात् परतः सविधतपोधनैः समीपवर्त्तिभिः मुनिभिः कृताशीः दत्ताशीर्वादः अमरपतेः इन्द्रस्य धृतशासनः पाशुपतास्त्रलाभानन्तरं स्वर्गं प्रत्यागन्तव्यमिति शक्रेणाज्ञप्तः सः पार्थः रयजितपवनम् आत्मवेगेन पराभूतवायुवेगं रथम् इन्द्रप्रहितं दिव्यं यानम् समातलिः मातलिनामकेनेन्द्रसूतेन सह भूतः सन् अधिरुह्य आरुह्य मुदा हर्षेण दिवं स्वर्गं प्रतस्थे चलितः । इन्द्रेण स्वर्गमागन्तुमाज्ञप्तोऽर्जुनो रथमारुह्य स्वर्गं चलित इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १ ॥

इसके बाद पासमें रहनेवाले मुनियोंसे आशीर्वाद प्राप्त करके 'पाशुपतास्त्र प्राप्त हो जाने पर स्वर्ग आना' इस प्रकारकी इन्द्राज्ञासे बाधित होकर वेगसे वायुको परास्त करनेवाले रथ पर—जिसे इन्द्रने भेजा था—मातलिके साथ आरूढ़ हो सानन्द पार्थने स्वर्गके लिये प्रस्थान किया ॥ १ ॥

नाकमेत्य धनुरङ्कितदोष्णा नायको दिविषदामतिहृष्टः ।
नाम फाल्गुन इति ब्रुवता स्वं नन्दनेन जगृहे पदयुग्मे ॥ २ ॥

नाकमेत्येति । अकं दुःखं न अकमस्मिन्निति नाकं स्वर्गमेत्य प्राप्य धनुरङ्कितदोष्णा चापालङ्कृतबाहुना फाल्गुन इति स्वं नाम ब्रुवता कथयता नन्दनेन स्वपुत्रेण अर्जुनेन अतिहृष्टः आत्मजदर्शनेनातिप्रमुदितः दिविषदां नायको देवाधीशः पदयुग्मे चरणद्वये जगृहे प्रणतः । स्वर्गं गतो धृतधनुश्चार्जुनः स्वनामोपादानपूर्वकं पितरमिन्द्रं पादयोः प्रणनामेति भावः । स्वागतावृत्तम् ॥ २ ॥

स्वर्ग पहुंच कर चापभूषितबाहु अर्जुनने 'फाल्गुन' अपना नाम बताकर पुत्रके देखनेसे अतिप्रसन्न इन्द्रके चरणोंमें प्रणाम किया । नाम बताकर प्रणाम करना धर्मशास्त्र-सिद्ध प्रकार है, अतः नाम बताकर प्रणाम करना लिखा गया है ॥ २ ॥

पाणिना परिमृशन्नमुमिन्द्रः पद्मलीकृतजयन्तमहेर्ष्यः ।
आदरेण धुरि नाकिगणानामासनार्धमधिरोपयति स्म ॥ ३ ॥

पाणिनेति । पद्मलीकृता अतिप्रवृद्धा जयन्ते स्वपुत्रे महती ईर्ष्या कोपः 'अशूरोऽयं किं कुर्यात्' इति ज्ञानजन्या यस्य तादृशः, अथवा पद्मलीकृता अतिप्रवृद्धा जयन्तस्य महेर्ष्या असूया 'स्वपत्नीभवं मां कदापि स्वासनार्धे न स्थापयति, परस्त्रीजातममुं कथं स्वासनार्धे उपवेशयती'त्येवंरूपा येन तादृश इन्द्रः अमुं पदप्रणतमर्जुनं पाणिना स्वहस्तेन परिमृशन् स्पृशन् सन् आदरेण नाकिगणानाम् देवानां धुरि अग्रतः आसनार्धम् स्वासनार्धभागे अधिरोपयति स्म उपवेशितवान् ।

इन्द्रः कृतदिव्यास्त्रलाभतयाऽऽदरेणार्जुनं स्वासनार्धे उपवेशितवान्। तथा कुर्वन्तं च तं वीक्ष्य जयन्तस्येर्ष्या वर्धते स्म, इन्द्रस्यैव वा जयन्तस्याशूरत्वकृतेर्ष्या वर्धते स्मेति बोध्यम् ॥ ३ ॥

बढ़ी हुई हैं ईर्ष्या—'यह जयन्त निकम्मा है' इस प्रकारका कोप जिसका ऐसे अथवा बढ़ाई है जयन्तके हृदयकी ईर्ष्या डाहको जिसने ऐसे इन्द्रने अर्जुनको हाथसे छूते हुए देवगणोंके सामने ही आदरसे अपने आसनके आधे भागमें बैठा लिया ॥ ३ ॥

सदसि वसति तस्मिन्सार्वभौमे कुरूणां
कपटशबरबाणैः कल्पितार्द्रव्रणेऽपि ।
निखिलसुरवधूनां नेत्रसंघाः समेता
निशितकुलिशकल्पा निर्दयं संनिपेतुः ॥ ४ ॥

सदसीति। तस्मिन् इन्द्राधिष्ठिते सदसि सभायां वसति वर्त्तमाने कपटशबरबाणैः मायाकिरातस्य भगवतः शिवस्य शरैः कल्पितानि जनितानि आर्द्राणि नवानि व्रणानि क्षतानि यस्य तादृशेऽपि कुरूणां सार्वभौमे कुरुराजेऽर्जुने निखिलसुरवधूनां सर्वासां देवललनानां निशितकुलिशकल्पाः तीक्ष्णवज्रसमाः नेत्रसङ्घाः कटाक्षपाताः समेताः सङ्घीभूताः सन्तो निर्दयमकृपं निपेतुः अपतन्। शरबाणक्षतवपुषं तमर्जुनमप्सरसः कटाक्षै रुज्झितदयं बिभिदुरित्यर्थः। आर्द्रव्रणे कुलिशपातस्य निर्दयत्वं स्फुटम्, स्वार्थपरायणाः परकष्टं न विभावयन्तीति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

इन्द्रकी सभामें वर्त्तमान मायाशबर रूपधारी शिवजीके बाणोंके प्रहारोंसे ताजे घाव वाले कुरुराज अर्जुनके ऊपर सभी सुर बालाओंने अपने तीखे कटाक्ष रूप वज्र एक साथ निर्दयता पूर्वक छोड़े। जो पहलेसे ही बाणाहत हो उसके ऊपर तीक्ष्ण वज्र प्रहार कहाँतक उचित होगा, इसीलिये 'निर्दय' कहा है! सभी देवबालाएँ अर्जुनको सस्पृहनयनोंसे एक साथ देखने लगीं यही भावार्थ है ॥ ४ ॥

आस्थानसीम्नि तनयाद्गिरिशेन युद्ध-
माकर्ण्य हर्षविकसन्मनसो मघोनः ।
अङ्गेऽखिले प्रसरतां पुलकाङ्कुराणा-
मक्ष्णां सहस्रतयमेव बभूव विघ्नः ॥ ५ ॥

आस्थानसीम्नीति। अस्थानसीम्नि सभाभुवि तनयात् स्वपुत्रस्यार्जुनस्य मुखात् गिरिशेन मायाशबररूपधरेण शिवेन सह युद्धम् वृत्तमर्जुनस्य संग्रामम् आकर्ण्य श्रुत्वा हर्षविकसन्मनसः प्रमोदपूर्णहृदयस्य मघोन इन्द्रस्य अखिले सकले अङ्गे शरीरावयवे प्रसरतां व्याप्नुवतां सद्य एवोत्पद्यमानानां पुलकाङ्कुराणां रोमाञ्चरूपबालतरूणां (प्ररोहे) अक्ष्णां नेत्राणां सहस्रतयम् सहस्रम् एव विघ्नः प्ररोहप्रति-

बन्धकः अभूत्। अक्षि विहाय सर्वाण्यङ्गानि सपुलकानि जातानि, अक्षीणि तु रोमाभावान्न पुलकितानि, तेन तदीयसकलशरीरे पुलकप्रसरणेऽक्षीण्येव तावतिदेशे पुलकोदयप्रतिवन्धजनद्वारा विघ्नस्वरूपाण्यभवन्निति भावः ॥ ५ ॥

सभामें अर्जुनरूप अपने पुत्रके मुखसे माया किरातरूप शिवके साथ अर्जुनद्वारा किये गये युद्धकी बातोंको सुनकर हृदयमें आनन्दोत्फुल्ल होने वाले इन्द्रकी आँखें ही समस्त शरीरमें रोमाञ्चके प्रसरणमें विघ्नस्वरूप बन गईं। आँखोंमें बाल नहीं होते इसी लिये आँखें रोमाञ्चित नहीं होती हैं, और आँख वाली जगह रोमाञ्चसे वञ्चित रह जाती है, फलतः समूची देहमें रोमाञ्चके प्रसरणमें आँखोंका विघ्न होना प्रमाणित होता है ॥ ५ ॥

आज्ञया पितुरमर्त्यसमाजादग्रतः स्वनितमङ्गलवाद्यम् ।
वारणेन्द्रमधिरोप्य जयन्तो वैजयन्तमनयद्विजयं तम् ॥ ६ ॥

आज्ञयेति । जयन्त इन्द्रस्य स्वनामख्यातः सुतः पितुरिन्द्रस्याज्ञया आदेशेन अमर्त्यं समाजात् देवसमूहात् तम् विजयम् अर्जुनम् वारणेन्द्रम् एरावतम् अधिरोप्य आरूढं कृत्वा अग्रतः पुरतः स्वनितानि वाद्यमानानि मङ्गलवाद्यानि वीणावेण्वादीनि यत्र तादृशम् वैजयन्तं नाम स्वप्रासादम् अनयत् प्रापयामास । सभायामुपविष्टमर्जुनं वैजयन्तं नाम प्रासादमुपगमयितुं पित्रादिष्टो जयन्तस्तमैरावते नाम गजे उपवेश्य वाद्यमानवीणादिवाद्यं वैजयन्तं नाम प्रासादमापयदिति भावः। 'स्यात्प्रासादो वैजयन्तः' इतीन्द्रोपकरणनामन्यमरः । स्वागतावृत्तम् ॥ ६ ॥

पिता इन्द्रकी आज्ञा प्राप्त करके जयन्तने ऐरावत नामक हाथी पर बैठाकर अर्जुनको 'वैजयन्त' नामक इन्द्रके राजप्रासादमें पहुँचाया जहाँ पर पहलेहीसे मङ्गलवाद्य वीणावेणु आदि बज रहे थे ॥ ६ ॥

आनतस्य पदयोरथ जिष्णोराशिषोऽनुपदमिन्द्रपुरंध्री ।
पारिजातकुसुमस्य परागैः फालसीमनि ललाम चकार ॥ ७ ॥

आनतस्येति । अथ अर्जुने वैजयन्तप्रासादमुपगते सति इन्द्रपुरन्ध्री शचीनामेन्द्रस्य पत्नी पदयोरानतस्य शच्यै कृतप्रणामस्य जिष्णोः अर्जुनस्य आशिषः चिरजीवित्वाद्याशीर्वादान् अनुपदम् अनन्तरम् पारिजातकुसुमस्य मन्दारप्रसूनस्य परागैः रजोभिः फालसीमनि ललाटदेशे ललाम रक्षातिलकं चकार कृतवती । असामान्यरूपगुणादिजुषः पुत्रस्यपरकीयदुष्टदृष्टिनिवारणाय मातरो रेणुभिस्तिलकमाचरन्नि, तदेव ललामपदप्रतिपाद्यं, तामेवरीतिमनुसरन्ती शची कृताशीर्वचनप्रयोगा सती पार्थस्य मस्तके पारिजातकुसुमधूलिभिरेव तिलकं चकार, धराधूलिस्तु तत्र नैव प्राप्येति पारिजातधूलिस्तिलक उपायुज्यतेति बोध्यम् ॥ ७ ॥

---

१. 'कुसुमस्थपरागैः' । इति पा० ।

वैजयन्तप्रासादमें आकर अर्जुनने इन्द्रकी स्त्री शची के चरणोंमें शिर नवाया, अनन्तर आशीर्वाद प्रदान करके शचीने अर्जुनके मस्तक पर पारिजातकुसुमकी धूलसे टीका काढ़ दिया। असाधारण रूपगुणशाली सन्तानको लोगोंकी दुष्ट दृष्टिसे बचानेके लिये मातायें धूलका तिलक लगा देती हैं, इसी तिलकको यहाँ ललाम कहा गया है, स्वर्गमें धराकी धूलका एकान्त अभाव रहनेसे शचीने पारिजातकुसुमपरागसे ही–तिलक लगाया होगा ॥७॥

पुनः पुनस्तत्र पुलोमपुत्र्या जयन्तशङ्कां ददतः स्वकान्त्या।
नरस्य मौर्वीकिण एव दोष्णोर्नामग्रहेषु स्खलनं न्यरौत्सीत् ॥ ८ ॥

पुनः पुनरिति। तत्र वैजयन्तप्रासादे स्वकान्त्या स्वीयरूपसम्पदा पुनः पुनः वारं–वारं जयन्तशङ्कां ददतः जयन्तोऽयमिति भ्रमभुत्पादयतः नरस्य अर्जुनस्य दोष्णोः बाह्वोः मौर्वीकिणः सततज्यामर्षणव्रणकिणः एव पुलोमपुत्र्याः शच्याः नामग्रहणेषु आह्वानाय क्रियमाणेषु नामोपादानेषु स्खलनं वैपरीत्यलक्षणं दोषं न्यरौत्सीत् न्यवारयत्। अयमाशयः—अर्जुनोऽपि जयन्त इव रूपसम्पदुपेतस्तेन कोऽर्जुनः कश्च जयन्त इति भ्रमे पतित्वा शची यावदर्जुनं जयन्तनाम्ना संबोधयति तावदर्जुनस्य बाह्वो वर्त्तमानो मौर्वीकिण एव दृश्यमानः सस्तां तस्यास्तथा विपरीतनाम्नाह्वानलक्षणात् स्खलनादवारयदिति। निश्चयान्तः सन्देहोऽलङ्कारः ॥ ८ ॥

जयन्तप्रासादमें रहनेके समय अर्जुनको देखकर शचीको बारबार जयन्तका भ्रम हो जाता था, क्योंकि दोनोंका रूप मिलता जुलता था, भ्रममें पड़कर शची अर्जुनको जयन्त नामसे पुकार बैठतीं, परन्तु अर्जुनके भुजोंमें धनुषकी प्रत्यञ्चाके घर्षणसे जो ठेला हो रहा था, उसीको देखकर शची उस गल्तीसे बच जाया करती थीं, उसी ठेलेने शचीको नामोपादनपूर्वक पुकारनेमें अर्जुनके लिये जयन्त शब्दका व्यवहार रूप स्खलनसे बचाया, रोका, वैसा नहीं करने दिया ॥ ८ ॥

पितुरिवास्त्रकलां दिवि गायकात्पिककुलाहृतकण्ठरवोदयः।
परिहृतामृतदिव्यजनावृतः परिशिशील स गीतकलामपि ॥ ९ ॥

पितुरिवास्त्रकलामिति। पिककुलैः कोकिलनिवहैः आहृतः सबहुमानं निषेवितः कण्ठरवोदयः स्वरप्रकाशो यस्य स तथोक्तः कोकिलकण्ठतोऽप्यधिकरक्तकण्ठः सः अर्जुनः दिवि स्वर्गलोके गायकात् चित्रसेनात् गीतकलाम् गानविद्यां परिहृतामृतैः त्यक्तसुधाकैः दिव्यजनैः स्वर्गवासिभिः आवृतः वेष्टितः (तदीयगीतविद्याभ्याससमये तदीयस्वरमाधुरीपानसतृष्णादेवाः अमृतमपि विहाय तं परिवृण्वन्ति स्मेत्येतद्विशेषणप्रतिपाद्यम्) पितुरिन्द्रात् अस्त्रकलाम् अस्त्रविद्यामिव परिशिशील शिक्षितवान्, पितुरस्त्रविद्यां चित्रसेनाच्च गानविद्यामुभयमप्यधीतेस्मेति तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतयो-

---

१. 'कुलाहृत' । इति पा० ।

रत्नगानविद्ययोरर्जुनकर्तृकाध्ययनकर्मत्वरूपैकधर्माभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

कोकिलगण जिसकी स्वर माधुरीका आदर किया करते थे ऐसे अर्जुनने स्वर्गमें रहनेवाले गायक चित्रसेनसे-अमृतको छोड़कर अर्जुनकी स्वरमाधुरीको पीनेके लिये लालायित देवोंसे आवृत होकर पितासे अस्त्रविद्याकी तरह गान विद्या सीखी॥ अर्थात् पितासे अस्त्र विद्या सीखी, और चित्रसेनसे गान विद्या सीखी, अर्जुनके स्वरकी मधुरताका कोकिल गण भी आदर करते रहे; और अर्जुन जब चित्रसेनके पास गानविद्या सीखने बैठते थे, तब उनके स्वर माधुर्यका रसास्वादन करनेके लिये देवगण अमृत पीना छोड़कर उन्हें घेरे रहते थे॥ ९ ॥

तमुर्वशी तत्र कदाचिदेत्य स्वयं रहःकर्मणि भग्नकामा।
अये पृथापत्य! तवाभिधेव क्लीबत्वमेहीति शशाप कोपात् ॥१०॥

तमुर्वशीति। तत्र स्वर्गे कदाचित् उर्वशी नाम अप्सराः तम् अर्जुनम् स्वयम् अनाहूता एव एत्य उपेत्य रहः कर्मणि सुरते प्रार्थ्यमाने भग्नकामा विफलमनोरथा सती कोपात् मनोरथभङ्गजन्मनः क्रोधात्—अये पृथापत्य अर्जुन, (त्वम्) तवाभिधा त्वन्नाम पृथापत्यमिति सेव क्लीबत्वं नपुंसकत्वम् एहि प्राप्नुहि। इति एवं शशाप। यथा त्वद्वाचकम् पृथापत्यमिति पदं नपुंसकं तथैव त्वमपि नपुंसकत्वमृच्छ, यतो मामात्मनैव त्वामुपेतां भग्नमनोरथां कृतवानसीति शशापार्जुनमुर्वशीतिभावः। 'वामाया जातकामायाः प्रशस्ता हस्तधारणा' इति स्मृतिसारो हर्षेणोक्तः, अत एवोर्वशी शापस्यौचित्यमुपपद्यते ॥ १० ॥

स्वर्गमें रहते समय किसी समय उर्वशी अर्जुनके पास स्वयं आई और उसने अर्जुनसे रतिकी प्रार्थना की, अर्जुनने उसे पिताकी-इन्द्रकी-अङ्कशायिनी समझकर उसको भग्नमनोरथ कर दिया, इससे रुष्ट होकर उर्वशीने अर्जुनको शाप दे दिया कि जा तू नपुंसक हो जा, जैसे तुम्हारा नाम-'पृथापत्य' यह शब्द नपुंसक है॥ १० ॥

तद्बुद्ध्वा हरिरूचे तं शापोऽयं वत्स! ते मुदे।
चित्रसेनोक्तविद्यायाः सहकृत्वा भवेदिति ॥ ११ ॥

तद्बुद्ध्वेति। तत् उर्वश्याऽर्जुनाय नपुंसकत्वप्राप्तिरूपः शापोदत्त इति बुद्ध्वा ज्ञात्वा हरिः इन्द्रः तम् प्राप्तशापमर्जुनम्—वत्स, अर्जुन, चित्रसेनोक्तविद्यायाः चित्रसेनसकाशात् त्वयाऽधिगतायाः गानविद्यायाः सहकृत्वा सहायकः स्यादितिहेतोः अयं नपुंसकताप्राप्तिरूपः शापः तवमुदे हर्षाय इति ऊचे कथितवान्। अयमाशयः—गुप्तवाससमये विराटस्यान्तःपुरे त्वया विराटपुत्री गानं शिक्षणीया, तत्रावसरे उपयुक्ततया तवायं शापो नखेदावह इति। तावत्समयमात्रवृत्तिश्चायं 'शापः' इति इन्द्रोऽर्जुनमुवाचेत्यर्थः ॥ ११ ॥

उर्वशी द्वारा दिये गये शापकी बात सुनकर इन्द्रने अर्जुनसे कहा कि बेटा, यह शाप तुम्हारे लिये हर्षका ही कारण हुआ, क्योंकि गुप्तवासकी अवधिमें जब तुम विराटकी अन्तःपुरमें उनकी लड़कीको चित्रसेनोक्त गानविद्या पढाते रहोगे, उस समय तुम्हारी नपुंसकता तुम्हारे लिये अच्छी होगी। उतने ही समयके लिये इस शापका प्रभाव रहेगा ॥ ११ ॥

अथ कदाचिद्[1]स्त्रशिक्षासमाप्तौ[2] गु[3]रुसमक्षं गुरुदक्षिणात्वेन विपक्षकुलक्षपणं भिक्षमाणेन सहस्राक्षेण स्वमस्तकादाक्षिप्य शिरसि निक्षिप्तकिरीटो वलक्षाश्वोऽयं मातलिपरिकल्पितरथ्येन नन्दनवनमन्दपवनसंदीयमानकेतनस्पन्दनेन स्यन्दनेन निर्गत्य विलङ्घितदूरवियत्पथः पाथोनिधौ र[4]क्षःकुलकोलाहलनीचीकृतवीचीर[5]वं रसातलकुहरमुखं निरुध्य रणप्रस्तावं वित[6]स्तरे ॥

अथेति। अथ कदाचित् वलक्षः श्वेतः अश्वो यस्य सः वलक्षाश्वोऽयमर्जुनः अस्त्रशिक्षासमाप्तौ अस्त्रविद्याध्ययनावसाने गुरुसमक्षम् बृहस्पतेरुपस्थितौ गुरुदक्षिणात्वेन गुरुदक्षिणारूपेण विपक्षकुलक्षपणं शत्रुभूतस्य निवातकवचकालकेयाख्यराक्षससमुदायवधं भिक्षमाणेन याचमानेन (मयाऽस्त्रविद्यां ग्राहितोऽसि तद्दक्षिणारूपेण मम विरोधिनां कालकेयाद्यसुराञ्जहीति पार्थमनुरुन्धता) सहस्राक्षेण शक्रेण स्वमस्तकात् निजशिरसः आक्षिप्य आकृष्य शिरसि निक्षिप्तकिरीटः स्थापितमुकुटः सन् मातलिकल्पितरथ्येन इन्द्रसारथियोजितवाहनाश्वेन नन्दनवनस्य स्वर्गकाननस्य मन्दपवनेन मन्दवायुना सन्दीयमानम् क्रियमाणम् केतनस्पन्दनं ध्वजकम्पनं यस्य तादृशेन (नन्दनकाननोत्थमन्दसमीरणसमुद्धूयमानध्वजपटेन) स्यन्दनेन रथेन निर्गत्य स्वर्गात् चलित्वा विलङ्घितदूरवियत्पथः अतिवाहितसुदूराकाशमार्गः पाथोनिधौ समुद्रे रक्षसां कुलस्य समुदयस्य कोलाहलेन भूरिशब्देन नीचीकृतः परास्तः स्वल्पीकृतः वीचीरवः तरङ्गध्वनिर्यत्र तत्तथोक्तम् (अर्थात् ध्वनद्भिर्दैत्यवृन्दानां कोलाहलैर्मन्दीभूततरङ्गशब्दम्) रसातलकुहरमुखम् पातालगुहाद्वारम् निरुध्य स्वरथेनावरुध्य रणप्रस्तावं युद्धनिमन्त्रणं वितस्तरे दत्तवान्, रक्षांसि योद्धुमामन्त्रयामासेति भावः। वितस्तरे इत्यात्मनेपदं चिन्त्यम्।

अस्त्र विद्याकी पढ़ाई समाप्त हो जाने पर अर्जुनसे इन्द्रने बृहस्पतिके सामने गुरु दक्षिणाके रूपमें कालकेयादि दुर्दान्त राक्षसोंके वधकी याचना की, और अपने मस्तक परसे उतारकर अपना मुकुट अर्जुनके शिरमें पहना दिया, तब श्वेतवाहन अर्जुनने इन्द्रके सारथि मातलि द्वारा योजिताश्व तथा नन्दनवन पवन द्वारा चलाया जा रहा है

१. 'कदाचित्'। २. 'अस्त्रविद्याशिक्षापरिसमाप्तौ'। ३. 'सुर'।
४. 'गम्भीरनीरपूररक्षितरक्षः'। ५. 'रव'। ६. 'वितस्तार'। इति पा०।

पताका पट जिसका ऐसे दिव्य रथ द्वारा सुदूरव्यापी आकाशपथको पार करके समुद्रमें राक्षसोंके कोलाहल करनेसे मन्द पड़ गया है तरङ्गका शब्द जहाँ पर ऐसे पाताल गुहा द्वारको रथसे घेरकर कालकेयादि दैत्योंको युद्धके लिये ललकारा॥

तावदनाकर्णितपूर्वगाण्डीवविस्फारश्रवणादहंपूर्विकया युगपदभिषेण-यतो दिविषद्वध्यभावादध्यातमरणान्क्षिप्रं क्षुरप्रैर्विश्राणितविवरादुरसः कृतप्रयाणैः प्राणैस्त्रिकोटिशो निवातकवचानपि प्रवातकवचानेव विरचय्य नभसि प्रमादपतितेन पतङ्गपरिवेषेणेव स्फटिकप्राकारेण परिगुप्तिमतो हिरण्यपुराद्विदितबन्धुजनवृत्तान्ततया रोषादभिगम्य कलहायमानान्काल-केयानपि कालगेहातिथीन्पाशुपतेन मन्त्रपूर्वं निमन्त्रयांचक्रे॥

तावदिति। तावत् तस्मिन् समये अनाकर्णितपूर्वस्य कदापि पूर्वमश्रुतस्य गा-ण्डीवविस्फारस्य श्रवणात् अहम्पूर्विकया अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति परस्परप्रतिस्पर्धया युगपत् सहैव अभिषेणयतः सेनया सहाक्रमणं कुर्वतः (राक्षसान्) दिविषद्भिः देवैः अवध्यभावात् हन्तुमशक्यत्वात् (देवास्तान्मारयितुं न शक्नुयुरिति वर-प्रभावेण) अध्यातमरणान् अचिन्तितमृत्यून् क्षुरप्रैः तीक्ष्णमुखक्षुरप्रनामकबाण-विशेषैः विश्राणितविवरात् कृतच्छिद्रात् (भिन्नात्) उरसो हृदयदेशात् कृत-प्रयाणैः प्रस्थितैः प्राणैः प्राणवायुभिः निवातकवचान् वाताप्रवेश्यवर्महरान् निवात-कवचनामकांश्च तान् प्रवातकवचान्) वातोद्धूतकवचान् कम्पितकवचशालिनः (निर्गच्छद्भिः प्राणवायुभिः कम्पमानकवचान् विरचय्य विधाय नभसि आकाशे प्रमादात् अनवधानवशात् पतितेन स्खलितेन पतङ्गस्य सूर्यस्य परिवेषेण मण्डला-कारवेष्टनेन परिधिना इव (सूर्यपरिधिसदृशेन) स्फटिकप्राकारेण स्फटिकमयवर-णेन परिगुप्तिमतः सुरक्षितात् हिरण्यपुरात् तदभिधानात् स्वनगरात्-विदितबन्धु-जनवृत्तान्ततया श्रुतनिवातकवचमरणसमाचारतया रोषात् कोपात् अभिगम्य समीपमुपेत्य कलहायमानान् युद्धं कुर्वतः कालकेयान् तदाख्यदैत्यभेदान् अपि कालगेहातिथीन् यमसद्मप्राघुणिकान् पाशुपतेन शिवदत्तेनास्त्रेण मन्त्रपूर्वं समन्त्रकं निमन्त्रयाञ्चक्रे यमसदनातिथिभावेनाह्वानं चक्रे, तानपि निहतवान् इत्यर्थः॥

उस समयमें कभी भी पहले गाण्डीव शब्दको नहीं सुना था इसलिये 'हम पहले हम पहले आक्रमण करेंगे' इस प्रतिस्पर्द्धाके साथ एकबार ही सेना लेकर आक्रमण करने-वाले एवं देवों द्वारा अवध्यताका वरदान मिला रहनेके कारण मरण की चिन्तासे रहित उन निवातकवच नामक दैत्य वृन्दोंकी छातियोंमें क्षुरप्र नामक तीक्ष्णाग्र बाणोंसे छिद्र

---

१ 'अभिषेणनवतः'। २. 'नक्षिप्रैः'। ३. 'निवर्तमानोऽयं नभसि'। ४. 'प्रमादा-दापतितेन'। ५. 'स्फाटिक'। ६. 'जननिधन'। ७. 'प्रथमं पाशुपतेन'। इति पा०।

करके उनके हवाके द्वारा भी अप्रवेश्य कवचोंको निकलने वाले प्राणपवनों द्वारा प्रवात-वायुकम्पित बनाकर, (अर्थात् उनको मारकर) आकाशमें प्रमादवश गिरे हुए सूर्यके परिवेष (परिधि) की तरह दीखने वाले स्फटिक निर्मित प्राकारसे सुरक्षित हिरण्यपुरसे निवातकवच नामक बन्धुओंके मारे जानेकी खबर पाकर कोपसे निकलकर सामने आकर युद्ध करनेवाले कालकेय नामक दैत्योंको भी मन्त्रपूर्वक पाशुपतास्त्र प्रयोग द्वारा अर्जुनने यमराजके घरका आतिथ्य स्वीकार करनेका निमन्त्रण दे दिया। (उनका भी पाशुपतास्त्रसे वध कर दिया)॥

अवायुनेयाः शरदभ्रपङ्क्तीरविद्यमानास्तमयाश्च ताराः।
दैतेयसंहारभवाः स जिष्णुर्दिवि प्रतिष्ठापयति स्म कीर्तीः॥ १२॥

अवायुनेया इति। स जिष्णुरर्जुनः दिवि स्वर्गे अवायुनेयाः वायुना चालयित्तुमशक्याः शरदभ्रपङ्क्तीः शारदघनमालाः, अविद्यमानः असम्भवी अस्तमयो यासां तास्तथोक्ताः तारा नक्षत्राणि च दैतेयसंहारभवाः निवातकवचकालकेयादिदैत्य-वधजाताश्च कीर्त्तीः प्रतिष्ठापयति स्म। अर्जुनेन तान् दैत्यान् हत्वा दिव्नि शारद-घनोपमा धवलाः नक्षत्रोज्ज्वलाश्च कीर्त्तयः स्वर्गे स्थापिता या हि कीर्त्तयो न वायुना चाल्यन्ते, न वा कदाचिदस्तं यान्तीति। अत्र कीर्त्तिभिः सह शारदघनमा-लायास्ताराणाञ्च धावल्यकृतमौपम्यं तत्रावायुनेयत्वानस्तमयत्वाभ्यां व्यतिरेकः। स्पष्टमन्यत्॥ १२॥

अर्जुनने राक्षसों–निवातकवचकालकेय प्रभृतिके वधद्वारा स्वर्गमें अपनी ऐसी कीर्त्ति-स्थापित कर दी जो हवा द्वारा नहीं उड़ायी जा सकनेवाली शरदृतुकी मेघमाला और कभी भी नहीं अस्त होनेवाले तारोंके रूपमें कही जा सकती है॥ १२॥

हतरिपुं विनिवृत्तमवेक्ष्य तं हरिहयस्य सुरैः सह तुष्यतः।
नयनवारिभिरङ्गमनाप्लुतं न ददृशे तिलमात्रमपि स्वकम्॥ १३॥

हतरिपुमिति। हतरिपुम् निहतराक्षसरूपदेवगणशत्रुम् विनिवृत्तं पुनरुपागतं तमर्जुनम् अवेक्ष्य दृष्ट्वा सुरैः सह देवैः साधं तुष्यतः प्रसादमनुभवतः हरिहयस्य इन्द्रस्य स्वकम् निजमङ्गम् शरीरावयवः नयनवारिभिः प्रमोदाश्रुभिः अनाप्लुतम् अक्लिन्नम् तिलमात्रम् ईषदपि न ददृशे दृष्टम्। राक्षसान् हत्वा सकुशलं परावर्त्त-मानमवेक्ष्य देवैस्सह प्रसीदन्मनसो देवाधिपस्य किमप्यङ्गमजलाप्लुतं न दृश्यते स्मेति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, द्रुतविलम्बितं वृत्तम्॥ १३॥

शत्रुओं–देवशत्रु राक्षसों–को मारकर सकुशल लौटे हुए इन्द्रको देखकर देवोंके साथ प्रसन्नताका अनुभव करनेवाले इन्द्रका ऐसा कोई भी अङ्ग नहीं देखा गया जो तिलमात्र भी जलाप्लुत नहीं हो, अर्थात् समस्त अङ्ग आनन्दाश्रुमग्न देखा गया॥ १३॥

पुरि वज्रिणः सुरनुतिप्रसरत्पुलकावमग्नभुजचापकिणः।

मनसे स पञ्च शरदोऽप्सरसां वसति स्म पञ्चशरदो विजयः ॥ १४ ॥

पुरीति। अप्सरसाम् मनसे देवाङ्गनानां हृदयाय पञ्चशरदः कामप्रदः सुराङ्गनानां मनसि कामवासनाया उत्पादकः स विजयोऽर्जुनः सुराणां देवानां नुत्या बलवीर्यादिस्तुत्या देवैः कृताभिः प्रशंसाभिरित्यर्थः, प्रसरद्भिः प्रकटीभवद्भिः पुलकैः रोमाञ्चैः अवभग्नः छन्नः तिरोहितः भुजचापकिणः बाह्वोर्विद्यमानं चापघर्षणभवं चिह्नं यस्य स तथोक्तः सन् वज्रिणः इन्द्रस्य पुरि स्वर्गे पञ्चशरदः पञ्चवर्षाणि यावत् वसति स्म। अर्जुनः पञ्चवर्षाणि यावदमरपुरे वसति स्म, तत्र स्थिताय तस्मै अप्सरसोऽप्यस्पृहन्, देवकृताभिः पराक्रमप्रशंसाभिश्च तस्य तनूरोमाञ्चिताऽतिष्ठदित्यर्थः। प्रमिताक्षरावृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता' इति ॥१४॥

अप्सराओंके हृदयोंमें कन्दर्पवासनाको जागृत करनेवाला, देवों द्वारा की गई प्रशंसाके सुननेसे होनेवाले रोमाञ्चोंमें छिप गया है चापघर्षणजन्य व्रणकिण जिसका ऐसा वह अर्जुन देवपुरीमें पांच वर्षों तक रहा ॥ १४ ॥

तस्य वृत्तिमधिगम्य लोमशाद्धर्मजोऽपि मुदितः सहानुजैः।
प्राप्ततीर्थमुनिसेवनः क्रमात्पावनं बदरिकावनं ययौ ॥ १५ ॥

तस्येति। धर्मजः धर्मपुत्रः युधिष्ठिरः अपि अनुजैः सोदरैर्भीमादिभिः सह लोमशन्नाममुनेः तस्यार्जुनस्य वृत्तिं सकुशलं स्वर्गावस्थानं पाशुपतास्त्रलाभादिकं च समाचारम् अधिगम्य निशम्य मुदितः प्रसन्नः सन् प्राप्ततीर्थमुनिसेवनः अधिगतगङ्गादितीर्थः प्राप्तमुनिसङ्गतिश्च क्रमात् पावनं पवित्रं बदरिकावनं तदाख्यं क्षेत्रं ययौ। धर्मराजोऽपि स्वर्गागताल्लोमशादर्जुनवृत्तमाकर्ण्य प्रसन्नः सन् बदरिकाश्रमं ययौ, यन्मार्गे गङ्गादितीर्थसेवायाः मुनिजनसङ्गतेश्चावसरः प्राप्यतेस्मेति भावः। रथोद्धतावृत्तम् ॥ १५ ॥

धर्मराजने भी स्वर्गसे आये हुए लोमशमुनिके मुखसे अर्जुनका सारा वृत्त पाशुपतास्त्र लाभ, स्वर्गमें रहना आदिको सुनकर भाइयोंके साथ बड़ा आनन्द प्राप्त किया, और क्रमशः गङ्गादि तीर्थोंकी सेवा और मुनिजनोंके साथ संगति करते हुए पवित्र बदरिकाश्रमकी यात्रा की ॥ १५ ॥

तत्र ब्रह्मपरायणैर्मुनिगणैः[2] संसेव्यमानान्तिकौ
सध्र्यञ्चौ यमिनौ निरीक्ष्य स नरं नारायणं चाख्यया।
अङ्गेनानिशमा[3]न्तरेण महतीमेकां क्षमां संस्पृशन्
बाह्यैरष्टभिरङ्गकैरपि परां पस्पर्श पार्थः क्षमाम् ॥ १६ ॥

तत्र बदरिकावने ब्रह्मपरायणैः ब्रह्मध्यानसंलग्नैः मुनिगणैः ऋषिसमुदयैः संसे-

१. 'वृत्तम्'। २. 'जनैः'। ३. 'आन्तरेण'। इति पा०।

व्यमानान्तिकौ उपास्यमानसमीपौ सध्रयञ्चौ सहवर्त्तमानौ यमिनौ आख्यया नरं नारायणं च नरनारायणनामानौ यमिनौ मुनी निरीक्ष्य दृष्ट्वा अनिशं सर्वदा आन्तरेण अङ्गेन मनसा महतीम् अक्षोभ्याम् एकां क्षमां तितिक्षां संस्पृशन् आश्रयन्नपि पार्थः युधिष्ठिरः बाह्यैः बहिर्भवैः अष्टभिरपि करपादाभिरङ्गैः पराम् अन्याम् क्षमाम् धरणीं पस्पर्श साष्टाङ्गं प्रणनामेत्यर्थः। युधिष्ठिरो बदरिकाश्रमे ब्रह्मध्यानपरैर्मुनिभिः सेव्यमानसमीपदेशावपृथक् स्थायिनौ नरनारायणौ नाम मुनी दृष्ट्वा मनसा क्षमामेकामवलम्बमानो निजैरङ्गैरष्टाभिरपि परां क्षमां धरणीं स्पृष्टवान्, इत्याशयः ॥१६॥

उस बदरिकाश्रममें ब्रह्मपरायणमुनिगण जिनके समीपमें रहा करते हैं ऐसे तथा नित्यसहचर तपस्वी नरनारायण नामक मुनियोंको देखकर आन्तरअङ्ग अन्तः करण द्वारा एक क्षमा–तितिक्षा–को रखते हुए भी युधिष्ठिरने अपने बाह्य आठो अङ्गो द्वारा दूसरी क्षमा पृथ्वीका स्पर्श कर लिया। उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ १६ ॥

विलोकनैर्विश्रमशाखिभिस्तयोर्भवाध्वगानामवधूनितक्लमः[1]।
निवासमालम्ब्य तपोवने तदा विवासदुःखाद्विरराम पार्थिवः ॥ १७ ॥

विलोकनैरिति। तदा नरनारायणचरणवन्दनावसरे पार्थिवो राजा युधिष्ठिरः भवाध्वगानां संसारपथपथिकानां देहिनां विश्रमशाखिभिः छत्रप्रदानेन संतापहारिभिर्वृक्षैरिव स्थितैस्तयोर्नरनारायणयोर्विलोकनैः असकृत् दर्शनैः विधूनितक्लमः अपगतवनवासक्लेशः सन् तपोवने नररायणतपस्याश्रमे निवासमालम्ब्य स्थित्वा विवासदुःखात् राज्यभ्रंशकृतात् कष्टात् विरराम मुक्तोऽभूत्। नरनारायणौ दृष्ट्वा वनवासक्लेशं हित्वा तदन्तिके वासेन राज्यभ्रंशकष्टादपि युधिष्ठिरो मुच्यते स्मेति भावः ॥ १७ ॥

संसाररूप पथके पथिक–देहियों के छायाप्रदान द्वारा सन्तापहारी वृक्ष स्वरूप नर–नारायणके दर्शनोंसे जिनका वनवासक्लेश समाप्त हो गया है ऐसे राजा युधिष्ठिर जब उस नर–नारायणके तपोवनमें वास करने लगे, तब विवास–राज्यभ्रंशरूप कष्टसे भी निवृत्त हो गये–मुक्त हो गये ॥ १७ ॥

एकदा तत्र स्नुषावत्सलतयेव मारुतेन पुरतो नीतमटवीपर्यटनखेद[2][3]संपदामसासहिमन्धंकरणमलिकुलचेतसामासेचनकमरुणां कमपि कह्लारमुकुलमादाय 'क्व लभ्येत पुनरेतादृशम्?' इति कौतुकहर्षाभ्यां सूचिततर्षया पार्षत्या रहसि याचितः पार्षदश्विः क्षणं विचिन्त्य तद्विचिचीषया दिशमुदीचीं प्रतस्थे ॥

एकदेति। एकदा कदाचिदेकस्मिन् समये मारुतेन वायुना स्नुषावत्सलतया

१. 'परिधूनितश्रमः'। २. 'नीतमसासहिमटवी'। ३. 'खेदसंपदामन्धंकरणं'। इति पा०।

पुत्रवधूस्नेहेन इव पुरतो नीतम् अग्रतः प्रापितम् (द्रौपदी वायुस्नुषा, भीमस्य वायुपुत्रत्वात्) अटवीपर्यटनखेदसंपदाम् वनभ्रमणजनितश्रमाणाम् असासहिम् अपनेतारम् , अलिकुलचेतसाम् भ्रमरमानसानाम् अन्धङ्करणं मोहनम् , अक्ष्णाम् दर्शकलोचनानाम् आसेचनकम् तृप्तिकरम् कमपि अनिर्वाच्यरूपगुणयुतम् कह्लार-मुकुलम् पद्मकोशमादाय हस्ते गृहीत्वा 'क्व कुत्र पुनः भूयः एतादृशम् दृश्यमानेन तुल्यम् कमलं लभ्येत प्राप्येत' इति कौतुकहर्षाभ्यां कुतूहलानन्दाभ्यां सूचित-तर्षया ज्ञापितकमलप्राप्तिकामनया पार्षत्या द्रौपद्या रहसि एकान्ते याचितः तादृशं कमलमानेतुं प्रार्थितः पार्षदश्विः पृषदश्वस्य वायोः सुतो भीमः क्षणं विचिन्त्य अल्पं कालं यावत् तदुपलब्धिस्थानविषये विभाव्य तद्विचिचीषया तादृशस्य कमलपुष्प-स्याहरणाय उदीचीं दिशमुत्तरां दिशाम् प्रतस्थे चलितः ॥

किसी समय उस बदरिकारण्यमें वायुने द्रौपदीके आगे एक कमलका फूल लाकर गिरा दिया—मानों वायुदेव अपनी पुत्रवधू द्रौपदी पर प्रेमसे उसे उसके आगे रख रहे हों, वह फूल ऐसा था जिसके मिल जानेसे वनमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न श्रम समाप्त हो जाता था, भ्रमरोंके हृदयको मोह लेनेवाले तथा आँखोंको तृप्त करने वाले अवर्णनीय रूप गुणयुक्त उस कमल पुष्पको हाथमें लिये 'कहाँ पर यह फूल और मिल सकता है ?' इस प्रकार कौतुक तथा हर्ष प्रकट करनेके बहाने उस फूलको पानेकी इच्छा प्रकट करती हुई द्रौपदीने भीमसे वैसा फूल माँगा, भीमने थोड़ी दूर तक सोचा कि ऐसा फूल कहाँ मिल सकता है ? फिर वे उस तरहके फूलोंको पानेकी इच्छासे उत्तर की ओर चल पड़े ॥

क्षिप्रं विलङ्घ्य गिरिशैवलिनीवनानि
गच्छन्नसौ पथि ददर्श कपिं महान्तम् ।
दृग्भ्यामवन्तमरिपत्तन[1]दाहकाले
निद्रां भयादुपगता[2]मिव कुम्भकर्णात् ॥ १८ ॥[3]

क्षिप्रमिति । असौ उत्तरां दिशं प्रस्थितो भीमः गिरिशैवलिनीवनानि पर्वतनदी-काननानि विलङ्घ्य उत्तीर्य पथि मार्गे गच्छन् सन् महान्तं भीषणकायं कपिम् हनूमन्तम्—अरिपत्तनदाहकाले शत्रुनगर्या लङ्काया दाहसमये भयात् प्राणनाश-भीत्या कुम्भकर्णात् तं विहाय उपगताम् शरणागतां निद्राम् दृग्भ्याम् स्वनेत्रा-भ्याम् अवन्तं रक्षन्तं ददर्श । भीमो मार्गे कौम्भकर्णीमिव निद्रामुपागतं कमपि महान्तं कपिमपश्यदित्यर्थः ॥ उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १८ ॥

उत्तर दिशाको प्रस्थित—भीमने जल्दी-जल्दी पहाड़, नदियाँ और वनोंको पार करके रास्तेमें पड़े एक महान् कपिको देखा, वह इस तरह सो रहा था कि मानो हनुमान्जी

---

१. 'पट्टण' । २. 'उपनताम्' । ३. 'अभीरसौ गभीरमभाणीच' । इति पा० ।

लङ्कारूप शत्रुपुरीके दाह समयमें भयसे कुम्भकर्णको छोड़कर शरणमें आई उसकी निद्राको अपनी आँखोंमें रखे हों ॥ १८ ॥

कपिकुञ्जरं सुकृतपुञ्जमञ्जनापवमानयोरचलमानमध्वनि ।
विषयं दृशोरथ पुरो वृकोदरः स चकार साधु विहिताक्षिमीलनम् ॥१९॥

कपिकुञ्जरमिति । अथ सामान्यतो दर्शनात् भरतः अञ्जना हनूमन्माता पवमानस्तज्जनकश्च वायुस्तयोः सुकृतपुञ्जम् पुण्यराशिरूपम् , विहिताक्षिमीलनम् निमीलितदृशम् अचलमानम् मार्गादनपसरन्तं पर्वतप्रमाणं वा तं कपिकुञ्जरं वानरमुख्यम् हनूमन्तं पुरः अग्रे अध्वनि–मार्गे दृशोर्विषयम् अक्षिगोचरं चकार ददर्श ॥ अत्र पुत्रस्य पुण्यराशिलभ्यत्वेऽपि तस्मिंस्तत्त्वव्यपदेशः कार्यकारणयोरभेदाध्यवसायमूलकलक्षणयाऽऽयुर्घृतमितिवद्बोध्यः ॥ १९ ॥

इसके बाद भीमने अञ्जना तथा वायुदेवके पुण्यपुञ्जस्वरूप, रास्तेसे नहीं हटनेवाले अथवा पर्वतप्रमाण (अचलमान) आँखे बन्द किये हुए कपिश्रेष्ठ हनूमान्‌जीको आगे राह पर देखा ॥ १९ ॥

अभीरसौ गभीरमभाणीच्च,—

अभीरिति । न भीः भयं यस्यासौ अभीः निर्भयः असौ भीमः गभीरं गभीरस्वरेण अभाणीत् उक्तवांश्च, कपिकुञ्जरमिति शेषः ।

निर्भय उस भीमने गंभीर आवाजमें कहा— ॥

कस्त्वं निरुध्य पदवीमविनीतबुद्धे !
निद्रास्यपेहि न सहे गमने विलम्बम् ।
क्रोधो भुजामिव ममाद्य हिडिम्बहन्तु-
रुद्यद्गदां तव तनूमपि मूढ ! कुर्यात् ॥ २० ॥

कस्त्वमिति । हे अविनीतबुद्धे, अशिक्षितमते, कः त्वं पदवीं मार्गं निरुध्य आवृत्य निद्रासि शेषे ? अपेहि मार्गात् अन्यतो गच्छ, गमने विलम्बं कालात्ययं न सहे न मर्षयामि । रे मूढ (यदि मयोक्तोऽपि मार्गान्नापैषि तदा) हिडिम्बहन्तुः हिडिम्बासुरवधकर्त्तुः मम भीमस्य क्रोधः मद्भुजाम् मम बाहुम् उद्यद्गदाम् उत्थितगदारूपप्रहरणाम् इव तव मार्गमवरुध्यशयानतया कृतापराधस्य कपेः तनूम् देहम् अपि उद्यद्गदां (गदाऽऽघातेन) संजातपीडां कुर्यात् विदध्यात् । कुपितस्य मम बाहुर्गदामुत्थाय तव तनूं चूर्णयेदतः पथोऽपसरेति भावः । हिडिम्बहन्तुरिति विशेषणस्य साभिप्रायतया परिकरो नामालङ्कारः ॥ २० ॥

हे अशिक्षितमते–मूढ, रास्ता रोककर सोनेवाले तुम कौन हो ? रास्तेसे दूर हट जाओ, जानेमें विलम्ब मैं नहीं सह सकता हूँ । हमको अगर क्रोध हुआ तब आज हमारी भुजाको 'उद्यद्गदा'–उठी है गदा जिसमें ऐसी बनाकर उसीकी तरह तुम्हारी देहको भी

'उद्यद्गदा'—उत्पन्न हैं पीडा जिसमें ऐसी कर दूँगा। हाथके पक्षमें—'उद्यन्ती गदा यस्यां सा उद्यद्गदा', और देहके पक्षमें 'उद्यन् गदो रोगो यस्यां सा उद्यद्गदा' यह समास करना चाहिये ॥ २० ॥

[1]क्रौर्यस्पृशा तदनु कौरवसार्वभौम-
वाचा[2]तया सपदि मारुतनन्दनस्य।
दृग्द्वारपद्मपुटयुग्मक[3]वाटकूट-
निद्रार्गलाहरणकुञ्चिकया बभूवे[4] ॥ २१ ॥

क्रौर्यस्पृशेति। तदनु ततः क्रौर्यस्पृशा कठोरतायुक्तया तया प्रागुक्तरूपया कौरवसार्वभौमस्य कुरुवंशराजस्य भीमस्य वाचा वचसा सपदि सद्यः मारुतनन्दनस्य हनुमतः दृग्द्वारस्य नेत्ररूपद्वारस्य पद्मपुटयुग्मम् कवाटकूटम् कपालदलद्वयम् तस्य निद्रा एवार्गला तदाहरणकुञ्चिकया तदुद्घाटनशलाकारूपया बभूवे जातम्। यथा कश्चित् क्वचिद्द्वारे योजितं कपाटकूटं दत्तार्गलं च कुञ्चिकयोन्मोचयति तद्वद्भीमस्य कटुवी वाणी हनूमतो नेत्रद्वारे योजितं पद्मयुग्मकपाटं दत्तनिद्रारूपार्गलं मोचितवतीति भावः। साङ्गं परम्परितं रूपकमलङ्कारः ॥ २१ ॥

भीमकी उस तरहकी क्रूरतायुक्त वाणी हनूमान्‌के नेत्ररूप द्वारमें वरुनीरूपक कपाटोंमें लगी निद्रारूप अर्गलाको दूर करनेमें चाबी बन गई। जैसे दरवाजेमें लगे कपाटकी अर्गला—कील—जब खोलना होता है तो चाबीसे खोलते हैं उसी तरह हनुमान्‌के नेत्रद्वारमें लगे वरुनीरूप कपाटकी नींदरूप अर्गलाको खोलनेमें भीमकी कड़वी वाणी चाबी बन गई, अर्थात् मारुतनन्दनने भीमकी कड़वी बातें सुनकर आँखें खोल दीं ॥ २१ ॥

इत्थं गिरा किंचिदुदीक्ष्य तस्य लाङ्गूलमात्रे तरलः कपीन्द्रः।
कोपारुणाक्षं कुरुसिंहमेनं स्वापारुणाक्षः स्वयमेवमूचे[5] ॥ २२ ॥

इत्थमिति। इत्थम् एतत्प्रकारया प्रोक्तविधया तस्य भीमस्य गिरा कटुवाचा लाङ्गूलमात्रे केवलपुच्छभागे तरलः चलः (प्रबोधसूचनायेषत्कम्पितपुच्छः) कपीन्द्रः कपिश्रेष्ठो हनूमान् स्वयं स्वापेन निद्रया अरुणाक्षः रक्तनयनः कोपारुणाक्षम् क्रोधरक्तनयनम् एनम् कुरुसिंहम् कुरुवीरं भीमम् किञ्चित् उदीक्ष्यदृष्ट्वा एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचे उक्तवान् ॥ २२ ॥

भीम द्वारा कही गई इस तरहकी कटुवाणी सुननेके बाद हनुमानजीने पूँछमात्र हिलाकर अपने जागनेकी सूचना दी, भीमको थोड़ी देरतक देखते रहे और निद्रासे रक्तनयन कपीश्वरने कोपरक्ताक्ष भीमसे इस प्रकार वचन कहा ॥ २२ ॥

---

१. 'इत्थं गिरा—'। २. 'वाग्रूपया'। ३. 'कपाट'। ४. 'बभूव'।
५. 'आ वालधेररिमहागृहदाहशौण्डादाचौपधांचलधृतिस्थपुटात्किरीटात्।
अङ्गेष्वजातचलनोऽप्यखिलेषु भीममालोक्य मन्दमधरोष्ठपुटे चकम्पे ॥' इति पा०।

भद्र ! स्वस्त्यस्तु तुभ्यं चिरमिह जरया[1] निद्रयाप्यातुरोऽहं
प्रत्युत्थानादिकर्मण्यपटुरवयवैरस्मि तस्मात्त्वमेव[2] ।
जात्यावस्थानरीत्यापि च विपिनपथे प्राप्ततिर्यक्त्वमेनं
बालाग्रे मां विकृष्य द्रुतमभिलषितप्राप्तये[3] साधयेति[4] ॥ २३ ॥

भद्रेति। हे भद्र, शुभंयो, तुभ्यं स्वस्ति कल्याणमस्तु, इह अत्र काले अहं बहुकालप्रवृत्तया जरया वार्द्धकेन निद्रया स्वापेन चातुरः व्यग्रः अस्मि, अवयवैः स्वीयैः करचरणादिभिः प्रत्युत्थानादिकर्मणि उत्थानमार्गापसरणादिक्रियायाम् अपटुः अशक्तः अस्मि च। (यतोऽहं निद्रया वृद्धतया चाभिभूतः प्रत्युत्थानाद्यशक्तश्चास्मि) तस्मात् त्वम् एव जात्या उत्पत्त्या प्राप्ततिर्यक्त्वम् प्राप्ततिर्यग्योनिम् कपियोनौ समुत्पन्नम् अपि च विपिन पथे इह कान्तारवर्त्मनि प्राप्ततिर्यक्त्वम् वक्रतयाऽवस्थितम् माम् बालागे पुच्छाग्रभागे (धृत्वा) विकृष्य यथोऽपसार्य द्रुतं शीघ्रम् अभिलषितप्राप्तये स्वाभीष्टसिद्धये साधय गच्छ। मम पुच्छमवलम्ब्य मां पथो दूरीकृत्य च स्वकार्यं सम्पादयितुमात्मनो वर्त्मना गच्छेति भावः ॥ २३ ॥

हे कल्यागिन् , तुम्हारा भला हो, मैं बहुत दिनोंका बूढ़ा तथा चिरकालसे आनेवाली निद्रासे व्यग्र हूँ, हमारे हाथ पांव उठनेमें भी अशक्त हो रहे हैं, अतः तुम ही पूँछका अगला भाग पकड़ कर घसीट कर मुझे रास्ते परसे हटा दो, मैं जन्मना भी तिर्यंग् योनिमें हूं और अपनी इस अवस्थान रीतिसे भी वनमार्गमें तिर्यक् रूपसे-टेढ़ा होकर पड़ा हूँ, मुझे रास्तेसे दूर घसीट कर रख दो, और तुम अपने इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रस्थान करो, तुम बहादुर हो इतना तो अवश्य कर सकते हो ॥ २३ ॥

इत्युक्त एष धरणौ परिघं निधाय वल्कं दृढं च परिधाय भुजार्गलाभ्याम् ।
तं क्रष्टुमेव न शशाक स तु प्लवङ्गो बालस्थया घनतयास्य मनश्चकर्ष ॥२४॥

इत्युक्त इति। इति प्रोक्तप्रकारकं वचनम् (हनूमता) उक्तः कथित एषः भीमः भूमौ पृथिव्यां परिघं स्वां गदां निधाय स्थापयित्वा वल्कं परिधानवल्कलं च दृढं परिधाय दृढीकृत्य (परिकरं बद्ध्वा) भुजार्गलाभ्याम् अर्गलोपमाभ्यां बाहुभ्याम् तं हनूमन्तं क्रष्टुम् पुच्छाग्रेगृहीत्वा पथोऽपसारयितुमेव न शशाक न समर्थोऽभूत्, स प्लवङ्गः कपिस्तु बालस्थतया स्वपुच्छगतया घनतया गुरुतया अस्य भीमस्य मनश्चकर्ष आकृष्टवान्। तदीयं पुच्छमभ्युत्थापयितुमशक्यमानेनानेन भीमेन तत्पुच्छगौरवं विभाव्य महान् विस्मयः प्राप्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

---

१. 'जरसा'। २. 'एवन्'। ३. 'अभिलषितं प्रार्थये'।

४. 'अरातिसंघातनिघातकर्मण्यत्रालहस्तो मम बालहस्तम् ।
उद्धृत्य याहि द्रुतमुत्तरत्रेत्युक्त्वैव स श्रान्तिमुपाजहार ॥' इति पा० ।

हनूमान्ने जब ऐसा कहा तब भीमने अपनी गदा जमीन पर रख दी, अपना वल्कल वस्त्र कसकर बांध लिया, और अर्गला-कीलकी तरह विशाल तथा पीन अपने बाहुओंसे उस कपिराजको खींचनेमें भी असमर्थताही प्राप्त की, हाँ अपनी पुच्छगुरुतासे उस कपिराजने भीमके हृदयको विस्मयमें अवश्य डाल दिया, उसकी पूछकी गुरुताका अन्दाज करके भीमका हृदय विस्मयान्वित हो गया ॥ २४ ॥

तदनु [1]विस्मयव्रीडापारदृश्वना मातरिश्वसूनुना 'त्वं वासवलोकवासिषु कोऽसि ? इति पृष्टः कपिकुञ्जरः स्वमञ्जनायां प्रभञ्जनेन [2]संजातं जानकीजानेर्हृदयरञ्जकं लेख[3]वाहकं व्याजहार ॥

सबहुमानं तस्य वचनमाकर्ण्य,—

तदन्विति। तदनु कपिपुच्छोत्थापनाशक्तत्वानुभवे विस्मयस्य आश्चर्यरसस्य व्रीडाया लज्जायाश्च पारदृश्वना पारं गतेन महान्तं विस्मयं दीर्घां लज्जां चानुभवता मातरिश्वनो वायोः सूनुना पुत्रेण त्वं कपे, वासवलोकवासिषु स्वःस्थेषु देवेषु कोऽसि ? कतमो भवसि ? इति एवं पृष्टः अनुयुक्तः कपिकुञ्जरोवानरश्रेष्ठो हनूमान् स्वम् आत्मानं प्रभञ्जनेन वायुना संजातम् उत्पादितम् जानकीजायायस्य तस्य जानकीजानेः श्रीरामस्य हृदयरञ्जकं चेतस आह्लादकं लेखवाहकं सम्वादप्रापकं दूतं व्याजहारोक्तवान्। देवेषु त्वं क इति भीमेन विस्मित्य लज्जित्वा च पृष्टो हनूमान् आत्मानं वायुसुतं रामस्य प्रियं दूतं चाभ्यधादित्यर्थः ॥

सबहुमानम् आदरपूर्णं तस्य वचनं भीमस्य वाचम् आकर्ण्य श्रुत्वा—

जब भीम हनूमान्की पूँछ उठा नहीं सके तब भीमने हनूमान्से आश्चर्य तथा लज्जाके साथ पूछा कि देवोंमेंसे आप कौन हैं ? इसके उत्तरमें हनूमान्ने बताया कि वायुद्वारा अञ्जनामें उत्पादित तथा जानकीके प्रिय रामका सन्देश ले जानेवाला प्रिय दूत हूँ मैं।

उनका इस तरहका आदरपूर्ण कथन सुनकर—

प्रीतेन तेन पुनरप्यधिपः कपीनामूचे तथा यदि भवानधुनार्थयेऽहम्।
कर्तुं तनुं नयनयोः पथि [4]तावकीनां तत्तादृशीमुदधिपल्वलतासवित्रीम्॥२५॥

प्रीतेनेति। प्रीतेन हनूमदुक्त्या जातप्रसादेन तेन भीमेन कपीनाम् अधिपः वानरराजो हनूमान् पुनरपि एवम् वक्ष्यमाणप्रकारकं वचनम् ऊचे उक्तः यदि भवान् तथा-रामस्य दास हनूमान्, तर्हि अधुना सम्प्रति अहमर्थये प्रार्थये, किं कर्तुं प्रार्थयसे इत्यपेक्षायामाह—'तत्तादृशीम् अतिमहतीम् उदधिपल्वलतासवित्रीं सागरस्य स्वल्पजलाशयताकारिणीम् तावकीं तनुं स्वं देहम् नयनयोः मम

---

१. 'विनयविस्मयव्रीडा'। २. 'संजनितम्'। ३. 'लेखवाहम्'। ४. 'तावकीं तां'। इति पा०।

नेत्रयोः पथि मार्गे विषये कर्त्तुं प्रार्थये इत्यन्वयः, येनाहं तव तद्वपुरीक्षेय येन त्वं सागरं पल्वलमिवसुखमतरस्तथा दयस्वेति प्रार्थना विषयो बोध्यः। यदि त्वं रामस्य दूतो हनूमानसि तर्हि यया तन्वा सागरमतस्तां तनूं मे दर्शय, येन निवृत्तसंशयो जायेयेतितात्पर्यम् ॥ २५ ॥

हनूमान्की वार्तोंसे प्रसन्न होकर भीमने हनूमान्जीसे फिर कहा कि यदि आप राम-दूत हनूमान् हैं तब आपसे हमारी फिरसे एक प्रार्थना है कि आप अपना वह विशाल शरीर हमारी आँखोंके सामने ला दें जिस शरीरने समुद्रको छोटेसे तालाबके रूपमें परिणत कर दिया था, अर्थात् जिस विशाल शरीरसे आप सागरको अनायास पार कर गये थे ॥ २५ ॥

इत्युक्तोऽयं प्रवृद्धोऽङ्गैर्हेलया रुरुधे निजैः।
वैमात्रेयस्य तस्येव मार्गं सं द्युसदामपि ॥ २६ ॥

इत्युक्तोऽयमिति। इति उक्तप्रकारेण भीमेन उक्तः अयं हनूमान् हेलया अयत्नेनैव निजैः अङ्गैः करचरणादिभिरवयवैः प्रवृद्धः सन् सः वैमात्रेयस्य मातृसपत्नीपुत्रस्य तस्य भीमस्य मार्गम् इव द्युसदाम् आकाशचराणां देवानामपि मार्गम् व्योम रुरुधे व्याप्तवान् तावान्प्रवृद्धो येनाकाशमपिव्याप्तवानिति भावः। दीपकमलङ्कारः—द्वयोर्मार्गयोः प्रकृताप्रकृतयो रोधरूपधर्मैक्यात् ॥ २६ ॥

इस प्रकार भीमके कहने पर हनूमान्ने अपने अङ्गोंको अनायास इतना बढ़ा लिया कि उनके अङ्गोंने आकाशचारियों देवोंके मार्गको भी उसी तरह व्याप्त कर लिया घेर लिया, जैसे उन्होंने अपने सौतेले भाई भीमका मार्ग व्याप्त किया था—घेर लिया था ॥२६॥

त्रस्तस्य तद्वपुरुदीक्ष्य सजातिशङ्किमैनाकसंशयकुठारितपक्षलोपम्।
मोहे यथा नयनयोर्मुकुलीबभूव बोधे तथैव करयोरपि युग्ममस्य ॥ २७ ॥

त्रस्तस्येति। सजातिं समानजातीयं पर्वतं शङ्कतेऽसौ सजातिशङ्की तथाभूतस्य मैनाकस्य संशये पर्वतत्वप्रकारकसन्देहे कुठारितः कुठारभावं गतः लोपकरः पक्षलोपाः पक्षविरहो यस्य तं तथोक्तम्—समुद्रमुत्प्लवन्तं हनूमन्तं दृष्ट्वा समुद्रगर्भगतो मैनाको यावद्धनूमद्विषये पर्वतत्वशङ्कां पुष्णाति तावदेव पक्षविरहेण तस्य संदेहोऽलुप्यत, मन्ये पक्षलोपः संदेहच्छेदे कुठारकार्यमकृतेति भावः। तादृशं तद्वपुः उदीक्ष्य हनूमच्छरीरं दृष्ट्वा त्रस्तस्य भीतस्य भीमस्य मोहे मूर्च्छाकाले नयनयोर्युग्मं द्वयं मुकुलीबभूव न्यधीयत, प्रबोधे ज्ञानोदये सति च करयोः युग्मम् मुकुलीबभूव अञ्जलिरूपेण पर्यणमत। तादृशं पर्वतसमं विशालं हनूमतो रूपं दृष्ट्वा भीमः प्राङ्मूर्च्छामुकुलितनेत्रः समजनि, परतश्चजाते प्रबोधे श्रद्धया अञ्जलिं बद्धवानिति भावः ॥ २७ ॥

१. 'दिविषदामपि'। इति पा०।

हनूमान् जब समुद्र लांघ रहे थे, उस समय उनका विशाल शरीर देखकर समुद्रमें रहनेवाले मैनाकके हृदयमें शङ्का हुई कि यह कोई हमारा ही सजाति सपक्षपर्वत है, परन्तु उसकी इस शङ्काका छेदन हो गया जब कि हनूमान्का पङ्ख नहीं देखा गया, मैनाकके हृदयमें वर्त्तमान सन्देहके छेदनमें पक्षका नहीं होना इसीने कुठारका कार्य किया, जिस रूपकी यह बात है, उस रूपको देखकर भीम भीम जब तक मूर्च्छाकी स्थितिमें रहे तबतक तो उनकी आँखें मुकुलित-मुंदी हुई-रहीं, फिर जब उनको होश हुआ तब उनके दोनों हाथ मुकुलित-अञ्जलिबद्ध-हो गये ॥ २७ ॥

प्रमोदात्परिपुष्यद्भिः प्रतिक्षणमथाङ्गकैः ।
भीमेनाप्युदपादीव[1] भ्रातृवृद्धिविडम्बना ॥ २८ ॥

प्रमोदादिति । अथ हनूमतो विशालं वपुर्दृष्ट्वा भीमेनापि प्रमोदात् आनन्दातिशयात् परिपुष्यद्भिः वर्धमानैः अङ्गैरेवाङ्गकैः भ्रातुः हनूमतः वृद्धेः कायमहत्त्वकल्पनायाः विडम्बना अनुकरणम् इव उदपादि कृता । यथा भ्राता हनूमान्वपुषाऽवर्धत तदनुकरणप्रवृत्तो भीमोऽपि रोमाञ्चोदयेन फुल्लद्भिर्निजैरङ्गैस्तस्य विडम्बनमिवाकृतेति भावः ॥ २८ ॥

हनूमान्के विशाल शरीरको देखकर भीमको जो आनन्दातिशय प्राप्त हुआ, उससे उनका शरीर रोमाञ्चित होनेके कारण प्रफुल्लित हो उठा, ऐसा लगा मानो वह अपने भाई की शरीरवृद्धिका अनुकरण कर रहे हों ॥ २८ ॥

सविनयमेवं व्यजिज्ञपच्च,—

सविनयमिति । एवम् वक्ष्यमाणरूपेण सविनयं नम्रभावेन व्यजिज्ञपच्च विज्ञापितवांश्च, भीमो हनूमन्तमुवाच चेत्यर्थः ।

भीमने नम्रतापूर्वक हनुमान्से इस प्रकार कहा भी—

प्रार्थ्यमानपददर्शनं चिरात्पश्यतः पथि भवन्तमग्रजम् ।
विस्मयाम्बुनिधिरेष मेऽधुना वीरवर्य ! भवतापि दुस्तरः ॥ २९ ॥

प्रार्थ्यमानेति । चिरात् बहुकालात् प्रार्थ्यमानपददर्शनम् काम्यमानचरणावलोकनम् अग्रजम् ज्येष्ठभ्रातरं भवन्तं पथि मार्गे पश्यतो मे एषः मन्मात्रवेद्यो विस्मयाम्बुनिधिः आश्चर्यरससमुद्रः हे वीरवर्य, वीरश्रेष्ठ, भवताऽपि दुस्तरः तर्त्तुमशक्यः । अहं भवतश्चरणयोर्दर्शनं चिरादैच्छं सपदि पथि भवन्तं भ्रातरं पश्यतो मम मनसि यो विस्मयाम्बुधिरुद्वेल्लते तं (सागरं सुखं तीर्णवान्) भवानपि न सुखं तरीतुमीश इति भावः । अतिमहान् मम विस्मय इति तात्पर्यम् ॥ २९ ॥

मैं आपके चरणोंके दर्शनोंके लिए चिरकालसे लालायित था, आज रास्तेमें मैं अपने

---

१. 'उदघाटीव भ्रातुः' । इति पा० ।

बड़े भाई—आपके दर्शनोंका अवसर प्राप्त कर सका हूँ, आपके दर्शनोंसे हमारे हृदयमें जो विस्मयका सागर लहराने लगा है, सच कहता हूँ उसे पार कर सकना आपके लिये भी कठिन होगा। आपने समुद्र लांघा है, परन्तु हमारे हृदयका विस्मयसागर पार करना आपके लिये भी कठिन होगा। वह सागर से भी बड़ा है ॥ २९ ॥

राघवस्य सहजादपि त्वयि प्रेमवृत्तिरधिकेति मे मतिः ।
यामिनीचरवधोत्सवे यतो लक्ष्मणादधिकमंशमग्रहीः ॥ ३० ॥

राघवस्येति। राघवस्य रामस्य त्वयि हनूमति सहजात् सोदरात् अपि भ्रातुः लक्ष्मणात् अधिका प्रेमवृत्तिः प्रगाढप्रेमा इति मे मम भीमस्य मतिः विश्वस्तं ज्ञानम्, तत्र हेतुमुपन्यस्यति—यतः यामिनीचराणां रक्षसां वध एव उत्सवः संसारकल्याणसाधनत्वात् उत्सवरूपः तत्र लक्ष्मणात् अधिकम् अंशम् भागम् अग्रहीः, अतो रामस्त्वयि लक्ष्मणापेक्षयाऽधिकं प्रेमाणं रक्षति, प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेष्वित्युक्तत्वात्' इति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३० ॥

मैं समझता हू कि आपके लिये रामजीके हृदयमें लक्ष्मणसे भी अधिक प्रेम है क्यों कि राक्षसोंके वधरूप उत्सवमें आपने लक्ष्मणसे अधिक हाथ बटाया था। आपको रामजी लक्ष्मणसे अधिक स्नेह करते हैं इसका कारण यही है कि आपने लक्ष्मणसे अधिक सहायता पहुँचाई थी, लक्ष्यसाधनमें महान् लोग काम देखकर स्नेहकी मात्राका विभाजन करते हैं ॥ ३० ॥

आर्य ! क्षमस्व मम वागपराधमुग्र-
मित्यानतं चरणयोश्चिबुके गृहीत्वा ।
जिघ्रञ्शिरस्यवरजं मुमुचे हनूमान्
भीमोऽप्यमुष्य विरहासहनोऽश्रुबिन्दून् ॥ ३१ ॥

आर्येति। हे आर्य पूजनीय, उग्रं परुषं मम वागपराधं कटूक्तिप्रयोगजनितमागः क्षमस्व मर्षय, इति एवमुक्त्वा आनतं चरणयोः पतितम् अवरजम् कनिष्ठभ्रातरम् चिबुके ओष्ठाधःप्रदेशे गृहीत्वा शिरसि जिघ्रन् स्नेहज्ञापनाय शिरस्युपाघ्राय हनूमान् भीमं मुमुचे मुक्तवान् गमनानुज्ञां दत्तवान्, भीमः अपि अमुष्य हनूमतः विरहासहनः वियोगासहिष्णु अश्रुबिन्दून् अश्रूणि मुमुचे विससर्ज। मम वचनकृतमपराध क्षमस्वेत्यभिधाय चरणयोः पतितं भीमं चिबुके धृत्वा शिरस्युपाघ्राय च ममताख्यापनविधयाऽपराधक्षमामिव सूचयित्वा हनूमान् भीमं गन्तुमनुज्ञातवान्, भीमश्च गमने हनूमद्वियोगमुत्प्रेक्ष्यैव तदसहतयाऽश्रूणि मुमोचेति भावः ॥ ३१ ॥

हे आर्य, आप हमारे वचनद्वारा किये गये इस कठोर अपराधकी क्षमा करें, ऐसा कहकर चरणों पर गिरे हुए भीमकी ठुड्डी पकड़कर (दाढ़ी पकड़कर) और सिर सूँघकर

हनुमान्ने उसे आगे जानेकी अनुमति दे दी, जाते समय हनुमान्के वियोगको न सह सकनेके कारण भीमने भी अश्रुओंके बूँदोंकी वर्षा की, वह भी रो पड़े ॥ ३१ ॥

गच्छतोऽस्य पथि मारुतेः पुरो गन्धमादनमभूत्कुलाचलः ।
वानरेन्द्र इव गाढवीक्षिकावासनाभिरविमुक्तदृक्पथः ॥ ३२ ॥

गच्छतोऽस्येति । अथ हनूमदनुमतिमासाद्य गच्छतः अस्य मारुतेः भीमस्य पथि मार्गे गन्धमादनं नाम कुलाचलः पर्वतश्रेष्ठः सप्तकुलाचलानामन्यतमः—गाढं निरन्तरं सोत्कण्ठं च या वीक्षिकाः दर्शनानि तद्वासनाभिः तत्संस्कारवशात् अविमुक्तदृक्पथः अनुज्झितदृष्टिविषयः (नयनयोर्गाढमासक्ततया दूरापसरणेऽपि दृष्ट्योर्विद्यमान इव) वानरेन्द्रः हनूमान् इव पुर अग्रेऽभूत् । अयमाशयः—हनूमताऽनुमतो भीमो यावदग्रे गच्छति तावत्तेन गन्धमादननामा कुलाचलः दृश्यते स्म, स च पर्वतो भीमेन चिरं हनूमतो दृष्ट्योपजातेन संस्कारेण दृष्टिस्थितो हनूमान् इव प्रतीयते स्मेति भावः ॥ ३२ ॥

हनूमान्की अनुज्ञा प्राप्तकरके भीम जब आगे बढ़े तब उनके आगे गन्धमादन नामका एक पर्वत आ गया, गन्धमादन सात कुलाचलों-पर्वतश्रेष्ठोंमें से एक है, उसे देखकर भीमको ऐसा मालूम पड़ा मानों वह बहुत देर तक और उत्कण्ठासे हनूमान् को देखते रहे, उसीसे आँखोंमें हनूमद्विषयक जो संस्कार-वासनाएँ उत्पन्न हैं उन्हींके कारण दृष्टिवर्त्ती हनूमान्को ही देख रहे हैं ॥ ३२ ॥

अलकेशयोषिदलकेशयैः सुमैः
सुरभिं प्रमोदसुरभिं नभःसदाम् ।
शिखरे स तस्य महतीमुदग्दिशो
मणिदर्पणीमिव ददर्श वापिकाम् ॥ ३३ ॥

अलकेशेति । सः भीमः तस्य गन्धमादनस्य पर्वतस्य शिखरे उपरिभागे अलकेशस्य अलकाभर्त्तुः कुबेरस्य योषितां रमणीनाम् अलके केशपाशे शेरते निर्भरं तिष्ठन्ति तैः कुबेरस्त्रीभिरात्मके केशप्रसाधनकर्मण्युपयुज्यमानैः सुमैः सौगन्धिकप्रसूनैः सुरभिम् आमोदपूर्णाम् , नभःसदाम् देवानाम् प्रमोदाय आनन्दाय सुरभिम् कामधेनुम् देवानाममन्दस्यानन्दस्य दात्रीम् , उदग्दिशः उत्तरस्या दिशो नायिकायाः मणिदर्पणीम् मणिनिर्मितमादर्शमिव महतीम् दीर्घाम् वापिकाम् जलाशयं ददर्श । गन्धमादनशिखरे कुबेरस्त्रीभिः स्वीयकेशप्रसाधनकर्मणि उपयुज्यमानैः सौगन्धिकप्रसूनैरामोदिनीं देवानामानन्दजननीं दिश उत्तरस्या नायिकाया मणिमयदर्पणीमिवैकां दीर्घां दीर्घिकां भीमो दृष्टवानिति भावः ॥ ३३ ॥

उस गन्धमादनपर्वतके शिखर पर भीमने देखा कि एक तालाब है जो अलकापुरीके

स्वामी कुबेर की स्त्रियों द्वारा अपने केशोंको अलङ्कृत करनेके लिये व्यवहृत किये जानेवाले पुष्पोंसे सुगन्धित है, और देवोंके आनन्दके लिये कामधेनु है, वह तालाब ऐसा लगा मानो उत्तरदिशारूप नायिकाका मणिदर्पण हो ॥ ३३ ॥

यक्षाधिपस्य यशसीव गृहीतदेहे
दृष्ट्वा भयादपगते सति हंसयूथे।
कक्षानिवेशितगदः स विगाह्य तोयं
फुल्लानि हल्लककुलान्यखिलान्यलावीत् ॥ ३४ ॥

यक्षाधिपस्येति। गृहीतदेहे शरीरधारिणि यक्षाधिपस्य कुबेरस्य यशसि कीर्त्तौ इव हंसयूथे हंसकुले दृष्ट्वा (भीमम्) आलोक्य भयात् त्रासात् अपगते अपसृते सति कक्षायां वस्त्रवेष्टने निवेशिता स्थापिता गदा येन स तादृशो भीमः तोयं विगाह्य पानीयं प्रविश्य फुल्लानि विकसितानि अखिलानि सर्वाणि हल्लककुलानि रक्तकमलवृन्दानि अलावीत् त्रोटितवान्। 'कक्षा वस्त्रकृतं कटिवेष्टनम्' इति प्रसिद्धं बद्धकक्षादौ। तत्र वापिकायां विद्यमाना हंसा मूर्त्तिमन्ति कुबेरयशांसि इव प्रतीयन्ते स्म, ते हंसा भीमं विलोक्य भयादिवापसस्रुः, अथ कक्षायां गदां स्थापयित्वा मुक्ताभ्यामुभाभ्यां कराभ्यां सर्वाण्यपि तत्र विकसितानि रक्तकमलानि भीमो लुलावेति तात्पर्यम् ॥ ३४ ॥

शरीर धारण करके आये हुए कुबेरसम्बन्धी यशोराशिके समान प्रतीत होने वाले हंस भीमको देखकर डरसे इधर उधर भाग गये, भीमने अपनी गदा फेटीमें (डांड बांधनेका वस्त्र) खोंस ली, और पानीमें उतरकर सारे खिले हुए रक्तकमल तोड़ लिये। गदाको डांड़में रख लिया—इसका उपादान इसीलिये किया है कि वैसा कर लेनेपर दोनों हाथोंसे पुष्प लेनेमें सुविधा होगी ॥ ३४ ॥

तदात्व एव तद्रक्षिणः 'कस्त्वं रे[1] जाल्म ! आयुरग्रभूमिमारुरुक्षसि ?' इति समन्ततो निरुन्धानानन्वर्थता[2]वलम्बकतया लोहिता[3]यितानां लोचनानां प्रतिबिम्बैस्तां सरसीं पुनरपि सौगन्धिकान्तर्वर्तिनीमिव कुर्वतः क्रोधवशान्नाम यातुधानान्स भीमो रंहसा समुपबृंहितसिंहनादश्चिर[4]मुपोषितस्य परिघस्य पारणां परिकल्पयांचक्रे ॥

तदात्व इति। तदात्वे भीमकृतपुष्पलवनसमये एव तद्रक्षिणः तद्वापीरक्षाधिकृतान्, रे जाल्म, असमीक्ष्यकारिन्, त्वं कः? (इत्युक्त्वा) इति एवम्—समन्ततो निरुन्धानान् परितोऽवरोधपरायणान् अन्वर्थतावलम्बकतया सार्थकतया

१. 'साहसिन्'। २. 'अवलम्बितया'। ३. 'लोहितानाम्'। ४. 'चिरतरम्'। इति पा०।

लोहितायितानां रक्तीभूतानाम् (शोणितोपमतया लोहितपदसार्थक्यं प्रकाशयताम्) लोचनानां दृशां प्रतिबिम्बैः छायाभिः तां सरसीम् वापिकाम् पुनरपि भीमेन सकलसौगन्धापहरणेन शून्यतां गमितत्वेऽपि सौगन्धिकान्तर्वर्त्नीम् गर्भस्थितसौगन्धिकाम् इव कुर्वतः (स्वरक्तदृष्टिपातेनान्तर्जले सौगन्धिकानीव जनयतः) क्रोधवशात् कटूक्तिजनितकोपवशात् सः भीमः तादृशान् यातुधानान् रक्षाधिकृतान् राक्षसान् रंहसा वेगेन समुपबृंहितसिंहनादः उच्चैः सिंहनादं कुर्वन् सन् चिरमुपोषितस्य बहोः कालात् अकृतप्रहारतया उपोषितस्य परिघस्य गदायाः पारणां भोज्यं परिकल्पयाञ्चक्रे उपकल्पितवान्। भीमस्तान् राक्षसान् गदया मारयामास, मन्ये चिरोपोषितायास्तद्गदायास्ते भोज्यान्यभवन्, इत्यर्थः ॥

जब भीम फूल तोड़ रहे थे उसी समय उस सरोवरके रक्षक राक्षसगण आये और ललकारकर कहा कि अरे मुर्ख, तू कौन है ? क्यों अपनी जीवनलीलाका अन्त करना चाहता है ? इस प्रकार कहकर वे राक्षस भीमको छेड़ने लगे, उनकी आँखे यथार्थमें रक्तवर्ण हो रही थीं, उनकी आँखोंकी रक्तवर्ण प्रतिच्छविके पड़नेसे वह सरसी ऐसी लग रही थी, मानों उसके भीतर बहुतसे सौगन्धिक पुष्प हों, इस प्रकारके राक्षसोंका भीमने जोरोंका सिंहनाद करके संहार कर दिया।—अपनी उपवास की हुई गदाका भोजन बना दिया ॥

रक्षःसृता रक्तनदी महाद्रेर्विष्वक्पतन्ती वियति स्थितानाम्।
क्षरत्तटीधातुझरीति बुद्धेः करावलम्बं कलयाञ्चकार ॥ ३५ ॥

रक्षःसृतेति। महाद्रेः गन्धमादनपर्वतात् विष्वक् सर्वतः पतन्ती प्रवहमाना रक्षोभ्यः सृता भीमगदाचूर्णितेभ्यो राक्षसेभ्यो निःसृता रक्तनदी शोणितधारा वियति अकाशे स्थितानां देवादीनाम् क्षरन्ती प्रवहन्ती तटीधातुझरी पर्वततटवर्त्तिगैरिकादिधातुसंपृक्ता नदी इति बुद्धेः करावलम्बं चकार दृढतामुत्पादयामास। अधः पतन्तीं रुधिरधारां दृष्ट्वा गैरिकादिधातुप्रवाहोयमिति बुद्धिं देवा दृढयाञ्चक्रुरिति भावः ॥ ३५ ॥

भीमकी गदासे चूर्णित होकर मरनेवाले राक्षसोंकी देहनिर्गत रक्त-धारा जब गन्धमादनके चारो ओर प्रवाहित होने लगी तब आकाशचारी देवोंकी यह धारणा दृढ़ होने लगी कि यह गन्धमादनके तटोंसे निकलने वाला गैरिकादि धातुप्रवाह ही है ॥ ३५ ॥

पर्वतस्याग्रवस्तुभ्यः प्रवस्तुं नेच्छतीं दृशम्।
उत्खाय स महायत्नादुपासीददुपत्यकाम् ॥ ३६ ॥

पर्वतस्येति। सः भीमः पर्वतस्य तस्य गन्धमादनमहीभृतः अग्रवस्तुभ्यः शिखरवर्त्तिमणिगणादिपरमोपादेयदृश्यपदार्थेभ्यः प्रवस्तुम् निर्गन्तुम् नेच्छतीम् अनीहमानां तद्दर्शनसक्ताम् दृशम् आत्मनो दृष्टिम् महायत्नात् दीर्घप्रयासात् उत्खाय आकृष्य उपत्यकाम् पर्वतासन्नभुवम् उपासीदत् आयातवान्। पर्वतो-

ध्वंभागस्थितवस्तुदर्शनासक्तां दृशं बलादाकृष्यागमनमार्गेण पुनः प्रत्यावृत्त इति भावः ॥ ३६ ॥

गन्धमादन पर्वतके शिखर पर रहनेवाली रमणीय वस्तुओंको छोड़कर किसी प्रकार नहीं हटना चाहनेवाली अपनी दृष्टिको बलपूर्वक खींचकर भीम पर्वतकी उपत्यकामें आये। आँखोंको लुभा लेनेवाली चीजों पर लटकी हुई आँखोंको बड़े कष्टसे वहाँसे हटाकर भीम वापस चलकर पर्वतकी समतल भूमिमें आ गये ॥ ३६ ॥

तदानीमितरेष्वपि भ्रातृषु कमलपालिकासूनोः स्कन्धभागशिबिकामधिरुह्य तस्यैव कटकभुवमागतेषु सत्सु मारुतिरादरेण रहसि तां विकसितां कुसुमसंहतिं मूर्तानुरागभ्रमदां प्रमदां प्रत्युपदामकरोत् ॥

तदानीमिति। तदानीम् भीमस्य उपत्यकाप्राप्तिकाले इतरेषु अपि भ्रातृषु युधिष्ठिरादिषु कमलपालिकासूनोः हिडिम्बातनयस्य घटोत्कचस्य स्कन्धभागशिबिकां स्कन्धदेशरूपं यानम् वाहनम् अधिरुह्य आरुह्य तस्य गन्धमादनपर्वतस्य एव कटकभुवम् तटदेशम् आगतेषु सत्सु मारुतिः भीमः आदरेण सस्नेहम् ताम् गन्धमादनस्थसरस्या उपनीतां विकसितां फुल्लां कुसुमसंहतिं पुष्पसमुदायम् मूर्त्तानुरागभ्रमदाम् रक्ततया शरीरधारिप्रेमस्य भ्रमं जनयन्तीम् स्नेहवद्धासमानाम् ('रक्तौ च प्रेमरागौ' इति प्रसिद्ध्या तासां कुसुमसंहतीनां प्रेमप्रत्ययजनकत्वं बोध्यम्) तां प्रमदां द्रौपदीं प्रति उपदाम् उपहारम् अकरोत्। गन्धमादनाहृतानि रक्तकमलकुसुमानि रहसि भीमो द्रौपद्यै उपहृतवानिति ॥

उसी समय युधिष्ठिर आदि भीमके अन्य भाई भी हिडिम्बाके पुत्र घटोत्कचके कन्धों पर बैठकर गन्धमादनकी तराईमें आ गये, तब भीमने वे फूल जो विकसित होकर शरीरधारी अनुरागके समान लग रहे थे, एकान्तमें अपनी प्रियतमा द्रौपदीको उपहृत कर दिये ॥

सरसीव कचेऽप्यस्या धार्तराष्ट्राकुलीकृते।
ऊपे तया वरतनोरूर्मिमत्यलिभासुरे ॥ ३७ ॥

सरसीवेति। धार्तराष्ट्रेण दुःशासनेन आकुलीकृते आकृष्टे ऊर्मिमति कौटिल्यशालिनि अलिभासुरे भ्रमराभे अस्याः वरतनोः सुन्दर्या द्रौपद्याः कचे केशपाशे तया भीमेनोपायनीकृतया पुष्पसंहत्या धार्त्तराष्ट्राकुलीकृते हंसव्याप्ते ऊर्मिमति तरङ्गयुते अलिभासुरे सुगन्धाकृष्टैः भ्रमरैः शोभाशालिनि सरसि इव सरोवर इव ऊपे उपितं स्थितम् इत्यर्थः। तानि पुष्पाणि सरसा तुल्ये द्रौपदीकेशपाशे सुखमासाञ्चक्रिरे, केशानां सरसा साम्यञ्च श्लिष्टविशेषणत्रयद्वारोक्तरूपम् ॥ ३७ ॥

---

१. 'कटकमागतेषु'। २. 'रहसि विकसितां'। ३. 'कुलीकृते'। इति पा०।

धार्त्तराष्ट्र दुःशासन द्वारा आकृष्ट, कुटिलतायुक्त, एवं भ्रमरके समान सुन्दर लगने वाले सुन्दरी द्रौपदीके केशपाशमें वें फूल उसी तरह रहने लगे जैसे वे उस सरोवरमें रहा करते थे, सरोवर भी धार्त्तराष्ट्र हंसोंसे व्याप्त, ऊर्मिमान्–तरङ्गयुक्त, तथा भ्रमरोंसे भरा था। धार्त्तराष्ट्राकुलीकृत, ऊर्मिमत् , अलिभासुर यह तीन विशेषण श्लिष्ट होकर केश तथा सरोवर दोनोंमें समन्वित होते हैं, तब उपमा बैठती है ॥ ३७ ॥

अथ कदाचिदाखेटाय तटाटवीं पर्यटति[1] तस्मिन्बकद्विषि जटो नाम दुर्जटः[2] सुरारिरुटजमुपेत्य वेदिकया वैतानतनूनपान इव दयितया सह त्रीनपि तान्वीरान्स्कन्धमानीय जवात्केनचिदपदिशपथेन[3] प्रतस्थे ॥

अथेति। अथ कदाचित् आखेटाय मृगयाविहारं कर्त्तुम् तस्मिन् बकद्विषि बकासुरप्राणहरे भीमे तटाटवीं पर्वतनितम्बदेशं पर्यटति भ्रमति सति दुर्जटः पारुष्यदीर्घविस्तारस्वादिना दुष्केशः जटो नाम सुरारिः राक्षसः उटजम् युधिष्ठिराद्युषितां पर्णशालाम् उपेत्य प्राप्य वेदिकया वेद्या सह तनूनपातः वह्नीन् इव (वेदी द्रौपदी, त्रयोऽपि भीमेन विना स्थिताः युधिष्ठिरनकुलसहदेवा भ्रातरः आहवनीय-गार्हपत्यदक्षिणनामानस्त्रयोऽग्नयस्तान्) दयितया द्रौपद्या सह त्रीन् अपि वीरान् युधिष्ठिरनकुलसहदेवान् स्कन्धमानीय स्वस्कन्धदेशे आरोप्य जवात् वेगात् केनचित् अलक्षितेन अपदिशपथेन दिगन्तरालवर्त्मना प्रतस्थे चलितः। भीमेऽनुपस्थितो जटो नामासुरस्त्रीनपि भ्रातॄन् द्रौपद्या सहैव स्कन्धमारूढान् कृत्वा केनापि विदिग्वर्त्मना प्रयातो यथा कश्चिद्वेद्या सह त्रीनपि वह्नीनादाय गच्छेदिति भावः ॥

किसी समय जब भीम शिकारके लिये पर्वतके अधोभागमें उतर आये थ तब रूखे तथा कड़े-कड़े बालों वाला जटनामक असुर वहाँ आया और द्रौपदीके साथ तीनों भाइयों को कन्धे पर बैठाकर किसी कोणमार्गसे चल दिया, जैसे कोई वेदीके साथ तीनों वह्नियों —आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिण—को लेकर चल दे। वेदीसे द्रौपदीका और तीनों अग्नियोंसे तीनों भाइयों-युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव—का सादृश्य प्रतीत होता है ॥

गतागतें तत्र घटोत्कचेन जटेन च स्कन्धधृतस्य राज्ञः ।
पादार्पणालाभशुचा वनं तत्पतत्रिनादैरिव रोदिति स्म ॥ ३८ ॥

गतागत इति। तत्र गन्धमादनपर्वते वने गतम् आगतञ्च तत्र गतागते आगमने प्रयाणे च घटोत्कचेन जटेन च स्कन्धधृतस्य स्कन्धदेशेऽधिरोपितस्य (आगमने घटोत्कचेन प्रयाणे च जटेन स्वस्कन्धमारोपितस्य) राज्ञः युधिष्ठिरस्य पादार्पणालाभशुचा चरणसंपर्काप्राप्तिजन्मना खेदेन तद्वनम् पतत्रिनादैः शकुनिकुलकोलाहलैः रोदिति स्म क्रोशति स्म इव, तस्मिन् वने यदाऽयं राजा युधिष्ठिर आयात-

---

१. 'अटति'। २. 'दुर्घटः'। ३. 'अपदिशा'। इति पा०।

स्तदा घटोत्कचस्य स्कन्धमारुह्य, अथाधुना प्रयाणसमये च जटासुरस्य स्कन्धदेशमारुह्य गतस्तदनयोर्द्वयोरप्यवसरयोः वने युधिष्ठिरः पादमर्पयितुं शक्तो न बभूव, मन्ये तत्पादस्पर्शालाभजनितखेदेन इव तद्वनं पक्षिकुलकोलाहलैररुददित्याशयः। अत्र नवागन्तुकजनदर्शनकृतकोलाहलस्य पादस्पर्शाप्राप्तिजन्यखेदप्रयुक्तरोदनरूपतयोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर जब उस गन्धमादन वनमें आये तब घटोत्कचके कन्धोंपर बैठकर तथा जब गये तब भी जटासुरके कन्धों पर ही गये, फलतः जानेमें और आनेमें—कभी भी उस वनको युधिष्ठिरके चरणस्पर्शका सौभाग्य जो नहीं प्राप्त हुआ, इसीलिये वह वन पक्षियोंके कलकलके बहाने रोने लगा ॥ ३८ ॥

वनं यियासोः कठिने सभान्ते जटासु रोधो न बभूव यस्य ।
वने विजृम्भत्करुणे तु तस्य जटासुरोऽधोऽजनि धर्मसूनोः ॥ ३९ ॥

वनमिति । कठिने अकरुणे सभान्ते द्यूतसभावसाने वनं यियासोः वनगमनोद्यतस्य यस्य धर्मसूनोः युधिष्ठिरस्य जटासु जटाधारणविषये रोधः प्रतिबन्धो नेमा उचिता इत्येवं जातीयो निषेधो न बभूव नाभूत् , तस्य धर्मसूनोः विजृम्भत् करुणे सर्वतो वर्त्तमानदये दयालुजनपरिवृते करुणाख्यवृक्षबहुले वा वने जटासुरः तन्नामको राक्षसः अधः स्कन्धेन वहनकाले निम्नस्थः अजनि जातः । 'जटासुरोधो न बभूव' 'जटाऽसुरोऽधोऽजनि' इत्यनयोरापाततो विरोधप्रतिभासः, परिहारस्तूक्त एव, तदत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३९ ॥

दुर्योधनकी द्यूतसभासे कठोर वन जाते समय जिस धर्मपुत्रको जटाधारण करनेमें किसी प्रकारका रोध—रुकावट, हिचकिचाहट—नहीं हुई, उसी धर्मराजके उस दयालु पुरुष युक्त वनमें अथवा करुण नामक वृक्षोंसे युक्त वनमें जटासुर नीचे हो गया, कन्धों पर उठाता हुआ जटासुर धर्मराजके नीचे चला आया । 'जटासुरोधो न बभूव', और 'जटासुरोऽधोऽजनि' इन दोनों वाक्योंमें विरोध मालूम पड़ता है, परन्तु 'जटासुरोधः' और 'जटासुरः अधः' इस प्रकार पदच्छेद करने पर विरोध छूट जाता है, यही विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

नीत्वा किमद्य वनसीम्नि[1] सुदूरमेता-
न्नत्रैव हन्मि सहसेति धियैव तिष्ठन् ।
आलक्ष्यतायममरारिरनुष्णजङ्घो
गन्तुं पदात्पदमपि क्षितिपानुभावात् ॥ ४० ॥

नीत्वेति । क्षितिपानुभावात् धर्मराजस्य प्रभावातिशयात् पदात्पदम् एकमपि

१. 'सीमनि दूरम्' । इति पा० ।

पदं गन्तुम् पुरःसर्त्तुम् अनुष्णजङ्घः अक्षमजघनः सोऽयमरारिः जटासुरो नाम राक्षसः अद्य अधुना वनसीम्नि वनोद्देशे एतान् युधिष्ठिरादींश्चतुरो जनान् सुदूरं बहुदूरं नीत्वा किं कार्यम् ? एतेषां वने सुदूरप्रापणमनर्थकम्। अत्रैव देशे इहैव स्थाने सहसा अबहुविभाव्य निहन्मि मारयामि इति एवं प्रकारया धिया विचारणया तिष्ठन् अपुरो गच्छन् इव आलक्ष्यत दृश्यते स्म। अग्रे गन्तुमक्षमो धर्मसूनुप्रभावातिशयात्, तत्र स्थितश्चासौ जटायुः एतान् वने सुदूरं नीत्वा किं कर्त्तव्यम् ? अत्रैव किन्न व्यापादयामि ? इति चिन्तयन्निवावस्थितः प्रतीयतेस्मेति तात्पर्यम्। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरके प्रभाव-भाराधिक्य-से आगे बढ़नेमें एक पग चलनेमें भी अनुष्ण जङ्घ-अकार्यक जघन-अशक्त होकर खड़ा वह जटासुर ऐसा लगता था-मानो यहीं सोचता हुआ ठहरा हुआ हो कि इन्हें वनमें बहुत दूर भीतर ले जाकर क्या करना है, जल्दीसे यहीं क्यों न इन्हें मार दिया जाय ? ॥ ४० ॥

मध्येमार्गं वनान्तान्मदगजगमने मारुतौ संमुखेऽस्मि-
न्सार्धं तेनाथ योद्धुं धृतरभसमनास्तीव्रदर्पप्रसारः।
दैत्यस्थान्राजपुत्रान्क्षितितलमनयद्बाहुना स्कन्धमध्या-
त्क्रोधान्धोऽरत्निसीम्ना स पुनरनिलभूर्दारुणं तस्य शीर्षम् ॥४१॥

मध्येमार्गमिति। मध्येमार्गं मार्गमध्ये वनान्तात् वनप्रान्तात् (आगते) मदगजगमने मत्तकरितुल्यगतौ अस्मिन् मारुतौ भीमे संमुखे समीपपुरोवर्त्तिनि सति तेन मारुतिना भीमेन सह योद्धुं युद्धं कर्त्तुं धृतरभसमनाः उत्कण्ठितहृदयः सः तीव्रदर्पप्रसारः अतिदृप्तबलः सः दैत्यः जटासुरः स्कन्धमध्यात् तान् राजपुत्रान् युधिष्ठिरादीन् क्षितितलम् अनयत् भूमौ अवतारितवान्, पुनः किञ्च सः अनिलभूः वायुसुतो भीमस्तु अरत्निसीम्ना मुष्टिना दारुणं भयजनकं तस्य जटासुरस्य शीर्षं शिरः क्षितितलम् भूमीतलम् अनयत् प्रापितवान् पातयामासेत्यर्थः। अयमाशयः—वनान्तान्मृगयान्ते निवर्त्तमानो गजगामी च स भीमो यदा मार्गमध्ये जटासुरेण तदाऽतिदृप्तो जटासुरो भीमेन सह योद्धुं तीव्रामभिलाषां मनसि कृत्वा युधिष्ठिरादीन् राजसुतान् भूमावुदतारयत, (युद्धोपक्रमे भारोत्तारणमावश्यकमिति तथा कृतवान्) भीमस्तु पुनर्मुष्टिप्रहारेण तस्य भयङ्करं मस्तकमेव पातितवानिति बोध्यम् ॥ ४१ ॥

मृगयाविहारके बाद वनप्रान्तसे लौटते हुए मदगजगामी भीमसे रास्तेमें जटासुरकी भेंट हो गई, जटासुरने अपने बलके घमण्डसे भीमके साथ युद्ध करनेकी हार्दिक इच्छा प्रकट की, लड़नेकी तैयारीमें दैत्यपर जटासुरके कन्धोंपर आरूढ़ युधिष्ठिरादिको उसने जमीन पर उतारकर रख दिया, और भीमने अपनी वज्रोपम मुष्टिके प्रहारसे उस राक्षसके भयङ्कर शिरको ही सदाके लिये जमीन पर लाकर रख दिया ॥ ४१ ॥

निपेतुषस्तस्य निकृत्तमूर्ध्नो नितान्तभारेण वनान्तभूमिः।
निम्नाभवद्दूरममुष्य सङ्गे निजैः प्रतीकैरिव संकुचन्ती ॥ ४२ ॥

निपेतुष इति। निकृत्तमूर्ध्नः छिन्नशिरसः निपेतुषः धरापतितस्य तस्य जटासुरस्य नितान्तभारेण महता भारेण वनान्तभूमिः वनस्थली निजैः स्वीयैः प्रतीकैः अङ्गैः अमुष्य पापिनो जटासुरस्य सङ्गे स्पर्शविषये सङ्कुचन्ती इव जुगुप्समाना इव दूरं बहु निम्ना नता अभवत् अभूत्। अयमर्थः—भीमेन च्छिन्नशिरसो जटासुरस्य तस्य भारेण नमन्ती वनधरणी पापिनस्तस्याङ्गैः स्पर्शे सङ्कोचादिव निम्नभावं गता प्रतीयतेस्म। अन्योऽपि कस्यचिदमेध्यवस्तुनः स्पर्शाज्जुगुप्समानो निजं वपुर्नमयतीति तद्वदित्याशयः ॥ ४२ ॥

भीम द्वारा आहत होकर शिरके कट जाने पर जब वह जटासुर भूमि पर गिरा तब उसके भारसे जमीन कुछ दब गई, यह ऐसा लगा मानो वनभूमि उस पापीके अङ्गोंसे स्पर्श होनेमें कुछ सङ्कोचका अनुभव कर रही हो, इसीलिये अपने अङ्गोंको सिकोड़कर उसके स्पर्शसे बचना चाह रही हो ॥ ४२ ॥

निष्कण्टकाभवत्सर्वा निहतेऽस्मिन्वनावनिः।
उत्कण्टकाभवत्प्रीतेरुन्नत्या सा तु पार्षती ॥ ४३ ॥

निष्कण्टकेति। अस्मिन् जटासुरे हते सति सर्वा समस्ता वनावनिः गन्धमादनपर्वतभूमिः निष्कण्टका निरुपद्रवा अपगतशत्रुभया च अभवत्, सा पार्षती द्रौपदी तु प्रीतेः स्वामिसमृद्धिप्रभवायाः प्रमुद उन्नत्या उदयेन सकण्टका सञ्जातरोमाञ्चा अभवत् अजायत। सर्वासां वनावनीनां निष्कण्टकत्वसंपादकसामग्र्या पार्षत्याः सकण्टकत्वसम्पत्त्या विषमालङ्कारः। विरोधाभासस्तु स्फुट एव, तयोश्चैकाश्रयत्वेन सङ्करः ॥ ४३ ॥

उस जटासुरके मारे जानेसे पूरी वनभूमि—गन्धमादन वनमही—अकण्टक—शत्रु बाधा रहित—हो गई, लेकिन वह पार्षती—द्रौपदी—स्वामियोंकी समृद्धिसे उत्पन्न आनन्दकी अधिकता के मारे रोमाञ्चित हो उठी ॥ ४३ ॥

ततस्ते श्वेताद्रिं चिरमधिवसन्तः कुरुवराः
सिताश्वस्य प्राप्त्या मुदमनुबभूवुर्निरवधिम्।
कथाशेषीकारात्त्रिदशरिपुवर्गस्य बहुधा
धनुर्ब्रह्मोज्झन्त्वं शतमखभुजे स्थापितवतः ॥ ४४ ॥

तत इति। ततः जटासुरवधानन्तरम् श्वेताद्रिं गन्धमादनपर्वतरूपं हिमालयैकदेशं चिरम् अधिवसन्तः स्ववासेनाश्रयन्तः ते कुरुवराः पाण्डवाः, युधिष्ठिरा-

१. 'त्रिदिव'। इति पा०।

दयः बहुधा नानावारं त्रिदशरिपुवर्गस्य देवविरोधिराक्षसनिवहस्य कथाशेषीकारात् नाममात्रावशेषत्वसंपादनात् मारणात् शतमखस्य इन्द्रस्य भुजे बाहौ धनुर्ग्रहोज्झत्वम् धनुर्वेदत्यागम् शस्त्रविद्यापराङ्मुखत्वम् स्थापितवतः सिताश्वस्य अर्जुनस्य प्राप्त्या सङ्गमेन निरवधिम् असीमानम् मुदम् आनन्दम् अनुबभूवुः अनुभूतवन्तः। तदनन्तरं जटासुरवधादिविधिना शमितोपद्रवं तं हिमवदेकदेशं पर्वतमधिवसन्तस्ते युधिष्ठिरादयो बहुधा तत्तन्निवातकवचकालकेयादिराक्षसगणसंहारद्वारेण नष्टसमस्तशत्रुतयेन्द्रस्य भुजे शस्त्रविद्यापराङ्मुखतामवस्थापितवतोऽर्जुनस्य सङ्गमेन परामानन्दकोटिमाप्तवन्त इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

जटासुरप्रभृति राक्षसोंके मारे जाने पर निरुपद्रवीभूत उस हिमालय पर वास करनेवाले युधिष्ठिर प्रभृति कुरुवीरगण–निवात–कवच–कालकेय प्रभृति शत्रुओंको कथाशेष करके जिसने इन्द्रके बाहुको शस्त्रविद्यापराङ्मुख कर दिया है, जिसने इन्द्रके सभी शत्रुओंका संहार करके इन्द्रको शस्त्रग्रहण करनेकी आवश्यकतासे मुक्त कर दिया है—ऐसे अर्जुनकी सङ्गति–पुनः प्राप्ति–से आनन्दित हुए ॥ ४४ ॥

तमनुक्रमभाषितेशयुद्धं स बहूकृत्य चलाचलेन मूर्ध्ना।
[1]अनुजैर्नृपतिः समं हिमाद्रेर्न्यवृतद्द्वैतवनं नितान्तहृष्टः ॥ ४५ ॥

तमनुक्रमेति। सः नृपतिः युधिष्ठिरः अनुक्रमम् क्रममनुसृत्य भाषितं कथितमीशयुद्धं शिवेन सह स्वस्य युद्धवृत्तम् येन तं तथोक्तमर्जुनम् चलाचलेन कम्पितेन मूर्ध्ना शिरसा बहूकृत्य अभिनन्द्य प्रशस्य नितान्तहृष्टः अतिमुदितः सन् अनुजैः भ्रातृभिः समम् सह हिमाद्रेः हिमालयात् द्वैतवनं तदाख्यं प्रागध्युषितं तपोवनं प्रति न्यवृतत् निवर्त्तते स्म। ईशेन सह स्वयुद्धस्य वृत्तं क्रमशो भाषमाणमर्जुनं शिरःकम्पनद्वारा प्रशस्यार्जुनादिभिः स्वभ्रातृभिः समं नृपतिर्हिमाद्रिं विहाय द्वैतवनं पुनरागत इत्यर्थः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद अर्जुनने जब क्रमपूर्वक महादेवके साथ हुए अपने संग्रामकी बात कही, तब युधिष्ठिरने सिर हिलाकर उनकी तारीफ की और अति प्रसन्न हुए, फिर अपने छोटे भाई भीम आदिके साथ उस हिमाद्रिसे द्वैतवन नामक तपोवनको लौट आये ॥ ४५ ॥

नरेन्द्रपुत्राः सह याज्ञसेन्या न केवलं तत्र तपोधनानाम्।
नेत्राणि जुह्रुर्नियमैः कृशाङ्गा नेदीयसीनां वनवीरुधां च ॥ ४६ ॥

नरेन्द्रपुत्रा इति। नरेन्द्रपुत्राः राजसुता युधिष्ठिरादयः याज्ञसेन्या द्रौपद्या सह नियमैः व्रतोपवासादिभिः कृशाङ्गाः दुर्बलदेहाः सन्तः तत्र द्वैतवने केवलं तपोधनानां तपस्यानिरतानाम् मुनीनाम् एव नेत्राणि न जह्रुः न आकृष्टवन्तः कथ-

---

१. 'नृपतिः सहजैः समं महाद्रेः'। इति पा०।

मिमे सुकुमारवपुषोऽपीदृशानि कष्टसाध्यानि व्रतान्याचरन्तीति विस्मयेन लोकानां नयनान्यमूनपश्यन् , परं नेदीयसीनां समीपस्थितानां वनवीरुधाम् वनस्थलतानाम् अपि नेत्राणि मूलानि जहुः आकृष्टवन्तः। एतान्कठिनं तपस्यतो दृष्ट्वा मुनयो विस्मयेनैतानपश्यन् , एते च लतामूलन्याहृत्याभुञ्जतेति वक्तव्यांशः। 'नेत्रं नाड्यां तरोर्मूले लोचने वसनेऽपि च' इति विश्वः ॥ ४६ ॥

द्रौपदीके साथ कठोर तपस्यामें निरत रहनेवाले युधिष्ठिर आदि राजपुत्र दुर्बल शरीर होकर केवल द्वैतवनके तपस्वियोंके ही नेत्र नहीं आकृष्ट करते थे, वे वहाँ समीपमें मिलने वाली लताओंके मूल भी उखाड़कर लाया करते थे ॥ ४६ ॥

तदनु स खलु[1] मानी सर्वसाम्राज्यलक्ष्मीं
प्रचिकटयिषुरेषां प्राप्तकार्श्योन्नतीनाम् ।
कुरुनृपतितनूजो घोषयात्रापदेशा-
दभजत बलसंघैरावृतस्तं वनान्तम् ॥ ४७ ॥

तदन्विति। तदनु तदनन्तरम् मानी अभिमानयुक्तः सः कुरुनृपतितनूजो धृतराष्ट्रपुत्रः दुर्योधनः प्राप्तकार्श्योन्नतीनाम् पराकाष्ठां प्राप्तवताम् एषाम् युधिष्ठिरादीनां (पुरतः) सर्वसाम्राज्यलक्ष्मीम् एकाधिपत्यसम्पदम् प्रचिकटयिषुः प्रकाशयितुं कामयमानः सन् बलसङ्घैः सैन्यसमुदयैरावृतः सन् घोषयात्रापदेशात्—निजगोकुलदर्शनयात्राच्छलात् तं युधिष्ठिराद्यध्युषितं वनान्तं वनप्रान्तं द्वैतवनम् अभजत आगतवान् । एवं तपस्यत्सु तेषु कश्चिद्दुर्योधनः स्ववैभवं दर्शयित्वा विजितानामेषां धैर्यं ध्वंसयितुम् ससैन्यो घोषयात्राच्छलेन द्वैतवनमागत इति भावः। मालिनीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

इसके बाद मानी दुर्योधनने सोचा कि दरिद्रताकी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए इन युधिष्ठिर आदि राजपुत्रोंको अपनी एकाधिपत्य सम्पत्तिका दर्शन कराया जाय, जिससे उनके मनमें ग्लानि हो, ऐसा सोचकर दुर्योधनने सेनाओंको साथ लिया और घोषयात्रा—अपने पशुधनको देखनेके लिये प्रस्थान—के छलसे उस द्वैतवनमें आ गया, जहाँ वह तपस्या किया करते थे ॥ ४७ ॥

कर्णानिलैस्तत्र करिव्रजानां चलत्सु सर्वेषु चमूरजःसु ।
रजस्तु चित्ताश्रितमस्य राज्ञो बलादिवाचञ्चलमेव तस्थौ ॥ ४८ ॥

कर्णानिलैरिति। तत्र द्वैतवने करिव्रजानाम् सैन्यगजसमूहानाम् कर्णानिलैः कर्णचालनोत्थितैर्वायुभिः सर्वेषु समस्तेषु चमूरजस्सु सैन्योद्धतेषु धूलीपटलेषु चलत्सु अपसरत्सु सत्स्वपि अस्य राज्ञो दुर्योधनस्य चित्ताश्रितम् अन्तःकरणवर्त्तिरजः रजोगुणस्तु बलादिव राजाश्रयसामर्थ्यवशादिव अचञ्चलम् स्थिरं यथावस्थमेव

१. 'खलमानी'; 'किल मानी'। इति पा०।

तस्थौ। तत्र सैन्योत्थापितानि रजांसि गजकर्णवायुभिरपसरन्त्यपि, परं दुर्योधनस्य रजोगुणकृतं हृदयमालिन्यं तु तत्रापि वने न न्यवर्त्ततेति भावः ॥ ४८ ॥

उस द्वैतवनमें हाथियोंके कानकी वायुके चलनेसे सेना द्वारा उड़ाई गई रज तो शान्त हो गई परन्तु दुर्योधनके हृदयका रज—रजोगुण,मालिन्य—बलपूर्वक वहीं बना रहा, उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं हुई ॥ ४८ ॥

तत्र रज्जुनहनस्य भाविनः स्थानसूचनकृती इवाङ्गदे।
धारयन्भुजयुगेन कौरवः सैनिकान्स विबभाज पङ्क्तिशः ॥ ४९ ॥

तत्र रज्जुनहनस्येति। तत्र द्वैतवने भाविनः गन्धर्वैः सह युद्धे भविष्यतः रज्जुनहनस्य रज्जुकृतबन्धनस्य स्थानसूचनकृती इदमेव स्थानं रज्जुभिर्बन्धनस्योपयुक्तमिति स्वनिवेशेन प्रदर्शयन्ती इव अङ्गदे केयूरनामके भूषणे भुजयुगेन बाहुद्वयेन धारयन् सः कौरवः दुर्योधनः सैनिकान् स्वसेनाः पङ्क्तिशो विबभाज विभक्तान् कृतवान् वर्गीचकार। दुर्योधनधृते अङ्गदे गन्धर्वद्वारा करिष्यमाणस्य रज्जुसंयमनस्य स्थानं सूचयन्ती इव प्रतीयतेस्म, ते तथाभूते अङ्गदे भुजाभ्यां दधानो दुर्योधनः स्वसेनां वर्गशो विभज्यास्थापयदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

गन्धर्वोंके साथ युद्धमें होनेवाले रज्जुबन्धनके स्थानोंको निर्दिष्ट करनेवाले केयूरोंको दोनों हाथोंमें धारण किये हुए दुर्योधनने उस तपोवनमें अपनी सारी सेनाको वर्गीकृत करके बाँट दिया, एक ओर केवल रथी, दूसरी ओर केवल हाथी, तीसरी ओर केवल पदाति इस तरह व्यवस्थित रूपमें सेनाका विभाग कर दिया ॥ ४९ ॥

अभ्रंलिहस्य वटभूमिरुहस्तलेऽसौ
स्थित्वाऽशृणोत्तदनु वैणिकगीतिरीतिम्।
संगीतभङ्गिरसिकं सह बन्धुवर्गै-
राकारयन्निव सुराधिपगायकेन्द्रम् ॥ ५० ॥

अभ्रंलिहस्येति। तदनु विभज्य सेनासन्निवेशात् परतः असौ दुर्योधनः बन्धुवर्गैः स्वभ्रातृसुहृद्भिः सह अभ्रंलिहस्य उन्नतयाऽऽकाशचुम्बिनः वटभूमिरुहः वटवृक्षस्य तलेऽधोदेशे स्थित्वा सङ्गीतभङ्गिरसिकम् गानविशेषेषु प्रवीणम् सुराधिपगायकेन्द्रम् इन्द्रस्य गायकमुख्यं चित्रसेनन्नाम गन्धर्वम् आकारयन्निव आह्वयन्निव वैणिकगीतिरीतिम् वीणावादकानां सङ्गीतभङ्गिम् अशृणोत् आकर्णयामास। यथाविभागं सेना अवस्थाप्य स दुर्योधनः सबन्धुगणस्तत्रोन्नतस्य वटतरोधोदेशे स्ववैणिकैः क्रियमाणं गीतमशृणोन्मन्ये गीतविद्याविशारदमिन्द्रस्य मुख्यं गायकं चित्रसेनन्नाम गन्धर्वराजमाकारयतीवेति भावः ॥ ५० ॥

यथाक्रम सेनाका विभाग करके अपने बन्धुबान्धवोंसे युक्त दुर्योधनने उस महान् आकाशस्पर्शी वटवृक्षके नीचे अपने वीणावादकों द्वारा प्रस्तुत संगीत सुनना प्रारम्भ

किया, ऐसा लगता था मानों वह दुर्योधन उस सङ्गीतध्वनि द्वारा सङ्गीतविद्याविशारद इन्द्रके मुख्य गायक चित्रसेन नामक गन्धर्वको पुकार रहा हो ॥ ५० ॥

तावत्तस्य[1] धार्तराष्ट्रस्य चेष्टितरौद्र्यं निरीक्ष्य नितरां क्रुधान्धः सुधान्धपतिनिदेशेन वनावनिदेशेऽवतीर्णस्तूर्णं[2][3] विधृतकृपाणबाणचापकलापतनुत्रसेनश्चित्रसेनश्चिरं[4][5]क्षुधितस्तरक्षुश्चमूरुततिमिव चमूममूं निवार्य क्ष्वेलया[6] लोलयांचक्रे ॥

तावदिति । तावत् यावद् दुर्योधनो गीतमाकर्णयति तावता कालेन तस्य धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य चेष्टितरौद्र्यम् पाण्डवानामग्रे स्वसाम्राज्यसम्पदः प्रदर्शनेन तेभ्यो लज्जेर्ष्यादिभावप्रदानात्मनः चेष्टितस्य व्यापारस्य रौद्र्यम् पारुष्यम् निरीक्ष्य ध्यात्वा नितरां क्रुधान्धः अत्यन्तकुपितः सुधान्धसां देवानाम् पत्युरिन्द्रस्य निदेशेनाज्ञया वनावनिदेशे तत्र वनभुवि अवतीर्ण आगतः तूर्णम् अतिशीघ्रम् यथा तथा विधृतानि गृहीतानि—कृपाणाः खड्ग, बाणाः चापाः कलापाः तूणीराः, तनुत्राणि कवचानि चैतानि यया सा तूर्णं विधृतकृपाणबाणचापकलापतनुत्रा तादृशी सेना यस्य सः तथोक्तः चित्रसेनो नाम गन्धर्वराजः चिरक्षुधितः बहोः कालादनधिगताहारस्तरक्षुः मृगादनो हिंस्रजन्तुभेदः चमूरुततिम् मृगसमूहम् इव अमूम् दुर्योधनसम्बन्धिनीं चमूं सेनाम् निवार्य अस्तव्यस्तां कृत्वा क्ष्वेलया सिंहनादेन लोलयांचक्रे चञ्चलीकृतवान् । 'तरक्षुस्तु मृगादनः' इति व्याघ्रविशेषपर्याये विश्वः । यावदसौ गीतान्याकर्णयति तावत्तदीयं वैभवप्रदर्शनद्वारा मानसव्यथाप्रदानात्मकं पारुष्यं विभाव्य कुपितेनेन्द्रेणादिष्टः सज्जीभूतसैन्यानुयातश्चित्रसेनो नाम गन्धर्वस्तदीयां समस्तां चमूं तरक्षुर्मृगयूथमिव स्वनादेनास्तव्यस्तां चक्र इत्यर्थः ॥

जब तक दुर्योधन गीत सुन रहा था उसी समय उसकी चेष्टा—वैभवप्रदर्शन द्वारा वनवासी युधिष्ठिरादिके हृदयोंको कष्ट देना—की कठोरता देखकर अमृतभोजी देवोंकी आज्ञासे आये हुए एवं क्रोधान्ध चित्रसेनने—जिसकी सेना तलवार, बाण, तूणीर, कवच आदिसे सन्नद्ध थी, अविलम्ब उस वनभूमिमें आकर दुर्योधनकी सेनाको अस्तव्यस्त करके अपने सिंहनादसे चञ्चल बना दिया; जैसे तरक्षुनामक मृगभक्षी जानवर मृगयूथको अपने गर्जनसे तितरबितर कर दिया करता है ॥

भटेषु धावत्सु भयेन कर्णः क्रुधा हसन्कुञ्जरमञ्जुचारः ।
करेण विस्फारितकालपृष्ठो जगाम शत्रुं जगदेकवीरः ॥ ५१ ॥

भटेष्विति । कुञ्जरमञ्जुचारः गज इव मनोज्ञगमनः, जगदेकवीरः भुवि मुख्यशूरः,

---

१. 'अस्य' । २. 'अवतीर्णम्' । ३. 'अवतीर्णो विधृत' । ४. 'चिरम्' । ५. 'चिरं क्षुधित' । ६. 'क्ष्वेडया' । इति पा० ।

कर्णः भटेषु कौरवसैनिकेषु भयेन धावत्सु पलायमानेषु सत्सु हसन् एतावदेव भवतां वीर्यमिति परिहसन् करेण स्वहस्तेन विस्फारितम् टङ्कारितं कालपृष्ठं नाम स्वधनुर्येन तथोक्तः सन् क्रुधा सैन्यमथनभवेन कोपेन शत्रुं गन्धर्वं चित्रसेनम् जगाम प्राप ॥ ५१ ॥

जब दुर्योधनकी सेना भयसे इधर उधर भागने लगी तब गजकी तरह मन्द गतिसे चलने वाला, संसारप्रसिद्ध शूर, 'आप लोगोंकी बहादुरी इतनी ही है?' इस प्रकार भागने वाले सैनिकोंका परिहास करता हुआ और अपने कालपृष्ठ नामक धनुषको टंकारित करता हुआ कर्ण कुपित होकर विरोधी चित्रसेनके सामने आया ॥ ५१ ॥

स्वसमाननाम्न्यवयवे नटद्गुणाद्धनुषश्च्युतैः स युधि देवगायिनाम्।
अतिरक्ततां गलतलैकवर्तिनीमखिले वपुष्यपि चकार सायकैः ॥ ५२ ॥

स्वसमानेति। सः कर्णः स्वसमाननाम्नि: स्वाभिधानसदृशाभिधाने कर्णे नाम अवयवे गात्रैकदेशे नटद्गुणात् नृत्यत्प्रत्यञ्चात् बाणग्रहणमोचनयोश्चलन्मौर्वीकादित्यर्थः धनुषः स्वीयात्कालपृष्ठनामकात्कार्मुकात् च्युतैः निर्गतैः सायकैः बाणैः युधि युद्धे देवगायिनाम् गन्धर्वाणां गलतले कण्ठदेशमात्रे एकवर्त्तिनीम् स्थितिमतीं वर्त्तमानाम् अतिरक्तताम् सुस्वरताम् अखिले वपुषि समस्ते कायेऽपि चकारेति आश्चर्यम्, एकत्रभागे स्थिताया रक्ततायाः सर्वत्र प्रापणमाश्चर्यम्, धनुषश्च्युतैः बाणैः विद्धानि सर्वाणि गात्राणि रक्तानि सन्ति, मन्ये स कण्ठमात्रवर्त्तिनीमतिरक्ततां सर्वेष्वप्यङ्गेषु सञ्चारितवानिति भावः ॥ ५२ ॥

कर्णने अपने समान नाम वाले अवयव–कान–में नाच रहा है गुण–प्रत्यञ्चा–जिसका ऐसे अपने धनुषसे निकले हुए बाणोंके द्वारा युद्धमें गन्धर्वोंके कण्ठमात्रमें रहनेवाली अतिरक्तता–सुस्वरताको–उनके सारे शरीरमें सञ्चारित कर दिया, जो रक्तता केवल कण्ठमें थी वही रक्तता–शोणित व्याप्तता–उनके सभी अङ्गोंमें फैल गई आश्चर्य है ॥ ५२ ॥

गगने शिरश्चलयतः श्रवोञ्चलाद्गलितापि दूरमवतंसमञ्जरी।
पुनरुन्नमद्भिरिषुपक्षवायुभिः पुरतोऽभवत्कलहभोजिनो मुनेः ॥ ५३ ॥

गगन इति। गगने आकाशे शिरः चलयतः युद्धश्लाघया स्वं शिरः कम्पयतः कलहभोजिनः कलहप्रियस्य मुनेः नारदस्य श्रवोऽञ्चलात् कर्णाग्रभागात् दूरं गलिता पतिता अपि अवतंसमञ्जरी भूषणीभूता मन्दारादिवृक्षपुष्पमञ्जरी उन्नमद्भिः ऊर्ध्वगामिभिः इषूणां कर्णबाणानाम् पक्षवायुभिः पक्षपवनैः पुनः पुरतः कर्णयोरग्रेऽभवत्। या कर्णमञ्जरी युद्धप्रशंसायां शिरः कम्पयतो नारदस्य कर्णाच्च्युता सोर्ध्वगामिनः कर्णबाणस्य पक्षवातेन प्रेरिता सती भूयोऽपि नारदस्य कर्णे निविष्टेति भावः ॥ ५३ ॥

---

१. 'सपदि'। २. 'जीविनो'। इति पा०।

कर्णके युद्धकौशलकी प्रशंसामें सिर कँपानेवाले कलहप्रेमी नारद मुनिके कानमें भूषणरूपसे लटकनेवाली जो मञ्जरी गिर पड़ी थी, वह मञ्जरी ऊर्ध्वगामी कर्णबाणके पक्षपवनसे प्रेरित होकर फिरसे अपने पुराने स्थान–नारदके कर्णदेशमें पहुँच गई ॥ ५३ ॥

हस्तैः प्रवीणैरखिलेऽपि कर्णे सुधां विमुञ्चन्सुरगायिवर्गः।
अयुक्तमेतत्पुनरत्र कर्णे [1]विपाठवर्षं विससर्ज घोरम् ॥ ५४॥

हस्तैरिति। सुरगायिवर्गः गन्धर्वगणः प्रवीणैः प्रकृष्टवीणायुक्तैः हस्तैः स्वीयैः पाणिभिः अखिले सकलेऽपि लोकानां कर्णे सुधाम् विमुञ्चन् अमृतं वर्षन् अपि अत्र कर्णे अस्मिन् युध्यमाने राधेये नाम कर्णे प्रवीणैः युद्धदक्षैः हस्तैः स्वकरैः घोरं भयङ्करं विपाठवर्षम् दीर्घाकारबाणवृष्टिम् विससर्ज चकार एतत् पुनरयुक्तम् अनुचितम्, सर्वत्रामृतदायिनोऽत्र बाणप्रदताऽयुक्तेति भावः। लोकानां कर्णेष्वमृतदायिनोऽपि गन्धर्वाः कर्णे कठोरान् बाणान्व्यसृजन्निति तात्पर्यम् ॥ ५४ ॥

अपने प्रकृष्ट वीणायुक्त हाथों द्वारा जो गन्धर्वगण समस्त लोकके कर्णमें अमृतकी वर्षा–मधुर स्वरवृष्टि–किया करते हैं, आश्चर्यकी बात है कि वही गन्धर्वगण अपने युद्धदक्ष हाथोंसे इस कर्णके ऊपर भयङ्कर दीर्घ बाणोंका वर्षण कर रहे थे ॥ ५४ ॥

तदनु विश्वातिशायिनो विश्वावसुकुमारस्य शरगणेन सह जवकृते कृतपणबन्ध इव धावति राधेये क्रन्दत्सु कुरुवृन्दे[2]षु च सर्वेऽपि गर्वेण गन्धर्वभटाः सुयोधनमायोधनध[3]रणीमध्यभाजं र[4]श्मिभिरवबध्य गर्जन्तो रभसवर्जं निर्जरपथमनैषुः ॥

तदन्विति। तदनु तदनन्तरं विश्वातिशायिनः सर्वधनुर्धरातिक्रमिणः विश्वावसुकुमारस्य विश्वावसुनामकगन्धर्वपुत्रस्य चित्रसेनस्य शरगणेन बाणचयेन सह जवकृते वेगार्थं वेगवत्तया धावनविषये कृतपणबन्धे को वेगेन पलायत इति बद्धस्पर्ध इव राधेये कर्णे धावति द्रुतं पलायमाने सति कुरुवृन्देषु अन्येषु च कौरवेषु भीतिवशात् क्रन्दत्सु रोदनपरेषु सत्सु सर्वेऽपि गन्धर्वभटाः गन्धर्वयोधाः गर्वेण युद्धदर्पेण आयोधनधरणीमध्यभाजं रणाङ्गणमध्यगतं सुयोधनं रश्मिभिः रज्जुभिः अवबध्य संयम्य गर्जन्तः विजयं घोषयन्तः रभसवर्जं वेगं विना मन्दं मन्दं निर्जरपथम् आकाशदेशं प्रति अनैषुः नीतवन्तः। मन्दं नयनं तथाभूतस्य तस्य युधिष्ठिरादिदर्शनपथावतारणाय।

इसके बाद सभी धनुर्धरोंको बाणविद्यामें अतिक्रम कर जाने वाले विश्वावसुकुमार-विश्वावसु नामक गन्धर्वके पुत्र–चित्रसेनके बाणोंके साथ वेगमें बाजी लगाकर जब कर्ण

---

१. 'विपाक्तवर्गम्'; 'विपाक्तवर्षम्'। २. 'कुरुवृन्देषु सर्वेऽपि'। ३. 'धरणि'। ४. 'रज्जुभिः'। इति पा०।

भागने लगे, और दूसरे सभी कौरव गण भयके मारे रोने लगे, तब सभी गन्धर्व योद्धा गण युद्ध क्षेत्रमें दर्पसे तनकर खड़े हुए दुर्योधनको रस्सीसे बांधकर गरजते हुए धीरे धीरे आकाशकी ओर ले चले धीरे धीरे ले जानेका अभिप्राय यह था कि इस दुष्टको अपनी करनीका फल दिया जा रहा है यह बात युधिष्ठिर आदि भी देख लें॥

नयत्स्वमुं वैरिषु नाकमार्गं[1] विषादभाजां विपिने कुरूणाम् ।
[2]तत्तादृशि व्रीडभरेऽपि तेषामुत्तानभावं न जहुर्मुखानि ॥ ५५ ॥

नयत्स्वमुमिति । वैरिषु शत्रुषु गन्धर्वेषु अमुं दुर्योधनं नाकमार्गं स्वर्गवर्त्म आकाशदेशं प्रति नयत्सु आकर्षत्सु सत्सु विपिने तत्र द्वैतवने विषादभाजाम् दुःखमनुभवताम् तेषां कुरूणाम् कौरवाणां मुखानि वदनानि तत्तादृशि असामान्ये महति व्रीडभरे लज्जातिशये सत्यपि उत्तानभावम् ऊर्ध्वदर्शित्वम् न जहुः न मुमुचुः । दुर्योधनबन्धनेन दुःखमनुभवन्तो लज्जमानाश्चापि कौरवा नीयमानस्य दूर्योधनस्यावलोकनार्थं मुखमुन्नमय्याकाशं पश्यन्तस्तस्थुरित्यर्थः । अत्र मुखनमनकारणीभूतलज्जातिशयसत्त्वेऽपि मुखनमनाभावस्य वर्णनात् विशेषोक्तिरलङ्कारः ॥ ५५॥

शत्रुभूत गन्धर्वगण जब दुर्योधनको आकाशकी ओर लिये जा रहे थे उस समय द्वैतवनमें रहने वाले कौरवके मुख उस तरहकी असाधारण लज्जाके होते रहने पर भी अपने मुखको अधोमुख नहीं कर सके। उनके मुख ऊर्ध्वदर्शी ही बने रहे—जाते हुए दुर्योधनको देखनेके लिए वे सभी ऊपरकी ओर ही देखते रहे ॥ ५५ ॥

तस्यान्तःपुरसुभ्रुवो विगलितैर्बाष्पाम्बुभिः पङ्किले
मार्गे मन्दितवेगपादगतयो वक्षःस्खलत्पाणयः ।
आजग्मुस्तमजातशत्रुमजहत्कारुण्यमङ्घ्रिद्वये
कुर्वन्त्यो नमितं ह्रियैव पुरतो दत्तार्धसाह्यं शिरः ॥ ५६ ॥

तस्यान्तःपुरेति । विगलितैः च्युतैः बाष्पाम्बुभिः अश्रुजलैः पङ्किले पांसूदकयोगवशात् कर्दमवति मार्गे वनपथे मन्दितवेगपादगतयो मन्दीकृतवेगचरणसंचाराः मन्दं चलन्त्यः वक्षःस्खलत्पाणयः दुःखातिरेकात् सोरस्ताडनं क्रन्दन्त्यः तस्य दुर्योधनस्य अन्तःपुरसुभ्रुवः अवरोधसुन्दर्यः अजातशत्रुम् कस्यापि विषयेऽनुत्पन्नशात्रवम् अजहत्कारुण्यम् सर्वस्मिन्नपि दयमानमानसम् तम् युधिष्ठिरम् ह्रिया लज्जया एव पुरतः पूर्वतः दत्तार्धसाह्यं नमनविषये कृतसाहायकं लज्जया स्वतो नमदपि शिरः अङ्घ्रिद्वये युधिष्ठिरस्य चरणयुगले नमितं कुर्वन्त्यः नमयन्त्यः सत्य आजग्मुः शरणमुपाययुः । स्वतो मन्दगतयोऽपि रोदनात्समुद्गच्छता जलराशिना पङ्किले पथि मन्दं चलन्त्य सोरस्ताडनं रुदत्यश्च दुर्योधनस्त्रियः कदाचिदप्यमुक्तदयं तं युधि-

---

१. 'मार्गाम्' । २. 'तादृशे व्रीडभरे' । इति पा० ।

छिरं शरणं प्रपन्नास्तासां शिरांसि च भर्तृमोचनार्थं शत्रुं शरणीकुर्महे इति लज्जयैव नमितान्यपि ताः प्रणामाय पुनरनमयन्निति भावः ॥ ५६ ॥

गिरते हुए अश्रुजलसे पङ्कभूत उस वन मार्गमें और मन्द पड गई है चाल जिनकी ऐसी एवं छातीपर गिर रहे हैं हाथ जिनके ऐसी अर्थात् छाती पीटकर रोती हुई दुर्योधनके अन्तःपुरमें रहनेवाली सुन्दरियोंने अजात शत्रु तथा कभीभी दयाका त्याग नहीं करने वाले उस धर्मराजके पास आकर उनके चरणोंमें अपने शीश झुकाये, जो शिर लज्जासे पहलेही आधे अंशमें झुकचुके थे, झुकनेमें जिनको लज्जाने आधी सहायता पहलेही करदी थी ॥ ५६ ॥

सगद्गदमेवमभिदधुश्च,—

सगद्गदमिति । (ताः सुयोधनस्त्रियः) सगद्गदम् दुःखेन स्खलद्वर्णं यथा स्यात्तथा एवं वच्यमाणप्रकारेण अभिदधुः ऊचुः च, धर्मराजं विज्ञापयामासुश्चेत्यर्थः ।

दुर्योधनकी स्त्रियोंने रो रो कर गद्गद स्वरमे धर्मराजसे इस प्रकार निवेदन भी किया ।

संद्रष्टुं तव पादमूलमधुना सर्वैः समं बन्धुभि-
देंव ! भ्रातरमागतं वनतले लेशेन हेतोर्विना ।
पापः कश्चन गायको दिविषदां हा हन्त बद्ध्वा दृढं
नःशङ्करुपवीणितो निजभटैरभ्रं नयत्युच्चकैः ॥ ५७ ॥

सन्द्रष्टुमिति । देव, अधुना अद्य तव पादमूलं चरणयुगलं सन्द्रष्टुम् अवलोकयितुम् बन्धुभिः स्वभ्रातृपत्न्यादिभिः समम् सह आगतं भ्रातरं तवानुजन्मानम् दुर्योधनं वनतले वनभुवि पापः दुराचारः कश्चन कोऽपि दिविषदां देवानां गायको गन्धर्वश्चित्रसेनः हेतोर्लेशेन विना विनैव स्वल्पमप्यपराधं, हा हन्त ! दृढं बद्ध्वा रज्जुभिः संयम्य निःशङ्कैः अभयैर्निजभटैः स्वयोधैः स्वैर्जनैः उच्चकैः गभीरं यथा तथा उपवीणितः वीणावादनेन स्तूयमानः सन् अभ्रम् आकाशदेशं नयति कर्षति । अद्य तव भ्राता दुर्योधनस्त्वत्पादमूलमवलोकयितुं सबन्धुबान्धवो वनमिदमागतः, कारणलेशमपि विनैव तमयं देवगायको रज्जुसंयमितं कृत्वा दिवं नयति, तद्भराश्च तं गन्धर्वं वीणयोपगायन्ति, ते निःशङ्काश्चरन्तीति परमं नः कष्टमुपस्थितं तत्रायस्वेति भावः ॥ ५७ ॥

महाराज, आपके भाई दुर्योधन अपने बन्धुओंके साथ आपके चरणोंके दर्शनार्थ इस जङ्गलमें आये, बिना कुछ कारणके उन्हें कोई पापी गन्धर्व कसकर बांधकर लिये जारहा है, वह गन्धर्व निर्भय भावसे आकाश की ओर जारहा है, उसके योद्धा गण वीणा बजा-बजा कर उसकी स्तुति कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

तदद्य नः कण्ठभुवि स्नुषाणां तवैव पादं शरणं गतानाम् ।

[1]वास्तव्यतां मङ्गलसूत्रिकायाः प्रसीद दातुं प्रथमानकीर्ते ! ॥ ५८ ॥

तदथेति । तत् तस्मात् हे प्रथमानकीर्त्ते, वर्धमानयशोराशे, महाराज युधिष्ठिर, तवैव केवलस्य तव पादं चरणमूलं शरणं गतानाम् त्वामेव शरणं प्रपन्नानाम् स्नुषाणां भ्रातृजायानाम् नः अस्माकं कण्ठभुवि गलदेशे मङ्गलसूत्रिकायाः सधवात्वचिह्नभूतस्य मङ्गलसूत्रस्य वास्तव्यताम् निवासं दातुं कल्पयितुं प्रसीद दयस्व । यतोऽस्माकं स्वामी शत्रुणा नीयतेऽतः प्रार्थयामहे यदस्माकं स्वामिनं मोचयित्वाऽस्माकं सधवाभावं रक्षेति भावः ॥ ५८ ॥

हे वर्धमान यश वाले महाराज युधिष्ठिर, हमारे पतिको शत्रु बांधकर लिये जा रहे हैं, इस लिये हम आपकी बहुएं आपकी शरणागत हुई हैं आप कृपा करके ऐसा उपाय करदें जिससे हमारे कण्ठमें मङ्गलसूत्र रूप सधवाचिन्हकावास कायम रहे, ऐसा उपाय कर दें जिससे हम सधवा रहें, हमारे पतिकी रक्षा करके हमें विधवा होनेसे बचा लें ॥५८॥

इति ताभिर्दीनभावं पुरोधाय निवेदितस्य राज्ञो निदेशेन निर्गत्य सत्वरमनुधावतां भ्रूदण्डमिव कोदण्डमपि कोपेन कुटिलीकुर्वतां भीमप्रभृतीनां क्ष्वेलितविस्फाराभ्यां तत्क्षणं वियदखिलं विक[2]स्वरनिजगुणमासीत्[3] ॥

इति ताभिरिति । इति एवं प्रकारेण दीनभावं दैन्यं पुरोधाय अग्रे कृत्वा दैन्यं प्रकाश्य निवेदितस्य प्रार्थितस्य त्रातुमागृहीतस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य निदेशेन आज्ञया निर्गत्य आश्रमाद् बहिर्भूय सत्वरं वेगेन अनुधावताम् गन्धर्वाननुसरताम् कोपेन क्रोधवशेन भ्रूदण्डम् भ्रूवल्लीम् इव कोदण्डम् चापम् अपि कुटिलीकुर्वताम् नमयताम् भीमप्रभृतीनाम् भीमार्जुननकुलसहदेवानाम् पाण्डवानां क्ष्वेलितविस्फाराभ्यां सिंहनादचापनादाभ्याम् तत्क्षणं तदा अखिलं समग्रं वयत् नभः विकस्वरनिजगुणम् उद्भूतस्वीयशब्दरूपगुणम् मुखरितम् आसीत् । आकाशस्य शब्द एव विशेषगुण इति स्वगुणशब्देन तस्यैव ग्रहणम् ॥

इस प्रकार दीनता प्रदर्शित करके प्रार्थित होनेवाले धर्मराजकी आज्ञा प्राप्त करके आश्रमसे निकलकर वेगसे कृतापराध गन्धर्वोंका अनुसरण करनेवाले भीम आदिने क्रोधसे अपनी भवोंको वक्र बनाया और उसी तरह अपने धनुषोंको भी वक्र बनाया, उस समय उनके सिंहनाद तथा चापघोषसे सारा आकाश मुखरित हो उठा, आकाशने अपने गुण शब्दको प्रकाशित कर दिया ॥

अर्जुनस्त्वेवमुवाच,—

अर्जुन इति । अर्जुनस्तृतीयपार्थस्तु एवम् वक्ष्यमाणं वचनमुवाच उक्तवान् ।

---

१. 'वास्तव्यता' । २. 'विकस्वरम्' । ३. 'क्व गायका' । इति पा० ।

अर्जुनने इस प्रकारसे गन्धर्वोंको ललकार कर कहा—

क्व गायका ! यूयमुपात्तवीणाः क्व चापधुर्याः कुरुवंशभूपाः ।
अहो रणे चापलमीदृशं वः स्वमूलकं वा परमूलकं वा ॥ ५९ ॥

क्व गायका इति । उपात्तवीणाः आजन्मनो वीणावादनपराः गायकाः गन्धर्वाः यूयम् क्व ? चापधुर्याः धनुर्विद्यानिष्णाताः कुरुवंशभूपाः कौरवनृपतयो वयं क्व ? नास्माभिः सह भवतां युद्धं युज्यत इत्यर्थः । अहो आश्चर्यम्, रणे युद्धे ईदृशं वर्त्तमानप्रकारं वश्चापलम् युष्माकं धृष्टत्वम् स्वमूलकम् आत्मविचारभवं परमूलकं वा परप्रतारणाप्रभवं वा ? इति ब्रूतेत्यर्थः । युद्धविरतानां गानमात्ररसिकानां भवतां गन्धर्वाणां युद्धप्रवृत्तिः कथं जातेत्याश्चर्यमिति भावः ॥ ५९ ॥

वीणा बजाने वाले गन्धर्व आप लोग कहाँ ? और कहाँ चाप पर जीवन देने वाले बहादुर कौरवगण ? आप गन्धर्वोंने जो यह युद्धमें चपलता दिखलाई है क्या यह आप लोगोंकी बुद्धि की करामात है या किसी और आदमीकी बुद्धिकी करामात है ? अर्थात् आप लोग अपनी मर्जीसे लड़ने चले थे या किसी और ने आपको लड़नेमें प्रवृत्त कराया था ? ॥ ५९ ॥

वृषाङ्कमौलेर्व्रणचिह्नदायी वने जनो[1]ऽस्मिन्वसतीति वार्ता ।
पपात कर्णे भवतां न किंस्विद्यदीदृशं साहसमातनुध्वे ॥ ६० ॥

वृषाङ्केति । वृषाङ्कस्य शिवस्य मौलेः शिरसः व्रणचिह्नदायी गाण्डीवप्रहारक्षतचिह्नप्रदः शिवस्यापि शिरसि प्रहर्त्ता जनोऽर्जुनलक्षणो लोकेऽस्मिन् वने वसति इति वार्त्ता कथा किंस्वित् किं भवतां कर्णे श्रवणे न पपात न गता, यदीदृशं कौरवबन्धनरूपं साहसम् धाष्टर्यम् आतनुध्वे कुरुध्वे । किं भवन्तो महादेवादपि रणेऽविभ्यतोऽर्जुनस्यात्रवने वासं नाकर्णितवन्तो येनैतादृशं कुरुवंशिबन्धनात्मकं धृष्टत्वं कर्त्तुं प्रवृत्ता यूयमित्यर्थः ॥ ६० ॥

महादेवके शिर पर गाण्डीवसे प्रहार करके घावका चिह्न प्रदान करने वाला अर्जुन इस वनमें रहा करता है यह बात क्या आप लोगोंने नहीं सुनी थी कि इस तरहका साहस—कौरवोंके साथ युद्ध—उनका बंधन आदिकी धृष्टता करने लगे हैं ॥ ६० ॥

भ्राताधुनासौ न विसृज्यते चेत्तथात्र संनह्यतु गाण्डिवो मे ।
यथा महेन्द्रः परिगृह्य वीणां स्वबाहुकीर्तिं स्वयमेव गायेत् ॥ ६१ ॥

भ्राताऽधुनेति । असौ भवद्भिर्बद्ध्वा नीयमानो मे भ्राता दुर्योधनः चेत् न विसृज्यते यदि भवद्भिर्न मुक्तबन्धनः क्रियते तदा मे ममार्जुनस्य गाण्डिवस्तदाख्यया प्रथितश्चापस्तथा सन्नह्यतु उद्यतो भवतु यथा महेन्द्रः शक्रः स्वबाहुकीर्त्तिम् स्वभु-

---

1. 'अर्जुनः' । इति पा० ।

जयोद्दानच्चात्रभवं यशोराशिम् वीणां परिगृह्य आदाय स्वयमेव गायेत् गायकान्तरानुपलब्धेः स्वयमेव गायेत् । यदि भवन्तो मद्भ्रातरं दुर्योधनं न मुञ्चन्ति, तदाहममुनागाण्डीवेन सर्वान् भवतो हनिष्यामि, येन गन्धर्वाणामभावे इन्द्रः स्वं यशो गातुमात्मभिन्नं कमपि गातारं गन्धर्वमनुपलभमानः स्वयमेव गातुं बाध्येतेति भावः । पर्यायोक्तालङ्कारः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६१ ॥

इसी समय आप हमारे इस बंधे हुए भाई दुर्योधनको नहीं छोड़ते हैं तो हमारा यह गाण्डीव धनुष ऐसा उपक्रम करेगा कि इन्द्रको वीणा लेकर अपना यश स्वयं गाना पड़ेगा, अब तक तो गन्धर्व उनका यश गाया करते थे, अब तो सभी गन्धर्व मेरे द्वारा निहत हो जायेंगे, इन्द्रको अपना यश खुद गाना पड़ जायेगा ॥ ६१ ॥

इति विजयस्य वीरवादेन पुनरपि निवर्तमानैर्वीणामंसेषु निबध्य बाणासनमेवं[1] करे कूजयद्भिस्तैर्नभश्चरैः सममेषां सकलवैमानिकपरिषदङ्गरुहवितीर्णनिद्राभङ्गो महान्संगरोऽभूत ॥

इति विजयस्येति । इति एवं विधेन विजयस्यार्जुनस्य वीरवादेन साहङ्कारभाषितेन पुनः अपि निवर्त्तमानैः परावर्त्तमानैः अंसेषु भुजशिखरेषु वीणाम् निबद्ध्य स्थापयित्वा वीणावादनं विहायेत्यर्थः करे हस्ते बाणासनम् धनुः एव कूजयद्भिः टङ्कारयद्भिः तैः नभश्चरैः गन्धर्वैः समम् सह एषां भीमादीनां पाण्डवानाम् सकलायाः वैमानिकपरिषदः देववर्गस्य अङ्गसहेभ्यो लोमभ्यो वितीर्णः दत्तः निद्राभङ्गः रोमाञ्चरूपः प्रबोधो येन तादृशः अतिभीषणतया पश्यतां देवानाम् रोमाञ्चं जनयन्नित्यर्थः संगरः संग्रामोऽभूत् जातः ।

अर्जुन की ऐसी बहादुरी भरी बात सुनकर फिरसे लौटे हुए गन्धर्वोंने वीणाको अपने कन्धों पर लटकाकर धनुषको हाथमें रखकर टंकारित करते हुए पाण्डवोंसे लड़ने लगे, गन्धर्वों तथा पाण्डवोंका वह युद्ध इतना भीषण हुआ कि विमान विहारी देवगणके रोम राशिको जगा दिया, उस भीषण युद्धको देखकर देवोंके रोंगटे खड़े हो उठे ॥

गम्भीरगाण्डिवगुणाद्गलितैः पृषत्कैर्गण्डस्थले हृदि भुजे गमितव्रणास्ते ।
गर्वं विहाय चकिता गगनान्तराले गन्धर्वभावसदृशं गमनं वितेनुः ॥६२॥

गम्भीरेति । गम्भीरात् अतिदृढात् गाण्डीवगुणात् गाण्डीवाख्यशरासनमौर्वीतः गलितैः निर्गतैः पृषत्कैः बाणैः गण्डस्थले कपोलदेशे हृदि उरसि भुजे बाहौ च गमितव्रणाः प्रहारक्षतास्ते गन्धर्वाः चकिताः भीताः सन्तः गर्वम् युद्धशूरतादर्पम् विहाय त्यक्त्वा गन्धर्वभावसदृशं गन्धर्वत्वानुरूपम् गमनम् भीत्या पलायनं गगनान्तराले नभसि वितेनुः चक्रुः । गन्धर्वा अश्वास्तदनुरूपं गमनं वितेनुरितिवाऽर्थः

---

१. 'मेव कूजयद्भिः' । इति पा० ।

'वाजिवाहार्वं गन्धर्वं' इति घोटकपर्यायेष्वमरः। अर्जुनेन गाण्डीवात् प्रहृतैः शरैः क्षतवपुषो गन्धर्वागलितयुद्धदर्पाभीताश्च सन्तो वेगेन पलायिषतेति भावः॥ ६२॥

गाण्डीव धनुषकी डोरीसे निकलने वाले बाणोंसे क्षत विक्षत हो रहे है कपोल, हृदय और भुज जिनके ऐसे वे गन्धर्व वीरताके गर्वको छोड़कर भयभीतहो आकाशमें अपनी जातिके अनुरूप गमन-पलायन करने लगे, अथवा घोड़ोंकी तरह द्रुत वेगसे इधर उधर भागना प्रारम्भ कर दिया॥ ६२॥

वीणाः समस्ता विजयेन कृत्ता गन्धर्वसैन्याद्गलिता निपेतुः[1]।
आयुष्मती केवलमालुलोके[2] हस्ताग्रवीणा दिवि नारदस्य॥ ६३॥

वीणा इति। विजयेन अर्जुनेन कृत्ताः छिन्नाः अत एव गन्धर्वसैन्यात् गन्धर्वसेनासकाशात् गलिताः च्युताः समस्ताः वीणाः निपेतुः भुवि पतिताः, केवलम् एका नारदस्य मुनेः हस्ताग्रवीणा करस्थिता महती नाम तन्त्री दिवि आकाशे आयुष्मती अच्छिन्नतया जीवनादृष्टमस्वमात्मनो गमयन्ती आलुलोके ददृशे। आकाशस्थितैर्गन्धर्वैः स्वस्कन्धेषु धृतासु वीणासु विजयशरच्छिन्नासु भुवि पतितासु च सतीषु केवलमेकानारदस्य महती वियति सकुशलं स्थिता दृश्येतेस्मेति भावः॥ ६३॥

अर्जुनके द्वारा छिन्न होकर गन्धर्वोंकी सारी विणायें जब जमींन पर गिर पड़ीं तब केवल एक मात्र नारदके हाथमें रहने वाली महती नामक वीणाही आकाशमें जीती जागती देखीं जाति रहीं॥ ६३॥

एतावतीति युधि मार्गणचारशक्तिः
स्पष्टीबभूव सुरगायकपाण्डवानाम्।
तेषां ययुः शरकुलानि हि लक्ष्यमात्रं
लक्ष्यं विभिद्य पुनरराययुरन्तमेषाम्[3]॥ ६४॥

एतावतीति। युधि युद्धे सुरगायकानां गन्धर्वाणां पाण्डवानाञ्च मार्गणचारशक्तिः बाण प्रयोगनिपुणता एतावती इयत्प्रमाणा इति स्पष्टी बभूव स्फुटीभूता, गन्धर्वाः पाण्डवाश्च कीदृशीं बाणप्रयोगपटुतां धारयन्तीति तत्र युद्धे स्पष्टतया ज्ञायतेस्मेत्यर्थः। हि यतः तेषां गन्धर्वाणां शरकुलानि बाणगणाः लक्ष्यमात्रं ययुः केवलं लक्ष्यं प्रापुः एषां पाण्डवानां शरकुलानि तु लक्ष्यं विभिद्य विदार्य पुनः एषां प्रहर्तॄणां पाण्डवानाम् अन्तम् पार्श्वम् आययुः आगच्छन्तिस्म। गन्धर्वबाणाः केवलं लक्ष्यदेशमुपसर्पन्ति, न तु लक्ष्याणि भिन्दन्ति, न वा परावृत्यागच्छन्ति, पाण्डवशरास्तु लक्ष्यं प्राप्य तद्विभिद्य पुनरायान्तीति दृष्टमुभयोस्तारतम्यमिति भावः॥६४॥

---

१. 'बभूवुः'। २. 'आस लोके'। ३. 'रस्तमेषाम्'। इति प०।

गन्धर्वों और पाण्ड़वोंकी बाणविद्या निपुणता कैसी है यह बात उस युद्धमें स्पष्टहो गई क्योंकि गन्धर्वोंके बाण समूह केवल लक्ष्यतक पहुँचकर रह जाते थे, और पाण्डवोंके बाण लक्ष्यतक पहुँचते उनका भेदन करते, फिर प्रहार करने वाले पाण्डवोंके पास लौट भी आते थे ॥ ६४ ॥

तत्र शक्रसुतस्य तादृशं विक्रममभिनन्द्य कृतसंधानेन गन्धर्वराजेन समर्पितं पौरुषहीनं[1]मिदं न पुरस्करणीयमिति बन्धनमिषेण[2] पश्चादुपनीतबाहुयुगलं सुयोधनमादाय ते भीमादयो वसुधाधिपस्य संनिधिं [3]प्रत्यनयन् ॥

तत्रेति । तत्र युद्धे शक्रसुतस्य अर्जुनस्य तादृशं वर्णयितुमशक्यम् विक्रमम् पराक्रमम् अभिनन्द्य श्लाघयित्वा प्रशस्य कृतसन्धानेन कृतसन्धिना गन्धर्वराजेन चित्रसेनेन समर्पितं प्रत्यावर्त्तितम् , पौरुषहीनम् अशक्ति इदं बाहुयुगलं न पुरस्करणीयम् नादरणीयं नाग्रे स्थापनीयमिति धिया बन्धनमिषेण संयमनच्छलेन पश्चादुपनीतबाहुयुगलम् पृष्ठावस्थापितकरद्वयम् , सुयोधनम् आदाय गृहीत्वा ते भीमादयः पाण्डवाः वसुधाधिपस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य सन्निधिं समीपं प्रत्यनयन् प्रापितवन्तः ।

उस युद्धमें इन्द्रके पुत्र अर्जुनका वैसा पराक्रम देखकर उसकी प्रशंसा करने वाले चित्रसेन नामक गन्धर्वराजने पाण्डवोंके साथ सन्धिकरली और दुर्योधनको उनके हाथोंमें सौंपदिया, दुर्योधनके दोनों हाथ पृष्ठ देशमें अवस्थापित थे, मानों दुर्योधनने अपने हाथोंको अशक्त जानकर तुच्छ समझकर इन्हें आगे करना नहीं चाहा, ऐसे दुर्योधनको वे लोग राजा युधिष्ठिरके पास ले आये ॥

तं वीक्ष्य तत्र तरुमावरणं भजन्ती
सा पार्षती सविधवल्लिपरम्परासु ।
हासैः कराङ्गुलिबिलादसकृद्गलद्भि-
राकालिकीं कुसुमपङ्क्तिमिव व्यतानीत् ॥ ६५ ॥

तं वीक्ष्येति । तत्र युधिष्ठिरस्य पुरोदेशे तरुं वृक्षम् आवरणम् आच्छादकं भजन्ती स्वीकुर्वती वृक्षान्तरालाच्छादितदेहा सा पार्षती द्रौपदी तं तथाऽऽनीयमानं तं बद्धकरयुगले दुर्योधनं वीक्ष्य दृष्ट्वा कराङ्गुलिविलात् हास्यगोपनार्थं मुखे स्थापितस्य करस्य अङ्गुलिसन्धिच्छिद्रात् असकृत् भूयो भूयो गलद्भिः बहिर्भवद्भिः हासैः सविधवल्लिपरम्परासु समीपस्थितलताततिषु आकालिकीम् असमयोत्पन्नाम् कुसुमपङ्क्तिम् पुष्पराशिम् व्यतानीत् अकरोत् इव अयमाशयः—वृक्षान्तरालस्थिता द्रौपदी तदवस्थं दुर्योधनं वीक्ष्य निरुद्धैरपि निर्गतैः स्वहासैरन्तिकस्थलतासु पुष्पाणीवोद्भावयदित्यर्थः । हासानां धावल्येन कुसुमत्वोत्प्रेक्षाबोध्या ॥ ६५ ॥

---

१. 'परिहीनम्' । २. 'बन्धमिषेण' । ३. 'अधिरोपयामासुः' । इति पा० ।

वृक्षकी ओटमें छिपकर वृक्षको आवरण बनाकर दुर्योधन की उस स्थितिको देखकर द्रौपदीने हंसी रोकनेके लिये मुखपर रखे गये हाथकी अङ्गुलियोंके छिद्रमें से निकलने वाले हाससे समीपवर्त्ती लता परम्परामें अकालमें फूल खिला दिये, उसकी स्वच्छ हंसी लताओं पर बिखर गई, ऐसा मालूम पड़ा मानों लतायें असमयमें फूल पड़ी हों ॥ ६५ ॥

वीरव्रातैस्त्रिभुवनतले [1]विश्रुते नः कुलेऽस्मि-
न्नुत्पद्य त्वं बहुभिरनुजैरास्थितोऽप्याधिपत्यम् ।
एवं भङ्गं किमिह भजसे वत्स ! नीचैः प्रणीतं
राजन्यानां परपरिभवो राजयक्ष्मा हि कीर्तेः ॥ ६६ ॥

वीरव्रातैरिति । हे वत्स दुर्योधन, त्वं वीरव्रातैः कुरुपुरुप्रभृतिवीरसमूहैः हेतुभिः त्रिभुवनतले लोकत्रये विश्रुते प्रसिद्धे नः अस्माकम् अस्मिन् कुले चन्द्रवंशे बहुभिः नवनवत्या अनुजैः भ्रातृभिः सह उत्पद्य प्रादुर्भूय आधिपत्यम् राज्याधिकारम् आस्थितः प्राप्तः अपि नीचैः गन्धर्वादिगायकवादकैः प्रणीतं सम्पादितम् एवम् एतादृशम् भङ्गं पराजयम् इह इदानीम् किमु कुतो भजसे ? वीराणां वंशे जातो बहुभिर्भ्रातृभिर्युतो राज्याधिकृततया सैन्यशक्तिसम्पन्नोऽपि त्वमेवं वैणिकैः कथं पराजीयसे, अनुचितमाश्चर्यकरं चेदं वृत्तमित्यर्थः, एतादृशस्यार्थस्यानुचितत्वं समर्थयितुमाह—राजन्यानामिति । राजन्यानां क्षत्रियाणां परपरिभवोऽन्यैः कृतः पराजयः कीर्त्तेर्यशसः राजयक्ष्मा क्षयरोगतुल्यो विनाशक इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

कुरू पूरू प्रभृति वीरोंके द्वारा त्रिभुवन प्रथित हमारे इस चन्द्रवंशमें निन्यानबे अनुजोंके साथ पैदाहोकर और राज्या रूढ़ होनेसे सैन्य शक्ति सम्पन्न होकर भी तुम इस प्रकार नीच गायकों द्वारा किये गये पराजयको कैसे प्राप्त हो जाते हो ? यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है, क्षत्रियोंका दूसरों द्वारा पराजित होना उसकी कीर्त्तिके लिये क्षयरोग है, विनाशक है ॥ ६६ ॥

इत्थं निगद्य सरलेन युधिष्ठिरेण
बन्धाद्विमुच्य[4] बकविद्विषता विसृष्टः ।
मानं च्युतं मृगयमाण इवातिनम्रो
वाचंयमेन स ययौ महता बलेन ॥ ६७ ॥

इत्थमिति । सरलेन कोमलहृदयेन युधिष्ठिरेण इत्थम् उक्तप्रकारेण निगद्य उक्त्वा बकविद्विषता बकासुरसंहारकभीमद्वारा बन्धात् गन्धर्वकृतसंयमनात् विमुच्य विमोच्य विसृष्टः गन्तुमाज्ञप्तः स दुर्योधनः च्युतम् भ्रष्टं मानं स्वगौरवं मृगयमाणः अन्विष्यन् इव अतिनम्रः नम्रशिरस्को भूत्वा वाचंयमेन (पराजयकृतलज्जया) त्यक्त-

---

१. 'भवैः' । २. 'संस्तुते' । ३. 'उद्भूय त्वम्' । ४. 'विमोच्य' । इति पा० ।

गर्जनतया मूकीभूतेन महता बलेन सैन्येन सह ययौ प्रतस्थे। मानं मृगयमाण इवेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ ६७ ॥

कोमल हृदय युधिष्ठिरने इस प्रकार कहकर भीमके द्वारा दुर्योधनका बन्धन खुलवा दिया और उसे जानेकी आज्ञा देदी, अनन्तर दुर्योधन शिर नीचा किये पराजयकी लज्जासे मूक अपनी बड़ी सेनाके साथ चल पड़ा, वह इस तरह शिर झुकाये चल रहा था मानो अपने खोये हुए गौरवको ढूंढ़ रहा हो ॥ ६७ ॥

यं प्रायं बहुमिच्छन्ति जना जीवितुमुत्सुकाः।
उपाविक्षत्तमेवासौ पथि प्राणान्समुज्झितुम् ॥ ६८ ॥

यं प्रायमिति। जीवितुं प्राणान् धारयितुमुत्सुकाः इच्छन्तो जनाः ये प्रायम् वयः बहुम् अनेकवर्षव्यापिनमिच्छन्ति, तमेव प्रायं निरशनव्रतम् असौ दुर्योधनः पथि मार्ग प्राणान् समुज्झितुम् त्यक्तुम् उपाविक्षत् धारयामास। अयमाशयः— लोका जीवनेच्छया बहुं प्रायं वयः कामयन्तेऽयं पुनर्दुर्योऽधनः प्राणान् हातुं पथि प्रायम् निरशनव्रतमङ्गीचकार। प्रायस्य जीवनसाधनस्यापि मृत्युसाधनतयास्वीकार इति विरुद्धम्। प्रायशब्देन निरशनव्रतस्य ग्रहणे च विरोधपरिहारः। लज्जयाऽन्त-हारेण पथि स्वं समापयितुमिच्छतिस्मेति तात्पर्यम्। 'प्रायो वयसि बाहुल्ये तुल्या-नशनमृत्युषु' इति वैजयन्ती ॥ ६८ ॥

लोग जीनेकी इच्छासे जिस प्राय-वयस्को बहुत चाहते हैं, लोग जीनेके लिये प्राय उम्रकी अधिकता चाहते हैं, दुर्योधनने अपने प्राण विसर्जित करनेकी इच्छासे उसी प्राय-अनशन-को मार्गमें अपनाया। लज्जाके मारे अनशन द्वारा प्राण त्यागना चाहा ॥ ६८ ॥

तस्मिन्व्रते स्वपनलब्धसुरारिसाह्यस्त्यागे तनोस्तदनु बन्धुतया निषिद्धः।
तस्माद्वनात्पुनरपि प्रतिपद्य धैर्यं घुष्यद्बलो निववृते कुरुराजधानीम् ॥ ६९ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन् प्रायो पवेशने अनशनेनात्मवधरूपे व्रते नियमे स्वप्ने स्वपने लब्धम् प्राप्तं सुरारेः अलम्बुसादे राक्षसस्य साह्यं साहायकं येन तादृशः स्वप्नावगतालम्बुसादिसाहायकः, तदनु तत्साहाय्यप्राप्तिवार्त्ताश्रवणानन्तरम् बन्धु-तया स्वभ्रातृवर्गेण तनोस्त्यागे मरणे निषिद्धः निवारितश्चासौ दुर्योधनः धैर्यं प्रतिपद्य आसाद्य तस्माद् वनात् द्वैताख्यात्काननात् पुनरपि घुष्यद्बलः शब्दायमानचतुरङ्ग-सैन्यः कुरुराजधानीम् हस्तिनापुरीम् निववृते परावृत्तः प्रायोपवेशनमाश्रितो दुर्योधनः कदाचिदलम्बुसादिभी राक्षसैस्त्वत्साहाय्यं करिष्याम इत्याश्वासनं स्व-प्नेऽधिगत्य भ्रातृभिर्मरणाद्वार्यमाणः सन् पुनरपि ससैन्यः स्वां राजधानीं प्राप्त-वानिति भावः ॥ ६९ ॥

उस प्रायो प्रवेशन व्रतकालमें स्वप्नसमयमें अलम्बुसादिराक्षसोंने दुर्योधनको

---

१. 'बहु मन्यते'। इति पा०।

सहायताका आश्वासन दिया, तब उसके बाद उसके भाइयोंने दुर्योधनको प्राणत्याग करनेसे रोका, और उनकी बात मानकर दुर्योधनने गरजती हुई सेनाके साथ फिरसे कुरुओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ६९ ॥

कदापि मा बन्धय गायकैर्मामितीव हव्यैरमृतायमानैः ।
संप्रीणयन्निन्द्रमथाभिमानी स पौण्डरीकं क्रतुमाजहार ॥ ७० ॥

कदापीति । अथ राजधानीप्राप्तेः पश्चात् अभिमानी मानधनः सदुर्योधनः हे इन्द्र, इतः परम् एतत्परतः मां कदापि गायकैः गन्धर्वैः मा बन्धय न संयमय इतीव एतदर्थमिव अमृतायमानैः सुधासदृशैः हव्यैः हवनीयद्रव्यैः इन्द्रं सम्प्रीणयन् प्रासादयन् पौण्डरीकं नाम क्रतुम् यज्ञम् आजहार कृतवान् । इन्द्रो मां पुनरपि गन्धर्वैर्मा बन्धयत्विति सुधासदृशहव्यैरिन्द्रमाराधयन्नसौ दुर्योधनः पौण्डरीकं नाम यज्ञमनुष्ठितवानिति भावः ॥ ७० ॥

हे इन्द्र, आप फिर कभी मुझको अपने गायकों द्वारा नहीं बंधवायें, इसी प्रार्थनाके साथ अमृत समान स्वादिष्ट हव्यद्वारा उसने इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये पौण्डरीक नामक यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ७० ॥

भूपोऽपि तां वनभुवं प्रविहाय भेजे भूयः स काम्यकतपोवनमण्डलानि ।
किर्मीरनाशमुदिताखिलतापसौघस्वाध्यायघोषमुखरीकृतदिङ्मुखानि ॥७१॥

भूपोऽपीति । सः प्रसिद्धः भूपो राजा युधिष्ठिरः अपि तां वनभुवं द्वैतवनभूमिं प्रविहाय त्यक्त्वा किर्मीरस्य तदाख्यराक्षसस्य नाशेन भीमकृतेन वधेन मुदिताः प्रसन्ना ये तापसौघाः मुनिसमुदयास्तेषां स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन मुखरीकृतं सशब्दं दिङ्मुखं दिशावकाशो यत्र तानि तथोक्तानि काम्यकतपोवनमण्डलानि काम्यकनामक तपोवनानि भेजे प्राप । राजायुधिष्ठिरः पुनरपि काम्यकवनमागतः, तत्र स्थितस्य मुनिजनोपद्रवकारिणो राक्षसस्य किर्मीरस्य भीमेन वधे कृते प्रसन्ना मुनयः स्वाधायेन तद्दिगवकाशान् मुखरयन्तिस्मेति भावः ॥ ७१ ॥

अपनी दयालुताके लिये प्रसिद्ध राजा युधिष्ठिर फिरसे काम्यक तपोवनमें आगये, जहाँ किर्मीरनामक राक्षसके भीमद्वारा निहत हो जानेसे प्रसन्न मुनि–जन अपने स्वाध्याय द्वारा दिशाओंको मुखरित कर रहे थे ॥ ७१ ॥

मृदुभिर्वनवल्लिकन्दमूलैर्विहितातिथ्यविधिः स तत्र पार्थः ।
स्थितिमाचरति स्म हृष्टचेतास्तृणविन्दोर्वचने तपोवने च ॥ ७२ ॥

मृदुभिरिति । तत्र काम्यकतपोवनमण्डलेषु सः पार्थः युधिष्ठिरः मृदुभिः अकठोरैः कोमलैः वनवल्लिकन्दमूलैः वनभवानां लतानां कन्दमूलैः कन्दैर्मूलैश्च विहितातिथ्यविधिः कृतसत्कारः सन् हृष्टचेताः प्रसन्नः सः तृणविन्दोः तदाख्यस्य मुनेः

---

१. 'भूयोऽपि' । २. 'र्नववल्लि' । इति पा० ।

वचने वाचि स्थितिम् निष्ठाम् आदरम् आचरति स्म, तपोवने च तदीयतपस्याश्रमे स्थितिं निवासं च आचरति स्म । काम्यके मुनिभिः कन्दमूलादिना मुनिजनैः सत्क्रियमाणो युधिष्ठिरस्तृणविन्दोर्नाम मुनेराश्रमे तद्वचनमाद्रियमाणस्तस्थौ इत्याशयः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ७२ ॥

उस काम्यक वनमें मुनियोंने नवीन नवीन लता कन्दमूल आदिसे युधिष्ठिरका आतिथ्य-सत्कार किया, आतिथ्य सत्कारसे प्रसन्न होकर वह युधिष्ठिर तृणबिन्दु नामक मुनिके आश्रममें उनकी उक्तिपर आस्था करके-उनका कहना मानकर-रहने लगे ॥ ७२ ॥

प्रासूत या सदसि पट्टपटीरसंख्याः
सैषा समागतवतीति सकौतुकाद्यः ।
वेणीधरामुटजसीमनि याज्ञसेनीं
विस्मित्य वल्कलवसं ददृशुर्गृहिण्यः ॥ ७३ ॥

प्रासूतेति । या द्रौपदी सदसि द्यूतसभायां दुःशासनकर्तृकवस्त्रापहारकाले असङ्ख्याः अनन्ततया गणयितुमशक्याः पट्टपटीः कौशेयवस्त्राणि असूत प्रकटीकृतवती, सैषा द्रौपदी समागतवती अत्रायाता इति सकौतुकाद्यः उत्कण्ठितदृष्टयः गृहिण्यः मुनिदाराः उटजसीमनि पर्णशालापरिसरभूमौ वेणीधराम् मुक्तकेशीं वल्कलवसं वल्कलपरिधानाम् याज्ञसेनीं द्रौपदीम् विस्मित्य आश्चर्येण ददृशुः । या द्रौपदी द्यूतसभायामनन्तं कौशेयपटराशिमाविरभावयत्सेयं समागतवतीतितद्दर्शनोत्कण्ठिता मुनिस्त्रियो यदोटजसमीपे मुक्तकेशीं वल्कलधारिणीं च द्रौपदीमपश्यँस्तदा तासां महान् विस्मयो जातः, अनन्तवस्त्रप्रकटनशक्ताया अपि वल्कलपरिधानत्वं तासां विस्मयमसृजदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

जिस द्रौपदीने द्यूत सभामें असंख्य रेशमी साड़ियाँ उत्पन्न की थीं, वही द्रौपदी यहाँ पर आ गई हैं इस बातको सुनकर उन्हें देखनेके लिये आश्चर्यितनयनवाली मुनिललनायें जब पर्णशालाके समीपमें मुक्तकेशी (दुःशासनवधपर्यन्त केश नहीं बांधनेकी प्रतिज्ञाके कारण खुले बालों वाली) तथा वल्कधारिणी उस द्रौपदीको देखती थीं तब उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था जिसने उतने वस्त्र उत्पन्न किये उसे वल्कल पहनना पड़े यह आश्चर्यकी बात तो थी ही ॥ ७३ ॥

तत्तादृदे करेऽस्यां विविधवनभवं कन्दमूलोपहारं
दातुं लज्जापयोधेस्तलमभिममृशुर्धर्मदारा मुनीनाम् ।
यस्य स्पर्शानुभावादविरतमुदितैः पायसैरेव दिव्यैः
किंचिद्भाण्डं वनान्ते तनुमतिथिजनस्यातनोदन्यथार्थाम् ॥७४॥

१. 'स्याद्विविध' । २. 'तत्रान्तरे-दिशि दिशि' । इति पा० ।

तत्तादृक्ष इति। यस्य द्रौपदीकरस्य स्पर्शानुभावात् स्पर्शमाहात्म्यवशात् अविरतम् अखिलेऽपि काले उदितैः प्रकटीभूतैः दिव्यैः असाधारणैः पायसैः परमान्नैः एव किञ्चित् अतितुच्छपरिमाणं भाण्डं रविप्रदत्तं पात्रम् वनान्ते वने अतिथिजनस्य तनुम् देहम् अन्यथार्थाम् विरुद्धार्थाम् अकृशाम् स्थूलाम् अतनोत् अकृत, तत्ताहक्षे स्वमाहात्म्यवशात् स्पर्शमात्रेण क्वचन पात्रेऽति स्वादुपायसपूर्णत्वमुद्भावयितुं समर्थे अस्याः द्रौपद्याः करे मुनीनां धर्मदाराः स्त्रियः विविधवनभवं नानाजातीयकं वन्यं कन्दमूलोपहारं कन्दमूलकल्पितमुपायनं दातुं लज्जापयोधेः लज्जासागरस्य तलम् अन्तस्तलम् अभिममृशुः स्पृष्टवत्यः, अयमाशयः—यो द्रौपद्याः करः स्वस्पर्शमात्रेणातिलघुनि पात्रे तादृशं माहात्म्यमुद्भावयति येन तत्पात्रं सर्वदा परमान्नपूर्णमेवातिष्ठते, यत्परमान्नमाकण्ठमभ्यवहरन्तश्चातिथिजनाः स्वतनोस्तनुत्वमपनयन्ति, तत्रैव तस्याः करे वन्यं कन्दमूलादिसमर्पयितुं प्रवर्त्तमानामुनिस्त्रियः लज्जापयोनिधेरन्तस्तलं प्रापुः लज्जासागरे ममज्जुरित्यर्थः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, स्रग्धरावृत्तम् ॥ ७४ ॥

जिसके स्पर्शके प्रभावसे एक छोटेसे पाक-पात्रसे सतत निकलने वाले विलक्षण परमान्नको खाकर अतिथिजन अपने तनु-शरीर-को विरुद्धार्थक-अतनु-स्थूल-बनाया करते हैं, उसी द्रौपदीके हाथोंमें जङ्गली कन्दमूलोंका उपहार देती हुई मुनि ललनायें लज्जा सागरकी तहको स्पर्श करने लग जाती थीं, उन्हें उस समय बड़ी लज्जाका अनुभव होता था-क्यों कि जो हाथ छू भर देनेसे एक मामूलीसे पात्रमें ऐसा जादू पैदाकर दे सकता है कि वह परमान्नसे भरा ही रहे चाहे जितना खर्च किया जाय, उस हाथ पर हम यह मामूली सा कन्दमूलोपहार रख रही हैं वे ऐसा समझती थीं ॥ ७४ ॥

दिशि दिशि मृगयायै तेषु यातेषु जातु
स्वयमुटजमवाप्तः सोमकेन्द्रात्मजायाः।
लपनशशिमहिम्ना लङ्घयामास वेलां
तरलितमकराङ्कस्तत्क्षणं सिन्धुराजः ॥ ७५ ॥

दिशिदिशीति। जातु कदाचित् तेषु युधिष्ठिरादिषु पाण्डवेषु दिशि दिशि भिन्नेषु दिग्विभागेषु यातेषु गतेषु स्वयम् आत्मनैव उटजम् युधिष्ठिरस्य पर्णशालाम् अवाप्तः सिन्धुराजः जयद्रथः सोमकेन्द्रात्मजायाः द्रुपदसुतायाः लपनशशिनो मुखचन्द्रस्य महिम्ना सौन्दर्यातिशयेन तरलितः क्षुभितः प्रवृद्ध, मकराङ्कः कामदेवो यस्य तथाभूतः सन् वेलाम् परस्त्रियोऽग्राह्यताया मर्यादम् तत्क्षणं सपदि लङ्घयामास अतिक्रान्तवान्। तं बलाद्गृहीतवानित्यर्थः। सिन्धुराजः समुद्रः चन्द्रदर्शनेन वेलां लङ्घयतीति, तस्य च समुद्वेलतायां तदङ्गभूतामकराः क्षुभ्यन्तीति च प्रती-

१. 'सोमकेन्द्रस्य पुत्र्याः'। इति पा०।

यते । यथा चन्द्रदर्शनेन समुद्रो वेलां सीमानं जहाति, तथा द्रौपदीमुखं दृष्ट्वा जयद्रथः कामाकुलः सन् मर्यादामुल्लङ्घ्य तां बलाद् गृहीतवानिति भावः । अत्र द्वितीयार्थस्य ध्वनिरेव । मालिनीवृत्तम् ॥ ७५ ॥

किसी समय युधिष्ठिर आदि पांचो पाण्डव शिकारके लिये यत्र-तत्र चले गये थे, तब सिन्धुराज जयद्रथ आश्रममें आया, उसने द्रौपदीका मुखचन्द्र देखा, उसका कामदेव क्षुभित हो उठा, और उसने तत्काल पर स्त्रीको छूना मना है इस मर्यादाका उल्लङ्घन कर दिया, अर्थात् उसने बलात् उसको पकड़ लिया । समुद्र भी चन्द्रमाके देखने पर वेला-तटको पार कर जाता है और उसके मकर क्षुभित हो उठते हैं ॥ ७५ ॥

ततः क्रन्दन्तीं[1] कुररीमिव निन्दन्तीमेनां पुरस्तादधिरोप्य सूतकरतोत्रदण्डाध्यापितवेगतन्त्रपारीणरथ्येन घनतरजघन[2]पयोधरभाराक्रमणविनम्रीकृत[3]पूर्वभागतया पार्थदर्शनशङ्कया निकुब्जीभूयेव धावता शताङ्गेन निमिषचूषितपरिणाहवनीपथं जयद्रथं पुनरप्याश्रमपदमाश्रित्य निशमितप्रमदावार्तेन[4] पार्थेन दावार्तेनेव पूर्वजेन नियुक्तौ जटारिकिरीटिनौ रोषविद्रुमलताकिसलयैरिव लोचनैः शरासनं [5]विकीर्य मृ[6]गयानिवृत्तमात्रेण चरणेन द्रुतमन्वद्र[7]वताम् ॥

तत इति । ततः जयद्रथेन ग्रहणे कृते क्रन्दन्तीम् रोदनपरायणाम् कुररीम् उत्क्रोशपक्षिणीम् इव निन्दन्तीम् तदीयमाचरणं गर्हयन्तीम् एनाम् द्रौपदीम् पुरस्तात् स्वाग्रभागे अधिरोप्य उपवेश्य सूतकरे सारथिहस्ते (स्थितेन) तोत्रदण्डेन कशया अध्यापितं यद् वेगतन्त्रं वेगेन प्रस्थानविद्या तत्पारीणाः तत्पारगामिनः रथ्याः अश्वा यस्य तादृशेन सूतकशाघातवशाद् अतिवेगचलितेन अश्वसमुदयेन युक्तेन, (द्रौपद्याः) घनतरयोः अतिविशालयोः जघनपयोधरयोः नितम्बस्तनयोः भारेण गौरवातिशयेन यद् आक्रमणम् अभिभवस्तेन विनम्रीकृतपूर्वभागतया नमिताग्रदेशतया (द्रौपद्याः पुरोनिपण्णतथा पुरो देशस्य नतत्वं बोध्यं तस्यैव भागस्य तज्जघनस्तनभाराक्रान्तत्वात्) पार्थदर्शनशङ्कया मृगयानिवृत्तयुधिष्ठिरादिकर्तृकदर्शनभयेन इव निकुब्जीभूय खर्वीभूय धावता (अन्योऽपि कस्यापि शत्रोर्दर्शनं परिजिहीर्षुः खर्वीभूय गच्छति, तद्वज्जयद्रथस्यन्दनमपि द्रौपद्या जघनस्तनभारेणाक्रान्ततया नतीभूय धावति मन्ये मृगयाऽऽगतपार्थभयेनेव खर्वीभूय धावतीतिभावः) शताङ्गेन स्यन्दनेन निमिषचूषितपरिणाहः अल्पकाललङ्घितविस्तारः क्षणतीर्णः वनीपथो वनमार्गो येन तं जयद्रथं-पुनरपि आश्रमपदम् आ-

---

१. 'रुदतीम्' । २. 'तज्जघन' । ३. 'भूत' । ४. 'वार्तेन दावार्तेनेव' । ५. 'अवकीर्य' । ६. 'मृगयाविहारनिवृत्त' । ७ 'अन्वदुद्रुवताम्' । इति पा० ।

श्रमभुवम् आश्रित्य प्राप्यनिशमितप्रमदावार्त्तेन श्रुतद्रौपदीहरणवृत्तान्तेन दावार्त्तेन वनवह्निपीडितेन इव पूर्वजेन ज्येष्ठभ्रात्रा युधिष्ठिरेण नियुक्तौ आदिष्टौ जटारिः जटाख्यराक्षसहन्ता भीमः किरीटी अर्जुनश्च तौ रोषविद्रुमलतायाः कोपरूपप्रवालवल्ल्याः किसलयैः नूतनपल्लवैः इव अतिरक्तैः लोचनैः नयनैः शरासनं चापं विकीर्य विस्फाल्य मृगयानिवृत्तमात्रेण तत्कालएवाखेटतो निवृत्तेन चरणेन पादेन द्रुतम् शीघ्रम् अन्वद्रवताम् अनुगतवन्तौ, जयद्रथं ग्रहीतुं चलितावित्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥

इस तरह पकड़ी जाने पर कुररी नामक पक्षिणीकी तरह रोती तथा जयद्रथकी निन्दा करती हुई द्रौपदीको आगेमें बैठाकर—सूतके करमें वर्त्तन-चाबुक द्वारा पढ़ाई गई वेग विद्या तेजीसे दौडना रूप विद्याके पारगामी घोड़े वाले—विशाल नितम्ब तथा स्तनके भारके कारण बोझिल द्रौपदी द्वारा पूर्व भागमें आक्रान्त होनेके कारण झुक कर चलते रथसे—जो रथ ऐसा प्रतीत होता था—मानों पार्थोंके देखनेके भयसे झुककर चलता हो, झटसे पारकर लिया है वनमार्गकी लम्बाईको जिसने ऐसे जयद्रथका—मृगयासे लौटकर आश्रममें आने पर द्रौपदी हरण वृत्तान्त सुननेके बाद वनाग्नि पीडितकी तरह दुःखी युधिष्ठिर रूप ज्येष्ठ भाईकी आज्ञा प्राप्त करके रोष रूप विद्रुमलताके पल्लव समान रक्तवर्ण नयनों वाले तथा धनुष चढ़ाये हुए भीम और अर्जुनने अभी अभी शिकारसे लौटे हुए चरणोंसे तेजीके साथ पीछा किया।

ततः क्षणादेव कर्णपूरवनकुसुमसौरभजिघ्रत्सिञ्जिनीकेन धनंजयेन सपत्राकृतो धृतत्रासतया [2]विनयविपर्ययो विद्यामिव कृष्णां विमुच्य कृतपलायनः स दुर्मेधा पुरःप्रधावितेन मागधविरोधिना रुरुधे ॥

ततः अनुधावनानन्तरम् क्षणात् एव त्वरितम् एव कर्णपूरवनकुसुमस्य कर्णेऽवतंसभावेनावस्थापितस्य काननपुष्पस्य सौरभं सुगन्धं जिघ्रन्ती अनुभवन्ती-शिञ्जिनी ज्या यस्य तेन तथोक्तेन कर्णान्ताकृष्टधनुःप्रत्यञ्चेन धनञ्जयेन अर्जुनेन सपत्राकृतः भेत्तुं लक्ष्यीकृतः धृतत्रासतया भीततया—विनयविपर्ययः अविनयः विद्याम् इव कृष्णां द्रौपदीं विमुच्य विहाय-कृतपलायनः पलायितः सः दुर्मेधाः नीचमतिर्जयद्रथः पुरः प्रधावितेन अग्रे गतेन मागधविरोधिना जरासन्धशत्रुणा-भीमेन रुरुधे अवरुद्धः धृतः।

इसके बाद कानमें लटकते हुए वनकुसुमकी सुगन्ध ग्रहण कर रही है प्रत्यञ्चा डोरी-जिसकी-ऐसे कर्णान्ताकृष्ट धनुषवाले अर्जुन द्वारा लक्ष्य बनाया गया अतः भीत जयद्रथ द्रौपदीको छोड़कर भागा, जैसे अविनय विद्याको छोड़ देता है, उस भागते हुए जयद्रथको आगे बढ़कर जरासन्धके शत्रु भीमने रोक लिया ॥

---

१. 'कर्णपूरकुसुम'। २. 'विद्यामिव विनयविपर्ययः कृष्णामिव विमुच्य'। इति पा०।

कचे गृहीत्वा भुवि पातितस्य कठोरचारित्रपरस्य शत्रोः।
संताडने मारुतिरात्मपाणेः सच्छात्रयामास पदं च वामम् ॥ ७६ ॥

कचे इति। मारुतिः वायुसुतो भीमः कठोरचारित्रपरस्य अतिनिम्नपरस्त्रीहरणरूपकार्यप्रवृत्तस्य कचे केशदेशे गृहीत्वा आदाय भुवि पृथिव्यां पातितस्य तस्य शत्रोः अहिताचरणपरतयाऽहितस्य जयद्रथस्य सन्ताड़ने कर्त्तव्ये आत्मनः पाणेः स्वहस्तस्य वामम् पदम् निजं सव्यं पादम् सच्छात्रयामास सहाध्यायिनं चक्रे, यथैव हस्तेन ताड़यामास तं तथैव वामपादेनापीति भावः॥ ७६ ॥

अत्यन्त निन्दनीय कार्यमें तत्पर उस जयद्रथकी चोटी पकड़कर भीमने उसे जमीन पर गिराकर जब जोरोंसे पीटनेका काम शुरू किया, तब उस पीटनेके काममें उन्होंने अपने हाथके साथ बायें पैरसे भी काम लिया, पीटनेमें उन्होंने बायें पैरको अपने हाथका सहाध्यायी बनाया, हाथसे तथा बायें पैरसे—दोनोंसे—खूब मरम्मत की ॥ ७६ ॥

सौवीरभर्तुरथ मूर्धनि पञ्चचूडाः
क्लृप्ताः क्षुरेण पवनात्मभुवा विरेजुः।
इङ्गालधूमकलिका इव शाम्यतोऽन्त-
स्त्रासाम्बुभिः स्मरशरानलपञ्चकस्य ॥ ७७ ॥

सौवीरेति। अथ यथेच्छताड़नानन्तरं सौवीरभर्त्तुः सिन्धुराजस्य जयद्रथस्य मूर्धनि मस्तके पवनात्मभुवा वायुपुत्रेण क्षुरेण तदाख्यबाणभेदेन क्लृप्ताः निर्मिताः पञ्चचूड़ाः शिखाः (सर्वत्र केशांश्छित्त्वा पञ्चस्थलेषु मुक्ताः केशराशयः पञ्च) अन्तः हृदये त्रासाम्बुभिः प्राणभयरूपवारिभिः शाम्यतः निर्वाणं प्राप्नुवतः स्मरशरानलपञ्चकस्य कामबाणवह्निपञ्चकस्य (कामस्य पञ्चबाणतया तत्प्रहारपञ्चकेन जनितस्य पृथक् पृथक् पञ्चविधस्य वासनावह्नेः) इङ्गालधूमकलिकाः इङ्गालधूमप्ररोहा इव विरेजुः। अयमाशयः—भीमो भृशं ताडयित्वा क्षुरेण शिरो मुण्डयित्वा जयद्रथस्य शिरसि यत्र-तत्र पञ्च चूडाः क्लृप्तवान्, ताश्चूडास्तस्यान्तर्हृदि निर्वाणं भजतः कामाग्निपञ्चकस्य धूमशिखा इव विरेजुः इति। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ ७७ ॥

मार पीट करनेके बाद भीमने जयद्रथके शिरको क्षुरनामक बाणसे मूंड़कर उसमें पांच शिखायें बना दीं, वे शिखायें ऐसी लगती थीं, मानों त्रास रूप जलके संपर्कसे उसके हृदयमें वर्त्तमान कन्दर्पके पांच बाणों द्वारा लगाई गई पांचो आगे बुत रही हैं उन्हींकी धूमराजि ऊपरकी ओर उठ रही हों ॥ ७७ ॥

विमतमनुजनीतं वीक्ष्य भूपः स्मितास्यः
कृतनतिशिरसं तं केशभारे हृतेऽपि।

त्वदसुहरणमार्गे दुःशलैवार्गला नः
क्वचिदपि कुरु मैवं कुत्सितेत्युत्ससर्ज ॥ ७८ ॥

विमतमिति। भूपः राजा युधिष्ठिरः अनुजनीतम् भीमार्जुनरूपस्वानुजन्मभ्यां समीपं प्रापितम् केशभारे केशपाशे हृते छिन्ने अपि लज्जावशात् कृतनतिशिरसं नतमस्तकं तं विमतं शत्रुं जयद्रथं वीक्ष्य दृष्ट्वा स्मितास्य ईषद्धासयुक्तवदनः सन् त्वदसुहरणमार्गे त्वत्प्राणहरणवर्त्मनि दुःशला नाम धृतराष्ट्रपुत्री नः अर्गला रोधिका बभूव, (दुःशलावैधव्यभयादेव त्वामधुना जीवन्तं त्यजामि) हे कुत्सित नीच, क्वचिद् अपि कदापि एवं (यथा मदाश्रमे कृतवानसि) मा कुरु नाचर इति उक्त्वा उत्ससर्ज त्यक्तवान्। इतः परं कदापीदृशं नानुष्ठेयमिति कथयित्वा बन्धनान्मोचयित्वा च गन्तुमनुज्ञातवानिति भावः ॥ ७८ ॥

इसके बाद अपने छोटे भाई भीम तथा अर्जुन द्वारा समीप लाये गये केशके उतर जाने पर भी लज्जावश शिर झुकाकर खड़े हुए शत्रु जयद्रथको देखकर युधिष्ठिरने मुस्कुराकर कहा कि तुम्हारे प्राणोंको हरण करनेसे हमको दुःशला ही रोक रही है (दुःशला नामक अपनी चचेरी बहनके विधवा हो जानेके भयसे ही तुम्हारी जान नहीं ले रहा हूँ) नीच, जाओ, फिर कहीं पर ऐसा खराब काम नहीं करना, इस प्रकार कह कर युधिष्ठिरने उसको छोड़ दिया ॥ ७८ ॥

दीनधीः स तपसा हिमशैले दृक्पथं पुरहराद्गृहयालोः।
आददे वरमथो विजयौ द्वावन्तरेण युधि पाण्डवरोधम् ॥ ७९ ॥

दीनधीरिति। अथो युधिष्ठिरेण गन्तुमादिष्टः दीनधीः हतमतिः स जयद्रथः हिमशैले हिमालये तपसा तदीयतपस्याप्रभावेण दृक्पथम् नयनविषयत्वं प्रत्यक्षतां गृहयालोः प्राप्तात् पुरहरात् महादेवात् द्वौ विजयौ जयं च विजयं च अन्तरेण विना युधियुद्धे पाण्डवरोधम् पाण्डवानामवरोधमात्रं वरमाददे प्राप्तवान्। तपस्यावशाद्-दृष्टिविषयतां गतश्शिवस्तस्मै पाण्डवांस्त्वं युद्धे रोद्धुं प्रभविष्यसि परमर्जुनं न रोद्धुं शक्ष्यसे, विजयं च पाण्डवेषु न प्राप्स्यसि इति मात्रं वरं दत्तवानिति भावः ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर द्वारा छोड़ दिये जाने पर उस नीच मति जयद्रथने हिमालय पर्वत पर तपस्या द्वारा शिवको साक्षात् करके उनसे वरदान प्राप्त किया कि अर्जुनके अतिरिक्त पाण्डवोंको मैं युद्धमें रोक सकूँ, दो विजय-एक जय दूसरे अर्जुनके अतिरिक्त पाण्डवोंको मैं लड़ाईमें आगे नहीं बढ़ने दे सकूँ ऐसा ही वरदान प्राप्त किया ॥ ७९ ॥

पार्थाश्च कृच्छ्रादुत्तीर्णां पार्षतीं प्राप्य रेमिरे।
हेमन्तात्पद्मिनीं मुक्तां हेलेरिव कराङ्कुराः ॥ ८० ॥

पार्थाश्चेति। पार्थाश्च युधिष्ठिरादयश्च कुन्तीपुत्राः कृच्छ्रात् जयद्रथकृतापहारक-ष्टात् उत्तीर्णां निर्गतां पार्षतिं द्रौपदीम् प्राप्य हेमन्तात् शीतर्त्तोः मुक्ताम् पद्मिनीं कम-

लिनीं प्राप्य हेलेः सूर्यस्य कराङ्कुराः किरणा इव रेमिरे रतिमलभन्त। पद्मिनी-मिव द्रौपदीम् हेमन्तादिव जयद्रथकृतापहारकष्टतो निर्गतां प्राप्य सूर्यकरा इव पाण्डवाः परां रतिमापुरिति भावः॥ ८०॥

जैसे हेमन्त ऋतुसे मुक्त कमलिनीको पाकर सूर्यके कर रतिको प्राप्त करते हैं उसी तरह जयद्रथकृतापहार कष्ट से छुटी द्रौपदीको प्राप्त करके पाण्डवोंको बड़ी रति–आनन्द–मिली॥ ८०॥

तत्रान्तरे[1] ज्वलितवर्णवपुः कदाचि-
दङ्गेषु शब्द इव कर्णमवाप्य रात्रौ!
भासत्पतिः[2] कृतनमस्करणाय तस्मै
प्रेम्णाशिषः प्रणिजगाद यवीयसीं गाम्॥ ८१॥

तत्रान्तरे इति। तत्रान्तरे तस्मिन्नेवकाले कदाचित् रात्रौ ज्वलितवर्णवपुः प्रकाशमानशरीरः भासांपतिः सूर्यः—अङ्गेषु करणादिषु शब्दः कर्णम् श्रोत्रेन्द्रियम् इव अङ्गेषु तन्नामकदेशभेदेषु कर्णं नाम राजानं प्राप्य आसाद्य कृतनमस्करणाय प्रणताय तस्मै कर्णाय प्रेम्णा स्नेहेन आशिषः आशीर्वादस्य यवीयसीं कनिष्ठां पश्चाद् भवां गाम् वाचं प्रणिजगाद उक्तवान्। यथा शब्दः सर्वेष्विन्द्रियेषु श्रोत्रे-न्द्रियमेव याति, तथा ज्वलितवर्णदेहः सूर्यः कदाचिद्रात्रौ कर्णं नाम वीरमवाप्य तेन प्रणतः सन्नाशीर्वादात् परतो वक्ष्यमाणप्रकारं वचनमुवाचेति भावः। श्लिष्टविशेषणो-पमाऽलङ्कारः॥ ८१॥

शब्द जैसे सभी अङ्गोंमें श्रोत्र रूप अङ्गको ही पहुँच जाता है, उसी तरह प्रकाशमान शरीर सूर्य कदाचित् रातके समय अङ्गदेशमें वर्त्तमान राजा कर्णके पास पहुँचे, कर्णके द्वारा नमस्कार किये जानेके बाद आशीर्वाद के उपरान्त सूर्यने कर्णसे निम्नोक्त बात कही॥ ८१॥

अहमहरधिनाथोऽनुग्रहान्मे पृथाया-
मयि जननमगास्त्वं वत्स! कोशो गुणानाम्।
तदिदमिह रहस्यं शासनं गृह्यतां मे
तनयकुशलयोगे तातपादा यतन्ते॥ ८२॥

अहमिति। अपि वत्स, हे पुत्र, अहम् अहरधिनाथः दिनाधिपः सूर्योऽस्मि, गुणानां शौर्यौदार्यादीनां कोशः आश्रयभूतस्त्वम् कर्णः मे मम अनुग्रहात् कृपावशात् पृथायाम् कुन्त्याम् जननम् उत्पत्तिम् अगाः प्राप्तवान्। तत् तस्मात् रहसि एकान्ते इदं वक्ष्यमाणं मम तव जनकस्य सूर्यस्य शासनम् आज्ञा गृह्यताम्

१. 'अत्रान्तरे'। २. 'भासांनिधिः'। इति पा०।

कर्त्तव्यताऽभ्युपेयताम् तत्रार्थान्तरन्यासेन स्वव्यग्रतां समर्थयति—तातपादाः पितरः तनयकुशलयोगे पुत्रस्य शुभे यतन्ते प्रयत्नवन्तो भवन्ति। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। यतः पितरः पुत्राणां शुभमनुध्यायन्तीति नियमोऽतोहं तवतातस्तवशुभमेव ध्यास्यामि, तेन मदुक्तं शासनं त्वयाऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यं भवतीति भावः॥ ८२॥

हे पुत्र कर्ण, मैं दिनका स्वामी सूर्य हूँ। हमारे ही अनुग्रहवश तुमने कुन्तीसे जन्म प्राप्त किया, इसलिये इस एकान्तमें तुम मेरी एक बात स्वीकार करो क्योंकि पिता सदा पुत्रका कल्याण ही सोचा करते हैं, मैं तुम्हारा पिता हूँ, मेरी बात तुम्हारी भलाईका ही कारण होगी॥ ८२॥

मुखसंधानविश्लेषमुक्ते कवचकुण्डले।
तवैते भूषणे शोभां तन्वाते परदुर्लभाम्॥ ८३॥

मुखेति। मुखयोः आद्यन्तभागयोः सन्धानविश्लेषाभ्याम् सन्धानपृथग्भावाभ्यां मुक्ते रहिते अतिविलक्षणे नित्यसम्बद्धे न सन्धातुं नापि पृथक्कर्त्तुं शक्ये एते कवचकुण्डले तव भूषणे अलङ्कारभूते परैर्दुर्लभां जनान्तरदुरापां शोभां दीप्तिं तन्वाते कुर्वाते। एताभ्यां नित्यानुषक्ततया सन्धातुं पृथक् कर्त्तुं चाशक्याभ्यां कवचकुण्डलाभ्यां तव परा शोभा जन्यत इत्यर्थः॥ ८३॥

आदिमें अथवा अन्तमें दोनों ओरसे जो न पहने जा सकते हैं और न उतारे जा सकते हैं, जो नित्य संसक्त हैं, जिन्हें पहना उतारा नही जाता है, ऐसे यह कवचकुण्डल दूसरोंके पास नहीं मिल सकते हैं, यह केवल तुम्हारी ही शोभावृद्धि कर रहे हैं। यह कवचकुण्डल जो केवल तुम्हारे ही पास हैं, ऐसे है जिन्हें न तुम्हें कभी जोड़ना पहनना पड़ेगा और न उतारना होगा, यह तुम्हारे जन्मके सङ्गी हैं, यह तुम्हारी शोभाके बढ़ाने वाले हैं॥ ८३॥

एतानि [1]याचकमिह द्विजवेषगूढं
मा लब्धकाममरमराधिपतिं कृथास्त्वम्।
आज्ञापथात्स्खलसि चेदणुमात्रमस्मा-
द्वध्यो भविष्यसि सुखेन रणे रिपूणाम्॥ ८४॥

एतानीति। एतानि त्वदीयानि सहजकवचकुण्डलानि याचकम् याचिष्यमाणम् द्विजगूढवेषम् ब्राह्मणरूपं धृत्वाऽऽत्मानं प्रच्छादयन्तम् अमराधिपतिम् इन्द्रम् इह कवचकुण्डलयाचनाविधौ त्वं लब्धकामं कृतार्थं मा कृथाः न सम्पादयेः, ब्राह्मणरूपतामास्थायैतानि तव कवचकुण्डलानि याचितुमागतायेन्द्रायैतानि न दद्या इत्यर्थः।

---

१. 'याचितुम्'। इति पा०।

आज्ञोल्लङ्घने क्षतिमाह—आज्ञापथादिति। चेत् यदि आज्ञापथात् मदादेशवर्त्मनः अणुमात्रम् ईषदपि स्खलसि च्यवसे यदीमं मदादेशमंशतोऽप्युल्लङ्घयसि तदा रणे युद्धे सुखेन अनायासेन रिपूणां शत्रूणां वध्यो भविष्यसि शत्रवस्त्वां हन्तुं समर्था भविष्यन्ति। एतत्कवचकुण्डलायत्तं तवावध्यत्वमतो नैतां ममाज्ञां कथमप्यतिवर्तेथा इत्याशयः। 'एतानि याचकम्' इत्यत्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति कृद्योगे षष्ठी प्रतिषेधः॥ ८४॥

ब्राह्मणके वेशमें अपनेको छिपाकर देवेन्द्र इन कवचकुण्डलोंको मांगने तुम्हारे पास आवेंगे, तुम उनको इस विषयमें सफल–लब्धकवचकुण्डलतया कृतार्थ–मत बना देना, यह मत दे देना, यदि तुम हमारी इस निषेधाज्ञाका उलङ्घन करोगे, यदि हमारी बातपर ध्यान न देकर अपने यह कवचकुण्डल ब्राह्मणरूप धरकर आये हुए इन्द्रको दे दोगे तो युद्धमें तुम्हारे शत्रु तुम्हें आसानीसे मार देंगे॥ ८४॥

इत्थं निशम्य तां वाचं राधेयो रचितस्मितः।
हर्षादञ्जलिना साकमाददे प्रतिभाषितम्॥ ८५॥

इत्थमिति। इत्थम् प्रोक्तप्रकारम् ताम् वाचम् सूर्यस्य गिरम् निशम्य सादरमाकर्ण्य रचितस्मितः कृतहासः राधेयः कर्णः हर्षात् आनन्दोदयात् अञ्जलिना नमस्कारसूचकमुद्राविशेषेण सह प्रतिभाषितम् प्रत्युत्तरम् आददे जग्राह, नमस्कृत्य प्रत्युवाचेत्यर्थः॥ ८५॥

इस प्रकार सूर्य की बातें सुनकर और थोड़ा हँसकर कर्णने हाथ जोड़नेके साथ प्रत्युत्तर दिया, नमस्कार करनेके साथ उनकी बातका जवाब दिया॥ ८५॥

तवार्यमेति प्रथितेऽपि शब्दे ममार्यमेत्यर्थिजनेषु दानम्।
निषेधरूपे निदधाति मार्गे पदं कथं वा भवदीयजिह्वा?॥ ८६॥

तवार्यमेति। मम दानम् अर्थिजनेषु आर्यं श्रेष्ठं गच्छति, अहं याचकमुख्यायैव ददामि, एतेनापात्रदानाप्रसक्त्या निषेधानौचित्यं व्यञ्जितम्, तव 'अर्यमा' 'यः खलु ददाति सोऽर्यमा' इति प्रथितार्थे शब्दे नामनि प्रथितेऽपि प्रसिद्धे सत्यपि भवदीयजिह्वा तव रसना निषेधरूपेऽर्थिने मा दाः इति प्रतिषेधात्मके मार्गे कथं वा केन प्रकारेण पदं निदधाति? अहं योग्यपात्रायैव ददामि, त्वं च स्वयमर्यमा बहुदाता प्रसिद्धोऽसि, तदेवमपि मां दानान्निषेद्धुं तव जिह्वा कथं प्रवृत्तेत्याश्चर्यम्। दातृपुत्रस्य स्वयं दातुश्च निषेधो नोचित इति भावः। दातुर्दातृपुत्रस्य च पित्रा दात्रा निषेधो विषमालङ्कारं सृजति॥ ८६॥

मेरा दान सदा ही श्रेष्ठ याचकके लिये हुआ करता है, तुम मुझे अपात्रदायी कहकर नहीं रोक सकते हो। तुम खुद भी अर्यमा–बहुदाता–शब्दसे पुकारे जाते हो, फिर भी तुम्हारी जीभ मुझे याचकोंके प्रति निषेध प्रयोग करनेके लिये–याचकोंको उदास करनेमें–

क्यों प्रवृत्त होती है। तुम खुद दाताके नामसे प्रसिद्ध हो, मैं भी किसी अयोग्य पात्रको दान नहीं देता हूँ, फिरभी तुम्हारी जीभ मुझे दान देनेसे रोकनेके लिये चल रही है, यह आश्चर्य की बात है ॥ ८६ ॥

सततं सदर्थिसदसे बहु दातुं सकुतूहलस्य पुरुषस्य जगत्याम् ।
उदकोर्मिका करधृता हि विभूषा कनकोर्मिका तु परमङ्गुलिभारः ॥ ८७ ॥

सततमिति । जगत्यां लोके सदर्थिनां सदसे उत्तमयाचकसमूहाय सततं सर्वदा बहुदातुम् अनल्पं दानं कर्त्तुं सकुतूहलस्य धृतोत्कण्ठस्य पुरुषस्य करधृता हस्तेऽवलम्बिता उदकोर्मिका दानजलधारा विभूषा तत्करभूषणम्, परन्तु किन्तु कनकोर्मिका हेमाङ्गुलीयकं तु अङ्गुलिभारः भारकारणम् । 'दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन' इत्यभियुक्तोक्तदिशा योग्यपात्रेभ्यो बहुदातुमुत्कस्य जनस्य तद्धस्तस्थितं दानजलमेव भूषणं भवति, हेमाङ्गुलीयकं तु भारभूतमेवेति भावः । 'ऊर्मिका त्वङ्गुलीये स्याद्वाश्री भङ्गितरङ्गयोः' इति वैजयन्ती । सुमङ्गलीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सजसाः सगौ यदि सुमङ्गलिकेयम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ८७ ॥

इस संसारमें योग्यपात्रके लिये सदा बहुतसा दान देनेकी इच्छा रखने वाले जनके लिये उसके हाथमें रखा गया दानजल ही उसके हाथको अलङ्कृत करता है, सोनेकी अंगूठी तो उसकी अङ्गुलियोंका बोझ है ॥ ८७ ॥

दिवसेश ! यः खलु शयः प्रतिकर्तुं धृतलालसो भवति नार्थिषु दैन्यम् ।
प्रतिपादयेत्स तु कथं पुरुषस्य प्रतिकूलवर्णनिजनामपदार्थम् ॥ ८८ ॥

दिवसेशेति । हे दिवसेश, दिनपते सूर्य, यः शयः पाणिः अर्थिषु याचकजनेषु दैन्यम् दारिद्र्यम् प्रतिकर्त्तुम् निरासयितुम् दूरीकर्तुम् धृतलालसः कामुको न भवति खलु यः पाणिर्याचकजनदैन्यनिराकरणाय उत्सुको न भवति—स तु पाणिः पुरुषस्य स्वस्वामिनो जनस्य प्रतिकूलवर्णं विपरीताक्षरं यन्निजनामपदं स्ववाचकशब्दः 'शयः' इत्यस्य विपरीतार्थत्वे 'यशः' इति पदं निष्पद्यते तदर्थं तद्वाच्यं कीर्त्तिरूपं वस्तु कथं प्रतिपादयेत् सम्पादयेत् ? यो हस्तो याचकजनदारिद्र्यापाकर्मणि बद्धस्पृहो न भवति सः पुरुषस्य स्वनाम्नः 'शयः' इति पदस्य विपर्ययेण निष्पन्नस्य 'यशः' इति पदस्य वाच्यमर्थं कीर्त्तिरूपं कथङ्कारं जनयेदित्यर्थः, 'संग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले' इत्युक्तत्वाददातुः कीर्त्तिर्न जायत इति भावः ॥ ८८ ॥

जो शय–हाथ–याचक लोगोंकी दीनता दूर करनेके लिये उत्कण्ठित नहीं रहा करता है, वह अपने मालिकके लिये अपना नाम 'शयः' उसको उलटाकर लिख देनेसे बना शब्द यशः उसका वाच्यार्थ हुआ कीर्त्ति, उसको किस प्रकार पैदा करे, विना दान किये यश नहीं मिला करता है ॥ ८८ ॥

---

१. 'प्रतिलोम' । इति पा० ।

यश एव जन्मफलमात्मवतामिदमेषितव्यमतियत्नभरात्।
अपि भूषितं गुणगणैरपरैरयशस्विनं न जगदाद्रियते ॥ ८९ ॥

यश एवेति। यशः कीर्त्तिरेव आत्मवताम् प्राणिनाम् जन्मफलम् जीवनसाफल्यकरम्, अतः इदम् यशः अतियत्नभरात् अतिप्रयत्नात् एषितव्यं कामयितव्यम्। जगत् संसारः अपरैः सुरूपत्वशौर्यादिभिः गुणगणैः गुणसमुदायैः भूषितम् अलङ्कृतम् अपि अयशस्विनं कीर्त्तिवर्जितम् न आद्रियते न सम्मन्यते। प्राणिनां जन्मनः फलं यशः, अतस्तदर्थं यतनीयम्, अन्यगुणसद्भावेऽपि कीर्त्तिविरहे लोकः सम्मानदृष्टिपात्रं न भवतीति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ ८९ ॥

यश ही प्राणियोंके जीवन का फल है, खूब प्रयत्न करके उस यशको एकत्र करना चाहिये, यह संसार उस आदमीका आदर नहीं करता जो रूप, विद्या, धन आदि गुणोंसे युक्त होकर भी यशसे रहित रहता है ॥ ८९ ॥

व्यापृता वितरणोपनिषत्सु व्याहरन्ति हि विपश्चिदधीशाः।
स्पर्शनेन रहिताविति हेतोर्लुब्धकं च कुणपं च समानौ ॥ ९० ॥

व्यापृता इति। वितरणोपनिषत्सु दानरहस्यप्रतिपादकशास्त्रेषु व्यापृताः सततपरिशीलनजागरूकाः दानविद्यारहस्यज्ञातारः विपश्चिदधीशाः विद्वन्मुख्याः स्पर्शनेन दानेन रहितः शून्यः स्पर्शनेन स्पर्शेन च रहितः इति हेतोः लुब्धकम् धनलुब्धम् अदातारम् कुणपं शवं च समानौ तुल्यौ व्याहरन्ति कथयन्ति। दानमर्मज्ञाः पण्डिताः स्पर्शनेन दानेन रहितं कृपणं स्पर्शनेन स्पृश्यतया रहितं शवं च स्पर्शनराहित्यहेतुना तुल्यौ ब्रुवतेऽतः शवतुल्या माभूमेत्यवश्यं दानं कर्त्तव्यमित्याशयः। 'स्पर्शोनामारुतेस्पर्शदानयोः स्पर्शनं तथा' इति वैजयन्ती ॥ ९० ॥

दानशास्त्रके रहस्यको सतत परिशीलन करनेवाले पण्डितोंका कहना है कि स्पर्शन-दान से रहित लोभी पुरुष और स्पर्शन–स्पर्श–से रहित शव दोनोही स्पर्शन रहित होनेके कारण समान हैं। शवका स्पर्श मना है, अतः वह स्पर्शन रहित हुआ, जिसने दान नहीं दिये वह भी स्पर्शन-दानसे रहित हुआ, फिर दोनो में क्या भेद ?॥ ९० ॥

दृष्टे वनीपकजने वदनं स्मितेन दानाम्बुना करतलं यशसा दिशश्च।
शुभ्रीकरोति विवशः स्वयमेव दाता कस्तादृशं प्रतिनिवर्तयितुं क्षमेत ॥९१॥

दृष्टे इति। दाता प्रकृत्या दानपरायणः पुरुषः वनीपकजने याचकजने दृष्टे दृष्टिवर्त्मगते सत्येव विवशः स्वाभ्यासपरवशः सन् स्वयम् एव स्मितेन हसितेन वदनं स्वं मुखम्, दानाम्बुना दानजलेन करतलम् पाणिम्, यशसा दानभवया कीर्त्या च दिशः सर्वा आशाः शुभ्रीकरोति धवलयति, तादृशं दातारं कः प्रतिनिवर्त्तयितुं दानकर्मणो निवारयितुं क्षमेत शक्नुयात्? याचकं दृष्ट्वा स्मितमुखीभूय दानाम्बु

करे कृत्वा सर्वा अपि दिशो धवलीकुर्वतो दानिनः कस्तद्दानपथात् प्रतिषेद्धुमीश इत्यर्थः । प्रकृतानां वदनकरतलदिशाम् धवलीकरणरूपैकधर्मसम्बन्धात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ९१ ॥

जो दानी पुरुष याचकको देखने भरसे हँसकर दान-जल हाथमें लेकर दान द्वारा सभी दिशाओंको कीर्त्तिसे धवल बनाता है, याचकको देखकर हँसीसे मुँहको धवल बनाता है, पानी–दान-जलसे–हाथको स्वच्छ करता है और दानजन्यकीर्त्तिसे सभी दिशाओंको स्वच्छ बनाता है, उस स्वभाववश दानी जनको कौन उसकी दानपरायणता से रोक सकता है ? कोई वैसे दानीको दानसे निवृत्त नहीं कर सकता ॥ ९१ ॥

वाञ्छामनाप्तेन वनीपकेन सहासवो दातृजनस्य यान्ति ।
तदद्य शक्रार्चनया धृतासोर्भावी वधो मे परमो हि लाभः ॥ ९२ ॥

वाञ्छामिति । दातृजनस्य दानशीलस्य लोकस्यासवः प्राणाः वाञ्छाम् अनाप्तेन अपूर्णाभिलाषेण वनीपकेन याचकेन सह यान्ति निर्गच्छन्ति, अदानजन्या दातुरकीर्त्तिर्मरणमप्यतिशेते, 'संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते' इत्युक्तेरितिभावः । तत् तस्मात् अद्य इदानीं शक्रस्य इन्द्रस्यार्चनया तदिष्टवस्तुदानात्मना पूजया धृतासोः आगतजीवितस्य मम भावी कालान्तरभविष्णुः वधः शत्रुद्वारकः प्राणत्यागः परमो महाँल्लाभः । अधुना शक्रमनोरथपूर्त्या प्राप्तजीवितस्य मम कालान्तरे भावी शत्रुकृतो वधो महान् लाभ इति । साम्प्रतिकमरणापेक्षया भाविमरणमवश्यं लाभ इति तात्पर्यम् ॥ ९२ ॥

मनोरथकी पूर्त्ति नहीं प्राप्त करके लौटते हुए याचकोंके साथ ही दाताजनके प्राण निकल जाते हैं, याचकको दाता न दे सके तो उसकी इतनी अकीर्त्ति हो जाती है कि वह एक प्रकारसे मर जाता है, अतः अभी शक्रको उनकी प्रार्थित वस्तु देकर मैं अपने प्राण लौटा लूँ, फिर कालान्तरमें शत्रुओंके हाथों मरना भी हमारे लिये बड़ा भारी लाभ ही होगा। अभी मरनेकी अपेक्षा कालान्तरमें मरना लाभप्रद ही है ॥ ९२ ॥

यद्गोष्ठीप्रतिहारभूतलशिला चिन्तामणिः कल्पका
यस्यारामवृतिद्रुमाश्च सुरभिः सा होमधेनुः पुनः ।
तादृग्याचति चेदुपेत्य मघवा संपूर्य तत्कामनां
त्रैलोक्यस्थवदान्यसंसदुपरि स्यामेष मे निश्चयः ॥ ९३ ॥

यद्गोष्ठीति । चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदतया प्रसिद्धो रत्नभेदः यस्य इन्द्रस्य गोष्ठ्याः सभाभवनस्य प्रतिहारभूतलशिलाद्वाराग्रदेशपाषाणः, कल्पकाः कल्पवृक्षाः आरामवृतिद्रुमाः पुष्पोद्यानावरणवृक्षाः सा प्रसिद्धा सुरभिः कामगवी होमधेनुः

---

१. 'यद्गेह' । २. 'महीरुहाश्च' । इति पा० ।

पयसा होमसम्पादिका गौः, तादृक्-चिन्तामणिकल्पवृक्षकामधेनूनां स्वामी मघवा इन्द्रः उपेत्य मद्द्वारमागत्य याचति चेत् भिक्षते यदि, तदा तत्कामनाम् इन्द्र-मनोरथं सम्पूर्य पूरयित्वा त्रैलोक्ये ये वदान्याः दातारस्तेषां संसदः समुदायस्य उपरि ऊर्ध्वं स्याम् जायेय एषः ईदृशः मे मम निश्चयः निर्णीता मतिः। यस्येन्द्रस्य द्वारदेशशिलाभावेन चिन्तामणिरुपयुज्यते, यस्यारामे नन्दने कल्पवृक्षा आवरण-तरुभावेनोपयुज्यन्ते, कामधेनुश्च होमधेनुभावं भजते, तादृशः सर्वतः सम्पत्तिशाली शक्रो यदि मामुपेत्य याचेत तदा तदीयं मनोरथं पूरयित्वा सकलदातृसमूहमूर्धन्य-भावं भजेयमेवेति मम दृढो निश्चयस्तदलं भवतो निषेधेनेति तात्पर्यम्। काव्यलिङ्ग-मलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९३ ॥

जिस इन्द्रके सभाभवनके द्वार पर लगा हुआ पाषाण चिन्तामणि है, जिसके नन्दनो-द्यानमें घेरेके लिये कल्पवृक्ष रोपे गये हैं, जिसने होमधेनुके रूपमें कामधेनुएँ पाल रखी हैं, ऐसा इन्द्र यदि मेरे पास आकर याचना करे तो मैं उसे अभीष्ट वस्तु देकर त्रिलोक-वर्त्ती दाताओंकी मण्डलीका मूर्धन्य-श्रेष्ठ-बनूँ, यह मेरा अडिग निश्चय है, आप मुझे व्यर्थ रोक रहे हैं ॥ ९३ ॥

वीक्ष्य वन्ध्यवचनोऽपि गुणज्ञो विस्मयाम्बुनिधिवीचिषु मग्नः।
पद्मबन्धुरिति वादिनमेनं पाटलस्मितरुचिर्गिरमूचे ॥ ९४ ॥

वीक्ष्येति। इति उक्तप्रकारेण वादिनं कथयन्तम् एनं कर्णं वीक्ष्य वन्ध्यवचनः व्यर्थीभूतानुरोधः अपि गुणज्ञः दाननिष्ठारूपकर्णवर्त्तिगुणज्ञाता विस्मयाम्बुनिधि-वीचिषु आश्चर्यसागरतरङ्गेषु मग्नः अत्यन्तविस्मितः पद्मबन्धुः कमलकुलविकासकः सूर्यः पाटलस्मितरुचिः स्वतःसितस्यापि हासस्य रक्तोष्ठप्रसारितया रक्तीभूतस्मित-कान्तिः सन् एनं कर्णम् इति वक्ष्यमाणां गिरम् ऊचे उवाच। एवं कथयतः कर्णस्य निश्चयेन व्यर्थीभूतनिषेधाभिप्रायोऽपि तदीयदाननिष्ठाज्ञानेन विस्मयं प्रपन्नः कमल-वनबन्धुः सूर्यः स्मितपूर्वकं कर्णमुद्दिश्य वक्ष्यमाणं वचनं व्याजहारेति भावः ॥ ९४ ॥

यद्यपि कर्णने सूर्यका दानविरोधी वचन नहीं माना, उनका कथन बेकार हुआ, फिर भी गुणग्राही सूर्यभगवान्‌को कर्णकी अद्भुत दाननिष्ठतासे बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूर्वोक्तप्रकारक वचन कहते हुए कर्णसे इस प्रकार कहा, कहनेके समयमें उनका हास रक्ताभ हो उठा, क्योंकि हास श्वेत होकर भी रक्त ओष्ठपर फैलकर रक्ताभ हो गया ॥ ९४ ॥

[1]अये वत्स! भ[2]वतो भाषितं क्षममेव [3]स्थूललक्षाणाममूदृशं तु तव मतं पुनरपि मम रसनां निदेशावशेषपथपा[4]न्थां [5]निर्मिमीते ॥

---

१. 'अयि'। २. 'भवता'। ३. 'स्थूललक्ष्याणामीदृशं तव'। ४. 'पान्थि-नीम्'। ५. 'निर्मिमीते ॥ त्वं शुनाशीरस्य'। इति पा०।

'त्वं शुनासीरस्य मनीषितस्य पूरणात्पूर्वमेव पूर्वदेवगर्वनिर्वापणधूर्वहतया कुलिशमपि चिरारूढकलङ्काङ्कुरजर्जरितधाराशतमातन्वतीं तदीयां शक्तिमाधत्स्वेति' ॥

ततस्तथेति परमङ्गीकृत्य पश्यतस्तनूजस्य समक्षमचिरेण स मरीचिमाली चरमाचलशिखरपरिशीलयमानविहारमिहापि समाचचार ॥

अये वत्सेति। अये वत्स, हे पुत्र, भवतस्तव भाषितं प्राणात्ययेऽपि शक्रमनोरथपूरणदृढस्वरूपं स्थूललक्षाणां महादानिनां क्षमम् उचितम् एव, महावदान्योपयुक्तं तव वचनमित्यर्थः। अमूदृशं तादृशं प्राणात्ययेऽपि शक्राय तदीहितं दास्याम्येवेत्येवं रूपं तव मतम् विचारः पुनः अपि मम रसनां जिह्वां निदेशावशेषपथपान्थाम् उक्तादवशिष्टस्य वक्तव्यस्य कथने प्रवृत्तां निर्मिमीते सम्पादयति, तादृशं तव मतं विज्ञाय पुनरपि मम रसनोक्तशेषं कथयितुमुद्यच्छतीति भावः।

वक्तव्यशेषमाह—त्वमिति। त्वं कर्णः शुनासीरस्य इन्द्रस्य मनीषितस्य अभीष्टार्थस्य पूरणात् सम्पादनात् पूर्वं प्रागेव पूर्वदेवाः सुरद्विषस्तेषां गर्वस्य शौर्यदर्पस्य निर्वापणधूर्वहतया समापनधुरन्धरतया कुलिशम् वज्रम् अपि चिरारूढकलङ्काङ्कुरजर्जरितधाराशतम् कार्यविरततया संजातकलङ्कधारम् आतन्वतीं कुर्वतीम् तदीयां शक्रस्वामिकाम् शक्तिं नामास्त्रभेदम् आधत्स्व स्वीकुरु। अयमाशयः—कवचकुण्डलानि याचितुमागतमिन्द्रं प्रागेव तदर्थितदानात्त्वं तदीयां शक्तिं प्रार्थयस्व, यया शक्त्या हतेषु सर्वासुरेषु शक्रस्य वज्रं चिरात् कार्यनिवृत्ततया शतधारावच्छेदेन सञ्जातकलङ्कं क्रियत इति। ततः तादृशानुरोधश्रवणानन्तरं तथा इति परम् भृशम् अङ्गीकृत्य सूर्योक्तमभ्युपेत्य पश्यतः सादरं सूर्याभिमुखमीक्षमाणस्य तनूजस्य स्वपुत्रस्य समक्षम् समीपे अचिरेण त्वरया स मरीचिमाली सूर्यः चरमाचलस्य अस्ताचलस्य शिखरे उपरिभागे परिशीलयमानं सततमभ्यस्यमानं विहारम् क्रीडाम् अकस्मात्प्रच्छन्नतारूपाम् अस्तमनक्रियाम् इहापि कर्णसमीपदेशेऽपि समाचचार, पश्चिमाचल इवेहापि त्वरितमस्तमगमदित्यर्थः॥

हे पुत्र, तुम्हारा कथन महादानीके उपयुक्त ही है, तुम्हारे इस निश्चयने मेरी जिह्वाको आज्ञाके शेषांश कथनरूप मार्गकी पान्था बना दी है, अर्थात् तुम्हारे अडिग निश्चयने मेरी जिह्वाको उक्तशेष बात कहनेको वाधित किया है।

तुम इन्द्रके मनोरथको पूर्ण करनेसे पहले राक्षसोंके शौर्यदर्पको समाप्त करनेमें धुरन्धर होनेके कारण इन्द्रके वज्रकी शतसंख्यक धाराओंमें जङ्ग लगा देने वाली इन्द्रकी शक्ति (एक प्रकारका अस्त्र) ले लेना। इन्द्रसे उनकी शक्ति माँग लेना, पीछे उनके द्वारा याचित कवचकुण्डल प्रदान करना।

---

१. 'प्रागेव'। २. 'कलङ्काकुल'। इति पा०।

इसके बाद जब कर्णने उनका कहना स्वीकार कर लिया-इन्द्रसे शक्ति ले लेनेकी बात मान ली-तब कर्णके देखते देखते ही शीघ्र सूर्यनारायणने पश्चिमाचल शिखर पर परिशीलित क्रीडा-अस्तगमनरूप खेल-यहाँ भी कर दिखाई, देखते ही देखते अस्तंगत हो गये ॥

कतिपयदिने काले याते ततो मरुतां पतिः
सदसि तनयं भानोरेत्यार्थिचाटुशताकुले।
कवचमतुलं वाचाऽयाचत्सकुण्डलमादरा-
दयमपि तथेत्युक्त्वा शक्तिं ततो जगृहेऽद्भुताम् ॥ ९५॥

कतिपयदिन इति। ततः कतिपयदिने बहुतिथे काले याते व्यतीते सति मरुतां देवानाम् पतिरिन्द्रः अर्थिनां याचकानां चाटुशतैः प्रियवचनैराकुले पूर्णे सदसि सभायाम् भानोः सूर्यस्य तनयं पारस्त्रैणं पुत्रं कर्णम् एत्य प्राप्य अतुलम् निरुपमम् सकुण्डलं कुण्डलाभ्यां युक्तं कवचं तनुत्रम् वाचा अयाचत्। अयं कर्णः अपि आदरात् तथा स्वीकरोमि दातुम् इत्युक्त्वा ततः शक्रात् अद्भुताम् विलक्षणाम् शक्तिं नामास्त्रभेदं जगृहे प्राप्तवान्। अयमर्थः—ततः कदाचिद्याचकवृन्दैः स्तूयमानं कर्णमुपेत्येन्द्रस्तदीये अतिरमणीये कवचकुण्डले याचितवान् स कर्णोऽपि तद्दानं स्वीकृत्येन्द्रस्य शक्तिं प्राप्तवानिति भावः ॥ ९५ ॥

इसके बाद कुछ समय बीत जाने पर—याचकवृन्दोंकी ठकुरसुहाँतीसे पूर्ण सभामें वर्तमान कर्णके पास आकर इन्द्रने अतुलनीय कवचकुण्डल मुंह खोलकर माँग लिया, कर्णने भी कवचकुण्डल देनेका वादा करके इन्द्रसे उनकी लोकविलक्षण शक्ति-तन्नामक एक अस्त्र-प्राप्त की ॥ ९५ ॥

नकारमेते वहतो रिपू[1] ममेत्यमर्षभारादिव शस्त्रधारया।
सुतो रवेर्दंशन[2]कर्णवेष्टने स्वयं समुत्कृत्त्य ददौ बिडौजसे ॥ ९६ ॥

नकारमिति। एते दंशनकर्णवेष्टने (तनुत्रकुण्डलार्थकौ शब्दावेतौ वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात् कवचकुण्डलपर्यवसायिनौ भवतः) नकारम् 'न' वर्णं निषेधार्थकमक्षरभेदं वहतः स्वावयवीकुरुतः, अतः कारणात् मम वदान्यस्य कर्णस्य कदापि नकारमवहतः रिपू शत्रू स्तः, इति उक्तप्रकारात् अमर्षभारात् कोपातिशयात् इव रवेः सुतः सूर्यपुत्रः कर्णः शस्त्रस्य असेः धारया अञ्चलेन समुत्कृत्य उत्खाय दंशनकर्णवेष्टने कवचकुण्डले बिडौजसे इन्द्राय स्वयं निजहस्तेन ददौ समर्पितवान्। अयमर्थः—दंशनपदं कवचार्थं कर्णवेष्टनपदं च कुण्डलार्थकं ते एते नकारयुतत्वात् कदापि नकारमस्पृशतो मम कर्णस्य शत्रू इति कोपादिव कर्णः

१. 'रिपुम्'। २. 'दर्शन'। इति पा०।

खड्गेन छित्त्वा ते दशनकर्णवेष्टने शक्राय दत्तवान्, 'तनुत्रं वर्म दंशनम्' 'कुण्डलं कर्णवेष्टनम्' 'बिडौजाः पाकशासनः' इति सर्वत्रामरः। हरिणप्लुतावृत्तम्—'रसयुगहयैश्छिन्ना न्सौ म्रौ स्लगा हरिणप्लुता' इति तल्लक्षणात् ॥ ९६ ॥

यह दंशन और कर्णवेष्टन (कवच तथा कुण्डल) नकार धारण करनेके कारण कभी भी नकारका ग्रहण न करनेवाले मुझ कर्णके शत्रु हैं, इसी कोपके कारण कर्णने तलवार की धारसे खुद कवचकुण्डलको काटकर निकाला और उन्हें इन्द्रके हाथोंमें सौंप दिया, दानी कर्ण भला 'न'वालोंको अपने अङ्गमें लगा रहने दे यह कब संभव था ॥ ९६ ॥

निशम्य तत्कल्पतरोर्ह्रिया च्युतैश्चिरार्जितैस्त्यागयशोभरैरिव ।
सुपर्वमुक्तैः कुसुमैर्न केवलं तदङ्गमङ्गाश्च सुगन्धयोऽभवन् ॥ ९७ ॥

निशम्येति । तत् कर्णकृतं सहजकवचकुण्डलदानं निशम्य श्रुत्वा ह्रिया लज्जया च्युतैः गलितैः कल्पतरोः कल्पवृक्षस्य चिरार्जितैः बहुकालैकत्रीकृतैः त्यागयशोभरैः दानकीर्त्तिसमुदयैः इव सुपर्वमुक्तैः देवविसृष्टैः कुसुमैः केवलं तदङ्गम् कर्णस्य वपुरेव सुगन्धि न अभवत् किन्तु अङ्गाः कर्णपालितास्तन्नामानो देशा अपि सुगन्धयोऽभवन् सुरभयोऽजायन्त । कर्णेन स्वशरीरावयवतामिव गतं कवचं कुण्डलं च शक्राय दत्तमिति निशम्य जातलज्जैः कल्पतरुणा चिरादर्जितैः त्यागकीर्त्तिनिवहैरिव गलितैः देवविसृष्टैः पुष्पैः कर्णस्य वपुरेव न केवलं परं तदङ्गा देशा अपि सुरभयो जाता इत्याशयः । ह्रियाच्युतैरित्युत्प्रेक्षा । पुष्पवृष्ट्या देशस्यासुरभित्वेपि तत्सौरभ्याभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ९७ ॥

कर्णने अपने शरीरमें लगे हुए कवच तथा कुण्डल इन्द्रको दे दिये, यह सुनकर लज्जाके मारे चिरकालार्जित कीर्तिसमुदाय गिर रहे हों ऐसे प्रतीत होने वाले कल्पतरुके फूल जब देवोंने बरसाये तब केवल कर्णका शरीर भर ही नहीं, उनका सारा अङ्गदेश सुगन्धित हो उठा ॥ ९७ ॥

जाग्रत्सु सर्वावयवेषु तस्य कर्णस्य कर्णः पुनरर्थिने स्वाम् ।
हिरण्मयीं यद्वितताार भूषां तन्नामसाम्यं ध्रुवमत्र हेतुः ॥ ९८ ॥

जाग्रत्स्विति । तस्य कर्णस्य सर्वावयवेषु करचरणादिषु वपुरंशेषु जाग्रत्सु विद्यमानेषु सत्सु पुनः कर्ण एव अर्थिने शक्राय याचमानाय स्वां निजां हिरण्मयीं सुवर्णनिर्मिताम् भूषाम् कुण्डलं नामालङ्कारं यत् वितताार ददौ, ध्रुवम् निश्चयेन अत्र तन्नामसाम्यं कर्णनामसादृश्यम् एव हेतुः कारणम् । यद्यपि कर्णस्य सर्वाण्यङ्गान्यासंस्तथापि विशिष्य कर्ण एव स्वं कुण्डलरूपं सुवर्णालङ्कारं यदिन्द्राय याचकायादात्तत्र तस्य कर्णनामसादृश्यमेव कारणमभवदिति भावः ॥ ९८ ॥

कर्णके सभी अङ्ग करचरणादि विद्यमान थे ही, फिर भी इन्द्र रूप याचकको कर्ण—कान—ने ही अपना सुवर्णमय अलङ्कार कुण्डल प्रदान किया, और अङ्गोंने कुछ

नहीं दिया, मालूम पड़ता है निश्चय ही इस उदारताकी जडमें कर्णके साथ नामकी समानता ही इसका कारण हुई ॥ ९८ ॥

आपृच्छ्य्थ तं तदनु नाकपतिः सुधर्मा-
मासाद्य सिद्धमरुदप्सरसां समाजे ।
प्राशंसदस्य चरितं सविधे सुरभ्या
रोमन्थमप्यविगणय्य निशम्यमानम् ॥ ९९ ॥

आपृच्छ्येति । तदनु कवचकुण्डलप्राप्त्यनन्तरं नाकपतिः स्वर्गाधीश इन्द्रस्तं कर्णम् आपृच्छ्य गच्छामीत्यामन्त्र्य सुधर्माम् देवसभाम् आसाद्य आगत्य सिद्धानां नारदादीनां देवयोनिविशेषाणाम् मरुतां देवानाम् अप्सरसाम् स्वर्वेश्यानाञ्च समाजे सङ्घे रोमन्थं चर्वितस्याकृष्य पुनश्चर्वणम् अपि अविगणय्य अनादृत्य सुरभ्या कामधेन्वा सविधे समीपे निशम्यमानम् आकर्ण्यमानम् अस्य कर्णस्य चरितं वदान्यत्वरूपम् प्राशंसत् स्तुतवान् । कवचकुण्डले गृहीत्वा कर्णमापृच्छ्य स्वर्गमायातः शक्रः सिद्धमरुदप्सरसां समाजे कर्णस्य वदान्यत्वं प्रशंसितवान् यत् कामधेनुरपि ध्यानदानेनाकर्णयतिस्मेति भावः ॥ ९९ ॥

इसके बाद कवचकुण्डल पाकर इन्द्रने कर्णसे जानेकी अनुमति ली, देवसभामें आये और सिद्धनारदादि, मरुत्, देवगण और अप्सराओंके समाजमें कर्णके चरितकी बड़ी प्रशंसा की जिसे रोमन्थ क्रिया–चबाये हुए ग्रासको पुनः चबाना–छोड़कर कामधेनुने भी सादर श्रवण किया, कामधेनुको भी कर्णका चरित सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उसने सोचा होगा कि मैं भी अपना चमड़ा काटकर तो दान नहीं कर सकती हूँ, यह कैसा दानी है कि कवचकुण्डल–जो शरीरके अङ्ग थे, उन्हें भी काटकर दे दिया ॥ ९९ ॥

तावत्पार्थास्तेऽपि पुनः काम्यकसीमां
हित्वा संघैर्भूविबुधानामनुयाताः ।
तीर्थव्रातान्विस्मृतपूर्वानवगाढुं
वध्वा साकं द्वैतवनारण्यमवापुः ॥ १०० ॥

तावदिति । तावत् यावत् शक्रः कर्णं कवचकुण्डलादि याचते तावत् ते पार्था युधिष्ठिरादयः अपि काम्यकसीमां काम्यकवनभुवम् हित्वा त्यक्त्वा भूविबुधानाम् धरणीसुराणां ब्राह्मणानां सङ्घैः समुदायैः अनुयाताः अनुगताः सन्तः विस्मृतपूर्वान् पूर्वम् असेवितान् तीर्थव्रातान् पुण्यसरोवरादीन् अवगाढुं स्नातुम् वध्वा द्रौपद्या साकं सह पुनरपि द्वैतवनारण्यं द्वैताख्यतपोवनम् अवापुः प्राप्तवन्तः । मत्तमयूरीवृत्तम्—वेदैरन्ध्रैस्तौ यसगा मत्तमयूरी' इति तल्लक्षणात् ॥ १०० ॥

१. 'सार्धम्' ।

जिस समय इधर इन्द्र कर्णसे कवचकुण्डल मांगने आये थे उसी समय वह पार्थ युधिष्ठिरादि काम्यक वनकी सीमाको छोड़कर ब्राह्मणों के दलको साथ लिये पहली यात्रामें जिन तीर्थोंको भूल गये थे उन तीर्थोंमें स्नान करनेकी इच्छासे द्रौपदीके साथ फिरसे द्वैतवन नामक वनमें पधारे ॥ १०० ॥

तत्र कदाचिदाश्रमद्वारि 'हा[1] हा महाभागाः! मम होमसा[2]धनमरणिमपहृत्य हरिणोऽयमितो[3] धावति' इति बाष्पायमाणस्य कस्यचिद[4]ग्रजन्मनः शोकनिवारणाय चक्रीकृत्य चापमनुधावतस्ता[5]न्पार्थान् पार्श्वलताताडतानुषक्तनवकिसलयजालमु[6]त्प्लवनवेगपवनब[7]हिर्ज्वलद्वह्निशिखाकन्दलमिवारणिं वि[8]षाणयोर्बिभ्राणः कतिपुचित्पदेषु सुग्रह इव कतिषुचिद्दुरासद इव विचि[9]त्रगतिः कोऽपि कृष्णसारो दूरमा[10]कृष्य स्वयमन्तरधात् ॥

तत्रेति। तत्र द्वैतवने कदाचित् एकस्मिन्नहनि हे महाभागाः महानुभावाः पार्थाः, मम होमस्य साधनम् उपकरणभूतम् अरणिम् अग्निमन्थनकाष्ठम् अपहृत्य आदाय अयं हरिणः मृगः इतोऽत्र वर्त्मनि धावति, हाहा! (खेदाभिव्यञ्जकम्) इति एवं बाष्पायमाणस्य रुदतः कस्यचिद् अग्रजन्मनः ब्राह्मणस्य शोकनिवारणाय अरणिपुनरानयनद्वारा कष्टं दूरीकर्त्तुम्, चापं धनुः चक्रीकृत्य नमयित्वा कुण्डलीकृत्य अनुधावतः मृगमनुसरतः तान् पार्थान् युधिष्ठिरादीन् पाण्डवान् पार्श्वयोः उभयोर्मार्गयोर्या लताः वल्ल्यः तासां ताडनेन आसङ्गेन अनुषक्तानि लग्नानि नवकिसलयानि नूतनपल्लवा यत्र तादृशम्, अतएव उत्प्लवनवेगपवनेन उच्छलनवेगसंजातवायुना बहिर्ज्वलत् प्रकटीभवत् वह्निशिखाकन्दलं वह्निज्वालाप्ररोहो यत्र तादृशम् इव अरणिं वह्निमन्थनकाष्ठं विषाणयोः शृङ्गयोः बिभ्राणः धारयन् कतिपुचित्पदेषु पादक्षेपेषु सुग्रहः समीपागतत्वेन ग्रहीतुं सुकरः इव, कतिपुचित्पदेषु दुरासदः दूरगतत्वेन दुराप इव कदाचित् समीपे कदाचिद्दूरे च प्रकटीभवन् अतएव विचित्रगतिः आश्चर्यगमनः कोऽपि कृष्णसारो नाम मृगः दूरमाकृष्य नीत्वा स्वयमात्मना अन्तरधात् तिरोबभूव।

उस द्वैतवन नामक तपोवनमें कभी पाण्डवोंके आश्रम द्वार पर आकर 'महानुभाव पाण्डवगण, हमारे होमके उपकरण अग्निमन्थन काष्ठअरणिको लेकर यह मृग भागा जा रहा है' इस प्रकार कहकर रोते हुए किसी अग्रजन्माके दुःखको दूर करनेके लिये धनुष तानकर मृगका अनुसरण करते हुए युधिष्ठिरादि पाण्डवोंको वह मृग बहुत दूर

१. 'हा महाभागाः'। २. 'साधनमपहृत्य'। ३. 'इतस्ततः'। ४. 'गृहमेधिनः'। ५. 'स्तान्पार्श्वलता'। ६. 'उत्प्लुत्य धावनवेग। ७. 'ज्वलितगर्भवह्नि'। ८. 'विषाणया'। ९. 'चित्रगतिः'। १० 'अपाकृष्य'। इति पा०।

आकृष्ट करके ले गया, और दूर ले जाकर खुद अन्तर्हित हो गया, वह मृग अरणिको अपने सींगोंमें लटकाये हुए था, पार्श्ववर्त्ती लताओंसे रगड़ानेके कारण उन लताओंके नये पल्लव उस अरणिमें लग गये थे अतः वह अरणि ऐसा लग रहा था मानो मृगके उछलनेसे उत्पन्न वेगपवनके संपर्कसे उस अरणिमेंसे आगकी शिखाका प्ररोह उत्पन्न हो रहा हो, वह मृग कभी समीपमें प्रकट होने पर ऐसा लगता था मानो अब पकड़ा गया, और फिर दूर निकल जाने पर दुःखसे भी अग्राह्य मालूम पड़ने लगता था, इस प्रकार वह मृग विचित्रगति था ।

तदनु[1] ललाटन्तपनखम्पचहेलिधूलिभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामुदन्यावदान्यमहिम्नि[2] दिनयौवने[3] प्रादुर्भवति सति प्रकृतमर्थमिव पानीयमपि इतस्ततो विचिन्वद्भिरनुजैः सह कस्यचिद्विशालस्य वनशालस्य मूलभुवं तच्छायामण्डलमिव[4] पाण्डवः शनैः शनैरुपससर्प ॥

तदनु मृगे तिरोभूते सति ललाटन्तपः अतिकठोरो हेलिः सूर्यः नखम्पचा पादतापिनी धूलिः रजश्च ययोस्ताभ्याम् द्यावापृथिव्याम् आकाशधरणीभ्याम् उदन्यावदन्यः पिपासाप्रदायी महिमा प्रभावो यस्य तपद्भ्यां व्योमपृथिवीतलाभ्यां समधिकपिपासाजननपरे दिनयौवने मध्याह्ने प्रादुर्भवति जायमाने सति प्रकृतम् अर्थम् मृगम् इव पानीयं जलमपि इतस्ततो यत्र तत्र विचिन्वद्भिः अन्विष्यद्भिः अनुजैः भीमादिभिर्भ्रातृभिः सह पाण्डवो धर्मराजः कस्यचित् विशालस्य महतः वनशालस्य वनवृक्षस्य मूलभुवं मूलदेशं तच्छायामण्डलम् तत् तरुच्छायावलयमिव शनैः शनैरुपससर्प प्राप्तवान् ।

इसके बाद सूर्य जब ललाटको तपाने लगा, और जमीनकी धूल नखोंको पकाने लगी, अर्थात् खूब तप गई, इस प्रकार आकाश और पृथ्वीतलको पिपासा प्रदान करने वाली महिमासे युक्त मध्याहके प्रकटित होने पर मृगकी तरह पानीका भी अन्वेषण करते हुए अपने अनुज भीम आदिके साथ युधिष्ठिर किसी विशाल वनमृगकी मूलमें उस वृक्षकी छायाकी तरह आ गये, ग्रीष्मके दिनोंमें वृक्षकी छांया जैसे उस वृक्षकी जड़में धीरे धीरे चली आती है उसी तरह वे भी उस वृक्षकी जड़में धीरे-धीरे चले आयें 'निरखि दुपहरी जेठकी छायो चाहति छाँह' ॥

तत्रानिलैः कमलगन्धिभिरुच्यमाना-
माशां गतेषु सलिलाय चिरायितेषु ।
भीमादिषु क्षितिभुजा परितप्य भेजे
तेषां पदानुसरणादथ कापि वापी ॥ १०१ ॥

---

१. 'तदनन्तरम्' । २. 'महिमनि'. । ३. 'यौवने प्रकृतमर्थमिव' । ४. 'तच्छाय' । इति पा० ।

तत्रानिलैरिति । तत्र वृक्षमूले कमलगन्धिभिः पद्मसौरभयुतैः अनिलैः वायुभिः उच्यमानाम् अत्र दिशि पद्मपूर्णा वापी विद्यते इति सुगन्धिद्वारा सूच्यमानाम् आशाम् दिशं सलिलाय जलमाहर्त्तुं गतेषु भीमादिषु भ्रातृषु चिरायितेषु आवश्यकतातोऽधिकं विलम्बं कुर्वत्सु सत्सु क्षितिभुजा राज्ञा युधिष्ठिरेण परितप्य खेदमनुभूय अथ तेषां भीमादीनां पदानुसरणात् पदचिह्नान्यनुसृत्योपसरणात् कापि वापी सरसी भेजे प्राप्ता। कमलसुगन्धिहरेण वायुनाऽत्र दिशि वापीस्यादित्यनुमाय तां दिशं प्रयातेषु जलाहरणाय भीमादिषु विलम्बमानेषु तदनागमदुःखार्त्तो युधिष्ठिरस्तत्पदाङ्कानुसरणचिह्नान्यवलम्ब्य कामपि वापीं प्रापदिति भावः॥ १०१ ॥

उस वृक्षकी जड़में कमलकी सुगन्धसे पूर्ण वायु द्वारा उस दिशाके वापीयुक्त होनेकी सूचना प्राप्त करके भीमादि भ्रातृगण उसी दिशाकी ओर पानी लाने गये, जब उनके लौटनेमें आवश्यकतासे अधिक देर होने लगी तब खिन्न होकर राजा युधिष्ठिर भी उनके पदचिह्नोंका अनुसरण करके जाते जाते एक तालाबके किनारे पहुँचे ॥ १०१ ॥

तस्यास्तटे कमलिनीदलपात्रपाणीं-
स्तान्पङ्क्तिशो निपतितानवलोक्य वीरान् ।
बाष्पाम्बुभिः प्रथमदर्शितमार्गयेव
तन्वा नृपस्य धरणौ सहसा निपेते ॥ १०२ ॥

तस्यास्तटे इति । तस्याः वाप्यास्तटे तीरे कमलिनीदलानि पद्मपत्राणि एव पात्राणि जलाहरणोपकल्पितानि भाजनानि पाणौ हस्ते येषां ताँस्तथोक्तान् पङ्क्तिशः एकक्रमेण निपतितान् भूमौ पतितान् तान् वीरान् शूरान् भीमादीन् विलोक्य दृष्ट्वा बाष्पाम्बुभिः अश्रुधाराभिः प्रथमदर्शितमार्गया पूर्वप्रदर्शितपथया अश्रुभिः पूर्वं निपत्य प्रदर्शितो नियतनमार्गो यस्यै तादृश्या नृपस्य युधिष्ठिरस्य तन्वा वपुषा सहसा हठात् धरणौ भुवि निपेते पतितम्, तद्वापीतीरे कमलपत्रपात्रहस्तान्मृत्वा भूमौ पतितान् भीमादीन् भ्रातॄनवलोक्य रुदतो नृपस्याश्रुभिर्यत्र पतितं तत्रैव वपुषाऽपि पतितं मन्येऽश्रूणि वपुषे पतनाय मार्गमिव प्रादर्शयन्निति भावः॥ १०२ ॥

राजा युधिष्ठिरने देखा कि उसी वापीके तट पर उनके वीर भाई कमलका पत्ररूप पात्र हाथोंमें लिये हुए मरकर जमीनमें गिरे हैं, उनकी वह दशा देखकर पहले राजाके अश्रु गिरे फिर वह खुद भी जमीन पर गिर पड़े, ऐसा मालूम हुआ मानो अश्रुओंने गिरनेमें उनकी देहका मार्गप्रदर्शन किया ॥ १०२ ॥

स नृपतिर्ददृशेऽधिकवत्सलः सपदि मूर्च्छितधीर्निभृताङ्ककः ।
स्वयमपि प्रविभज्य तदा दशामनुभवन्निव तामनुजाश्रिताम् ॥ १०३ ॥

---

१. 'मार्गं एव'। इति पा०।

स नृपतिरिति। अधिकवत्सलः भ्रातृषु सातिशयस्नेहशाली स नृपतिः राजा युधिष्ठिरः सपदि तत्क्षण एव मूर्च्छितधीः नष्टचेतनः निभृताङ्कः निश्चलकायश्च तदा तस्मिन् काले अनुजाश्रिताम् भ्रातृभिरासादिताम् दशां मूर्च्छालक्षणां मरणसमां स्थितिं प्रविभज्य समविभागं कृत्वा स्वयम् अपि अनुभवन्निव भुञ्जान इव ददृशे दृश्यते स्म, मूर्च्छितो निश्चेष्टसमस्तदेहश्चासौ भूमौ पतितो राजा युधिष्ठिरः तदा भीमादिभिरुपभुज्यमानां निश्चेष्टतारूपां दशां स्वयमपि विभज्य भुञ्जान इव प्रतीयते स्मेति भावः। वत्सलो हि लोको भ्रातृभिः समदुःखसुखो मन्यते॥ उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, द्रुतविलम्बितं वृत्तम्॥ १०३॥

भाइयोंसे अतिशय स्नेह करने वाले राजा युधिष्ठिर तत्काल अचेत तथा अचल शरीर होकर गिर पड़े, उनका यह गिरना ऐसा प्रतीत हुआ मानो भ्रातृगण जिस मरणोपम मूर्च्छादशाका भोग कर रहे थे उसमेंसे अपना भाग लेकर वे भी उसका भोग कर रहे हों। भाइयोंके साथ समदुःखसुख होना ही तो उत्तम भ्रातृस्नेह है, अतः राजा युधिष्ठिरने तत्काल अपनेको भी भाइयोंकी हालतमें पहुँचा दिया॥ १०३॥

नासाविलोभनपटून्नवप[1]द्मगन्धा-
नादाय तत्र मधुपैरनुसेव्यमानाः।
वर्धिष्णुचेतनम[2]मुं वनवापिकायाः
कल्लोलमल्लपवनाः कलयांबभूवुः॥ १०४॥

नासाविलोभनेति। तत्र तस्मिन्नवसरे नासाविलोभनपटून् घ्राणेन्द्रियाकर्षणसमर्थान् नवपद्मगन्धान् प्रत्यग्रप्रस्फुटितसरोजसौरभ्याणि आदाय मधुपैः सुगन्धानुसारिभिः भ्रमरैः अनुसेव्यमानाः अनुगम्यमानाः वनवापिकायाः काननस्थसरस्याः कल्लोलमल्लपवनाः तरङ्गश्रेष्ठसंबन्धिनो वायवः अमुं युधिष्ठिरं वर्धिष्णुचेतनं क्रमशः प्रत्यागतबोधं कलयांबभूवुः विदधुः। घ्राणेन्द्रियलोभजनकान् कमलसुगन्धानादाय भ्रमरैरनुगतास्सन्तः समायातास्तत्तडागसरसीतरङ्गवातास्तं युधिष्ठिरं क्रमशश्चैतन्यं प्रापयन्निति भावः। नासाविलोभनेन सुगन्धता, भ्रमरानुगमेन मन्दता, कल्लोलसंबन्धेन च शीतलतेति वायौ चेतनाप्रत्यावर्त्तनोपयोगिनः शीतलत्वमन्दत्वसुगन्धत्वात्मकास्त्रयोऽपि गुणाः प्रकटिताः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः, विशेषणानां चैतन्यप्रत्यावर्त्तनहेतुत्वेनोपादानात्॥ १०४॥

उसी समय घ्राणेन्द्रियको आकृष्ट करनेमें समर्थ नव विकसित कमलोंकी गन्धको लिये हुए, भ्रमरों द्वारा अनुगम्यमान, एवं उस वनतड़ागकी बड़ी बड़ी तरङ्गोंसे लड़कर आने वाली वायुने राजा युधिष्ठिरकी चेतनाको बढ़ाया, धीरे-धीरे उन्हें चैतन्य प्राप्त कराया॥ १०४॥

---

१. 'पुष्प'। २. 'इमं वनवापिकायाः'। इति पा०।

ततः क्षणादेव किंचिदुद्भम्य परितः शून्यशून्या दिशो दशापि विलोकयमानः शनैः शनैरुपसृत्य शोकचञ्चलेन कराञ्चलेन तान्भ्रातॄन् पर्यायवृत्त्या परामृश्य वनविहगमृगपानसौकर्याय सुतरां दुरवतरां तां सरसीमिव पूरयितुं बाष्पधारामभिवर्षन् धर्मसूनुरेवं विशपितुमारभत,—

ततः क्षणादेवेति। ततः चेतनाप्राप्त्यनन्तरम् क्षणात् एव सद्य एव किञ्चिदुद्गम्य उत्थाय परितः सर्वतः दशापि दिशः आशाः शून्यशून्याः नितान्तशून्याः विलोकयमानः पश्यन् शनैः शनैः उपसृत्य समीपं गत्वा शोकचञ्चलेन खेदकम्पमानेन कराञ्चलेन हस्ताग्रेण पर्यायवृत्त्या क्रमेण तान् भ्रातॄन् भीमादीन् परामृश्य स्पृष्ट्वा सुतरां नितान्तं दुरवतरां प्रोच्चतीरतयाऽत्यन्तदुरवगाहां तां सरसीम् वापीं वनविहगमृगपानसौकर्याय वन्यपक्षिहरिणगणजलपानसौविध्यसम्पादनाय पूरयितुम् जलेन पूर्णां सम्पाद्य सुखावतरां सम्पादयितुमिव बाष्पधाराम् नयनवारिप्रवाहम् अभिवर्षन् विसृजन् धर्मसूनुः युधिष्ठिरः एवं वक्ष्यमाणविधया विशपितुम् विलपितुम् आरभत प्रारेभे।

इसके बाद थोड़ा उठकर बैठे और उन्होंने आँखें खोली तो युधिष्ठिरको सभी दिशायें सूनी प्रतीत हुईं, उन्होंने धीरे धीरे समीप जाकर शोकसे काँपते हुए हाथोंसे एक एक करके अपने भाइयोंको स्पर्श किया, और खड़ा किनारा होनेसे पानी तक पहुँचनेमें कठिनता होती थी, अतः उस तालाबमें वनमृग और पक्षियोंको पानी पीनेकी सुविधा प्रदान करनेके लिये उस तालाबको भरनेकी इच्छासे आँखोंका पानी बरसाते हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिरने विलाप करना प्रारम्भ किया॥

वीरा! भवद्विपदि देवपरम्परापि
दूरेतरां प्रति परान्न गिरां प्रवृत्तिः।
हा हा दशेयमिह वोऽद्य कुतोऽवतीर्णा
मामन्तरेण भवतां किमिदं प्रयाणम्॥ १०५॥

वीरा इति। हे वीराः शूरा मम भ्रातरः, भवतां विपदि अस्मिन्ननिष्टे मरणविषये देवपरंपरा देवसमुदायोऽपि दूरेतराम् अतिदूरे, अपि भवद्विपदमाधातुमशक्ता इत्यर्थः परान् देवभिन्नान् नरादीन् प्रति गिरां प्रवृत्तिः वाक्प्रसरो नास्ति, देवभिन्ना मनुष्याभवद्विपदमादध्युरिति तु वक्तुमप्यशक्यमित्याशयः। (एवं देवै-

---

१. 'उत्थाय' २. 'दिशो विलोकयमानः'। ३. 'पाणिना तान्भ्रातॄन्'।
४. 'परामृश्य परामृश्य'। ५. 'नरान्न'। ६. 'सरसीं परिपूरयितुमिव'।
७. 'दूरापरान्प्रति नरान्न गिरां'। ८. 'सौकर्याय दुरवतरां तां'।
९. 'किमिदं भवतां'। इति पा०।

नरैश्च भवद्विपदोऽसाध्यत्वे सत्यपि) अद्य अधुना वः युष्माकं दशा मरणरूपा कुतः कस्मात् जनात् कारणाद्वा अवतीर्णा उद्भूता, न जाने केनेयं भवतां दशा प्रणीतेति, अस्तु वा येन केनापि कृता भवतां दशेयम् सर्वतोऽधिकमाश्चर्यं तु भवतां मामनापृच्छ्य गमनं जनयतीत्याह—मामन्तरेण मां विना इदं भवतां प्रयाणं गमनं किम् कुतोऽजनीति भावः ग्रामाद् ग्रामान्तरमपि गमने ममादेशमनुपालयतां भवतां सम्प्रति लोकान्तरप्रयाणं मामनापृच्छ्य जातमिति भृशं चिन्त्यते नश्चेत इत्यर्थः ॥ १०५ ॥

बहादुरों, आपकी इस प्रकारकी विपत्ति–अचानक मर जानेमें देवगण भी समर्थ नहीं हो सकते हैं, फिर दूसरोंके बारेमें कहना ही क्या ? दूसरे कर ही क्या सकते हैं ? (देवगण भी जब आप लोगोंकी विपत्तिमें असमर्थ हैं तब) आप लोगोंकी यह दशा अकस्मात् मृत्यु हो कैसे गई ? विना हमको साथ लिये अथवा विना हमसे पूछे आप चले कैसे गये ? ॥ १०५ ॥

दैवं कठोरचरितं दयया विहीनं
माद्रीसुतावहह मातृमुखानभिज्ञौ ।
कन्दाङ्कुराणि च फलानि च भक्षयित्वा
कान्तारसीमनि मयाचरितुं न सेहे ॥ १०६ ॥

दैवमिति । दयया कृपया विहीनम् रहितम् कठोरचरितम् दारुणकर्मदैवं भाग्यं (कर्तृ) मातृमुखानभिज्ञौ मातुर्माद्र्याः पत्यासहानुमृततया तया वञ्चितौ मातृसुखरहितौ माद्रीसुतौ नकुलसहदेवौ मया सह कान्तारसीमनि वनभुवि कन्दाङ्कुराणि लतामूलानि फलानि च भक्षयित्वा भुक्त्वा मया सह चरितुं न सेहे मया सहावस्थानं न मृष्यते स्म । निर्दयं भाग्यं मातृसुखवञ्चितयोर्नकुलसहदेवयोः कन्दमूलफलाशिनोरपि मया सह वने भ्रमणं न सहतेस्मेति भावः ॥ १०६ ॥

निर्दय तथा कठोरकर्मपरायण भाग्य—माँके सुखसे वञ्चित इन नकुल तथा सहदेवको जो वनमें कन्दमूलफल खाकर हमारे साथ वन–वन घूमा करते थे, नहीं देख सका । निर्दय भाग्यको यह सहन नहीं हो सका कि ये विना माताके लड़के नकुल-सहदेव कन्दमूल पर गुजर करते हुए हमारे साथ जङ्गलोंमें घूमा करें ॥ १२६ ॥

स्वयमव्रण एव यो भवान्व्रणमाधत्त हरस्य मस्तके ।
व्रणमायुषि पार्थ ! तस्य ते विदधाति स्म मृधंवि नैव कः ॥१०७॥

स्वयमिति । हे पार्थ, यः भवान् स्वयम् अव्रणः क्षतरहितः सन् एव हरस्य शिवस्य मस्तके शिरसि व्रणम् क्षतम् आधत्त अकृत, (शिवमपि युद्धे क्षतेन खेद-

---

१. 'रणे' । इति पा० ।

यामास) तस्य ते पार्थस्य आयुषि जीवने प्राणने कः व्रणं छिद्रं विदधाति ? कस्त्वां तथाभूतमपि शिवेन सह युद्धवन्तं निहन्तीति प्रश्नेनाश्चर्यं व्यज्यते ॥ १०७ ॥

हे पार्थ जिस आपने स्वयं विना चोट पाये शिवके शिरमें आघात उत्पन्न कर दिया था, जिस आपने युद्धमें महादेवको भी जख्मी बना दिया था, उसी आपके जीवन पर आघात करने वाला—बिना किसी प्रकारकी लड़ाईके आपका प्राण लेनेकी क्षमता रखने वाला यह कौन होता है ? ॥ १०७ ॥

वत्स द्वेषिनियुद्धजीवनभुज प्रख्यानिधे मारुते
कर्णाकर्णिकया निशम्य भवता प्राप्तामवस्थामिमाम् ।
शोकेनानिशमेकचक्रनगरीभाजां च बाष्पायितुं
स्वस्रीयैः सह सौबलस्य च मुदा कोऽप्येष कालोह्यभूत् ॥१०८॥

वत्सेति । हे वत्स, द्वेषिभिः हिडिम्बादिभिः नियुद्धं बाहुयुद्धमेव जीवनं वृत्तिर्ययोस्तादृशौ भुजौ यस्य तादृश शत्रुमर्दनपरायणभुजशालिन् , प्रख्यानिधे कीर्त्तिसागर, मारुते भीम, भवता भीमेन प्राप्ताम् आसादिताम् इमाम् मरणलक्षणाम् अवस्थाम् दशाम् भवदीयं मरणम् कर्णाकर्णिकया श्रोतृजनपरम्परया निशम्य आकर्ण्य एकचक्रनगरीभाजाम् एकचक्रनामकग्रामवासिनाम् सौबलस्य तदाख्यस्य राज्ञः स्वस्रीयैः भगिनीपुत्रैः दुर्योधनादिभिः सह अनिशं सततं शोकेन मुदा च बाष्पायितुं रोदयितुं दुर्योधनादीनानन्दाश्रुणैकचक्रपुरीवासिनश्च शोकेनानिशमुष्णबाष्पान् विधातुम् एषः कोऽपि कालः अभूत् अजायत । अयमर्थः, हे भीम त्वदीयं निधनं श्रुत्वा दुर्योधनादय आनन्दाश्रु प्रवाहयिष्यन्ति, बकासुरनाशद्वारा रक्षितप्राणा एकचक्रपुरवासिनश्च शोकेनाश्रु प्रवाहयिष्यन्ति, तदयमीदृशः कालः समायात इत्यर्थः । भीमविशेषणानां हर्षशोकोदयहेतुतयोपनिबन्धनात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १०८ ॥

हे वत्स, हे दुश्मनोंके साथ बाहुयुद्धमें सतत निरत रहनेवाले बाहुओंवाले, हे कीर्त्तिसागर, हे भीम, तुम्हारी इस प्रकारकी अवस्थाप्राप्ति-मृत्यु-को लोगों द्वारा परम्परया सुनकर एकचक्रपुरनिवासी लोग—जिन्हें तुमने बकासुरसे बचाया था, तथा सौबलके भागिनेय दुर्योधनादि सतत शोक तथा हर्षसे आँसू बहायेंगे, ऐसा यह समय आ उपस्थित हुआ । तुम्हारी मृत्युकी खबर प्राप्त करके एकचक्रपुरीके लोग खूब रोयेंगे, और तुम्हारे शत्रु दुर्योधन आदि आनन्दके आँसू बहायेंगे ॥ १०८ ॥

मय्यप्यसूनिह विमुञ्चति याज्ञसेनी
सा श्वापदामिषमवुद्धगतिर्भवेन्नः ।

---

१. 'मुदे' । २. 'कालोऽभवत्' । इति पा० ।

हा माद्रि ! कुन्ति ! युवयोर्वनभूमिरेव
पुत्रप्रसूतिविपदोः पदतां प्रपेदे ॥ १०९ ॥

मय्यपीती । इह अत्र वापीतटे मयि युधिष्ठिरेऽपि असून् प्राणान् विमुञ्चति विसृजति सति सा पतिव्रतात्वेन प्रसिद्धा याज्ञसेनी द्रौपदी नः अस्माकम् अबुद्धगतिः अज्ञातास्मदीयवृत्तान्ता सती श्वपदामिषम् मृगभक्षकजन्तुविशेषभक्ष्या भवेत्, श्वापदानां भक्ष्यतां गच्छेत् । हा माद्रि, हा कुन्ति, युवयोः भवत्योः मात्रोः वनभूमिरेव वनस्थली एव पुत्रप्रसूतेः पुत्रजन्मनः पुत्रविपदः पुत्रमरणस्य च पदतां स्थानत्वं प्रपेदे, भवत्यौ वन एव पुत्रानुत्पादितवत्यौ, भवत्योः पुत्रा वन एव मृताश्च, हा अतिकष्टमिदमित्यर्थः ॥ १०९ ॥

जब मैं भी इस वापीतट पर मर जाऊंगा तब पतिव्रता द्रौपदी भी हमारी खबर न प्राप्त करके अवश्य ही श्वापद-मृगभक्षी हिंसक जन्तु विशेष-का आहार बन जायेगी, अनाथ अवस्थामें उसे कोई श्वापद खा जायेगा । हा माद्रि, हा कुन्ति, तुम दोनों माताओं के पुत्रोंके लिये वनभूमि ही उत्पत्ति तथा मरण दोनोंका स्थान हुई, वनमें ही तुम्हारे लड़के जनमे और वनमें ही उनका देहपात हुआ ॥ १०९ ॥

कूटस्थशीतकरकुक्षिगतं कुरंगं
कुर्वन्स्वजातिकृतकोपरसातिरेकम् ।
कोदण्डमप्यगणयन् कुलिशास्त्रसूनोः
क्वासौ स्थितो [1]वत मृगः कुलहानये नः ? ॥ ११० ॥

कूटस्थेति । कूटस्थस्य अस्माकं चन्द्रवंशक्षत्रियाणामादिपुरुषस्य कुक्षिगतम् उदरे स्थितं कुरङ्गं मृगम् स्वजातौ स्वसजातीये मृगे कृतः कोपरसातिरेकः क्रोधातिशयो येन तं तथोक्तं कुर्वन् सम्पादयन्, (चन्द्रवंशनाशहेतुतां गतेऽरणिहर्त्तर्यत्र मृगेऽस्मद्वंशप्रथमपुरुषोदरगतः कुरङ्गोऽवश्यं कुप्येत्, तेनायं सम्प्रत्यस्मान् विपत्तौ पातयन् अरणिहर्त्ता कुरङ्गः चन्द्रमृगं स्वजातौ अरणिहरे मृगे कोपिनं करोतीति तथा विशेषणं दत्तम्) स्वसजातीयकृते स्वस्वामिचन्द्रवंशक्षये चन्द्रमृगः स्वजातीये कुप्येत्, तथा कुर्वन् तदीयं कोपं जनयन्, ततोऽप्यबिभ्यदित्यर्थः । कुलिशास्त्रसूनोः वज्रास्त्रपुत्रस्य इन्द्रात्मजस्य कोदण्डमप्यगणयन् गाण्डीवं धनुरप्यनाद्रियमाणः असौ वनमृगः क्व स्थितः क्व गतः (यः) नः अस्माकं कुलहानये वंशोच्छेदाय जात इत्यर्थः ॥ ११० ॥

चन्द्रवंशी राजाओंके आदि पुरुष हुए चन्द्रमा-उनकी कुक्षि-पेटमें रहनेवाले मृगको यह मृग—जिसने अरणिहरण करके हमें विपत्तिमें डाला है, अपने इस गर्हिताचरण

---

१. 'वनमृगः' । इति पा० ।

द्वारा, अपने जातीय मृगपर कुपित बना रहा है, इसकी उसको चिन्ता नहीं हो रही है कि हमारे इस आचरणसे हमारे ऊपर चन्द्रमृग कुपित होंगे, और यह मृग वज्रधारण करनेवाले इन्द्रके आत्मज अर्जुनके गाण्डीवकी भी परवाह नहीं कर रहा है, हमारे वंशका लोप उपस्थित करनेवाला वह मृग है कहाँ ? ॥ ११० ॥

इत्थं विलप्य नृपतौ स्वयमप्यमीषा-
मन्तस्य हेतुरिदमित्युदकं सरस्याः ।
पातुं प्रवृत्तवति कोऽपि पुमानदृश्यो
गम्भीरमाह गगनस्थित एव वाचम् ॥ १११ ॥

इत्थमिति । इत्थं प्रोक्तरूपेण विलप्य विलापं कृत्वा–इदम् एतत्सरस्युदकम् अमीषां मम भ्रातॄणां भीमादीनाम् अन्तस्य मरणस्य हेतुः कारणम्–एतज्जलमेव पीत्वेमे मृताः, तदहमपि जलमिदं पिबामीति–इति एवम् (निश्चित्य) नृपतौ धर्मराजे सरस्या वाप्या उदकं पातुं प्रवृत्तवति उद्युक्ते सति कोऽपि अचिन्त्यरूपमाहात्म्यः पुमान् पुरुषः गगनस्थितः आकाशस्थित एव गम्भीरम् धीरभावेन आह वक्ष्यमाणं वचनमुक्तवान् ॥ १११ ॥

इस प्रकार विलाप करके युधिष्ठिरने तय कर लिया कि इस तालाबके पानीके पीनेसे ही हमारे इन भाइयोंकी जानें गई हैं, अतः हम भी इसका पानी पीकर जान दें, ऐसा निश्चय कर जब वह पानी पीनेको प्रवृत्त हुए इसी समय किसी अदृश्य तथा आकाशस्थित पुरुषने धीर स्वरमें इस प्रकार कहा ॥ १११ ॥

'राजन् ! मदुक्तिसरणेः प्रतिवाक्यदानं
देवोऽप्युपेक्ष्य जलमत्र न पातुमीष्टे ।
एते मदीयमवमत्य वचोऽवलेपात्
पीताम्भसः सपदि बिभ्रति दीर्घनिद्राम्' ॥ ११२ ॥

राजन्निति । हे राजन्, भूपते, मदुक्तिसरणेः मद्वचनमालायाः मयाकृतस्य प्रश्नसमुदयस्येत्यर्थः, प्रतिवाक्यदानम् उत्तरप्रदानम् उपेक्ष्य विहाय (उत्तरमदत्त्वा) देवः अपि अत्र सरसि जलं पातुं न ईष्टे, एते तव भ्रातरः अवलेपात् बलदर्पवशात् मदीयं पूर्वोक्तप्रकारम् प्रश्नोत्तराग्रहरूपम् वचः वचनम् अवमत्य अनादृत्य पीताम्भसः पीतैतत्सरोवारयः सपदि तत्काल एव दीर्घनिद्राम् अपुनःप्रबोधाम् निद्राम् स्वापं बिभ्रति धारयन्ति, मत्प्रश्नोत्तरदानमकृत्वैव पयः पातुं प्रवृत्ता इमे सद्य एव मृता इत्याशयः ॥ ११२ ॥

महाराज, हमारी प्रश्नावलीका उत्तर दिये बिना इस सरोवरका जल देवता भी नहीं पी सकते हैं (आपकी क्या कथा है, दृष्टान्त देखिये) आपके भाईयोंने हमारा

चातकी उपेक्षा करके जल पी लिया और तत्काल यहीं पर ढेर हो गये, अतः आप भी प्रश्नोंका उत्तर दिये विना इस तालाबका पानी न पियें अन्यथा उसका परिणाम बुरा होगा ॥ ११२ ॥

तत्प्रत्युदीर्य ज॑लमत्र पिबेति वक्तुः
प्रश्नानसौ दिविचरस्य पटूत्तरैः स्वैः ।
प्रत्युद्ययौ बहुमतैर्वनदेवताना-
मिन्दोः करानिव तरङ्गकुलैः पयोधिः ॥ ११३ ॥

तत्प्रत्युदीर्येति । तत् तस्मात् कारणात् प्रत्युदीर्य प्रश्नानां मदुक्तानामुत्तरं दत्त्वा अत्र सरसि जलं पानीयं पिब इति वक्तुः कथयतः दिविचरस्य नभःस्थितस्य पुंसः प्रश्नान् असौ युधिष्ठिरः स्वैः निजोक्तैः वनदेवतानां बहुमतैः आदृतैः पटूत्तरैः यथार्थोत्तरैः पयोधिः सागरः तरङ्गकुलैः वीचिभिः इन्दोः चन्द्रमसः करान् इव प्रत्युद्ययौ प्रत्युद्गतः । अयमाशयः—यथा सागरश्चन्द्रकरान्स्वतरङ्गैः प्रत्युद्याति आगच्छतश्चन्द्रकरान्स्वतरङ्गैर्मध्ये मार्गमेवावलम्ब्य तदादरं व्यनक्ति, तथैव युधिष्ठिरोपि तत्प्रश्नान् यथार्थैरुत्तरैः प्रत्युद्ययौ यथार्थोत्तरप्रदानेन तत्प्रश्नानविलम्बं संभावयामासेत्यर्थः ॥

इसलिये आप भी हमारे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही इस सरोवरका जल पियें, इस प्रकार कहते हुए उस आकाशचारी पुरुषके प्रश्नोंको युधिष्ठिरने वनदेवताओं द्वारा प्रशंसित अपने यथार्थ प्रतिवचनोंसे सत्कृत किया; जैसे सागर अपनी उभड़ती हुई तरङ्गोंसे चन्द्रमाकी किरणोंको सत्कृत करता है ॥ ११३ ॥

तदनन्तरम्,—

कटिलम्बितवल्कलो जटालः कमनीयस्मितधौतयज्ञसूत्रः ।
कुशबर्हवतंसितः स देवः कुरुराजस्य पुरोऽवतीर्य तस्थौ ॥ ११४ ॥

कटिलम्बितेति । तदनन्तरम् युधिष्ठिरेण प्रश्नेषूत्तरेण योजितेषु सत्सु कटिलम्बितवल्कलः ऊरूपरिभागे परिहितवृक्षत्वग्वसनः, जटालः जटाधारी, कमनीयेन सुन्दरेण स्मितेन हासेन धौतं धवलतां नीतं यज्ञसूत्रं यस्य तथोक्तः कुशबर्हैः दर्भपत्रैः वतंसितः शिरसि भूषितः सः आकाशात् प्रश्नानुपस्थापयन् देवः कुरुराजस्य युधिष्ठिरस्य पुरोऽवतीर्य अग्रे आगत्य तस्थौ साक्षाद् बभूव ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिरने जब प्रश्नोंके उत्तर दे दिये तब जांघ तक लटक रहा है वल्कल जिसका ऐसा, जटाधारी और स्मित–ईषद् हास–से स्वच्छ हो रहा है यज्ञोपवीत जिसका ऐसा तथा कुशके पत्रोंसे भूषित मस्तक वह आकाशचारी देव युधिष्ठिरके आगे आकाशसे उतरकर खड़ा हो गया, सामने आया ॥ ११४ ॥

---

१. 'सलिलं तु' । इति पा० ।

स तु तत्र लोकातीतेन राकाशतमिवाकारयता निजेन तेजसा कुड्मलीकृतकरकमलयुग्मं तमात्मसंभवं प्रेममेदुरमेवमवादीत्,—

· स तु तत्रेति। स देवः तत्र तस्मिन् समये लोकातीतेन अलौकिकेन राकाशतम् पूर्णिमाशतम् आकारयता उपस्थापयता शतं श्वेता निशाः प्रादुर्भावयता (अतिधवलिमानं विस्तारयता) निजेन तेजसा स्वप्रभया (आदरातिशयात्) कुड्मलीकृतकरकमलयुग्मं प्रणाममुद्रया बद्धाञ्जलिम् (राकायां कमलकुड्मलीभावः स्वाभाविक इति ध्वनिः) तम् आत्मसंभवं स्वपुत्रं युधिष्ठिरम् प्रेममेदुरं सप्रेम एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण अवादीत् उवाच।

उस पुरुषने अपने अलौकिक तेजके सामने—जो तेज सैकड़ों पूर्णिमाकी रात्रियोंको उपस्थित कर रहा था—मुकुलितकरकमल-हाथ जोड़कर खड़े हुए-अपने पुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—

'अये वत्स! मां धर्ममवेहि। विमतजनवितीर्णं[1] विविधं विपिनक्लेशमनुभवतो भवतो भावं बुभुत्सुरेवमाचरिषम्। तद्बहुधा परीक्षितेन भवतः शीलेन समञ्जसेन प्रश्नोत्तरेण च प्रसेदिवानस्मि। तस्मान्ममानुग्रहेण[2] स्वप्नान्निवृत्तैरिव भूयोऽप्युत्थितैरनुजन्मभिः सह त्रयोदशीं शरदं वेषान्तरवन्तं[3] भवन्तं कोऽपि न जानीयात्[4]' इति वरमरणिं[5] च विस्मयविस्मारितनयनपरिस्पन्दनाय निजनन्दनाय प्रतिपाद्य स पुमानन्तर्दधे॥

'अये वत्स, हे पुत्र, मां धर्मं धर्मराजम् अवेहि जानीहि, विमतजनवितीर्णं शत्रुदत्तं विविधं नानाप्रकारकम् विपिनक्लेशं वनवासकष्टम् अनुभवतः भुञ्जानस्य भवतो युधिष्ठिरस्य भावम् धर्मे दृढताम् बुभुत्सुः जिज्ञासुः अहम् एवम् यथावृत्तम् (भीमादीनां मरणोपस्थापनम्) आचरिषम् कृतवान्। तत् तस्मात् बहुधा अनेकप्रकारेण परीक्षितेन भवतः शीलेन आचारेण समञ्जसेन युक्तेन प्रश्नोत्तरेण च च प्रसेदिवान् प्रसन्नः संजातोऽस्मि। तस्मात् ममानुग्रहेण मम कृपया स्वप्नान्निवृत्तैः समाप्तस्वपनक्रियैः जागरितैः इव भूयोऽप्युत्थितैः प्रबुद्धैः अनुजन्मभिः कनिष्ठभ्रातृभिः सह त्रयोदशीं शरदं वर्षम् वेषान्तरवन्तम् धृतरूपान्तरं भवन्तं त्वां कोऽपि न जानीयात् तत्त्वतः परिचिनुयात्' इति उक्तप्रकारकं वरम् वरदानवाक्यम् अरणिम् मृगवेषमास्थितेनात्मना धृतम् ब्राह्मणसम्बन्धिनम् मन्थनकाष्ठं च विस्मयविस्मारितनयनपरिस्पन्दनाय आश्चर्यवशविस्मृतनिमेषपातनेत्राय आश्चर्येण निर्निमेषं पश्यते निजनन्दनाय स्वपुत्राय युधिष्ठिराय प्रतिपाद्य समर्प्य स पुमान् पुरुषो धर्मराजः अन्तर्दधे तिरोबभूव॥

---

१. 'संप्रति विमतजन'। २. 'मदनुग्रहेण'। ३. 'रूपान्तर'। ४. 'विजानीयात्'। ५. 'वरं च तमरणिं'। इति पा०।

'हे पुत्र ! मैं धर्म हूँ, शत्रुओं द्वारा दिये गये नानाप्रकारके वनवासकष्टोंको भोगते हुए तुम्हारे भावको जाननेकी इच्छासे ही हमने यह—भीमादिका मृत्युप्रदर्शन—किया है । तुम्हारे आचरणकी परीक्षासे तथा समीचीन उत्तरसे मैं प्रसन्न हूँ । अतः हमारी अनुकम्पासे तुम्हारे भाई फिर उठ जायेंगे जैसे सोकर उठे हों, इनके साथ तुम त्रयोदश वर्षमें रूपान्तर धारण करके रहोगे, तुम्हें कोई नहीं पहचानेगा' इस प्रकारका वरदान तथा अरणि (जिसे धर्मने मृग बनकर हरा था, जिसके पीछे इतना बड़ा काण्ड हुआ) विस्मयसे निर्निमेष नयनोंवाले अपने पुत्र-धर्मपुत्र-युधिष्ठिरको समर्पित करके वह पुरुष-धर्म-अन्तर्हित हो गया ॥

तत्तादृशो भगवतो वचसा निकाम-
मासाद्य मोदभरमाश्रममागतानाम् ।
प्राप्तारणेर्द्विजवरस्य शुचेव साक-
मन्तं जगाम समयोऽपि महानमीषाम् ॥ ११५ ॥

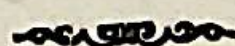
इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते पञ्चमः स्तबकः ।

तत्तादृश इति । तत् तादृशः अनुपमेयस्य भगवतः यमस्य वचसा वरदानात्मकवाक्येन निकामं पूर्णं मोदभरम् आसाद्य प्राप्य आश्रमम् आगतानाम् प्रत्यावृत्तानां अमीषाम् युधिष्ठिरादीनाम् प्राप्तारणेः लब्धयज्ञसाधनकाष्ठस्य द्विजवरस्य ब्राह्मणश्रेष्ठस्य शुचा खेदेन साकम् सह इव महान् समयः सुदीर्घो द्वादशवर्षात्मकः वनवासकालोऽपि अन्तं जगाम समापत् । एवं यमाद्वरं लब्ध्वा प्रसन्नेन मनसा आश्रममुपगतेष्वेषु ब्राह्मणः स्वमरणिकाष्ठमवाप्य शुचं समाप्तं कृतवान् , एते पाण्डवा अप्येवं वनवासावधिं समापयन्नित्याशयः । तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ११५ ॥

इति मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे'
पञ्चमस्तवक 'प्रकाशः' ।

इस प्रकार अनुपम स्वभाववाले यमसे वर प्राप्त करके नितान्त प्रसन्नताके साथ आश्रम आनेपर इन पाण्डवोंका वनवासकाल समाप्त हो गया, और अरणि वापस मिल जानेसे उस ब्राह्मणका शोक भी मिट गया ॥ ११५ ॥

इति मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्र मिश्रप्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे'
पञ्चमस्तबकः 'प्रकाशः' ॥



---

१. 'अन्तर्जगाम' । इति पा० ।

अथ षष्ठः स्तबकः

तदनु ते भरता व्यवधाश्रयाच्चरमहायनलङ्घनकाङ्क्षिणः ।
अतिचिरं रविभाण्डविवर्धितानुचरानिव तामटवीं जहुः ॥ १ ॥

तदन्विति । तदनु द्वादशवर्षात्मकवनवासकालसमाप्तौ व्यवधाश्रयात् प्रच्छन्नभावेन चरमहायनस्य त्रयोदशवर्षात्मकगुप्तवाससमयस्य लङ्घनकाङ्क्षिणः व्यतियापनेच्छवः ते भरताः भरतवंशोद्भवा युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः अतिचिरं बहुकालपर्यन्तं रविभाण्डविवर्धितान् सूर्यदत्ताक्षयपात्रस्थितान्नपोषितान् अनुचरान् सहयात्रिकान् इव ताम् अटवीं वनं जहुः त्यक्तवन्तः। एवं द्वादशवर्षपर्यन्तं वनवासं समाप्य त्रयोदशं वर्षं गुप्तवासेन गमयितुमिच्छन्तस्ते पाण्डवाः चिरं पोषितानुचरांस्तामटवीं च विजहुरित्यर्थः। काव्यलिङ्गेन तुल्ययोगिता सङ्कीर्यते । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १ ॥

द्वादशवर्षात्मक वनवासकालकी समाप्ति हो जाने पर तेरहवें वर्षको गुप्तवास रूपमें बितानेकी इच्छा रखनेवाले वे भरतवंशोत्पन्न पाण्डवगण—बहुत दिनों तक जिन्हें सूर्यदत्त अक्षयपात्रके स्वादिष्ट अन्नसे पोसा था, उन अनुचरोंके साथ उस काम्यक वनको भी छोड़कर चले गये ॥ १ ॥

तदन्वमी[1] तदनुचितवचनसाहसाधिगतवाहसाधिपवपुषं नहुषमौदरदमुनसः[2] शमनाय चतुर्णववारिकाङ्क्षिणः पारिकाङ्क्षिणः[3] अगस्त्यस्य कोपोदिताच्छापोदधेरुत्तरैरुत्तार्य[4] तस्मादेव विस्मारितनिजविधिदुर्विलासितया[5] तया वरारोहया सह दुःसहनिजधामपिधानवैदग्ध्यमभ्यसितुकामा इव ते[6] मात्स्यनगरस्य नातिसमीपपितृवनगामिनीं[7] शमीमभजन् ॥

तदन्वमी इति । तदनु काम्यकवनत्यागात्परतः अमी युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः तस्मै अगस्त्याय यत् अनुचितवचनसाहसम् अवाच्यकथाप्रतिपादनधृष्टत्वम् तेन अधिगतं प्राप्तं वाहसाधिपस्य अजगरश्रेष्ठस्य वपुः शरीरं येन तं तथोक्तम्—अगस्त्यं प्रति कुत्सितं वचनं व्याहृत्य तच्छापादासादिताजगररूपम् इत्यर्थः। उदरे भवः औदरः जाठरः यो दमुनाः वह्निः तस्य शमनाय शान्तये जठरज्वालाशान्तये बुभुक्षापूर्त्तये चतुर्णववारिकाङ्क्षिणः सागरचतुष्टयजलं कामयमानस्य चतुरोपि सागरान्निपीय जठरवह्निं शमितवतः पारिकाङ्क्षिणः मुनेः अगस्त्यस्य कोपोदितात् क्रोध-

---

१. 'तदनु तदनुचित'। २. 'दमुनः'। ३. काङ्क्षिणः कोपोदिता'। ४. 'रुत्तरैरसमुत्तार्य'। ५. दुर्विलासादासादितवराः वरारोहया सह'। ६. 'इव मत्स्य'। ७. 'अनतिसमीपगामिनीं पितृवनशमीम्'। इति पा०।

भवात् शापोदधेः शापसागरात् उत्तरैः नहुषप्रश्नप्रतिवचनैः प्लवैः उत्तार्य पारं लम्भयित्वा शापान्मोचयित्वेत्यर्थः, तस्मात् नहुषावस्थादर्शनात् एव विस्मारितनिजविधिदुर्विलसितया अगणितनिजवनवासरूपभाग्यविपर्ययया धैर्यं धारयन्त्या तया वरारोहया सुन्दर्या द्रौपद्या सह ते पाण्डवाः दुःसहस्य सोढुमशक्यस्य निजधाम्नः स्वतेजसः पिधाने गोपने वैदग्ध्यं चातुर्यं तदभ्यसितुकामाः तज्जिज्ञासवः इव (यथा शमीतरुः स्वस्मिन् स्थितं तेजो गोपयति तथा वयमपि स्वं तेजो गोपयितुं क्षमेमहीति शिक्षामवाप्तुमिव) मात्स्यनगरस्य विराटपुरस्य नातिसमीपे अनतिदूरस्थिते पितृवने श्मशाने गामिनीं श्मशानस्थितां शमीम् नाम वृक्षम् अभजन् प्राप्ताः, अगस्त्यशापात्प्राप्ताजगरभावं नहुषं तत्प्रश्नोत्तरप्रदानेनोद्धृत्य तद्दशादर्शनेन भाग्यविपर्ययकष्टं सहमानया द्रौपद्या सहितास्ते पाण्डवाः स्वं स्वे तेजसः गोपनं जिज्ञासमाना इव मात्स्यनगरसमीपश्मशानस्थितं शमीवृक्षमभजन्। शमीवृक्षस्याग्निगर्भत्वं प्रसिद्धम्—यथा—'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्' इति। 'अजगरे शयुर्वाहस इत्युभौ' 'सप्तार्चिर्दमुनाश्चित्रः' 'तपस्वी तापसः पारिकाङ्क्षी वाचंयमो मुनिः' 'वरारोहा मत्तकाशिनी' इति सर्वत्रामरः॥

इसके बाद अगस्त्यके प्रति अनुचित वचनप्रयोग करनेकी धृष्टताके कारण प्राप्त किया है महान् अजगरके शरीरको जिसने ऐसे नहुषको—जठरज्वालाशान्तिके लिये चारो सागरोंके पानीकी अपेक्षा रखनेवाले—समस्त सागरजलको पी लेनेवाले तपस्वी अगस्त्यके क्रोधवश प्रदत्त शापरूप सागरसे नहुष द्वारा किये गये प्रश्नोंके उत्तररूप नावसे पार करके, नहुषकी दशा देखकर भूल गया है भाग्यविपर्ययकष्ट जिसको ऐसी सुन्दरी द्रौपदीके साथ वे पाण्डव विराटपुरके समीपवर्त्ती श्मशानमें विद्यमान शमीवृक्षके समीप गये—मानो वे लोग उस शमीवृक्षसे निजतेजोगोपनकी विद्या सीखना चाह रहे हों। शमीवृक्ष अपने अन्दर आग छिपाये रहता है, उसकी तेजोगोपनविद्या सीखकर वे पाण्डव भी गुप्तवासमें अपना तेज छिपाकर रख सकें इसीलिये शमीके पास गये यह उत्प्रेक्षा है॥

क्रमेण मत्स्येन्द्रपुरोपकण्ठे करालमापुः पितृकाननं ते।
वधूद्रुहां भाविनि सूतजानां वधप्रदेशस्य दिदृक्षयेव॥ २॥

क्रमेणेति। ते पाण्डवाः क्रमेण गतिक्रमेण मत्स्यपुरोपकण्ठे विराटनगरसमीपे स्थितं करालम् भीषणम् पितृकाननम् श्मशानम् भाविनि भविष्यतिकाले वधूद्रुहाम् द्रौपद्यपमानकर्तृृणां सूतजानां कीचकानां वधप्रदेशस्य घातस्थानस्य दिदृक्षया दर्शनेच्छया इव आपुः। क्रमेण ते पाण्डवा विराटनगरसमीपवर्त्तिश्मशानं गताः, मन्ये द्रौपदीं प्रति द्रुह्यतां कीचकानां भाविनो वधस्य स्थानं द्रष्टुमिव ते तत्र गता इत्युत्प्रेक्षासारः॥ उपेन्द्रवज्रावृत्तम्॥ २॥

जाते जाते वे पाण्डव मत्स्यपुरके निकट वर्त्तमान श्मशानमें पहुँचे, ऐसा लगता

था मानो भविष्यमें द्रौपदीके प्रति बुरी दृष्टि रखनेके कारण मारे जानेवाले कीचकोंके वधका स्थान देखने गये हों ॥ २ ॥

शमीतरौ तत्र निधाय शस्त्रममी तदन्तर्ज्वलदग्निकल्पम् ।
जगाहिरे वेषमिवान्यमुच्चैर्ध्वजं विराटस्य पुरं प्रवीराः ॥ ३ ॥

शमीतराविति । अमी प्रवीराः शूराः पाण्डवाः तत्र श्मशानस्थे शमीतरौ शमीवृक्षे तदन्तर्ज्वलदग्निकल्पम् शमीवृक्षान्तर्वर्त्तमानवह्निसमानभासुरम् शस्त्रं स्वं स्वमायुधं निधाय स्थापयित्वा अन्यं वेषम् रूपमिव संन्यासपाचकत्वनपुंसकत्वादिरूपपरिवर्त्तनम् इव उच्चैर्ध्वजं समुन्नतपताकम् विराटस्य पुरं नगरं जगाहिरे प्राविशन् । रूपपरिवर्त्तनं कृत्वा विराटनगरं गतवन्त इत्याशयः ॥ ३ ॥

उन पाण्डववीरोंने उस श्मशानमें वर्त्तमान शमीवृक्षपर अपने शस्त्र रख दिये, जो उस शमीवृक्षके भीतर रहनेवाली आगकी तरह चमकदार थे, और रूप बदल-बदलकर उन्नत पताकायुक्त विराट नगरमें गये ॥ ३ ॥

समत्वमुत्कर्षनिकर्षयोः स्वं संदर्शयिष्यन्निव धर्मसूनुः ।
क्रमेण हंसः परमो हि भूत्वा कङ्कत्वमापद्यत सद्य एव ॥ ४ ॥

समत्वमिति । धर्मसूनुः युधिष्ठिरः उत्कर्षनिकर्षयोः सम्पत्तौ विपत्तौ च स्वं स्वीयं समत्वम् समानभावं निर्विकारचित्तत्वं संदर्शयिष्यन् प्रकटीकरिष्यन्निव क्रमेण परमो हंसः महात्मा साधुः भूत्वा अपि सद्यः तत्काले एव कङ्कत्वम् कङ्कसंज्ञाम् आपद्यत प्राप्तवान्, गृध्रभावं गत इति । योहं परमहंसः न एव गृध्रोऽपि भवितुं शक्नोमीति मम कृते उत्कर्षापकर्षं समानौ इति ज्ञापयितुमिव धर्मराजः सन्यासरूपमास्थायात्मनः कङ्कसंज्ञकत्वं प्रकाशितवानिति भावः । परमहंसस्य गृध्रत्वमिति विरोधप्रतिभासः, परमहंसस्य कङ्कनामत्वमिति तद्व्युदासः एवं विरोधाभास उत्प्रेक्षया संकीर्यते ॥ ४ ॥

हमारे लिये उत्कर्ष-अपकर्ष-सम्पत्ति-विपत्ति सभी समान हैं, इस बातको प्रकट करनेकी इच्छासे धर्मराजने परमहंस होकर कङ्कत्व-गृध्रत्व-स्वीकार किया, परमहंस बनकर अपना नाम कङ्क प्रथित किया ॥ ४ ॥

पुरार्जुनस्येव यतित्वमेतदस्यापि कामप्यपरां सपत्नीम् ।
संपादयेत्किं नु ममेति कृष्णा तथाविधं वीक्ष्य नृपं शशङ्के ॥ ५ ॥

पुरार्जुनस्येति । कृष्णा द्रौपदी तथाविधं धृतसन्न्यासिरूपं नृपं युधिष्ठिरं वीक्ष्य दृष्ट्वा पुरा सुभद्राहरणावसरे अर्जुनस्य यतित्वं संन्यासिरूपम् इव अस्य युधिष्ठिरस्यापि एतत् संन्यासिरूपम् अपरां सुभद्राभिन्नां काञ्चनद्वितीयां सपत्नीम्

१. 'परमोऽपि' । २. 'अस्यापि कामप्यपरां' । इति पा० ।

सम्पादयेत् आनयेत् किंनु इति एवं शशङ्के सम्भावयामास। यथाऽर्जुनः सन्न्यासपरिग्रहं कृत्वा सुभद्रां नाम सपत्नीमानीतवान्, तथैव किमयं युधिष्ठिरोऽपि सन्न्यासिवेषमाधाय कामपि मम सपत्नीमानेष्यतीति शङ्का सन्न्यासिवेषधरं धर्मराजं पश्यन्त्याः कृष्णायाः स्वान्ते पदमकृतेति तात्पर्यम् ॥ ५॥

द्रौपदीने जब धर्मराजका सन्यासवेष देखा तो उसके हृदयमें यह खटका हुआ कि कहीं यह भी अर्जुनकी तरह हमारी एक सौत लाकर न रख दें। अर्जुनने सन्यासीका बाना पकड़ा था, तब सुभद्रारूपी एक सौत ले आये थे, यह धर्मराज भी आज संन्यासीका रूप ग्रहण कर रहे हैं, क्या ठिकाना, कहीं यह भी न एक औरत लाकर हमारी सौतोंकी संख्यामें वृद्धि कर दें, यह बात द्रौपदीके मनमें आई, जब उसने संन्यासिवेषमें युधिष्ठिरको देखा ॥ ५॥

त्रिदण्डकाषायकमण्डलूज्ज्वलो जपस्फुरद्दन्तपटो युधिष्ठिरः।
उपानहं दारुमयीं पदा स्पृशन्नुपासदत्संसदि मेदिनीश्वरम् ॥ ६॥

त्रिदण्डेति। त्रिभिः संहत्यैकत्रबद्धैः दण्डैः कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायं तेन गैरिकवस्त्रेण कमण्डलुना पानीयपात्रभेदेन च उज्ज्वलः शोभमानः—त्रिदण्डं काषायं कमण्डलुं चाददानः, जपेन ओङ्कारावर्त्तनव्यापारेण स्फुरन् चलन् दन्तपटः ओष्ठो यस्य तथोक्तः, युधिष्ठिरः दारुमयीम् उपानहं काष्ठकृतां पादुकां पदा स्पृशन् धारयन् सन् संसदि सभायाम्, मेदिनीश्वरं महीश्वरं राजानं विराटम् उपासदत् प्राप्तवान्। अत्र त्रिदण्डग्रहणं पुनर्गार्हस्थ्यस्वीकारेऽपातित्यद्योतनाय, एकदण्डग्रहणे तु तन्नोपयुज्यते, अतएव रावणादीनामपि त्रिदण्डग्रहणे कृतेपि पुनर्गार्हस्थ्यं वर्ण्यते ॥६॥

त्रिदण्ड, काषाय वस्त्र तथा कमण्डलुसे युक्त होकर, ओङ्कार जपसे ओष्ठको कम्पित करते हुए युधिष्ठिर पैरमें काष्ठपादुका धारण करके सभामें वर्त्तमान पृथ्वीपति विराटके समीप पहुँचे ॥ ६॥

दृष्ट्वा तमुत्थितो मात्स्यो धृतप्रश्रयविस्मयः।
तत्पादपांसुं फालान्ते चक्रे तं पुनरासने ॥ ७॥

दृष्ट्वेति। तं सभायामुपस्थितं सन्न्यासिवेषं युधिष्ठिरं दृष्ट्वा धृतप्रश्रयविस्मयः प्रश्रयेण नम्रतया विस्मयेन कोऽयं महात्मेत्याश्चर्येण च युक्तः सन् उत्थितः प्रत्युत्थाय मात्स्यः विराटः तत्पादपांसुं धर्मराजस्य चरणरजः फालान्ते भालमूले शिरसि चक्रे स्थापितवान्, पुनः त युधिष्ठिरसन्न्यासिनम् आसने चक्रे उपवेशितवान्; अत्र नमस्कृत्युपवेशनक्रिये समाने कर्त्तरि समुच्चिते इति समुच्चयालङ्कारः ॥ ७॥

सभामें आये हुए सन्यासिवेषधारी धर्मराजको देखकर विराट नम्रता तथा विस्मयसे युक्त होकर उठकर खड़े हो गये, और संन्यासीके चरणरजको शिर पर रखा और युधिष्ठिररूप संन्यासीको उपयुक्त आसन पर बैठाया ॥ ७॥

दुर्वीरगर्वासहनोऽथ भीमो दर्वीकरोदर्शितसूदभावः ।
शोणाधरालोलुपसूतसूनोः प्राणानिलान्पारयितुं किलासीत् ॥ ८ ॥

दुर्वीरेति । दुर्वीराणाम् बकहिडिम्बादीनां दुष्टयोधानां गर्वस्य वीर्यावलेपस्य असहनोऽमर्षयिता भीमः शोणाधरायां रक्तौष्ठ्यां द्रौपद्यां लोलुपस्य सकामतयाऽऽसक्तस्य सूतसूनोः कीचकस्य प्राणानिलान् प्राणवायून् पारयितुं भोक्तुम् दर्वीकरः दर्व्या खजया युक्तबाहुः अत एव दर्शितसूदभावः प्रकटीकृतपात्रकलक्षणः आसीत् विराट्सदसि प्रकटीबभूव । प्राणानिलान् भोक्तुम् दर्वीकरः सर्पः दर्शितसूदभावः प्रकटीकृतघातकभाव इति च ध्वन्यते । युधिष्ठिरे प्रागागते सति भीमोऽपि खजां करेण धारयन् पाचकत्वेन तत्रागतः, मन्ये द्रौपदीं पापदृष्ट्या पश्यतः कीचकस्य प्राणानिलान् भक्षयितुमसौ घातकभावमापन्नः सर्प इवागत इत्याशयः ॥ ८ ॥

दुष्ट वीर बक, हिडिम्ब आदिके गर्वको नहीं सहनेवाले भीम द्रौपदीके विषयमें आसक्ति रखनेवाले पापी कीचकके प्राणोंको हरनेके लिये हाथमें दर्वी लेकर अपनेको पाचक बताकर विराटकी सभामें आये, प्राणवायुकी पारणा करनेके लिये सर्परूपमें घातक बनकर आ गये । दर्वीकर पदमें श्लेष है ॥ ८ ॥

पितुः सखायं परिपूज्यमेधैर्दिने दिने तृप्तिमिवोपनेतुम् ।
सूदाकृतिः सोऽपि ययौ विराटं वृकोदरो वृत्तशरावपाणिः ॥ ९ ॥

पितुरिति । परिपूज्यम् अत्यन्तादरपात्रम् पितुः वायोः सखायं सुहृदम् अग्निम् एधैः शुष्ककाष्ठैः दिने दिने प्रत्यहम् तृप्तिम् सन्तुष्टिम् उपनेतुं लम्भयितुम् इव सोऽपि वृकोदरः भीमः वृत्तशरावपाणिः करधृतविस्तृतास्यपात्रः अत एव सूदाकृतिः पाचकरूपधरः सन् विराटं नाम नृपतिं ययौ प्राप्तवान् ॥ ९ ॥

अपने पिता वायुदेवके मित्र अतएव पिताकी तरह अत्यन्त पूजनीय अग्निको प्रतिदिन शुष्क काष्ठसे तृप्त करनेके लिये भीम भी पाचकरूपमें चौड़ा मुँहका पात्र-कठौता वगैरह-लिये हुए विराटके सामने आये ॥ ९ ॥

कुलशैलशृङ्ग इव जंगमे तदा कुरुकुञ्जरे चलति कम्पनं मुहुः ।
वसुधैव तस्य न पुरस्य केवलं वहति स्म कीचकभुजाप्यदक्षिणा ॥ १० ॥

कुलशैलशृङ्ग इति । जङ्गमे चले कुलशैलशृङ्गे महापर्वतशिखरे इव तदा तस्मिन् समये कुरुकुञ्जरे कुरुश्रेष्ठे भीमे चलति विराटसमीपगमनार्थं प्रतिष्ठमाने सति केवलं तस्य पुरस्य विराटनगरस्य वसुधा भूरेव मुहुः कम्पनं न वहति स्म लभते स्म अपितु अदक्षिणा वामा कीचकभुजा अपि कम्पनं वहति स्म । भीमाकृतौ चलकुलशैलशिखरोपमे भीमे तदा विराटमुपसर्पति सति केवलं तस्य नगरस्य धरैव

---

१. 'दर्वीकरा' । २. पाययितुम्' । इति पा० ।

न चकम्पे, अपितु कीचकस्य वामबाहुरपि पुस्फोर। वामबाहुस्फुरणमनिष्टद्योतकं बोध्यम्। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः॥ १०॥

चलनशील कुलशैलशिखरके समान भीषणकाय भीम जब विराटकी सभामें उपस्थित होनेके लिये जा रहे थे उस समय केवल उस नगरकी पृथ्वी ही नहीं हिलने लगी, वरन् कीचकका बायाँ हाथ भी फड़कने लगा था॥ १०॥

महानसेऽवतरतो जनस्य स पतिः कृतः।
महानसेवत रतो मात्स्यं स्वादुषु कर्मसु॥ ११॥

महानस इति। सः महान् विशालकायः भीमः महानसे अवतरतः पाकशालायाम् अधिकृतस्य जनस्य लोकस्य पतिः स्वामीकृतः प्रधानपाचकतया नियुक्तः सन् स्वादुषु रुचिकरीषु कर्मसु पाकक्रियासु रतः संलग्नः सन् मात्स्यं विराटम् असेवत सिषेवे; रुच्यैर्भोजनैस्स्वस्वामिनमाराधयामासेत्यर्थः॥ ११॥

विशालकाय भीमको विराट्ने अपनी पाकशालामें काम करनेवाले लोगोंका प्रधान बनाकर नियुक्त कर दिया, और उस पद पर रहकर भीमने स्वादिष्ट भोजन बनानेमें निरत रहकर अपने स्वामीकी सेवा की, स्वादिष्ट भोजनोंसे विराटकी तृप्ति सम्पादित की॥ ११॥

स्त्रीत्वेन योगः खलु वीरगर्ह्यः पुंस्त्वेन चान्तःपुरवासविघ्नः।
इतीव षण्ढत्वमवश्यभाव्यमादाय पार्थोऽपि जगाम मात्स्यम्॥१२॥

स्त्रीत्वेनेति। स्त्रीत्वेन योगः स्त्रीरूपधारणम् वीरगर्ह्यः अस्मादृशवीरजननिन्दितः, पुंस्त्वेन पुंरूपेण च अन्तः पुरवासविघ्नः अवरोधेऽवस्थानस्य प्रतिबन्धः, इति इव अत एव अवश्यभाव्यम् आवश्यककल्पनम् षण्ढत्वम् नपुंसकभावम् आदाय स्वीकृत्य पार्थः अर्जुनः अपि मात्स्यम् विराटम् जगाम प्राप। स्त्रीत्वस्य वीरजननिन्दिततया पुंस्त्वस्य चान्तपुरवासप्रतिबन्धकतया तदुभयस्वीकारस्यायोग्यत्वे षण्ढत्वमवश्यंभावीति षण्ढभावमवलम्ब्य पार्थो विराटमुपासीदिति तात्पर्यम्॥ १२॥

स्त्रीका रूप धारणकरना अर्जुन ऐसे वीरके लिये निन्दनीय था, और पुरुषरूपमें रहने पर अन्तःपुरवासमें विघ्न था, इसीलिये नपुंसक बनना आवश्यक हो गया, और पार्थने नपुंसकका रूप अपनाकर विराटकी सभामें प्रवेश किया॥ १२॥

कृतवसतिरसौ नृपस्य कन्यागृहभुवि नर्तयति स्म तालपाणिः।
मधुकरमुखरो लता वनान्ते मलयगिरेरिव मारुतप्ररोहः॥ १३॥

कृतवसतिरिति। तालं कांस्यनिर्मितवाद्ययन्त्रभेदो नर्त्तकोपयुक्तः पाणौ यस्य तादृशः असौ बृहन्नडाख्यः षण्डवेशधरोऽर्जुनः नृपस्य विराटस्य गृहभुवि गृहे अन्तःपुरे कृतवसतिः विहितावस्थितिः सन् कन्याः उत्तराप्रभृतीः विराटबालिकाः मधुकरमुखरः भ्रमरैर्झङ्कारितः वनान्ते वनभूमौ मलयगिरेः मारुतप्ररोहः मन्दवायुः

लता इव नर्त्तयतिस्म अनर्त्तयत्। यथा भ्रमरैः शब्दायमानैर्मुखरीकृतो दक्षिण-पवनो वने लता नर्त्तयति तथा तालपाणिर्विराटगृहेऽवस्थितोऽर्जुनो विराटस्योत्तरादिकाः पुत्रीः नृत्यकलाम् अशिक्षयदित्यर्थः। भ्रमरशब्दस्तालरवेण वायुरर्जुनेन वनं गृहेण कन्याश्च लताभिरुपमिता बोध्याः। उपमालङ्कारः॥ १३॥

जिस प्रकार भ्रमरके शब्दोंसे मुखरित मलयाचलका मन्द पवन काननमें लताओंको नचाया करता है उसी प्रकार कठताल-मजीराप्रभृति वाद्ययन्त्र हाथमें लिये अर्जुनने विराटके अन्तःपुरमें रहकर उनकी उत्तराप्रभृति कन्याओंको नचाया, नृत्यकलाकी शिक्षा दी॥ १३॥

मम ध्वजाङ्कस्य बिभर्ति संज्ञामसाविति प्रेमभरादुपेतः।
प्रसूनधन्वेव सुतोऽपि माद्र्या मत्स्येन्द्रमागत्य ननाम मूर्ध्ना॥ १४॥

ममेति। असौ विराटः मम कामस्य ध्वजाङ्कस्य ध्वजचिह्नम् तस्य मत्स्यस्य संज्ञां नाम मत्स्येन्द्रशब्दावयवं मत्स्यपदम् बिभर्ति धारयति इति प्रेमभरात् स्नेहातिशयात् उपेतः आगतः प्रसूनधन्वा कामदेव इव उपेतः प्राप्तः माद्रीसुतः नकुलः अपि आगत्य सभां प्रविश्य मत्स्येन्द्रं विराटं मूर्ध्ना ननाम शिरसा प्रणनाम। काम एव—अयं विराटो मम ध्वजचिह्नभूतमत्स्यस्य संज्ञां मत्स्येन्द्रतया बिभर्त्तीति स्नेहातिशयात् माद्रीपुत्ररूपधरः सन् आगत्य सभायां विराटं प्राणंसीदित्यर्थः। एतेन नकुलस्य कामसमानरूपता ध्वनिता॥ १४॥

यह मत्स्येन्द्र विराट हमारे ध्वजचिह्न मत्स्यके नामका धारण कर रहा है इसीलिये प्रेमसे आये हुए कामदेवके समान लगनेवाले माद्रीपुत्र नकुलने सभामें आकर विराट को शिर नवाया॥ १४॥

तं पश्यन्नकुलं राजा तन्द्रालुर्दृङ्निमेषणे।
निजां मत्स्येश्वराभिख्यां निनाय प्रकटार्थताम्॥ १५॥

तं पश्यन्निति। तं नकुलं पश्यन् अवलोकमानः दृशोः निमेषणे मीलनव्यापारे तन्द्रालुः प्रमादयुक्तः निर्निमेषभावेन तमालोकयन् राजा विराटः निजाम् स्वीयां मत्स्येश्वरः महामत्स्यः मत्स्यानामीश्वर इति वा अभिख्यां संज्ञाम् प्रकटार्थताम् अन्वर्थभावं निनाय प्रापितवान् 'सुरमत्स्यावनिमेषौ भवतः' शास्त्रप्रसिद्ध्यनुसारं मत्स्या अनिमेषा भवन्ति, मत्स्येश्वरेणापि सुतरामन्वर्थसंज्ञेन भाव्यं तेनायं विराटो नकुलावलोकनवेलायां विस्मृतनिमेषतया मत्स्येश्वर इति स्वं नाम यथार्थयामासेति भावः। गम्योत्प्रेक्षालङ्कारः काव्यलिङ्गेन सङ्कीर्यते॥ १५॥

राजा विराट जब नकुलको देखने लगे तब वे पलक गिराना भूल गये, उस समय

१. 'मात्स्येश्वरा'। इति पा०।

ऐसा लगा मानों वे 'मत्स्येश्वर' संज्ञाको सार्थक बना रहे हों, मछली और देवता अनिमेष होते हैं, राजा भी मत्स्येश्वर हैं तो इनको अनिमेष होना ही चाहिये ॥ १५ ॥

कशां करे स बिभ्राणं शशाङ्ककुलभूषणम् ।
मन्दुरापतिमातेने तं दुरापपराक्रमम् ॥ १६ ॥

कशामिति । स विराटः शशाङ्ककुलभूषणं चन्द्रवंशालङ्काररूपं दुरापपराक्रमं शत्रुदुरासदवीर्यं तं नकुलम् कशाम् अश्वदमकं करे बिभ्राणम् धारयन्तम् मन्दुरापतिम् वाजिशालाऽधिकृतम् आतेने कृतवान् । नकुलस्य करधृतकशत्वेन अश्वविद्यानैपुण्यं विभाव्य विराटस्तं स्वाश्वशालाऽधिकारे न्ययुङ्क्त, 'यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत्' इत्युक्तेः ॥ १६ ॥

राजा विराटने जब चन्द्रकुलदीपक तथा शत्रुदुर्लभपराक्रम नकुलको हाथमें चाबुक लिये हुए देखा, तब उन्होंने समझ लिया कि यह अश्वविद्याके विशेषज्ञ हैं, अतः विराटने नकुलको अपने अस्तबलका मुख्याधिकारी बना दिया ॥ १६ ॥

अस्मत्तिरोधिवसतेर्भवितान्तहेतु-
रेतद्दिनैः कतिपयैरिति जानतेव ।
पाण्डोः सुतेन चरमेण च तस्य राज्ञो
वृन्दं गवां प्रजुगुपे पृथुकौतुकेन ॥ १७ ॥

अस्मदिति । एतत् गवां वृन्दम् अस्मत्तिरोधिवसतेः अस्माकं गुप्तवासस्य कतिपयैः स्वल्पैः कतिभिश्चन दिनैः अन्तहेतुः अवसानकारणं भविता भविष्यति इति जानता इव अवगच्छता इव चरमेण अन्तिमेन पाण्डोः सुतेन सहदेवेन पृथुकौतुकेन अत्यन्तोत्कण्ठया गवां वृन्दं गोसमूहः प्रजुगुपे रक्ष्यते स्म । अयमाशयः—एतद्गवां वृन्दं कतिपयैरेव वासरैरस्माकं गुप्तवासस्यान्ते हेतुत्वं प्राप्स्यतीति जानन्निव सहदेवो विराटस्य गाः परेण कुतूहलेन ररक्षेति । विराटस्य गोषु शत्रुभिर्हृतासु पाण्डवास्तद्रक्षाकाले प्रकटीबभूवुरिवेति कथाऽत्र ध्यातव्या । सहदेवो विराटाज्ञया तद्गोकुलं पर्यपालयदिति परमार्थः ॥

यह गोवृन्द ही कुछ दिनोंमें हमारे अज्ञातवासके अन्तका कारण होगा, इस गोवृन्दके हरण होने पर हमारा यह अज्ञातवास समाप्त होगा, हमें प्रकट होकर इनकी रक्षा करनेके लिये लड़नाहीं पड़ेगा, इस बातको जानते हुएसे अन्तिम पाण्डुपुत्र सहदेवने पूरी उत्सुकताके साथ विराटके गोवृन्दकी रक्षा की, विराटने सहदेवको गोवृन्दकी रक्षामें नियुक्त कर दिया ॥ १७ ॥

आगता नगरवासवाञ्छया देवतेव विपिनस्य पार्षती ।

---

१. 'तिरोधिविरतेः' । २. 'भवितात्र हेतुः' । इति पा० ।

केलिपुष्पमिव दन्तकङ्कतं बिभ्रती नृपवधूमुपागमत् ॥ १८ ॥

आगतेति । नगरवासवाञ्छया ग्रामवाससुखमनुभवितुम् आगता आयाता विपिनस्य वनस्य देवता अधिष्ठात्री इव प्रतीयमाना पार्षती द्रौपदी, केलिपुष्पं क्रीडाकुसुमम् इव दन्तकङ्कतं गजदन्तनिर्मितं केशप्रसाधनयन्त्रं बिभ्रती सती नृपवधूम् विराटस्य प्रधानमहिषीं सुदेष्णाम् उपागमत् आगता । हस्ते कङ्कतमादाय द्रौपदी सैरन्ध्रीभावं व्यञ्जयन्ती सती सुदेष्णायाः समीपदेशं गता, तदानीं सा नगरवासेच्छयाऽऽगता करधृता लीलाकुसुमा वनदेवतेव प्रतीयतेस्मेति तात्पर्यम् । उत्प्रेक्षालङ्कारः । 'प्रसाधनी कङ्कतिका' इत्यमरः ॥ १८ ॥

द्रौपदी हाथमें केश साफ करनेका साधन हाथीदाँतकी बनी कंघी लिये हुई विराट की रानी सुदेष्णाके समीप पहुँची, उस समय वह ऐसी लग रही थी मानों हाथमें श्वेत लीलासुमन लिये नगरमें वास करनेकी इच्छा रखनेवाली वनदेवता आ गई हो ॥ १८ ॥

सैरन्ध्रीरूपभाजोऽस्या जातिनैच्यान्नतं शिरः ।
सुदेष्णायास्तु [1]तां दृष्ट्वा सुन्दरीं [2]व्रीलगौरवात् ॥ १९ ॥

सैरन्ध्रीति । सैरन्ध्रीरूपभाजः प्रसाधिकारूपधरायाः अस्या द्रौपद्याः शिरः मस्तकं जातेः सैरन्ध्रीकुलस्य नैच्यात् नीचत्वात् नतम् अवनतम् आसीत्, स्वां नीचे सैरन्ध्रीवंशे जातां दर्शयितुं द्रौपदी मस्तकं नतं कृत्वाऽतिष्ठदित्यर्थः । सुदेष्णायाः विराटपत्न्याः शिरस्तु तां सुन्दरीम् सर्वावयवानवद्यां द्रौपदीं दृष्ट्वा व्रीलगौरवात् लज्जातिशयात् नतमभूदिति योजनीयम् ॥ १९ ॥

सैरन्ध्रीरूपधारिणी द्रौपदीका सिर इसलिये झुका था कि उसे सैरन्ध्रीवंशमें उत्पन्न होनेके कारण अपनी जातिकी नीचता अभिव्यञ्जित करना पड़ रहा था, और उस परम सुन्दरीको देखनेके कारण उत्पन्न लज्जा—स्वापकृष्टत्वप्रकारकज्ञानजन्य सङ्कोचसे सुदेष्णाका भी सिर नीचा हो रहा था, वह भी द्रौपदीके रूपको देखकर लज्जासे गड़ी जा रही थी ॥ १९ ॥

वनभुव इव माधवोदयश्रीर्मनुजपतेरवरोधयोषितोऽसौ ।
अनुदिनमखिलालिलालनीयैरलमकरोत्तिलकैरतीव दृश्यैः ॥ २० ॥

वनभुव इवेति । असौ द्रौपदी माधवोदयश्रीः वसन्तागमलक्ष्मीः वनभुवः वनस्थलीः इव मनुजपतेः विराटस्य अवरोधयोषितः स्त्रियः अखिलालिलालनीयैः समस्तसखीप्रशंसनीयैः सकलभ्रमरहृद्यैः अतीवदृश्यैः सस्पृहनिरीक्षणीयैः तिलकैः चित्रकैः तिलकवृक्षविशेषैश्च अनुदिनम् प्रत्यहम् अलमकरोत् प्रसाधितवती । यथा वसन्तागमशोभा समस्तभ्रमरकाम्यैः अत्यन्तसुन्दरैस्तिलकवृक्षैर्वनभुवोऽलङ्करोति

---

१. 'वीक्ष्यैनाम्' । २. 'व्रीडपीडनात्' । इति पा० ।

तथाऽसौ सैरन्ध्रीपदे नियुक्ता द्रौपदी समस्तजनवन्दनीयैस्सस्पृहनिरीक्षणीयैस्तिलकैर्मनुजेश्वरस्य विराटस्यान्तःपुरिकाः प्रत्यहमलङ्कारेति भावः। श्लिष्टविशेषणसाधर्म्योपमाऽलङ्कारः॥ २०॥

जैसे वसन्तागमकी शोभा वनभूमिको भ्रमरों द्वारा प्रार्थित अत्यन्त दर्शनीय तिलकतरुसे अलंकृत करती है उसी तरह सैरन्ध्री पद पर नियुक्त होकर द्रौपदी विराटके अन्तःपुरकी रमणियोंको समस्त सखीजनसे प्रशंसित अत्यन्त सुन्दर लगनेवाले तिलकों (चित्रकों) से प्रतिदिन अलंकृत किया करती थी॥ २०॥

अनन्तरं स्ववशा [1]पाञ्चालसुता भृशमादृतकङ्कतमतिरसोत्पादनचणमधिकशोभनाटनपाटवमाश्रितगन्धर्वकुलमाकलितगोत्रा[3]न्तरं प[4]ञ्चधा रूपमुदञ्चयन्ती प[5]ञ्चापि पतीननुयातवती॥

अनन्तरमिति। अनन्तरम् एवं सर्वेषु विराटगृहे गुप्तरूपेण तिष्ठत्सु स्ववशा स्वाधीना शिल्पकारिका च पाञ्चालसुता द्रौपदी भृशम् अत्यर्थम्—आदृतकङ्कतम् तदीयः प्रथमः पतिर्युधिष्ठिरः कङ्कतां तदाख्यामाद्रियत इति सा स्वयमपि कङ्कतं प्रसाधनयन्त्रमाद्रियते-तेनादृतकङ्कतम् अतिरसोत्पादनचणम् तदीयो द्वितीयः पतिर्भीमो महानसाधिकृततया नवरसोत्पादने रुच्यभोजनसम्पादने प्रथते, द्रौपद्यपि द्रष्टॄणां श्रृङ्गारभावविर्भावयतीति अतिरसोत्पादनचणम्, अधिकशोभनाटनपाटवम् अर्जुनः समधिकशोभाशालिनृत्यकौशलं प्रकाशयति साऽपि अधिकं के शिरसि इति अधिकं शोभाया अलङ्करणजन्यश्रियः नाटने योजने पाटवं चातुर्यं बिभर्त्तीति, आश्रितगन्धर्वकुलम् एतत्पतिषु चतुर्थोऽश्वकुलरक्षकतया नियुक्त इयमपि गन्धर्वाणां स्वपतीनां कुलमाश्रिता, आकलितगोत्रान्तरम्—सहदेवो गोत्राया गोवृन्दस्यान्तरं मध्यमधितिष्ठति, इयमपि गोत्रान्तरम् सैरन्ध्रीति भिन्नां संज्ञाम बिभर्त्तीति, पञ्चधा रूपम् पञ्चप्रकारकं स्वरूपमुदञ्चयन्ती धारयन्ती पञ्चापि पतीननुयातवती स्वक्रिययाऽनुसृतवती, पत्यनुसरणस्य पतिव्रताधर्मतया सा पञ्चापि पतीननुससारेति भावः॥

इसके बाद शिल्पकारीके रूपमें नियुक्ता उस द्रौपदीने अपने रूपको पाँच प्रकारका बनाकर अपने पाँचो पतियोंका अनुगमन किया, क्रियारूपमें उनका साथ दिया—युधिष्ठिरने कङ्क नाम रखकर 'आदृतकङ्कत' पद पाया, उसने कङ्कत—कङ्घी धारण करके 'आदृतकङ्कत' नाम पाया। भीमने रुचिकर पाक बनाकर—'अतिरसोत्पादनचण' की पदवी पाई, उसने स्वीयरूप द्वारा लोगोंमें रसकी उत्पत्ति करके। अर्जुनने नाट्यकलाकी विशेषज्ञताके चलते 'अधिकशोभनाटनपाटव' पदमे प्रशंसा पाई, उसने सिरमें जूड़ा

---

१. 'स्ववशा भ्रमादृत'। २. 'अधिगत'। ३. 'गोत्रापलापं'। ४. 'पञ्चानामपि'। ५. 'पाञ्चालनृपतिसुता पञ्चापि'। इति पा०।

बांधना, उसे सजाना आदिसे। नकुलने गन्धर्व-अश्व-कुलका आश्रय लिया, उसने अपने पति रूप गन्धर्वोंके कुलका। सहदेवने 'आकलितगोत्रान्तर' गायोंके बीचमें वास किया, उसने अपना गोत्रान्तर-नामभेद, दूसरा नाम-किया, इस प्रकार द्रौपदीने पाँच रूप बनाये, जिससे पञ्चरूपतापन्न पतियोंका अनुकरण कर सके और अपना पातिव्रत्य कायम रख सके 'गोत्रा गोनिचये' 'गोत्रं नाम च कथ्यते ॥

विमतानपि तैर्जित्वा विवासमिव दायकः ।
अक्षेष्वकुरुतावृत्तिमवनीन्द्रेण धर्मभूः ॥ २१ ॥

विमतानपीति । धर्मभूः युधिष्ठिरः तैः अक्षैः अपि विमतान् शत्रून्दुर्योधनादीन् जित्वा विवासं तेषां राज्यभ्रंशं दायकः वितरिष्यन्निव अवनीन्द्रेण राज्ञा विराटेन सह अक्षेषु द्यूतक्रीडासु आवृत्तिं पुनः पुनरभ्यासम् अकृत । युधिष्ठिरोऽनवरतं विराटेन सह द्यूतेन क्रीडति, मन्ये स द्यूते शत्रून्विजित्य तेभ्यो राज्यभ्रंशं दित्सतीत्युत्प्रेक्षा । 'विवासं दायकः' इत्यत्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ २१ ॥

कङ्क नामधारी युधिष्ठिर सतत राजा विराटके साथ जूआ खेलते रहते थे, मानो वह जूआ खेलनेका खूब अधिक अभ्यास इसलिये कर रहे हों कि जिससे शत्रुओंको जूआके द्वारा भी (अस्त्रसे हराना तो निश्चित ही है) हराकर राज्यभ्रंश दे सकें ॥ २१ ॥

एवं तैस्तैः स्वकृत्यैः संपादितं शिरःकम्पं वयःकृतमिव संततमनुभवताऽनेन महीपतिना बहुमानिताः पृथासुताः यथा त्रिवासनखेदं तथा तदीयमपि स्वरूपमितरे जनास्तत्र नाज्ञासिषुः ॥

अथैकदा तत्र सुदेष्णायाः प्रेषणेन मदनोत्सवासवाय वासवायतनसदृशं वासगृहमागतां कौरवाधमकरपरिक्लेशादिव विवर्णेन वाससात्रगुण्ठिताङ्गीं नखशशिपरम्परासेवनलालसतयेव प्रपदसंमुखीनलोचननीलोत्पलां राजीवशङ्कयानुव्रजता राजहंसेनेव राजतभाजनेन राजितकराञ्चलां पाञ्चालसुतां विलोक्य पञ्चेषुबाणवञ्चितविवेको मञ्चादुपसृत्य किंचिदाकुञ्चितमौलिः कीचको नीचां वाचमुवाच,—

एवमिति । एवं तैस्तैः स्वकृत्यैः अङ्गीकृतैः साधितैश्चाश्वक्रीडापाकप्रबन्धकन्यानृत्यकलाभ्यासाश्वपर्यवेक्षणगवाध्यक्षतारूपैः सम्पादितं शिरःकम्पं श्लाघया शिरश्चालनं वयसा वार्धकेन कृतं कम्पमिव सन्ततम् सदा अनुभवता अनेन महीपतिना विरा-

---

१. 'कृतैः'। २. 'गेहम्'। ३. 'परिक्लेशदुःखादिव'। ४. 'अवकुण्ठिताङ्गीम्'। ५. 'रजत'। इति पा०।

टेन बहुमानिताः आदृताः पृथासुताः युधिष्ठिरादयः यथा विवासनखेदं राज्यभ्रंशकृतं कष्टं नाज्ञासिषु नाविदन् तथा तत्र विराटनगरे इतरे जनाः लोकास्तदीयं युधिष्ठिरादिसम्बन्धिस्वरूपं वास्तविकं परिचयम् नाज्ञासिषुः॥

अथ अनन्तरम् एकदा कदाचित् सुदेष्णायाः विराटवध्वाः प्रेषणेन आदेशेन मदनोत्सवासवाय कामोत्सवे उपयोक्ष्यमाणम् आसवं मद्यम् आनेतुम् वासवायतनसदृशम् इन्द्रगृहोपमम् वासगृहम् केलीभवनम् आगताम्, (कीचकवासगृहे स्थितं मद्यं नेतुं सुदेष्णाप्रेषणेन तद्वासगृहागतामित्यर्थः) कौरवाधमस्य नीचस्य दुःशासनस्य करेण परिक्लेशात् आमर्शनात् इव विवर्णेन मलिनेन वाससा वस्त्रेण अवगुण्ठिताङ्गीम् आच्छन्नदेहाम्, नखशशिपरम्परायाः नखरूपचन्द्रसमुदयस्य सेवनलालसतया सेवाभिलाषेण—पादस्थनखरूपचन्द्राराधनकामनया इव प्रपदसंमुखीनलोचननीलोत्पलाम् पादाग्रपतितनयनरूपनीलकमलाम्, (द्रौपद्या नीलकमलसमाने नयने सदा पादौ पश्यतः मन्ये तदीये नेत्ररूपे नीलकमले कदाप्यलब्धावसरतया नखशशिमालामाराधयितुमिव तत्र गते इति भावः) राजीवशङ्कया द्रौपद्याः करे रक्तकमलत्वभ्रमेण राजहंसेन इव राजतभाजनेन रजतनिर्मितासवपात्रेण राजितकराञ्चलाम् शोभितहस्ताग्रभागाम्, (द्रौपद्या कराग्रे स्थितं रजतनिर्मितं मद्यभाण्डं हंसः स हि द्रौपद्या करोऽयं रक्तकमलमिति भ्रान्त्येव तत्र स्थित इति तात्पर्यम्) पाञ्चालसुतां द्रौपदीम् विलोक्य दृष्ट्वा पञ्चेषुबाणैः कामशरैः वञ्चितः अपहृतः विवेकः कृत्याकृत्यज्ञानं यस्य तादृशः सन् मञ्चात् स्वासनात् उपसृत्य द्रौपद्याः पार्श्वमागत्य किञ्चिन्नतमस्तकः सन् कीचकः नीचाम् निन्द्याम् अयोग्याम् वक्ष्यमाणलक्षणां वाचमुवाच उक्तवान्॥

इस प्रकार अपने अपने कार्यों—जूआ खेलना, पाकप्रबन्ध, लड़कियोंको नृत्य सिखलाना, घोड़ोंकी देख रेख, गायोंकी रक्षा आदि—से प्रशंसाके लिये कंपाये गये शिरको बुढ़ापेके कारण भी काँपते हुए समझने वाले राजा विराटके द्वारा आदरप्राप्त वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि जैसे अपने राज्यभ्रंशजात कष्टको नहीं जान सके, उसी प्रकार वहाँके रहनेवाले उनके वास्तविक परिचयको भी नहीं जान सके॥ इसके बाद किसी समय सुदेष्णाकी प्रेरणासे कामक्रीड़ामें उपयुक्त होनेवाले मद्य लानेके लिये द्रौपदी कीचकके क्रीड़ागृहमें गयी जो क्रीडागृह इन्द्रके गृहकी तरह सजा था, दुःशासनके हाथसे छुए जानेके कारण मलिनसे वस्त्रोंसे द्रौपदी अपनेको आच्छादित किये थी, उसके नेत्ररूप नीलकमल उसके पदाग्र पर थे, मानों वे नीलकमल उसके चरणनखरूप चन्द्रपङ्क्ति की सेवाकी इच्छासे वहाँ आये थे, उसके हस्ताग्रमें चांदीका पात्र था, वह राजत पात्र ऐसा लग रहा था मानो द्रौपदीके हाथको रक्तकमल समझकर राजहंस उस पात्रके रूपमें उसके हाथ पर विराजमान हो, ऐसी द्रौपदीको देखकर कामके बाणों द्वारा हर लिया गया है कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान जिसका ऐसा वह कीचक अपने मञ्च—आसन—से

उतरकर द्रौपदीके पास आ गया, और सिर झुकाकर इस प्रकारकी गन्दी बात कहने लगा ॥

इदमेव हि सद्म भद्रभद्रं यदिदानीं तव मार्दवज्ञमङ्घ्रेः ।
अयमप्यहमस्मि धन्यधन्यो हरिणाक्षि ! त्वदपाङ्गगोचरो यः ॥ २२ ॥

इदमेवेति । हे हरिणाक्षि मृगलोचने, सैरन्ध्रि, इदमेव हि सद्म एतदेव मदीयं गृहम् भद्रभद्रम् अतिशयकल्याणभाजनम् अस्ति, यत् इदं गृहम् सम्प्रति तव अङ्घ्रेः चरणस्य मार्दवज्ञम् मृदुत्वज्ञानवत् । इदं गृहमधुना तव चरणकोमलताज्ञानेन धन्यं जायत इत्यर्थः । यस्तव अपाङ्गगोचरः दृक्पातविषयः दृश्यो जातः (सः) अयम् अहमपि धन्यधन्यः अतिभाग्यभाजनमस्मीति शेषः । गृहमिदं त्वच्चरणस्पर्शेनाहं च दृक्पातेन धन्यौ जातावित्यर्थः । अतिशयोक्तिः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ २२ ॥

हे मृगलोचने सैरन्ध्रि, हमारा यह गृह आज धन्य हो रहा है जो तुम्हारे चरणोंकी कोमलताका ज्ञान पा रहा है, और आज मैं भी धन्यधन्य हो रहा हूँ कि तुम्हारे नयन मुझ पर पड़ रहे हैं, तुम मुझे देख रही हो ॥ २२ ॥

नतगात्रि ! यदागमेन मां नयसे मोदगिरेरधित्यकाम् ।
चिरपुण्यफलोदयश्रियां[1] दिवसो वैजननस्तदेष मे ॥ २३ ॥

नतगात्रीति । हे नतगात्रि, जघनस्तनभारनम्राङ्गि, त्वं विश्वाधिकसुन्दरी यत् यस्मात् आगमेन स्वीयेनागमनेन मां मोदगिरेः आनन्दरूपपर्वतस्य अधित्यकाम् उपरितनं प्रदेशम् नयसे, स्वयमागमनेन माम् अत्युच्चमानन्दशिखरमारोपयसि, महान्तमानन्दं प्रयच्छसीत्यर्थः, तत् एष मे दिवसः अद्यतनो वासरः चिरपुण्यफलोदयश्रियाम् चिराचरितसुकृतजन्यफलसमृद्धीनाम् वैजननः प्रसूतिमासः, अद्य मम सर्वाणि सुकृतानि फलदानप्रवृत्तानि, सर्वा अपि पुण्यक्रिया अद्य फलं दातुं प्रवृत्ताः, येन त्वां पश्यामि, इतरथा न दृश्येते दृशं रूपम् । एतेन त्वद्दर्शनं पुण्यातिशयलभ्यमिति ध्वनितम् । 'सूतिमासो वैजननः' इति कोशः, तत्र मासपदं दिनाद्युपलक्षकं बोध्यम् ॥ २३ ॥

हे नताङ्गी सैरन्ध्रि, तुमने स्वयम् यहाँ आकर जो मुझको आनन्दरूप पर्वतकी चोटी पर पहुँचाया है, महान् आनन्द प्रदान किया है, सो मालूम पड़ता है कि आजका दिन मेरे समस्त पुण्योंके लिये फल देनेका—फलप्रसव करनेका—है, प्रसूति काल है। हमारे सारे पुण्योंके बलसे ही आज तुम्हारे दर्शन प्राप्तकर मैं इस असीम आनन्दका उपभोग कर रहा हूँ ॥ २३ ॥

अन्वर्थता मालिनि ! तेऽभिधायाः कुतो न जागर्त्यधुना क्वचेषु ।

---

१. फलाङ्कुरश्रियां' । इति पा० ।

तस्याः प्रतीपोदितवर्णपङ्क्तेरर्थोऽथवालंकरणं ह्यमीषु ॥ २४ ॥

अन्वर्थतेति । हे मालिनि, पुष्पमालानिर्माणकर्त्रि सैरन्ध्रि, अधुना सम्प्रति ते कचेषु केशेषु तव अभिधायाः 'मालिनी' इति संज्ञायाः अन्वर्थता अर्थवत्ता माला-युक्तता कुतो न जागर्त्ति विद्यते, किमर्थं तव केशाः सम्प्रति माल्यानालंकृता इति प्रश्नाशयः, अथवा अमीषु तव केशेषु तस्याः 'मालिनी' इति तव संज्ञायाः प्रतीपम् विपरीतभावेन उदितायाः उच्चारितायाः वर्णपङ्क्तेः अक्षरसमुदयस्य 'नीलिमा' इत्येवं रूपस्य अर्थः श्यामत्वम् अलङ्करणं शोभाजनकम् अस्त्येवेति शेषः । तव केशेषु मुक्तापुष्पादिरचितमालापेक्षया स्वाभाविको निलिमैव विशेषशोभाकारक इत्या-शयः । आक्षेपालङ्कारः—'आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्' इति तल्लक्ष-णात् ॥ २४ ॥

हे मालिनि, तुम्हारे इन केशोंमें आज तुम्हारे नामकी अन्वर्थता मालिनि पदकी यथार्थता—माल्यवत्ता—क्यों नहीं है, तुमने आज अपने केशोंको मालासे क्यों नहीं सजाया ? अथवा मालाकी क्या आवश्यकता है ? तुम्हारे नामके अक्षरोंको उल्टा लिखने-बोलने पर बनने वाले पद–नीलिमा शब्दका अर्थ कालापन ही उसका स्वाभाविक अलङ्कार है ॥ २४ ॥

बाह्वोरनङ्गदत्वस्य बाले ते कारणे उभे ।
एकं तयोस्तु लावण्यमितरन्नावगम्यते ॥ २५ ॥

बाह्वोरिति । हे बाले, ते तव बाह्वोः भुजयोः अनङ्गदत्वस्य कामवासनासमेधक-त्वस्य कामोद्दीपकत्वस्य अङ्गदाख्यभूषणशून्यत्वस्य च उभे कारणे द्वौ हेतू संभवत इति शेषः, तयोर्द्वयोः कारणयोर्मध्ये अनङ्गदत्वस्य कामवासनोद्दीपकत्वस्य एकं का-रणं लावण्यम् अवगतम् दर्शनेनैवावधारितम्, इतरत् अङ्गदराहित्यस्य कारणं नाव-गम्यते नावबुध्यते, तवेदृशसुन्दर्याः अङ्गदालाभस्तु न कारणं संभवति, गर्भकृतं स्थौल्यमपि न दृश्यते, तत्किमित्यङ्गदं विना तव बाहू इति न वेद्मीत्यर्थः ॥ २५ ॥

हे बाले, तुम्हारे हाथ अनङ्गद–कामोद्दीपक तथा अङ्गद केयूरशून्य–हैं, इसके दो कारण होंगे, उनमें कामोद्दीपक होनेका कारण तुम्हारा लावण्य तो मालूम है, देखनेसे ही ज्ञात है, परन्तु भूषणशून्यताका कारण नहीं समझ पा रहा हूँ ॥ २५ ॥

अरम्यभावं भजते जगत्यामङ्गेषु किंचिद्विकलोऽपि लोकः ।
[1]संदृश्यसे त्वं निखिलेन बाले मध्येन हीनापि मनोज्ञमूर्तिः ॥ २६ ॥

अरम्यभावमिति । अङ्गेषु करचरणादिशरीरावयवेषु किञ्चिद् विकलः ईषद्वैगु-ण्यवान् आंशिकदोषयुक्तः अपि लोकः जगत्याम् संसारे अरम्यभावम् कुरूपत्वम्

१. 'निरीक्ष्यसे त्वं तु विचित्रमेतन्मध्येन' । इति पा० ।

भजते प्राप्नोति, अङ्गेषु सत्स्वपि क्वचिदङ्गविशेषे कामपि वक्रत्वादिलक्षणां स्वल्पां त्रुटिम् धारयन्नपि जनः कुरूपतया प्रथामधिगच्छतीत्यर्थः । हे बाले, त्वं तु निखिलेन समस्तेन मध्येन कटिभागेन हीना रहिताऽपि मनोज्ञमूर्त्तिः रमणीयाकृतिः सन्दृश्यसे, अङ्गे किञ्चिद्दूषिते कुरूपताप्रथालोकस्य तव त्वेकस्याङ्गस्य सर्वथाऽसत्त्वेऽपि न सौन्दर्यक्षतिरपि तु मनोज्ञता समृद्धिरिति लोकोत्तररूपसम्पत्तिरसित्वमित्याशयः ॥ २६ ॥

इस संसारमें वह व्यक्ति अरम्य-कुरूप-माना जाता है जिसके किसी भी अङ्गमें थोड़ा भी वैकल्य-त्रुटि, वक्रत्वादि दोष-होता है, परन्तु हे बाले, तुम्हारा तो कटिभाग सोलहो आने गायब है, अत्यन्तासत् है फिर भी तुम सुन्दरी ही दीख पड़ती हो, यह आश्चर्यजनक तुम्हारे सौन्दर्यकी विशेषता है ॥ २६ ॥

न पल्लवस्तन्वि ! न विद्रुमश्च ताम्रोऽधरोऽयं तव बिम्बमेव ।
चन्द्रो यदि स्यात्तव वक्रमेतच्चन्द्रस्य बिम्बं सहजं हि लोके ॥ २७ ॥

न पल्लव इति । हे तन्वि, ताम्रः अरुणः अयं तवाधरः न पल्लवः किसलयः नापि विद्रुमः प्रवालः, (किन्तु) बिम्बम् रक्तःफलभेद एव अस्तीति शेषः । तव एतत् दृश्यमानं वक्त्रं मुखं यदि चन्द्रः स्यात् तदा चन्द्रस्य बिम्बं मण्डलं सहजं स्वाभाविकं लोकेऽस्ति । अयमाशयः—मुखस्य चन्द्रत्वे तवाधरस्यापि बिम्बत्वं सिद्धमेव, चन्द्रस्य बिम्बसहचरितत्वात्, तथा च तवेदं मुखमिन्दुरिति निर्णये जाग्रति तत्सहचरस्यौष्ठस्यापि बिम्बत्वे प्रतिपन्ने तत्र पल्लवत्वस्य विद्रुमत्वस्य वा संशयो न संभवतीति । अत्र भेदेऽभेदातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २७ ॥

हे तन्वि, तुम्हारा यह ओठ न पल्लव है, और न प्रवाल ही है, यह तो निश्चय रूपसे बिम्ब है, यदि तुम्हारा मुख चन्द्रमा है तब यह ओष्ठ बिम्ब ही होगा, क्योंकि बिम्ब (मण्डल) चन्द्रमाका नित्य सहचर हुआ करता है ॥ २७ ॥

कान्ते ! तवाननमिदं कमलावलीषु
स्रष्टुं पुरा सरसि विस्मृतमेव धात्रा ।
पश्चाद्विचिन्तितवता[1] तदुपान्तभागे
संदृश्यते[2] विरचितः खलु हंसपादः ॥ २८ ॥

कान्ते इति । हे कान्ते प्रिये, तव इदं प्रत्यक्षरमणीयम् आननं मुखम् सरसि कमलाकरे कमलावलीषु कमलसमुदायेषु स्रष्टुं पुरा धात्रा विस्मृतम् एव, इदं तव मुखं कमलतया सरसि कमलकुलमध्ये विधाता स्रष्टुं विस्मृतवानिति निश्चितम् एव, तन्निश्चये कारणमाह—पश्चादिति । पश्चात् कमलानि निर्माय ततः परतः विचि-

---

१. 'विचिन्तनवता' । २. 'संलक्ष्यते' । इति पा० ।

न्तितवता ध्यातवता धात्रा तदुपान्तभागे कमलानां पार्श्वे विरचितः कृतः हंसपादः हंसचरणः हंसपादनामकं त्रुटिचिह्नं च संदृश्यते विलोक्यते। हंसपादो नाम त्रुटिसूचकश्चिह्नविशेषः। अयमाशयः—पुरा कमलानि निर्मातुं प्रवर्त्तमानो ब्रह्मा सरसि सर्वाण्यपराणि कमलानि निर्माय तत्र तव मुखरूपं कमलं निर्मातुं विस्मृतवान्, अतएव कमलानां पार्श्वे हंसपादं हंसपक्षिणां चरणं हंसपादनामकं त्रुटिचिह्नं च कृतवान्। यो भ्राम्यति स तत्र त्रुटिचिह्नं हंसपादं निर्माय त्रुटिमार्जनं करोति, कमलावलीमध्ये तव मुखं निर्मातुमुचितमासीत् तद्विस्मृतवता ब्रह्मणा कमलसमीपे हंसपादं निर्माय मार्जिता स्वीया त्रुटिरिति। अतिशयोक्तिरलङ्कारः, अनुमानं च ॥२८॥

हे कान्ते, सरोवरमें कमलपङ्क्तिका निर्माण करनेके समय ब्रह्मा तुम्हारे मुखका व नाना भूल गये, इसीलिये पीछे जब उनको अपनी गलती याद आई तब उन्होंने कमलोंके सामने हंसपाद-हंसोंका चरण और हंसपाद नामक त्रुटिचिह्न-लगा दिया जो दीखा करता है। जब लिखनेमें कुछ छूट जाता है तब लिखनेवाला सामनेकी पङ्क्तिमें एक तिरछा नुकीला चिह्न बनाकर त्रुटिकी सूचना देता है, उसी प्रकार सरोवरमें कमलोंके समूहमें तुम्हारे मुखका बनाना भूलकर ब्रह्माने हंसपादरूप चिह्न लगाकर अपना दोष मार्जित किया है ॥ २८ ॥

कूपस्य तीरे निवसन्नपायं को वा न धत्ते वद कोमलाङ्गि !।
त्वन्नाभिकूपस्य वसन्हि तीरे न दृश्यते संप्रति मध्यभागः ॥ २९ ॥

कूपस्येति। हे कोमलाङ्गि, कूपस्य तीरे समीपे निवसन् निवासं कुर्वन् को वा अपायं पतनलक्षणं विनाशं न धत्ते इति वद, सर्वोऽपि कूपसमीपे वसन् कदाचिदवश्यमेव कूपे निपत्यात्मानं विपादयेदित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—त्वन्नाभिकूपस्य कूपवद्गभीरायास्तव नाभेः तीरे तटे वसन् तिष्ठन् तव मध्यभागः कटिदेशः सम्प्रति नहि दृश्यते। कूपस्य तटे वसतो जनस्य कस्य निपातो न स्यादिति वद, दृष्टं हि मया तव नाभीकूपस्य पार्श्वे वसतो मध्यस्यादृश्यत्वलक्षणो निपातः। तदवश्यं त्वयापि मदुक्तदृष्टान्तद्वारा सिद्धान्तभूतोऽर्थः स्वीकरणीय इति भावः। अर्थान्तरेण नाभेरतिगाम्भीर्यप्रतीतेरलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ २९ ॥

हे कोमलाङ्गि, कूपके किनारे वास करनेवाला कौन नाशको नहीं प्राप्त करता है, बताओ तो, अर्थात् कूपके समीप रहनेसे सबका नाश निश्चित ही है, देखो तुम्हारे नाभीकूपके पास रहने वाला तुम्हारा मध्यभाग नहीं दीख रहा है, वह भी कूपके पास रहनेसे ही मानो अदृश्य हो गया है ॥ २९ ॥

अक्षीणवक्रशशिसेवनलाभतोषा-
दालिङ्गितामिव मिथो रजनेस्त्रियामीम् ।

---

१. 'तटं निवासी'। इति पा०।

त्रेधा विभज्य रचितां वहसेऽद्य वेणीं
कं सिंहसंहननमूहयितुं वियुक्तम् ॥ ३० ॥

अक्षीणेति। अक्षीणः पूर्णो वक्त्रशशी मुखचन्द्रस्तत्सेवनस्य तत्परिचरणावसरस्य लाभेन अधिगमेन यो तोषः सन्तुष्टिस्तस्मादिव मिथः आलिङ्गिताम् अन्योन्याश्लिष्टाम् रजने त्रियामीम् रजन्यास्त्रीन् प्रहरानिव त्रेधा विभज्य रचिताम् वेणीं केशबन्धम् अद्य कं सिंहसंहननं विशिष्टरूप पुमांसम् वियुक्तम् ऊहयितुं तर्कयितुं वहसे धारयसि ? कस्य पुरुपरत्नस्य वियोगे वेणीं धारयसि ? स्ववेणीधरणेन कस्य पुरुषरत्नस्य वियुक्तत्वं लोकैरनुमापयसि ? तव हि वेणी परस्पराश्लिष्टा रात्रेस्त्रियामीव श्यामा साहि रात्रेस्त्रियामीमुखशशिसेवावसरलाभमासाद्येव परस्परमाश्लिष्यन्ती सती वेणीरूपं प्रपन्नेति भावः। प्रोषिते पत्यावेकवेणीधरं शिरो नार्यो वहन्ति, ततो वेणीधारणेन कं प्रियं वियुक्तमनुमानविषयतां नयसीति बोध्यम् ॥ उत्प्रेक्षाऽनुमानयोः सङ्करः ॥ ३० ॥

पूर्ण चन्द्रमा रूप मुखकी सेवाके अवसरको पा सकनेकी खुशीसे एक दूसरेसे लिपटी हुई (रातके तीनो प्रहरोंकी तरह) त्रियामीके समान तीन भागोंमें बाँटकर गूँथी गई इस वेणीको किस सुन्दर पुरुषके वियोगको तर्कित करानेके लिये माथे पर धारण करती हो ? जिस स्त्रीका पति बाहर होता है वह वेणी धारण करके उसके वियुक्त होनेकी अभिव्यक्ति करती है, तुम किसके वियोगमें यह वेणी धारण कर रही हो, तुम्हारा वह प्रियतम कौन है ? तुम्हारी यह वेणी ऐसी लगती है मानो मुखरूप पूर्ण चन्द्रमाकी सेवाका अवसर मिल जानेके सन्तोष-खुशीसे आपसमें लिपटी हुई त्रियामी-तीन प्रहर-हो ॥ ३० ॥

सुदति ! बहुपरागधूसरापि त्वमपहरस्यधुना मनो मदीयम्।
रतिरिव हरकोपदह्यमानस्मरतनुधूमलतावृताखिलाङ्गी[2] ॥ ३१ ॥

सुदतीति। हे सुदति, पूर्णयौवने, बहुना परागेण रजसा धूसरा मलिना अपि त्वम् कार्यकरीत्वेन नियुक्ततया धरापरागमलिनाऽपि त्वम् अधुना सम्प्रति हरकोपेन दह्यमानस्य महादेवक्रोधेन ज्वलन् यः स्मरः तस्य यस्तनुधूमः शरीरदाहसंभवो धूमस्तस्य लतया लेखया आवृतानि छन्नानि आखिलान्यङ्गानि यस्यास्तादृशी रतिः कामवधूः इव मे मम मनो हृदयम् अपहरसि आकर्षसि। धराधूलिधूसरतनुरपि त्वं शिवकोपानलदह्यमानकामदेहधूमलताच्छन्ना रतिरिव प्रतीयमानां मम स्वान्तं बलवदाकर्षसीति तात्पर्यम्। उपमाऽलङ्कारः ॥ ३१ ॥

हे युवति, धूलिधूसर शरीर होकर भी तुम इस समय हमारे हृदयका आकर्षण कर रही हो, धूलिधूसर रूपमें तुम ऐसी लग रही हो मानो महादेवके कोपसे जलते हुए कन्दर्पके शरीरसे निकलती हुई धूमलतासे लिपटी रति हो ॥ ३१ ॥

---

१. 'त्रिवेणीम्'। २. 'लताविलाखिलाङ्गी'। इति पा०।

त्वामुल्लसद्बिम्बफलाधरां मे मामप्यनङ्गाशुगमर्दितं ते ।
विशङ्कमस्मिन्विजने प्रदेशे पद्मानने ! पातुमयं हि कालः ॥ ३२ ॥

त्वामुल्लसदिति । हे पद्मानने कमलमुखि, मे मम उल्लसद्बिम्बफलाधरां शोभमानविम्बफलतुल्योष्ठीं त्वाम् पातुम्—त्वदधरामृतमास्वादयितुम्, ते तव माम् अनङ्गाशुगमर्दितं कामबाणपीडितं पातुं रक्षितुम् स्वाङ्गदानेन कन्दर्पाद्रक्षितुञ्च विशङ्कम् शङ्कारहितरूपेण अस्मिन् विजने एकान्ते प्रदेशे स्थाने अयं कालः समुचितः समयः । अत्रैकान्तस्थाने निःशङ्कमहं त्वदधरं पिबेयं त्वं च स्वाङ्गदानेन मां रक्षेरेतदुपयुक्तोऽयं समयः प्राप्तस्तदलं कालविलम्बेनेति भावः ॥ ३२ ॥

इस निर्जन एकान्त स्थानमें मेरे लिये तुम्हारे बिम्बफलकी तरह शोभमान अधरको पीनेका—तुम्हारे अधरामृतके आस्वादनका—और तेरे लिये कामबाणसे पीड़ित होनेवाले हमारी रक्षा करनेका उपयुक्त समय यही है । हे कमलमुखि, यही मौका मिला है कि मैं तुम्हारे बिम्बाधरका पान कर सकूँ, और तुम मुझ कामपीड़ितकी रक्षा कर सको ॥

इति तस्य तादृशं वचनमाकर्ण्यापि चित्तचम्पकमञ्जरीचञ्चरीकायमाण[2]पञ्चशरविकारा[3] पाञ्चाली गिरमिमां स्मररागतिमिरकौमुदीमुदीरयामास,—

इति तस्येति । इति एवं प्रकारकं तस्य कीचकस्य तादृशं स्मरविकारजनकं वचनम् आकर्ण्य श्रुत्वा अपि चित्तम् एव चम्पकमञ्जरी चम्पकप्रसूनं तस्य चञ्चरीकायमाणः भ्रमरवदाचरन् (यथा भ्रमरश्चम्पकमञ्जर्या दूरे तिष्ठति तथैव) पञ्चशरविकारो यस्यास्सा तथोक्ता, कामविकारास्पृष्टहृदया पाञ्चाली द्रौपदी स्मररागः कामविकारः एव तिमिरं तमः तस्य कौमुदीम् (यथा कौमुद्या तमोऽपसार्यते तथैव) चन्द्रिकारूपाम् कामविक्रियानाशिकाम् इमां वक्ष्यमाणां गिरम् उदीरयामास उवाच ॥

इस प्रकार कीचकके कामोद्दीपक वचनको सुनकर भी द्रौपदीके हृदयरूप चम्पक फूलके भ्रमरके समान आचरण करनेवाला है पञ्चशरविकार–कामविकार–जिसका—इतनी चिकनी प्रलोभन बातें सुनने पर भी जिसके हृदयमें कामविकार नहीं उत्पन्न हुआ–ऐसी द्रौपदीने–स्मरविकाररूप अन्धकारके लिये चन्द्रिकास्वरूप–कामविकारनिरासकर–यह वचन कहा ॥

अन्तःपुरेषु विहरन्नयि कीचक ! त्वं
सैरन्ध्रये स्पृहयसीति विगर्ह्यमेतत् ।
रम्येषु कल्पकुसुमेषु चरन्द्विरेफो
रज्येत किं पितृवनद्रुमगुच्छिकायाम् ? ॥ ३३ ॥

---

१. 'विजन' । २. 'माणं पञ्चशर' । ३. 'विकारिका' । ४. 'अपि' । इति पा० ।

अन्तरिति । हे कीचकः, अन्तःपुरेषु विहरन् अन्तःपुरस्त्रीभिः सह क्रीडां कुर्वन् त्वम् सैरन्ध्र्ये दास्यै स्पृहयसि कामयसे इति एतत् विगर्ह्यम् अतिनिन्दनीयम् । अवरोधरमणीभिः क्रीडां कुर्वतस्तव दासीविषया स्पृहा नितान्तहास्येति भावः, तत्र दृष्टान्तमाह—रम्येषु लोकोत्तरसौरभशालिषु कल्पकुसुमेषु कल्पद्रुमप्रसूनेषु चरन् द्विरेफः भ्रमरः पितृवनद्रुमगुच्छिकायाम् श्मशानतरुपुष्पस्तबके रज्येत अनुरागं भजेत किम् ? नहि कल्पद्रुमकुसुमानुरागी भ्रमरः श्मशानतरुकुसुमस्तबकेऽनुरागं भजते तद्वदन्तःपुरस्थललनाविहारिणस्तव दासीकामना नितान्तनिन्द्येति तात्पर्यम् ॥ दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३३ ॥

हे कीचक, तुम जब अन्तःपुरकी ललनाओंके साथ विहार करके सुख पा रहे हो तो फिर मुझ सैरन्ध्रीके लिये क्यों स्पृहा कर रहे हो, तुम्हारी इस तरहकी स्पृहा नितान्त निन्दनीय है। जो भ्रमर रमणीय कल्पद्रुम कुसुममें विचरण किया करता है वह क्या श्मशान वृक्षके फूलों पर अनुराग रख सकता है ॥ जिस प्रकार श्मशानवृक्षकुसुम और कल्पवृक्षप्रसूनमें अवर्णनीय अन्तर है उसी तरह हममें और तुम्हारे अन्तःपुरकी स्त्रियोंमें अन्तर है फिर भी तुम मुझ दासी पर अनुराग प्रकट कर रहे हो, तुम्हारे लिये यह अति गर्हित है ॥ ३३ ॥

प्रतायते[1] चपलता पतिवत्नीषु[2] या हठात् ।
इष्टार्थसिद्धेः प्रागेव दिष्टान्तं दोग्धि सा नृणाम् ॥ ३४ ॥

प्रतायते इति । या चपलता लोलुपता पराङ्गनाऽऽसक्तिः हठात् अविचारपूर्वकम् पतिवत्नीषु पतिव्रतासु नारीषु विषयेषु प्रतायते क्रियते, सा पतिव्रताविषयाऽऽसक्तिरूपा चपलता इष्टार्थसिद्धेः तादृशस्त्रीप्राप्तिरूपमनोरथपूर्त्तेः प्राक् पूर्वमेव नृणां तादृशदुष्टपुरुषाणां दिष्टानां मृत्युं दोग्धि उपपादयति । अयमाशयः—पतिव्रतानारीमुद्दिश्य यदि हठात् कोऽपि पुरुषो बलात्कारप्रवृत्तिमादधाति तदा तादृशवनितासुरतप्राप्तेः पूर्वमेव स हठप्रवृत्तो नरो मृत्युमाप्नोति, तदिह दुरन्ते कर्मणि मा पदं निधा इति । 'पतिवत्नी पतिव्रता' 'दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः' इत्युभयत्रामरः ॥३४॥

बिना विचार किये यदि पतिव्रता नारियोंके विषयमें चपलता—आसक्ति—की जाती है तो वह चपलता मनोरथपूर्त्तिके पहले ही उस लोलुप व्यक्तिके लिए मृत्यु उपस्थित कर देती है, अतः इस खतरेवाले काममें प्रवृत्त मत हो ॥ ३४ ॥

गन्धर्वाः सन्ति मे कान्ता बाधते यान्स्मरोऽनिशम् ।
स्वाभिख्यां स्वास्त्रसंख्यां च वहन्तीतीर्ष्यया किल ॥ ३५ ॥

गन्धर्वा इति । मे मम सैरन्ध्र्याः कान्ताः पतयः गन्धर्वाः गन्धर्वरूपाः सन्ति,

---

१. 'प्रत्याय्यते'। २. 'पतिपत्नीषु' । इति पा० ।

यान् मम पतीन् स्वाभिख्यां स्वरूपसदृशं रूपम् स्वास्त्राणां संख्याम् पञ्चसंख्याम् च वहन्ति धारयन्तीति ईर्ष्यया इव स्मरः कामः अनिशं बाधते कदर्थयति । मम पतयः पञ्चसंख्यकाः सन्ति, कन्दर्पसमरूपाश्च, तांश्च स्वाभिख्यां स्वास्त्रसंख्यां च धारयतस्तयेर्ष्यया इव कामोऽनवरतं पीडयति, एतेन तेषां मद्विषये सदा सतर्कतया मद्विषया तव प्रवृत्तिर्न विपत्तिविमुखीति व्यञ्जितम् ॥ ३५ ॥

मेरे पति गन्धर्व हैं, वे कन्दर्पका रूप तथा उसके बाणोंकी संख्याको धारण करते हैं इसी ईर्ष्याके कारण कन्दर्प उन्हें सदा सताया करता है। मेरे पति पाँचसंख्यक तथा काम समान सुन्दर हैं, उन्हें कामदेव सताया करता है, अतः वे हमारे प्रति सदा सानुराग हैं, ऐसी स्थितिमें हमें छेड़नेमें तुम्हारा कुशल नहीं है ॥ ३५ ॥

दोष्मतामवतंसास्ते स्वरूपं नैव केवलम् ।
गोपायन्त्यप्रमादेन परेभ्यो मां च मानिनः ॥ ३६ ॥

दोष्मतामिति । दोष्मताम् बाहुबलशालिनाम् अवतंसाः अलङ्कारभूताः ते गन्धर्वा मम पतयः केवलम् स्वरूपम् आत्मनो मूर्तिमेव न गोपायन्ति प्रच्छादयन्ति, परम् अप्रमादेन सततसावधानतया माम् च परेभ्यो दुष्टेभ्यो गोपायन्ति रक्षन्ति । ते प्रच्छन्नस्थिताः सावधानतया मां रक्षन्तीति भावः ॥ ३६ ॥

बाहुबलशालियोंके भूषणभूत वे हमारे पति गन्धर्व केवल अपनी मूर्त्तिको ही नहीं छिपाये रहते हैं, वरन् मुझको भी सावधानीके साथ सदा दूसरोंसे बचाया करते हैं। हमारे पति सदा सन्निहित हैं और प्रच्छन्नरूपमें रहकर सावधानीके साथ हमारी रक्षा किया करते हैं ॥ ३६ ॥

तदद्य पथि वामेऽस्मिन्संप्रतिष्ठाससे[1] यदि ।
ते तु त्वां चारयिष्यन्ति दक्षिणे[2] विधृतक्रुधः ॥ ३७ ॥

तदद्येति । तत् तस्मात् तेषां मम पतीनाम् गन्धर्वाणाम् अत्रैव प्रच्छन्नभावेन स्थितत्वात् अद्य अधुना त्वं यदि वामे अनुचिते पथि परदाराभिमर्शनरूपे संप्रतिष्ठाससे पदमाधातुमिच्छसि तदा विधृतक्रुधः कृतकोपास्ते मम पतयो गन्धर्वाः त्वां दक्षिणे पथि यमपुरगामिनि मार्गे चारयिष्यन्ति प्रस्थापयिष्यन्ति, मारयिष्यन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अतः यदि तुम इस परदाराभिमर्शनरूप अनुचित मार्गसे चलना चाहोगे तो वे हमारे पति गन्धर्व कुपित होकर तुम्हें यमपुरगामी दक्षिण मार्गसे चलनेके लिए बाधित करेंगे, तुम्हें मारकर यममार्ग—दक्षिण पथ—से विदा करेंगे ॥ ३७ ॥

इत्यूचुषी[3] सा महिषी कुरूणां शेमुषीमती ।
सद्यो निववृते तस्माच्चित्तवृत्तिरिवात्मनः ॥ ३८ ॥

---

१. 'संप्रतिष्ठास्यसे'। २. 'अपि धृतक्रुधः'। ३. 'ऊचिषी'। इति पा०।

इत्युचुषीति । इति प्रागुक्तप्रकारेण ऊचुषी कथितवती शेमुषीमती प्रशस्तबुद्धिः सा प्रसिद्धचारित्रा कुरूणां महिषी कुरुराजपत्नी द्रौपदी तस्मात् कीचकात् सद्यः सपदि आत्मनः स्वस्याश्चित्तवृत्तिः आत्मभाव इव निववृते पराङ्मुखी बभूव। एवं कथयित्वा सा द्रौपदी कीचकं हित्वा गन्तुं प्रवृत्ता, यथा तदीया चित्तवृत्तिस्तद्विमुखी आसीत्तथा देहेनापि सा तद्विमुखी जातेत्यर्थः। अत्र द्रौपदी तच्चित्तवृत्त्योर्निवृत्तिरूपैकक्रियाभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार कहकर बुद्धिमती वह कुरुराजपत्नी द्रौपदी तुरत कीचकको छोड़कर वहाँ से चल पड़ी, जिस प्रकार उसकी चित्तवृत्ति उसके प्रति विमुख थी, उसी प्रकार देहसे भी वह कीचकसे विमुख हो गई ॥ ३८ ॥

यथा यथाऽस्या धावन्त्या रिङ्खणेन पदोर्युगम् ।
तथा तथा रुषारुण्यं तस्याधत्त दृशोरपि ॥ ३९ ॥

यथायथेति । धावन्त्याः कीचकभयात् पलायमानायाः अस्याः सैरन्ध्र्याः पदोः चरणयोः युगम् द्वयम् रिङ्खणेन चलनेन (तदायासेन) यथा यथा आरुण्यं रक्ताभत्वम् आधत्त गतम् , तथा तथा तावत्या मात्रया तस्य कीचकस्य दृशोः नेत्रयोः युगम् अपि आरुण्यमाधत्त रक्ततामापत् इत्यर्थः। यथा पलाय्य गच्छन्त्यास्तस्याश्चरणद्वयमायासवशाद्रक्तमभूत्तथा स्वापमानजनितेन कोपेन कीचकस्य नयनद्वयमपि रक्तमजनीति भावः। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः, पादयुगनयनयुगयोरारुण्यधारणरूपैकक्रियाभिसंबन्धात् ॥ ३९ ॥

कीचकके समीपदेशसे भागकर जाती हुई द्रौपदीके पादयुग जैसे जैसे चलनेमें आयास के कारण लाल होते गये उसी तरह कीचकके नेत्रद्वय भी स्वापमानजन्य कोपके कारण लाल होने लगे ॥ ३९ ॥

कृष्णा ततस्तेन कृतान्तभासा केशे गृहीता भुवि पातिता सा ।
पर्यायबद्धोद्यमविश्रमाभ्यां पद्भ्यां कराभ्यामपि पर्यभावि ॥ ४० ॥

कृष्णेति । ततः कोपोदयात्परतः कृतान्तभासा यमराजसमेन तेन कीचकाधमेन केशे गृहीता केशेषु गृहीत्वा भुवि पातिता धरायां शायिता च सा कृष्णा द्रौपदी पर्यायेण क्रमेण बद्धः आश्रितः उद्यमः प्रहारप्रवृत्तिः विश्रमः प्रहारनिवृत्तिः याभ्यां तादृशाभ्याम् पदोः प्रहरतोः सतोर्हस्तौ विश्राम्यतः हस्तयोश्च प्रहरतोः पादौ विश्राम्यत एवं क्रमेण पद्भ्यां चरणाभ्यां कराभ्यां हस्ताभ्यां च पर्यभावि तिरस्कृता ताडिता। कोपस्य सर्वाकार्यप्रवर्त्तकतया कीचकः कृष्णां पद्भ्यां कराभ्याञ्चाप्यताडयदित्याशयः ॥ ४० ॥

---

१. 'गृहीत्वा'। इति पा०।

कुपित होनेपर यमराजके समान प्रतीत होनेवाले उस नीच कीचकने केश पकड़कर जमीन पर गिराई गई द्रौपदीको, क्रमसे उद्यम तथा विश्राम करनेवाले अपने पैरों तथा हाथोंसे अपमानित किया, पीटा। जब पैरोंसे पीटता तब हाथ विश्राम करते और जब हाथोंसे पीटता तब पैर विश्राम करते, इस प्रकार कीचकने कृष्णाकी पूरी पिटाई करके उसका अपमान किया ॥ ४० ॥

प्रहारभीत्येव तदा मृगाक्ष्या नाड्यां क्वचिद्यान्तरधत्त संज्ञा ।
उद्गम्य सा दूरगते प्रहर्तर्युद्घाटयामास दृशौ चिराय ॥ ४१ ॥

प्रहारभीत्येवेति । मृगाक्ष्याः हरिणशावकलोचनायाः द्रौपद्याः या संज्ञा चेतना तदा ताडनकाले प्रहारभीत्या ताडनाद्भयेन इव क्वचन अज्ञातायाम् नाड्याम् धमन्याम् अन्तरधत्त तिरोभवति स्म, सा संज्ञा प्रहर्त्तरि ताडके कीचके दूरंगते अपसृते सति चिराय उद्गम्य बहोः कालात् प्रकटीभूय दृशौ द्रौपद्या नेत्रे उद्घाटयामास उन्मीलयामास । ताडनावसरे भीतेव संज्ञा क्वचिन्नाड्यामन्तरधात्, प्रहर्त्तरि कीचके दूरंगते तु सा संज्ञा नाड्या बहिर्भूय द्रौपद्याः पिहिते नेत्रे उन्मीलयामास, ताडनावसरे मूर्च्छां गता ताडननिवृत्तौ लब्धसंज्ञा च सा द्रौपदी चक्षुरुन्मीलितवतीत्याशयः । उत्प्रेक्षा समासोक्तिश्चालङ्कारौ ॥ ४१ ॥

मृगाक्षी उस द्रौपदीकी जो चेतना प्रहारकालमें प्रहारसे डरी हुई सी किसी अज्ञात नाड़ीमें जाकर छिप रही थी, प्रहार करनेवाले कीचकके दूर हट जाने पर गतभय होकर उसी चेतनाने, फिर बाहर होकर द्रौपदीकी आँखोंको खोल दिया, द्रौपदी कुछ देरके लिये अचेत हो गई थी, थोड़ी देरके बाद उसने आँखें खोल दीं ॥ ४१ ॥

तदनु शनैः[1]शनैरुत्तस्थुषी धरातलपरागधूसरिमतिरोहितदीधितितया वासरा[2]पलपितमहौषधिलतेव विलुलितचूर्णकुन्तलतया चक्रवाताकुलीकृतवालपूलिका च[3]मरीमृगीव सूतान्ववायजनपदस्य प्रथमामीतिबाधामिव बाष्पधारामुत्सृजन्ती क्वचिदपि शरणमलभमाना सा याज्ञसेनी मन्दं मन्दं तदेव भ[4]वनमभिजगाम ॥

तदन्विति । तदनु चेतनालाभात् परतः शनैः शनैरुत्तस्थुषी मन्दं मन्दं कृतोत्थाना धरातलपरागेण पृथ्वीरजसा यो धूसरिमा तनोर्मालिन्यं तेन तिरोहितदीधितितया आच्छन्नप्रकाशतया वासरापलपितमहा दिनतिरोहिततेजस्का ओषधिलता ज्योतिष्मती वल्ली इव, विलुलितचूर्णकुन्तलतया अस्तव्यस्तमुक्तकवरीभारतया चक्रवातैः आवर्त्तवायुभिः आकुलीकृता व्यस्ततां गमिता वालपूलिका लोमसञ्चयो

१. 'शनैरुत्तस्थुषी' । २. 'अपलापितमहामहौषधि' । ३. 'चमर' । ४. 'भूपतिभवनम्' । इति पा० ।

यस्याः सा तादृशी चमरीमृगी इव, सूतान्ववायजनपदस्य कीचकवंशरूपस्य देशस्य (कृते) प्रथमाम् पूर्वं कदाप्यजाताम् ईतिबाधाम् बहुवृष्टिम् इव बाष्पधाराम् अश्रुप्रवाहम् उत्सृजन्ती वर्षन्ती क्वचिदपि शरणं त्रातारमलभमाना अनासादयन्ती सा याज्ञसेनी द्रौपदी मन्दं मन्दं शनैः शनैस्तदेव सुदेष्णाऽध्युषितम् भवनम् अभिजगाम आयातवती। उत्प्रेक्षाणां त्रयमत्रबोध्यम्। ईतिः—'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' इति परिभाषिता, तत्रात्राद्या प्रकरणपर्यवसेया॥

इसके बाद चैतन्य प्राप्त होने पर धीरे धीरे उठी वह द्रौपदी उस समय पृथ्वीकी धूलसे उत्पन्न मलिनता द्वारा तेजके छिप जानेसे ऐसी लग रही थी मानो दिनमें तिरोहित हो गया है तेज जिसका ऐसी औषधिलता–ज्योतिष्मती बूटी हो; उसके बाल खुले तथा अस्तव्यस्त हो रहे थे जिससे वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो बवंडर वायुसे अस्तव्यस्तीकृत रोमसंचयवाली चमरीमृगी हो, वह आँसूकी धारा बरसा रही थी, उसकी वह अश्रुधारा ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो कीचकवंशरूप देशके लिये ईतिबाधा—अतिवृष्टि हो, ऐसी वह द्रौपदी कहीं भी शरण न पाकर फिर धीरे धीरे उसी सुदेष्णाके प्रासादमें आई॥

दृष्ट्वा तां ज्ञातवृत्तान्तो देव्या गेहे चरञ्जनः।
नयनाम्भो विमुमुचे न तु किंचन भाषितम्॥ ४२॥

दृष्ट्वेति। तां तथादशां द्रौपदीं दृष्ट्वा ज्ञातवृत्तान्तः अवगतकीचककृतद्रौपद्यपमानवृत्तः देव्यास्सुदेष्णाया गेहे प्रासादे चरन् परिचर्यानिरतो जनो लोकः नयनाम्भः बाष्पाम्बु मुमुचे ववर्ष, नतु किञ्चन भाषितम् वचनं मुमुचे उवाच, सुदेष्णाभयान्मूकस्तस्थौ॥ ४२॥

द्रौपदीकी वैसी दशा देखकर तथा सारा वृत्तान्त जानकर भी सुदेष्णाके प्रासादमें रहनेवाले परिचारकजनने केवल आँसूकी वर्षा भर की, कुछ बोल नहीं सके, सुदेष्णाके भयसे उस अत्याचारके खिलाफ आवाज नहीं उठा सके॥ ४२॥

सायं महानसशयं शनकैर्ययौ सा
भीमं रहः पृथुशरावकृतोपधानम्।
धूमाधिरोहमलिनं वसनं वसानं
नीलाम्बुवाहपरिवीतमिवाचलेन्द्रम्॥ ४३॥

सायमिति। सायं संध्यासमये रात्रौ पृथुना दीर्घेण शरावेण पात्रविशेषेण कृतमुपधानम् उपबर्हकार्यं यस्य तं तथाभूतं पृथुशरावमुपधाय महानसशयम् पाकगृहे निद्रितम्, धूमाधिरोहेण धूमव्याप्त्या मलिनं श्यामलतामापद्यमानं वसनं वस्त्रं वसानं परिदधतं नीलाम्बुवाहपरिवीतम् श्यामघनाच्छन्नम् अचलेन्द्रं पर्वतराजमिव स्थितं भीमं रहः एकान्ते सा कीचकापमता द्रौपदी ययौ प्राप, रात्रौ पृथुशरावमुपधाय

पाकशालायां शयानं धूमसम्बन्धमलिनवस्त्रधारणेन श्यामघनावृतं पर्वतराजमिव प्रतीयमानं भीमं रहस्सा द्रौपदी प्रापदित्यर्थः । उत्प्रेक्षोपमयोः सङ्करोऽलङ्कारः ॥४३॥

रात्रि होनेपर बड़से शगद-पात्र विशेष-को तकिया बनाकर पाकशालामें सोते हुए, धुवाँ लगते रहनेसे मलिन हो जानेवाले वस्त्रको पहने हुए—अतएव श्यामघनावृत पर्वत-राजकी तरह प्रतीत होनेवाले भीमको कीचक द्वारा अपमानिता उस द्रौपदीने एकान्तमें पाया, द्रौपदी एकान्तमें भीमके पास पहुँची ॥ ४३ ॥

निःश्वस्य दीर्घमियमन्तिकमावसन्ती
स्पृष्टेन बाष्पसलिलैः कुचयोः स्खलद्भिः ।
बुद्धेन तेन किमिदं व्यसनं तवेति
पृष्टा सगद्गदमुवाच विषण्णचेताः ॥ ४४ ॥

निःश्वस्येति । विषण्णचेताः कीचककृतापमानव्यथितहृदया अतएव दीर्घं निःश्वस्य श्वासं मुक्त्वा अन्तिकम् आवसन्ती उपगता इयं द्रौपदी कुचयोः स्खलद्भिः उन्नतयोः स्तनयोर्निपतद्भिः बाष्पसलिलैः (उत्प्लुत्य पतितैः) स्पृष्टेन अत एव (शीतलजलस्पर्शतः) बुद्धेन भग्ननिद्रेण तेन भीमेन—तव किमिदं व्यसनम् दुःखमुपस्थितमिति पृष्टा अनुयुक्ता सा सैरन्ध्रीरूपा द्रौपदी सगद्गदं दुःखातिरेकतः स्खलितवर्णं यथा तथा उवाच । कीचककृतापमानदुःखिता दीर्घं श्वसन्ती सा द्रौपदी भीमस्य समीपे स्थिता, तदीयेन तत्कुचयोर्निपत्योत्प्लुत्य च पतता अश्रुणा स्पृष्टोऽत एव च प्रबुद्धो भीमो द्रौपदीं पृष्टवान्, किमिदं तं कष्टमुपस्थितं यदित्थं रोदिषि ? तथा पृष्टा सा दुःखेन स्खलिताक्षरं वक्ष्यमाणदिशोवाचेति भावः ॥ ४४ ॥

कीचक द्वारा अपमानित अतएव दीर्घ उसाँस भरती हुई द्रौपदी भीमके समीप जाकर बैठ गई, उसके आँसू उसके स्तनों पर गिर रहे थे जो उड़कर भीमकी देह पर पड़ते थे, उस अश्रुजलके स्पर्शसे भीमकी नींद खुल गई, उसने द्रौपदीसे पूछा कि तुमको क्या कष्ट है जो इस प्रकार रो रही हो, ऐसा पूछने पर द्रौपदीने गद्‌गद स्वरमें कहा ॥ ४४ ॥

किमद्य मे दुःखमपत्रपा का को वीरपत्नीत्वपदेऽभिमानः ।
सर्वं गतं कीचकनीचषिङ्गाद्‌धृत्वा कचे ताडनमाप्तवत्याः ॥ ४५ ॥

किमद्येति । कीचकनीचपिङ्गात् कीचकरूपविटाधमतः कचे केशदेशे धृत्वा गृहीत्वा ताडनं प्रहारमाप्तवत्याः सकचग्राहं ताडितायाः मे ममाद्यदुःखं नाम किम् ? अपत्रपा नाम लज्जा का ? वीरपत्नीत्वपदे वीरभार्याशब्दे वा कोऽभिमानः कीदृशो गर्वः ? मम सर्वं गतम्, यन्मां कीचकपिङ्गः केशेषु गृहीत्वाऽताडयत्तन्मे न दुःखं

१. 'वाष्पमुकुलैः' । इति पा० ।

न लज्जा न वीरपत्नीत्वगर्वो विद्यते, एकेनैव महता तेनापमानेन सर्वं मम समाप्तमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

कीचकरूप नीच लंपट ने जब मुझे चोटी पकड़कर पीट दिया तो अब मेरा क्या दुःख, क्या लाज और वीरपत्नी कहानेका क्या गर्व, मेरा सब समाप्त हो गया ॥ ४५ ॥

मयि दुःखेन घुष्यन्त्यां मत्स्याधिपसभान्तरे ।
तथ्यस्येव यतेरासीद्धर्मसूनोरुपेक्षणम् ॥ ४६ ॥

मयीति । मयि द्रौपद्यां दुःखेन ताडनकृतकष्टेन घुष्यन्त्याम् 'मां प्रह्रियमाणां त्रायस्व' इति रटन्त्यां सत्यां मत्स्याधिपसभान्तरे विराटसम्बन्धिनि सभामण्डपे धर्मसूनोः युधिष्ठिरस्य तथ्यस्य अकृत्रिमस्य यतेः सन्न्यासिन उपेक्षणम् उपेक्षा अभूदिति शेषः । यथा कोऽपि वीतरागो यथार्थसन्न्यासी पीड्यमानामपि स्वस्त्रियमुपेक्षते तथैवार्त्तां त्राणार्थिनीं च मां विराटसभास्थितो युधिष्ठिर उपैक्षिष्टेति भावः ॥ ४६ ॥

मार पड़नेके कारण मैं चिल्लाकर त्राणकी याचना कर रही थी, और धर्मसूनु युधिष्ठिर विराटकी सभामें बैठे हुए यथार्थ संन्यासीकी तरह मेरी उपेक्षा करते रहे, मेरी पुकार सुनकर भी उन्होंने मेरी रक्षा नहीं की, जैसे वह-यथार्थमें ही वीतराग सन्न्यासी हों ॥ ४६ ॥

बुभुक्षते न जीवन्तीं मारितामेव मां नृपः ।
कल्याणं खलु तत्तस्य कङ्कभावभृतोऽधुना ॥ ४७ ॥

बुभुक्षते इति । नृपः युधिष्ठिरः जीवन्तीं प्राणान् धारयन्तीं मां द्रौपदीं न बुभुक्षते न पालयितुमिच्छति, किन्तु मारिताम् अन्येन हताम् एव बुभुक्षते भक्षितुमिच्छतीति तत् तस्य अधुना कङ्कभावभृतः कङ्कसंज्ञयाऽऽत्मानं प्रथयतः गृध्रभावं भजतश्च कल्याणम् उचितं खलु । कङ्को गृध्रः, स हि परैर्हतमेव भुङ्क्ते, युधिष्ठिरोऽपि मां मारितामेव बुभुक्षते, कङ्कः सन्न्यासावस्था नाम च युधिष्ठिरस्येति बोध्यम् ॥४७॥

राजा युधिष्ठिर इस समय जीती हुई द्रौपदीकी रक्षा नहीं करना चाहते हैं, दूसरों द्वारा मारी गई द्रौपदीको खाना चाहते हैं, इस समय वह कङ्क बने हैं—कङ्क (सन्न्यासी, गृध्र) हो रहे हैं, मृतका भक्षण तथा मारी जाती हुई का उपेक्षण ही उनके लिये ठीक है ॥ ४७ ॥

तस्यैवाज्ञापथेऽजस्रं चरता[1] स्खलनं विना ।
भवता खलु निःशङ्कं परामर्श्या[2] कचेऽपरैः ॥ ४८ ॥

तस्यैवेति । तस्य घुष्यन्तीं मामुपेक्ष्य द्यूतेन क्रीडतो युधिष्ठिरस्य एव आज्ञापथे आदेशमार्गे स्खलनं प्रमादं विना विहाय अजस्रं सततं चरता चलता भवता त्वया

---

१. 'चलता' । २. 'परामृश्ये' । इति पा० ।

निःशङ्कम् अवश्यम् अहम् अपरैः अन्यैः कीचकादिभिः कचे परामर्श्या ग्राहयितव्या, सकचग्राहमपमाननीया। युधिष्ठिरस्यैवाज्ञामनुवर्त्तमानेन त्वया सकचग्राहमपमानिताऽहमवश्यमुपेक्षणीया स्यामिति काकुभिर्वृथा तवान्तिकेऽप्यात्मकष्टोद्घोषणमिति ध्वन्यते ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरकी ही आज्ञापर विना किसी ननु-नचके सतत चलनेवाले आपके लिये भी तो यही ठीक है कि मुझे किसीके द्वारा केश पकड़वाकर अपमानित करें। जो खुद उपेक्षा करता हो, उसकी लकीर पीटनेवालेके लिये भी तो उपेक्षा ही उचित है ॥ ४८ ॥

दुःशासनादप्यधिकापराधः सूतात्मजोऽयं न निहन्यते चेत्।
आद्ये कचग्राहिणि नाशितेऽपि समायुषौ वेणिमवेहि मां च ॥ ४९ ॥

दुःशासनादिति। दुःशासनात् द्यूतसभायां कृतकचकर्षणाद् दुर्योधनादप्यधिकापराधः ताडनादिना कृताधिकागाः अयं सूतात्मजः कीचकः चेत् न निहन्यते त्वया न व्यापाद्यते तदा आद्ये प्रथमे कचग्राहिणि केशकर्षके दुःशासने मारिते निहते अपि वेणिमुक्तं केशम् मां द्रौपदीं च समायुषौ समानजीवनावधी अवेहि जानीहि, यदीमं सूतपुत्रं न हंसि तर्हि दुःशासने हतेऽपि नाहं वेणीं मोक्ष्यामि, आजीवनं मयैवमेव स्थातव्यमिति मम प्रतिज्ञां जानीथा इति भावः ॥ ४९ ॥

दुःशासनने केवल केश पकड़ा, इसने केश पकड़ा और लात घूँसे भी जमाये, इसप्रकार दुःशासनसे अधिक अपराधी यह कीचक अगर नहीं मारा गया, तो जान लेना, प्रथम केशग्राही दुःशासनके मारे जाने पर भी मेरी तथा इस वेणीकी आयु समान रहेगी, जब तक मैं जीऊँगी, यह वेणी बनी ही रहेगी ॥ ४९ ॥

अयं बलीयानिति ते मतिश्चेदन्यत्र मां क्वापि नयस्व भीरुम्।
अज्ञातवासेऽप्यनुभूयमाने रक्ष्यं हि शीलं कुलपालिकानाम् ॥ ५० ॥

अयमिति। अयं कीचकः बलीयान् मदपेक्षया बलवत्तरः अतो हन्तुं न शक्यते, चेत् यदि इति एतादृशी तव मतिः निश्चयात्मकं ज्ञानम्, तदा भीरुं व्रतभङ्गभयशालिनीम् मां क्वापि कुत्रचित्कीचकाज्ञेये स्थाने नय प्रापय। तत्र कारणमाह—अज्ञातेति। अज्ञातवासे गुप्तवासेऽपि अनुभूयमाने निषेव्यमाणे कुलपालिकानां कुलमर्यादारक्षणमिच्छन्तीनां कृते शीलं चारित्रं रक्ष्यं रक्षणीयम्। अज्ञातवाससमयेऽपि चारित्ररक्षणस्यावश्यकत्वादत्रावस्थाने कीचकद्वारातद्भङ्गस्य संभाव्यमानत्वात्त्वया च दुर्बलेन तद्वधस्यासम्पाद्यत्वान्मामन्यत्र नयेत्येक एवोपायोऽस्ति सम्प्रति नान्य इति भावः। अन्यत्र नयने वाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपादानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥

अगर आप यह समझते हों कि यह कीचक मुझसे अधिक बलशाली है तो कृपया पातिव्रत्यभङ्गसे डरनेवाली मुझ गरीबको कहीं दूसरी जगह पहुँचा दीजिये, जिस जगह

---

१. 'प्यधिकोऽपराधे'। २. 'गृहिणीजनानाम्'। इति पा०।

कीचकका भय न हो, अज्ञातवासकालमें भी आखिर कुलव्रतपालन करनेवालियोंके लिये अपने चरित्रकी रक्षा तो करना ही है ॥ ५० ॥

श्रुत्वा वधूगिर¹मिति स्वपनोपनीतं
शोणत्वमक्ष्णि पुनरुक्तयतो रुषापि ।
तस्याधरोष्ठमुदवेपत निर्गमिष्य-
त्क्रूराक्षरावलिविमर्दनशङ्कयेव ॥ ५१ ॥

श्रुत्वेति । इति प्रागुक्तरूपां वधूगिरं द्रौपदीवाचं श्रुत्वा स्वपनेन निद्रया उपनीतं जनितम् अक्षिण नेत्रे शोणत्वं रक्तिमानम् रुषा कोपेनापि पुनरुक्तवतः द्विगुणतां प्रापयतः तस्य भीमस्य अधरोष्ठम् निर्गमिष्यन्ती बहिरेष्यन्ती या क्रूराक्षरावलिः कठोरवाक्ततिः तया विमर्दनस्य सङ्घर्षणस्य शङ्कया भीत्या इव उदवेपत चकम्पे । एवं द्रौपद्युक्तं श्रुत्वा शयनलब्धं नेत्रयोः शोणत्वं कोपेन द्विगुणीभावं नयतो भीमस्यौष्ठः प्रकटीभवदतिकठोरवचनसम्मर्दभीत्येवाकम्पतेति भावः । अत्र क्रोधेनौष्ठस्फुरणे क्रूराक्षरावलिविमर्दशङ्काजातत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५१ ॥

द्रौपदीकी इस प्रकारकी बातें सुनकर निद्राद्वारा प्राप्त आँखकी लालीको कोपसे द्विगुण बनानेवाले भीमके ओठ चलने लगे, ऐसा मालूम पड़ता था कि वह अभी अभी निकलने वाले कठोर वचनोंके साथ सङ्घर्ष होनेकी शङ्कासे डरकर काँप रहे हैं ॥ ५१ ॥

गदापि सा तिष्ठतु मे गभीरा नियुद्धमात्रं मयि निर्मिमाणे ।
क्व मेघवाहः क्व मरालवाहः क्व तार्क्ष्यवाहः क्व महोक्षवाहः ॥ ५२ ॥

गदापीति । गभीरा अतिदृढा मे गदापि तिष्ठतु आस्ताम्, नास्ति तयापि मम प्रयोजनम्, मयि भीमे नियुद्धमात्रं केवलं बाहुयुद्धं निर्मिमाणे कुर्वति सति मेघवाहः इन्द्रः क्व कुत्र ? मरालवाहः हंसवाहनः ब्रह्मा क्व ? तार्क्ष्यवाहः गरुडगामी विष्णुः क्व कुत्र ? महोक्षवाहः वृषराजवाहनः शिवश्च क्व ? नैतेऽपि बाहुयुद्धमात्रपरस्य निरस्तसमस्तशस्त्रस्यापि मम पुरः स्थातुमलमिति का गणना कीचकस्येत्यर्थापत्तिध्वनिः ॥ ५२ ॥

मेरी गभीर–अतिदृढ–गदा तो अलग रहे, अगर मैं केवल बाहुयुद्ध करने लग जाऊँ तो कहाँ इन्द्र ? कहाँ ब्रह्मा ? कहाँ विष्णु ? और कहाँ महादेव ? इनसे भी कुछ नहीं हो सकता है, फिर उस अधम कीचककी तो बातही क्या ॥

हिडिम्बकिर्मीरबृहद्रथात्मभूबकादिह²त्यातरतस्त्रपाम्बुधौ ।
निमज्जतायै³व भुजस्य मेऽधुना सृजस्यमुं कीचकसूदनोद्यमम् ॥ ५३ ॥

---

१. 'गिरमिमाम्' । २. 'हत्यास्तरतः' । ३. 'इव' । इति पा० ।

हिडिम्बेति । हिडिम्बः स्वनामप्रसिद्धः, किर्मीरोऽपि तथा, बृहद्रथस्यात्मभूः पुत्रो जरासन्धः, बको बकासुरश्च तदादीनां तत्प्रभृतीनां दुष्टानां हत्या मारणेन त्रपाम्बुधौ लज्जासागरे तरतः मे मम भुजस्य निमज्जनाय एव ब्रुडितुमेव अधुना अमुं कीचकसूदनोद्यमम् कीचकमारणोद्योगं सृजसि करोषि । हिडिम्बकिर्मीरजरासन्धबकासुरादिमारणेऽपि मम भुजस्य लज्जा जाता, अतिशयितसामर्थ्यजुषो मम भुजस्य तेषां मारणेऽपि नोत्कर्षः, परं लज्जैव, परन्तु तथापि तेषां राक्षसत्वादिगौरवशालितया तत्र त्रपासागरे मम भुजस्तरन्नेवातिष्ठत्, नाधिकमलज्जतात्पमेवालज्जतेत्यर्थः, अधुना त्वयाऽनुरुध्यमानः सन् कीचकं विनिपात्य तु मद्भुजोऽवश्यं लज्जासागरे मज्जेत्, कीचकस्य नराधमत्वेन तद्वधप्रवृत्तेर्लज्जास्पदत्वादित्याशयः ॥ ५३ ॥

हिडिम्ब, किर्मीर, जरासन्ध तथा बकासुर वगैरहको मारनेसे उत्पन्न लज्जारूप सागरमें तैरते हुए हमारे भुजको आज तुम कीचकवधमें उद्यत बनाकर लज्जासागरमें डुबानेका ही प्रबन्ध कर रही हो। जिस मेरे भुजको हिडिम्बप्रभृतिके मारनेसे भी कुछ लज्जा ही हुई थी, क्योंकि वह उसके योग्य प्रतिभट नहीं थे, उसी भुजसे आज कीचकका वध किया जायगा, यह तो हमारे भुजके लिये लज्जासागरमें डूब जानेकी ही बात होगी ॥ ५३ ॥

तथाप्यौदास्यमेतस्मिन्नन्नौपयिकमेव मे ।
क्षोदीयानपि वध्यो हि कुलस्त्रीध्रुक् महीयसाम् ॥ ५४ ॥

तथापीति । तथापि कीचकवधस्यातिक्षुद्रकार्यतया लज्जाजनकत्वेऽपि एतस्मिन् त्वदुक्ते कीचकहनने विषये मे मम भीमस्य औदास्यं तटस्थत्वमुपेक्षा अनौपयिकम् अयुक्तं, तन्न कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपमर्थान्तरमाह—क्षोदीयानिति । हि यतः क्षोदीयान् अतिक्षुद्रोऽपि कुलस्त्रीध्रुक् कुलललनापातिव्रत्यभङ्गोद्युक्तो जनः महीयसां महतां वध्यः हन्तव्यः ॥ ५४ ॥

यद्यपि कीचकको मारना अति तुच्छकार्य होनेके कारण मेरे लिये लज्जाजनक होगा, फिर भी इस विषयमें-कीचकको मारनेमें उदासीनता मेरे लिये अनुचित होगी, क्योंकि क्षुद्रतम व्यक्तिभी यदि कुलललनाके शीलपर आघात पहुँचाना चाहता हो तो बड़ोंका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसे समाप्त कर दें ॥ ५४ ॥

अये तन्वि ! किं बहुना,—

अये इति । अये तन्वि कृशोदरि, किं बहुना उक्तेन, प्राप्तकाले कार्ये बहूक्त्वाऽलमित्यर्थः । तस्मात्कार्यमेव प्रतीक्षस्वेत्यर्थः ।

हे कृशोदरि, अब अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

---

१. 'अनौपायिकम्' । इति पा० ।

तस्यासृजा यावकिताङ्घ्रिमस्थ्नां चूर्णेन कर्पूरमयाङ्गरागाम् ।
[2]अकीर्तिमष्याप्यभिलिप्तनेत्रीमलंकरिष्ये मम वीरलक्ष्मीम् ॥ ५५ ॥

तस्यासृजेति । तस्य तवापमन्तुः कीचकस्य असृजा शोणितेन यावकितौ संजातयावकौ कृतलाक्षारागौ अंघ्री पादौ यस्यास्तां तथोक्ताम् तस्य कीचकस्य अस्थ्नां कीकसानां चूर्णेन क्षोदेन कर्पूरमयः कर्पूररचितः अङ्गरागो विलेपनं यस्यास्तां तथाभूताम् अपि च अकीर्त्तिमष्या दुर्यशोरूपेणाञ्जनेन अभिलिप्तनेत्रीम् अभ्यक्तलोचनाम् मम वीरलक्ष्मीम् आत्मीयां शौर्यसम्पदम् अलङ्करिष्ये अहं प्रसाधयिष्यामि । मम हि वीरलक्ष्मीर्मया कीचकं हत्वा तदीयरुधिरेण यावकितचरणा तदस्थिचूर्णेन कर्पूरकृताङ्गरागशालिनी तदयशोऽञ्जनेनाभ्यक्तलोचना च सत्यलंकृतत्वं प्राप्स्यतीति, अहमवश्यं तं हनिष्यामीति भावः ॥ ५५ ॥

मैं अपनी वीरलक्ष्मीके चरणोंमें कीचकके शोणितसे अलक्तक लगाकर उसकी हड्डीके चूर्णसे उसके शरीर पर कर्पूरका पाउडर मलकर तथा उसकी अकीर्त्तिरूप स्याहीसे उसके नेत्रोंको अञ्जनसे लिप्त करके सजाऊँगा ॥ ५५ ॥

वीरश्रियः शिल्पमिदं मयोक्तं यथार्थभावादनुभूय सद्यः ।
सैरन्ध्रिकाचारविनोदनेऽपि तवानुसारेच्छुमवेहि मां त्वम् ॥ ५६ ॥

वीरश्रिय इति । इदं प्रोक्तप्रकारकं वीरश्रियः शौर्यलक्ष्म्याः शिल्पम् अलङ्कारम् यथार्थभावात् वस्तुतः सत्यरूपेण अनुभूय विलोक्य त्वं सद्यः तत्क्षणम् सैरन्ध्रिकाचारविनोदने सैरन्ध्रीभूतायास्तव कार्यस्यानुकरणेन प्रसाधनकर्मप्रवृत्तिरूपेण विनोदने क्रीडायाम् अपि तव अनुसारेच्छुम् तवाभिप्रायानुगामिनम् अवेहि जानीहि अहम् वीरलक्ष्मीं प्रोक्तप्रकारेण प्रसाधयिष्यामि, तत्प्रसाधनं दृष्ट्वा त्वमवगमिष्यसि यदयं भीमो मां सैरन्ध्रीभूतां प्रसाधनकर्मणानुकृत्य स्वं प्रेमभरं प्रकाशयति, स्वानुरूपचेष्टादर्शनेन प्रेमप्रकर्षस्य स्वाभाविकत्वादित्याशयः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार सम्पन्न किये गये मेरी वीरलक्ष्मीके प्रसाधन–अलङ्करण–को वास्तविकरूपसे तुम देखोगी, तब तुम्हें मालूम पड़ेगा कि भीम तुम्हारे सैरन्ध्रिकाचारानुसरणमें भी रुचि रखता है, तुम सैरन्ध्री बनी हो, वह भी प्रसाधक बनकर तुम्ही जैसा प्रसाधन करके तुम्हारे प्रेमको प्रकृष्ट बनानेका इच्छुक है ॥ ५६ ॥

त्वया पु[3]नश्च स्मितपूर्ववाचा प्रत्युत्पतन्त्येव कटाक्ष[4]खेलैः ।
क्रीडां विधातुं क्रियताममुष्य संकेतभूस्ताण्डवमण्डपोऽयम् ॥ ५७ ॥

त्वया पुनश्चेति । त्वया द्रौपद्या च पुनः प्रत्युत्पतन्त्या स्नेहेन स्वयमागच्छन्त्या

---

१. 'भस्राम्' । २. 'अकीर्तिमष्याथ विलिप्तनेत्राम्' । ३. 'पुनः ·ः' ।
४. 'जालैः' । इति पा० ।

इव कटाक्षखेलैः वक्रनेत्रपातैः सह स्मितपूर्वंवाचा सहासवचनव्याहारिण्या क्रीडां संभोगं वधं च विधातुम् कर्त्तुम् अयं ताण्डवमण्डपः नृत्यशाला अमुष्य कीचकाधमस्य सङ्केतभूः गुप्तमिलनस्थानं क्रियताम् । त्वं च स्नेहेन स्वयमागतामिवास्मानं प्रदर्शयन्ती सती सकटाक्षस्मितं व्याहरन्ती सती इमां रङ्गशालां तस्य सङ्केतभुवं संभोगाय कल्पयेत्यर्थः, सङ्केतस्थानमायातस्य तस्य वधः सुकरः स्यादतः प्रतार्य तमत्रानयेति भावः ॥ ५७ ॥

तुम भी इस प्रकार हँस-हँसकर कटाक्ष चलाती हुई बातें करना कि वह समझे कि तुम प्रेमसे खुद उसके पास आ रही हो, और पीछे उसको संभोग प्रदान करनेके लिये (या उसकी मृत्युक्रीड़ा देखनेके लिये) इसी नृत्यशालाको संकेत स्थान बना दो ॥ ५७ ॥

इत्याश्वासितवतः पत्युरनुमत्या पुनरागत्य[1] नैपथ्यभवनमधिशयालोस्तस्याश्चेतसः[2] पलायमानस्य भयभरस्य सापि विभावरी सहचरी बभूव ॥

इतीति । इति एवं प्रकारेण आश्वासितवतः दत्ताश्वासनस्य पत्युः स्वामिनो भीमस्य अनुमत्या आज्ञया पुनः आगत्य नैपथ्यभवनम् सैरन्ध्र्याः आवासाय कल्पितं नृत्यरमणीनामलङ्करणप्रसाधनस्थानम् अधिशयालोः शयितायास्तस्याः द्रौपद्याः चेतसः हृदयात् पलायमानस्य अपसरतः भयभरस्य सा विभावरी रात्रिः अपि सहचरी पलायने सङ्गिनी बभूव, तस्या भयेन सहैव निशापि पलायिता ।

इस प्रकार धीरज बँधानेवाले पतिदेव भीमकी अनुज्ञा प्राप्तकरके द्रौपदी फिर अपने आवासस्थान-अलङ्करण भवनमें आकर सो रही, उसके हृदयसे भागते हुए भयके साथ वह रातभी भाग खड़ी हुई, उसके भयके साथ रात भी समाप्त हुई ॥

अन्येद्युरेत्य चपलः पुनरब्रवीत्तां[3]
सुभ्रु ! प्रसीद मयि तुल्यनिकारपात्रे ।
केलीषु हार्दकलहेषु च केशकृष्टिं
पादाहतिं च दधती कुरु वैरशुद्धिम् ॥ ५८ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः परदिने चपलः परस्त्रीलम्पटः सः कीचकः पुनः एत्य समीपमागत्य तां द्रौपदीम् अब्रवीत् उक्तवान्, हे सुभ्रु रमणीयभ्रूलताशालिनि, तुल्यनिकारपात्रे समानापमानयोग्ये—यादृशस्तव कचग्रहणपादताडनात्मकोऽपराधो मया कृतस्तादृशमेव कचकर्षणचरणाघातरूपं दण्डं भोक्तुं योग्ये—मयि प्रसीद प्रसादं प्रकटय । ननु दास्यहं राजवल्लभस्य तव दण्डं कर्त्तुं कथं शक्नुयामिति चेत्तत्राह—केलीष्विति । केलीषु सुरतबन्धविशेषेषु हार्दकलहेषु प्रणयकोपेषु च क्रमशः केशकृष्टिं कचग्रहणं पादाहतिं चरणप्रहारं च दधती कुर्वती सती वैरशुद्धिं

---

१. 'आपत्य' । २. 'अस्याः' । ३. 'आश्वसत्ताम्' । इति पा० ।

कृतापमाननिर्यातनां कुरु संपादय। यदहं कचमग्रहीं यच्च पदाघातमकरवं तद्-रतौ प्रणयकोपे च कृत्वा त्वमपि निर्यातयेति भावः ॥ ५८ ॥

दूसरे दिन वह परदारलम्पट कीचक द्रौपदीके पास आया और कहने लगा—मैं उचित दण्डका पात्र हूँ, जैसा कसूर मैंने किया है वैसा दण्ड मुझे मिलना चाहिये, मैंने तुम्हारे केश पकड़े, तुम्हें पादसे ताडित किया, उसका बदला मुझे मिलना चाहिये, अतः तुम मुझपर प्रसन्नता धारण करो और सुरतक्रीड़ामें केशग्रहण करके तथा प्रणयकलहावस्थामें पादप्रहार करके अपना वैर साध लो ॥ ५८ ॥

पञ्च सन्तु धवास्तेभ्यो मुञ्च भीतिं मयि स्थिते।
पञ्चवक्त्रे वने दृष्टे किं चरेयुः परे मृगाः ? ॥ ५९ ॥

पञ्चेति। पञ्चधवाः पतयः ते सन्तु तिष्ठन्तु, मयि भूयिष्ठबले स्थिते सति तेभ्य पतिभ्यः भीतिं भयं मुञ्च त्यज, तव पञ्चपतयः सन्तोऽपि मयाऽनुगृहीतायास्ते नास्ति तेभ्यः स्वल्पमपि भयमित्यर्थः, तद्दृष्टान्तमाह—वने कानने पञ्चवक्त्रे सिंहे दृष्टे सति किं परे मृगाः चरेयुः बहिर्भवेयुः, यथा सिंहं दृष्ट्वा मृगाः पलायन्ते तथा त्वत्समीपे मां दृष्ट्वा ते त्वत्सकाशाद्दूरमपसरिष्यन्ति, तेन निश्शङ्कं मां जुषस्वेत्यनुरोधः फलति ॥ ५९ ॥

तुम्हारे पाँच पति हैं तो रहा करें, जब अतिबलशाली मैं उपस्थित हूँ तो उनसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है, क्या वनमें सिंहसे देखे जानेके बाद भी हरिण इधर उधर चलते हैं ? जैसे सिंहको देखकर हरिण छिप जाते हैं वैसे ही मुझको तुम्हारे पास देखते ही तुम्हारे पति कहीं छिप जाएँगे, उनसे भयभीत होनेकी आवश्यकता बिलकुल नहीं है ॥ ५९ ॥

मस्तकेऽञ्जलिपद्मस्य मम संप्रति मानिनि[1] !।
प्रसादशंसिनं पादं प्रयच्छ सहचारिणम् ॥ ६० ॥

मस्तक इति। हे मानिनि, कोपने, सम्प्रति अधुना मम मस्तके शिरसि अञ्जलिपद्मस्य त्वत्प्रसादनाय बद्धस्याञ्जलेरेव कमलस्य प्रसादसूचकं स्वीयप्रसन्नताद्योतकं पादं सहचारिणं समीपस्थायिनं सङ्गिनं प्रयच्छ वितर। त्वत्प्रसादनाय मयाऽयमञ्जलिरारचितस्त्वं स्वप्रसन्नताद्योतकं स्वीयं चरणं मम मस्तके निधेहि इत्यर्थः ॥ ६० ॥

हे मानिनि, मैंने तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये यह अञ्जलि अपने मस्तक पर रखी है, हाथ जोड़े हैं, कृपया अपनी प्रसन्नताको सूचित करनेवाले अपने चरणोंको भी हमारे सिर पर रखकर उसका सङ्गी बना दो ॥ ६० ॥

इत्थमतिवेलं[2] प्रलपन्तमेनं प्रत्यरुचिमुखसाचीकरणे[3] त्रपाहेतुकतामभिनयन्ती सा कुन्तीस्नुषा तृषाभिभूतेव[4] वचनमिदं किंचिदुदञ्चयांचकार[5],—

---

१. 'भामिनी'; 'मालिनी'। २. 'इति'। ३. 'प्रति जुगुप्सया'। ४. 'तृष्णा'। ५. 'चक्रे'। इति पा०।

अयि भद्र ! जगदिदमारुद्रं क्षुद्रयितुमनिद्राणाय[1] शम्बरद्रुहः शासनमुद्रणाय द्रुह्यति को वा जनः ? । किंतु इयानेव प्रस्तुते वस्तुनि विशेषः[2] ॥

इत्थमिति । इत्थम् अनेन प्रकारेण अतिवेलम् निर्मर्यादं प्रलपन्तं व्यर्थं वदन्तम् एनं कीचकं प्रति अरुच्या घृणया मुखस्य साचीकरणे तिर्यक्करणे त्रपाहेतुकताम् लज्जाजन्यत्वम् अभिनयन्ती प्रदर्शयन्ती नाहं घृणया मुखं वक्रीकरोमि, किन्तु लज्जया तथा करोमीति प्रकाशयन्ती सा कुन्तीस्नुषा कुन्त्याः पुत्रवधूः तृषाऽभिभूता कामातुरा इव इदं वक्ष्यमाणं वचनं किञ्चिद् ईषत् मन्दं मन्दम् उदञ्चयांचकार व्याजहार ।

अयि भद्र हे सौम्य, आरुद्रं शिवपर्यन्तम् इदं जगत् भुवनम् क्षुद्रयितुं स्ववशे कृत्वा तुच्छीकर्त्तुम् अनिद्राणाय सततजागरूकाय शम्बरद्रुहः कामदेवस्य शासनमुद्रणाय आदेशाय को वा जनः द्रुह्यति विपरीतमाचरति ? न कोऽपि तथेति भावः । किन्तु इयान् एतावन्मात्रम् एव प्रस्तुते प्रक्रान्ते मन्मथविकारे वस्तुनि विशेषः तारतम्यम् अस्तीति शेषः ।

इस प्रकार मर्यादा त्याग करके निरर्थक बातें करते हुए कीचकसे—उसके प्रति घृणासे मुँह टेढ़ा करके उस वक्रताको लज्जामूलक प्रदर्शित करती हुई तथा अपनेको कामातुर सी जताती हुई उस कुन्तीकी पुत्रवधू द्रौपदीने निम्नोक्त वचन धीरेसे कहे—

अजी भले आदमी, महादेवसे लेकर सारे संसारको अपने वशमें करके क्षुद्र बनानेमें सतत संलग्न रहनेवाले कन्दर्पके शासनके साथ कौन द्रोह कर सकता है ? किन्तु इस कामविकारके सम्बन्धमें इतना ही अन्तर है— ॥

स्त्रीपुंसयोर्भावनटौ मिथो यौ पूर्वस्तयोर्व्रीडतिरःपटेन ।
चिरायते स्पष्टयितुं स्वरूपं परस्तु तन्नोत्सहतेऽनुमन्तुम् ॥ ६१ ॥

स्त्रीपुंसयोरिति । स्त्रीपुंसयोः स्त्रियः पुंसश्च मिथः परस्परं यौ भावनटौ अनुरागनटौ तयोः पूर्वः स्त्रियोऽनुरागनटः व्रीडतिरःपटेन लज्जायवनिकया स्वरूपं आत्मस्वरूपं स्पष्टयितुं प्रकाशयितुं चिरायते विलम्बते, परः पुंसो रागनटस्तु तत् विलम्बाधानम् अनुमन्तुं स्वीकर्त्तुं नोत्सहते विलम्बं न प्रतीक्षते । स्त्री पुरुष-विषये यमनुरागं वहति सोऽनुरागो लज्जायवनिकाच्छन्नत्वेन झटिति न प्रकाशते, पुरुषस्य स्त्रीविषयको रागस्तु लज्जायवनिकाभावात् त्वरितमात्मानं प्रकटीकरोति, एतावदेवान्तरं तव मम चानुरागस्य बोध्यम् ॥ ६१ ॥

स्त्री तथा पुरुषके हृदयोंमें एक दूसरेके लिये उदित होनेवाले प्रेमरूप जो नट रहा करते हैं, उनमें स्त्रीहृदयवर्त्ती पुरुषविषयक अनुरागनट लज्जाके परदेमें छिपा रहनेके कारण

---

१. 'अनिद्राणस्य' । २. 'प्रस्तुते विशेषः' । इति पा० ।

अपनेको प्रकाशित करनेमें देर करता है, और पुरुषहृदयवर्त्ती स्त्रीविषयक अनुरागनट विलम्ब नहीं सह सकता है, इतना ही अन्तर दोनोंमें है, नहीं तो काम सबको सताता है ॥

किं बहुना,—

गीर्भिस्तवाद्य चतुराभिरुदस्यते मे
गन्धर्वदण्डनभयं त्वदवाप्तिविघ्नः ।
तस्माद्भजस्व रतिसौख्यभराय रात्रौ
भीमे स्थिते तमसि नर्तनगेहमध्यम् ॥ ६२ ॥

गीर्भिस्तवेति । चतुराभिः चातुरीपूर्णाभिः तव गीर्भिः वाग्भिः त्वदवाप्तिविघ्नः त्वत्कामनापूरणपन्थी मे मम गन्धर्वदण्डनभयं गन्धर्वरूपपतिदेयकष्टभयम् अद्य सम्प्रति उदस्यते अपसरति, त्वदीयाभिः कुशलाभिर्वाग्भिरहं गन्धर्वदण्डभयान्मुक्ता, सम्प्रति त्वदाज्ञापालने मम कोऽपि प्रतिबन्धो नास्तीत्यर्थः । तस्मात् रात्रौ रतिसौख्यभराय संभोगसुखातिशयप्राप्तये भीमे तमसि गाढान्धकारे स्थिते वर्त्तमाने नर्त्तनगेहमध्यम् नृत्यशालामण्डपम् भजस्व प्राप्नुहि । इदं नृत्यशालामध्यमेवावयोर्मिलनस्य सङ्केतस्थलमस्त्विति भावः ॥ ६२ ॥

तुम्हारी चतुर वाणियोंके सुन लेनेसे आज हमारे हृदयमें रहनेवाला गन्धर्वसे दण्ड पानेका भय मिट गया जो मुझे तुमसे मिलने नहीं दे रहा था, अतः आज रातमें जब गाढ़ अन्धकार सर्वत्र व्याप्त रहे तब कामसुखका प्रकर्ष भोगनेके लिये इस नर्त्तनशालाके बीचमें आ जाना । यहीं हम लोग मिलेंगे । 'भीमके रहने पर' यह भी प्रतीत होता है ॥ ६२ ॥

तथैव लीलां तनवानि तत्र तल्पान्तसीमानमुपेयुषस्ते ।
भूयो यथान्तःपुरिकाजनानां वक्त्रं[1] न पश्येरतिसुन्दरीणाम् ॥६३॥

तथैवेति । तत्र नर्त्तनगेहे तल्पान्तस्य शय्यायाः एकदेशम् उपेयुषः आगतमात्रस्य ते तव लीलां स्मरक्रीडां तथैव तेन प्रकारेण विचित्रैर्बन्धादिभिस्तनवानि करवै, यथा भूयः अतिसुन्दरीणाम् रतिसुन्दरीणां वा अन्तःपुरिकाजनानां स्वावरोधवधूनां वक्त्रं मुखं न पश्येः । त्वां तत्र गतमहं तथा रमयेयं यथा त्वमात्मललनाः नितरां विस्मरेरित्यर्थः । भीमे स्थिते इति प्रागुक्तं तदत्र सम्बध्यते, तथा च भीमे स्थिते तल्पमुपेतस्य तव तां लीलां ताडनां कारयेयं यथा त्वं तत्रैव मृत्वा स्वस्त्रीणां मुखं पुनर्द्रष्टुं न शक्नुया इति कुटिलार्थो ध्वन्यते ॥ ६३ ॥

नृत्यमंडपमें लगी सेजके एक भागमें जब तुम आओगे तब तुम्हारे साथ ऐसी ऐसी संभोगलीलायें प्रकट करूँगी कि फिर तुम अतिसुन्दरी या रतिकी-सी सुन्दरी अवरोधललनाओंका मुँह भी नहीं देखना चाहोगे । पहले श्लोकमें 'भीमे स्थिते' कहा है, भीमकी

---

१. 'वक्त्रं न पश्येर्न पुनः स्पृशेश्च' । इति पा० ।

उपस्थितिमें जब तुम शय्यापर आरूढ़ होगे तब तुम्हारी वह लीला-दशा-कराऊँगी कि फिर तुम अपनी स्त्रियोंके मुँह भी नहीं देख पाओगे, वहीं पर सदाके लिये विश्राम पा लोगे, यह कुटिलार्थ भी ध्वनित होता है॥ ६३॥

एवं मृगाक्ष्या वचनमाक्षिकस्य क्षौद्रपटलीभूतकर्णपुटः प्रमोदार्णवजलमानुषायमाणहृदयः सदनमासाद्य समालम्भनपूर्वेण[1] सलिलावगाहेन विरजीकृताङ्गोऽयमन्तरिव बहिरप्यवलिप्तः, ततः परं भगवति निजतनय[2]प्रजावतीमनोरथसिद्धिं संपादयितुमिव कमलबन्धौ चरमसिन्धौ निमग्ने[3] ध्वान्ते निरुध्यमानदिविषदध्वान्ते [4]ध्वान्तकदम्बे संभृतसंभोगसंविधानः कीचको [5]निर्वर्तितराजभोजनपरिवेषणकृत्येन [6]पवमानसूनुना प्रविष्टपूर्वं[7] तदेव नर्तनमण्डपमगाहत॥

एवमिति। एवं प्रोक्तप्रकारेण मृगाक्ष्याः हरिणलोचनाया द्रौपद्या वचनमेव माक्षिकं मधु तस्य क्षौद्रपटलीभूतः मधुच्छत्रीभूतः (आश्रयः) कर्णपुटो यस्य तथोक्तः—द्रौपद्या मधुरं वचनं कर्णे कुर्वन् इत्यर्थः, प्रमोदार्णवे आनन्दसागरे जलमानुषायमाणं पानीयपुरुषवदाचरद्धृदयं यस्य तथोक्तः आनन्दमग्नमानसः कीचकः सदनं स्वं प्रासादम् आसाद्य आगत्य समालम्भनपूर्वेण गन्धरजोभिरङ्गोद्वर्त्तनपूर्वकेण सलिलावगाहेन स्नानेन विरजीकृताङ्गः निर्मलीकृतदेहः अयम् कीचकः बहिः उपरि इव अन्तरपि अवलिप्तः चन्दनचर्चितः गर्वितश्च, ततः परं स्नानादुत्तरकाले निजतनयस्य स्वपुत्रस्य कर्णस्य प्रजावत्या भ्रातृजायायाः द्रौपद्याः मनोरथस्य कीचकवधरूपस्य सिद्धिं पूर्त्तिं सम्पादयितुं कर्त्तुम् इव भगवति कमलबन्धौ सूर्ये चरमसिन्धौ पश्चिमाम्बुधौ निमग्ने अस्तंगते सति, ध्वान्तकदम्बे अन्धकारराशौ निरुध्यमाणः आव्रियमाणो दिविषदध्वान्तः देवमार्गप्रान्तः आकाशदेशो येन तथोक्ते आकाशमावृण्वति सति संभृतसंभोगसंविधानः सज्जीकृतस्रक्चन्दनताम्बूलादिसुरतक्रीडोपकरणः कीचकः निर्वर्त्तितं सम्पादितं राजभोजनपरिवेषकृत्य तत्स्वरूपं स्वीयं कार्यं येन तथोक्तेन पवमानसूनुना वायुसुतेन प्रविष्टपूर्वम् पूर्वमेवाश्रीयमाणं तदेव द्रौपदीनिर्दिष्टं नर्त्तनमण्डपम् नृत्यशालाभवनम् अगाहत प्रविष्टवान्॥

इस प्रकार मृगाक्षी द्रौपदीके वचनरूप मधुके लिए मधुका छाता (आश्रय) हो रहा है कान जिसका ऐसा, द्रौपदीकी मीठी बातें सुनता हुआ, प्रमोदसागरमें जलमानुषकी तरह आचरण कर रहा है हृदय जिसका ऐसा-प्रमोदसागरमग्नहृदय, वह कीचक उबटन लगाकर स्नान करके निर्मलशरीर बनकर बाहरकी तरह अन्दर भी अवलिप्त-चन्दनचर्चित-तथा

---

१. 'समारम्भण'। २. 'तनुज'। ३. 'निमग्ने निरुध्य'; 'निमज्जमाने'। ४. 'ध्वान्ते संभृतसंभोग'। ५. 'अनिवर्तित'। ६. 'पवन'। ७. 'गेहम्'। इति पा०।

गर्वित हो, इसके बाद भगवान सूर्य जब अपने पुत्र कर्णकी भ्रातृजाया द्रौपदीके मनोरथ-कीचक-वध-को पूर्ण करनेके लिये पश्चिम सागरमें डूब गये और अन्धकारराशिने देवोंके मार्गको घेर लिया तब संभोगकी सामग्री माला-चन्दन-ताम्बूल आदि इकट्ठी करके द्रौपदी द्वारा निर्दिष्ट उसी नृत्यशालामें पैठा जिसमें राजाका भोजन परोसनास्वरूप अपना कार्य सम्पन्न करके वायुपुत्र भीम पहलेसे ही जा बैठा था ॥

क्व सालभञ्जिकेवासि मौलिनि[1] ! स्तम्भपार्श्वगा ।
इत्यसौ भीमतल्पान्तमाससाद शनैः शनैः ॥ ६४ ॥

क्व सालभञ्जिकेति । हे सैरन्ध्रि, सालभञ्जिका कृत्रिमपुत्रिका इव त्वं क्व कुत्र स्तम्भपार्श्वगा स्तम्भस्य पार्श्वे वर्त्तमाना असि ? इति एवं भाषमाणोऽसौ कीचकः शनैः शनैर्मन्दपदन्यासं भीमतल्पान्तम् भीमाधिष्ठितशय्यासमीपम् आससाद प्राप्तवान् । सालभञ्जिकेवेत्युपमाऽलङ्कारः ॥ ६४ ॥

हे सैरन्ध्रि, कठपुतलीकी तरह सुन्दरी तुम कहाँ पर खम्भेकी ओटमें दुबकी खड़ी हो, इस प्रकार कहता हुआ वह कीचक धीरे-धीरे भीमकी शय्याके पास पहुँच गया ॥ ६४ ॥

ततस्तं वललोऽपि[2] स्त्रैणसमुचितेन कण्ठस्वरेण मृदुलमेवं जगाद,—

ततस्तमिति । ततः कीचके शय्योपान्तमागते सति वललः (विराटगृहे गुप्तवासकाले भीमस्य तदेव नाम प्रथते स्म) अपि स्त्रैणसमुचितेन स्त्रीजनोपयुक्तेन कण्ठस्वरेण मृदलं कोमलं यथास्यात्तथा एवं वक्ष्यमाणरूपं वचनं जगाद प्रोक्तवान् ॥

इसके बाद भीमने (वलल यह भीमका ही गुप्तवासकालिक नाम था) स्त्रीजनोपयुक्त स्वरमें मीठी रीतिसे यह कहा—

वधूशतमनादृत्य मामपेक्ष्य यदागतः[3] ।
तत्त्वां बहिर्गतप्राणं मन्यते मे मनोऽधुना ॥ ६५ ॥

वधूशतमिति । हे कीचक, यत् त्वं वधूशतम् अवरोधजनान् अनादृत्य उपेक्ष्य माम् सैरन्ध्रीम् अपेक्ष्य लक्ष्यीकृत्य आगतः आयातः, तत् मे मम मनः त्वाम् अधुना बहिर्गतप्राणं मद्गतजीवनं मृतकल्पं च मन्यते । अनुमानालङ्कारः ॥ ६५ ॥

वधूशत-अवरोधस्थित अनेक स्त्रीजन-को छोड़कर मेरी खोजमें जो तुम यहाँ आये हो, इससे मेरा मन ऐसा समझता है कि तुम्हारे प्राण मुझमें ही रह रहे हैं (या तुम मर चुके हो) ॥ ६५ ॥

एवमुक्तवते वृकोदराय कीचकः पुनरपि वाचं मृदुपदामुपदां[4] विदधे[5] ॥

एवमिति । एवं प्रोक्तरूपेण उक्तवते वृकोदराय भीमाय कीचकः पुनरपि भूयः मृदुपदां कोमलां वाचं गिरम् उपदां विदधे उपायनीकृतवान् उपहृतवान् ॥

---

१. 'मानिनि' । २. 'बल्लवोऽपि' । ३. 'यदागमः' । ४. 'उपायनम्' । ५. 'आददे' । इति पा० ।

इस प्रकार कहनेवाले भीमको कीचकने फिरसे कोमल वचन कहे ॥

गन्धर्वानपि दयितांस्तृणाय मत्वा
मामेवं रतिविधये प्रतीक्षसे यत्।
देवत्वादपि सुतनु ! त्वयाधुना मे
मर्त्यत्वं जगति महत्तरं हि [1]क्लृप्तम् ॥ ६६ ॥

गन्धर्वानिति। हे सुतनु वरगात्रि, त्वं दयितान् प्रियतमान् गन्धर्वान् अपि तृणाय मत्वा अनादृत्य माम् मनुष्यमात्रम् एवं स्वयमाहूय रतिविधये संभोगाय यत् यतः प्रतीक्षसे प्रतिपालयसि, तत् तस्मात् मे मम कीचकस्य मर्त्यत्वम् मानुष्यकम् देवत्वात् देवभावात् अपि जगति संसारे महत्तरं श्रेष्ठं क्लृप्तम् साधितम् हि-निश्चये। यतस्त्वं देवयोनिगतान् प्रियानपि गन्धर्वान् विहाय मां रतये प्रतीक्षसे ततो देवत्वापेक्षयाऽपि मम मनुष्यतां श्रेष्ठां प्रत्याययसीति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ६६ ॥

हे सुन्दरि, अपने प्रियतम गन्धर्वोंको अपमानित करके तुम जो इस तरह रतिसंभोगके लिये मेरी प्रतीक्षा कर रही हो, इससे तुम हमारे इस मर्त्यभावको देवत्वसे भी संसारमें श्रेष्ठ सिद्ध कर रही हो ॥ ६६ ॥

सुराधिकत्वेऽपि पदे वितीर्णे मह्यं तवास्त्येव हि कृत्यशेषः।
कुरुष्व मेरोरधिके कुचे मां सुधाधिकं पायय चाधरोष्ठम् ॥ ६७ ॥

सुराधिकत्वेऽपीति। सुराधिकत्वे देवादपि श्रेष्ठत्वे पदे गौरवे वितीर्णे दत्ते अपि गन्धर्वानप्यनादृत्य मत्प्रतीक्षाविधानेन देवेभ्योऽप्यहं श्रेष्ठ इति प्रमापितेऽपि मह्यं मम कृते तव कृत्यशेषः कर्त्तव्यशेषः अस्त्येव विद्यत एव कर्त्तव्यशेषमाह—मां सुमेरोरधिके देवालयपर्वतादपि तुङ्गे कुचे कुरुष्व स्थापय, सुधाधिकम् अमृतादपि स्वादिष्टम् अधरोष्ठं च पायय पातुं प्रयच्छ, न गौरवप्रदानमात्रेण मम देवादुच्चत्वं सार्थकं किन्तु देववासभूतसुमेरोरपेक्षयोन्नते कुचे स्थानलाभेन देवभोज्यसुधापेक्षयाऽधिकमधुरस्य तवाधररसस्य पानेन चैव तथेति कर्त्तव्यशेषं पूरयेत्यर्थः। आलिङ्गनाधरपानावसरदानेन मां तोषय, न प्रतीक्षामात्रेण ममेष्टसिद्धिरिति भावः ॥ ६७ ॥

तुमने सुराधिक होनेका गौरव तो मुझे प्रदान किया, गन्धर्वोंका अपमान करके रतिकी कामनासे हमारी प्रतीक्षा करके हमें गन्धर्वोंसे श्रेष्ठ तो संसारमें सिद्ध कर दिया, फिर भी तुम्हारा कर्त्तव्य अभी बाकी है तुमको अब सुमेरुसे ऊँचे अपने स्तनों पर मुझे रखना चाहिये और अमृतसे स्वादु अपना अधर मुझे पिलाना चाहिये। जिसे देवोंसे ऊँचा सिद्ध करना है उसे देवालयसे ऊँचे स्थान पर रखो, और देवपेय सुधासे स्वादिष्ट अधर पिलाओ, तभी तो देवाधिक पद प्रदान करना सत्य साबित होगा ॥ ६७ ॥

---

१. 'प्रक्लृप्तम्'। इति पा०।

इत्थं ससान्त्ववचनोद्यमर्धमञ्च-
मारोढुमानमितपूर्वतनोः स भीमः।
मुष्ट्याहतिं निटिलसीम्नि चकार शत्रो-
रायुर्लिपिं शिथिलयन्निव धातृदत्ताम् ॥ ६८ ॥

इत्थमिति। इत्थम् उक्तप्रकारेण ससान्त्ववचनोद्यं स प्रियवाक्यव्याहारं प्रियाणि वचनान्युक्त्वा अर्धमञ्चम् शयनीयार्धभागम् आरोढुम् आक्रमितुम् आनमितपूर्वतनोः आवर्जितोर्ध्वकायस्य तस्य शत्रोः कीचकस्य धात्रा ब्रह्मणा दत्तां लिखिताम् आयुर्लिपिं जीवनलिपिं शिथिलयन् मार्जयन्निव स भीमः निटिलसीम्नि ललाटदेशे मुष्ट्याहतिं मुष्ट्याघातं मुष्टिप्रहारं चकार। प्रियाणि व्याहरन् कीचको मञ्चार्धभागमारोढुं यावच्छरीरोद्‌र्ध्वभागं नमयति, तावत्तस्य ललाटदेशे भीमो मुष्ट्या प्रहारमकृत, मन्ये भीमो ब्रह्मणा कीचकस्य ललाटे लिखितामायुर्लिपिं प्रोञ्छितुमिव तथा प्राहार्षीदित्याशयः। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार मधुर वचन कहते हुए कीचकने जब शय्या पर आरूढ़ होनेकी इच्छा से शरीरका ऊपरी हिस्सा झुकाया, उसी समय भीमने उसके कपार पर मुष्टिप्रहार किया वह प्रहार करना ऐसा लगा मानो भीम ब्रह्मा द्वारा कीचकके ललाट पर लिखी गई आयुलिंपि मिटा दे रहा हो ॥ ६८ ॥

गम्भीरचेताः स तु कीचकोऽपि गन्धर्वबुद्ध्या प्रतिहन्तुमेनम्।
सद्यो भविष्याः शवतादशायाः साधारणीमेव बबन्ध मुष्टिम् ॥ ६९ ॥

गम्भीरचेता इति। गम्भीरचेताः अकातरहृदयः सः कीचकः अपि गन्धर्वबुद्ध्या गन्धर्वोऽयं सैरन्ध्रीकामुकं मां प्रहरतीति बुद्ध्या एनं प्रहर्त्तारं भीमं प्रतिहन्तुम् प्रतिप्रहर्त्तुम् सद्यो भविष्याः क्षणेनैव भाविन्याः शवतादशायाः मृत्यूपरान्तस्थितेरेव साधारणीं सदृशीं मुष्टिं बबन्ध। शवानां मुष्टिर्न मुच्यत इति प्रसिद्ध्याऽमोच्यां मुष्टिं बबन्धेत्यर्थः, कृते प्रतिकारस्यावश्यकतया कीचकोऽपि भीमं मुष्ट्या प्रहर्त्तुममोच्यां मुष्टिं बबन्धेति यावत् ॥ ६९ ॥

नहीं है कायर हृदय जिसका ऐसा वह कीचक यह समझकर कि गन्धर्व मुझ पर प्रहार कर रहा है, प्रति प्रहार करनेके लिए मुट्ठी बाँधकर तैयार हो गया, उसने इतनी कड़ी मुट्ठी बांधी जो कुछ ही देर में होनेवाली उसकी शवता दशाके योग्य थी। मुर्दोंकी मुट्ठी नहीं खुलती है, अतः यह अर्थ हुआ कि न खुलनेवाली मुट्ठी बाँध ली ॥ ६९ ॥

जवं भजन्तौ जयतर्षवन्तौ रुषं वहन्तौ रुधिरं किरन्तौ।

---

१. 'च'। इति पा०।

परस्परं तौ पटुशब्दवन्तौ नियुद्धवन्तौ नितरामतान्तौ ॥ ७० ॥

जवमिति । जवम् वेगं भजन्तौ धारयन्तौ, जयतर्षवन्तौ जयविषयकाभिलाषशालिनौ, रुषं वहन्तौ कुप्यन्तौ, रुधिरं किरन्तौ वर्षन्तौ परस्परम् अन्योऽन्यं पटुशब्दवन्तौ मारयामीत्यादिशब्दमुदीरयन्तौ नितराम् अतान्तौ लेशतोऽपि अश्रान्तौ तौ भीम-कीचकौ नियुद्धवन्तौ बाहुयुद्धं कृतवन्तौ । अनुप्रासः स्फुटोऽलङ्कारः ॥

वेग धारण करनेवाले, युद्धमें विजयकी इच्छा रखनेवाले, क्रोधसे भरे शोणितकी धारा प्रवाहित करनेवाले, एक दूसरेके प्रति 'अब मारा' आदि शब्दोंके प्रयोग करनेवाले तथा एकदम नहीं थकनेवाले भीम तथा कीचक बाहुयुद्ध करते रहे ॥ ७० ॥

अक्ष्वेलितारावमवीरवादमवीक्षकश्लाघनचाटुगुम्फम् ।
अनुच्चनिःश्वासमहुंक्रियाकमभूतपूर्वं तदभून्नियुद्धम् ॥ ७१ ॥

अक्ष्वेलितारावमिति । तद् नियुद्धम् भीमकीचकयोस्तद्बाहुयुद्धम् अक्ष्वेलितारावम् सिंहगर्जनरहितम्, अवीरवादम् अबहुविकत्थनम्, अवीक्षकश्लाघनम् तत्र एकान्ते द्रष्टुरभावेन दर्शकजनकृतप्रशंसावर्जितम्, अनुच्चनिःश्वासम् श्रान्त्यभावेनोच्चश्वासरहितम्, अहुंकारम् हुंकारशब्दरहितम् अतएव अभूतपूर्वम् अनीदृशपूर्वम् अभूत् ॥ ७१ ॥

भीम तथा कीचकके बीच हुए उस बाहुयुद्धमें सिंहनाद नहीं, वीरवाद—आत्मश्लाघा—नहीं, देखनेवालों द्वारा की गई प्रशंसा—ठकुरसुहाती—की पुट नहीं, कोई थकता नहीं था अतः ऊँची साँस नहीं, हुंकार नहीं, इस प्रकार वह बाहुयुद्ध अभूतपूर्व ही हुआ ॥ ७१ ॥

शिलीमुखैश्चित्तजचापजुष्टैर्दत्तानि रन्ध्राणि दधन्निजाङ्गे ।
समीरजातेन विधूनितोऽपि स कीचको नैव चुकूज किंचित् ॥ ७२ ॥

शिलीमुखैरिति । चित्तजचापजुष्टैः कामधनुःसंहितैः पुष्पप्रीतैश्च शिलीमुखैः बाणैः भ्रमरैश्च दत्तानि कृतानि रन्ध्राणि छिद्राणि दधत् अपि समीरजातेन भीमेन वायुसमूहेन च विधूनितः कम्पितोऽपि स कीचकः सूतात्मजो वंशभेदश्च न किञ्चित् चुकूज शब्दं चकार । अयमाशयः—'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इति परिभाषितो हि कीचकः पुष्पानुसारिभिरलिभिः कृतच्छिद्रः वायुना कम्पितश्च कूजति, अयं पुनः कीचकः चित्तजचापजुष्टैः शिलीमुखैः कृतच्छिद्रोऽपि कामबाणजर्जरितोऽपि भीमेन प्रहारमुद्रया कम्पितोऽपि न किञ्चित् चुकूजेति व्यतिरेकः ॥७२॥

कामदेवके चापसे छूटे बाणसे तथा पुष्पसे उलझे भ्रमरोंसे किया गया छिद्र कष्ट और छिद्रको धारण करनेपर भी उस कीचक सूतपुत्र ने तथा वंशविशेषने वायुपुत्र भीम तथा वायुसमूहसे कम्पित होकर भी कुछ शब्द नहीं किया ॥ ७२ ॥

---

१. 'पटुशब्ददन्तौ'; 'पटुशौर्यवन्तौ नियुद्धकेलिं निशि निर्मिमाते' । २. 'सुधूनितोऽपि' । इति पा० ।

तस्मिन्हते निपतिते बकवैरिमुष्ट्या
रङ्गेण तेन समकम्पि चलत्पताकम् ।
पार्थाच्चिरेण परिशीलितमुत्तराद्यैः
कन्याजनैरभिविडम्बयतेव नाट्यम् ॥ ७३ ॥

तस्मिन्निति । बकवैरिणः बकासुरहन्तुः भीमस्य मुष्ट्या मुष्टिप्रहारेण हते अत एव निपतिते तस्मिन् कीचके तेन रङ्गेण नृत्यमण्डपेन उत्तराद्यैः उत्तराप्रभृतिभिः कन्याजनैः बालिकालोकैः पार्थात् गुरोरर्जुनात् चिरेण परिशीलितम् अभ्यस्तम् नाट्यम् नृत्यकलाम् अभिविडम्बयता अनुकुर्वता इव चलन्ती पताका यत्र कर्मणि तथा समकम्पि कम्पितम् । भीममुष्टिप्रहारेण हते कीचके निपतिते सति रङ्गशाला पताकया सह चकम्पे, मन्ये सा स्वाङ्गणे चिरं पार्थात् कन्याभिरभ्यस्यमानं नाट्यमनुकरोतिस्मेति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ७३ ॥

भीमकी मुष्टिके आघातसे मरकर जब वह कीचक गिरा तब वह रंगशाला पताकाके साथ काँप उठी, उसका काँपना ऐसा लगता था मानो वह विराट् की लड़कियाँ उत्तरा वगैरह जो नाट्यका अभ्यास बहुत समयसे कर रही थीं, उसीका अनुकरण कर रही हो ॥

तदनु तत्र मण्डपे पिण्डतया कृतं तस्य दस्योस्तरसं तरसा विलोक्य प्रहर्षवत्या पार्षत्या श्लाघापूर्वमाघ्रातभुजः कुरुव्याघ्रो निर्गत्य यथापुरमविकृतमानसो महानसोदरं प्रविश्य सुखेनाधिशिश्ये ॥

तदन्विति । तदनु कीचकवधानन्तरं तत्र मण्डपे नृत्यभवने पिण्डतया कृतं पिण्डरूपेण स्थितं दस्योः परसतीत्वलुण्टाकस्य दुष्टस्य तस्य कीचकस्य तरसं मांसं तरसा उत्कतया विलोक्य दृष्ट्वा प्रहर्षवत्या आनन्दितया पार्षत्या श्लाघापूर्वकम् सप्रशंसम् आघ्रातभुजः चुम्बितभुजः स कुरुव्याघ्रः कुरुश्रेष्ठो भीमः निर्गत्य नृत्यमण्डपाद् बहिरेत्य यथापुरम् पूर्ववत् अविकृतमानसः अक्षुभितहृदयः महानसोदरं पाकशालाभ्यन्तरं प्रविश्य सुखेन अधिशिश्ये निर्भरं सुष्वाप ॥

कीचकके मर जाने पर नृत्यमण्डपमें पिण्डाकार पड़े हुए उस दुष्ट कीचकके मांसको उत्कण्ठापूर्वक देखकर आनन्दित होती हुई द्रौपदीने प्रशंसाके साथ भीमका बाहु चूम लिया, और कुरुश्रेष्ठ भीम नृत्यमण्डपसे निकलकर पहले ही की तरह निर्विकार हृदयसे पाकशालाके भीतर जाकर आरामसे सो गये ॥

निपात्य मालिन्यपि तत्र शत्रुं चक्रन्द भीत्येव चलाग्रपाणिः ।
निशम्य तत्किं किमिति ब्रुवाणाः सर्वेऽपि तस्यावरजाः समेयुः ॥७४॥

निपात्येति । मालिनी द्रौपदी अपि तत्र नृत्यमण्डपे शत्रुं सतीत्वापहारपरं कीचकं

१. 'मानिन्यपि'। २. 'समीयुः'। इति पा० ।

निपात्य भीमेन घातयित्वा भीत्येव भयेनेव चलाग्रपाणिं हस्ताग्रं चालयन्ती चक्रन्द रुरोद, तत् द्रौपदीक्रन्दितं निशम्य किमिदम् किमिदमत्याहितमापतितम् इति ब्रुवाणाः भाषमाणाः सर्वेऽपि तस्य कीचकस्यावरजाः कनिष्ठभ्रातरः समीयुः समागतवन्तः ॥ ७४ ॥

भीमके द्वारा कीचककी हत्या करवाकर मालिनीरूपा द्रौपदी भयका अभिनयसा करके हाथ चलाकर रोने लगी, उसका रोना-चिल्लाना सुनकर सभी कीचकके छोटे भाई-गण 'यह क्या हुआ ? क्या घटना हुई' इत्यादि कहते हुए वहाँ आ गये ॥ ७४ ॥

विलोक्य तं भ्रातरमात्तशोका मृत्युद्विपस्येव पिधानपिण्डम् !
ज्यायानिवामी विदधुः स्थलीं तामस्रेण गुल्फद्वयसीं निजेन ॥ ७५ ॥

विलोक्येति । मृत्युः मरणमेव द्विपो गजस्तस्य पिधानपिण्डम् तृणाच्छन्नभक्ष्यकवलमिव पिण्डीभूतं तं कीचकं विलोक्य आत्तशोकाः प्राप्तमनोव्यथास्ते कीचकावरजाः ज्यायान् ज्येष्ठभ्राता कीचक इव अमी अवरजाः तां स्थलीं रङ्गशालाम् अस्रेण शोणितेन, नेत्राश्रुणा च गुल्फद्वयसीं गुल्फप्रमाणां विदधुः । ज्यायान् भ्राता यथा शोणितेन तां रङ्गशालां प्लावयामास तथाऽवरजा अपि नेत्रजलेन तां प्लावयामासुरित्याशयः ॥ ७५ ॥

मृत्युरूप हाथीके लिये तृणाच्छन्नकवल समान उस कीचकको देखकर शोकग्रस्त कीचकके छोटे भाइयोंने उस रङ्गशालामें घुट्टीभर आँसू बहा दिये, जैसे उसके बड़े भाई कीचकने घुट्टीभर शोणित बहा दिया था ॥ ७५ ॥

ततस्ते सोदरविपत्तिनिमित्तमियमेवेति रोषरूषितचेतसो निवेशितशवपिण्डभारस्य[1] मूर्तैर्भीमस्य मुष्टिभिरिव[2] नारिकेलफलैरुपरुध्यमानपार्श्वस्य[3] चरमविमानस्य स्तम्भदारुणि संदानितां कौन्तेयसीमन्तिनीं तिमिरमुदिरसौदामिनीभिः करदीपिकाभिर्दीयमानचङ्क्रमावकाशेन पथा पितृवनमुपनीय[4] स्वकीयविवेकसंपत्त्या सह महत्त्यां चित्यामत्याक्षुः[5] ॥

ततस्त इति । ततः बहुविलापकरणानन्तरं ते कीचकावरजाः सोदरविपत्तिनिमित्तम् कीचकवधहेतुभूता इयं सैरन्ध्री एव—इमामेव निमित्तीकृत्य मम भ्राता मृत इति रोषरूषितचेतसः कुपितमनसः सन्तः निवेशितशवपिण्डभारस्य स्थापितपिण्डाकारकीचकशवस्य मूर्तैः साकारैः भीमस्य मुष्टिभिः मुष्टिप्रहारैः इव नारिकेलफलैः उपरुध्यमानपार्श्वस्य आवृतप्रान्तस्य चरमविमानस्य शवरथस्य स्तम्भदारुणि सन्दानितां बद्धां कौन्तेयसीमन्तिनीं पार्थपत्नीम् कृष्णां तिमिरमुदिरसौ-

---

१. 'भरस्य' । २. 'भीममुष्टिभिः' । ३. 'उपबध्यमानस्य चरम' ।
४. 'मावकाशेन पितृवन' । ५. 'सह चित्यामत्याक्षुः' । इति पा० ।

दामिनीः अन्धकाररूपे मेघे विद्युल्लताभावं भजन्तीभिः करदीपिकाभिः हस्तवाह्यै-र्दीपैः दीयमानचङ्क्रमावकाशेन दत्तसञ्चारवर्त्मना पथा मार्गेण पितृवनं श्मशान-मुपनीय प्रापय्य स्वकीयविवेकसम्पत्त्या सह स्वीयविचारशक्त्या सह महत्यां विशालायां चित्यां चितायाम् अत्याक्षुः विसृष्टवन्तः।

उन कीचकके भाइयोंने सोचा कि हमारे भाईकी विपत्ति–मरणका कारण यही सैरन्ध्री है, अतः उन्होंने उसपर कुपितहृदय हो करके उसे उसी अरथीके खूंटेसे बांध दिया जिस अरथी पर कीचकका पिण्डाकार शव रखा था, और भीमके शरीरधारी मुष्टिप्रहारकी तरह लगनेवाले नारियलके फलोंसे जिसके सभी पार्श्व भरे थे, उस अर्थीमें पार्थोंकी स्त्री द्रौपदीको बांधकर उस अन्धकाररूप मेघमें बिजली सी प्रतीत होनेवाली हथबत्तियों द्वारा चलने योग्य जगह की राहसे श्मशान भूमिमें ले गये, वहाँ ले जाकर उन लोगोंने द्रौपदीको विशाल चिता पर डाल दिया, उसीके साथ अपनी विवेकबुद्धि भी उसी चिता पर डाल दी।

तावदेषा चकितचकिता 'हा नाथ हा नाथ! जगत्प्राणभूत! विप-त्समयबन्धो! संप्रति कान्तां रसवतीं परिगृह्य मुग्धामिमां कथं न गण-यसि?' इत्युच्चैररोदीत्॥

तावदिति। तावत् तस्मिन् समये चकितचकिता अतिभीता एषा कृष्णा—'हा नाथ, हा नाथ, हा इति खेदे, जगत्प्राणभूत लोकानां प्राणस्वरूप, जगत्प्राणाद्वा-योरुत्पन्नेति च, विपत्समयबन्धो, सम्प्रति रसवतीं श्रृङ्गारभावपूर्णां कान्तां काञ्चिद्-परां प्रेयसीं परिगृह्य—कान्तां रम्यां रसवतीं मधुरादिषड्रसां पाकक्रियाम् परिगृह्य आलम्ब्य मुग्धाम् कृत्याकृत्यज्ञानविधुराम् इमां कथं न गणयसि' इति उच्चैः तारस्वरेण अरोदीत् आक्रन्दितवती। अत्र सामान्यतः पतिस्मरणे भीमार्थकानि विशेषणानि प्रयुक्तानि सन्ति भीमस्याह्वानं गमयन्ति॥

उस समय अतिभीत होकर 'हा नाथ, हा नाथ, हे संसारके प्राणरूप (वातजात), हे विपत्ति–समयके बन्धु, इस समय दूसरी प्रियाको ग्रहण करके मुझ अभागिनको क्यों भूल रहे हो (नानारसयुक्त पाकक्रियाका अवलम्बन करके मुझे क्यों विसरा रहे हो), इस प्रकार जोरोंसे द्रौपदी रोने लगी। (जगत्प्राणभूत–वायुसुत, रसवती–रसप्रदा स्त्री तथा पाकक्रिया, इन श्लेषों द्वारा भीमका आह्वान प्रतीत होता है)॥

तत्रास्या रुदितस्वनैरथ जवादाकारितो मारुतिः
[2]सक्थ्नोर्वायुबलाद्लातमहसामीषल्लभैर्मीलनैः।
ध्वान्ते गारुडभित्तिभङ्गिपिशुनेऽप्योघं द्विषां धावितुं
ज्येष्ठस्याध्वनि दिव्यदृष्टिमकरोद्दोर्दर्पसिद्धाञ्जनैः॥ ७६॥

१. 'उच्चकैः'। २. 'सक्थ्योर्वातबलादलातमहसामीपल्लभोन्मीलनैः'। इति पा०।

तत्रास्या इति। अथ तत्र श्मशानभूमौ अस्याः द्रौपद्याः रुदितस्वनैः क्रन्दनध्वनिभिः जवात् वेगात् आकारितः आहूतः मारुतिः भीमः सक्थ्नोः ऊर्वोः वायोः वेगजनितवातस्य बलात् अलातमहसाम् ईषल्लभैः दुर्लभैः मीलनैः उपशमैः उपलक्षितः सन्—ऊरुवेगजनितवायुवशादलातमहसां दुर्लभैरुपशमैः सहितः (भीमे करे उल्मुकमादाय धावति, तदूरुवेगोत्थितवायुभिः सन्धुक्षणात् तत्करस्थमलातं न निर्वाति, तदेवं ज्वलदुल्मुककरोऽसौ रणे धावति) उल्मुकप्रकाशयुतः सन् गारुडभित्तिभङ्गिपिशुने मरकतशिलानिमित्तिभ्रमं जनयति अपि अतिनिबिडे अपि ध्वान्ते रात्रितमसि द्विपाम् कीचकावरजानां निजरिपूणाम् ओघं समुदायं ज्येष्ठस्य पूर्वजस्य भ्रातुः कीचकस्य अध्वनि मार्गे मरणपथे धावितुं दोर्दर्पसिद्धाञ्जनैः बाहुबलरूपं दिव्याञ्जनं न्यस्य दिव्यदृष्टिम् अन्धकारेऽपि कार्यकरनेत्रम् अकरोत् विहितवान्। अयमाशयः—द्रौपद्या रोदनध्वनिर्भीमं त्वरयाऽऽहूतवान्, भीमश्च धावतिस्म, तावतस्तस्य करे ज्वलदुल्मुकमासीत्तच्च तदीयवेगोदितवातसंपर्कात्सन्धुक्षितं सत् भृशं दिदीपे, येन मरकतमणिकृतभित्तिश्यामलेऽप्यन्धकारे भीमः कीचकभ्रातॄन्, ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वर्त्मनि प्रयातुं स्वीयबाहुबलदिव्याञ्जनप्रभावेण दिव्यदृष्टीन् अकृतेत्यर्थः, भीमभुजबलप्रेरिताः कीचकानुजास्तस्मिन् गाढे तमसि भ्रातरं मृतमनुसृतवन्त इति भावः॥ ७६॥

द्रौपदीका श्मशानमें रोना सुनकर भीम तेजीसे वहाँ आ गये, उनके हाथोंमें जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) थी जो उनके वेगसे उत्पन्न वायु द्वारा प्रज्वलित होते रहनेसे बुझती नहीं थी, उस गाढ़ अन्धकारमें—जो मरकत मणिकी दीवार सा प्रतीत हो रहा था—भीम ने अपने पराक्रमरूप सिद्धाञ्जनके द्वारा कीचकानुजोंको ऐसी दिव्य दृष्टि दी, जिससे वे अपने बड़े भाईके रास्ते चल सके, भीमके बलसे सभी कीचकानुज कीचककी तरह संहृत हो गये, मारे गये॥ ७६॥

निपातितान्स्वेन निरीक्ष्य तत्र सूतान्स वीरः सुमनायते स्म।
उत्पातमुद्रां दधता[1] स्वपित्रा तालानिवारण्यतले[2] विरुग्णान्॥ ७७॥

निपातितानिति। उत्पातमुद्राम् औत्पातिकीं स्थितिं दधता धारयता स्वपित्रा वायुना अरण्यतले विरुग्णान् निपातितान् मथितान् तालान् तालवृक्षान् इव स्वेन आत्मना भीमेन तत्र श्मनभूमौ निपातितान् हतान् सूतान् कीचकावरजान् निरीक्ष्य स वीरः शूरो भीमः सुमनायते स्म हृष्यति स्म। यथौत्पातिको वायुर्वने तालतरूनुत्पाट्य पातयति, तथाऽऽत्मना हत्वा निपातितान् तत्र श्मशानभूमौ शयितान् सूतवंश्यान् कीचकावरजान् दृष्ट्वा भीमो मोदते स्मेति भावः॥ ७७॥

जिस प्रकार औत्पातिक वायु द्वारा अपने पितासे वनमें उखाड़कर गिराये गये तालके

---

१. 'ब्रुवता'। २. 'तरूनिव'। इति पा०।

वृक्ष हों, उसी तरह श्मशान भूमिमें अपने द्वारा आहत होकर गिरे हुए कीचकानुजोंको देखकर भीम बहुत प्रसन्न हुए ॥ ७७ ॥

गन्धर्वभीरुषु जनेष्वितरेषु तत्र
विष्वक्पलायनपरेषु विमुक्तबन्धा ।
कृष्णा च कीचकरिपुश्च कृतप्रशंसा-
वन्योन्यमभ्यगमतां नगरं पुनस्तौ ॥ ७८ ॥

गन्धर्वेति । तत्र श्मशाने गन्धर्वभीरुषु भीमरूपगन्धर्वाद्भयं भजत्सु इतरेषु हतशेषेषु जनेषु कीचकपरिजनेषु विष्वक्पलायनपरेषु समन्ततो धावत्सु सत्सु विमुक्तबन्धा बन्धनान्मोचिता कृष्णा द्रौपदी कीचकरिपुः कीचकहन्ता भीमश्च तौ अन्योन्यं परस्परं कृतप्रशंसौ श्लाघापरौ सन्तौ पुनः भूयो नगरं विराटपुरम् अभ्यगमताम् यातवन्तौ । हतशेषा जना गन्धर्वभीत्या पलायन्त, तदा कृष्णा बन्धनान्मोचिता, ततस्तौ परस्परं शौर्यं चातुर्यं च श्लाघमानौ पुनर्विराटपुरमागतावित्यर्थः ॥

दूसरे आदमी जो मारे जानेसे बच गये, वे गन्धर्वके भयसे इधर उधर भाग गये। तब भीमने द्रौपदीके बन्धन खोल दिये, इसके बाद भीम तथा द्रौपदी दोनों एक दूसरेकी तारीफ़ करते हुए पुनः विराटके नगरमें चले गये ॥ ७८ ॥

ततः क्षणादेव संध्यारुणिमकरम्बितेनाम्बरमणिबिम्बेन परिचुम्ब्यमाने शम्पायुधहरिदङ्गणे परितो रुधिर[1]वीचीमुचा पिशितपिण्डेन कृतानुषङ्गं रङ्गं विडम्बयति सति[2] शुचा निरस्तमौलिभिर्निगलितवाग्भिर्निस्पन्दतनुभिर्निखिलैरपि पौरैर्नृपतिनिलयद्वारं [3]निबिडितमभूत् ।

ततः क्षणादिति । ततः द्रौपदीभीमयोः विराटनगरगमनानन्तरम् क्षणादेव झटिति सन्ध्याऽरुणिमकरम्बितेन प्रातःसन्ध्याकृतारुण्यव्याप्तेन अम्बरमणिबिम्बेन सूर्यमण्डलेन परिचुम्ब्यमाने संयुज्यमाने—अतएव परितो भागेषु सर्वेषु रुधिरवीचीमुचा शोणितप्रवाहधारिणा पिशितपिण्डेन मांसराशिना कृतानुषङ्गं सम्पृक्तं रङ्गम् नृत्यशालामण्डपम् विडम्बयति अनुकूर्वति सति शम्पायुधहरिदङ्गणे प्राचीदिशामुखे (सूर्यमण्डलेन रक्तं वज्रायुधदिशामुखं परितो व्याप्तरक्तं नृत्यमण्डपमनुहरति) पूर्वदिशामुखे सूर्यकरसम्पर्केण रज्यमाने सति, शुचा शोकेन निरस्तमौलिभिः त्यक्तोष्णीषैः नतमस्तकैर्वा निर्गलितवाग्भिः मूकीभूय स्थितैः निःस्पन्दतनुभिः लिखितैरिव स्थिरकायैः पौरैः पुरवासिभिः नृपतिनिलयद्वारं राजप्रासादद्वारम् निबिडितम् व्याप्तम् अभूत् अजनि । सर्वेपि पौराः शोकविकलमनसो राजद्वारे समायाताः ॥

---

१. 'रुधिरमुचा' । २. 'विडम्बयति शुचा' । ३. 'निबिडम्' । इति पा० ।

इसके बाद क्षणभरमें प्रातःसंध्याकी लालीसे व्याप्त सूर्यबिम्बसे संयुक्त होकर वज्रायुध-इन्द्रकी दिशा-पूर्व दिशाका अङ्गण जब—चारो ओर शोणित प्रवाहसे भरे मांसखण्डोंसे युक्त नृत्यमण्डपका अनुकरण करने लगा—जब प्राची दिशाका मुख सूर्यकिरणसे संपृक्त होकर रुधिरमांसावृत रङ्गमण्डपके समान रक्ताभ दीखने लगा—तब, शोकसे सिरपरकी पगड़ियाँ उतारे या सिर झुकाये, चुप्पी साधे और अचलशरीर नागरिकोंने आ-आकर राजभवनका द्वार घेर लिया॥

वध्वस्तदा मण्डलशो निविष्टा रुन्धद्भिराशा रुरुदुर्विलापैः।
महत्सु दुःखेषु विजृम्भितेषु मालिन्युपालम्भनमस्पृशद्भिः॥ ७९॥

वध्वस्तदेति। तदा तस्मिन्प्रभातसमये मण्डलशो निविष्टाः वलयाकारेणोपविष्टाः वध्वः पौररमण्यः महत्सु घोरेषु दुःखेषु शोकेषु कीचककुलसंहारभवेषु विजृम्भितेषु प्रवृद्धेषु सत्स्वपि मालिन्युपालम्भनं द्रौपदीनिन्दाम् अस्पृशद्भिः लेशतोऽप्यविवृण्वद्भिः आशा दिशा रुन्धद्भिः व्याप्नुवद्भिः विलापैः परिदेवितैः रुरुदुः क्रन्दन्ति स्म। तस्मिन् समये मण्डलीभूय स्थिताः पुरनार्यो दिशो व्याप्नुवद्भिर्विलापैररुदन्, परं गन्धर्वदण्डभयात् काचिदेकमपि शब्दं मालिनीनिन्दाव्यञ्जकं नाभ्यधत्तेति भावः। अत्रोपालम्भनहेतोः कीचकवधस्य सत्त्वेऽपि तदनुदयवर्णनाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः॥७९॥

उस प्रातःकालमें मण्डलाकार बैठी हुई पुरस्त्रियाँ उस घोर दुःखके-कीचककुलसंहारजन्य मनोव्यथाके—उपस्थित होने पर भी गन्धर्व द्वारा दिये जानेवाले दण्डके भयसे मालिनीकी निन्दाको अंशतः भी न छूनेवाले तथा आकाशको गुँजा देनेवाले विलापो द्वारा रोती रहीं। उन्होंने अपने रोने धोनेके सिलसिलेमें एक भी शब्द ऐसा नहीं कहा जिससे मालिनीकी शिकायत हो सके, क्योंकि वे डरती थीं कि कहीं मालिनीकी शिकायत करनेसे वे गन्धर्व हम लोगों पर भी विगड़ न जाँय, हमें भी दण्ड न देने लगें, नहीं तो लेनेके देने पड़ जायेंगे॥ ७९॥

तस्मिन्दिने संनिधिमागता सा कृष्णा दृशं केकयराजपुत्र्याः।
मषीशलाकार्पणया विनापि मन्देतरामश्रुकणैरकार्षीत्॥ ८०॥

तस्मिन्निति। तस्मिन् कीचकवधपरभाविनि दिवसे सन्निधिमागता समीपमायाता सा कीचकवधनिदानतया ख्याता कृष्णा द्रौपदी केकयराजपुत्र्याः सुदेष्णायाः दृशं नेत्रम् मषीशलाकार्पणया अञ्जनसाधनकाष्ठन्यासं विना अन्तरेण अपि अश्रुकणैः बाष्पजलैः मन्देतराम् पूरिताम् अकार्षीत् तस्मिन्दिने द्रौपदीमागतां दृष्ट्वैव इयमेवास्मद्भ्रातृवधहेतुरिति समिद्धेन शोकेन सुदेष्णाया नयनं साश्रु जातम्, अन्येषु तु दिवसेष्वागत्य द्रौपद्या मषीशलाकायामर्पितायां साश्रुभवतिस्मेत्यर्थः।

१. 'जृअपि म्भितेपु'। इति पा०।

प्रतिदिनं मषीशलाकार्पणं सुदेष्णाश्रुकारणं तत्र दिने तु सैरन्ध्रीदर्शनमेव तथेति भावः। अत्राश्रुकारणमषीशलाकार्पणमन्तरैवाश्रुप्रवृत्तिवर्णनाद्विभावनाऽलङ्कारः॥८०॥

उस दिन जब द्रौपदी सुदेष्णाके पास आई तब सुदेष्णाके नयन सुरमा लगानेकी सलाई के बिना लगाये ही अश्रुपूर्ण हो गये, दूसरे दिनोंमें जब द्रौपदी आती और सुरमेकी सलाई सुदेष्णाकी आँखोंमें डालती, तब उसकी आँखोंसे आँसू प्रवाहित होते थे, उस रोज तो द्रौपदीको देखते ही सुदेष्णाको स्मरण आ गया कि इसीने हमारे भाइयोंका संहार करवाया है, और उसके नयन आँसूसे भर आये ॥ ८० ॥

तावद्युधिष्ठिरमुखा अपि वातजात-
व्याधूतकीचककुलाकुलकोटिभागम् ।
निर्यत्प्रियानयनवारिझरीपरीतं
संकेतशैलमधिरुह्य निशश्वसुस्ते ॥ ८१ ॥

तावदिति। तावत् तस्मिन्समये युधिष्ठिरप्रभृतयः पाण्डवा अपि वातजातेन वायुपुत्रेण भीमेन एव वातजातेन वायुसमूहेन व्याधूतानां निहतानां कम्पितानां च कीचकानाम् एव कीचकानां वेणूनाम् कुलैः समुदायैः आकुलः कोटिभागः अग्रदेशो यस्य तम् तथोक्तम् , तथा निर्यत् प्रियानयनवार्येव झरी प्रस्रवणं तया परीतं व्याप्तम् संकेतम्—अमुकस्थाने त्वया मया चामुककाले समागन्तव्यम् इत्येवं कल्पितं स्थानम्—एव शैलं पर्वतम् अधिरुह्य प्राप्य निशश्वसुः, आगताया विपत्तेरवसिततया दीर्घं श्वासं तत्यजुः। अयमस्याशयः—कीचके हते सर्वे पाण्डवा क्वचन संकेतस्थाने एकत्रीभूय स्थितिमालोच्य दीर्घश्वासं त्यक्तवन्तः, तत्र सङ्केत एव शैलत्वेनाध्यवसीयते, सङ्केते भीमहतकीचककथैवाग्रदेशस्था पर्वते वायुकम्पितकीचकवेणुकोटिरग्रस्था, सङ्केते द्रौपदीनयनाश्रुप्रवाहपरीतता, शैले च प्रस्रवणपरीतता, तदेवं निरूढं साम्यमिति समस्तवस्तुविषयं सावयवं रूपकमलङ्कारः ॥ ८१ ॥

उस समय युधिष्ठिरप्रभृति पाण्डवोंने भी भीम द्वारा निहत कीचककुलसे व्यग्र है कोटिदेश जिसका ऐसे, तथा हवाके समुदायसे कम्पित है अग्रभाग जिसका ऐसे वेणुओंसे युक्त, द्रौपदीकी आँखोंसे बहने वाली अश्रुधारासे व्याप्त तथा झरनोंसे युक्त संकेतस्थान रूप शैलपर आकर दीर्घश्वास ले लिये, दुःखसे छुटकारा पानेपर दीर्घ श्वास लिये ॥ ८१ ॥

तदनु विदितवार्तो धार्तराष्ट्रश्चरेभ्यः
शुभगुणचरितेभ्यः सूतजानां शतस्य ।
वसतिमरिजनानां मत्स्यभूपालपुर्यां
हृदयमुकुरलग्नैर्हेतुभिर्निश्चिकाय ॥ ८२ ॥

---

१. 'मात्स्यभूपाल'। इति पा०।

तदन्विति । तदनु कीचकानां वधानन्तरं धार्त्तराष्ट्रः दुर्योधनः शुभगुणचरितेभ्यः शुभानि रमणीयानि गुणाः गूढवृत्तज्ञतेङ्गितज्ञत्वादयः चरितानि यथार्थवक्तृत्वादीनि च येषां तेभ्यः चरेभ्यः गुप्तचरेभ्यः सूतजानां शतस्य शतसंख्यककीचकानां विदितवार्त्तः मृत्युरूपं वृत्तं ज्ञात्वा हृदयमुकुरलग्नैः चित्तरूपदर्पणप्रतिबिम्बभूतैः हृदये भासमानैर्हेतुभिः का सा सुन्दरी यां कीचकश्चकमे, के ते गन्धर्वा ये पञ्च सन्ति, प्रच्छन्ना एव तं न्यघ्नन् इत्यादि तर्कोपनीतैरवश्यममी पाण्डवा इति सम्भावनात्मकैः लिङ्गैः अरिजनानां पाण्डवानां मत्स्यभूपालपुर्याम् विराटनगरे वसतिं निवासं निश्चिकाय निर्धारयामास । अयमर्थः युधिष्ठिरादयोऽवश्यं धृतराष्ट्रनगरे सन्तीति निश्चयो दुर्योधनस्य चित्ते चरोपनीतकीचकवधवृत्तश्रवणानन्तरं सद्य एव जात इति भावः ॥ ८२ ॥

इसके बाद कीचकवधवृत्तान्तको अपने चतुर, विश्वासी एवं यथार्थवक्ता चरोंके मुखसे जानकर हृदयमें भासित होनेवाले कारणोंसे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने निश्चयरूपसे समझ लिया कि हमारे शत्रु–पाण्डव–मत्स्यराज विराटके ही पुरमें हैं ॥ ८२ ॥

अन्येद्युरङ्गेश्वरसौबलाभ्यामास्थाय गोष्ठीमधिपः कुरूणाम्[1] ।
[2]भीष्माग्रगान्बन्धुजनान्विलोक्य गम्भीरमेवं गिरमाबभाषे ॥ ८३ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः परस्मिन्नहनि कुरूणाम् अधिपः दुर्योधनः अङ्गेश्वरसौबलाभ्यां कर्णशकुनिभ्यां सह गोष्ठीम् आस्थाय सभामण्डपं प्राप्य भीष्माग्रगान् भीष्मप्रमुखान् बन्धुजनान् आत्मीयवर्गान् विलोक्य गम्भीरम् धीरस्वरेण एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण गिरं वाचम् आबभाषे उवाच। निश्चयानन्तरं कर्णशकुनिभ्यां सभाभवनमागतो दुर्योधनो भीष्मादीनात्मीयान् पश्यन्वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान् इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

दूसरे दिन अङ्गेश्वर कर्ण तथा शकुनिके साथ सभाभवनमें आये हुए दुर्योधनने भीष्मादि आत्मीयजनोंकी ओर देखकर गम्भीर भावसे इस प्रकारके वचन कहे ॥ ८३ ॥

भो भोः ! विदितं किं भवताम्[3]इदम् ? । सं[4]प्रति मात्स्यपुरे कामपि कामिनीं कामयमानः कीच[5]कोऽपि निशि तस्याः पतिभिरदृश्यैः पञ्चभिर्गन्धर्वैरनुरहसि स्वसंख्यापदा[6]भिधेयमनीयत । तस्यै पुनरपि द्रुह्यन्तस्तदनुजा अपि तथैवेति काचिदियं किंवदन्ती कर्णात्कर्णमधिरोहति । एवं चेदसंशयं सा चतुष्पथमण्ड[7]पस्तम्भसालभञ्जिकेव [8]सर्वजनकरपरामर्श-

---

१. 'सौबलिभ्याम्' । २. 'भीमादिमान्' । ३. 'अपीदम्' । ४. 'संप्रति खलु' । ५. 'कीचको निशि' । ६. 'अभिधेयनाम्' । ७. 'मण्डपिका' । ८. 'सर्वकरामर्श' । इति पा० ।

भाजनं पाञ्चालदुहिता[1]। तस्याः[2] पतिविडम्बका इति प्रवादभाजस्तेऽपि पुनरज्ञातवासिनः परेतपतिपवमानपाकशासनाश्विनां पारस्त्रैणेयाः। तेष्वपि द्वितीयेनैव बाहुबलशालिना[3] वधूद्रुहां निहन्त्रा भवितव्यम्। अहो सर्वत्र विश्रृङ्खलममीषां दौःशील्यम् ॥

भो भोः विदितमिति। भो भोः अये बन्धुजनाः, किमिदं कीचकवधवृत्तं भवतः विदितम् ज्ञातम्, (न चेत् सम्प्रति श्रूयताम्) सम्प्रति एषु दिनेषु मात्स्यपुरे विराटनगरे कामपि अज्ञातविशेषपरिचयं कामिनीं स्त्रियं कामयमानः प्रार्थयमानः कीचकः विराटश्यालः अपि निशि रात्रौ तस्याः प्रार्थ्यमानायाः कामिन्याः पतिभिः स्वामिभिः अदृश्यैः गुप्तैः पञ्चभिः गन्धर्वैः अनुरहसि एकान्ते स्वसंख्या पञ्चत्वसंख्या तद्वाचकपदं पञ्चत्वं तदभिधेयं पञ्चत्वशब्दप्रतिपाद्यं मृत्युम् अनीयत प्रापितः। तस्यै कीचकवधकारणीभूतायै स्त्रियै पुनः भूयोऽपि द्रुह्यन्तः तां चितायामारोप्य दिधक्षन्तस्तदनुजाः कीचकावरजा अपि तथैव भ्रातुरेव दशां गमिताः मारिताः। काचित् कापि इदम् पूर्वोक्तरूपा किंवदन्ती दन्तकथा कर्णात् कर्णम् जनाज्जनान्तरम् अधिरोहति श्रूयते। एवं चेत् यदीयं किंवदन्ती सत्या तदा असंशयं निश्चयेन सा कामिनी चतुष्पथे चतुर्मार्गमिलनस्थाने यो मण्डपस्तस्य सालभञ्जिका कृत्रिमपुत्रिका इव सर्वजनकरपरामर्शभाजनम् सर्वेषां लोकानां स्प्रष्टव्या पाञ्चालदुहिता द्रौपदी (एव भवितुमर्हति) तस्याः कामिन्याः पतिविडम्बकाः स्वामित्वेन प्रथमानाः इति प्रवादभाजः ख्याताः ते गन्धर्वाः अज्ञातवासिनः प्रच्छन्नभावेन वसन्तः परेतपतिर्यमः पवमानो वायुः पाकशासन इन्द्रः अश्विनौ स्वर्वैद्यौ, तेषां पारस्त्रैणेयाः परस्त्रीषु जाताः पुत्राः। (यमस्य युधिष्ठिरः, वायोर्भीमः, इन्द्रस्यार्जुनः, अश्विनोर्नकुलसहदेवौ) तेष्वपि पञ्चसु भ्रातृषु बाहुशालिना भुजवीर्ययुक्तेन वधूद्रुहां द्रौपद्यनिष्टं चेष्टमानानां कीचकादीनां निहन्त्रा मारणप्रवृत्तेन द्वितीयेनैव भीमेनैव भवितव्यम्। अहो, आश्चर्यम् अमीषां पाण्डवानां सर्वत्र सर्वेषु स्थानेषु विश्रृङ्खलम् अनर्गलं दौःशील्यम् दुष्टं चारित्रम् ॥

हे बन्धुजन, क्या आपने कीचकवृत्त सुना है? इस समय मत्स्यराजके नगरमें एक अज्ञातविशेषपरिचय सुन्दरी है, जिसकी कामना करनेवाले विराटके साले कीचकको भी गन्धर्व नामसे ख्यात अदृश्य होकर रहनेवाले उस स्त्रीके पाँच पतियोंने रात्रिके एकान्त में अपनी संख्या पञ्चत्व, उसके लिये पद भी पञ्चत्व, उसका अर्थ मृत्युको प्राप्त करा दिया। फिर भी उस स्त्रीके प्रति द्रोह करनेवाले-उसे चितामें डालकर जला देनेकी इच्छा रखने वाले कीचकानुजोंकी भी वही दशा हुई जो उनके बड़े भाईकी हुई थी। इस प्रकारकी

---

१. 'सुता'। २. तेऽपि पुनरज्ञातवासिनः परेतपतिपवमानपाकशासनाश्विनां पारस्त्रैणेयास्तस्याः पतिविडम्बकाः'। ३. 'बाहुशालिना'। इति पा०।

किंवदन्ती कानोंकान फैल रही है यदि यह किंवदन्ती सच्ची है तो चौराहेपरके मण्डपकी कठपुतलीकी तरह सबके हाथोंके स्पर्शको सहनेवाली वह स्त्री पाञ्चालपुत्री द्रौपदी ही है, और उसके पतिकी नकल करनेवाले वे गन्धर्व भी अज्ञातवास करनेवाले यमपुत्र-युधिष्ठिर, वायुपुत्र-भीम, इन्द्रपुत्र-अर्जुन और अश्विनीकुमारके दोनों पुत्र नकुल-सहदेव ही हो सकते हैं। उनमें भी द्रौपदीके द्रोहियोंका मारनेवाला बाहुशाली भीम ही होगा, आश्चर्य है, ये पाण्डव जहाँ कहीं जाते हैं सब जगह अपना अनर्गल आचरण अवश्य ही दिखला देते हैं॥

तथा हि,—

देशे जरासंधमुखैर्व्यरुन्धन्वनेऽपि किर्मीरहिडिम्बमुख्यैः ।
गूढे निवासेऽपि च सूतपुत्रैः क्व नु स्थितास्ते कलहं विनान्यैः ? ॥८४॥

देशे इति । देशे स्थितास्ते पाण्डवाः युधिष्ठिरादयः जरासन्धमुखैः जरासन्धप्रभृतिभिः व्यरुन्धन् विरोधं कृतवन्तः, वनेऽपि स्थिताः किर्मीरहिडिम्बमुख्यैः किर्मीरहिडिम्बप्रभृतिभिः व्यरुन्धन्निति योज्यम् , एवं परत्रापि । गूढे निवासे अज्ञातवासकाले अपि सूतपुत्रैः कीचकैः सह, ते पाण्डवाः अन्यैः परैः कलहं विरोधं विना क्व नु स्थिताः कुत्रातिष्ठन् , न कुत्रापि ते शान्त्या स्थिताः सर्वत्रैव ते विरोधमेवार्जितवन्त इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

जब देशमें रहे तब पाण्डवोंने जरासन्ध वगैरहसे लड़ाई की, फिर वनमें गये तब वहाँ पर किर्मीर, हिडिम्ब आदिसे उलझ गये, अज्ञातवासके समयमें भी आदत नहीं छोड़ी, वहाँ भी कीचकोंके साथ विरोध किया, यह पाण्डव बिना दूसरोंसे झगड़े कहाँ रह सके हैं, लड़ना इनका स्वभाव है, कहीं भी बिना दूसरेसे झगड़े इनका रहना नहीं हो सकता है॥

अत्रैव स्थित्वा वेषान्तरकञ्चुकैः पञ्चभिरकिंचनैरेतैर्वञ्चितः खलु वृद्धो विराट इत्यभिधाय सुयोधनो राधेयेन सह कृतहस्ततालो वल्गद्भुजशिखरमुच्चैर्जहास ॥

अत्रैवेति । वेषान्तरं सन्न्यासादिरूपोऽन्यो वेशस्स एव कञ्चुकमावरणं येषां तैर्वेषान्तरकञ्चुकैः संन्यासपाचकत्वादिरूपान्तराण्यादाय प्रच्छन्नैः अकिञ्चनैर्दरिद्रैरेतैः पञ्चभिः पाण्डवैः अत्रैव विराटस्य राजधान्यामेव स्थित्वा अध्युष्य एष वृद्धो विराटः वञ्चितः प्रतारितः खलु इत्यभिधाय सपरिहासमुक्त्वा राधेयेन कर्णेन सह कृतहस्ततालः करामर्शः सुयोधनः वल्गद्भुजशिखरम् हस्ताग्रं चालयन् आनन्दातिरेकेण बाहू क्षिपन् सन् उच्चैर्जहास अट्टहासमकृत ॥

'वेषान्तररूप पर्देमें छिपे हुए इन अकिञ्चन पाण्डवोंने विराटके नगरमें ही रहकर

---

१. 'कञ्चुकैरकिञ्चनैः । इति पा० ।

बूढ़े विराटको ठग लिया,' ऐसा कहकर दुर्योधनने कर्णके हाथ पर ताली मारी और फिर वह जोरोंसे हँसने लगा ॥

ततः,—

संक्षोभे नगरस्य मत्स्यनृपतेर्योद्धुं स्वयं निर्गता-
न्दृष्ट्वा तानवकीर्णिनो वितनुमो गच्छाधुना त्वं पुरः ।
इत्युक्तः कुरुभूभुजा सदसि गा हर्तुं त्रिगर्तेश्वर-
स्तस्यैवाप पुरीं दिनावधिरिवार्यम्णः प्रतीचीं दिशम् ॥ ८५ ॥

संक्षोभे इति । ततः पाण्डवानां विराटपुरवासस्य निश्चये सति—मत्स्यनृपतेः विराटस्य नगरस्य राजधान्याः संक्षोभे अस्माभिराक्रमणे कृते सति स्वयम् योद्धुम् निर्गतान् तेषां पाण्डवानां युद्धरसिकतयाऽऽश्रयरक्षाप्रवणतया च युद्धायोद्युक्तान् तान् पाण्डवान् दृष्ट्वा अवकीर्णिनः भग्नाज्ञातवासरूपव्रतान् वितनुमः कुर्मः, अधुना सम्प्रति त्वं पुरः अग्रे गच्छ, कुरुभूभुजा कुरुराजेन सदसि सभायाम् इत्युक्तः एवमभिहितः त्रिगर्त्तेश्वरः त्रिगर्त्ताख्यदेशाधिपः सुशर्मा गाः धेनूः हर्तुं तस्य विराटस्य एव पुरीम् , अर्यम्णः सूर्यस्य दिनावधिः सन्ध्यासमयः अस्तमयकालः प्रतीचीं दिशमिव वारुणीं दिशाम् इव आप प्राप्तवान् । अयमाशयः—पाण्डवा निश्चयेन विराटपुरे वसन्ति, वयं यदा विराटनगरमवरोत्स्यामस्तदाऽवश्यमेव ते युद्धरसिकाः स्वाश्रयरक्षाप्रवणाश्च युद्धाय निर्यास्यन्ति, ततस्तान् परिचित्य वयं तान् भग्नाज्ञातवासव्रतान् करिष्यामः, तावत् त्वं पुरो गत्वा विराटपुरमवरुन्धि, एवं सभायां दुर्योधनेनोक्तस्त्रिगर्त्तेश्वरः सुशर्मा विराटस्य पुरीमाप्तवान्यथा सूर्यस्यास्तमयसमयः प्रतीचीं दिशं यातः, सुशर्माणि विराटपुरं गते सूर्योऽपि प्रतीचीं गत इति भावः । अत्र सुशर्मदिनावध्योः प्राप्तिरूपैकक्रियाऽन्वयात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ८५ ॥

दुर्योधनको जब इस बातका निश्चय हो गया कि पाण्डव लोग विराट-नगरमें रह रहे हैं तब उसने त्रिगर्ताधिपति सुशर्माको कहा कि यदि हम लोग विराट नगरपर आक्रमण कर दें तो पाण्डव लोग वहाँ पर रहनेके कारण निश्चय ही युद्धमें उतर आयेंगे और इस प्रकार हम लोगोंसे पहचाने जानेके कारण उनका अज्ञातवास समाप्त हो जायगा अतः 'तुम आगे चलो' इस प्रकार कहे जानेपर सुशर्मा, जिस प्रकार सूर्य सन्ध्या समय पश्चिम दिशाको प्राप्त करता है उसी प्रकार गायोंका हरण करनेके लिए विराट-नगरको गया ॥८५॥

तत्र[1] क्वचिदरुणतया निमग्नजमदग्निकुमारोष्णनिःश्वासवेगविलुलित[2]विचित्रवीचीप्रपञ्चमिव [3]स्यमन्तपञ्चकम्, क्वचिन्नीलतया मदकण्डूलवेतण्डशुण्डाविधूनितविटपमालमिव [4]तमालकाननम् , क्वचिद्धवलतया मन्द-

१. 'तत्र दक्षिणेन पुरं व्यग्रतरसैन्येन काल्यमानं क्वचित्' । २. 'विलुलितवीची' ।
३. 'शमन्त'; 'स्यमन्तक' । ४. 'सालवनम्' । इति पा० ।

रगिरिमंथनविक्षोभितफेनकूटमिव क्षीरोदमध्यम्, उन्नमितलाङ्गूलम्, उद्गमितहुंकारम्, उल्ललितधूलीकम्, उद्दामघण्टारवं गोधनं दक्षिणेन पुरं व्यग्रतरसैन्येन तेन काल्यमानं निशम्य सेनाकुम्भिकुलगम्भीरबृंहितारम्भैर्मन्दिराग्रसिंहप्रतिच्छन्दवृन्दमुखकन्दरमौननियमं विभिन्दन्, अनुकूलपवमानपुरोनाटितपटैर्वैरिभटजीविताहरणाय वैवस्वतमिवाह्वयद्भिः केतुदण्डैः परिमोटितगगनतटिनीतटविटपिवाटो विराटोऽपि रणप्रयाणारम्भमाटीकत ॥

तत्रेति । तत्र संध्यासमये क्वचित् कुत्रापि भागविशेषे निमग्नस्य स्नानायान्तर्निमग्नस्य जमदग्निकुमारस्य परशुरामस्य उष्णानाम् शत्रुषु क्रोधवशादत्युष्णानां निःश्वासानां वेगैर्विलुलिता इतस्ततः क्षिप्ताः विचित्रवीचीप्रपञ्चा यस्मिंस्तत् तथाभूतं स्यमन्तपञ्चकम् कुरुक्षेत्रे परशुरामनिहतक्षत्रियरुधिरभयह्रदपञ्चकम् इव स्थितम्, (गोधनं नानावर्णं, तत्र रक्तं गोधनं सञ्चरत्सत् कुरुक्षेत्रे स्थितं शोणितह्रदपञ्चकमिव प्रतीयतेस्मेत्यस्या उत्प्रेक्षाया अर्थः) क्वचित् भागविशेषे धवलतया स्वच्छतया मन्दरगिरिमन्थनेन मन्दराचलकृतसंक्षोभेण विक्षोभितफेनकूटम् सञ्चालितफेनसमुदायम् इव क्षीरोदमध्यम्, (या धवला गावस्ता मन्दराचलमथिते क्षीरोदमध्ये सञ्चरत्फेनपटलमिव प्रतीयन्ते स्म) उन्नमितलाङ्गूलम् उत्थापितपुच्छम्, उद्गमितहुंकारम् हुंकारं कुर्वत्, उल्ललितधूलीकम् धूलिमुत्किरत्, उद्दामघण्टारवं प्रवृत्तभीषणघण्टाशब्दं गोधनं निजं गोरूपं धनम् दक्षिणेन पुरं ग्रामस्य दक्षिणभागे व्यग्रतरसैन्येन गवां धारणे व्यस्तसैनिकनिवहेन तेन सुशर्मणा काल्यमानं स्वानुमतदिशं प्रतिगन्तुं प्रेर्यमाणं निशम्य श्रुत्वा सेनाकुम्भिकुलानां सेनागजानां गम्भीरबृंहितारम्भैः गभीरध्वनिभिः मन्दिराग्रे भवनोपरि यानि सिंहप्रतिच्छन्दवृन्दानि सिंहाकृतयः तेषां मुखान्येव कन्दराः गुहाः तेषां मौननियमं सदा मूकीभावं विभिन्दन् दूरीकुर्वन् सेनाकरिशब्दैर्मन्दिराग्रसिंहप्रतिमाः अपि प्रतिशब्दं कर्तुं बाधिताः सत्यो मौनं त्यजन्ति, सेनागजशब्देन मन्दिराग्रभागावस्थितसिंहप्रतिमामुखकुहराण्यपि मुखरीकुर्वन्, अनुकूलेन स्वगन्तव्यदिशमेव गच्छता पवमानेन वायुना पुरोनाटितपटैः अग्रे धूयमानपताकैः वैरिभटजीविताहरणाय शत्रुसैन्यप्राणहरणाय वैवस्वतं यममिव आह्वयद्भिः आकारयद्भिः केतुदण्डैः ध्वजैः परिमोटितः त्रोटितः गगनतटिन्या आकाशगङ्गायाः तटयो-

---

१. 'मन्थनपरिक्षोभित'। २. 'उल्लसितं'। ३. 'गोधनं निशम्य सेनाकुम्भिकुल'। ४. 'सैन्यपरिवर्तेन'। ५. 'जीवितहरणाय'। ६. 'केतनदण्डैः'। ७. 'आरभटीम्'। ८. 'अटीकत'। इति पा०।

विटपिवाटो वृक्षराशिर्येन तादृशो विराटः अपि रणप्रयाणारम्भं युद्धयात्रोद्योगम् आटीकत कृतवान् । उत्प्रेक्षातिशयोक्तिश्चात्रालङ्कारौ ॥

उस समय विराटके गोधनका गाँवकी ओर लौटनेका समय था, सभी रंगकी गायें थीं, जो गायें लाल थीं और दौड़ रही थीं, वे ऐसी लग रही थीं मानो कुरुक्षेत्रमें परशुराम-निहितक्षत्रियरुधिरमय ह्रद हों जिनमें निमग्न परशुरामके उच्छ्वाससे तरङ्गे उठ रही हों; कुछ गायें काली थीं, वे ऐसी लगती थीं मानो मत्त गजोंने सिर रगड़ करके शाखायें तोड़ डाली हों जिनके ऐसे तमालवृक्षसमूह हों, कुछ गायें उजली थीं वे ऐसी लगती थीं मानो मन्दराचलमथित क्षीरसागरके बीचमें फेनराशियाँ चल रही हों, गायें पूँछ उठाये, हुंकार करती हुई, धूल उड़ाती, घनघोर घण्टाशब्द करती थीं उन्हें पकड़ने व्यस्त सुशर्मा का सैन्य हाँककर लिये जा रहा है यह बात सुनकर विराटने युद्धयात्राकी तैयारी की, उनके सेनागजके गम्भीर शब्दसे भवनोंके ऊपर बनी हुई सिंहकी प्रतिमायें भी अपने मौनव्रतको छोड़नेके लिये लाचार की जा रहीं हैं, अनुकूल वायु आगेकी ओर पताकाको लहरा रही है मानो शत्रु सैन्योंके प्राणहरण करनेके लिये यमराजको बुलावा दिया जा रहा हो, उनके ध्वजदण्ड आकाशगङ्गाके तटोंमें उत्पन्न वृक्षोंके शाखासमुदायको मग्न कर रहे थे ॥

संख्याय यानेषु समारुरुक्षाकेलिस्पृशां कीचकबान्धवानाम् ।
अश्वप्रसंगेऽप्यभिधीयमानो गन्धर्वशब्दो गरलायते स्म ॥ ८६ ॥

संख्यायेति । संख्याय युद्धं कर्त्तुं यानेषु गजाश्वादिषु समारुरुक्षाकेलिस्पृशाम् आरोहणकुतुकिनाम् कीचकबान्धवानाम् कीचकवंशावशेषाणाम् अश्वप्रसङ्गेऽपि अश्व-बोधनतात्पर्येण अपि अभिधीयमानः केनचिदुच्चार्यमाणः गन्धर्वशब्दः गरलायते स्म विषवद्भासते स्म, तानुद्वेजयति स्म । युद्धोद्यमे यानमारोढुमुत्काः कीचकबा-न्धवाः केनापि जनेनाश्वबोधनेच्छयाऽप्युच्चार्यमाणं गन्धर्वशब्दमाकर्ण्य कीचक-संहारपरकगन्धर्वस्मृत्या विमनायन्तेस्म, 'वाजिवाहार्वगन्धर्व' इति घोटकार्थेऽमरः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ८६ ॥

युद्धमें जानेकी इच्छासे सवारीपर आरूढ़ होनेकी उत्कण्ठा धारण करनेवाले कीचक-बान्धवगण जभी किसीके मुँहसे घोड़ेके अर्थमें भी गन्धर्व शब्दका प्रयोग सुन लेते तो वह शब्द उन्हे विषकी तरह मालूम पड़ता था, उस शब्दमात्रके सुननेसे वह उद्विग्न हो उठते थे । गन्धर्वोंने ही कीचकका संहार किया है इस विश्वासके कारण किसी भी अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले गन्धर्व शब्द मात्रसे वह डर जाते थे, दूधका जला मठ्ठा भी तो फूँक-फूँक कर पिया करता है ॥ ८६ ॥

सभ्यैश्च सूदैश्च तुरङ्गिभिश्च गोपैश्च[1] विज्ञापितवीर्यभूम्नः ।

---

१. 'पौरैश्च' । इति पा० ।

दन्तानिवेन्द्रद्विरदः स पार्थान्वीरः[1] पुरोधाय रुरोध शत्रुम् ॥ ८७ ॥

सभ्यैश्चेति । सभ्यैः सभासद्भिः, सूदैः पाचकैः, तुरङ्गिभिः अश्वशालाकर्मकरैः गोपैः गोरक्षाऽधिकृतैश्च विज्ञापितवीर्यभूम्नः सूचितबलाधिक्यान् पार्थान् युधिष्ठिर-भीमनकुलसहदेवान् इन्द्रद्विरदः ऐरावतश्चतुरो दन्तानिव पुरोधाय अग्रे कृत्वा वीरः स विराटः शत्रुं सुशर्माणं रुरोध अवरुद्धवान् । सभ्या युधिष्ठिरस्य सूदा भीमस्य तुरङ्गिणो नकुलस्य गोपाश्च सहदेवस्य वीर्यप्रकर्षं विराटायाख्यातवन्तस्तं श्रुत्वा विराटस्तान्पार्थान्पुरोधाय सुशर्मणा सह योद्धुमभ्याययौ यथा शक्रस्य हस्ती ऐरावतः स्वाँश्चतुरो दन्तान्पुरोधाय शत्रुमाक्रामति, उपमयाऽलङ्कारेणैपामजय्यत्वं वीर्यावदातत्वं च ध्वन्यते । सभ्यादय एव सभ्यादीन् युधिष्ठिरादिपार्थान्प्रचुरं परि-चिन्वन्तिस्म अत एव च तेषां तद्वीर्यकथने उपयुक्तपात्रत्वं बोध्यम् ॥ ८७ ॥

जब युद्धकी तैयारी हो रही थी, तब सभासद् लोग जो युधिष्ठिरके साथ रहनेके कारण उनके वीर्यप्रकर्षसे परिचित थे, इसी तरह पाचक लोग जो भीमके बलकी जानकारी रखते थे, घोडेके रक्षक जो नकुलकी ताकतसे परिचित थे एवं गोप लोग जो सहदेवके पराक्रमके ज्ञाता थे, सभी लोगोंने आकर विराटको उन वीरोंके बलकी सूचना दी, अतः बहादुर राजा विराटने उन चारो पार्थोंको आगे करके सुशर्माको घेरा जैसे इन्द्रका हाथी ऐरावत अपने चारो दाँतोंको आगे करके शत्रुओंको घेरता है ॥ ८७ ॥

तृणकल्पमपि त्रिगर्तभूपं तमुपेक्ष्यैव तदा गवां कुलानि ।
सहदेवविलोकमात्रहर्षात्सहसा मात्स्यचमूसमीपमापुः[2] ॥ ८८ ॥

तृणकल्पमिति । तदा सुशर्मनिरोधकाले गवां कुलानि सङ्घाः सहदेवविलोक-मात्रहर्षात् सहदेवस्य स्वपालकमुख्यस्य दर्शनमात्रप्रभवात् प्रमोदात् तृणकल्पम् अतितुच्छं ग्रासोपयोगि घाससमं च तं युद्धोद्यतं त्रिगर्त्तभूपं सुशर्माणमुपेक्ष्य अना-दृत्य मात्स्यचमूसमीपम् विराटसेनासमीपम् आपुः आगच्छन्तिस्म । तृणकल्पत्या-गेन स्वपालकप्रेमप्रकर्षात्तत्समीपागमनं गवां स्वभावसिद्धम् । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ८८ ॥

उस समय सुशर्मा द्वारा घेरकर रखी गई विराटकी गायोंने जब सहदेवको देखा तब उनके दर्शनसे उत्पन्न आनन्दसे वे गायें तृणकल्प-अतितुच्छ त्रिगर्त्तेश्वर सुशर्माकी उपेक्षा करके हठात् मात्स्यराजा विराटकी सेनाके पास चली आईं ॥ ८८ ॥

मौर्वीकुशाङ्कितकरावथ बद्धपङ्क्ती
मात्स्य[3]त्रिगर्तवसुधाधिपयोरनीकौ ।
आध्मातशङ्खनिनदप्रणवप्रणाद[4]-
मायोधनाध्ययनमद्भुतमारभेताम् ॥ ८९ ॥

---

१. 'धीरः' । २. 'मात्स्यपुरीसमीप' । ३. 'मात्स्य' । ४. 'प्रधान' । इति पा० ।

मौर्वीकुशेति । अथ निरोधे जाते मौर्व्यः चापज्याः एव कुशाः दर्भास्तैरङ्किता युक्ताः करा हस्ता ययोस्तौ तथोक्तौ, बद्धपङ्क्ती पङ्क्तिबन्धेन स्थितौ, मत्स्यत्रिगर्त्तवसुधाधिपयोः मत्स्यवसुधाधिपस्य विराटस्य त्रिगर्त्तवसुधाधिपस्य सुशर्मणश्च अनीकौ सेने आध्मातानां शब्दायितानां शङ्खानां रणशङ्खानां निनदः शब्द एव प्रणवप्रणादः ओंकारोच्चारणं यत्र तादृशं तथोक्तम् आयोधनाध्ययनम् युद्धस्वरूपं वेदाध्ययनम् आरभेताम् प्रारब्धवन्तौ । वेदमधीयानाः कुशयुक्तकराः पङ्क्तिबद्धा ओंकारव्याहारपूर्वकं वेदाध्ययनं कुर्वन्ति, तद्वदमी उभयपक्षगता योधाः मौर्वीरूपान्कुशान्करेषु कृत्वा पङ्क्तौ बद्धाः शङ्खध्वनिरूपोङ्कारमुच्चारयन्तो युद्धरूपं वेदाध्ययनमारेभिरे इत्यर्थः । समस्तवस्तुवर्त्ति रूपकमलङ्कारः ॥ ८९ ॥

इसके बाद प्रत्यञ्चारूप कुश हाथोंमें लेकर पङ्क्तिबद्ध खड़े हुए मत्स्येश्वर विराट तथा त्रिगर्त्तेश्वर सुशर्माके सैन्यगणने शङ्खध्वनिरूप प्रणवोच्चारण करनेके साथ युद्धरूप वेदाध्ययन प्रारम्भ कर दिया ॥ ८९ ॥

मत्स्येन्द्रमन्दिरमहानसभक्ष्यवृन्द-
स्वच्छन्दभक्षणरहस्यवदावदेन ।
क्ष्वेलारवेण वललस्य तदा रिपूणां
चित्तं न केवलमकम्पि दिशो दशापि ॥ ९० ॥

मत्स्येन्द्रेति । मत्स्येन्द्रो विराटस्तन्मन्दिरे यन्महानसं पाकशाला तत्र यद्भक्ष्यवृन्दं नानारसमशनजातं तस्य स्वच्छन्दभक्षणं यथेच्छाभ्यवहार एव रहस्यं गुप्तवृत्तं तस्य वदावदेन अभिधायकेन—मत्स्यराजमहानसे बहुनेन भुक्तमिति सूचयता वललस्य तदाख्ययाऽज्ञातवासं समापयतो भीमस्य क्ष्वेलारवेण सिंहनादेन तदा तस्मिन् युद्धोपक्रमे केवलं रिपूणां चित्तम् मन एव न अकम्पि चलितं किन्तु दिशोऽपि अकम्पिषत सकम्पा जाताः । अत्र रिपुचित्तस्य दिशां च कम्पनरूपैकक्रियाऽभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ९० ॥

विराटके घरकी पाकशालामें नानाप्रकारके खाद्यपदार्थोंका स्वच्छन्द भक्षणरूप रहस्यकी सूचना देनेवाले भीमके सिंहनादसे (सिंहनादकी गंभीरताने ही बता दिया कि इसने खूब तर माल उड़ाये हैं, तभी तो इतना गरज रहा है) केवल शत्रुओंका हृदय ही भर नहीं काँप उठा, सभी दिशाएँ भी काँप उठीं ॥ ९० ॥

उदये समरस्य सैनिकानामुभयेषामसिधेनवो ववल्गुः ।
निजनामपदापरार्धवाच्यं निखिलं ग्राहयितुं च रक्षितुं च ॥ ९१ ॥

उदये इति । समरस्य उदये प्रारम्भे सति उभयेषाम् पक्षद्वयगतानां सैनिकानां

---

१. 'निजनामपरार्धवाच्यमेतत्' । इति पा० ।

योधवीराणाम् असिधेनवः खड्गाः निजस्य नाम असिधेनुरिति तस्य पदस्य अपराधं पश्चार्द्धं धेनुरिति तद्वाच्यम् तदर्थं गोधनम् निखिलं समस्तं ग्राहयितुं सुशर्मणाऽपहारयितुं विराटेन रक्षितुञ्च ववल्गुः चालन्ति स्म । युद्धे प्रारब्धे सति उभयपक्षीया योधाः स्वासिधेनूरचालयंस्तत्र सुशर्मसैनिकास्तेन गा अपहारयितुं स्वानसीनचालयन्, वीराटस्य सैनिकाश्च विराटद्वारा गा रक्षितुं स्वानसीनचालयन् इत्याशयः । असिधेनुपदं यद्यपि स्वल्पखड्गवाचकं तथापि युद्धप्रकरणात् खड्गसामान्यपरतया नेयं, वस्तुतस्त्वस्य कवेरीदृशार्थाभिधाननिर्बन्ध एवानौचित्यमिदमसृजदिति बोध्यम् ॥ ९१ ॥

युद्ध प्रारम्भ होनेपर दोनों पक्षोंके सैनिक असिधेनु-तलवार चलाने लगे, उनकी तलवारें इसलिये चल रही थीं कि असिधेनु (तलवार) अपना नामपद असिधेनुपद उसका उत्तरार्ध धेनु-उसका अर्थ गोधन उसे हरवाना-छिनवाना तथा रखवाना चाहती थीं । विराटकी सेनाकी तलवारें गायोंको बचानेके लिये और सुशर्माकी सेनाकी तलवारें गायोंका हरण करवानेके लिये चल रही थीं ॥ ९१ ॥

तावदम्बरपथादभिगन्तुस्तामनीकधरणीं शमनस्य ।
कासरादहरधीशतुरंगः कांदिशीक इव दूरमयासीत् ॥ ९२ ॥

तावदिति । तावत् तस्मिन्नेव काले अम्बरपथात् आकाशमार्गात् ताम् अनीकधरणीम् युद्धभूमिम् अभिगन्तुः आगच्छतः शमनस्य यमराजस्य कासरात् वाहनभूतान्महिषात् कान्दिशीकः भयद्रुत इव अहरधीशस्य दिनाधिपस्य सूर्यस्य तुरङ्गः अश्वः दूरमयासीत् सूर्योऽस्तं गत इत्यर्थः । अश्वमहिषयोर्विरोधः शाश्वतिकः । तस्मिन्समये व्योममार्गमवलम्ब्य विराटसुशर्मणोर्युद्धभूमिमागच्छतो यमराजस्य महिषमालोक्य भीत इव सूर्यस्याश्वो द्रुतं दूरमपसरति, सूर्योस्तंगत इत्यभिप्रायः ॥

उस समय—जब इधर लड़ाई जमी थी—तभी अम्बरमार्गसे विराट तथा सुशर्माकी युद्धभूमिमें आते हुए यमराजके महिषको देखकर भड़का हुआ-भयसे घबड़ाया हुआ-सा सूर्यका अश्व भयसे दूर भाग खड़ा हुआ, सूर्य अस्तंगत हो गये ॥ ९२ ॥

पाटलीकृतपयोधरपङ्क्तिः प्रादुरास शनकैरथ संध्या ।
वासरस्य रजनेरपि सीम्नोर्मध्यभागकुरुविन्दशिलेव ॥ ९३ ॥

पाटलीति । अथ सूर्येऽस्तंगते सति पाटलीकृता श्वेतरक्ततां गमिता पयोधरपङ्क्तिर्मेघमाला यथा सा तादृशी सन्ध्या वासरावसानवेला वासरस्य दिनस्य रजनेः राध्या अपि सीम्नोः अवध्योः मध्यभागे कुरुविन्दशिलापद्मरागदृपदिव स्थिता प्रादुरास प्रकटीबभूव । सन्ध्या प्रादुरभूत्, तया मेघमण्डलं श्वेतरक्तीकृतम्, सा दिननिशयोः सीमस्थले स्थापिता पद्मरागरचिता शिलेव प्रतीयते स्म । द्वयोरंश-

---

१. 'सरणीं' । इति पा० ।

-योर्विभागसीमनि शिला स्थाप्यत इति प्रसिद्धिः, दिनरात्र्योर्विभागकाले सन्ध्यैव शिलाभावं गतेति भावः ॥ ९३ ॥

इसके बाद सूर्यास्त हो जाने पर मेघमण्डलको श्वेतरक्त बनाती हुई सन्ध्या धीरे-धीरे प्रकट हुई वह ऐसी लगती थी मानो दिन और रातकी सीमापर स्थापित की गई पद्मराग की शिला हो। दो भागोंकी सीमा निश्चित करनेके लिये शिला गाड़ दी जाती है ॥ ९३ ॥

संध्या बभौ सा समरे भटौघो बिम्बं विभिन्द्यादिति भीतिभारात्।
विवस्वता विद्रवता विसृष्टा नभःस्थले[1] दीप्तिरिवाग्निदेया ॥ ९४ ॥

सन्ध्येति। सा एवं प्रकटीभूता सन्ध्या दिनावसानवेला समरे युद्धे भटौघः म्रियमाणो वीरगणः (स्वर्गप्रयाणकाले) बिम्बं मदीयं मण्डलं विभिन्द्यात् भेदयेत् इति भीतिभारात् भयातिशयात् विद्रवता कातरीभूतेन विवस्वता सूर्येण नभःस्थले आकाशदेशे विसृष्टा त्यक्ता अग्निदेया अग्नये निशि प्रदातव्या दीप्तिः आत्मप्रभा इव बभौ शुशुभे। अयमेतदभिप्रायः—'युद्धे मृता वीराः सूर्यमण्डलं भित्त्वा स्वर्गं यान्ति' इति शास्त्रप्रसिद्ध्या म्रियमाणा अमी वीरा मम बिम्बं भिन्द्युरिति भीतेन सूर्येण पलायमानेन सता अग्नये दातुं नीयमाना स्वप्रभा आकाशे त्यक्ता, सैव सा सन्ध्या बभौ इति। युद्धे हतानां सूर्यमण्डलभेदकत्वमुक्तं महाभारते यथा—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' इति। सूर्यप्रभायाश्च रात्रौ वह्निगतत्वं प्रसिद्धं शास्त्रेषु ॥ ९४ ॥

इस प्रकार प्रकट हुई सन्ध्या—ऐसी लगती थी मानो सूर्य अग्निको सौंपनेके लिए जिस प्रभाको लिये जा रहे थे उसे उनने आकाशमें छोड़ दिया हो, और खुद इस भयसे—कि कहीं युद्धमें मरनेवाले वीरगण हमारे मण्डलका भेदन न कर दें, कहीं दूर चले गये—भाग खड़े हुए हों ॥ ९४ ॥

नभःपयोधेर्नवविद्रुमश्रीः क्रमेण संध्या कृशिमानमाप[2]।
उद्यत्प्रकोपैरुभयैरनीकैर्विभज्य नीतेव विलोचनानि ॥ ९५ ॥

नभःपयोधेरिति। नभःपयोधेः आकाशरूपस्य सागरस्य नवविद्रुमश्रीः प्रत्यग्रप्रवालसदृशी सन्ध्या—उद्यत् प्रकोपैः युद्धविघ्नकारिण्यां सन्ध्यायां जातक्रोधैः युद्धे वा परप्रहारेण जातक्रोधैः उभयैः पक्षद्वयगतैः अनीकैः विभज्य समविभागं कृत्वा लोचनानि स्वस्वनयनानि नीता प्रापिता इव कृशिमानम् आप प्राप्तवती समाप्तिं गतेत्यर्थः। आकाशसागरस्य प्रत्यग्रप्रभा सा सन्ध्या कुपितैर्दलद्वयसैनिकैः समं विभज्य निजानि नयनानि गमितेव समाप्तिमभजतेत्याशयः। रूपकोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥ ९५ ॥

---

१. 'दिवस्थले'। २. 'आगाव'। इति पा०।

आकाशरूप सागरके नवीन प्रवाल (मूँगा) की तरह प्रतीत होनेवाली सन्ध्या क्रमशः क्षीण पड़ने लगी, समाप्त होने लगी, ऐसा मालूम पड़ता था मानो परप्रहारसे अन्योन्य कुपित अथवा सन्ध्या द्वारा युद्धमें विघ्न पड़नेसे सन्ध्यापर कुपित दोनों दलके सैनिकोंने उस सन्ध्याको अपनी आँखोंमें रख लिया हो। सैनिकोंकी आँखोंमें जो लाली थी मानो वह सन्ध्याकी ही लाली हो जिसे उन्होंने अपनी अपनी आँखोंमें रख लिया था॥

ध्वजिनीजनितं रजोऽन्धकारं त्वरितं बान्धवकौतुकातिरेकात्।
परिरब्धुमिवान्धकारसंघः परमार्थो रणचत्वरं जगाहे ॥ ९६ ॥

ध्वजिनीति। ध्वजिनीभ्याम् उभयोरपि पक्षयोः सेनाभ्यां जनितम् गजतुरगादिपदोत्थं रजः तदेव अन्धकारं ध्वान्तं बान्धवकौतुकातिरेकात् बन्धुत्वकृतोत्कण्ठातिशयात् परिरब्धुम् आलिङ्गितुम् इव परमार्थः वास्तविकः रात्रिकृतः अन्धकारसङ्घः तमोराशिः त्वरितम् आशु रणचत्वरं युद्धाङ्गणम् जगाहे प्रविवेश। सेनोत्थापितरजोऽन्धकाररूपं साजात्यकृतं बान्धवं दृष्ट्वा तदालिङ्गनोत्कण्ठापरवश इव तमोभरस्तद्युद्धक्षेत्रं प्रविवेशेति भावः। आलिङ्गितुमिवेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

दोनों पक्षोंकी सेनाओं द्वारा जो धूल उड़ाई जा रही थी, तत्स्वरूप अन्धकारको बान्धवमिलनविषयक उत्कंठासे आलिङ्गित करनेके लिये वास्तविक अन्धकारने उस युद्ध-क्षेत्रमें प्रवेश किया। वहाँ पर जो अन्धकार फैला हुआ था, वह अन्धकारत्वसाजात्य से रात्रिकृत अन्धकारका बन्धु होगा, उसे देखकर उत्कण्ठातिशयसे उसका आलिङ्गन-सा करनेके लिये वास्तविक रात्रिकृत अन्धकारने उस युद्ध-क्षेत्रमें प्रवेश किया ॥ ९६ ॥

संकोच्य पक्षानेकेषु संविशत्स्वपि पत्त्रिषु।
विस्तार्य पक्षानपरे विचेरुस्तत्र पत्त्रिणः ॥ ९७ ॥

संकोच्येति। तत्र रात्रिकृतान्धकारे एकेषु कतिपयेषु पत्त्रिषु पक्षिषु पक्षान् स्वीयपक्षतीः सङ्कोच्य मुकुलीकृत्य बाणावपातभयात् संविशत्सु कुलायं प्रविशत्सु सत्स्वपि अपरे पत्त्रिणः बाणाः पक्षान् पुङ्खभागान् विस्तार्य विततीकृत्य चेरुः प्रचरन्ति स्म, अन्ये गृध्रादिपक्षिणः शवमांसाभिलाषेण संचेरुरिति वा। विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९७ ॥

उस रात्रिकृत अन्धकारमें जब कुछ पक्षी अनेक पङ्खोंको समेटकर बाणपातभयसे घोसलोंमें छिपने जा रहे थे, उसी समय कुछ पङ्खवाले बाण अपने पङ्ख पसारे इधर-उधर चल रहे थे, अथवा कुछ शवमांसाभिलाषी पक्षी इधर उधर उड़ रहे थे ॥ ९७ ॥

शरवर्षभयेन तत्र युद्धे सकले कङ्ककुले गतेऽपि दूरम्।
प्रमदं दधदेक एव कङ्कः परिबभ्राम सभीमपक्षपातः ॥ ९८ ॥

शरवर्षेति। तत्र युद्धे शरवर्षभयेन बाणावपातभीत्या सकले समस्ते कङ्ककुले गृध्रसमूहे दूरं गते पलायिते अपि सति प्रमदं हर्षं दधत् धारयन् प्रमदं रणोत्साहं

च धारयन् सभीमपक्षपातः भयङ्कररूपेण पक्षं पातयन् भीमकृतपक्षपातसहितश्च भीमेन स्वसान्निध्यादिना साहायकं प्रापितश्च सन् एक एव कङ्को गृध्रः युधिष्ठिरश्च परिबभ्राम सर्वतः सञ्चचार। तत्र युद्धक्षेत्रे सर्वेष्वपि कङ्केषु वाणावपातभयात् सुदूरं पलायितेषु सत्सु महता पक्षपातध्वनिना युतः कोऽपि साहसी गृध्रभेदः सर्वतः सञ्चचार, भीमेन कृतसाहायकश्च कङ्कापरनामा युधिष्ठिरः सर्वतो रणोत्साहं धारयन् भ्रमतिस्मेति भावः। विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९८ ॥

उस युद्ध क्षेत्रमें जब सारे गृध्र वाणवर्षाके भयसे दूर भाग गये थे तब भी भयानक पक्ष फड़फड़ाता हुआ कोई साहसी गृध्र वहाँपर चारो ओर घूम रहा था, उसे बड़ी खुशी हो रही थी, अथवा भीमकी सहायतासे निर्भय होकर रणोत्साहसम्पन्न बन युधिष्ठिररूप कङ्क इधर-उधर विचर रहे थे ॥ ९८ ॥

अन्योन्यपट्टिशविघट्टभवैः स्फुलिङ्गैराजिस्थले [1]तिमिरकर्दमभाजि योधाः ।
आगामिनीषु समितिष्वधिकं विधातुमासन्प्रतापनवबीजमिवावपन्तः ॥९९॥

अन्योन्येति। योधाः उभयपक्षभटाः अन्योन्यस्य पट्टिशेभ्यः खड्गविशेषेभ्यः विघट्टेन परस्परसंघर्षेण भवः उत्पत्तिर्येषां तैस्तथोक्तैः परस्परपट्टिशसङ्घर्षजन्मभिः स्फुलिङ्गैः अग्निकणैः आगामिनीषु भाविनीषु समितिषु युद्धेषु अधिकम् विधातुम् उपचयं सम्पादयितुम् तिमिरकर्दमभाजि अन्धकाररूपकर्दमशालिनि आजि क्षेत्रे युद्धरूपे केदारे प्रतापस्य नवं बीजमावपन्त इव आसन्। कृषीवला यथाऽधिकमन्नमुत्पादयितुं कर्दमीकृतक्षेत्रे व्रीह्यादिबीजं वपन्ति तद्वत् योधाः प्रतापरूपमधिकमन्नमवाप्तुं तिमिरकर्दमोपपन्ने युद्धक्षेत्रे परस्परपट्टिशप्रहारभवैः स्फुलिङ्गैः प्रतापबीजं वपन्त इवावभासन्तेस्मेत्यर्थः। साङ्गं परम्परितरूपकमलङ्कारः ॥ ९९ ॥

दोनों पक्षोंके योद्धागण होनेवाले युद्धोंमें अधिक प्रताप पानेकी आशामें परस्पर पट्टिशसंघर्षसे उत्पन्न अग्निकणों द्वारा अन्धकारमय युद्धक्षेत्रमें मानो प्रतापके बीज डाल रहे थे, जैसे कृषक अधिक अन्न पानेकी आशामें कीचड़मय खेतमें अन्नके बीज डाला करते हैं ॥ ९९ ॥

नलिनीशबिम्बपथचारमलब्ध्वा नभसि भ्रमत्सु नववीरसुरेषु ।
करपल्लवौ परिनिपीड्य मृगाक्ष्यः कलहाय नक्तमशपन्त सुराणाम् ॥१००॥

नलिनीशेति। नववीरसुरेषु ये वीरा युद्धे मृत्वा सद्य एव देवभावं गतास्तेषु नलिनीशबिम्बं सूर्यमण्डलं तत्पथचारं तेन मार्गेण सञ्चरणं सूर्यमण्डलं भित्त्वोपरिगमनम् अलब्ध्वा रात्रौ सूर्यस्यासत्त्वेन सूर्यमण्डलपथचारमप्राप्य नभसि आकाशे भ्रमत्सु सत्सु सुराणां मृगाक्ष्यः देवललनाः (तेषां नवसुराणां प्रतीक्षणपराः) कर-

१. 'रुधिर'। इति पा०।

पल्लवौ पल्लवतुल्यौ निजौ पाणी परिनिपीड्य कोपेन संमृद्य कलहाय वाक्कलहं कर्त्तुं नक्तम् रात्रिम् (सूर्यस्य समागमने विलम्बमादधानाम्) अशपन्त परुषवाक्यैः अस्मन्नववरलाभे विघ्नमातन्वती पापिनी त्वं किमिति विलम्बसे इत्यादिरूपैः अभर्त्संयन्॥ १०० ॥

युद्धमें मरण प्राप्त करके अभी–अभी देवत्वको प्राप्त हुए देवगण–नये देवगण रात्रिमें सूर्य के नहीं होनेके कारण सूर्यमण्डलमार्गसे सञ्चार नहीं पाकर जब आकाशमें टहल रहे थे—सूर्योदयकी प्रतीक्षामें आकाशमें भ्रमण कर रहे थे उस समय अपने पल्लवोपम करोंको मलती हुई देवललनायें वाक्कलह करनेके लिये रात को कोस रही थीं—अभागी यह कब खतम होगी कि हमें नये वर मिलेंगे—इत्यादि कठोर बातें कह रही थीं॥ १०० ॥

रराज हैमी रथकेतुराजी रज्यत्पटा रक्तकणैः प्रकीर्णैः।
आकर्ण्य युद्धाद्भुतमर्धमार्गाद्द्रष्टुं निवृत्ता चरमेव संध्या ॥ १०१ ॥

रराजेति। प्रकीर्णैः ऊर्ध्वमुत्क्षिप्तैः रक्तकणैः युध्यमानजनदेहनिर्गतरुधिरबिन्दुभिः रज्यत्पटा अरुणायमानपताकावस्त्रा हैमी स्वर्णनिर्मिता रथकेतुराजिः स्यन्दनध्वजावलिः युद्धाद्भुतम् आश्चर्यं युद्धम् आकर्ण्य श्रुत्वा अर्धमार्गात् निवृत्ता द्रष्टुं प्रत्यावृत्ता चरमा सायन्तनी सन्ध्या इव रराज प्रकाशते स्म। उपरिक्षिप्तैः रक्तकणैः रज्यत्पटा हैमी ध्वजदण्डपरम्पराभीषणं युद्धं भवदाकर्ण्य तद्दर्शनाय मध्येमार्गात्परावृत्ता सायंसन्ध्येव बभास इत्याशयः। उत्प्रेक्षा स्वरूपगता ॥ १०१ ॥

घायल होनेवाले योद्धाओंकी देहसे ऊपरकी ओर उड़नेवाली रक्तबिन्दुओंसे लाल हो रहे हैं पताकावस्त्र जिनके ऐसे वह स्वर्णनिर्मित रथपरके ध्वजदण्ड ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो अद्भुतयुद्धका होना सुनकर देखनेके लिये आधे रास्तेसे लौटकर आई हुई सायंसन्ध्या हो॥ १०१ ॥

तत्र तावदरिशरै[1]र्निकृत्तमत्तगजं[2]सप्तिरथिपत्तिकुलनवरक्तसिक्तं रणचत्वरमनुभूय भूयसा रोषेण संवर्तसमवर्तिसममूर्तिर्हृदि नर्तितधूर्तधार्तराष्ट्रशासनवार्त[3]स्त्रैगर्तः कैवर्त इव मत्स्यचक्रवर्तिनमाहर्तुं मुहूर्तादुपावर्तत ॥

तत्र तावदिति। तत्र युद्धे तावत् तस्मिन् समये अरिशरैः शत्रुप्रहृतैः बाणैः कृत्तानां खण्डितानां मत्तगजानां मदमत्तकरिणां सप्तीनाम् अश्वानाम् रथिनां रथारोहिणां पत्तीनां पादचारिसैनिकानां च कुलस्य समुदायस्य नवैः तत्कालप्रवाहिभिः रक्तैः सिक्तम् आर्द्रं रणचत्वरम् युद्धाङ्गणम् अनुभूय साक्षात्कृत्य भूयसा रोषेण महता कोपेन संवर्त्ते प्रलयकाले यः समवर्त्ती यमराजस्तस्य मूर्त्तिरिव मूर्त्तिर्यस्य स तथोक्तः प्रलयकालयमसमभीषणरूपधरः हृदि मनसि नर्त्तिता स्मृता धूर्त्तस्य वञ्च-

१. 'शरनिकरनिकृत्त'। २. 'सप्तिकुलपत्तिनव'। ३. 'त्रिगर्तः'। इति पा०।

कस्य धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य शासनवार्त्ता आज्ञावाक्यं यस्य तथोक्तः चेतसा दुर्योधनादेशं परामृशन् त्रैगर्त्तः त्रिगर्त्तदेशस्वामी कैवर्त्तः धीवर इव मत्स्यचक्रवर्त्तिनं मत्स्यदेशाधिपं विराटं मत्स्यश्रेष्ठं च आहर्त्तुं बन्धुम् उपावर्त्तत समीपमायातः। तत्र युद्धे हतानां गजाश्वरथिपत्तीनां शोणितैरार्द्रां समरभुवं विलोक्य कोपेन यम-समभीषणरूपधरः स्वान्ते दुर्योधनादेशं परामृशन्सुशर्मा विराटं बन्धुं तत्समीपं चलितो यथा धीवरो महामत्स्यं बन्धुं तत्समीपं गच्छतीत्यर्थः। उपमावृत्त्यनुप्रास-श्चालङ्कारौ। 'समवर्त्ती परेतराट्' इत्यमरः॥

युद्धमें उस समय शत्रुओंके बाणों द्वारा कटे हुए हाथी, घोड़े, रथारूढ़, पैदल सैनिकों के समुदायके सद्यःक्षरित रक्तसे पटे हुए समरक्षेत्रको देखकर भयङ्कर क्रोधके कारण प्रलय कालिक यमराजके समान भीषणरूप धारण करनेवाला सुशर्मानाम त्रिगर्त्तदेशाधीश्वर हृदयमें वञ्चक दुर्योधनकी आज्ञाको दुहराता हुआ मत्स्यदेशाधीश विराटको बांधनेके लिये उनके पास चला, जिस प्रकार महामत्स्यको बाँधनेके लिये मल्लाह उस मत्स्यराजके पास जाता है॥

मानिनामचरमोऽथ सुशर्मा मध्यवर्तिनमनीकपयोधेः।
संमुखो झटिति बन्धमनैषीत्स ज्यया रिपुमपत्रपया च॥ १०२॥

मानिनामिति। अथ विराटसमीपगमनानन्तरं मानिनाम् अभिमानशालिनाम् अचरमः प्रथमो मुख्यः सुशर्मा नाम त्रिगर्तेश्वरः अनीकपयोधेः सैन्यसागरस्य मध्य-वर्तिनम् रिपुं शत्रुभूतं विराटम् सम्मुखः तदग्रवर्त्ती सन् झटिति त्वरया ज्यया धनुर्गुणेन बन्धमनैषीत् बबन्ध, अपत्रपया लज्जया च बन्धम् अनैषीत् अभिमान-भङ्गेनातिलज्जितमकार्षीत् इत्यर्थः। स्वागतावृत्तम्॥ १०२॥

विराटके समीप जाकर अभिमानियोंमें अग्रगण्य उस सुशर्माने सैन्य—सागरके बीचमें अवस्थित रिपु विराटके सम्मुख जाकर अपने धनुषकी डोरीसे उन्हें बाँध लिया, और उसी समय लज्जासे भी उन्हें बद्ध कर दिया—बंध जानेसे उनको मानभङ्गके कारण बड़ी लज्जा भी हुई॥ १०२॥

भूपे पराभवपदे युधि धर्मसूनो-
र्भ्रूवल्लिकम्पकलिकामवतंसयन्सः।
मथ्नन्बलानि रिपवे मरुतः कुमारो
मात्स्यं विमुच्य वितताार दशां तदीयाम्॥ १०३॥

भूपे इति। भूपे विराटे युधि युद्धे पराभवपदे सुशर्मकृतबन्धनरूपापमानपात्रे सति धर्मसूनोः धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य भ्रूवल्लिकम्पः शिरःकम्पेन आज्ञाप्रदानं स एव कलिकापुष्पमुकुलं ताम् अवतंसयन् शिरोभूषणीकुर्वन् युधिष्ठिरेण शिरः-

कम्पनद्वारादत्तामाज्ञां शिरसा बिभ्राणः बलानि शत्रुसैन्यानि मथ्नन् मर्दयन् सः प्रसिद्धबाहुवीर्यः मरुतः कुमारो वायुसुतो भीमः मात्स्यं विराटं विमुच्य (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र मुचिः) मोचयित्वा (सुशर्मकृतबन्धनान्मुक्तं कृत्वा रिपवे शत्रवे सुशर्मणे तदीयाम् विराटसम्बन्धिनीं बद्धतारूपां दशां स्थितिं वितताार ददौ, विराटं बन्धनान्मोचयित्वा सुशर्माणं बबन्धेति भावः । अत्र भ्रूवल्लिकम्पे रूप्यमाणायाः कलिकाया अवतंसनक्रियोपयोगात्परिणामाऽलङ्कारः । स्पष्टमन्यत् ॥ १०३ ॥

विराटके सुशर्मा द्वारा बाँध लिये जानेपर धर्मपुत्रकी शिरःकम्पन द्वारा दी गई आज्ञारूप फूलमालाको शिरसे उठाये उस भीमने शत्रुसैन्यका मर्दन करके विराटको बन्धनमुक्त कर दिया, और विराटकी जो बद्धतादशा थी वह सुशर्माको दे दी, अर्थात् विराटको बन्धनमुक्त करके सुशर्माको बाँध लिया ॥ १०३ ॥

विराटसैन्येषु मिषत्सु युद्धे त्रिगर्तनेतुर्दृढबन्धनाय ।
कोदण्डयुक्तो गुण एव तत्र कर्ता च जज्ञे करणं च जज्ञे ॥ १०४ ॥

विराटेति । विराटसैन्येषु युधि युद्धे मिषत्सु निर्विकारभावेनावलोकयत्सु सत्सु त्रिगर्त्तनेतुः त्रिगर्त्ताधीश्वरस्य सुशर्मणः दृढबन्धनाय संयमनाय कोदण्डयुक्तः धनुर्धरः गुणः सूदः एव कर्त्ता जज्ञे अभूत्, कोदण्डयुक्तः धनुष्यारोपितः गुणः ज्या एव च करणं साधनं जज्ञे जातः । भीमो धनुज्यया सुशर्माणं बबन्ध, सर्वे चान्ये सैनिका असमर्थतया केवलमपश्यन्नित्याशयः । कोदण्डयुक्तो धनुर्धरो गुणः सूदः (भीमः) सुशर्मबन्धनक्रियायाः कर्त्ता, कोदण्डयुक्तो धनुपि स्थितो गुणो ज्या च करणं बन्धनसाधनमभूदिति स्पष्टार्थः । 'सूदा औदनिका गुणाः' इति पाचकपर्यायेष्वमरः ॥ १०४ ॥

युद्धमें विराटकी सेना अक्रियवती सिर्फ देखती रही, सुशर्माके बाँधे जानेमें उसने कुछ हिस्सा नहीं लिया, उस सुशर्माके बाँधनेमें तो धनुर्धर पाचक (कोदण्डयुक्त गुण) भीम कर्त्ता बना, और (कोदण्डयुक्त गुण) धनुपपर चढ़ी प्रत्यञ्चा करण—बन्धनक्रिया साधन बनी ॥ १०४ ॥

तस्यां निशायां तु तमःकदम्बकं निमीलनोन्मीलनयोर्दृशां यथा ।
युद्धं तयोर्मात्स्यसुशर्मणोस्तथा समानरूपं फलमेव संददौ ॥ १०५ ॥

तस्यामिति । तस्यां युद्धेन संगतायां निशायां तमःकदम्बकम् अन्धकारराशिः यथा येन प्रकारेण दृशां लोकलोचनानां निमीलनोन्मीलनयोः पिधानप्रसारणादयोः समानरूपं तुल्यं फलं दर्शनाभावरूपम् सन्ददौ दत्तवत्, तथैव युद्धं संग्रामः मात्स्यसुशर्मणोः विराटाय सुशर्मणे च समानरूपं तुल्यं बन्धनात्मकं फलं सन्ददौ दत्तवत् । अयमर्थः—युद्धे प्रवृत्ते तस्यां रात्रौ नेत्रे पिहिते प्रसारिते च दर्शनाभाव-

रूपं तुल्यं फलमजायत यथा तथा युद्धेऽपि विराटसुशर्मणोस्तुल्यमेव बन्धनात्मकं फलमजायतेति ॥ १०५ ॥

उस युद्धकी रातमें अन्धकारने जिस प्रकार आँखोंके खुलने और बन्द होने, दोनों स्थितिमें समान फल (कुछ नहीं सूझना-दर्शनाभाव) दिया उसी तरह उस युद्धने भी विराट तथा सुशर्मा दोनोंको बंधनरूप समान फल दिया ॥ १०५ ॥

विमानितो वायुभुवा विराटतो विमोचितो धर्मभुवा दयालुना ।
तया रजन्येव स सामिशेषया समं ध्वजिन्या निरगाद्यथागतम् ॥१०६॥

विमानित इति । वायुभुवा वातपुत्रेण भीमेन विमानितः बध्ननेनापमानितः, दयालुना परदुःखप्रहाणेच्छाशीलेन च धर्मभुवा युधिष्ठिरेण विराटतो विराटमनुनीय विमोचितः मुक्तबन्धनः कृतः सः सुशर्मा सामिशेषया अर्धावशिष्टया ध्वजिन्या स्वीयसेनया समं तया सामिशेषया अर्धावशिष्टया रजन्या समम् इव यथागतं निरगात् येन पथाऽऽयातस्तेनैव पथा प्रत्यावृत्त इत्यर्थः। भीमेन बद्धोऽसौ सुशर्मा दयापरवशेन युधिष्ठिरेण विराटमनुनीय मोचितस्तदनन्तरमसौ सुशर्मा अर्धावशिष्टया स्वसेनया सह यथागतं निवृत्तः, तथाऽर्धावशिष्टा सा रात्रिरपि गतेत्याशयः ॥

भीमके द्वारा बन्धनमें डालकर अपमानित सुशर्मा दयालु युधिष्ठिरके द्वारा विराटको कह सुनकर बन्धनसे छुड़ा दिया गया, और मुक्तबन्धन होनेपर वह अपनी-अर्धावशिष्ट उस रात्रिकी तरह अर्धावशिष्ट सेनाके साथ जिस तरहसे आया था उसी तरहसे वापस लौट गया ॥ १०६ ॥

व्याकृत्तशीर्षकरको विमलास्थिदन्तो
रक्तह्रदांशुकधरो रथकेतुदण्डः ।
सेनाक्षयाद्धृतशमः स्वयमाजिरङ्गः
कङ्कादिवाप चरमाश्रमसंप्रदायम् ॥ १०७ ॥

व्याकृत्तेति । व्याकृत्तं छिन्नं शिरः सैन्यमस्तकमेव करकः कमण्डलुर्यस्य तादृशः, विमलानि स्वच्छानि यत्र तत्र प्रसृतानि अस्थीन्येव दन्ता यस्य तथोक्तः, रक्तह्रदाः शोणितसरांसि एव अंशुकानि काषायवस्त्राणि तेषां धरः धर्त्ता, रथकेतुः स्यन्दध्वज एव दण्डः संन्यासयष्टिः यस्य स तथोक्तः, सेनाक्षयात् बहुसैन्यमरणदर्शनात् धृतसमः युद्धोपरमं वैराग्यं च धारयन् , आजिरङ्गः समरदेशः स्वयम् अपि कङ्कात् संन्यासिनो युधिष्ठिरात् चरमाश्रमसंप्रदायम् संन्यासाश्रमदीक्षाम् प्राप इव प्राप्तवानिव । युद्धदेशो युधिष्ठिरसन्न्यासिनः सकाशात् संन्यासमिव गृहीतवान् , अन्योऽपि गृहीतसंन्यासः कमण्डलुश्वेतदन्तकाषायवस्त्रदण्डशमादीनि सन्न्यासोप-

---

१. 'सेनाक्षयाद्धृतशमः' । इति पा० ।

करणानि धारयति, युद्धदेशे सैन्यानां छिन्नं शिरः कमण्डलुः, अस्थीनि श्वेता दन्ताः, रक्तह्रदाः काषायवासांसि, रथध्वजो दण्डः, सेनाक्षयजन्मा युद्धोपरमो वैराग्यम्, एवं सन्न्यासोपकरणानि संभृतानि बोध्यानि । सन्न्यासदीक्षां प्राप्तवानिवेत्युत्प्रेक्षा सावयवकङ्करूपणेन संकीर्यते ॥ १०७ ॥

सैनिकोंके कटे सिर कमण्डलु, स्वच्छ हड्डियाँ स्वच्छ दन्त, शोणितके ह्रद काषायवस्त्र, रथके ध्वज दण्ड, सेनाके क्षयसे युद्धविरामरूप वैराग्य धारण करके स्वयं युद्धदेशने भी मानों युधिष्ठिररूप सन्न्यासीसे सन्न्यास आश्रमकी दीक्षा ले ली । जो सन्न्यास लेता है उसे कमण्डलु, शुक्लदन्त, काषायवस्त्र, दण्ड इत्यादि वैराग्यरूप सामग्री अपेक्षित होती है, युद्धदेशमें यह सभी एकत्र हैं, मानो इस युद्धदेशने सन्न्यास ले लिया हो, युधिष्ठिररूप सन्न्यासी गुरु भी उपस्थित थे ही इस प्रकार दीक्षा पूर्ण हुई ॥ १०७ ॥

तदनु [1]मुहुर्मुहुर्वललमेव केवलम[2]वलोकमाना बलशासनदिशायामोजायमानेन चन्द्रमसा [3]प्रसूताभिर्मदसहितकरिघटाविषाणाङ्गणप्रतिफलनशतगुणितधवलिमवीचिभिर्मरीचिभिर्दलितरणवि[4]मर्ददुर्दशा विराटस्य चमूरपि प्रतिनि[5]वर्तनहृष्यमाणगोधनवेगप्रस्नुतक्षीरधारापातशीतलितसिकतायां पदव्यां पद्मपङ्क्ति[6]निलीनेन समरभूरेणुभारेण न[7]यननिमीलनशिल्पकल्पितबहुसाहाय्यमुद्रया निद्रया तां यामिनीं [8]पश्चार्धसीमानं प्रत्यवीवहत् ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते षष्ठः स्तबकः ।

तदन्विति । तदनु परिपन्थिसेनागमनानन्तरम् मुहुर्मुहुः वारंवारम् वललं विराटगृहे तदाख्यया प्रसिद्धं भीममेव केवलम् अवलोकमाना वीक्षमाणा बलशासनस्य इन्द्रस्य दिशायां पूर्वस्याम् ओजायमानेन प्रकाशमानेन चन्द्रमसा शशिना प्रसूताभिः जनिताभिः, मदसहितानां मत्तानां करिणां गजानां या घटा श्रेणी तस्या विषाणाङ्गणे दन्तचत्वरे प्रतिफलनेन प्रतिबिम्बनेन शतगुणिता शतगुणीकृता धवलिमवीचिः स्वच्छताप्रवाहो यासां तादृशीभिः, (चन्द्रमरीचयो हस्तिदन्तपरम्पराप्रतिबिम्बिताः सत्यः शतगुणितां शोभां धारयन्तीति) मरीचिभिः किरणैः (चान्द्रीभिः कलाभिः) दलितरमणविमर्ददुर्दशा उपशमितयुद्धश्रमा विराटस्य चमूः सेना अपि प्रतिनिवर्त्तने सुशर्मकृतावरोधात् प्रत्यावर्त्तनकाले हृष्यमा-

---

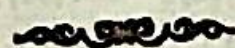
१. 'मुहूर्तं मुहुरविरलं वललमेव' । २. 'अवलोकमानावलमाना' । ३. 'प्रसूतैर्मदकरटिघटाविषाणाङ्गणप्रति' । ४. 'विमर्दभटश्रमदुर्दशा' । ५. 'निवर्तनवेगहर्षमानगोधनपयःप्रस्रवणधारा' । ६. 'निमीलनेन' । ७. 'लोचनयोर्निमीलन' । ८. 'पश्चार्धसीमा'; 'पाश्चात्यसीमानमत्यवीवहत्' । इति पा० ।

णात् प्रसन्नात् गोधनात् गवां समूहात् वेगेन प्रस्नुतैः क्षरितैः क्षीरधारापातैः पयःप्रवाहैः शीतलिताः शैत्यं प्रापिताः सिकताः मृत्कणाः यस्यां तथोक्तायां पदव्यां मार्गे पक्ष्मपङ्क्तिनिलीनेन नेत्रपुटलोमराशिस्थितेन समरभूरेणुभारेण युद्धक्षेत्ररजोराशिना नयननिमीलनशिल्पे नेत्रपिधानकर्मणि कल्पितबहुसाहाय्यमुद्रया कृतबहुसहायतया निद्रया तां यामिनीं रात्रिं पश्चार्धसीमानं चरमावधिं प्रत्यवीवहत् समापयामास। सा सेना विराटस्य गतासु सुशर्मसेनासु वललं विलोकमाना जाते चन्द्रोदये मत्तगजदन्तप्रतिबिम्बनशतगुणिताभिश्चन्द्रिकाभिः क्षपितयुद्धश्रमा सती बन्धनमुक्ततया प्रसन्नानां गवां स्वतः क्षरितया क्षीरधारया शीतलीभूतवालुकायां पदव्यां शयाना रेणुभारेण पक्ष्मस्थितेन स्वतो निमीलितनेत्रा तां निशामत्यवाहयदिति भावः ॥

सुशर्माकी सेनाके चले जानेपर केवल भीमकी ओर देखती हुई, प्राची दिशामें उदित होनेवाले चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित तथा मतवाले हाथियोंके दाँतोंपर प्रतिफलित होनेके कारण शतगुणित होनेवाली चन्द्रिका जिनका युद्धश्रम शान्त कर दिया गया है ऐसी विराटकी वह सेना, बन्धनसे छूटनेपर प्रसन्न हुई गायोंकी स्वतःप्रवृत्त दुग्धधारके गिरनेसे शीतल हो गई है बालुका राशि जहाँकी ऐसी उस राहपर ही वरुनीपर पड़ी युद्धक्षेत्रधूलिके कारण आँखके बन्द होनेमें सहायता पहुँचानेवाली निद्रासे उस रातको पश्चिम सीमापर–समाप्तिपर पहुँचा दिया। अर्थात् विराटकी सेना मार्गमें ही सो रही, रात खतम हो गई ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत'प्रकाशे'

षष्ठस्तबक'प्रकाशः' ॥





सप्तमः स्तबकः

आरूढे द्यामर्कबिम्बे परेद्युः साकं सैन्यैः सार्वभौमः कुरूणाम् ।
पार्थादेकां बिभ्रदाहृत्य गोत्रां मात्स्यादन्यां तत्पुरं[1] हर्तुमागात् ॥ १ ॥

आरूढ इति । परेद्युः युद्धविरामाद्द्वितीयस्मिन् दिवसे अर्कबिम्बे सूर्यमण्डले द्यामारूढे व्योमगते सति सूर्योदये जात इत्यर्थः, सैन्यैः सेनाभिः साकं सह कुरूणां सार्वभौमः चक्रवर्ती दुर्योधनः पार्थात् युधिष्ठिरात् एकां गोत्रां पृथिवीम् आहृत्य द्यूते प्राप्य बिभ्रत् भुञ्जानः अपि मात्स्यात् विराटात् अन्याम् अपरां गोत्राम् गोवृन्दं हर्तुम् अपहर्तुं तत्पुरम् विराटनगरम् आगात आयातः । युद्धद्वितीयदिने सूर्योदये जाते युधिष्ठिरं द्यूते पराजित्यापहृतामेकां गोत्रां पृथ्वीं धारयन्नपि मात्स्यादपरां गोत्रां गोराशिं हर्तुं ससैन्यो दुर्योधनो विराटपुरमायात इत्यर्थः । 'गोत्रा गोनिचये भूम्याम्' इति वैजयन्ती । शालिनीवृत्तं लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ १ ॥

दूसरे दिन सूर्यमण्डलके आकाशगामी हो जानेपर–सूर्योदय हो जानेपर सेनाको साथ लिये, युधिष्ठिरको जुएमें हराकर उनसे छीनी गई एकगोत्रा पृथ्वीको धारण करता हुआ भी दुर्योधन मात्स्य विराट्से दूसरी गोत्रा गोधन छीननेके लिये विराट्के नगरमें आया ॥ १ ॥

सुदूर[2]मार्गश्रमविह्वलाङ्गी सेना समस्ता धृतराष्ट्रसूनोः ।
आभीरवाटान्तिक एव तस्थौ सद्यो निरुद्धेव तदाज्यगन्धैः ॥ २ ॥

सुदूरेति । सुदूरमार्गे अतिविशालवर्त्मनि यः श्रमः आयासस्तेन विह्वलानि किञ्चिदपि पुरःसर्तुं अयोग्यानि अङ्गानि करचरणादीनि यस्याः सा तादृशी धृतराष्ट्रसूनोः दुर्योधनस्य समस्ता अखिलसेना चमूः तदाज्यगन्धैः आज्यवाटस्थितासुगन्धैः सद्यो निरुद्धेव अस्मदुपभोगं कृत्वा अग्रे गन्तव्यमिति कृतनिरोधा इव आभीरवाटस्य गोपपल्ल्याः अन्तिके समीप एव तस्थौ स्थिता । दूरादागच्छन्त्यत एव श्रमनिःसहाङ्गी दुर्योधनसेना विराटनगरस्थिताभीरवाटस्य समीपे समागत्य स्थिता, मन्ये आभीरवाटान्निस्सरँस्तदाज्यसुगन्धस्तां सेनां पुरस्सरणान्निरुद्धवती, मामास्वाद्यैव पुरःसरणीयमिति गमनान्निर्बन्धेन निवारितवतीवेति भावः ग्रहणफलकेऽवस्थाने आज्यगन्धग्रहणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २ ॥

बहुत दूरसे चलकर आनेके कारण थकी हुई दुर्योधनकी समस्त सेना विराटकी गोपपल्लीके सामने आकर ठहर गई मानो उस पल्लीकी घृतगन्धने उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया हो—हमारा आस्वादन करके ही आगे बढना ऐसा आग्रह करके आगे जानेसे रोक रखा हो ॥ २ ॥

---

१. 'तत्पुरे' । २ 'विदूरे' । इति पा० ।

तावत्तस्य पादातं सर्वाभिसारेण गाहं गाहं गवां व्रजं व्रजगृहे[1] प्रजगृहे ॥

तावदिति । तावत् यावत् सैन्यं समस्तं तिष्ठति तावता कालेन तस्य दुर्योधनस्य पादातं पादचारि बलं व्रजगृहे गोशालायां गाहं गाहं प्रविश्य प्रविश्य सर्वाभिसारेण सर्वप्रकारेणोद्योगेन गवां धेनूनां व्रजं समुदायं प्रजगृहे स्ववशीचकार ।

जब तक सेना रुकी तबतक दुर्योधनके पैदल सैनिकोंने गोशालामें पैठकर सभी प्रकारके उद्योग द्वारा गोसमुदायको अपने कब्जेमें कर लिया ॥

दण्डाघाते दीयमानेऽपि योधैर्दुग्धं भूयो दोहशेषं वहन्त्यः ।
घोषाद्गावो निःसरन्ति स्म यत्नाद्गोभ्यो घोषो यत्नलेशं विनैव ॥ ३ ॥

दण्डाघात इति । योधैः दुर्योधनसैनिकैः दण्डाघाते लगुडप्रहारे दीयमाने क्रियमाणे अपि भूयः प्रचुरं दोहशेषम् दुग्धावशिष्टं स्तन्यं वहन्त्यः धारयन्त्यः गावः घोषात् व्रजात् यत्नात् यत्नमाधाय क्लेशेन निःसरन्तिस्म निर्गच्छन्तिस्म, घोषस्तु गोभ्यः यत्नलेशं विनैव निःसरतिस्मेति वचनविपरिणामेनान्वयः । घोषः आर्त्तनादः अयमाशयः—ताड्यमाना अपि गावो घोषान्महता प्रयत्नेन निर्गच्छन्तिस्म यतस्ताः पयोधरभारपीडिताः घोषः व्रजस्तु यत्नलेशं विनैव निस्ससारेति विरोध-प्रतिभासः । घोषस्य स्थावरतया निस्सरणायोग्यत्वाद्यत्नं विनैव निस्सरणस्यात्य-न्तासंभवात् तदयं विरोध आपाततः प्रतीयते । ताड्यमाना गावो घोषं कुर्वन्तीति घोषस्यार्त्तनादार्थकत्वेन विरोधपरिहारो बोध्यः ॥ ३ ॥

दुर्योधनके सैनिकों द्वारा लाठियोंसे पीटी गई गायें स्तनोंमें दुग्धावशिष्ट दूध लिये हुए भी घोषसे बड़े प्रयत्नसे निकलीं, घोष तो उनसे विना किसी प्रयत्नके ही निकल गया । (स्थावर घोष-गोनिवास निकल गया, विना प्रयत्नके, यह विरोध प्रतीत होता है, आर्त्तनाद निकला इस अर्थसे विरोधपरिहार होता है) ॥ ३ ॥

इतस्ततः संभ्रममीयुषीणां गोपाङ्गनानां कुचदर्शनेन ।
निषादपङ्क्तिर्निजहस्तिमस्ते[2] सृणिं निधातुं[3] श्लथपाणिरासीत् ॥ ४ ॥

इतस्तत इति । इतस्ततः यत्र तत्र संभ्रममीयुषीणां भयेन सञ्चरन्तीनां गोपा-ङ्गनानां वल्लवीनां कुचदर्शनेन स्तनान्विलोक्य निषादपङ्क्तिः हस्तिपकसमुदायः सृणिम् अङ्कुशं निधातुं प्रहर्त्तुं श्लथपाणिः अलसकरः निवृत्तव्यापारहस्तः आसीत् । हस्तिपकाः सन्निहितेषु वल्लवीकुचेषु विशालत्ववद्धित्वसहचरितत्वादिना हस्तिमस्त-कभ्रममादधानाः के हस्तिकुम्भाः के वा कुचकुम्भा इति विवेक्तुमशक्ताः सन्तोऽ-ङ्कुशारोपणमेव त्यक्तवन्तः, भ्रमावस्थायां कृतेऽङ्कुशारोपणे कदाचित्कुचे विभिन्नेऽ-नौचित्यमापतेदित्याशयः । भ्रान्तिमत्सङ्कीर्णं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४ ॥

---

१. 'जगृहे' । २. 'मस्तके' । ३. 'विधातुं' । इति पा० ।

भयभीत होकर इधर उधर दौड़नेवाली गोपालवधुओंके स्तनोंको देखकर हस्तिपक लोग भ्रममें पड़ गये कि कौन वास्तविक करिकुम्भ है और कौन गोपालवधूकुच है, इस भ्रमकी स्थितिमें उन लोगोंने करिकुम्भपर अङ्कुश-प्रहार करनेमें अपने हाथ रोक लिये, अन्यथा यदि भ्रमकी दशामें कुचोंको ही हस्तिमस्तक समझकर अङ्कुश चला दें तो अनुचित काम होगा ॥ ४ ॥

भीमसेनभिषजा शमितो यो दक्षिणे झटिति मत्स्यपुरस्य ।
उत्तरेऽप्युदभवत्स तु पार्श्वे पक्षवात इव कौरवबाधः ॥ ५ ॥

भीमसेनेति । मत्स्यपुरस्य विराटनगरस्य दक्षिणे भागे यः कौरवबाधः गोधनापहरणरूपः कौरवकृत उपद्रवः भीमसेनभिषजा भीमात्मकेन वैद्येन शमितः उपशमं नीतः, स तु कौरवबाधः पक्षवातः वायुरोगविशेषः इव मत्स्यपुरस्य उत्तरेऽपि पार्श्वे भागे उदभवत् प्रकटीभूतः । यथा दक्षिणाङ्गे जातोऽर्धाङ्गवातो भिषजा शान्तिं नीतः सन् वामाङ्गे उद्भवति, तथैव भीमेन दक्षिणभागे शान्तिं गमितः कौरवबाध उत्तरभागतो मत्स्यपुरमाचस्कन्देति भावः । उपमाऽलङ्कारः, स्वागतावृत्तम् ॥ ५ ॥

मत्स्यपुरके दक्षिण भागमें जो कौरवकृत गोधनापहरणरूप उपद्रव पैदा हुआ था, उसे भीमसेनरूप वैद्यने उपशमित कर दिया तो वह पक्षवातकी तरह फिर उत्तर भागमें प्रकट हुआ, अर्थात् भीमने जब दक्षिण ओरसे होनेवाले गोधनापहरण को रोक दिया तब कौरवोंने उत्तर ओरसे आक्रमण किया, जैसे पक्षवात नामक वातरोगको एक भागमें दबा दिया जाता है तब वह दूसरे भागमें प्रकट हो जाता है ॥ ५ ॥

वृत्तं निवेदयितुमेतदतीव वेगा-
दाधाव्य कश्चिदथ गोपयुवा विविग्नः ।
रिङ्खत्पदाः क्षितिपतेरिव घोषसीम्नि
स्वस्यापि गा विमुमुचे नृपसूनुगोष्ठ्याम् ॥ ६ ॥

वृत्तमिति । अथ उत्तरभागावस्थितगोधनहरणप्रवृत्ते सति कुरुसैन्ये कश्चिद् गोपयुवा युवको गोपः विविग्नः खिन्नः एतद् वृत्तम् गोधनापहरणवृत्तम् निवेदयितुं स्वामिने सूचयितुम् । अतीववेगात् सातिशयशीघ्रगामितया आधाव्य धावित्वा घोषसीम्नि व्रजे रिङ्खत्पदाः स्खलच्चरणन्यासाः क्षितिपतेर्विराटस्य गाः धेनूः इव रिङ्खत्पदाः स्खलदक्षराः भयसंभ्रमगद्‌गदाः स्वस्य आत्मनः गाः वाच अपि नृपसूनुगोष्ठ्याम् राजपुत्रसभायाम् विमुमुचे तत्याज व्याजहार च । गोषु क्रियमाणासु सतीषु कोपि युवा गोपो वेगेन गत्वा राजपुत्रसभायां स्खलिताक्षराः स्ववाचः

---

१. 'तस्य पुरस्य' । २. 'पक्षघात' । ३. 'वेधः' । ४. 'विषण्णः' । इति पा० ।

स्थापितवान्, यथा घोषे स्खलत्पादन्यासा गाव आसन्, दुःखभयाभ्यामस्फुटाक्षरं स गोपयुवा गोहरणवृत्तं राजपुत्राय निवेदयामासेति भावः ॥ ६ ॥

कौरव सैन्यने जब उत्तर भागमें अवस्थित गोधनका अपहरण प्रारम्भ किया तब एक जवान गोप तेजीसे दौड़कर गया, और राजपुत्रकी सभामें दुःख तथा भयसे गद्गद स्वरमें उसने अपनी बातें कहीं, जैसे स्खलितपाद गायोंको वह घोषमें छोड़ आया था। 'रिङ्खत्पदाः' यह गाय तथा वाणी दोनोंका विशेषण है, 'गाः' से वाणी और गायें दोनोंका बोध कराता है ॥ ६ ॥

औदास्यं किमिदं कुमार! कुरवो गृह्णन्ति गास्तेऽखिला-
स्त्वद्दोष्णोः समयोऽयमाजिषु परैर्दुष्प्रापमाप्तुं यशः।
देवीं केकयनन्दनां कुरु महावीरप्रसूमूर्धसु
द्रागारोह रथं गृहाण च धनुर्धत्स्वाभ्यमित्रीणताम् ॥ ७ ॥

औदास्यमिति। हे कुमार, राजपुत्र, उत्तर, इदम् औदास्यम् उपेक्षणम् किं किमर्थम्। कुरवः दुर्योधनादयः ते तव अखिलाः समस्ताः गाः धेनूः गृह्णन्ति अपहरन्ति आजिषु समरेषु परैः अन्यैः दुरापं दुर्लभ यशः कीर्त्तिम् आप्तुं लब्धुम् अर्जयितुम् तव दोष्णोः भुजयोः अयं समयः कालः। केकयनन्दनां सुदेष्णां नाम देवीम् राज्ञीं महावीरप्रसूमूर्धसु वीरपुत्रजननीषु मातृषु मूर्द्धन्यां श्रेष्ठाम् सर्वाधिकवीरजननप्रसिद्धां कुरु विधेहि, द्राक् शीघ्रम् रथम् स्यन्दनम् आरोह, धनुः गृहाण धारय, अभ्यमित्रीणताम् शत्रून्प्रति सम्मुखीनताम् शत्रूनुद्दिश्य प्रस्थानं धत्स्व कुरुष्व। अत्रैकस्योत्तरस्य कुरु आरोह गृहाणेत्याद्यनेकक्रियाभिसम्बन्धाद्दीपकं नामालङ्कारः॥

हे कुमार, उत्तर, यह उपेक्षा क्यों है? तुम इस तरह खामोश होकर क्यों बैठे हो? कुरु लोग तुम्हारी सारी गायें हरकर लिये जा रहे हैं, यही समय है कि तुम्हारे भुज दूसरोंके लिये दुर्लभ यश समरमें अर्जित करें। उठो, अपनी माता सुदेष्णा देवीको वीरजननी माताओंका मूर्धन्य बनाओ, रथपर बैठो, धनुष सँभालो और दुश्मनोंके सामने चलकर उनके छक्के छुड़ाओ ॥ ७ ॥

उक्तोऽयमित्थं पुरतो वधूनामुल्लासयन् श्मश्रुलवान्नखाग्रैः।
किंचिन्मणिस्तम्भवियोजिताङ्गो गिरं दधेऽन्तःपुरमात्रधीरः ॥ ८ ॥

उक्तोऽयमिति। इत्थं पुरोदीरितप्रकारेण वधूनाम् अन्तःपुरस्त्रीणां पुरतः अग्रे उक्तः गोपयूना अभिहितः श्मश्रुलवान् ऊर्ध्वोष्ठोपरिभवरोमलेशान् नखाग्रैः करजाग्रभागैः उल्लासयन् उन्नमयन् शौर्यप्रकाशनाय श्मश्रूनुत्थापयन् अन्तःपुरमात्रधीरः स्त्रीणां मध्ये एव वीरः अयम् उत्तरनामा राजकुमारः किञ्चित् ईषत् मणिस्तम्भ-

---

१. 'नंदिनीं'। इति पा०।

वियोजिताङ्गः मणिमयस्तम्भतो दूरीकृतदेहः (पूर्वं मणिस्तम्भाधारेण सुखासिकया स्थितः, सम्प्रति कोपाभिनयाय किञ्चिदुत्थितः सन्) गिरं वक्ष्यमाणां वाचं दधे उवाच ॥ ८ ॥

इस प्रकार स्त्रियोंके बीचमें जब उस जवान ग्वालेने उत्तरको ललकारा, तब मूंछोंपर ताव देता हुआ, अन्तःपुर मात्रमें अपनी बहादुरी जतलानेवाला वह उत्तर मणिमय स्तम्भसे अपने शरीरको थोड़ा अलग करके इस प्रकार बोला— ॥ ८ ॥

तथा भुजं विक्रमयेयमेतं यन्ता यदि स्यादिह मे युयुत्सोः ।
षष्ठोऽपि नः कश्चन पाण्डवोऽभूदिति त्रसेयुः कुरवो यथा ते ॥ ९ ॥

तथा भुजमिति । इह अस्मिन् समये युयुत्सोः शत्रुभिः सह संग्रामं कर्त्तुमिच्छतो मे ममोत्तरस्य यन्ता कश्चित् सारथिः चेत् स्यात् यदि मिलेत्तदा एतं भुज स्वीयम् इमं बाहुं तथा विक्रमयेयं पराक्रमयुक्तं कुर्यां यथा ते कुरवः नः अस्माकं कुरूणां कश्चन षष्ठः पञ्चभ्यः प्रसिद्धेभ्यः पाण्डवेभ्यो भिन्नः अपि पाण्डवः तत्समानयोद्धा अभूत् जातः इति मत्वा त्रसेयुः भीता भवेयुः मम तादृशं भुजविक्रमं विलोक्य षष्ठं पाण्डवं मां तर्कयन्तस्ते कौरवा अतिमात्रं भयं भजेयुरिति भावः ॥ ९ ॥

इस समय लड़नेकी इच्छा रखनेवाले मुझ उत्तरको यदि एक सारथि मिल जाय तो अपने इस भुजाका वह करामात दिखलाऊँ कि वह कौरवगण समझें कि हमारा कोई छठा पाण्डव हो गया है और ऐसा समझकर वे अति भयभीत हो उठें ॥ ९ ॥

इदं निशम्य स्मितलाञ्छितोष्ठ्या तत्रोत्तरा केशकृता प्रणुन्ना ।
बृहन्नलां सारथिकृत्यदक्षां भ्रात्रे निवेद्यानयति स्म चैनाम् ॥ १० ॥

इदमिति । तत्र इदम् उक्तम् उत्तरविकत्थनं निशम्य श्रुत्वा स्मितलाञ्छितोष्ठया हसिताङ्किताधरया केशकृता प्रसाधिकया सैरन्ध्र्या प्रणुन्ना प्रेरिता उत्तरा नाम विराटपुत्री बृहन्नलां नाम नृत्यशिक्षाधिकृताम् सारथिकृत्यदक्षां सारथिकार्यपटुं भ्रात्रे उत्तराय निवेद्य आख्याय एनाम् बृहन्नलाम् आनयतिस्म उत्तरसमीपं प्राप्य स्थापयतिस्म च । उत्तरवाक्यं श्रुत्वा हसन्त्या केशसंस्कारं कुर्वन्त्या सैरन्ध्र्या प्रेरितोत्तरा तथा विकत्थमानाय स्वभ्रात्रे मम बृहन्नला साधु सारथ्यं कर्त्तुं क्षमत इत्यभिधाय बृहन्नलामानीय चोत्तरस्य पुरः स्थापितवतीति भावः ॥ १० ॥

उस समय कही गई उत्तरकी आत्मश्लाघापरक बातें सुनकर हँसती हुई सैरन्ध्री द्रौपदीने उत्तराको प्रेरित किया, और उत्तराने अपने भाई उत्तरसे कहा कि हमारी बृहन्नला नामकी नृत्यशिक्षिका सारथिकार्यमें दक्ष है, उसे अपने सारथिके रूपमें ले जाइये, ऐसा कहकर उत्तराने बृहन्नलाको वहाँ लाकर उपस्थित कर दिया ॥ १० ॥

---

१. 'अयं' । इति पा० ।

अवाप्य तां संसदमादृतः क्रमादवाग्बभार द्वयमिन्द्रनन्दनः।
नृपात्मजं पूजयितु च मस्तकं नितम्बिनीर्हासयितुं च कञ्चुकम् ॥११॥

अवाप्येति। इन्द्रनन्दनः अर्जुनः ताम् संसदम् अन्तःपुरप्रचुराम् सभाम् अवाप्य प्राप्य आदृतः उत्तरादिभिः कृतयथार्हसत्कारः सन् नृपात्मजं राजपुत्रम् उत्तरं पूजयितुं सम्मानेन सभाजयितुं मस्तकं स्वं शिरः मनस्विनीः तत्र स्थिताः वनिताश्च हासयितुं प्रसादयितुं कवचं चेतिद्वयम् क्रमात् अवागबभार, शिरःपक्षे नमयामास, कञ्चुकपक्षे विनैव किञ्चिद्वचनं धारयामास इत्यर्थः। तत्रागतोऽर्जुनः स्वाश्रयप्रदनृपपुत्रमुत्तरं सत्कर्तुं स्वं शिरो नमयामास, स्त्रीणां प्रसादं जनयितुं च किमप्यनुक्त्वैव कवचं पर्यधत्तेत्याशयः अत्रावागबभारेत्यत्र तन्त्रेणोभयार्थकत्वं क्रमेणोभयत्रान्वयश्च, यथासङ्ख्यमलङ्कारः॥ ११॥

उस स्त्रीप्रधान सभामें आये हुए इन्द्रपुत्र अर्जुनने उत्तरा आदि द्वारा यथोचित रूपमें सत्कृत होकर राजकुमार उत्तरके सम्मानमें अपना सिर झुका लिया, और वहाँकी स्त्रियों को खुशीसे सहास बनानेके लिये कवच भी विना कुछ कहे धारण कर लिया॥ ११॥

षण्ढोऽपि तेजसा तत्र सारथ्यसदृशाकृतिः।
न कासां पौरदृष्टीनां चकासामास फाल्गुनः॥ १२॥

पण्ढोऽपीति। पण्ढः नपुंसकोऽपि सः फाल्गुनः उत्तरफल्गुनीजातत्वात्फाल्गुनपदेन प्रतिपाद्योऽर्जुनः तत्र कवचधारणकाले तेजसा सारथ्यसदृशाकृतिः सारथिकार्योचितवेषः कासां पौरदृष्टीनां पुरजनलोचनानां न चकासामास प्रकाशीबभूव। अपि तु सर्वासामपि पौरदृष्टीनां सारथ्यसदृशाकृतिः प्रचकाश इत्यर्थः। एतत्तेजो दृष्ट्वाऽयं सम्यक् सारथ्यं करिष्यतीति पौरा विशश्वसुरिति यावत्॥ १२॥

उर्वशीके शापके प्रभावसे नपुंसकताको प्राप्त होनेपर भी अर्जुनने जब कवच धारण कर लिया तब किस पुरवासीकी दृष्टिमें वह सारथ्यकर्मके योग्य आकृति-सम्पन्न नहीं प्रतीत हुआ, अर्थात् कवच धारण करके अर्जुनने सभी पुरवासियोंकी आँखोंमें अपनी आकृतिको सारथ्यके योग्य साबित कर दिया॥ १२॥

तं सारथिपदे कृत्वा स[3] धातारमिवेश्वरः।
परसेनां हसन्नेव प्रधक्ष्यामीत्यमन्यत॥ १३॥

तं सारथीति। सः विराटपुत्र उत्तरः तम् अर्जुनम् ईश्वरः शिवो धातारम् ब्रह्माणम् इव सारथिपदे कृत्वा सारथित्वे नियुज्य हसन्नेव हासमात्रेणैव (अन्तरैव प्रयत्नं) परसेनां शत्रुसैन्यं त्रिपुरासुरसैन्यं च धक्ष्यामि दग्धां करिष्यामीति अमन्यत विश्वासमधत्त। यथा ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा शिवो हासमात्रेण त्रिपुरासुरसैन्य-

---

१. 'विलासिनीः'। २. 'फल्गुनः'। ३. 'विधातारमिव'। इति पा०।

मधाक्षीत्तथाहमपि फाल्गुनमिमं सारथिपदे लब्ध्वाऽनायासं कौरवसेनां ध्वंसयिष्यामीत्युत्तरो विश्वासमभजतेति भावः। ब्रह्मणः शिवसारथ्यमुक्तं यथा महिम्नःस्तवे—'रथः क्षोणीयन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति। दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणम्' इत्यादिना। उपमाऽत्राऽलङ्कारः॥ १३॥

उस बृहन्नलारूप अर्जुनको सारथिपदपर नियुक्त करके उत्तरने समझ लिया कि मैं शत्रुसैन्यपर हँसते-हँसते विजय पा लूंगा, जैसे शिवजीने ब्रह्माको सारथिपदपर रखकर हासमात्रसे त्रिपुरासुरके सैन्यको जला डाला था॥ १३॥

मालिनी तादृशः पत्युर्महान्तं तं रणोद्यमम्।
श्यामाकचरुनिर्वापं जज्ञे सोमाय वाजिने॥ १४॥

मालिनीति। मालिनी सैरन्ध्रीभावे मालिनीतिनाम्ना प्रसिद्धा द्रौपदी तादृशः क्लीबतां गतस्यापि कवचधारणे सारथ्योपयुक्ततया भासमानस्य पत्युः अर्जुनस्य तं रणोद्यमम् युद्धसन्नाहं वाजिने सोमाय वाजित्वगुणविशिष्टसोमदेवतायै श्यामाकचरुनिर्वापं श्यामाकसम्पाद्यं होमविशेषं जज्ञे तर्कयामास। अयमाशयः—यः श्यामाकचरुं सोमाय वाजिने निर्वपसति स क्लीबत्वान्मुच्यते, यथोक्तं श्रुतौ—'सोमाय वाजिने श्यामाकं चरुं निर्वपेद्यः क्लैब्याद्बिभीयात्' इति, तथा च पार्थस्येमं युद्धोपक्रममेव तदीयाज्ञातवाससमाप्तिविधया तत् क्लीबत्वावसानं समुपस्थापयिष्यतीति मालिनीमनुतेस्मेति॥ १४॥

मालिनी द्रौपदीने जब अपने नपुंसक पति अर्जुनका वैसा रणोत्साह देखा तब उसने समझ लिया कि यह रणोत्साह वाजिसोमदेवताक श्यामाक चरुहोम है। 'सोमाय वाजिने श्यामाकचरुं निर्वपेद्यः क्लैब्याद्बिभीयात्' इस प्रकार श्रुति है, जो श्यामाकचरु होम करता है वह क्लीबतासे मुक्त हो जाता है, द्रौपदीने समझ लिया कि अर्जुन युद्धमें जाते हैं अवश्य अपना पराक्रम दिखलायेंगे, लोग इनको पहचान लेंगे, अज्ञातवास समाप्त होगा साथ ही इनका क्लीपत्व भी जाता रहेगा, अतः उसने उनके रणोत्साहको वाजिसोमदेवताक श्यामाक चरु (क्लीबत्व समापक) समझा॥ १४॥

अकर्तृकाण्यद्य वशे कुरूणां पाण्डुस्नुषाया वसनानि सन्ति।
आहृत्य नस्तानि दिशेति कन्यास्तमभ्ययाचन्त कुतूहलिन्यः॥ १५॥

अकर्तृकाणीति। अकर्तृकाणि तन्तुवायेन न रचितानि (भगवत्कृपयैव प्रकटितानि) पाण्डुस्नुषायाः द्रौपद्याः वसनानि वस्त्राणि अद्य सम्प्रति कुरूणां कौरवाणां दुर्योधनादीनां वशेऽधिकारे सन्ति तिष्ठन्ति, तानि द्रौपदीसम्बन्धीनि अकर्तृकाणि वासांसि आहृत्य कुरुभ्योऽपहृत्य नः अस्मभ्यं दिश देहि, इति उक्तप्रकारं

१. 'अकृत्रिमाणि'। इति पा०।

कुतूहलिन्यः नूतनविश्वविलक्षणवस्त्रलाभोत्कण्ठाशालिन्यः कन्या विराट-पुत्र्यः उत्तराप्रभृतयः तम् युद्धोद्यतम् उत्तरम् अयाचन्त प्रार्थयन्ते स्म ॥ १५ ॥

सुना है इन दिनों कौरवोंके अधिकारमें द्रौपदीके वह वस्त्र हैं जिन्हें किसीने बुना नहीं है, तुम कौरवोंसे छीनकर वे वस्त्र हमारे लिये लेते आना, इस प्रकारसे नवीन तथा लोकविलक्षण वस्त्रको पानेकी उत्कण्ठा रखनेवाली विराटकी पुत्री उत्तराप्रभृतिने युद्धमें जाने के लिये उद्यत उस उत्तरसे प्रार्थना की, याचना की ॥ १५ ॥

तत्क्षणं यातायातसरभसराजलेखवाहमुखश्रुतवल्लभुजावलेपवृत्तान्तमोदमानसूदकुलं वीरपत्नीत्ववीरजननीत्वयुगपत्प्रसिद्धैर्जननो वासरोऽयमिति कात्यायनीजनसंस्तूयमानसुदेष्णं मस्तकतलविन्यस्तहस्तप्रवृद्धवल्लवयोषिदभययाचनावचनप्रतिशब्ददानदक्षगवाक्षमात्रोपलक्षितं कुमारप्रयाणपरिहार्यमाणमातुलशतान्तःपुरवधूटीनवविलापघोषं तत्पुरमासीत् ॥

तत्क्षणमिति। तस्मिन् क्षणे तत्क्षणम् उत्तरकृतयुद्धप्रयाणसमये तत्पुरम् विराटनगरम् यातायातसरभसाः गतागतवेगशालिनः ये राजलेखवाहाः नृपतिपत्रप्रापकाः तेषां मुखेभ्यः (तत्कथनादित्यर्थः) श्रुतेन कर्णगोचरीकृतेन वल्लभुजावलेपवृत्तान्तेन स्वजात्यन्यतमस्य (भीमस्य) वल्लनाम्ना प्रथमानस्य भुजवीर्यगर्ववृत्तेन मोदमानं प्रसीदत् सूदकुलं यस्मिंस्तत्तादृशम् , अयं दिवसः अद्यतनो वासरः वीरपत्नीत्ववीरजननीत्वयोर्युगपत्प्रसिद्धः वैजननः प्रसूतिदिवसः(अद्य तव स्वामी विराटः पुत्रश्चोत्तरो रणे विजित्य तव वीरपत्नीत्वं वीरजननीत्वं च युगपदुपहरिष्यतीति) कात्यायनीजनेन ('कात्यायन्यर्धवृद्धा या काषायवसनाऽधवा') इति लक्षितेन स्त्रीलोकेन संस्तूयमाना श्लाघ्यमाना सुदेष्णा विराटभार्या यत्र तादृशं तथोक्तम्, मस्तकतलविन्यस्तप्रणामार्थं शिरसि कृतपाणयो याः वल्लवयोषितो गोपाङ्गनास्तासाम् अभययाचनाया वचनस्य रक्ष नः पतीन् इति प्रार्थनापरस्य वचसः प्रतिशब्ददानदक्षेण गवाक्षमात्रेण उपलक्षितम् युक्तम् (सर्वेषामेव पुरुषाणां युद्धार्थं गतत्वेन वल्लवीमभययाचनावचनप्रत्युत्तरदाता न तत्रासीत् केवलं तदर्थना वचांसि गवाक्षेषु प्रतिशब्दं जनयन्तिस्मेति भावः) कुमारप्रयाणेन उत्तरयुद्धयात्रया परिहार्यमाणः निवार्यमाणः मातुलशतान्तःपुरवधूटीनां शतसंख्यककीचकस्त्रीणाम् नवविलापघोषः प्रत्यग्रवैधव्यपरिदेवनं यत्र तादृशम् (कुमारयात्रायामपशकुनं रोदनं मा श्रावीति कीचकवधूनां रोदनं प्रतिषिद्धम्) आसीत् ॥

---

१. 'बल्लवभुजलताबलावलेप'। २. 'कुलवीरपत्नीवीरजननीति तव'।
३. 'जनस्तूयमानसुदेष्णम्'। ४. 'हस्तपल्लवतल्लजवृद्ध'। ५. 'याञ्चा'।
६. 'गवाक्षोपलक्षितम्'। ७. 'प्रयाणकाल'। इति पा०।

जिस समय उत्तरने युद्धयात्रा की उस समय विराटके नगरमें-यातायातमें तेजी रखनेवाले राजपत्रवाहक लोगोंके मुखसे वलल भीमके बाहुवीर्यकी खबर पाकर पाचकगण प्रसन्न हो रहे थे, अर्धवृद्धा औरतें रानी सुदेष्णाके पास बैठकर उनकी प्रशंसा इन शब्दोंमें कर रही थीं कि आजका दिन आपके लिये एक ही साथ वीरपत्नीत्व तथा वीरजननीत्व दोनों पदका जन्मदाता होगा, सिरपर हाथ रखकर प्रणाम करके बूढ़ी गोपालस्त्रियाँ अभययाचना-अपने पतिपुत्रोंको प्राणरक्षाकी प्रार्थना कर रही थीं, परन्तु उनके प्रार्थनावचनका प्रत्युत्तर देनेवाला कोई वीर उस नगरमें नहीं रह गया था, सभी युद्धमें चले गये थे, केवल गवाक्षोंमें ही उनकी प्रार्थनायें प्रतिध्वनित होकर रह जाती थीं, कुमारकी युद्धयात्राके कारण उनके शतसंख्यक मातुलोंकी स्त्रियोंके विलापघोष निवारित कर दिये गये थे ॥

लाजाभिवर्षी ललनासमाजो राज्ञः कुमाराय रथस्थिताय ।
मुदाशिषं मूल्यमिव व्यतानीज्जिघृक्षितानां द्विषदंशुकानाम् ॥ १६ ॥

लाजेति । ललनासमाजः पुरवनिताजनः रथस्थिताय युद्धे गन्तुं कृतरथारोहणाय कुमाराय राजपुत्रायोत्तराय लाजाभिवर्षी आचारलाजवर्षणपरः सन् मुदा हर्षेण जिघृक्षितानाम् आदित्सितानां लब्धुमिष्टानां द्विपदंशुकानाम् कौरववस्त्राणां मूल्यम् इव आशिषं शुभाशंसां व्यतानीत् कृतवान् । पुष्पं वर्षन्त्यो लाजैरवकिरन्त्यश्च ललनाजनाः प्रेप्सितद्विपद्वस्त्राणां मूल्यमिव स्वामाशिषं राजपुत्राय वितेरुरिति भावः । उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

युद्धपर आरूढ़ राजकुमारके ऊपर शुभसूचक लाजवर्पण करनेवाली ललनाओंने—जो दुर्योधनादिके वस्त्र वे पाना चाहती थीं उनके मूल्यके समान अपना आशीर्वचन कुमारको अर्पित किया ॥

आलेख्यदत्तैः पुरुषैरुपेतामालोकयन्राजपथे[1] प्रतोलीम् ।
घोटान्[2]नुदन्तीं स रथे निबद्धान्पोटां पुरस्कृत्य पुरात्प्रतस्थे ॥ १७ ॥

आलेख्यदत्तैरिति । स उत्तरः आलेख्यदत्तैः युध्यमानदशायां चित्रार्पितैः पुरुषैः उपेतां युक्ताम् प्रतोलीं रथ्याम् राजपथे राजमार्गे आलोकयन् युध्यमानजनचित्रपूरितां रथ्यां पश्यन् (ईदृशमेव सुकरं युद्धमिति भावयन्) सन् , रथे निबद्धान् घोटान् अश्वान् नुदन्तीं पुरःसरणाय प्रेरयन्तीं पोटां स्त्रीपुंसलक्षणां बृहन्नलाम् (अर्जुनम्) पुरस्कृत्य सारथ्यभावेनाग्रे स्थापयित्वा पुरात् स्वनगरात् प्रतस्थे चलितः ॥ १७ ॥

युद्ध करते हुए रूपमें चित्रलिखित पुरुषोंसे युक्त गलियोंको राजमार्गमें देखता हुआ (जैसे यह चित्रस्थ पुरुष लड़ रहे हैं उसी तरह हमें भी लड़ना है, कोई बड़ी बात नहीं है,

---

१. 'पथ' । २. 'घोषान्' । इति पा० ।

इस प्रकारकी भावना रखता हुआ) वह राजकुमार उत्तर स्त्रीपुंसलक्षण-क्लीव अर्जुनको सारथिके रूपमें आगे बैठाकर नगरसे चला ॥ १७ ॥

तदनु दक्षिणदिङ्मुखादुदयमानः पवमानो वृन्दारकमुक्तमन्दारकुसुमवर्षमन्दायितधूमगन्धं वल्लस्य चिकुरबन्धमाघ्राय निशि तस्य जयोत्सवं विज्ञापयितुमवसरं विचिन्वन्निव विराटकुरुनन्दनयोः स्यन्दनसमीपे मन्दं मन्दमस्पन्दत ॥

तदन्विति । तदनु उत्तरनिर्गमानन्तरं दक्षिणदिङ्मुखात् दक्षिणस्या दिशः मलयात् उदयमानः प्रवृत्तः पवमानः वायुः वृन्दारकैः देवैः मुक्तात् विसृष्टात् मन्दारकुसुमवर्षात् कल्पवृक्षपुष्पवृष्टेः मन्दायितः मन्दीभूतः अनुत्कटत्वं गमितः धूमगन्धः महानसवासे जातो धूमगन्धो यत्र तादृशम् (भीमस्य केशे चिरमहानसवासवशाद्धूमगन्धः संजातः स च विजयानन्तरं देववर्षितसुरद्रुमपुष्पसुगन्धसम्पर्कमहिम्ना मन्दीकृत इति विवक्षितोऽर्थः) वल्लस्य भीमस्य चिकुरबन्धम् केशराशिम् आघ्राय (स्नेहप्रदर्शनाय पिता पुत्रस्य शिर आजिघ्रतीति प्रसिद्धम्) निशि रात्रियुद्धे तस्य भीमस्य जयोत्सवं विजयं विज्ञापयितुं पार्थं सूचयितुम् अवसरं योग्यं समयम् विचिन्वन् अन्विष्यन् इव विराटकुरुनन्दनयोः उत्तरार्जुनयोः स्यन्दनसमीपे रथपार्श्वे मन्दं मन्दम् अस्पन्दत चलतिस्म । अनुकूलवायुस्तं विजयाशंसिनमकार्षीत् मन्दस्यानुकूलस्य च वायोर्यात्राकाले प्राप्तिः कार्यसिद्धिं सूचयतीति कवयस्तथा वर्णयन्ति, दृश्यतां मेघे—'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्' इति ॥

इसके बाद दक्षिण दिशासे आता हुआ, देवों द्वारा बरसाये गये कल्पवृक्षप्रसूनोंसे कम हो गया है महानसधूमगन्ध जिसमें ऐसे भीमके केशोंका आघ्राण करके (वायु भीमके पिता थे, स्नेह प्रकट करनेके लिये उन्होंने विजयोपरान्त अपने पुत्र भीमका सिर चूम लिया) रात्रिमें हुई भीमकी विजयके विषयमें सूचना देनेका अवसर सा ढूंढता हुआ पवन उत्तर और अर्जुनके रथके पास मन्दगतिसे बहने लगा ॥

प्रस्वापितेभ्यः परभूपतिभ्यः सजातिवर्गः सुलभो रणेऽस्मिन् ।
भविष्यतीतीव ननर्त हृष्टा शताङ्गशाटी शतमन्युसूनोः ॥ १८ ॥

प्रस्वापितेभ्य इति । शतमन्युः इन्द्रस्तत्सूनोः अर्जुनस्य शताङ्गशाटी रथध्वजपटः अस्मिन् अचिरभाविनि रणे युद्धे प्रस्वापितेभ्यः अर्जुनकर्तृकप्रस्वापनास्त्रप्रयोगेण समाधिमिव काममपि निद्रादशां गमितेभ्यः परभूपतिभ्यः विरुद्धराजभ्यः सकाशात् सजातिवर्गः स्वसमानजातीयपटराशिः सुलभः प्राप्तुं सुकरः भविष्यति इति हर्षात्

---

१. 'वृन्दारकवृन्दमुक्त' । २. 'वल्लवचिकुर' । ३. 'विजयाय विज्ञापयितुं' । ४. 'मन्दमन्दम्' । ५. 'भविष्यतीति प्रणनर्त' । इति पा० ।

इव ननर्त्त नृत्यति स्म । अन्योऽप्यभीष्टजनलाभसंभावनया नृत्यति तद्वदर्जुनरथध्वजपटोऽपि प्रस्वापितेभ्योऽपरभूपेभ्यस्तदीयानां वस्त्राणां लाभं सुकरमुत्प्रेक्ष्य सजातिलाभसंभावनयेव ननर्त्तेति उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ १८ ॥

अर्जुनके रथका ध्वजपट नाच रहा था, ऐसा लगता था मानो अचिरभावी युद्धमें अर्जुनद्वारा प्रस्वापनास्त्रके प्रयोग होनेपर जब सभी विपक्षी राजागण सो जायेंगे, तब उनके पट–कपड़े आसानीसे मिलेंगे इसी खुशीमें नाच रहा हो ॥ १८ ॥

जले मत्स्यान्दधानोऽपि स्थले मत्स्यान्विलोकितुम् ।
आगतोऽब्धिरिवानीकः कुरूणां ददृशे ततः ॥ १९ ॥

जले मत्स्यानीति । ततः नगराद्बहिर्गमनानन्तरम् कुरूणां दुर्योधनादीनाम् अनीकः सैन्यम् जले मत्स्यान् भीमान् दधानः धारयन्नपि स्थले मत्स्यान् विराटादीन् मत्स्यदेश्यान् विलोकितुम् द्रष्टुम् आगतः अब्धिरिव ददृशे उत्तरेणार्जुनेन च अदर्शि । अत्र कुरुसैन्यस्य सागरत्वोत्प्रेक्षया दुरवगाहत्वरूपं वस्तु ध्वन्यते ॥ १९ ॥

नगरसे बाहर आनेपर उत्तर तथा अर्जुनने कौरवसैन्यको देखा, वह सैन्य ऐसा लगता था मानों जलमें अपने अन्दर मत्स्य–मछलीको रखनेपर भी स्थलमें मत्स्य–मत्स्यदेशस्थ विराट आदिको देखनेके लिये आया हुआ समुद्र हो ॥ १९ ॥

सेहे जिष्णुर्न तत्रारेः सेनाधूलिं विसृत्वरीम् ।
प्रायेण मानिना पुंसा परागो न हि सह्यते ॥ २० ॥

सेहे इति । तत्र तस्मिन् कौरवसैन्यदर्शनकाले जिष्णुः अर्जुनः अरेः शत्रोः कौरवपक्षस्य विसृत्वरीं सर्वतः प्रसमरां सेनाधूलिं चमूसमुत्थं रजः न सेहे न मर्षयामास, अत्रार्थान्तरन्यासमाह—प्रायेणेति । प्रायेण भूयसा मानिना अभिमानशालिना पुंसा पुरुषेण परागः परकृतः अपराधः परागः धूलिश्च नहि सह्यते न मृष्यते । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

कौरवसैन्यको देखनेके समय अर्जुनने चारो ओर फैली हुई सेनाकी धूलपरागको नहीं सहन किया, प्रायः करके अभिमानी लोग दूसरोंके अपराध–पर आग अथवा पराग धूलको नहीं ही सहते हैं ॥ २० ॥

तत्रारिसैन्यमवलोकितुरुत्तरस्य स्त्रीगोष्ठिकाऽजनि रणे निजवेश्मनीव ।
भीश्चित्तमश्रुलहरी नयनं विमूर्च्छा बुद्धिं च[1] वेपथुरुजा वपुरानशे यत् ॥ २१ ॥

तत्रेति । तत्र तस्मिन् समये अरिसैन्यं शत्रुसेनाम् अवलोकितुः पश्यतः उत्तरस्य निजवेश्मनि स्वगृह इव रणे युद्धक्षेत्रेऽपि स्त्रीगोष्ठिका वनिताजनपरिवृतत्वम् अजनि अभूत्, यथासौ स्वगृहे स्त्रीभिः परिवृतस्तिष्ठति तथैव रणे शत्रुसैन्य-

---

१. 'प्रवेपथु' । इति पा० ।

मालोक्यासौ स्त्रीभिः स्त्रीलिङ्गपदोपस्थाप्यतया स्त्रीत्वेन मन्यमानाभिः भीत्यादिभिः परिव्रियतेस्म; भीः, अश्रुलहरी, मूर्च्छा, वेपथुरुजा इत्यादयो भावा एव स्त्रियस्तं परिवृत्य स्थिता इत्याशयः, तदेवाह—चित्तं तदीयं हृदयं भीः भयम्, नयनं तदीयमक्षि अश्रुलहरी बाष्पधारा, तदीयां बुद्धिं विमूर्च्छा ज्ञानलोपावस्था, तदीयं वपुः शरीरं च वेपथुरुजा कम्पः यत् आनशे व्याप्यातिष्ठत्, अतोऽसौ स्त्रीभिरिव परिव्रियतेस्मेति भावः। अत्रानेकवाक्यार्थेन स्त्रीगोष्ठीसमर्थनात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ २१॥

शत्रुके विशाल सैन्यको देखनेपर उत्तरके हृदममें भीति-भय व्याप्त हो गया, आँखोंमें अश्रुप्रवाह होने लगा, बुद्धिमें विमूर्च्छा (ज्ञानलोप) हो गई, शरीरमें वेपथुरुजा (कम्प) हो गई, ऐसा लगता था मानो युद्धमें भी उत्तरके चारो तरफ स्त्रियोंकी गोष्ठी (भी, अश्रुलहरी, मूर्च्छा, वेपथुरुजा-इन स्त्रियोंकी जमघट) आ जुटी, जैसे घरपर उसके पास नारियोंकी जमघट रहा करती थी॥ २१॥

व्यातन्वन्कुरवं गले विरचयंस्तालुन्यपां शोषणं
वृष्टीरक्षिण विवर्धयन्विपुलयन् द्यां धार्तराष्ट्ररवैः।
सेवायां त्वरयन्धनंजयगुणस्यान्तर्बहिः कम्पयं-
स्त्रासो मात्स्यसुते चकार चरितं षण्णामृतूनां क्रमात्॥२२॥

व्यातन्वन्निति। गले कण्ठे कुरवम् कुरवकं पुष्पभेदम् (भीतिवशाद्‌गद्‌गदतया कुशब्दं) व्यातन्वन् प्रकटीकुर्वन् तालुनि तालुभागे मुखस्थे अपां लालाजलानां शोषणं विरचयन् (जलं शोषयन्) अक्षिण नेत्रे वृष्टीः जलवृष्टीः बाष्पवृष्टीश्च विवर्धयन् समुपपादयन्, द्याम् आकाशं धार्त्तराष्ट्ररवैः दुर्योधनादीनाम् किमयं योद्धुमागत्येत्थं बिभेतीति हासनादैः विपुलयन् पूरयन् हंसशब्दैश्च तथा कुर्वन्, धनञ्जयपदस्य[1] अर्जुनचरणस्य सेवायां त्वरयन् अग्निस्थानसेवायां च त्वरयन् उत्सुकयन्, अन्तर्बहिश्च कम्पयन् कम्पं जनयन् त्रासो युद्धभयं उत्तरे विराटपुत्रे क्रमात् क्रमशः षण्णां वसन्तादीनाम् ऋतूनां चरितं व्यवहारं चकार जनयामास। अयमाशयः—उत्तरो युद्धात् बिभेति, भयेन यद् गद्‌गदं कुरवं करोति तदेव कुरवकपुष्पोदयरूपं वसन्तचरितम्, तदीयतालु शुष्यति तदीयमुखशोषो जायते तदिदं जलशोषणात्मकं ग्रीष्मचरितम्, तदीयमक्षि बाष्पं वर्षति, तदिदं वृष्टिरूपं वर्षर्तुचरितम्, तदीयां भीतिमनुमाय तं हसन्तो धृतराष्ट्रपुत्रा गर्जन्ति तदिदं धार्त्तराष्ट्राणां हंसानामारवरूपं शरदृतुचरितम्, उत्तरस्य धनञ्जयपादग्रहणसेवाग्निस्थानसेवनरूपं हेमन्तचरितम्, अन्तर्बहिश्च कम्पनं शिशिरचरितं तदेवं क्रमशः षण्णामपि ऋतूनां चरितं भयमेकमाविष्करोतिस्मेति भावः। श्लेषः स्पष्टः॥ २२॥

---

१. 'पदस्य'। इति पा०।

युद्धमें उत्तर डर गया, उसके मुँहसे साफ शब्द नहीं निकलते थे, वही कुरवरूप कुरवक फूल हो गया जो वसन्तका सूचक है, उसका गला सूख रहा था, यह शोष ग्रीष्मका कार्य हुआ, आँखोंसे आँसूका बरसना वर्षाका कार्य हुआ, उसे डरा देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र जो सिंहनाद करते थे वही हंसोका शब्दरूप शरदृतुका कार्य हुआ, डरकर वह धनञ्जय—अर्जुनके चरणोंमें लिपट गया, यह हुआ धनञ्जय-वह्निका स्थान सेवनरूप हेमन्तका कार्य, और बाहर भीतर होनेवाला कम्पन हुआ शिशिरका कार्य, इस प्रकारसे भयने उत्तरके लिये सभी ऋतुओंके चरित क्रमशः प्रकट कर दिये ॥ २२ ॥

अथ रथादवप्लुत्य पुरं प्रति पलायमानोऽयमुत्तरः पश्चादनुधाव्य कचेषु गृहीतवते फाल्गुनाय[1] फल्गुना कण्ठरवेण प्राक्तनचित्रमिव प्रमुषितार्धवर्णं वच[2] एवमवादीत्,—

अथेति । अथ भयोदयानन्तरं रथात् अवप्लुत्य सवेगम् अवरुह्य पुरं प्रति पलायमानः नगराभिमुखं धावन् अयम् उत्तरः विराटपुत्रः पश्चादनुधाव्य पृष्ठतोऽनुसृत्य कचेषु गृहीतवते गृहीतोत्तरकेशाय फाल्गुनाय अर्जुनाय फल्गुना व्यर्थेन मन्दीभूतेन सगद्गदस्वरेण वा कण्ठरवेण शब्देन प्राक्तनचित्रम् प्राचीनालेख्यम् इव प्रमुषितार्धवर्णम् भीतिवशात् स्खलदक्षरं लुप्तरङ्गं च (चित्रस्य पुराणत्वे तद्गतरागार्धं लुप्यति, भयभीतस्य पुंसो वचनस्यापि वर्णाः साधु नोच्चार्यन्ते तेन लुप्ता इव प्रतीयन्ते) वचः वचनम् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण अवादीत् ।

इसके बाद उत्तर रथसे कूदकर भागा, अर्जुनने भी उसका पीछा करके उसकी शिखा पकड़ ली, इससे उत्तरने अपने गद्गद स्वरमें अर्जुनसे इस प्रकारके वचन कहे, जिनके कुछ अक्षर भयसे भ्रमवश गायब थे, स्फुट उच्चारित ही नहीं हो सके थे जैसे प्राचीन चित्रके रंगोंका आधा हिस्सा गायब हो गया रहता है ॥

किं वा चिकीर्षुरसि हन्त बृहन्नले ! त्व-
मक्ष्णोर्न मान्ति कुरुराजबलान्यमूनि ।
सद्यो निवर्तय रथं समरेच्छयाऽलं
नेष्याम्यहं निजगृहेष्ववशेषमायुः ॥ २३ ॥

किं वेति । हे बृहन्नले, त्वं किंवा चिकीर्षुः असि किमनर्थकारि मम युद्धप्रवर्त्तनं कर्त्तुमिच्छसि ? अमूनि पुरःस्थितानि कुरुराजबलानि कौरवसैन्यानि अक्ष्णोः मम नयनयोः न मान्ति । अपारतया मया द्रष्टुमप्यशक्यानि कौरवसैन्यानि, तथापि मां युद्धे प्रवर्त्तयन्ती त्वं कमनर्थं विधित्ससीति न वेद्मीत्याशयः । रथं मम स्यन्दनम् सद्यः तत्कालमेव निवर्त्तय परावर्त्तय, समरेच्छया युद्धाभिलाषेण अलम् नास्ति

१. 'फल्गुनाय' । २. 'वचनम्' । इति पा० ।

किमपि युद्धेन फलम्, अहम् अवशेषम् शिष्टम् आयुर्जीवनसमयम् निजगृहेषु स्वावासेषु नेष्यामि, न कदाचिदपि योत्स्ये इत्यर्थः ॥ २३ ॥

हे बृहन्नले, तुम क्या करना चाह रही हो, हाय कौरवकी यह अपार सेना मेरी आँखोंमें नहीं समा रही है, तुम मेरे इस रथको अविलम्ब लौटा लो, मैं अपनी अवशिष्ट आयु अपने घरों में ही बिताऊँगा। मुझे लड़नेकी बिलकुल इच्छा नहीं है ॥ २३ ॥

गाः कालयन्तु सह वत्सकुलैरशेषै-
घोषान्दहन्तु कुरवः प्रहरन्तु गोपान् ।
मह्यं पलायनमहोत्सवमेव देहि
प्राणेषु किंचिदपि मे गुरुतां न वेत्सि ॥ २४ ॥

गाः कालयन्त्विति । कुरवः दुर्योधनाद्याः गाः धेनूः अशेषैः सकलैः वत्सकुलैः सह कालयन्तु नयन्तु, घोषान् गोष्ठान् दहन्तु भस्मसात्कुर्वन्तु, गोपान् गोरक्षाधिकृतान् जनान् प्रहरन्तु ताडयन्तु, (यथेच्छं कुरवो व्यवहरन्तु नास्ति मम तत्र किमपि कर्त्तव्यम्) मह्यम् उत्तराय त्वम् पलायनोत्सवं इतो युद्धस्थलादपसरणरूपं हर्षं देहि प्रयच्छ, मम प्राणेषु गुरुतां महत्त्वं किञ्चिदपि न वेत्सि नागवच्छसि। मम प्राणानां यदि महत्त्वं वेत्सि तर्हि मां पलायितुमनुमन्यस्वेति भावः ॥ २४ ॥

कौरवगण सभी गायें बछड़ोंके साथ ले जायँ, घोषको जला डालें और गायोंको यथेच्छ पीटें, मुझे कुछ नहीं कहना है, मुझे तुम केवल भाग जानेका मौका दो, मेरे प्राणोंके महत्त्व को क्या तुम कुछ भी नहीं समझते हो ? ॥ २४ ॥

मातुर्मुखं मम पुरः पुर एव तिष्ठ-
त्युत्कण्ठितस्य नय तत्सविधं कृपालो ! ।
यावन्ति सन्ति मम कोशगृहे सवित्री
तावद्भिरेव कनकैरभिषेक्ष्यति त्वाम् ॥ २५ ॥

मातुरिति । उत्कण्ठितस्य मातृदर्शनोत्सुकस्य मम मातुर्मुखं पुरः पुरः अग्रेऽग्रे एव तिष्ठति अवस्थितं प्रतीयते, हे कृपालो दयाशीले बृहन्नले, मां तत्सविधं मातुः समीपं नय प्रापय। अहं मातृदर्शनोत्कतया भावनोपनीततया मातुर्मुखं पुरःस्थितमेव प्रत्येमीत्यर्थः। नैतावता ममोपकारमात्रं सिद्ध्यति, किन्तु तवार्थलाभोऽपीत्याह—यावन्तीति । मम कोशगृहे यावन्ति कनकानि सुवर्णधनानि सन्ति, तावद्भिः एव तैः सर्वैः एव सवित्री मम माता त्वाम् अभिषेक्ष्यति पुरस्करिष्यति, एवं च मत्प्राणरक्षणं न केवलं दयालुतया करणीयं किन्त्वर्थलाभलोभेनापि तथेति भावः ॥ २५ ॥

---

१. 'एत्य' । इति पा० ।

मैं माताको देखनेके लिये उत्सुक हो रहा हूँ, मेरे सामने माताका मुँह सदा नाचा करता है, हे दयालु बृहन्नले, तुम मुझे माताके पास पहुँचा दो, ऐसा करने पर–हमारे खजानेमें जितना सोना है, उतने सभीसे हमारी माता तुम्हें सत्कृत करेगी, पुत्र देनेवालेके लिये अदेय कुछ भी नहीं होता है, अतः जब तुम मुझे सकुशलरूपमें मेरी माताके पास पहुँचा दोगे, तब मेरी माता तुमको खजानेमें वर्त्तमान समस्त सोनेसे पुरस्कृत करेगी ॥२५॥

चित्रे युद्धं विलोक्याहं चापलादेत्य वञ्चितः ।
तत्रासद्भिरिहोद्यद्भिः क्ष्वेलाहेषितबृंहितैः ॥ २६ ॥

चित्रे युद्धमिति । अहम् उत्तरः चित्रे आलेख्ये युद्धं विलोक्य दृष्ट्वा (ईदृशमेव युद्धं भवतीति विभाव्य) चापलात् लौल्यवशात् एत्य युद्धभूमिम् आगत्य तत्र चित्रे असद्भिः अविद्यमानैः इह युद्धभूमौ च उद्यद्भिः प्रकटीभवद्भिः क्ष्वेलाभिः वीराणां सिंहनादैः हेषितैः अश्वशब्दैः बृंहितैः करिगर्जितैश्च वञ्चितः प्राणसंशयम् आरोपितः अस्मि । चित्रगतं युद्धमालोक्य युद्धमीदृशमेवारक्तपातं भवतीति प्रतीत्या अहमिहायातः, परं चित्रयुद्धेऽवर्त्तमाना वीरनादगजाश्वशब्दा मां व्यामोहयन्तीति भावः ॥

मैंने चित्रमें युद्ध देखा और लौल्यवश यहाँ युद्धक्षेत्रमें चला आया, उन चित्रोंमें नहीं होनेवाले परन्तु यहाँपर दीखनेवाले–सिंहनाद समान वीरनाद, घोड़ोंका हिनहिनाना और हाथियोंका चिग्घाड़ना वगैरहने मेरे प्राणोंको संशयमें डाल दिया है ॥ २६ ॥

यथाहं भूतलं त्यक्त्वा रथमारूढमुच्छ्रितम् ।
तथा हृदन्तरं [1]मुक्त्वा कण्ठं प्राणोऽधिरोहति ॥ २७ ॥

यथाहमिति । यथा अहम् भूतलं पृथिवीतलं त्यक्त्वा विहाय उच्छ्रितम् उन्नतं विशालं रथं स्यन्दनम् आरूढम् आरूढः, तथा मम प्राणः हृदन्तरं स्वाधिष्ठानं मुक्त्वा कण्ठम् अधिरोहति आगच्छति । यथाहमुत्सुकतयोन्नतं रथमारूढवाँस्तथैव मम प्राणोऽधुना कण्ठदेशमापद्य बहिर्निर्गन्तुमीहत इत्याशयः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार मैं पृथ्वीतल छोड़कर इस ऊँचे विशाल रथपर आरूढ़ हो गया था, उसी तरह इस समय मेरे प्राण हृदयदेशरूप अपनी जगहको छोड़कर कण्ठमें आ रहे हैं, भय के मारे मैं कण्ठगतप्राण हो रहा हूँ ॥ २७ ॥

इति [2]बहु विलप्य [3]पदयोः प्रणिपतन्तं तं नृपसुतमपराङ्गे करपुटेन मुहुरास्फालयन्सस्मितं गिरममर्त्यपतिसुतोऽपि प्रवर्तयामास,—

इतीति । इति एवं प्रकारेण बहु नानाप्रकारं विलप्य विलापं कृत्वा पदयोः अर्जुनचरणयोः प्रणिपतन्तं पतन्तं तं नृपसुतं राजकुमारमुत्तरं नाम अपराङ्गे पृष्ठदेशे

---

१. 'त्यक्त्वा' । २. 'बहुधा' । ३. 'पादयोः' । ४. 'आस्पृश्यालिङ्गयन्' ।
५. 'अमरपतिसुतः' 'अमराधिपसुतः' । इति पा० ।

मुहुः वारंवारं करपुटेन करतलेन आस्फालयन् परामृशन् अमर्त्यपतिसुतः देवराज-पुत्रः अर्जुनोऽपि सस्मितं हसन् गिरं वाचं प्रवर्त्तयामास व्याजहार ॥

इस प्रकार बहुत-सा विलाप करके पैरोंपर पडते हुए राजपुत्रकी पीठको हाथोंसे थपथपाते हुए देवराजके पुत्र अर्जुनने इस प्रकारके वचन कहे— ॥

उदितोऽसि विराटभूपतेरुदराद्भद्र कथं त्वमीदृशः।
प्रवया अपि यः कुतूहलात्परसैन्यैरधुनापि युध्यते ॥ २८ ॥

उदितोऽसीति। हे भद्र, (विपरीतलक्षणया) अभद्र, कुलकलङ्क, ईदृशः युद्ध-भूमिमात्रदर्शनात् कण्ठगतप्राणः त्वम् विराटपतेः मत्स्यराजस्य विराटस्य उदरात् कथम् उदितोऽसि कथं विराटात् त्वमीदृशो भीरुः सुत उत्पन्न इति भावः। यः विराटः प्रवयाः अधिकवयाः वृद्धः सन्नपि कुतूहलात् युद्धोत्सुकत्वात् अधुना अपि सम्प्रत्यपि परसैन्यैः शत्रुबलैः सह युध्यते। यो विराटो वृद्धः सन्नपि शत्रुसैन्यं साक्षात्करोति तस्य पुत्रस्त्वं कथमीदृशः कातर उत्पन्नः, 'आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः' ॥ २८ ॥

हे कुलकलङ्क, अभद्र, उस विराट नृपतिके वंशमें इस तरहका कायर तू किस प्रकार पैदा हो गया? जो विराट वृद्ध होकर इस समय भी शत्रुसैन्यके साथ युद्ध कर रहे हैं। जो बूढा पिता उत्साहसे शत्रुसैनिकोंका मुकाबला कर रहा हो, उसका पुत्र इस तरहका कायर निकले कि शत्रुसैन्यको देखते ही कण्ठगतप्राण हो जाय, यह बड़े आश्चर्यकी बातहै ॥ २८ ॥

सारथौ गतभयेऽपि रथी त्वं संगरे यदि बिभेषि रिपुभ्यः।
मत्स्यकेकयभुवां भुजभाजां मानकृन्तनमितोऽपि किमन्यत् ॥ २९ ॥

सारथाविति। सारथौ सूते मयि गतभये निर्भये अपि रथी रथारूढः त्वं यदि संगरे युद्धे रिपुभ्यः शत्रुभ्यः बिभेषि भयं लभसे, मत्स्यकेकयभुवां मत्स्ये केकये च वंशे उत्पन्नानां भुजभाजां बाहुवीर्यशालिनां राज्ञाम् इतोऽपि अस्मादपि तव युद्धात्पलायनात् अधिकं मानकृन्तनम् अभिमाननाशनम् अन्यत् किम्, सारथौ मयि निर्भये सत्यपि रथस्त्वं यदि युद्धे शत्रुभ्यो बिभेषि तदा तव पितृकुले मत्स्यवंशे मातुलकुले केकयवंशे चोत्पन्नानां बाहुवीर्यशालिनां राज्ञां महदयशो जायेत, त्वत्पलायनादधिकं तदकीर्त्तिकरं न संभवतीति भावः। स्वागतावृत्तम् ॥ २९ ॥

मैं सारथि निर्भय होकर बैठा हूँ और आप रथारूढ होकरके भी शत्रुओंसे डर रहे हैं, मत्स्यवंशके तथा केकयवंशके (आपके पितृकुल तथा मातुलकुलके) बाहुबलशाली राजाओंके लिये इससे बढ़कर अकीर्त्तिजनक बात क्या हो सकती है? ॥ २९ ॥

---

१. 'बलभाजां मानकर्तनमितोऽपि पुनः किम्'। इति पा०।

[1]विस्तार्य संसदि विशृङ्खलवीरवादं
युद्धात्पलायितवतोऽद्य तवाङ्गकम्पः ।
अन्तःपुरेषु हसतामबलाजनाना-
माचार्य एव भविता कुचवल्गितानाम् ॥ ३० ॥

विस्तार्येति । संसदि अन्तःपुरस्त्रीसभायाम् विशृङ्खलं निष्प्रतिरोधं वीरवादम् 'षष्ठोऽपि नः कश्चन पाण्डवोऽभूत्' इत्यादिस्वरूपमात्मश्लाघापरकं वचनं विस्तार्य उद्घोष्य अद्य युद्धात् पलायितवतः संप्रति समरं विहाय धावितवतस्तव अङ्गकम्पः भयकृतं शरीरचलनम् अन्तःपुरेषु हसताम् त्वदीयं युद्धात्पलायनं ज्ञात्वा त्वामुपहसताम् अबलाजनानाम् वनितानाम् कुचवल्गितानाम् स्तनसंचाराणाम् आचार्यः उपदेष्टा भविता एव । त्वां युद्धात्पलायितुं कम्पमानवपुपं च दृष्ट्वा अन्तःपुरस्त्रियो वल्गितकुचं–चालितकुचभारमुच्चैर्हासं करिष्यन्ति, तत्र तवाङ्गकम्पस्तासां स्तनानां कम्पस्योपदेष्टेव प्रत्येष्यत इत्यर्थः । स्त्रियोऽपि त्वामुपहसिष्यन्ति तदा का कथा पुरुषाणामुपहासस्येति भावः ॥ ३० ॥

अन्तःपुरकी स्त्रीगोष्ठीमें आपने विना रोक-टोकके वीरवाद–अपने पराक्रमकी तारीफ की, और अब जब आप लड़ाईके मैदानसे भयसे काँपते हुए भागकर जाइयेगा तब आपका यह काँपना आपका उपहास करनेवाली अन्तःपुरललनाओंके कुचोंको काँपनेका उपदेश देनेमें आचार्य बनेगा ही, स्त्रियाँ आपका भयसे काँपना देखकर बहुत जोरोंसे हँसेगी, आपका काँपना मानो उनके स्तनोंको काँपना सिखलायेगा ॥ ३० ॥

कियद्द्विषामंशुकमाहृतं ते सहोदरेणेति सखीभिरुक्ते ।
मानोत्तराया भृशमुत्तरायाः किमुत्तरं ब्रूहि तदुत्तर ! त्वम् ॥ ३१ ॥

कियदिति । हे उत्तरे, तव सहोदरेण भ्रात्रा उत्तरेण कियत् किं परिमाणम् द्विषां कौरवाणाम् अंशुकं वस्त्रम् आहृतम् अपहृत्यानीतम् इति एवं सखीभिः वयस्याभिः उक्ते पृष्टे सति मानोत्तरायाः सा मानशालिन्याः उत्तरायाः त्वदनुजायाः स्वसुः उत्तरं प्रतिवचनं किं स्यात् इति त्वं वद मां कथय । युद्धात् परावृत्य गते त्वयि उत्तरासख्यस्तां तव भ्रातो कियत्परिमाणं शत्रूणां वस्त्रमपहृत्यानीतवानिति प्रक्ष्यन्ति तदोत्तरा किमुत्तरं दास्यति ? मानिनी सा मानभङ्गेन कथं निर्वचना सती स्थास्यतीति मह्यं त्वमाख्याहीति भावः ॥ ३१ ॥

जब तुम युद्धसे पराङ्मुख होकर जाओगे तब उत्तराकी सखियाँ उत्तरासे पूछेंगी कि तुम्हारे भाईसाहब शत्रुओंसे कितने वस्त्र छीनकर लाये हैं ? उस समय अभिमानिनी उत्तरा अपनी सखियोंको कौनसा उत्तर देगी, यह तो बताओ ॥ ३१ ॥

---

१. 'विस्तीर्य' । इति पा० ।

जरठो जनकोऽपि मातुलाः शतमप्यन्तमगुस्त्वमेककः ।
यदि यासि न धैर्यमत्र ते न वशे राज्यमिदं भविष्यति ॥ ३२ ॥

जरठ इति । तव जनकः पिता विराटः जरठः वृद्धः तव शतम् शतसङ्ख्यकाः अपि मातुलाः मातृभ्रातरः कीचका अन्तमगुः विनाशं गताः मृताः, यदि अत्र युद्धे धैर्यम् अचञ्चलत्वं न यासि स्थिरो न तिष्ठसि तदा इदं राज्यं तव वशे अधिकारे न भविष्यति न स्थास्यति । तव पिता वृद्धः सहायकतया संभाव्यमाना मातुलाः कीचकाः सम्प्रत्येव नाशं गताः, तदस्यां स्थितौ सहायकाभावेन यदि त्वं युद्धे दृढतां नावलम्बसे तदा त्वदीयं राज्यमिदं स्थिरत्वं नोपयास्यति, वीरभोग्यत्वाद्वसुन्धरायाः, अतस्त्वया स्वराज्यं रक्षितुं युधि धीरत्वमवश्यमवलम्बनीयमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तुम्हारे पिता विराट बूढ़े हो चले हैं, सौसंख्यक तुम्हारे मामा कीचक भी मर चुके हैं, उन दोनों सहायक पक्षोंसे कुछ सहायताकी आशा करना व्यर्थ है, इस स्थितिमें यदि तुम युद्धमें स्थिरताका अवलम्बन नहीं करते हो तो तुम्हारा यह राज्य तुम्हारे हाथसे निकल जायगा, तुम्हारे हाथमें नहीं रहेगा ॥ ३२ ॥

तदिदं विजहीहि साध्वसं कुरु पाणौ तृणतां कुरुष्वपि ।
तव मत्स्यपतेस्तु वाहिनीमुखभागे खलु वल्गनं क्षमम् ॥ ३३ ॥

तदिदमिति । तत् तस्मात् युद्धात्पलायनस्य गर्ह्यत्वाद्राज्यभ्रंशपरिणामत्वाच्च इदं सम्प्रति प्रकाश्यमानं साध्वसं भयम् जहीहि त्यज, पाणौ हस्ते तृणतां चापं कुरु स्थापय, कुरुषु सम्प्रत्याक्रमणपरेषु शत्रुषु कौरवेषु तृणतां तृणत्वज्ञानं तुच्छत्वप्रत्ययं कुरु विधेहि, मत्स्यपतेः मत्स्यदेशाधीश्वरस्य तव उत्तरस्य वाहिनीमुखे सेनाग्रभागे वल्गनं सञ्चरणं क्षमम् युक्तम् खलु, मत्स्यपतेः महामत्स्यस्य खलु वाहिनीमुखे नद्या अग्रतः वल्गनं संचरणं युक्तम् इति च ध्वन्यते, तेनोपमाध्वनिः, 'तृणता स्यात्तृणत्वेऽपि तृणता कार्मुकेऽपि च' इति विश्वः, 'सेनानद्योस्तु वाहिनी' इति चामरः ॥ ३३ ॥

युद्धसे भागना निन्दनीय है, उसका परिणाम राज्यनाश है, अतः इस भयको छोड़ो, धनुष हाथमें उठाओ और आक्रमण करनेवाले इन कौरवरूप शत्रुओंको घासकी तरह तुच्छ समझ लो । तुम मत्स्यराज हो, तुम्हारे लिए उचित यही है कि तुम सेनाके आगे चला करो, महामत्स्यके लिये नदीके आगे रहना ही उपयुक्त होता है ॥ ३३ ॥

इत्याश्वास्य पितृवनाटवीतटमुपेत्य शमीविटपिकोटिसमाटीकितकिरीटशङ्खचापनिषङ्गो जयलक्ष्मीपरिणयनयोग्यतां संपादयितुमिव खण्डित-

१. 'राष्ट्रम्' । इति पा० ।

षण्ढभावोऽयमाखण्डलसुतो निजतत्त्वव्याकरणशतधापल्लवितधाष्टर्येन तेनैव सुदेष्णापत्येन परिकल्पितसारथ्यशिल्पं रथमधिरुह्य क्षणेन वारिनिधिपूरस्य वाडववह्निरिव सपत्नसैन्यस्य संमुखीनो बभूव ॥

इत्याश्वास्येति । इति एवं प्रकारेण उत्तरम् आश्वास्य धैर्यं लम्भयित्वा पितृवनाटवीतटम् श्मशानवर्त्तिकाननम् उपेत्य आसाद्य शमीविटपिकोटेः शमीवृक्षाग्रभागात् आटीकिताः आनीताः किरीटम् देवेन्द्रदत्तं मुकुटम्, शङ्खः देवदत्तनामा स्वीयः शङ्खः, चापं धनुः गाण्डीवनाम, निषङ्गौ अक्षयतूणीरौ एते युद्धोपकरणसम्भाराः येन तथाभूतः अयम् उत्तरसारथीभूतोऽपि आखण्डलसुतः इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः जयलक्ष्मीपरिणयनयोग्यतां विजयश्रीरिमं वृणुयादिति स्वरूपयोग्यताम् संपादयितुं जनयितुमिव खण्डितषण्ढभावः दूरीकृतक्लीबत्वः (सति नपुंसकत्वे विजयलक्ष्मीः कथं वृणुयादिति हेतोरिव नपुंसकतां परिहृत्य वीरलक्ष्मीवरणयोग्यतां पुंस्तां प्राप्य) निजतत्त्वव्याकरणेन स्वस्वरूपपाण्डवत्वार्जुनत्वादिव्याख्यानेन शतधा पल्लवितधाष्टर्येन शतगुणीभूतोत्साहेन तेन रथीभूयागतेन एव सुदेष्णापत्येन उत्तरेण परिकल्पितसारथ्यशिल्पं विहितसारथिकर्त्तव्यम् उत्तरसारथिकम् रथम् यानम् अधिरुह्य आरुह्य क्षणेन त्वरितम् सपत्नसैन्यस्य शत्रुबलस्य सम्मुखीनः अभिमुखावस्थितः बभूव, यथा वाडववह्निः वडवानलः वारिनिधिपूरस्य समुद्रस्थजलराशेः संम्मुखीनो भवति । अत्रोपमया यथा वडवानलः सामुद्रमम्भः क्षपयति तथैवार्जुनोऽपि शत्रुसैन्यं क्षपयिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ॥

पूर्वोक्त रितिसे उत्तरको आश्वासन देकर अर्जुनने श्मशानसमीपस्थित वनमें आकर शमीवृक्षके ऊपरी भागसे अपना किरीट, शङ्ख, धनुष तथा तरकस उतारा, और अपना नपुंसकत्व दूरकरके अपनेको वीरलक्ष्मी द्वारा वरण किये जानेके योग्य बना लिया, अनन्तर अर्जुनने अपना स्वरूप पाण्डव अर्जुन होना बताकर उत्तरके उत्साहको सौगुना कर दिया, और उसी उत्तरको जो रथी बनकर आया था सारथिके कार्यपर नियुक्त करके अर्जुन उसी रथपर आरूढ़ हुए, और क्षणभरमें वह शत्रुसैन्यके सामने आ गये, जैसे वड़वानल समुद्रके जलपूरके सामने आकर खड़ा हो ।

संख्यातीतमवेद्य कौरवबलं तत्सव्यसाची पुरः
श्रापे तादृशि किंचिदेव विदधे साचीभवन्तीं दृशम् ।
पार्वत्या निजपट्टवस्त्रशकलं स्नेहद्रुयार्द्रं स्वयं
न्यस्य न्यस्य चिकित्सितव्रणशिरा देवोऽपि यं श्लाघते ॥ २४ ॥

---

१. 'व्याकरणात्' । २. 'सारथि' । ३. 'आरुह्य' । ४. 'वारिधि' । ५. 'वडवा' । ६. 'पुनः' । ७. 'किंचिदेष' । ८. 'निजवस्त्रपट्ट' । इति पा० ।

संख्यातीतमिति । सव्यसाची अर्जुनः संख्यातीतम् अनन्तं तत्कौरवबलम् दुर्योधनसैन्यम् अवेक्ष्य दृष्ट्वा किञ्चिदेव ईषन्मात्रं साचीभवन्तीं तिर्यक् प्रसरन्तीं दृशं स्वां दृष्टिं तादृशि तस्मिन् चापे गाण्डीवे नाम स्वधनुषि निदधे स्थापितवान्, यं चापं पार्वत्या गौर्या स्नेहद्रवयार्द्रं तैलादिना स्नेहेन प्रेम्णा च आर्द्रं सिक्तं निजस्य स्वपरिधानभूतस्य पट्टवस्त्रस्य कौशेयवसनस्य शकलं खण्डं न्यस्य न्यस्य वारं वारं व्रणविरोपणार्थं स्थापयित्वा चिकित्सितं व्रणं यस्य तादृशं शिरो यस्य तथाभूतः देवः शिवः अपि श्लाघते प्रशंसति । अपारं कौरवबलं पश्यन्नर्जुनः करवर्त्तिनि तस्मिन्निजधनुषि वक्रां दृशं निदधे यत् धनुः पार्वत्या स्नेहार्द्रवसनखण्डन्यासेन चिकित्सितव्रणयुक्तमस्तकः शिवोऽपि श्लाघते, पुरा किरातार्जुनयुद्धेऽर्जुनो गाण्डीवप्रहारेण शिवशिरसि प्रहारमकृतेति कथात्र स्मर्त्तव्या ॥ अत्र शिवप्रशंसिते धनुषि वक्रदृक्पातेन तस्याश्वस्तत्वं ध्वन्यते ॥ ३४ ॥

अर्जुनने जब असंख्येय कौरवसैन्यको सामने देखा तब उन्होंने जरा तिरछी दृष्टि अपने उस धनुषपर डाली जिस धनुषकी प्रशंसा पार्वती द्वारा स्नेह–तैल तथा ममता–से सराबोर अपने वस्त्रके टुकड़ेको बारबार रखकरके चिकित्सित हुआ है व्रण जिसका ऐसे सिरवाले महादेव भी किया करते हैं । जिस धनुषने महादेवको भी चोट पहुँचाई–जिसकी याद महादेव भी किया करते हैं ॥ ३४ ॥

नभसि प्रविसारि देवदत्ते नरदत्तं ध्वनितं ततो दधाने ।
मुमुहुर्द्विरदा मुमूर्च्छुरश्वा रथिनश्चुक्षुभिरे भटाश्च बिभ्युः ॥ ३५ ॥

नभसीति । ततः तदनन्तरं देवदत्ते तदाख्यया प्रथितेऽर्जुनशङ्खे नभसि आकाशे प्रविसारि व्यापनशीलं नरदत्तम् अर्जुनेन नरेण दत्तम् आध्मानद्वाराजनितं ध्वनितं शब्दं दधाने धारयति सति द्विरदाः गजाः मुमुहुः भयेन चकिता बभूवुः, अश्वाः मुमूर्च्छुः मूर्च्छामापुः, रथिनः रथस्था योधाः चुक्षुभिरे क्षुब्धा अभवन्, भटाः पादाताश्च बिभ्युः त्रस्ता जाताः । चतुरङ्गमपि बलमस्वस्थमजायतार्जुनशङ्खध्वनिमाकर्ण्येति भावः ॥ ३५ ॥

इसके बाद अर्जुनके द्वारा फूँक मारे जानेपर आकाशमें फैलनेवाले शब्दको धारण करनेवाला देवदत्त जब शब्दायमान हुआ तब हाथी अचकचाने लगे, घोड़े मूर्च्छित होने लगे, रथी लोग भयचलित हो उठे और पैदल सेना भयभीत हो उठी, इस तरह चतुरङ्गसैन्य विचलित हो उठा ॥ ३५ ॥

पर्यायेणास्य गाण्डीवः पातितज्यः प्रकोष्ठयोः ।
गन्धर्वयुद्धमारभ्य कृतं मौनं समापयत् ॥ ३६ ॥

पर्यायेणेति । अस्य अर्जुनस्य प्रकोष्ठयोः मणिबन्धादारभ्य कूर्परपर्यन्तहस्तभागयोः पर्यायेण क्रमेण पातितज्यः पातितमौर्वीकः सन् गाण्डीवः वामदक्षिणहस्तयोः

क्रमशो मौर्वीपाते जायमाने सति गन्धर्वयुद्धम् वने जातं गन्धर्वैः सह युद्धम् आरभ्य प्रभृति कृतम् अवलम्बितं मौनं निःशब्दत्वं समापयत् अवसितं चकार। वामेन पाणिनादाय दक्षिणेन मौर्व्यामारोप्यमाणायां गाण्डीवः शब्दं कृत्वा गन्धर्वयुद्धादारभ्य सम्प्रति यावत् स्वीकृतं मौनव्रतं समाप्तं कृतवानिति भावः ॥ ३६ ॥

क्रमसे बायें तथा दक्षिण कब्जेपर गिर रही है प्रत्यञ्चा जिसकी ऐसा अर्जुनका वह गाण्डीव धनुष अपना वह मौन समाप्त कर रहा था, जिसे उसने गन्धर्वयुद्धसे लेकर अब तक कायम रखा था ॥ ३६ ॥

अथ करतलद्वयमण्डपकृतताण्डवस्य गाण्डीवस्य विस्फारेण पाण्डवोऽयमिति निश्चित्य लीलानिस्तीर्णदुस्तरसन्धासिन्धुरयं पुनरपि निर्बन्धुमागत इत्यधृष्यया निजेर्ष्यया रूक्षा विपक्षाः पूर्वपक्षाः सिद्धान्तमिव युद्धाय तं पर्यवारयन् ॥

अथेति। अथ कृतटंकारे गाण्डीवे सति करतलद्वयम् अर्जुनस्य हस्तद्वयमेव मण्डपः नृत्यरङ्गः तत्र कृतं ताण्डवं नर्त्तनं सलीलचलनं येन तादृशस्य अर्जुनकरयुगले सलीलं चलतो गाण्डीवस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य धनुषश्चापस्य विस्फारेण टंकारध्वनिना पाण्डवः अर्जुनः अयं पुरोवर्त्ती धनुर्धर इति निश्चित्य अनुमाय लीलानिस्तीर्णदुस्तरसन्धासिन्धुः अनायाससमापितदुष्कराज्ञातवासव्रतः अयम् अर्जुनः पुनरपि भूयोऽपि निर्बन्धम् राज्याय निरोद्धुम् राज्यप्राप्तये आग्रहीतुम् आगत इति अधृष्यया बलीयस्या दुर्निवारया ईर्ष्यया गुणानपि दोषेषु ख्यापयन्त्या रूक्षाः कलुषितहृदयाः विपक्षाः कौरवाः पूर्वपक्षाः शङ्काविषया अर्थाः सिद्धान्तम् निर्णयमर्थम् इव तम् अर्जुनं युद्धाय सम्मुखसंग्रामाय पर्यवारयन् परिवव्रुः ॥

अर्जुनने जब धनुषटंकार किया तब अर्जुनके दोनों करतलरूप नृत्यमण्डपमें नृत्य करनेवाले गाण्डीवके टंकारसे कौरवोंने निश्चय कर लिया कि अनायास पार कर लिया है दुस्तर अज्ञातवासप्रतिज्ञाव्रतको जिसने ऐसा यह पाण्डव अर्जुन ही है, और फिरसे हम लोगोंको राज्यके लिये घेरने आया है, इस दुर्दमनीय ईर्ष्यासे कलुषितचित्त होकर विपक्षी कौरवोंने अर्जुनको घेर लिया, जैसे पूर्वपक्ष सिद्धान्तको घेर लेते हैं। शास्त्रमें निर्णय अर्थको निश्चित करनेके लिए उसके विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं उन्हें पूर्वपक्ष तथा निश्चेय अर्थको सिद्धान्त कहा जाता है, सिद्धान्तको पूर्वपक्ष घेरते अवश्य हैं, पर वे तर्ककी कसौटी पर पूरे नहीं उतरने पर छूट जाते हैं, अन्तमें सिद्धान्त अर्थही टिकता है उसी तरह घेरेंगे कौरव लोग अवश्य, परन्तु अन्तमें दृढ़ रहेगा अर्जुन ही, यह बात इस उपमासे प्रतीत होती है ॥

---

१. 'गाण्डिवस्य विस्फारेण पार्थोऽयम्। २. 'विस्तर'। ३. 'निर्बन्धम्'। ४. 'इत्यप्रधृष्यया'। इति पा०।

विजयस्य रथे ततो निपेतुर्विमतानामिषवः परःसहस्राः।
जनमेजययागवेदिमध्ये जगतां भीतिकरा इवाहिसंघाः॥ ३७॥

विजयस्येति। ततः परिवारणे जाते सति परःसहस्राः सहस्राधिकसंख्याः विमतानां प्रतिपक्षाणाम् इषवो बाणाः विजयस्य अर्जुनस्य रथे स्यन्दने जगतां भीतिकराः सर्वलोकभयंकराः अहिसङ्घाः सर्पसमुदयाः जनमेजययागवेदिमध्ये इव निपेतुः पतन्तिस्म। परीक्षित्पुत्रेण जनमेजयेन सर्पवधकाम्यया यज्ञे प्रारब्धे यथा भीषणाः सर्पा मन्त्रबलाकृष्टाः सन्तो वेदिमध्ये न्यपतन् तथैवार्जुनरथस्य मध्ये भीषणाः परस्सहस्राश्च विपक्षबाणाः पतितुमारभन्तेति भावः॥ ३७॥

अर्जुनको जब चारों तरफसे शत्रुओंने घेर लिया तब सहस्राधिक शत्रुबाण अर्जुनके रथमें गिरने लगे, जैसे संसारको भय देनेवाले सर्पसमुदाय जनमेजयके यज्ञमें वेदीके बीच गिरने लगे थे। इस उपमासे गिरनेवाले बाणोंका नाश तथा अर्जुनका सुरक्षित रहना व्यक्त होता है॥ ३७॥

जम्भद्विषोऽपि तनयो जगदेकवीरो
जन्यं समारभत जृम्भयितुं महीयः।
प्रत्यर्थिरक्ततटिनीस्नपनैः शराणां
भेत्स्यन्निवाथ पितृकाननवासदोषम्॥ ३८॥

जम्भद्विषोऽपीति। जगदेकवीरः संसारप्रसिद्धोऽद्वितीयः शूरः जम्भद्विषः इन्द्रस्य तनयः अर्जुनोऽपि प्रत्यर्थिनां शत्रूणां रक्तस्य शोणितस्य तटिन्यां नद्यां स्नपनैः अवगाहनैः शराणां बाणानां पितृकाननवासदोषम् श्मशानावस्थानपातकं भेत्स्यन् निवारयिष्यन् इव महीयः श्लाघनीयं जन्यं युद्धं जृम्भयितुं प्रकटीकर्त्तुम् आरभत उपक्रान्तवान्। अर्जुनोऽपि स्वबाणानां श्मशानवासपापप्रक्षालनाय शत्रुशोणितनद्यां स्नानमिव कारयन् भीषणं युद्धमारब्धवान् इत्यर्थः। अन्योपि स्वीये जने कुतोपि हेतोर्जातपातके तत्पातकोपशमनार्थं तस्य नदीस्नानसौलभ्यमुपपादयितुं प्रयतते इति बोध्यम्। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ३८॥

संसारके अद्वितीय वीर तथा इन्द्रके पुत्र अर्जुनने भी भीषण युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया, ऐसा लगता था कि अर्जुन अपने बाणोंके श्मशानवासजनित पापोंका शत्रुशोणितमें उनको स्नान करा करके नाश कर देना चाहते हों। जिसे पाप लग जाता है वह किसी पुण्यनदीमें स्नान करके अपना पाप दूर करता है, अर्जुनके बाणोंने भी बहुत दिनों तक विराटनगरकी श्मशानभूमिमें वास किया था, जिससे उन्हें पाप लग गया था, अर्जुनने सोचा कि शत्रुओंको मारकर उनके शोणित की नदी बहा दी जाय, उसीमें स्नान करके

१. 'स्ववीर्यम्'। इति पा०।

हमारे बाण गतपाप हो जायेंगे, इसी विचारसे उन्होंने भीषण युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३८ ॥

चलदश्वरथद्विपोत्थरेणून्वरणस्रङ्मधुभिः प्रणीय शान्तिम् ।
सुखदृष्टरणा यथा भवेयुः सुरवामा गगने तथा समेयुः ॥ ३९ ॥

चलदिति । चलद्भ्यः रणे सञ्चरद्भ्यः अश्वरथद्विपेभ्यः हयरथगजेभ्यः उत्थाः उद्धूताः रेणूः पृथिवीरजांसि वरणस्रङ्मधुभिः वरमालामकरन्दैः शान्तिम् प्रणीय शमयित्वा यथा येन प्रकारेण सुखदृष्टरणाः अविघ्नदृश्ययुद्धाः भवेयुः तथा सुरवामाः देवललनाः गगने वियति समेयुः समायाताः । भुवो रजांसि दिवि विततानि सन्ति युद्धदर्शने विघ्नमुत्पादयेयुस्तानि करधृतवरणमालामकरन्दैः शमं नीत्वा रणं स्फुटं द्रष्टुकामा देवबाला वियति समागता इति भावः । वरणस्रङ्मधुभिर्धरापरागचया-सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३९ ॥

चलते हुए घोड़े, रथ एवं हाथियों द्वारा उड़ायी गई धूलको हाथमें धारण की गई स्वयंवर मालाके मकरन्दोंसे शमित करके आसानीसे बिना किसी रोकटोकके युद्ध देखा जा सके ऐसी तैयारी करके युद्ध देखनेके लिये तैयार देवबालायें आसमानमें आकर डट गईं ॥ ३९ ॥

कौन्तेयकर्णद्वितयोपकण्ठमौहूर्तिकावेदितजैत्रयात्रैः ।
आशातशल्यै रुरुधेऽथ भल्लैराशा कुबेरस्य च वैरिणां च ॥ ४० ॥

कौन्तेयेति । अथ कौन्तेयस्य अर्जुनस्य कर्णद्वितयोपकण्ठाभ्यां श्रोत्रद्वयसमीप-देशाभ्यां मौहूर्त्तिकाभ्यां ज्यौतिषिकाभ्याम् आवेदिता सूचिता जैत्रयात्रा विजय-पूर्णा यात्रा येषां तादृशैः कर्णान्तपर्यन्तमाकृष्य मुक्तैः आशातशल्यैः अतितीक्ष्णमुखैः भल्लैः बाणविशेषैः कुबेरस्य आशा उत्तरा दिक् वैरिणां शत्रुभूतानां आशा गोधना-पहरणविषयाभिलाषः रुरुधे अव्रियतेस्म समाप्यतेस्म च । अयमर्थः—अर्जुनेन कर्णान्तपर्यन्तमाकृष्य विसृष्टैर्बाणैरुत्तरादिगपूर्यत, कौरवाणां गवाहरणविषयाऽऽशा चाभज्यतेति । उत्तरदिशि शत्रवोऽवस्थिताः दक्षिणदिशि च पार्थः अतस्तद्विसृष्टा बाणा उत्तरां दिशमपूरयन्निति बोध्यम् । तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ४० ॥

अर्जुनके दोनों कानोंके समीपदेशरूपी ज्योतिषी द्वारा बताया गया है यात्राका विजयमुहुर्त जिनको ऐसे अत्यन्त तीक्ष्ण नोंकवाले बाणोंसे कुबेरकी आशा (उत्तरदिशा) तथा शत्रुवोंकी आशा (गोधनापहरणरूप आशा) एक साथ उपरुद्ध हो गईं । भाव यह है कि शत्रुगण उत्तर दिशामें तथा अर्जुन दक्षिण दिशामें अवस्थित थे ॥ ४० ॥

उद्धारसंधिपरिमुक्तिषु मार्गणानामाद्ये उभे अपि तदा तिसृषु क्रियासु ।
सायुज्यमापतुरिवान्तिमया समीके चक्रीकृते धनुषि शक्रसुतेन तेन ॥४१॥

---

१. 'समीयुः' । इति पा० ।

उद्धारेति । तदा तस्मिन् समये समीके युद्धे तेन शक्रसुतेन अर्जुनेन धनुषि गाण्डीवे चक्रीकृते गुणाकर्षणद्वारेण मण्डलीकृते सति मार्गणानां बाणानाम् उद्धारः निषङ्गादादानं, सन्धिः धनुषि सन्धानम्, परिमुक्तिः बाणप्रयोगः, तासु तदाख्यासु तिसृषु क्रियासु मध्ये आद्ये प्रथमोपात्ते द्वे उद्धारसन्धिनामिके क्रिये अन्तिमया परिमोचनक्रियया सह सायुज्यम् एकीभावम् आपतुः प्राप्ते इव । अर्जुनेन चक्रीकृत-गाण्डीवेन बाणानां कदा निषङ्गादादानं कदा च धनुषि सन्धानं कृतमिति लोका न विदुः केवलं मोचनमेव विदुस्तेन प्रतीयते आद्ये द्वे क्रिये तृतीयक्रियया सह सायुज्यमिव प्राप्ते इति । अतिक्षिप्रकारितयाऽऽदानसन्धाने अज्ञात्वा बाणमोक्षमेव सर्वो लोको ज्ञातवानिति भावः ॥ ४१ ॥

उस समय युद्धमें अपने धनुषको जब अर्जुनने चक्राकार बनाकर बाण चलाना प्रारम्भ किया, तब बाणोंकी तीन क्रियाओं—निषङ्गसे निकालना, धनुषपर चढ़ाना और छोड़ना इनमेंसे पहली दो क्रियाओंने-निकालना और धनुषपर चढ़ाना-तीसरी क्रिया-बाणमोचन क्रियाके साथ मानो सायुज्य पा लिया था, लोग केवल तीसरी क्रिया ही देखते थे, अतः लोग समझते थे कि पहली दो क्रियायें तीसरी क्रिया ही में लीन हो गई हैं ॥ ४१ ॥

युद्धसीम्नि भृतगर्वविप्रुषो मूर्च्छितान्कटकनिःसृताम्भसः ।
तत्र लक्ष्यमकरोत्स कुञ्जरांस्तस्य तात इव शैलसंचयान् ॥ ४२ ॥

युद्धसीम्नीति । कटकनिःसृताम्भसः कटदेशनिर्गतमदजलान् मत्तान् अतएव भृतगर्वविप्रुषः धृतगर्वलेशान् मूर्छितान् विशालतया स्थितान् कुञ्जरान् करिणः सः पार्थः तत्र युद्धे लक्ष्यमकरोत् स्वशरपातविषयान् अकार्षीत्, तस्यार्जुनस्य तातः पितेन्द्रः कटकनिःसृताम्भसः नितम्बदेशनिःसृतनिर्झरान् मूर्च्छितान् विशालान् शैलसञ्चयान् पर्वतराशीन् इव । अयमाशयः—यथा शक्रः पुरा पर्वतपक्षच्छेदावसरे नितम्बदेशनिर्गतनिर्झरान् विशालान् शैलान् स्ववज्रस्य लक्ष्यानकरोत्तथाऽर्जुनोऽपि युद्धे कपोलनिर्गच्छद्दानवारिप्रवाहान् सगर्वान् विशालांश्च करिणो निजबाणप्रहारस्य लक्ष्यतामनैषीदिति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ४२ ॥

जिस तरह इन्द्रने पर्वतपक्षच्छेदनके समय नितम्बभागसे झरने निकल रहे हैं जिनके ऐसे एवं विशालोन्नत पर्वतोंको अपने वज्रप्रहारका विषय बनाया था, उसी तरह उस युद्धमें अर्जुनने कपोलोंपर प्रवाहित हो रहा है दानवारि जिनके ऐसे अतएव सगर्व तथा विशालोन्नत गजराजोंको अपने बाणप्रहारका लक्ष्य बनाया ॥ ४२ ॥

काण्डैरपातयदधः करिमण्डलानां
शुण्डाः प्रचण्डतरदोर्युधि पाण्डुसूनुः ।

---

१. 'भुजगर्विणां द्विषामुच्छ्रितान्'; 'भुजगर्वविप्रुषामुच्छ्रितान्' । इति पा० ।

निद्रास्यतां निखिलवैरिमहीपतीना-
मुत्पादयन्निव पृथूरुपधानपङ्क्तीः ॥ ४३ ॥

काण्डैरिति । प्रचण्डतरौ अतिभीषणौ दोषौ बाहू यस्य तादृशः पाण्डुसूनुः अर्जुनः निद्रास्यतां प्रस्वापनास्त्रप्रयोगेन स्वप्स्यतां निखिलवैरिमहीपतीनां समस्तपरिपन्थिराजन्यानां पृथूः विशालस्थूलाः उपधानपंक्तीः उपबर्हराशीन् उपधानानि उत्पादयन् निर्मिमाण इव युधि तत्र संगरे काण्डैः स्वप्रहृतैः बाणैः करिमण्डलानां हस्तिसमुदयानां शुण्डाः करान् अधः अपातयत् छित्वा भूमौ न्यपातयदिति । अर्जुनो बाणैः करिणां शुण्डादण्डांश्छित्त्वा भूमावपातयन्मन्ये प्रस्वापने प्रयुज्यमाने स्वप्स्यतां प्रत्यर्थिभूपालानां कृते सुखशयनं सम्पादयितुं विशालान्युपधानानि सम्पादितवानिति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इति कोशः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति चामरः ॥ ४३ ॥

प्रचण्डबाहुशाली अर्जुनने युद्धमें बाणोंसे हाथियोंके शुण्डादण्ड काट-काटकर नीचे गिरा दिये । ऐसा लगता था मानो वे प्रस्वापनास्त्रप्रयोग होनेसे सो जानेवाले प्रतिपक्षी राजाओंके लिये बहुतसे मोटे-मोटे तकिये बना रहे हों ॥ ४३ ॥

विशालरन्ध्रं विजयास्त्रदत्तं देहस्य मध्ये दधतो महान्तः ।
स्कन्दस्य शक्त्या क्षतमेखलस्य क्रौञ्चस्य लीलां करिणो विवव्रुः ॥४४॥

विशालरन्ध्रमिति । महान्तः विशालाः करिणो गजाः देहस्य मध्ये विजयास्त्रदत्तम् अर्जुनबाणनिर्मितम् विशालरन्ध्रं महत् छिद्रं दधतः धारयन्तः सन्तः स्कन्दस्य कार्त्तिकेयस्य शक्त्या अस्त्रभेदेन क्षतमेखलस्य सच्छिद्रीकृतमध्यभागस्य क्रौञ्चस्य तदाख्यपर्वतविशेषस्य लीलां तुलनां विवव्रुः प्रकाशयामासुः । अर्जुनास्त्रप्रहारजातच्छिद्रं विशालं वपुर्वहन् करी स्कन्दशक्तिनिर्भिन्नस्य क्रौञ्चगिरेस्तुलामासादयदिति भावः ॥ ४४ ॥

अर्जुनके द्वारा प्रहृत बाणोंसे पैदा किये गये छिद्रोंको धारण किये हुए बड़े-बड़े गज ऐसे प्रतीत होते थे मानों कार्त्तिकेयकी शक्तिसे जिसका मध्यभाग क्षतविक्षत हो गया है ऐसे क्रौञ्चगिरि हों ॥ ४४ ॥

आधोरणस्य शिरसा पततार्धमार्गे
संधानभाजि दिवमुत्पतिते कबन्धे ।
न्यस्य स्रजं सुरवधूरथ बद्धमौना-
त्तस्माद्ध्रिया दिवि पलायत दूरमेका ॥ ४५ ॥

आधोरणस्येति । एका काचित् सुरवधूः नववल्लभवरणायागता देवाङ्गना दिवम्

१. 'अथ लब्ध'; 'अवबद्ध' । २. 'भयात्' । इति पा० ।

आकाशमुत्पतिते पतता अर्जुनबाणेन च्छिन्नं भूत्वोदूर्ध्वं गत्वा परावर्त्तमानेन आधोरणस्य हस्तिपकस्य शिरसा मस्तकेन अर्धमार्गे पथि संधानभाजि संबन्धशालिनि सति कबन्धे अपमूर्धकलेवरे कस्मिंश्चित् स्रजं वरणमाल्यं निधाय समर्प्य नवसुरभ्रान्त्या तस्यापमूर्धकलेवरस्य गले वरणमाल्यं निक्षिप्य बद्धमौनात् अचेतनतया वक्तुमशक्तात् तस्मात् कबन्धात् भिया भयेन दूरम् दिवि पलायते अपससार । अयमाशयः—अर्जुनच्छिन्नगलः कश्चित् कबन्ध ऊर्ध्वमुत्पतितस्तेन सहार्जुनेन च्छिन्नं कस्यचिद् हस्तिपकस्योत्पत्य परावर्त्तमानं शिरःसन्धानमापत्तथाभूतं तं कबन्धं दिवि नववल्लभं वरीतुमायाता सुरबाला वरणस्रजाऽभूषयत्परं यदासौ कबन्धो गतचेतनतया किमपि नाभाषत तदा ततो भीता सा सुरबाला ततो दूरं पलायतेति । अत्र भ्रान्तिमदुज्जीवितं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥४५॥

नववल्लभवरणार्थं आकाशमें आई हुई किसी सुरबालाने—अर्जुनके बाणसे छिन्नशिरस्क किसी कबन्धके गलेमें जिसके साथ ऊपर उड़कर किसी हस्तिपकका कटा हुआ सिर जुड़ गया था—अपनी वरणमाला डाल दी, परन्तु वह कबन्ध अचेतन होनेके कारण चुप ही रहा, कुछ भी नहीं बोल सका, तब वह वरण करनेवाली सुरबाला उस कबन्धसे डर गई और आकाशमें उससे दूर भाग गई ॥ ४५ ॥

तुङ्गा गजाश्च जवनास्तुरगाश्च शूरा योधाश्च तेन निहता भुवमाशु जग्मुः ।
निद्रास्यतो निबिडमत्र नरेन्द्रसङ्घात्प्रागेव सम्यगवकाशजिघृक्षयेव ॥४६॥

तुङ्गा गजाश्चेति । तुङ्गाः विशालाः गजाः करिणश्च जवनाः वेगवन्तः तुरगाः अश्वाश्च, शूराः वीरा योधाः भटाश्च तेन अर्जुनेन निहताः मारिताः सन्तः अत्र युद्धे निबिडं घनं निद्रास्यतः प्रस्वापनास्त्रप्रयोगावसरे स्वप्स्यतः नरेन्द्रसङ्घात् राजसमुदयात् प्राक् पूर्वमेव अवकाशजिघृक्षया स्थानलाभेच्छया इव आशु शीघ्रम् भुवं धरणीं जग्मुः प्रापुः, यदि विलम्बो भविष्यति तदा राजभिरवकाशेषु स्वायत्तीकृतेषु निरवकाशा भविष्याम इति विचार्येव निहता गजाश्वयोधाः शीघ्रं धरणौ समागच्छन्तिस्मेति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

ऊँचे करिगण, तेज चलनेवाले घोड़े और वीर योद्धागण अर्जुन द्वारा निहत होकर शीघ्र पृथ्वीपर इसलिये आ जाते थे कि प्रस्वापनास्त्रप्रयोग होने पर तो सभी राजागण सोने लग जायँगे, फिर उनके द्वारा सारा स्थान अधिकृत हो जायगा, हम लोगोंको अवकाश नहीं मिल सकेगा, अतः उनके सोनेसे पूर्व ही जगह दखल कर लें ॥ ४६ ॥

गङ्गा सिता रविसुताप्यसिता पिशङ्गी
चक्रे तयोः सहचरी च पुरा विधात्रा ।

---

१. 'वीराः' । २. 'नृपेन्द्र' । ३. 'गङ्गां सितां रविसुतामसितां पिशङ्गीं चक्रे तयोः सहचरीं च पुरा विरिञ्चिः' । इति पा० ।

[1]शोणा रुचा न तटिनीति किलार्जुनेन
बाणालिभिः शतमसृक्सरितां वितेने ॥ ४७ ॥

गङ्गेति। पुरा पूर्वसमये विधात्रा ब्रह्मणा गङ्गा सिता स्वच्छजला, रविसुता यमुनाऽपि असिता कृष्णतोया, तयोः गङ्गायमुनयोः सहचरी सखी सरस्वती च पिशङ्गी पिङ्गलवर्णा चक्रे विदधे रुचा वर्णेन शोणा रक्ता च काचित् तटिनी कापि नदी न चक्रे न निर्मिता, इति हेतोरस्मात् त्रुटिमेतां पूरयितुं किल अर्जुनेन बाणालिभिः शरसमुदयैः असृक्सरिताम् शोणितनदीनां शतम् शतसंख्याः शोणितनद्यः वितेने व्यरचिषत। श्वेतकृष्णपिङ्गलासु नदीषु ब्रह्मणारचितास्वपि रक्तवर्णाया नद्यास्तेनानिर्मितत्वेन तां त्रुटिमपाकर्त्तुमिवार्जुनः स्वबाणै राज्ञो निपात्य शतं शोणितनदीः प्रवाहितवानिति भावः ॥ ४७ ॥

पूर्व समयमें सृष्टिकालमें ब्रह्माने उजली नदी गङ्गा बनाई, काले जल वाली यमुना भी बनाई, गङ्गा यमुनाकी सखी सरस्वती नामक पिङ्गलवर्णा नदी भी बनाई, परन्तु रक्त वर्णा कोई नदी नहीं बनाई, इसी कमीको दूर करनेके लिये अर्जुनने अपने बाणोंसे सैकड़ों रक्तकी नदियाँ बहा दीं ॥ ४७ ॥

कर्णे क्वेति गवेषणस्य विषये गान्धारनाथे पुन-
र्निर्गन्तुं [2]धृतदिग्भ्रमे विकलितच्छत्रेऽपि दुर्योधने।
द्रोणेऽपि क्षपितध्वजे कृतधनुर्भङ्गेऽपि तस्यात्मजे।
मूर्च्छाले सरितः सुतेऽपि युधि सा मम्लौ[3] कुरूणां चमूः ॥४८॥

कर्णे क्वेति। ततः रक्तनदीप्रवाहानन्तरं युधि युद्धस्थले कर्णे राधेये क्व? इति गवेषणस्य विषये कुत्र कर्णे गत इति परामृश्यमाने, पुनः गान्धारनाथे शकुनौ निर्गन्तुं ततो युद्धस्थलादपसर्त्तुं धृतदिग्भ्रमे भयहतज्ञानतया प्राच्यादिदिशां ज्ञानेन रहिते जाते, दुर्योधनेपि विकलितच्छत्रे छिन्नातपत्रे कृते, द्रोणे गुरौ क्षपितध्वजे विनष्टरथपताके, तस्यात्मजे द्रोणपुत्रे अश्वत्थामनि अपि कृतधनुर्भङ्गे भग्नशरासने, सरितः गङ्गायाः सुते पुत्रे भीष्मे मूर्च्छाले मूर्च्छिते सति सा अपरापि कुरूणां चमूः कौरवसेना मम्लौ म्लानिं गता सर्वेषां प्रोक्तनामधेयानां महावीराणां तासु दशासु जातासु कुरुसेना नष्टोत्साहाजायतेति भावः ॥ ४८ ॥

जब—कहाँ गये कर्ण इस प्रकार कर्ण ढूँढ़नेकी वस्तु बन गये, शकुनिको भागनेमें दिग्भ्रम होने लगा, दुर्योधन नष्टच्छत्र हो गये. द्रोणाचार्य बिना ध्वजके हो गये, द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाका धनुष भग्न कर दिया गया, और भीष्मपितामह भी मूर्च्छित हो गये तब कौरवोंकी वह विशाल सेना हतोत्साह हो गई ॥ ४८ ॥

---

१. 'शोणा कृता'। २. 'शकलितः'; 'विगलित'। ३. 'मम्ले'। इति पा०।

वीणामुनीन्द्रो विजयस्य युद्धं नीरन्ध्रभावेन निरीक्षमाणः ।
आनन्दजैरश्रुभिरेव चक्रे हस्तार्पितैराह्निककृत्यमभ्रे ॥ ४९ ॥

वीणेति । वीणाप्रियो मुनीन्द्रः वीणामुनीन्द्रः वीणावादनरसिको मुनिप्रवरो नारदोऽपि विजयस्यार्जुनस्य युद्धं नीरन्ध्रभावेन अविच्छिन्नरूपेण निर्निमेषतया सततसावधानतया च अभ्रे आकाशे निरीक्षमाणः पश्यन् हस्तार्पितैः करन्यस्तैः आनन्दजैरश्रुभिः आनन्दबाष्पैरेव आह्निकं मध्याह्नसन्ध्यादिकं चक्रे, आकाशे जलानुपलब्धेस्ततोऽपसरणे युद्धदर्शनप्रतिबन्धसंभवात् नारदो हर्षाश्रुभिरेव करस्थैः मध्याह्नकृत्यं निरवहदित्यर्थः । असंबन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४९ ॥

वीणावादनरसिक नारदमुनि आकाशमें रहकर अविच्छिन्न रूपसे अर्जुनका लड़ना देखते रहे, और उन्होंने जलके अभावमें आनन्दके अश्रुसे ही अपना मध्याह्न सन्ध्या आदि कृत्य सम्पन्न किया, पानी आकाशमें था नहीं, और युद्ध देखनेमें तल्लीन नारद वहाँसे हटकर पानी लाने जाँय यह हो नहीं सकता था, फिर दूसरा उपाय था हीं क्या, हर्षाश्रुको हाथमें लेकर उसीसे मध्याह्नकृत्य सम्पन्न किया गया ॥ ४९ ॥

विस्मयार्णवविभावरीविभुं वीक्ष्य वीक्ष्य विजयस्य विक्रमम् ।
उत्तमाङ्गमखिलाप्सरोगणैरुर्वशी नभसि साप्यकम्पयत् ॥ ५० ॥

विस्मयार्णवेति । विस्मयः आश्चर्यमेव अर्णवः सागरस्तस्य विभावरीविधुं चन्द्रमसं वृद्धिकरम् महाश्चर्यवर्धनं विजयस्यार्जुनस्य विक्रमं पराक्रमं वीक्ष्य वीक्ष्य सादरं दृष्ट्वा सा उर्वशी अपि नभसि अखिलाप्सरोगणैः सह उत्तमाङ्गं शिरः अकम्पयत् अचालयत् । अत्याश्चर्यकरमर्जुनस्य युद्धपराक्रमं सादरं पश्यन्तीषु प्रशंसाद्योतनाय निजशिरांसि चालयन्तीषु चाप्सरस्सु अर्जुनकृतापमानक्षुभितोर्वश्यपि निजं तं भावं गोपयितुं स्वं शिरः कम्पितवतीत्यर्थः । रथोद्धतावृत्तम् । तादृग्द्वेषवत्योर्वश्यापि शिरश्चालने कृते का कथाऽन्यशिरश्चालनस्येत्यर्थापत्तिरलङ्कारो व्यज्यते ॥ ५० ॥

आश्चर्यरूप समुद्रके लिये पूर्णिमास्वरूप—अतिविस्मयवर्धक-उस अर्जुनकृत युद्धपराक्रमको देख-देखकर आकाशचारी अप्सरायें जब प्रशंसा प्रकट करनेके लिये अपने सिर हिलाती थीं तब उर्वशी भी अपना सिर हिलाया करती थी, यद्यपि उर्वशी अर्जुनसे अप्रसन्न थी क्योंकि उर्वशीकी रतिप्रार्थनाको अर्जुनने ठुकरा दिया था ॥ ५० ॥

वपुरस्त्रसात्कृतवतां सुभटानां वरणस्रजे विबुधवारवधूभ्यः ।
कुसुमात्यये [1]किसलयान्यपि दत्वा क्षुपतामवाप कुलिशायुधशाखी ॥५१॥

वपुरिति । वपुः निजं देहम् अस्त्रसात्कृतवतां पार्थप्रयुक्तशस्त्रेभ्यः समर्पितवताम् तदस्त्रच्छिन्नगात्राणां सुभटानां वीरयोधानां वरणस्रजे स्वयंवरणमाल्यनिर्माणाय

---

१. 'सति दलान्यपि' । इति पा० ।

विबुधवारवधूभ्यः देवबालाभ्यः कुसुमात्यये पुष्पसमाप्तौ सत्यां किसलयान्यपि स्वपल्लवान् अपि दत्त्वा प्रदाय कुलिशायुधशाखी इन्द्रस्य द्रुमः कल्पवृक्षः क्षुपताम् ह्रस्वशाखत्वम् अवाप। अर्जुनक्षतदेहेष्वसंख्येषु शूरेषु स्वर्गमागतेषु तान्वरीतुमिच्छन्तीभ्यो देवबालाभ्यो वरणस्रङ्निर्माणाय पुष्पाणि समर्प्य तत्समाप्तौ पत्राण्यपि प्रदाय च कल्पवृक्षो ह्रस्वशाखो जायते स्मेति भावः। अत्र कल्पवृक्षस्य शाखा ह्रस्वत्वासंबन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ५१ ॥

जिन लोगोंने अपने शरीरको अस्त्रक्षत कर दिया ऐसे वीरोंको वरण करनेके लिये देवबालायें फूल चाहती थीं कल्पवृक्षने अपने सारे फूल उन्हें दे दिये, फिर भी उनका प्रयोजन पूर्ण नहीं हुआ, क्योंकि वरणीय जनोंकी संख्या अधिक थी, तब कल्पवृक्षने फूलके अभावमें अपने पत्ते दिये, और पत्तोंको दे देनेके बाद कल्पवृक्ष ठूंठ हो गया, ह्रस्वशाख बन गया ॥ ५१ ॥

बाह्वोः प्रवृष्टकुसुमस्य ततो निलिम्पैः
प्रस्वापनास्त्रमहिमातिशयेन तस्य ।
निद्रायते स्म निखिला पृतना रिपूणां
युद्धावतीर्णमपनेतुमिव श्रमं स्वम् ॥ ५२ ॥

बाह्वोरिति। ततः तदनन्तरं निलिम्पैः देवैः बाह्वोः करयोः प्रवृष्टकुसुमस्य कृतपुष्पवर्षस्य तस्य अर्जुनस्य प्रस्वापनास्त्रमहिमातिशयेन प्रस्वापननामकास्त्र प्रभावेण रिपूणां कौरवाणां निखिला सकला अपि पृतना सेना युद्धावतीर्णं युद्धोद्भवं श्रमम् अपनेतुं विहातुम् इव निद्रायते स्म सुष्वाप। तदनन्तरं देवैर्भुजयोरभिनन्दनार्थं कृतकुसुमवर्षस्य पार्थस्य प्रस्वापनास्त्रप्रभावेण कौरवाणां सकला सेना निद्रां प्राप, मन्ये सा युद्धोद्भवं श्रममपनयतीव, अन्योऽपि स्वीयं श्रममपनेतुं स्वपिति, तद्वद्युद्धश्रमापनेतुं सेना सुष्वापेति भावः ॥ ५२ ॥

इसके बाद देवगणद्वारा पुष्पवृष्टि करके अभिनन्दित भुजशाली अर्जुन द्वारा प्रयुक्त प्रस्वापनास्त्रके प्रभावातिशयसे शत्रुओंकी सारी सेना सो गई, उसका वह सोना ऐसा लगता था मानों वह सेना युद्धजात थकावटको मिटानेके लिये सो रही है ॥ ५२ ॥

ततः[2] स बीभत्सुः परिषत्समानीतवधू[3]परिभवानुरूपफलप्रदित्सयेव सारथिना[4] द्विषतामपहारितविविधपरिधानो गुरुप्रभृति[5]ष्वमीषु दिवास्वापो मा भूदिति कृपया मन्यमान इव पुनरपि तदस्त्रं क्षणादेव संजहार ॥

तत इति। ततः प्रस्वापनास्त्रप्रभावेण सर्वेषु शत्रुसैन्येषु निद्रितेषु सत्सु सः

---

१. 'पृतना निखिला'। २. ततो बीभत्सुः'। ३. 'निजवधू'। ४. 'विद्विषां'। ५. 'प्रभृतिषु दिवा'। इति पा०।

बीभत्सुः अर्जुनः परिषदि द्यूतसभायां समानीतः विहितो यो वधूपरिभवः द्रौपदीनग्नतारूपपराभवः तदनुरूपफलप्रदित्सया तदुपयुक्तदण्डप्रदानेच्छया इव (परिषदि पाञ्चाली कौरवैर्वस्त्रापहरणेन लज्जिता सम्प्रति ते कौरवा अपि नग्नतारूपं दण्डमनुभवन्त्वितीच्छया इव) सारथिना उत्तरेण द्विषतां शत्रूणाम् अपहारितविविधपरिधानः गृहीतनानाप्रकारकवस्त्रः गुरुप्रभृतिषु द्रोणादिषु अमीषु प्रस्वापनास्त्रप्रभावेण शयानेषु दिवास्वापः दिवसनिद्राकृतो दोषः मा भूत् , द्रोणादयो दिवास्वापदोषेण कलङ्किता मा जनिषतेति मन्यमानो विभावयन् कृपया अनुग्रहेण पुनः अपि तदस्त्रं प्रस्वापनास्त्रं क्षणादेव त्वरयैव संजहार प्रतिसंहृतवान् ॥

इसके बाद अर्जुनने द्यूतसभामें की गई द्रौपदीकी नग्नतारूप बेइज्जतीके अनुरूप दण्ड देनेके लिये उत्तरके द्वारा शत्रुओंके नानाविध वस्त्रोंका अपहरण करवा लिया, पीछे अर्जुनने सोचा कि गुरु द्रोण वगैरहको दिवास्वापका दोष लग रहा है यह अच्छा नहीं हो रहा है, इसीलिये अनुग्रह करके उन्होंने तुरत अपने प्रस्वापनास्त्रको समेट लिया ॥

अथ दृशः परिमृज्य कराञ्जलैररुणिताः परिमीलनमुद्रया ।
प्रकटितास्यबिलैः पटुजृम्भणात्प्रबुबुधे कुरुराजचमूश्चिरात् ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ प्रस्वापनास्त्रसंहरणानन्तरम् परिमीलनमुद्रया मुकुलनावस्थया अरुणिताः रक्तीभूताः दृशः नयनानि परिमृज्य परामृश्य मर्दयित्वा पटुजृम्भणात् शयनोत्तरस्वाभाविकजृम्भाविधानात् प्रकटितास्यबिलैः विवृतमुखद्वारैः (युक्ता) कुरुराजचमूः कौरवसेना प्रबुबुधे प्रबुद्धा । यथा कोपि सुखसुप्तः प्रबुध्यमानो रक्ते अक्षिणी मर्दयन् जृम्भाविवृतमुखश्च प्रबुध्यते तथैव कुरुसेना प्रबुद्धेति भावः ॥ ५३ ॥

अर्जुनने जब अपना प्रस्वापनास्त्र उपसंहृत कर लिया तब कौरवकी सेना बहुत देर तक बन्द रहनेके कारण लाल आँखे मलती हुई तथा जंभाईके आनेसे मुँह खोले उठ बैठी ॥ ५३ ॥

पूर्वप्रयोगमुदिता इव तस्य बाणा
निद्रां द्विषत्सु निखिला ददुरेव दीर्घाम् ।
पश्चात्प्रयुक्तममुनाऽहमितीव रोषा-
त्प्रस्वापनं तु विततार न तादृशीं ताम् ॥ ५४ ॥

पूर्वप्रयोगेति । तस्य अर्जुनस्य निखिलाः सकलाः बाणाः शराः पूर्वप्रयोगमुदिता इव पूर्वं प्रयुक्तत्वेन संभृतहर्षा इव द्विषत्सु शत्रुषु विषये दीर्घां चिरस्थायिनीम् अपुनःप्रबोधाम् एव निद्रां मृत्युम् ददुः दत्तवन्तः प्रस्वापनं तदाख्यमस्त्रं तु अमुना अनेनार्जुनेनाहं पश्चात् प्रयुक्तं व्यवहृतम् अभवम् इति रोषात् कोपादिव तादृशीं

१. 'परिजृम्भपात्' । २. 'चमूचरैः' । इति पा० ।

दीर्घां तां निद्रां न वितताार न ददौ । अर्जुनेन ये बाणाः प्राक् प्रयुक्तास्ते शत्रुभ्यो दीर्घां निद्रां दत्तवन्तो यतस्ते प्राक् प्रयुक्ततया मुदिता आसन् यच्चेदं प्रस्वापनास्त्रं सर्वान्ते प्रयुक्ततयाऽपमतमिव रुष्टं तद्वोपादिव शत्रुभ्यो दीर्घां निद्रां न दत्तवदिति भावः । मुदितो वहु ददाति कुपितो न बहु ददातीति प्रसिद्धमेवलोके ॥ ५४ ॥

अर्जुनने जिन बाणोंका पहले प्रयोग किया उस बाणगणने पूर्वप्रयोगके आदरसे मुदित होकर शत्रुसैन्यको चिर निद्रा, मृत्यु प्रदान किया, और उस प्रस्वापनास्त्रने जिसे अर्जुनने अन्तमें प्रयुक्त किया था, अन्तमें प्रयुक्त होनेके कारण कुपित सा होकर शत्रु सैन्यको दीर्घ निद्रा प्रदान नहीं किया । प्रस्वापनास्त्रके प्रभावसे सोरहे थे, वे फिर जग गये ॥ ५४ ॥

स तु वपुरनुशोच्य धार्तराष्ट्रः समिति विराटसुतापनीतचेलम्[1] ।
कुलिशभृदनुजीविदत्तबन्धां कुशलममन्यत घोषवाटयात्राम् ॥ ५५ ॥

स तु वपुरिति । स धार्त्तराष्ट्रः दुर्योधनस्तु समिति युद्धे विराटसुतापनीतचेलम् उत्तरापहृतवस्त्रं वपुः स्वं शरीरम् अनुशोच्य विभाव्य कुलिशभृतो वज्रिणः अनुजीविभिः भृत्यैर्गन्धर्वैर्दत्तः कृतो बन्धो बन्धनं यस्यां तां तथोक्तां घोषवाटयात्राम् स्वगोष्ठदर्शनव्याजेन विहितं स्वं प्रयाणं कुशलम् कल्याणकरममन्यत, ततोऽप्यधिकापमानजननीमिमां यात्रामवैषीदिति भावः । पुरा युधिष्ठिरादिषु वने वसत्सु स्ववैभवदर्शनेच्छया दुर्योधनः ससैन्यो गोष्ठावलोकनव्याजेन यात्रामकृत, तत्र यात्रायां तदभिप्रायाशुद्धिं ज्ञातवतेन्द्रेण प्रहिता गन्धर्वास्तमवध्नन्, पश्चादर्जुनो युद्ध्वा तममोचयत्, तस्यां यात्रायां तु बन्धनमेव जातमत्र तु वस्त्रापहरणमिति ततोऽपीयं यात्रा दुखदेति ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने जब अपने शरीर परके वस्त्रको विराटके पुत्र उत्तर द्वारा अपहृत देखा तब उसने अपने द्वारा की गई तथा जिसमें इन्द्रके अनुचर गन्धर्वों द्वारा दुर्योधन बाँध लिया गया था, उस घोषयात्राको ही कल्याणमय माना, अर्थात् उसने विराट् घोषयात्रा और पहली घोषयात्रामें पहली घोषयात्राको कम अपमानजनक समझा पहली यात्रामें गन्धर्वोंने बाँधा भर था, इस यात्रामें तो नंगा करके छोड़ा गया था, अतः यह यात्रा अधिक अपमानजनक हुई ॥ ५५ ॥

पराञ्चि कर्तुं वदनान्यनीशाः पश्चाद्विमर्देन नभस्यमर्त्याः ।
निरीक्ष्य नग्नान्नृपतीन्ह्रियार्ता निमीलनाङ्कं नयनं निनिन्दुः ॥ ५६ ॥

पराञ्चिकर्त्तुमिति । पश्चात् पृष्ठदेशे विमर्देन बहुलोकसंमर्देन वदनानि निजमुखानि पराञ्चि विमुखानि कर्त्तुं विधातुम् अनीशाः असमर्थाः नभसि आकाशे युद्धावलोकनायोपेता अमर्त्याः देवललनाः नग्नान् अपहृतवस्त्रतया अनावृतशरीरान्

---

1. 'चैलम्' । इति पा० ।

नृपतीन् युद्धागतान् राज्ञः निरीक्ष्य दृष्ट्वा ह्रियार्त्ताः लज्जया पीडिताः सत्यः निमीलनाङ्कं निमेषापरिचितं नयनं निजं नेत्रं निनिन्दुः। युद्धे नग्नान् नृपान् दृष्ट्वा लज्जार्त्तानां देवबालानां पुरतो द्वयी गतिः, मुखं परावर्त्तयेयुरक्षिवानिमीलयेयुस्तत्र दृष्ठदेशे युद्धावलोकनागतदेवसंमर्देन मुखपरावर्त्तनमशक्यविधानं तस्यां स्थितौ नेत्रमीलनमात्रमुपायस्तदपि च नेत्राणां निमेषशून्यतया विधातुमशक्यं तेन ता अमर्यो निजं निमीलनाङ्कं नयनं 'निनिन्दुरितिभावः ॥ ५६ ॥

आकाशमें युद्ध देखनेकी लालसासे आई हुई देवबालाओंने जब नंगे राजाओंको देखा तब वे मुख परावर्त्तन करना मुंह फेरना चाहने लगीं किन्तु उनके पीठपर युद्ध दर्शनार्थियों की इतनीं भीड़ थी कि वे मुंह घुमा नहीं सकीं, तब उन लोगोंने आँखें मुंद लेना चाहा, परन्तु निनिर्मेष होनेके कारण वह भी नहीं हो सका इस अवस्थामें देवियोंने आखोंकी खूब निन्दा की ॥ ५६ ॥

इति परिभवलक्ष्म्या संभृतां भोगमुद्रां
तनुभिरभिदधानाः स्थास्नुभिर्नग्नभावे।
ध्वजपटशकलाग्रैः क्लृप्तकौपीनकृत्याः
सुबलदुहितृपुत्राः स्वां पुरीं प्रत्यगच्छन् ॥ ५७ ॥

इति परिभवेति। इति उक्तप्रकारं नग्नभावे वस्त्रशून्यतायां स्थास्नुभिः तिष्ठन्तीभिः नग्नाभिरित्यर्थः तनुभिः स्वदेहैः परिभवलक्ष्म्या अर्जुनकृतानादरसम्पदा स्त्रिया संभृताम् उपपादितां भोगमुद्रां संभोगस्थितिमिवानुभूतिम् अभिदधानाः नग्नैर्देहैरेवार्जुनकृतमपमानमभिदधानाः सुबलदुहितृपुत्राः गान्धारीतनयाः ध्वजपटशकलाग्रैः पताकावस्त्रखण्डैः क्लृप्तकौपीनकृत्याः सम्पादितकौपीनकार्याः (कथञ्चिदावृतगुह्याङ्गाः) सन्तः स्वां पुरीं राजधानीं प्रति अगच्छन् गतवन्तः। यथा कोपि स्त्रियाकृतां रतिमुद्रां नग्नया तन्वा विवृणोति तथैवार्जुनकृतानादरचिह्नानि विवाससा वपुषाभिदधानाः कौरवाः पताकावस्त्रखण्डानि कौपीनतया परिधाय स्वां राजधानीं प्रति परावर्त्तन्तेस्मेति भावः। समासोक्तिरनुमानंचालङ्कारौ। मालिनीवृत्तम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार अपने वस्त्रहीन शरीर द्वारा पराभव लक्ष्मीके संभोगावस्था अनुभवकी— अर्जुन द्वारा किये गये वस्त्रापहरणरूप अपमानकी सूचना देते हुए तथा पताका वस्त्र खण्डको कौपीनकी तरह पहनकर लाज ढंकते हुए कौरवगण अपनी राजधानीमें लौट आये ॥ ५७ ॥

तदनु हरिदङ्गणविशृङ्खलविभ्रमितविजयशङ्खरवो निजायुधनिक्षेपरक्षिषु भूतकुटुम्बेषु नवरुधिराञ्जलिपानतृप्तिकिलिकिलितमनुभवितुकाम इव

१. 'कुटुम्बकेषु'। २. 'नवसमररुधिर'। ३. 'परितृप्ति'। इति पा०।

पुनरपि पितृवनमेत्य तरुनिहितशस्त्रसंभारः पुरात्सहायातेषु गणेषु आवामेवं तव रणाद्भुतदर्शनं प्रतिवञ्चिते इति उपालब्धुमिव कृतसांनिध्याभ्यां क्लैब्यसारथ्याभ्यां भूयः कृतानुषञ्जनः कुरुकुञ्जरो भूमिंजयमेवं जगाद,—

तदन्विति। तदनु ततः पश्चात् हरिदङ्गणेषु दिशासु विशृङ्खलं निष्प्रतिबन्धं विश्रमितः व्यापितः विजयशङ्खरवः विजयशङ्खध्वनिः कुरुकुञ्जरः कुरुवंशश्रेष्ठः पार्थः निजायुधनिक्षेपरक्षिषु स्वास्त्ररूपन्यासधनरक्षकेषु भूतकुटुम्बेषु भूतगणेषु नवरुधिराञ्जलिपानेन प्रत्यग्रशोणितपानेन या तृप्तिः सन्तोषस्तेन किलकिलितं प्रसन्नतासूचकम् रुतं तत् अनुभवितुकामः श्रोतुमिच्छुः इव पुनः अपि पितृवनम् श्मशानम् एत्य आगत्य तरुनिहितशस्त्रसंभारः शमीवृक्षावस्थापितास्त्रगणः सन् पुरात् विराटनगरात् सह आयातेषु आगतेषु गणेषु वर्गेषु आवाम् एव तव अर्जुनस्य रणाद्भुतदर्शनं युद्धकौशलवीक्षणविषये प्रतिवाञ्छिते विफलमनोरथे जाते इति उपालब्धुम् निन्दां कर्त्तुम् इव कृतसान्निध्याभ्याम् समीपागताभ्याम् क्लैब्यसारथ्याभ्याम् नपुंसकत्वसूतभावाभ्यां भूयः कृतानुषञ्जनः सम्बध्यमानश्च भूत्वा (अर्जुनः) भूमिञ्जयमुत्तरं प्रति एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण जगाद उक्तवान्॥

कौरवोंके वापस चले जानेपर दिशारूप अङ्गणमें विना रोकके व्याप्त कर दिया है विजय शङ्खध्वनिको जिसने ऐसे अर्जुन अपने अस्त्ररूप थातीकी रक्षा करनेवाले भूतगणोंका नवीन रुधिरपानजन्य तृप्तिसे किये जानेवाले किलकिला शब्दको सुननेकी इच्छासे फिर उस श्मशानमें आये और उसी शमीवृक्षपर अस्त्र शस्त्र रख दिया। इसी समय उनका नपुंसकत्व और सूतत्व दोनों उनके पास आगये मानों उलाहना देने आये हों कि विराट नगरसे साथ आनेवालोंमें से हम ही दोनों ऐसे हैं जिन्हें आपने अपना अद्भुत युद्ध कौशल नहीं दिखलाया। इस प्रकार आये हुये नपुंसकत्व तथा सुतत्वको स्वीकार करके अर्जुनने भुमीजय–उत्तरसे इस प्रकार कहा—॥

कुमार! कोशीकुरु केशपाशं मुखेऽश्रुणो मार्जय पातमार्गम्।
तूण्या समं दोष्णि निधेहि चापं राशीरुपर्योस्स्व रथे पटानाम्॥५८॥

कुमारेति। हे कुमार, राजपुत्र, उत्तर, केशपाशम् अस्तव्यस्तं कचभरं कोशीकुरु संयमय, मुखे अश्रुणः बाष्पधारायाः पातमार्गम् पतनस्थाने कपोलादौ जायमानां रेखां मार्जय प्रक्षालमर्दनादिना अपनय, दोष्णि निजहस्ते तूण्या निषङ्गेण सह चापं धनुः निधेहि स्थापय, रथे अन्तःस्पन्दनम् पटानाम् कौरवेभ्योऽपहृतानां

१ 'समायातेषु'। २. 'मेव रणाद्भुत'। ३. 'भूयोऽपि क्लैब्यसारथ्याभ्यां कृतानुषञ्जनः'। इति पा०।

वस्त्राणाम् राशेः पुञ्जस्योपरि आस्व उपविश, सर्वथाऽऽत्मानं रथिनं प्रदर्शयेत्यर्थः ॥

हे राजकुमार उत्तर, अपने इस अस्तव्यस्त हुए केशपाशको संभाल लीजिये, चेहरे पर आँसूके बहनेसे जो लकीर सी बन गई उसे पोंछ लीजिये, तरकस और धनुष अपने हाथमें रखिए, और रथके भीतर रखे गये दुर्योधनादिसे छीने गये कपड़ोंकी ढेरपर जाकर बैठ जाइये जिससे लोग आपको रथी समझ सकें ॥ ५८ ॥

बधान धैर्यं वद बन्धुगोष्ठ्यामात्मानमेवारिजयस्य हेतुम् ।
मातुः पितुर्वा धुरि मन्त्रिणां वा मा तत्त्वगन्धं मम सूचयेति ॥ ५९ ॥

बधानेति । धैर्यं धीरभावम् बधान धारय, बन्धुगोष्ठ्याम् मित्रमण्डले आत्मानं स्वम् एव विजयस्य हेतुम् प्रयोजकं वद अभिधेहि मयैव रिपवो जिता इति ख्यापयेत्यर्थः । मातुः जनन्याः सुदेष्णायाः पितुर्विराटस्य मन्त्रिणां सचिवानां वा मम बृहन्नलायाः तत्त्वगन्धं यथार्थ्यलेशं मा सूचय न प्रकाशय, कस्याप्यग्रे मद्विषयकं सत्यं मा ब्रूहि, सर्वथेदं रहस्यमेवस्थापयेति भावः ॥ ५९ ॥

धैर्यधारण कीजिये, अपने मित्रोंकी मण्डलीमें यही कहा कीजिये कि मेरे ही कारण यह विजय हो सकी है, माता, पिता, अथवा मन्त्री, किसीके सामने हमारे तत्त्व-यथार्थ परिचय आदिकी चर्चा मत कीजिये, इन बातोंको बिलकुल गुप्त रखिये ॥ ५९ ॥

अथ तथेत्यभ्युपगम्य क्षतजपङ्कारुणितनेमिरेखैर्द्विषदौत्पातिकालातचक्रैरिव परिभ्रमद्भिश्चक्रैः संक्रीडता शताङ्गेन पथि गच्छन्नग्रेसरघोटकखुरपुटकुट्टनत्रुटितधरणीतलोच्चलितरजोभाराक्रमणविनम्रीकृतपद्मणापि कुरुकुलजैत्रोऽयमिति विस्मयबलविस्तारितेन चक्षुषा बृहन्नलामप्यनादृत्य मुहुर्मुहुरापिबद्भिः पौरैरनुगम्यमानोऽयमुत्तरो नलकूबर इवालकां स्वां नगरीं प्रविश्य परम्परोपमर्दनद्विगुणितबन्दिवादित्रघोषेण महता राजमार्गेणोपलक्षितः पितुः सभामभिजगाम ॥

अथ तथेति । अथ अर्जुने एवमुक्तवति सति तथा यथा भवतोक्तं तथा करिष्यामीति अभ्युपगम्य स्वीकृत्य क्षतजपङ्केन शोणितकर्दमेन अरुणिता रक्ततांगमिता नेमिरेखा चक्रान्तायाः—पट्टिका येषां तैस्तथोक्तैः द्विषतां शत्रूणाम् औत्पातिकैः उत्पातकालभवैः अलातचक्रैः उल्मुकचक्रैः इव परिभ्रमद्भिः उपर्यधश्च गच्छद्भिः चक्रैः रथाङ्गैः संक्रीडता चलता शताङ्गेन रथेन पथि गच्छन् अग्रे सरन् , अग्रेसराणां पुरोगच्छतां घोटकानाम् अश्वानाम् खुरपुटकुट्टनेन शफाग्रप्रहारेण त्रुटिता खण्डिता चूर्णीकृता या धरणी पृथिवी तस्याः तलात् उच्चलितैः उत्पतितैः

---

१. 'औत्पातिककालचक्रैः'। २. 'परिगच्छन्'। ३. 'गोघटा'। ४. 'भूत'।
५. 'कुरुभटजैत्रोऽयम्'। ६. 'कूबरोऽलकामिव स्वां पुरीम्'। ७. 'मार्गेण पितुः सभाम्'।

रजोभारैः धूलिनिकरैः आक्रमणेन उपर्यारोहणेन विनम्रीकृतपक्ष्मणा नतपक्ष्मणा अपि 'कुरुकुलजैत्रः कौरवगणविजेताऽयम्' इति हेतोः विस्मयविस्फारितेन आश्चर्यविकसितेन चक्षुषा नेत्रेण बृहन्नलाम् अग्रे स्थिताम् अपि अनादृत्य उपेक्ष्य मुहुर्मुहुः भूयो भूयः आपिबद्भिः पश्यद्भिः पौरैः नगरवासिभिः अनुगम्यमानः अनुस्रियमाणः अयम् उत्तरः विराटसुतः नलकूबरः कुबेरसुतोऽलकां तन्नामिकां नगरीं स्वामिव नगरीं मात्स्यपुरं प्रविश्य परस्परोपमर्दनेन अन्योन्यमिलनेन द्विगुणिताः द्वैगुण्यं प्राप्ताः बन्दिनां स्तुतिपाठकानां वादित्राणां वीणावेणुमृदङ्गादीनां घोषो यत्र तेन तथोक्तेन महता विशालविस्तृतेन राज्यमार्गेण उपलक्षितः पितुर्विराटस्य सभाम् आस्थानमण्डपम् अभिजगाम आगतः ॥

उत्तरने अर्जुनका कहना मान लिया, और शोणितसे रक्तवर्ण हो रहा है चक्केका लौहवेष्टन जिनका ऐसे शत्रुओंके लिये औत्पातिक अलातचक्रके समान चक्रोंके बलपर चलनेवाले रथपर मार्ग तय करते हुए—आगे चलनेवाले अश्वोंके खुरसे चूर्ण की गई पृथ्वीसे उड़ती हुई धूलि द्वारा आक्रान्त होनेके कारण नतपक्ष्म तथापि 'यही कौरवोंको जीतनेवाला है' इस आश्चर्यसे विस्तृत नयनसे बृहन्नलाकी उपेक्षाकरके बारबार देखते हुए नगरवासियोंसे अनुगम्यमान उत्तर राजकुमारने अपने पुरमें प्रवेश किया, जैसे कुबेरका बेटा नलकूबर अलकामें प्रवेश करता हो, उत्तरके स्वागतमें बन्दिगण अपने अपने बाजे बजा रहे थे, जो सभी मिलकर आवाजको दुगुनी बना रहे थे, विशाल मार्गसे आकर उत्तरने विराटसभामें पदार्पण किया ॥

तान्येव पुष्पाणि त एव धूपास्ते केतवस्ते मणितोरणाङ्काः ।
पुत्रस्य तस्यापि पुरोपचारा बभूवुरग्रे जयिनः पितुर्ये ॥ ६० ॥

तानीति । जयिनः दक्षिणभागे गोग्रहणे कृतविजयस्य पितुः विराटस्य अग्रे प्रथमं सत्काराय यानि पुष्पाणि माल्यानि, ये धूपाः, ये केतवः ध्वजाः, ये मणिमयाः रत्ननिर्मिताः तोरणाङ्काः पुरे विराटनगरे उपचाराः स्वागतसंभाराः बभूवुः, जयिनः उत्तरभागे गोग्रहणे प्रसक्ते प्राप्तविजयस्य पुत्रस्य उत्तरस्य तानि पुष्पाण्येव पुष्पाणि त एव धूपाः, त एव केतवः, त एव च मणितोरणाङ्काः पुरोपचाराः बभूवुः । सायंकाले शत्रून् विजित्यागतस्य पितुः सत्काराय ये उपचाराः माल्यधूपध्वजादयः कृतास्त एव प्रातः पुत्रस्यापि विजये उपचारत्वेनोपयुज्यन्ते स्म, कालविलम्बाभावेन नवीनायोजनस्यानावश्यकत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

साँझको विराट नगरके दक्षिणभागमें गोधनापहरण करनेके लिये आये हुए सैन्यको जीतकर जब विराट वापस आये तब उनके स्वागतमें जो माल्य, धूप, पताका, तोरण आदि सजाये गये थे, प्रातःकालमें उत्तर भागमें गोधनापहारी कौरवोंको परास्त करके आये हुए पुत्र उत्तर कुमारके लिये भी उन्हीं माल्य, धूप, ध्वज, तोरणादिका उपयोग हुआ,

बीचमें अधिक समय तो लगा नहीं था वही सामान सभी सजे सजाये थे ही, नवीन आयोजनकी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई ॥ ६० ॥

तत्रावनीन्द्रः प्रणतं कुमारमस्रैर्द्वयैरार्द्रतनुत्रमाजौ ।
दोर्भ्यां द्विषद्बन्धनखेदभाग्भ्यामपि प्रमोदाद्दृढमालिलिङ्ग ॥ ६१ ॥

तत्रेति : तत्र सभायाम् अवनीन्द्रः राजा विराटः प्रणतं चरणानतं द्वयैः द्विविधैरस्रैः पूर्वं रोदनाद् बाष्पैः पश्चाच्च शत्रुशरक्षतेन रुधिरैः आजौ युद्धे आर्द्रतनुत्रम् क्लिन्नकवचम् कुमारम् उत्तरम् प्रमोदात् आनन्दवशात् द्विषद्बन्धनखेदभाग्भ्याम् शत्रुसुशर्मकृतज्याद्वारकबन्धनसञ्जातव्यथाभ्याम् अपि दोर्भ्याम् बाहुभ्यां दृढम् आलिलिङ्ग गाढं परिपस्वजे। सभायामागत्य प्रणतं कुमारमुत्तरं पिता विराटः सुशर्मकृतबन्धनखिन्नाभ्यामपि बाहुभ्यां दृढमालिङ्ग्य पुत्रं समाजितवानिति भावः ॥

सभामें आकर उत्तरने पिताको प्रणाम किया, उसका कवच पहले आँसूसे पीछे शत्रुप्रहारजन्य रक्तसे—इस प्रकार दोनों तरहके अस्रसे गीला हो रहा था, ऐसे पुत्रको पिता विराटने अपने बाहुओंसे गाढ़ालिङ्गन करके अपना प्रेम प्रदर्शित किया, यद्यपि उनके हाथोंमें शत्रु सुशर्मा द्वारा दिये गये बन्धनसे व्यथा हो रही थी, फिर भी उन्होंने उन हाथोंसे आलिङ्गन किया ही ॥ ६१ ॥

पार्थोऽप्युपानीय रथस्य गर्भात्पार्श्वस्थितायैः पितुरुत्तरायै ।
प्रादत्त[2] पट्टांशुकमात्मसूनोः पाणिग्रहार्थं किल मन्त्रवासः ॥ ६२ ॥

पार्थोऽपीति । पार्थः अर्जुनः अपि रथस्य गर्भात् अभ्यन्तरतः पट्टांशुकं कौरवेभ्योऽपहृत्यानीतं वस्त्रम् उपानीय आदाय आत्मसूनोः स्वसुतस्याभिमन्योः पाणिग्रहार्थं विवाहाय मन्त्रवासः कन्यानिश्चयकाले देयं वस्त्रविशेषमिव पितुः विराटस्य पार्श्वस्थितायै समीपावस्थितायै उत्तरायै विराटपुत्र्यै ददौ । कन्यानिश्चयकाले श्वशुरः पितृपार्श्वस्थितायै भाविस्नुषायै वस्त्रादिकं ददातीति व्यवहारः, तदनुरोधेनेव पार्थोऽपि रथाद्वस्त्रमानीयोत्तरायै दत्तवान्यतो हि सा पार्थपुत्रस्याभिमन्योः परिणेया भवितेति भावः ॥ ६२ ॥

अर्जुनने भी रथके भीतरसे ले आकर शत्रुसे छीनकर लाया गया वस्त्र पिताके पार्श्वमें खड़ी हुई उत्तराको दिया, ऐसा लगता था मानो पार्थ अपने पुत्र अभिमन्युके विवाहके लिये कन्यानिश्चयकालिक वस्त्र दे रहे हों ॥ ६२ ॥

आचेटमन्यमखिलं पटमासुदेष्णमन्तःपुराय स विभज्य ददौ कुमारः ।
सैरन्ध्र्ये न तु मलीमसवाससेऽपि संचिन्त्य तां बहुपटप्रभवावलग्नाम् ॥ ६३ ॥

आचेटमिति । सः कुमार उत्तरः अन्यम् अर्जुनेनोत्तरायै दत्ताद्भिन्नम् अखिलं

१. 'तदा'. २. 'दिदेश'; 'व्यादत्त' । इति पा० ।

सकलं पटं वस्त्रम् आसुदेष्णम् सुदेष्णां नाम निजमातरमारभ्य आचेटं दासजन-पर्यन्तं अन्तःपुराय समस्तान्तःपुरवासिलोकाय ददौ, (सैरन्ध्रीं द्रौपदीं) तां बहुपटप्रभवं मध्यमवलग्नं यस्यास्तां बहुवस्त्रोत्पत्तिस्थानमध्यभागाम् स्वमध्य-भागाद्बहुं पटं सृष्टवतीं विचिन्त्य विभाव्य मलीमसवाससे मलिनवस्त्रायै अपि सैरन्ध्र्ये द्रौपद्यै तु न ददौ। अर्जुनेन उत्तरायै दत्ताद्वस्त्राद्भिन्नमखिलमपि वस्त्र-मुत्तरः सुदेष्णामारभ्य दासीपर्यन्तं सर्वेभ्योऽन्तःपुरस्थलोकेभ्यो वितीर्णवान्, परं नानापटोत्पादकतया प्रथितमध्यां तां विभाव्य मलिनं वासो वसानायै अपि न ददौ। काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ ६३॥

अर्जुन द्वारा उत्तराको दिये गये वस्त्रके अतिरिक्त सभी वस्त्रोंको उत्तरने अन्तःपुरमें सुदेष्णासे लेकर दासदासी तक बाँट दिया किन्तु मलिनवस्त्र पहनकर दिन बितानेवाली द्रौपदीको उत्तरने वस्त्र नहीं दिया क्योंकि उत्तरने सोचा कि द्रौपदीका मध्यभाग—कटि-प्रदेश तो खुद अगणित वस्त्र पैदा करता है इसे वस्त्र देना व्यर्थ है॥ ६३॥

विनार्जुनं पाण्डुसुतान्समाजे विस्मित्य विस्मित्य विलोकमानम्।
जिघ्रन्विराटश्चिकुरेषु सूनुं जगाद विन्यस्य निजासनार्धे॥ ६४॥

विनार्जुनमिति। समाजे सभायाम् अर्जुनं विना तद्भिन्नानित्यर्थः पाण्डुसुतान् युधिष्ठिरभीमनकुलसहदेवान् अर्जुनोक्तवेपान्तरवर्त्तिन विस्मित्य विस्मित्य कदापि पूर्वमदृष्टतया साश्चर्यं विलोकमानं पश्यन्तं सूनुं पुत्रम् विराटः निजासनार्धे विन्यस्य उपवेश्य चिकुरेषु केशेषु जिघ्रन् एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच॥ ६४॥

उस सभामें अर्जुनके अतिरिक्त युधिष्ठिर भीम नकुल सहदेव रूप पाण्डवोंको आश्चर्य के साथ देखते हुए उत्तर कुमारको अपने आसनके अर्धभागमें बैठाकर उसके बालोंको सूंघते हुए राजा विराटने उत्तरसे इस प्रकार कहा॥ ६४॥

निपात्य पार्थान्कान्तारे निःसपत्नत्वमीयुषाम्।
कण्ठेगडूंयसे वत्स! कौरवाणां त्वमेककः॥ ६५॥

निपात्येति। पार्थान् युधिष्ठिरादीन् कान्तारे वने निपात्य प्रेष्य द्यूतद्वारावनवासं प्रापय्य निःसपत्नत्वं शत्रुराहित्यम् ईयुषाम् प्राप्तवताम् कौरवाणां हे वत्स, पुत्र, त्वम् एककः एक एव कण्ठे गडूयसे गलविवररोधिकिण इवाचरसि, पार्थान् वने प्रापय्य शत्रुशून्यत्वमनुभवतां कौरवाणां त्वं केवलमतिभीषणः शत्रुर्जात इति भावः॥

युधिष्ठिरप्रभृति कुन्तीपुत्रोंको वनमें भेजकर (द्यूत द्वारा वनवास प्रदानकर) निःसपत्नताको—शत्रुशून्यत्वको प्राप्त करनेवाले कौरवोंके तुम एक मात्र कण्ठका कांटा रह गये हो, तुमही उनके एक मात्र प्रबल दुश्मन रह गये हो॥ ६५॥

---

१. 'गलूयसे'। इति पा०।

नव्यं गुरुं भुवि न मार्गितुमुत्तरायाः
संरक्ष्य सूतमपि तादृशि संप्रहारे।
जन्मर्क्षजीवदिनयोगफलं च दातुं
कन्यासु वत्स ! कथमेत्य कुरून्व्यजेष्ठाः ।। ६६ ।।

नव्यं गुरुमिति। हे वत्स, उत्तरायाः तव स्वसुः नव्यं बृहन्नलातोऽन्यं गुरुं शिक्षकं न मार्गितुं न अन्वेषयितुम्, कन्यासु उत्तराप्रभृतिबालिकासु जन्मर्क्षजीवदिनयोगफलं जननक्षत्रेण सह बृहस्पतिवासरस्य योगे लभ्यं फलम् वस्त्रप्राप्तिरूपम् च दातुं सम्पादयितुं सूतम् बृहन्नलाम् अपि संरक्ष्य प्रहारात् संरक्षितां कृत्वा संप्रहारे युद्धे एत्य आगत्य कुरून् दुर्योधनादीन् कथं व्यजेष्ठाः जितवान्। आश्चर्यजनकोऽयं तव जयः तस्मिन्युद्धे बृहन्नलारूपसारथे रक्षणं यदि त्वया न कृतं स्यात्तदा सम्प्रति उत्तराया अन्यस्य गुरोरन्वेषणं कर्त्तव्यं स्यात्, कन्याप्रार्थितं वस्त्रं च त्वयाऽऽनीतं तदिदं युद्धजयरूपं महदाश्चर्यं कथं घटितमिति प्रश्नः जन्मर्क्षजीवदिनयोर्योगे 'अध्वा भोजनमालस्यं विद्यावस्त्रं वराङ्गना। मृत्युश्चेतिक्रमाज्जन्मर्क्षादिदिनयोगितः' इति ज्यौतिषशास्त्रानुसारेण वस्त्रलाभः फलम् ॥ ६६ ॥

वत्स, यदि उस युद्धमें तुम बृहन्नलाको नहीं बचाते तो उस समय उत्तराके लिये दूसरा गुरु खोजना पड़ता, वह नहीं करना पड़ा, जन्म नक्षत्र और बृहस्पति दिनके योग द्वारा प्राप्यफल वस्त्र कन्याओंको प्राप्त हो गया, तुमने उस युद्धमें जाकर कौरवों पर किस प्रकारसे विजय पाई कि सारा काम बन गया ॥ ६६ ॥

इति प्रमोदचञ्चलेन पाणिना परामृश्य चरमाङ्गं पुनःपुनरनुयुञ्जानाय ताताय सौदेष्णेयोऽपि त्रपाप्रवाहाभिमुखमवस्थातुमपारयन्निव विवलित-कंधरो गिरमेवं विज्ञापयामास,—

इति प्रमोदेति। इति एवं प्रमोदचञ्चलेन हर्षातिशयवशात् कम्पमानेन पाणिना चरमाङ्गं शिरः परामृश्य स्पृष्ट्वा पुनः पुनः अनुयुञ्जानाय पृच्छते ताताय पित्रे सौदेष्णेयः सुदेष्णायाः पुत्रः उत्तरः अपि त्रपाप्रवाहाभिमुखम् लज्जाधारासमक्षम् अवस्थातुम् स्थातुम् अपारयन् अशक्नुवन् इव विवलितकन्धरः वक्रीकृतग्रीवः एवं वक्ष्यमाण लक्षणां गिरं वाचम् आददे उक्तवान् ॥

इस प्रकार हर्षाधिक्यवश काँपते हुए हाथसे सिर सहलाते हुए पिता विराट द्वारा बारबार पूछे जानेपर लज्जाप्रवाहके सामने ठहरनेमें असमर्थ सा होकर उत्तरने सिर झुकाकर इस प्रकारके वचन कहे ॥

रोदःप्रसारि ध्वनितं मया चक्रे धुरि द्विषाम्।

---

१ 'तत्र'। २. 'विनम्रीभूत'। इति पा०।

यावान्मे वेगसंनाहस्तावांस्तत्र प्रदर्शितः ॥ ६७ ॥

रोदःप्रसारीति । मया उत्तरेण द्विषां धुरि शत्रूणामग्रतः रोदःप्रसारि दिवि भुवि च व्याप्तं ध्वनितं सिंहनादः भयेन रुदितं वा चक्रे कृतम् । मे मम यावान् वेगसंनाहः पलायनशक्तिः पराक्रमप्रदर्शनसामर्थ्यं च तत्र युद्धे तावान् वेगसंनाहः वेगेनाक्रमणं पलायनं च कृतो मया विहितः । तदिह श्लेषद्वारा वस्तुवृत्तं स्वसामर्थ्यं च प्रकटीकृतम्, एकं वाच्यम् अपरं व्यङ्ग्यम् ॥ ६७ ॥

मैंने शत्रुओंके सामने आकाश और पृथिवीपर. फैल जानेवाला सिंहनाद किया, या ध्वनित-रोदन किया, और मुझमें वेगसे आक्रमण करनेकी जितनी शक्ति थी, या वेगसे भागनेकी जितनी शक्ति थी, उतनी शक्ति मैंने प्रदर्शित की ॥ ६७ ॥

अहमेको रणे तस्मिन्नपरैरननुष्ठिताम् ।
रथिसारथिपत्तित्वे रचयामि स्म कर्तृताम् ॥ ६८ ॥

अहमेक इति । एकः सहायान्तरनिरपेक्षः अहम् उत्तरः अपरैः अन्यवीरैः अननुष्ठिताम् सामर्थ्याभावेन अकृताम्, रथित्वे स्यन्दनवर्त्तित्वे सारथित्वे सूतभावे, पत्तित्वे पदातित्वे च कर्तृतां रचयामि स्म विहितवान् । एक एवाहं दुष्करां रथितां सारथ्यं पादातसैन्यकार्यं चानुष्ठितवानित्यर्थः । व्यङ्ग्यार्थस्तु अहमेक एव अपरैः अननुष्ठिताम् अनुचितत्वात् अनाचरिताम् पुरान्निर्गमसमये रथितां युद्धे सारथितां भयात्पलायनसमये पदातितां चावलम्बितवानिति भावः ॥ ६८ ॥

उस युद्धमें मैंने अकेले ही दूसरों द्वारा असाध्य रथी सारथी तथा पदाति सेनाका काम किया, मैं ही उस युद्धमें गांवसे जानेके समय रथपर था, युद्धमें सारथिका कार्य मैंने ही किया, और भयसे भागनेके समय मैं ही पैदल भागा, इस प्रकार मैंने वह कार्य किया जिसे कोई बहादुर आदमी कभी नहीं कर सकता है ॥ ६८ ॥

देव ! किं बहुना,—

अपार्थं कर्म मे नासीदाहवे यदरातिषु ।
पुरो विजयमाधाय पुनरागां पुरीमिमाम् ॥ ६९ ॥

अपार्थमिति । देव, बहुना उक्तेन किं बहुकथनेन नास्ति फलमित्यर्थः, यत् यतः आहवे युद्धे अरातिषु शत्रुषु विषये मे मम कर्म युद्धम् अपार्थं व्यर्थम् अर्जुनरहितं च नासीत्, तस्मात् पुरः अग्रे विजयम् जयम् आधाय कृत्वा पुनः भूयः इमां पुरीम् आगाम् आयातः, अर्जुनं पुरस्कृत्य गृहमागत इति च ॥ ६९ ॥

महाराज, अधिक क्या कहा जाय, युद्धमें हमारा कर्म शत्रुओंपर अपार्थ व्यर्थ नहीं

---

१. 'आदाय'। २. 'रागामिमां पुरीम्'। इति पा०।

गया, युद्धमें मैंने अर्जुनके विना कुछ नहीं किया, फिर विजयको आगे करके अपनी नगरी लौट आया, अर्जुनको आगे रखकर मैं लौट आया ॥ ६९ ॥

इति तादृशीं तस्य वचनचातुरीं निशम्य[1] दुरोदरविहारप्रहारवेदनाम-प्यविगणय्य तरलितेन शिरसा श्लाघमाने यतीन्द्रे वासरविरामशंसिनं यामशङ्खरवमाकर्ण्य यथोचितं सभास्तारान्विसृज्य मेदिनीपतिर्मोदेन सुदेष्णाप्रासादमाससाद ॥

इति तादृशीमिति। इति एवं तादृशीम् उक्तप्रकाराम् तस्य उत्तरस्य वचनचातुरीम् वाक्पटुताम् (शब्दैक्येपि वाच्यव्यङ्ग्यार्थभेदेन सत्यासत्ये वस्तुनी प्रकाशयन्तीम्) निशम्य श्रुत्वा (यदोत्तरो युद्धान्निवृत्तस्तदा युधिष्ठिरो बृहन्नलापराक्रममेव प्रशंसितवान् , नोत्तरं, तस्य तादृशं धाष्टर्यमसहमानो विराटः पाशकेन युधिष्ठिरं शिरसि प्राहरदिति कथा) दुरोदरविहारप्रहारेण द्यूतक्रीडासमये विराटद्वारा शिरसि कृतेन पाशकप्रहारेण या वेदना पीडा ताम् अपि अविगणय्य अनादृत्य प्रहारक्षते शिरसि कम्प्यमाने पीडा वर्धिष्यत इति कष्टमपि विस्मृत्य तरलितेन चंचलीकृतेन शिरसा मस्तकेन यतीन्द्रे कङ्कसंन्यासिनि युधिष्ठिरे श्लाघमाने प्रशंसापरे सति (युधिष्ठिरोऽर्जुनपराक्रमख्यापकमुत्तरोक्तं वचनं कम्पमानेन शिरसा प्रशशंस) वासरविरामशंसिनं दिवसावसानसूचकं यामशङ्खरवं प्रहरान्तेषु क्रियमाणं शङ्खध्वनिम् आकर्ण्य यथोचितं समुचितक्रमेण सभास्तारान् सभासद्गणान् विसृज्य गमनायानुमन्य मेदिनीपतिर्विराटः मोदेन प्रसन्नभावेन सुदेष्णाप्रासादं राज्ञीभवनम् आससाद प्राप्तवान् ॥

इस प्रकार कही गई उत्तरकी बातें सुनकर द्यूतक्रीड़ा समयमें किये गये प्रहारके कष्टको भी भूलकर कङ्क संन्यासी युधिष्ठिरने सिर हिलाकरके उत्तरकी तारीफ की। उसी समय दिनकी समाप्तिकी सूचना देनेवाला प्रहरान्तमें होनेवाला घण्टानाद सुनकर यथोचित रीतिसे सभी सभासदोंको विदा करके राजा विराट प्रसन्न मनसे सुदेष्णाके महलमें पहुँचे ॥

सुतावलोकेन नरेन्द्रसुभ्रुवश्च्युताखिलाश्रुष्वपि सोदरात्ययात् ।
विलोचनाङ्गेष्वतिवृष्टिसंपदे विभाण्डकापत्यविजृम्भणायितम् ॥ ७० ॥

सुतावलोकेनेति। सुतावलोकेन पुत्रदर्शनेन नरेन्द्रसुभ्रुवः सुदेष्णायाः सोदरात्ययात् , सोदरभ्रातॄणां कीचकानां विनाशात् च्युतानि गलितानि अखिलानि समस्तान्यश्रूणि वाष्पाणि येभ्यस्तादृशेषु अपि विलोचनाङ्गेषु नेत्ररूपशरीरावयवेषु अङ्गदेशेषु च विभाण्डकापत्यविजृम्भणायितम् ऋष्यश्रृङ्गमुनिवदाचरितम्। यथापूर्वमङ्गदेशे अवृष्टौ सत्याम् ऋष्यश्रृङ्गमुनेरागमनेनातिवृष्टिरासीत्तथैव भ्रातृमरणेऽति-

---

१. 'आकर्ण्य'। २. 'दुरोदरप्रहार'। इति पा०।

बाष्पपातेन शुष्केष्वपि सुदेष्णानेत्रेषु पुत्रदर्शनेनानन्दाश्रुप्रवाहः प्रादुरासीदित्यर्थः। हेतूपमयोः सङ्करोऽलङ्कारः॥ ७०॥

सुदेष्णा भाई कीचकोंके मरनेपर इतना रोई थी कि उसके आँसू समाप्त हो गये थे, तथापि पुत्रको देखनेपर उसके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु निकल आये, जैसे अङ्गदेशमें जब सूखा पड़ा था, तब विभाण्डक ऋषिके पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग मुनिको देखकर अतिवृष्टि हो आई थी, पुत्रका देखना सुदेष्णाकी आँखोंरूप अङ्गोंके लिये विभाण्डक मुनिका आना बन गया॥

अन्येद्युरात्मजमुखादमीषां याथार्थ्य[1]मवगम्य चकितच[2]कितः कुटुम्बेन सह सचिवान्पुरस्कृत्य सभामागतो विराटो नामान्तरसंनिधानादिव हाय-नमेकमनुपसर्पद्भिः[3] स्वैः स्वैर्वेषैः प्र[4]कृतिमापन्नेन सोदर्यजनेन समुपास्य-मानस्य युधिष्ठिरस्य चरणनलिनयोः पलितंभावुकेन मौलिना मरालयु-वकेलिमुल्ललयांचकार॥

अन्येद्युरिति। अन्येद्युः परस्मिन् वासरे आत्मजमुखात् उत्तरकथनात् अमीषां कङ्कवललबृहन्नलाश्वाध्यक्षगोपाध्यक्षाणां याथार्थ्यम् वास्तविकपरिचयम् पाण्डव-स्वोपस्कृतं क्रमशो युधिष्ठिरभीमार्जुननकुलसहदेवस्वरूपम् अवगम्य विज्ञाय चकि-तचकितः अतिविस्मितः कुटुम्बेन परिवारजनेन सह सचिवान् मन्त्रिणः पुरस्कृत्य समीपे आदाय सभाम् आस्थानभवनम् आगतः आयातो विराटः नामान्तर-सन्निधानात् कङ्कवललादिनामान्तरधारणात् इव हायनम् वर्षम् एकम् अनुप-सर्पद्भिः परस्परममिलद्भिः स्वैः स्वैर्वेषैः यथोचितस्वस्वरूपैः सोदर्यजनेन भ्रातृ-वर्गेण समुपास्यमानस्य आराध्यमानस्य युधिष्ठिरस्य चरणनलिनयोः पादकमलयोः पलितं भावुकेन वार्धक्यवशात् श्वेतीभूतेन सितकेशेन मौलिना शिरसा मराल-युवकेलिम् युवहंसव्यापारम् उल्ललयाञ्चकार धारयामास यथा युवा मरालः कमल-समीपे विहरति तथैव स्वं श्वेतकेशं शिरो विराटो युधिष्ठिरस्य चरणयोर्न्यस्तवा-निति भावः। मरालः श्वेतो मौलिरपीति सुबोधं सादृश्यम्॥

दूसरे दिन उत्तरके मुंहसे इन कङ्क, वलल, बृहन्नला आदिका यथार्थ परिचय प्राप्त करके आश्चर्यित होकर अपने परिवारके और मन्त्रियोंके साथ विराट सभास्थानमें आये, नामान्तर ग्रहण करनेके कारण वर्ष दिन तक एक दूसरेसे पृथक् रहकर आज अपने अपने यथार्थरूप वेषमें प्रकट हुए सोदर भाइयोंसे उपासित युधिष्ठिरके चरण कमलोंपर जराश्वेत अपने मस्तकको हंसयुवककी लीला धारण करवाया। जैसे हंसयुवा कमलपर लोटा करता है उसी तरह विराटने अपने बुढ़ापेके कारण श्वेत मस्तकको युधिष्ठिरके चरणोंपर डाल दिया, श्वेतकेशमस्तक और श्वेत हंसकी तुलना है॥

---

१. 'याथात्म्यम्'। २. 'चकितम्'। ३. 'मेकैकमनुसर्पद्भिः'। ४. 'प्रत्यासन्नेन'। इति पा०।

तदा नुनोद स्मितपाण्डुरिम्णा तपःसुतोऽक्षक्षतिहेतुमुग्रम् ।
महेन्द्रसूनोर्दृशि शोणिमानं मात्स्यस्य चित्तेऽपि च नीलिमानम् ॥७१॥

तदानुनोदेति । तदा विराटे चरणप्रणते सति तपःसुतो धर्मराजः स्मितपाण्डुरिम्णा हासस्य धवलतया अक्षक्षतिहेतुम् पाशप्रहारकृतव्रणहेतुकम् । (युधिष्ठिरस्य मस्तके विराटेन पाशद्वाराप्रहारः कृतस्तत्कृतम्) महेन्द्रसूनोः अर्जुनस्य दृशिनेत्रे शोणिमानं रक्तत्वम्, मास्यस्य विराटस्य चित्ते हृदये नीलिमानं भयान्धत्वरूपं मालिन्यं नुनोद दूरमपसारयामास । विराटे चरणप्रणते सति हसन् धर्मराजः स्वमनो नीरागत्वव्यञ्जनेनार्जुनस्यकोपं विराटस्य भीतिकृतं मनोमालिन्यं च दूरीचकारेत्यर्थः ॥ अत्रार्जुनविराटाभ्यां धर्मराजस्मितधावल्येन तदन्तःप्रसादानुमानादनुमानाऽलङ्कारः । पाण्डुरिम्णाऽर्जुननेत्ररक्तत्वविराटचित्तनीलिम्नोर्धावल्यप्रापणोक्त्यातद्गुणश्चतयोश्चाङ्गाङ्गिभावसङ्करः ॥ ७१ ॥

विराटके चरणानत होनेपर हासकी धवलता फैलाकर युधिष्ठिरने अर्जुननेत्रोंमें वर्तमान विराट द्वारा युधिष्ठिरके मस्तकपर पाशके द्वारा किये गये प्रहारसे उत्पन्न कोपजन्य लाली तथा विराटके हृदयमें अवस्थित भीतिजन्य कालिमाको दूर कर दिया । युधिष्ठिरकी हँसीसे उनके हृदयकी प्रसन्नताका अनुमान करके अर्जुनने अपना कोप तथा विराटने भय त्याग कर दिया ॥ ७१ ॥

मात्स्यस्ततः प्रमुदितो महितेऽह्नि कन्यां शौरौ समेयुषि सहाखिलबन्धुवर्गैः ।
मृद्वीं शिरीषकुसुमादपि पार्थसूनोः सीमाशिलामतनुत प्रथमाश्रमस्य ॥७२॥

मात्स्य इति । ततः तदनन्तरं प्रमुदितो युधिष्ठिरप्रसादज्ञानेन हृष्टः मात्स्यो मत्स्यदेशाधिपतिर्विराटः महिते चन्द्रतारादिगुणसम्पदुपेतेऽह्नि क्वचनवासरे अखिलबन्धुवर्गैः समस्तबान्धवैः सह शौरौ श्रीकृष्णे समेयुषि समायाते सति शिरीषकुसुमात् शिरीषपुष्पापेक्षयापि मृद्वीं सुकुमारीं कन्यां स्वां दुहीतरमुत्तराम् । पार्थसूनोः अभिमन्युनाम्नोऽर्जुनसुतस्य प्रथमाश्रमस्य ब्रह्मचर्यस्य सीमाशिलाम् अवसानसूचकदृपदम् अतनुत, विवाहावधितया ब्रह्मचर्यस्याभिमन्यवे विराटेन कन्यादानं क्रियमाणं ब्रह्मचर्याश्रमसमापनशिलाभावेन वर्ण्यते, अभिमन्यवे पत्नीरूपेण विराटः स्वां कन्यां दत्तवानिति भावः । अत्र पत्नीत्वस्य ब्रह्मचर्याश्रमसमाप्तिशिलात्वेन निवेदनात् पर्यायोक्तमलङ्कारः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शुभ समयमें बन्धुबान्धवोंके साथ श्रीकृष्णके आ जानेपर योग्य.के लाभसे प्रसन्न राजा विराटने शिरीष पुष्पसे भी अधिक सुकुमारी अपनी कन्या उत्तराको अर्जुनके पुत्र अभिमन्युकी ब्रह्मचर्यावस्थाकी अवसान सीमा-शिला बनाया, अभिमन्युको स्त्रीरूपमें उत्तरा नामक अपनी सुकुमारी कन्या दी ॥ ७२ ॥

तथोपचारं विदधे सुदेष्णाजानिः स पार्थेषु समाधवेषु ।

तमेव गान्धारपतिं यथा ते जानीयुरत्यन्तकृतोपकारम् ॥ ७३ ॥

तथोपचारमिति । सः सुदेष्णा जाया यस्य स सुदेष्णाजानिः विराटः समाधवेषु कृष्णसहितेषु पार्थेषु युधिष्ठिरादिषु तथा तादृशम् उपचारं स्वागतसंभारं चक्रे, यथा ते पार्थाः गान्धारपतिं शकुनिम् अत्यन्तकृतोपकारम् वनवासप्रदापनविधयात्यन्तमुपकर्त्तारम् (वनवासे जात एव विराटेन संबन्धः स्थापितोमी उपचाराश्च प्राप्ताः, तेन शकुनिरुपकारमेव कृतवानिति) एव जानीयुः अवगच्छेयुः । शकुन्यपकारस्य गुणत्वेन वर्णनाल्लेशो नामाऽलङ्कारः ॥ ७३ ॥

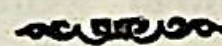
सुदेष्णापति राजा विराटने माधवके साथ पाण्डवोंका ऐसा स्वागत-सत्कार किया कि पाण्डवगण शकुनिको अत्यन्त उपकारकर्त्ता मानने लगे, यदि शकुनिने जुएमें हराकर राज्यच्युत नहीं किया होता तो आज ऐसा सत्कार कैसे मिलता ? ऐसा सोचकर पाण्डवों ने शकुनिको उपकर्त्ता ही स्थिर किया ॥ ७३ ॥

अथोल्लास्य कुरूनेतान्हरिर्मात्स्यपुराद्ययौ ।
मन्दारप्रमुखान्कल्पान्वसन्त इव नन्दनात् ॥ ७४ ॥
इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते सप्तमः स्तबकः ।

अथोल्लास्येति । अथ विराटकृतस्वागतसत्कारग्रहणानन्तरं हरिः श्रीकृष्णः एतान् पाण्डवान् उल्लास्य पुत्रविवाहे सम्मिलनेन बान्धवत्वज्ञापनात्संतोष्य मन्दारप्रमुखान् मन्दारप्रभृतीन् कल्पान् सुरद्रुमान् उल्लास्य विकास्य वसन्तः मधुमासो नन्दनात् इन्द्रकाननात् इव मात्स्यपुरात् विराटनगरात् ययौ प्रस्थितः । यथा सुरतरून् विकास्य वसन्तो नन्दनवनात् प्रतिष्ठेत तथा श्रीकृष्णः पाण्डवांस्तोपयित्वा मात्स्यपुरात्प्रस्थितवानित्युपमाऽलङ्कारः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार विराट के स्वागतको स्वीकार करके श्रीकृष्ण विराट नगरसे चले गये, जैसे मन्दार आदि देववृक्षोंको विकासित करके वसन्त नन्दन वनसे चला जाता है ॥ ७४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत 'प्रकाशे'
सप्तमस्तबक'प्रकाशः' ॥



१. 'वृक्षान्' । इति पा० ।

अष्टमः स्तबकः

तावत्पाण्डुसुतेन कौतुकवता कर्तुं प्रकोष्ठाङ्गणे
ज्यामेकां युधि नर्तकीं भुजभुवि स्थास्नुं चिरस्यापराम् ।
आहूताः क्षितिपा विराटनगरीं सैन्यद्विपैरुन्मदैः
प्रावृड्वासरसंचया इव घनैः प्रापुर्महाद्रेस्तटीम् ॥ १ ॥

तावदिति । तावत् तस्मिन्समये प्रकोष्ठाङ्गणे हस्ताग्रभागविशेषे एकां ज्यां धनुषः प्रत्यञ्चां युधि नर्त्तकीं युद्धक्षेत्रे नमनबाणमोचनादिकर्मणा चपलां कर्त्तुं तथा अपरां द्वितीयां ज्यां पृथिवीं भुजभुवि बाहुरूपे स्थाने चिरस्य बहोः कालस्य कृते स्थास्नुं स्थिरां च कर्त्तुं कौतुकवता उत्कण्ठाशालिना पाण्डुसुतेन धर्मराजेन आहूताः दूतादिद्वारा आकारिताः क्षितिपाः ते ते राजानः उन्मदैः मदस्राविभिः सैन्यद्विपैः सेनागजैः प्रावृड्वासरसञ्चयाः वर्षर्त्तुदिवससमुदयाः घनैः मेघैः अद्रेस्तटीम् पर्वतभुवम् इव प्रापुः प्राप्तवन्तः । यथा मेघदिवसा मेघैः सह पर्वतभुवमागच्छन्ति तथैव युद्धेन भुवमधीनां कर्त्तुं युधिष्ठिरेणाहूता राजानः मत्तैर्गजैः सह विराटनगरीमागमन्निति भावः । 'प्रकोष्ठः कूर्परादधः' इति बाह्ववयवपर्यायेष्वमरः, 'ज्या मौर्वीमातृभूमिषु' इति विश्वः, उपमाऽलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

उस समय अपने हाथके आगे धनुषकी प्रत्यञ्चाको युद्धमें नचानेको तथा हाथमें पृथ्वीका स्थायी निवास करानेके लिये उत्कण्ठित युधिष्ठिर द्वारा बुलाये गये राजागण मतवाले हाथियों पर चढ़कर विराटकी नगरीमें पधारे जैसे बरसातके दिन मेघोंके साथ पर्वतपर पधारते हैं ॥ १ ॥

सेनानां यावतीः पार्थो युद्धायाक्षौहिणीर्दधौ ।
धार्तराष्ट्रश्चतसृभिस्तावतीरधिकाः पुनः ॥ २ ॥

सेनानामिति । पार्थः युधिष्ठिरः युद्धाय युद्धं कर्त्तुं यावतीः यत्संख्याकाः सेनानां पादातरथ्यादीनां सैनिकानाम् अक्षौहिणीः दधौ संगृहीतवान् धार्त्तराष्ट्रः दुर्योधनः पुनः चतसृभिः अधिकाः तावतीः अक्षौहिणीः दधौ । युधिष्ठिरः सप्ताक्षौहिणीस्तथा दुर्योधन एकादशाक्षौहिणीः सेनाः संगृहीतवानिति परमार्थः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने युद्धके लिये जितनी सेनाकी अक्षौहिणियाँ इकट्ठी कीं, दुर्योधनने उससे चार अक्षौहिणी अधिक सेना इकट्ठी की, युधिष्ठिरकी सेनाकी संख्या सात अक्षौहिणी तथा दुर्योधनकी सेनाकी संख्या उससे चार अक्षौहिणी अधिक—अर्थात् ग्यारह अक्षौहिणी थी ॥ २ ॥

उक्ताध्ववृत्तान्तमुवाच शल्यं पार्थस्ततो भानुसुतस्य युद्धे ।
आक्षेपवाचा हृदयं वितक्षन्नन्वर्थतामाचर मातुलेति ॥ ३ ॥

उक्ताध्ववृत्तान्तमिति। ततः उभयोः सेनासंग्रहानन्तरम् पार्थः धर्मराजः उक्ताध्ववृत्तान्तम् मार्गवृत्तं कथितवन्तम् शल्यं नाम माद्रीभ्रातरं युद्धे भाविनि रणे—मातुल, आक्षेपवाचा धिक्कारवचसा भानुसुतस्य कर्णस्य हृदयं मर्म वितन्वन् भिन्दन् अन्वर्थतां अर्थानुसारिनामत्वम् आचर इति उवाच, युद्धाय निमन्त्र्यमाणः पथ्यागच्छन् शल्यो नाम माद्रीभ्राता दुर्योधनेन सत्कृतः सन् दुर्योधनस्य सहायतां कर्त्तुं प्रतिज्ञातवानिति मार्गवृत्तं कथितवते शल्याय युधिष्ठिर उक्तवान् यत् हे मातुल, त्वम् यथाप्रतिज्ञं दुर्योधनस्य सहायतां कुरुष्व मम न तत्र किञ्चित् कथनीयं परं कर्णस्य हृदयं कटुवाग्भिर्विभिन्दन् सन् स्वं शल्यं प्रमापय, शल्यं भेदनाय भवति, त्वमपि कटुवाचा कर्णस्य मर्म भित्वा निजं नाम सार्थकीकुरुष्वेति भावः। 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इति अमरः॥ ३॥

जब दोनोंने सेनाएँ इकट्ठी कर लीं तब युद्धमें दुर्योधन की सहायता करनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले माद्रीभ्राता शल्यसे धर्मराजने कहा कि मामा! आप युद्धके समय निन्दावाचक शब्दोंसे कर्णका हृदय विक्षत करते हुए अपने नामको अन्वर्थ करें। शल्य–एक आयुध-विशेष–का कार्य होता है किसी स्थानको क्षत विक्षत करना॥ ३॥

अथ भागिनेयेषु वत्सलतया[1] सत्यसंगरस्तथेति प्रतिश्रुत्य—

अथेति। अथ युधिष्ठिरे तथा कथयति सति भागिनेयेषु भगिनीपुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु वत्सलतया प्रेम्णा सत्यसंगरः अवितथव्याहारी शल्यः तथा—दुर्योधनपक्षगतोऽप्यहं कर्णस्य हृदयं कटुवाग्भिर्भेत्स्यामि इति प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय, दुर्योधनान्तिकं ययाविति वक्ष्यमाणेन संबन्धः।

युधिष्ठिरके उस तरह कहनेपर भागिनेयोंपर प्रेम रखनेवाले शल्यने कटुवचनों द्वारा कर्णके हृदयका भेदन करना स्वीकार कर लिया, फिर वह दुर्योधनके समीप गया॥

भद्राय तव मां विद्धि निद्रामुचमिति ब्रुवन्।
मद्राधिपो ययौ पार्थात्स द्राग्दुर्योधनान्तिकम्॥ ४॥

भद्रायेति। हे पार्थ युधिष्ठिर त्वं तव भद्राय स्वकल्याणाय मां शल्यं निद्रामुचं सदा जागरूकम् विद्धि जानीहि इति एवं ब्रुवन् अभिदधानः मद्राधिपः शल्यः द्राक् शीघ्रं पार्थात् युधिष्ठिरसमीपात् दुर्योधनान्तिकं दुर्योधनसमीपं ययौ गतवान्। लाटानुप्रासः स्फुटः॥ ४॥

हे धर्मराज, आप मुझे सदा अपनी भलाई करनेके लिये जागरूक समझियेगा, ऐसा कहकर मद्राधिप शल्य युधिष्ठिरके पाससे चलकर दुर्योधनके पास गया॥ ४॥

तदनन्तरम्[2],—

साह्याय युद्धे सरसीरुहाक्षं वरीतुकामस्य[3] बलारिसूनुः।

---

१. 'भागिनेयवत्सलतया'। २. 'ततः'। ३. 'कामो बलवैरिसूनुः'। इति पा०।

अजातशत्रोरवतंसयन्गां तुङ्गध्वजां द्वारवतीमयासीत् ॥ ५ ॥

साह्ययेति। तदनन्तरं शल्ये कृतकर्णकटुभाषणप्रतिज्ञे गते सति बलारिसूनुः इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः सरसीरुहाक्षं कमलनयनं श्रीकृष्णं युद्धे साह्याय सहायतायै वरीतुकामस्य स्वपक्षगतं चिकीर्षोः अजातशत्रोः युधिष्ठिरस्य गाम् वाचम् आज्ञाम् अवतंसयन् शिरसो भूषणतां प्रापयन् शिरसा बिभ्राणः सन् तुङ्गध्वजां प्रोन्नतपताकां द्वारवतीं नाम कृष्णपुरमयासीत्। कृष्णं युद्धे सहायकतया वरीतुं युधिष्ठिरेणाज्ञप्तोऽर्जुनो द्वारकां प्रतस्थे इति भावः ॥ ५ ॥

शल्यके चले जानेपर युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा कि वे द्वारका जाकर श्रीकृष्णको युद्धमें सहायक बनने को कहें, उनकी इस आज्ञाको मस्तकालङ्कार बनाकर सिरपर रखकर अर्जुनने ऊँची पताकासे युक्त द्वारकापुरीके लिये प्रस्थान किया ॥ ५ ॥

तत्र चिरदृष्टस्य[1] कुरुकुञ्जरस्य कुञ्जरकुमारकोमलचंक्रमविलासस्य तस्य विलोकनाय [2]वीथीषु जनाः संघीबभूवुः ।

तत्रेति। तत्र द्वारकापुर्याम् चिरदृष्टस्य बहोः कालाद्वीक्षितस्य कुरुकुञ्जरस्य कुरुश्रेष्ठस्यार्जुनस्य कुञ्जरकुमारो गजयुवा तस्येव कोमलः अनुद्विग्नः चंक्रमविलासो गतिलीला यस्य तथोक्तस्य गजकुमारसन्दगतेः तस्यार्जुनस्य विलोकनाय दर्शनाय जनाः द्वारकापुरवासिलोकाः वीथीषु नगरमार्गेषु सङ्घीबभूवुः समवेता बभूवुः ॥

द्वारकापुरीमें बहुत दिनोंके बाद देखे गये, कुरुवंशप्रदीप तथा गजकुमारकी तरह मन्दगतिसे चलनेवाले उस अर्जुनको देखनेके लिये गलियोंमें लोग इकट्ठे हो गये ॥

हेतुं सुभद्राहरणे तदीयां यतित्वशुद्धिं[3] हृदि कुर्वतीनाम् ।
गवाक्षमार्गैः कृतवीक्षणानां स्त्रीणां मुखेन्दोः स्मितचन्द्रिकाभूत् ॥ ६ ॥

हेतुमिति। सुभद्राहरणे हेतुं कारणतया गृहीतां तदीयाम् अर्जुनसम्बन्धिनीं यतित्वशुद्धिं परिव्राजकनैर्मल्यं (विपरीतलक्षणया) कपटयतितां हृदि कुर्वतीनां विभावयताम् गवाक्षमार्गैः गवाक्षजालैः कृतवीक्षणानां पार्थं पश्यन्तीनां स्त्रीणां द्वारकापुरवनितानां मुखेन्दोः चन्द्रसदृशात् मुखात् स्मितचन्द्रिका हासरूपा कौमुदी अभूत् प्रकटीबभूव, अयमेवार्जुनोऽसौ यः कपटयतित्वमास्थाय सुभद्रामहरत् इति मनसि विभावयन्त्यः गवाक्षमार्गादर्जुनं पश्यन्त्यश्च द्वारकापुरनार्यः सहासमुखा अजायन्तेति भावः। अत्रार्जुनसन्न्यासस्मरणतदवलोकनयोः स्मितहेतुतयोपादानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः, 'स्मितचन्द्रिका' 'मुखेन्दो'रिति परम्परितरूपकेण सङ्कीर्यते ॥

कपटसंन्यासी बनकर अर्जुनने सुभद्राका हरण किया था, अर्जुनका कपटसंन्यास

---

१. 'चिरदृष्टस्य कुञ्जरकुमार'। २. 'वीथीवीथीषु'; 'वीथीषु वीथीषु'।
३. 'बुद्धिम्'। इति पा०।

सुभद्राके हरणका कारण बना था, इस बातको याद करनेवाली तथा खिड़कियोंसे अर्जुनको देखती हुई द्वारकापुरवासिनी रमणियोंके मुखरूप चन्द्रमासे हासरूप चन्द्रिका प्रकट होने लगी–सभी स्त्रियाँ मुस्कुराने लगीं ॥ ६ ॥

दौवारिकैस्तत्र स दत्तमार्गो निद्रायमाणस्य निकेतमध्ये ।
शौरेरुपायाच्चरणोपधानं तरस्यन्दिसिन्धुच्युतकूर्मशोभम् ॥ ७ ॥

दौवारिकैरिति । तत्र तस्मिन्समये दौवारिकैः द्वारपालैः दत्तमार्गः अन्तःप्रवेष्टुमनुमतः सः अर्जुन निकेतमध्ये शयनकक्षमध्यभागे निद्रायमाणस्य स्वपतः शौरेः श्रीकृष्णस्य चरणोपधानं पादस्थाने स्थायिनमुपबर्हं तरस्यन्दी भगवत्पादप्रवाही सिन्धुर्नदी गङ्गा ततः च्युतस्य निर्गत्यागतस्य कूर्मस्य कमठस्य शोभेव शोभा यस्य तत् तथोक्तं गङ्गाप्रवाहनिर्गतकूर्मसदृशं भगवच्चरणोपधानम् उपायात् उपगतः, अर्जुनः शयानस्य भगवतः पाददेशे गत्वोपविष्टः भगवतः पादयोरधोवर्त्तमानमुपधानं गङ्गानिर्गतकूर्मसदृशं स्वच्छवर्त्तुलं प्रतीयते स्मेति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ७ ॥

दौवारिकों द्वारा मार्ग दिखलाये जानेपर अर्जुन उस शयनकक्षके भीतर पहुँचे जहाँपर भगवान् सोये हुए थे, उनके पैरोंके नीचे रखे हुए तकियेके पास जाकर अर्जुन बैठ गये, वह गोल तथा स्वच्छ तकिया ऐसा लगता था मानो भगवान्के चरणोंसे निकली गङ्गानदीका एक कछुआ निकलकर यहाँ आ गया हो, 'विष्णोः पादप्रसूतासि' के अनुसार गङ्गा भगवान्के चरणसे निकली नदी कही जाती है ॥ ७ ॥

यस्याधिमौलिसविधे प्रथमं समेत्य तिष्ठन्कुरूद्वहसुतो युधि साह्यमर्थी ।
रेजे परीक्षितुमिवोत्सुकतां दधानस्तत्कुन्तले निजमनस्यपि वक्रिमाणम् ॥८॥

यस्येति । युधि भाविनि संग्रामे साह्यं साहायकम् अर्थी याचिष्यमाणः (अतश्च) प्रथमम् अर्जुनागमनात् पूर्वम् एव समेत्य यस्य श्रीकृष्णस्य अधिमौलिसविधम् शिरोदेशसमीपे तिष्ठन् उपविष्टः कुरूद्वहसुतः कुरुराजपुत्रो दुर्योधनः निजे मनसि हृदये तस्य श्रीकृष्णस्य कुन्तले कचेऽपि (द्वयोः) वक्रिमाणं कौटिल्यं परीक्षितुं कतमदधिकमिति ज्ञातुम् उत्सुकताम् औत्कण्ठ्यं दधान इव रेजे बभौ । अयमेतदाशयः—अर्जुनागमनात्पूर्वमेव दुर्योधनः कृष्णं युद्धे साहायकं याचितुमागत्य तच्छिरोभागे स्थितः, तत्र स्थितोऽसौ भगवत्कचकौटिल्यस्वमनःकौटिल्ययोस्तारतम्यं परीक्षितुकाम इव प्रतीयतेस्मेति । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । 'साह्यम्' इत्यत्र कृद्योगे प्राप्ता षष्ठी 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषिद्धा ॥ ८ ॥

अर्जुनके आनेसे पहिले ही दुर्योधन युद्धमें सहायता मांगनेके लिये श्रीकृष्णके पास

---

१. 'तद्गर्भे' । इति पा० ।

गया, और वह भगवान्‌के शिरके पास जाकर बैठ गया, वहाँपर बैठा हुआ दुर्योधन ऐसा लगता था मानो वह भगवान्‌के केशमें और अपने हृदयमें वर्त्तमान कुटिलताके तारतम्य की परीक्षा करनेके लिये उत्सुक हो ॥ ८ ॥

निमीलनालिङ्गितनेत्रयुग्मो निष्पन्ददेहो नितरां बभौ यः ।
स्वध्यानशैलीसुखमास्थितानां तपस्विनां सङ्घमिवानुकुर्वन् ॥ ९ ॥

निमीलनेति । निमीलनेन मुद्रणेन आलिङ्गितं युक्तं नेत्रयुग्मं लोचनयुगलं यस्य स तथोक्तः मुद्रितनयनद्वयः, नितरां सातिशयं निष्पन्ददेहो निश्चलकायः यः भगवान् स्वध्यानशैलीसुखम् भगवद्ध्यानपरम्पराप्रभवम् (विगलितवेद्यान्तरं विश्वविलक्षणं) सुखम् ब्रह्मानन्दम् आस्थितानां प्राप्तानां तपस्विनां योगरतानाम् सङ्घम् समुदायम् अनुकुर्वन् अनुहरन् इव बभौ । मुद्रितलोचनो निश्चलकायश्च यो भगवान् स्वध्यानजन्यं ब्रह्मानन्दमागतानां योगिनां वृन्दमनुहरन्निव प्रतीयते, योगिनो ध्यानमग्नतादशायां निमीलितनयना निश्चलवपुषश्च भवन्तीति भावः । अनुकुर्वन्निवेत्युत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९ ॥

दोनो आखें मूँदे तथा निश्चलदेह भगवान् उस शयनावस्थामें ऐसे प्रतीत होते थे मानो वे भगवानकी ध्यानपरम्परामें लभ्य ब्रह्मानन्द सुखको प्राप्त करनेवाले योगियोंका अनुकरण कर रहे हों । योगी लोगोंको भी जब ध्यानमें ब्रह्मास्वाद होने लगता है तब उनकी आँखे मुँदी तथा देह निश्चल रहती है, भगवान् सो रहे थे अतः उनकी आखें मुँदी तथा देह स्थिर थी ॥ ९ ॥

देवीकुचाद्रिरुरुचे घुसृणेन क्लृप्तः सक्तः कपोलफलके मकरो यदीये ।
स्वाङ्कध्वजारिजयिने विजयाय सिद्धिं विश्राणयेति निगदन्निव कर्णमूले ॥१०॥

देवीकुचादिति । घुसृणेन काश्मीरजेन कुङ्कुमेन क्लृप्तः रचितः देव्याः रुक्मिण्याः कुचात् स्तनात् यदीये यस्य कृष्णस्य कपोलफलके कपोलदेशे सक्तः लग्नः मकरः मकराकृतिलेखः—स्वाङ्कध्वजः मकरचिह्नितध्वजः कामः तस्यारिः शिवः तस्य जयिने विजेत्रे विजयाय सिद्धिं मनोरथसाफल्यं विश्राणय देहि इति कर्णमूले कर्णप्रान्ते निगदन् इव विरुरुचे रेजे । रुक्मिणी स्वस्तनयोः कुङ्कुमेन मकराकृतिं रेखां लिखितवती, स्तनौ चुम्बतः कृष्णस्य कपोले सा मकराकृतिरेखा लग्ना, सा रेखा मकरः, स च कन्दर्पस्य शत्रोः शिवस्य जयिनेऽर्जुनाय सिद्धिं देहीति भगवतः कर्णे कथयन्निव रुरुच इत्यर्थः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ १० ॥

देवी रुक्मिणीने अपने स्तनोंपर मकराकृति रेखा लिखी थी, श्रीकृष्णने जब रुक्मिणी के स्तन चूमे, तब वह मकराकृति रेखा उनके कपोलमें जा लगी, वह मकराकृति रेखा–

१. 'मीनध्वजा' । २. 'जयिनः' । इति पा० ।

मकर ऐसा लगता था, मानो भगवान्‌के कानमें कह रहा हो कि कृपा करके आप मकरध्वजके शत्रु शिवके विजेता अर्जुनको उसके मनोरथका साफल्य प्रदान करें, मकर मकरध्वजका अङ्ग है, वह अपने मालिक कामदेवके शत्रु शिवके विषयमें द्वेष रखता है, अतः उसके विजयी अर्जुनके लिये उसके हृदयमें पक्षपात है ॥ १० ॥

पाश्चात्यपाथोनिधिपार्श्वभागे सम्पूर्य कुक्षिं सलिलस्य पूरैः ।
सं[1]जातियूथाच्च्युतिमाश्रितस्य क्रमं दधौ यो घनशावकस्य ॥ ११ ॥

पाश्चात्येति । यः श्रीकृष्णः पाश्चात्यपाथोनिधिपार्श्वभागे पश्चिमसागरैकदेशे सलिलस्य पूरैः जलराशिभिः कुक्षिं सम्पूर्य उदरं पूरयित्वा सजातियूथात् स्वसमानजातीयमेघवृन्दात् च्युतिमाश्रित्य पश्चाद्भूत्वा स्थितस्य घनशावकस्य मेघबालस्य (स्वल्पकायस्य मेघस्य) क्रमं सादृश्यं दधौ धारयामास । पश्चिमसमुद्रे जलमादातुमायातेषु मेघेषु कश्चन मेघबालकः पीतप्रचुरपानीयतया धावितुमशक्तः पश्चात्स्थितः, स इव श्यामतनुः श्रीकृष्णः प्रतीयतेस्मेत्यर्थः, द्वारकायाः पश्चिमसागरतटस्थतया पाश्चात्येति विशेषणम्, अत्राप्युत्प्रेक्षा स्फुटा ॥ ११ ॥

जो भगवान् पश्चिमसमुद्रके किनारे पयोराशिसे अपना पेट भरकर अपने सजातीय मेघवृन्दसे अलग छूटे हुए बालमेघकी तरह प्रतीत होते थे, वे श्यामलशरीर भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे लगते थे, मानो बहुतसे मेघ पानी पीने समुद्रके किनारे आये, उनमेंसे एक बच्चा मेघ भरपेट पानी पीनेके कारण जाते समय अन्य मेघोंके साथ नहीं दौड़ सका, पीछे छूट गया वही बालमेघ हों ॥ ११ ॥

ततः प्रबुद्धेन तेन देवेन [2]तयोः क्रमेण प्र[3]थमाभ्यागमनदर्शनाभ्यां कृत्यसाम्यं हृदि कृत्य र[4]णाङ्गणे गृहीतहेतीनां नवकोटिसंख्यावतां गोपकुमाराणां कदम्बेन केनचिदंशेन केवलसंनिधानेन स्वेनापि केनचिदंशेन परिपूरित[5]घनमनोरथौ सुयोधनधनंजयौ स्वावासकटकभुवमासेदतुः ॥

तत इति । ततः उभयोरागमनानन्तरं प्रबुद्धेन त्यक्तनिद्रेण तेन देवेन भगवता श्रीकृष्णेन तयोः सुयोधनार्जुनयोः प्रथमागमनदर्शनाभ्याम् सुयोधनस्य प्रथमागमनं, पाददेशे स्थित्या अर्जुनस्य प्रथमं दर्शनं च ताभ्याम्, कृत्यसाम्यं सहायतारूपे कर्त्तव्ये तुल्यतां हृदि कृत्य विभाव्य—रणाङ्गणे गृहीतहेतीनां धृतायुधानां नवकोटिसंख्यावतां गोपकुमाराणां कदम्बेन राशिना 'नारायणी सेना' इति प्रथितेन केनचिदंशेन, केवलसन्निधानेन विनैवास्त्रग्रहणं स्वोपस्थानेन केनचिदंशेन, (सुयोधनाय धृतशरा नारायणी सेना, अर्जुनाय च केवलं स्वसाहचर्यम्) इत्येवं परि-

---

१. 'स्वजाति' । २. 'तयोः प्रथमाभ्यागम' । ३. 'प्रथमागमन' ।
४. 'रणाङ्कणे' । ५. 'पूरितमनोरथौ' । इति पा० ।

पूरितमनोरथौ लब्धेष्टसिद्धी सुयोधनधनञ्जयौ स्वावासकटकभुवम् स्वावासदेशभूतं सेनासन्निवेशस्थलम् आसेदतुः आगतवन्तौ ॥

सुयोधन तथा अर्जुन दोनोंके आ जानेपर भगवान् जगे, उन्होंने देखा कि दोनों ही आये हैं, पहले सुयोधन आये हैं, और अर्जुन पहले दीखे हैं, दोनोंकी ही सहायता करनी चाहिये, अतः उन्होंने एक ओर अपनी नारायणी सेना जिसमें युद्धमें शस्त्र धारण करनेवाले नव करोड़ गोपकुमार थे—इसे दुर्योधनकी सहायताके लिये दिया, और अर्जुनकी सहायताके लिये बिना अस्त्रके अपनी उपस्थिति स्वीकार की, इस प्रकार पूर्णमनोरथ होकर दुर्योधन तथा अर्जुन दोनों अपने रहनेकी जगह सेनासन्निवेशमें चले आये ॥

सेनागजेन्द्रमदसौरभवीचिवेगनिर्धूतगोग्रहणसंयुगपूतिगन्धम् ।
संवीक्ष्य मत्स्यवसुधेन्द्रपुरोपकण्ठं शौरिश्च शक्रतनयश्च ननन्दतुस्तौ ॥१२॥

सेनेति । तौ शौरिश्च कृष्णः शक्रतनयश्चार्जुनश्च तौ सेनागजेन्द्राणां युद्धोद्यतवाहिनीगजराजानां मदसौरभस्य दानवारिसुगन्धस्य वीचीवेगेन लहरीतरङ्गेण निर्धूतः शान्ति नीतः गोग्रहणयोः दक्षिणोत्तरगोग्रहणयोः यौ संयुगौ संग्रामौ तयोः पूतिगन्धो मृतगजतुरगमनुष्यादिमांसासृगादिजनितो दुर्गन्धो यस्य तादृशं मत्स्यवसुधेन्द्रपुरोपकण्ठं विराटनगरपार्श्वं संवीक्ष्य विलोक्य ननन्दतुः प्रसादमनुबभूवतुः । द्वारकातः परावर्त्तमानौ कृष्णार्जुनौ विराटनगरसमीपे युद्धायोद्यतानां सेनागजानां दानवारिप्रवाहेणापसारितप्राग्वृत्तगोग्रहणयुद्धकृतपूतिगन्धं विराटपुरसमीपदेशमासाद्य युद्धोद्यतसेनादर्शनेन महान्तमानन्दमनुबभूवतुरित्यर्थः । अत्र युद्धोद्यतसेनादर्शनस्यानन्दहेतुतयोपनिबन्धनात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १२ ॥

युद्धके लिये सन्नद्ध सेनामें अवस्थित गजेन्द्रोंके दानवारिप्रवाहसे शान्त हो गई है भूतपूर्व गोग्रहणमें मरनेवाले गजाश्वादिके मांसरक्तादिकी गन्ध जहाँपर ऐसी उस विराट नगरकी सीमाभूमिमें आनेपर जब श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने युद्धोद्यत सेना देखी तब उनको बड़ा आनन्द हुआ ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा निवृत्य वदतो युधि पाण्डवानामुत्साहमुग्रमथ संजयतो निशम्य ।
वातैर्विनापि मणिसौधतले निवासं कुर्वन्नकम्पत भृशं कुरुवंशकेतुः ॥१३॥

दृष्ट्वेति । अथ कृष्णे द्वारकातः समायाते दृष्ट्वा पाण्डवान् विलोक्य निवृत्य पुनः समागत्य वदतः कथयतः संजयतः संजयात् युधि युद्धविषये पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनाम् उग्रम् अदमनीयम् उत्साहम् उद्यमम् निशम्य श्रुत्वा कुरुवंशकेतुः कौरववंशश्रेष्ठो धृतराष्ट्रः मणिमयसौधतले रत्ननिर्मिते प्रासादे निवासं कुर्वन् अपि वातैर्विना विनैव वायुसम्पर्कं भृशम् अत्यर्थम् अकम्पत वेपतेस्म । मणिमयसौधस्थः कौरवध्वजश्च विनैव वातमकम्पतेति चार्थः, धृतराष्ट्रस्य पुत्रविपत्तिभयकृतः कम्पः पताकादण्डस्य चौत्पातिकः कम्पोऽत्र श्लेषकृतो द्योत्यः ॥ १३ ॥

कृष्ण जब द्वारकासे विराटपुर आ गये तब धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंकी स्थिति देखनेको भेजा, संजयने लौटकर युद्धमें पाण्डवोंके अदम्य उत्साहकी बात कही, उसे सुननेपर मणिमय सौधमें रहनेपर भी कुरुवंशश्रेष्ठ धृतराष्ट्र काँप उठे, मणिमय सौधके ऊपर लहरानेवाला कौरवोंका ध्वज भी काँप उठा ॥ १३ ॥

पाण्डोः सुताय वसुधां प्रविभज्य दित्सोः
प्रज्ञादृशो रहसि सान्त्वपथोपदिष्टम्।
दुर्योधनस्तु वचनं न चकार कर्णे
कर्णे स्वमेव वचनं मधुरं चकार ॥ १४ ॥

पाण्डोरिति। पाण्डोः सुताय युधिष्ठिराय वसुधां भूमिं प्रविभज्य समविभागं कृत्वा दातुमिच्छोः दित्सोः प्रज्ञादृशः धृतराष्ट्रस्य रहसि एकान्ते सान्त्वपथेन साममार्गेण उपदिष्टं बोधितं वचनं तु दुर्योधनः श्रोत्रे कर्णे न चकार न श्रुतवान्, स्वं मधुरं वचनम् एव कर्णे राधेये चकार, कर्णमेव स्वं दुर्मन्त्रिणं व्याजहारेति यावत्। दुर्योधनो युधिष्ठिराय विभज्य धरां दित्सोर्धृतराष्ट्रस्य स शान्तिवचनं हितोपदेशं कर्णे न चकार, तदाऽपि दुर्योधनः कर्णेन सह दुर्मन्त्रणमेव विदधे इत्याशयः 'परेतकल्पा हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्' इत्यभियुक्ता आहुः ॥१४॥

पृथ्वीका विभाग करके युधिष्ठिरको देनेकी इच्छा रखनेवाले धृतराष्ट्रका सामप्रयोगपूर्वक उपदेश दुर्योधनने कानोंमें नहीं किया, उस समय भी उसने कर्णको अपना आपातमधुर दुर्मन्त्रणावाक्य ही कहा ॥ १४ ॥

तदनु दिने दिने समुपचीयमाननानाविधनरपतिकुलचतुरङ्गबलकलकलानप्यभिभवद्भिः कङ्ककाकसालावृकजम्बुकरटितैः[1] कटूकृतनिकटयोः कुरुविराटपुटभेदनयोः कतिपयदिनैरेव[2] पञ्च खलु वीराः कौरवसाम्राज्य[3]लक्ष्मीमभिवीक्ष्य स्थातुमवशिष्येरन्निति किंवदन्त्यां[4] क्षितिपतिः क्षीणधैर्यो दीनाक्षरेण[5] सहोदरसमक्षं सरसीरुहाक्षमेवमाचचक्षे[6],—

तदन्विति। तदनु ततः पश्चात् दिने दिने प्रत्यहं समुपचीयमानान् वर्धमानान् नानाविधानां भिन्नाभिन्नदेशजात्याद्युत्पद्यमानानां नरपतिकुलानां राजवृन्दानां चतुरङ्गबलकलकलान् हस्त्यश्वरथपदातिसैन्यकोलाहलान् अपि अभिभवद्भिः न्यूनतां प्रापयद्भिः कङ्काः गृध्राः काकाः सालावृकाः श्वानः जम्बुकाः शृगालाश्च तेषां रटितैः दुर्घोषैः कुरुविराटपुटभेदनयोः हस्तिनापुरमत्स्यपुरयोः कटूकृतनिकटयोः कटुतां प्रापितसमीपदेशयोः सतोः, (युद्धे सङ्गन्तुमागतानां तेषां राज्ञां सेनाकलकल-

१. 'जम्बुककदम्बकरटितैः'। २. 'कतिपयैः'। ३. 'पौरव'। ४. 'किंवदन्त्यां प्रवहन्त्यां सत्याम्'। ५. 'दीनाक्षरः'। ६. 'सरोरुहाक्षमेवं व्याचचक्षे'। इति पा०।

द्वमपि तिरयद्भिर्गृध्रकाकश्वशृगालशब्दैः द्वयोरपि सेनासन्निवेशदेशयोः कटूभूतयोः सतोः) कतिपयदिनैः स्वल्पैः एव वासरैः पञ्च खलु वीरा युधिष्ठिरादयः पञ्चभ्रातरः कौरवसाम्राज्यलक्ष्मीम् कुरुवंशसम्पदम् अभिवीक्ष्य दृष्ट्वा स्थातुं जीवितुम् अवशिष्येरन् इति किंवदन्त्यां जनश्रुतौ क्षीणधैर्यः नष्टधैर्यः क्षितिपतिः राजा युधिष्ठिरः दीनाक्षरेण दुःखगद्गदवचनेन सहोदरसमक्षं भीमादीनां पुरतः सरसीरुहाक्षं कमलनयनं श्रीकृष्णं प्रति एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण आचचक्षे उक्तवान् ॥

इसके बाद दिनानुदिन बढ़नेवाले नानादेश जातिके नरपतियोंकी चतुरङ्गिणी सेनाके कलकलको भी तिरोहित करनेवाले गृध्र, काक, कुत्ते और शृगालोंके दुःशब्दों द्वारा जब हस्तिनापुर तथा मत्स्यपुरका समीपदेश कटु हो गया, तब एक किंवदन्ती फैली कि 'कुछ ही दिनोंमें कौरवलक्ष्मीको देखनेके लिये पाँच ही वीर पाण्डव बच जायेंगे,' इस किंवदन्तीको सुनकर युधिष्ठिरका धैर्य जाता रहा, उन्होंने गदगद स्वरमें भीम आदि अपने भाइयोंके सामने कमलनयन भगवान्‌से इस प्रकारके वचन कहे— ॥

एतावतो बन्धुजनान्निहत्य किं लब्धया कृष्ण ! भुवानया मे ।
सकन्दमूलानि सनिर्झराणि न किं ममाद्यापि वनानि तानि ॥ १५ ॥

एतावत इति । हे कृष्ण, एतावतः इयत्सङ्ख्यकान् बन्धुजनान् भ्रातृसुहृत्सम्बन्धिप्रभृतीनात्मीयान् निहत्य घातयित्वा लब्धया प्राप्तया अनया भुवा पृथिव्या मे मम किम् ? नास्ति किमपि फलमित्यर्थः, नन्वेवं सति कुत्र त्वया जीवनं यापनीयमिति चेत्तत्राह—सकन्दमूलानीति । सकन्दमूलानि भोजनोपयोगिलतामूलोपेतानि पानार्हजलयुक्तानि सनिर्झराणि जलप्रपातपूर्णानि तानि मयाऽनुभूतपूर्वाणि किमद्यापि सम्प्रत्यपि न सन्ति, सत्यां जीवननिर्वाहोपयुक्तायां सामग्र्यामलं बन्धुसंहारमूलकराज्यलाभेनेति वक्तव्यसारः ॥ १५ ॥

हे कृष्ण, इन्ने बन्धु-बान्धवोंको मारकरके मिलनेवाली इस पृथ्वीसे मुझे कौन लाभ होगा, क्या कन्द-मूलों तथा निर्झरप्रवाहोंसे युक्त वन मेरे लिये आज भी खुले नहीं हैं ? उन वनोंमें रहना अच्छा है, परन्तु बान्धवोंको मारकर मिलनेवाला राज्य नहीं अच्छा है ॥

संतापकाले सति सर्वमम्भः पतत्यधस्तादिति हि प्रसिद्धिः ।
जिह्वां विहायाद्य जलं मुहुर्मे दृष्टिं समारोहति चित्रमेतत् ॥ १६ ॥

सन्तापेति । सन्तापकाले ग्रीष्मसमये सति समायाते सर्वम् अम्भः पानीयमधस्तात् पतति अधो गच्छति इति हि प्रसिद्धिः ख्यातिः, अस्तीति शेषः, अद्य अधुना सन्तापकाले दुःखसमये जलं पानीयं जिह्वां तालु विहाय त्यक्त्वा मुहुः वारं वारं दृष्टिं नेत्रं समारोहति तालुशोषपूर्वाश्रुधारा प्रवर्त्तते एतच्चित्रम् आश्चर्य-

१. 'अधुना' । २. 'घर्मम्' । इति पा० ।

करम्। सन्तापसमये जलमधः स्रवतीति प्रसिद्धावपि सम्प्रति दुःखसमये मम जिह्वागतं पयो नेत्रमार्गमुपरितनमारोहतीति चित्रम्, अस्वाभाविकत्वात् इत्यर्थः। ममात्र दुःखसमये तालुशोषो जायते, अश्रुधारा च प्रवर्त्तत इत्याशयः॥ १६॥

सन्तापकाल-ग्रीष्मसमय आनेपर सब पानी ऊपर से नीचेकी ओर बहता है यही प्रसिद्धि है, परन्तु आश्चर्य की बात है कि मेरी जीभ का सारा जल मेरी आँखों में-ऊपर की ओर चढ़ा जा रहा है। मेरी जीभ सूख रही है और मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है॥ १६॥

गलत्समीरैर्गजकर्णतालैर्नटत्पटेभ्यो नगरध्वजेभ्यः।
तनूरिदानीं मम तान्तकान्तिराकम्पनाम्नायमसावधीते॥ १७॥

गलदिति। इदानीम् सम्प्रति तान्तकान्तिः संतापातिशयात् म्लानप्रभा मम असौ तनूः शरीरम् गलत्समीरैः निस्सरद्वातैः गजकर्णतालैः करिकर्णपुटैः करणैर्नटत्पटेभ्यः नृत्यद्ध्वजवस्त्रेभ्यः नगरध्वजेभ्यः पुतत् पुरपताकाभ्यो गुरुभ्यः आकम्पनाम्नायम् कम्परूपं वेदम् अधीते शिक्षते। यथा कोऽपि कुतोऽपि गुरोः सकाशात् वेदमधीते तथैव करिकर्णतालैश्चलद्भ्यो नगरध्वजपटेभ्यः सन्तापकदर्थिता मम तनुः कम्पं शिक्षत इत्याशयः। दुखदग्धा मम तनुः कम्पत इत्यर्थः॥ १७॥

इस समय भावी बन्धुविनाशकी चिन्तासे झुलसा हुआ यह मेरा शरीर काँप रहा है, ऐसा लगता है मानो यह मेरा शरीर हाथियोंके कानोंके चलनेसे निकलनेवाली वायुसे चलते हुए नगरवर्त्ति पताकावस्त्रोंसे काँपनेकी विद्याका यथावत् अध्ययन कर रहा हो॥ १७॥

आनन्दयित्रीमखिलस्य जन्तोरन्तःक्षमां स्वामपहाय मोहात्।
बन्धुप्रणाशाद्बहुदुःखदोग्ध्र्यै बहिःक्षमायै स्पृहयामि धिङ्माम्॥ १८॥

आनन्दयित्रीमिति। अखिलस्य जन्तोः प्राणभृन्मात्रस्य आनन्दयित्रीं प्रमोदजननीम् स्वाम् आत्मनीनां अन्तःक्षमाम् आन्तरिकीं तितिक्षाम् अपहाय त्यक्त्वा अहम् बन्धुप्रणाशात् बान्धवसंहारात् बहुदुःखदोग्ध्र्यै नानाविधकष्टदाय्यै बहूनां कष्टस्योत्पादयित्र्यै वा बहिःक्षमायै पृथिव्यै स्पृहयामि लुब्धो भवामि, मां धिक्। सकलजनानन्दजननीं तितिक्षां विहाय धरां-बन्धुप्रणाशद्वारा सर्वेषां कष्टस्य दात्रीमपि कामयमानं मां धिगस्त्विति भावः॥ १८॥

सभी प्राणियोंको आनन्द देनेवाली आभ्यन्तरक्षमा-तितिक्षाको छोड़कर बन्धु-संहारके द्वारा नाना प्रकारके कष्टोंको पैदा करनेवाली इस पृथ्वीको चाहनेवाले मुझको धिक्कार है॥

गतिर्न मेऽन्या गरुडध्वज! त्वया विनाधुनास्या विपदो विधूतये।
वनानलार्चिर्वलयावृतस्थितेर्बलाहकात्किं शरणं मृगीशिशोः॥ १९॥

गतिर्नेति। हे गरुडध्वज, अस्याः शिरसि समापतितायाः विपदः बन्धुक्षयरूपा-

या विपत्तेः विधूतये अपनयनाय दूरीकरणाय त्वया विना त्वद्भिन्ना गतिः उपायः न अस्ति इति शेषः। तत्र दृष्टान्तमाह—वनानलेति। वनानलो दावाग्निः तदर्चिर्वलयेन तज्ज्वालामण्डलेन आवृता वेष्टिता स्थितिः आश्रयस्थानं यस्य तथाभूस्य मृगशिशोः हरिणशावस्य बलाहकात् मेघात् (अन्यत्) किं शरणं रक्षकम् ? न किमपीत्यर्थः। यथा वनाग्निज्वालापरीताश्रयस्थानस्य हरिणस्य मेघादन्यच्छरणं न भवति तथैव बन्धुविनाशविपदो रक्षार्थं त्वदतिरिक्तं कमपि निजजनं समर्थमहन्नावैमि इत्याशयः। अत्रोपमानोपमेयवाक्यार्थयोरनस्तित्वरूपैकसामान्यात्प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः ॥ १९ ॥

हे गरुड़ध्वज, इस उपस्थित बन्धुविनाशविपत्तिसे त्राण दिलानेमें—इस विपत्तिको दूर करनेमें आपके अतिरिक्त कोई गति—उपाय नहीं है, जैसे दावाग्निकी लपटोंसे आवृत आश्रयस्थानमें रहनेवाले मृगशिशुको मेघके सिवा दूसरा रक्षक नहीं होता है ॥ १९ ॥

बहुभिः किमिहापरैः प्रलापैर्बहिरन्तश्च वदामि तुल्यभावम्।
कुकुराधिप ! बन्धुभिर्मम स्वैः कुरु संधिं कुरुवंशभूतये त्वम् ॥ २० ॥

बहुभिरिति। कुकुराः यादवविशेषास्तेषामधिप, हे यदुनाथ, बहुभिः अपरैः अन्यैः प्रलापैः निरर्थकवचनैः इह इदानीं किम् ? नास्ति बहूक्तेन किमपि साधनीयमित्यर्थः, बहिः अन्तर्मनसि च तुल्यभावं समानाशयं वचनं वदामि, सत्यं वदामीत्यर्थः, त्वं मम युधिष्ठिरस्य स्वैः आत्मीयैः बन्धुभिः भ्रातृभिः दुर्योधनादिभिः कुरुवंशविभूतये कौरवकुलकल्याणाय सन्धिम् कुरु सम्पादय। हे यदुनाथ, व्यर्थैः प्रपञ्चवचनैः किमपि फलं नास्ति, अहं सत्यं वदामि, यदि त्वं कुरुवंशहितं कामयसे तदा मम भ्रात्रादिभिरापतितमिमं विरोधं शमयित्वा सन्धिं सम्पादयेति भावः ॥ २० ॥

हे यादववंशभूषण ! बहुत निरर्थक वार्तोंसे क्या लाभ, मैं भीतर-बाहर एक-सी सत्य बात कह रहा हूँ, यदि आप कुरुवंशका कल्याण चाहते हैं, तो कृपया हमारे भाइयोंके साथ हमारी सन्धि करा दें ॥ २० ॥

इति ब्रुवन्तं यदुनायकोऽब्रवीद्युधिष्ठिरं योगिविचिन्त्यवैभवः।
महीपते ! यद्भवता समीरितं महात्मनां युक्तमिदं भवादृशाम् ॥ २१ ॥

इति ब्रुवन्तमिति। इति उक्तरीत्या ब्रुवन्तं कथयन्तं युधिष्ठिरं योगिविचिन्त्यवैभवः तपस्यापरायणजनध्यातव्यमाहात्म्यः यदुनायकः श्रीकृष्णः अब्रवीत् उक्तवान्, यत् हे महीपते, राजन्युधिष्ठिर, भवता यत् उक्तं कथितं सन्धिविधानस्यावश्यकत्वम् तत् इदं महात्मनां विशालहृदयानां भवादृशाम् त्वत्सदृशानां

---

१. 'भावः'। इति पा०।

कृते युक्तम् उपपन्नम्, महात्मानो हि कुलविनाशं कस्यांचिदपि स्थितौ नाभि-प्रयन्तीति भावः ॥ २१ ॥

इस प्रकार कहनेवाले युधिष्ठिरसे योगियों द्वारा ध्येय माहात्म्यवाले यदुवंशविभूषणने कहा कि राजन्, आपका ऐसा कहना–संधिके लिये निवेदन-आग्रह करना आपके समान महात्माओंके लिये युक्त–ठीक ही है ॥ २१ ॥

सरिदात्मजशासितोऽपि सन्स दुरध्वं न जहाति कौरवः ।
इति चिन्तयतो ममाधुना हृदि सिद्धिः खलु संशयेशया ॥ २२ ॥

सरिदिति । सरितः नद्याः गङ्गायाः आत्मजेन पुत्रेण भीष्मेण शासितः सद्वर्त्मना चलितुमादिष्टः अपि सन् सः कौरवो दुर्योधनः दुरध्वं दुष्टं पन्थानं न जहाति न त्यजति, भीष्मवचनमपि स तृणाय मन्यते, इति चिन्तयतो विभावयतः मम हृदि चित्ते अधुना सम्प्रति सिद्धिः सन्धिविषयकेच्छापूर्त्तिः संशयेशया सन्दिग्धा अस्तीति शेषः । यो दुर्मतिः भीष्मस्यापि वचनं पथ्यं नाद्रियत, स मम कथनात्संधये सन्नद्धो भवितेति मम विश्वासो नास्तीति भावः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने भीष्मद्वारा न्याय्य पथपर चलनेके लिए आज्ञापित होकर–कहे जानेपर भी–दुष्ट मार्गका त्याग नहीं किया, इस बातको सोचता हूँ तो मुझे इस समय सन्धिके विषयमें सिद्धिकी आशा कम होती है, मुझे सिद्धिमें सन्देह मालूम पड़ता है ॥ २२ ॥

प्रयते तथापि नृप ! संधिलब्धये[1]
प्रयतेन्द्रियैर्भुवि पणायितस्य ते ।
फलति क्वचिन्न फलति क्वचित्क्रिया
प्रविधातुरेष नहि दोषशीकरः ॥ २३ ॥

प्रयत इति । तथापि यद्यपि सिद्धिः संशयिता तथापि हे नृप युधिष्ठिर भुवि संसारे प्रयतेन्द्रियैः जितेन्द्रियैः पणायितस्य संस्तुतस्य ते तव संधिलब्धये दुर्योधनादिभिः सन्धि कारयितुं प्रयते यत्नं करोमि, वर्त्तमानसामीप्ये लट्, तेन करिष्यामीत्यर्थः फलितः । क्वचित् क्रिया उद्योगः फलति सिध्यति क्वचित् न फलति व्यर्थी-भवति, एषः अयं प्रविधातुः उद्योगशीलस्य व्यवस्यतः दोषशीकरः अपराधबिन्दुर्न । 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः' इति प्राहुरभियुक्ताः । 'ईडितशस्तपणायितपनायितप्रणुतपनितपणितानि' इति स्तुतिपर्यायेष्वमरः ॥ २३ ॥

यद्यपि सफलताके विषयमें मुझे सन्देह है फिर भी जितेन्द्रियों द्वारा स्तुत आपको कौरवोंसे मेल करा देनेके संबन्धमें मैं प्रयत्न करूँगा, प्रयत्न करनेपर सफलता मिले या न मिले, इसमें प्रयत्न करनेवालेका कुछ भी दोष नहीं होता ॥ २३ ॥

---

१. 'सिद्धये' । इति पा० ।

इत्थं निगद्य मधुरस्मितमीक्षमाणो
भीमस्य वक्त्रमपि दारुकनीतमग्रे ।
आरुह्य रत्नरथमाश्रितरक्षलीला-
कूलंकषो हरिरगात्कुरुराजधानीम् ॥ २४ ॥

इत्थमिति । आश्रितानां शरणागतानां रक्षः रक्षा एव लीला विलासः तस्याः कूलङ्कषः पारदर्शी भगवान् हरिः श्रीकृष्णः इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण निगद्य अभिधाय मधुरस्मितं किञ्चिद्धासयुतं सन्धिप्रयासस्यानर्थकत्वं दुरर्थकत्वं चाभिप्रेत्य स्मयमानं भीमस्य वक्त्रम् मुखम् ईक्षमाणः पश्यन् सन् अपि दारुकनीतम् स्वसूतेन दारुकेणोपस्थापितं रत्नरथम् मणिमयं यानम् आरुह्य अधिरुह्य कुरुराजधानीं हस्तिनापुरमगात् गतः । एवमभिधाय भगवान् भीमे हसत्यपि सन्धिं विधापयितुं रथमारुह्य गत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

आश्रित जनोंकी रक्षा करनेमें तत्पर भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहकर सन्धिके विषयमें असहमत भीमके हँसते हुए मुखकी ओर देखकर भी दारुक द्वारा लाये गये रत्न-निर्मित रथपर आरूढ होकर कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुरके लिये प्रयाण किया ॥ २४ ॥

अवलोकयन्नथ पुरप्रतोलिकामनिमेषपौरजनतानिरन्तराम् ।
मृदुरानतेषु स दुरासदः परैर्यदुराज एष विदुरालयं ययौ ॥ २५ ॥

अवलोकयन्निति । अथ हस्तिनापुरप्राप्त्यनन्तरम् आनतेषु आश्रितेषु जनेषु मृदुः कृपाप्रवणः अथ च परैः अनानतैः द्विषद्भिः दुरासदः अजेयः एषः यदुराजः श्रीकृष्णः अनिमेषाभिः निर्निमेषाभिः पौरजनताभिः निरन्तराम् आवृतां व्याप्तां पुरप्रतोलिकां हस्तिनापुरनगररथ्याम् अवलोकयन् पश्यन् विदुरालयं विदुरस्य गृहं ययौ । प्रणतजनेषु दयालुः परजनदुरापश्च श्रीकृष्णः स्वदर्शनागतजनसंकुलां हस्तिनापुरप्रतोलीं पश्यन् विदुरभवनं गतवानित्याशयः । लाटानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ २५ ॥

आश्रित जनपर दया करनेवाले तथा शत्रुजनके दुर्धर्ष यदुराज भगवान् श्रीश्रीकृष्ण अपने दर्शनके लिये आये हुए निर्निमेष नयनवाले पौरजनोंसे भरी हुई गलीको देखते हुए क्रमशः विदुरके घरपर पहुँचे ॥ २५ ॥

तमसां कुलानि सकलानि दर्शने सति सद्य एव शमयन्महामहाः ।
स विवेश तत्र विदुरस्य मन्दिरं चरमाद्रिकन्दरमभीषुमानिव ॥ २६ ॥

तमसामिति । महत् लोकोत्तरं महस्तेजो यस्य स महामहाः कृष्णः तमसां पापानां ध्वान्तानां च सकलानि समस्तानि कुलानि राशीन् दर्शने अवलोके सति सद्यः तत्काल एव शमयन् नाशयन् तत्र हस्तिनापुरे विदुरस्य मन्दिरं भवनं गृहम्

---

१. 'अभीशुमानपि' । इति पा० ।

अभीषुमान् किरणमाली सूर्यः चरमाद्रिकन्दरम् पश्चिमाचलगुहाम् इव विवेश, यथा महामहाः सूर्यः समस्तमन्धकारभरं नाशयन् सायं पश्चिमाचलगुहां विवेश तथैव महामहाः कृष्णः स्वदर्शनमात्रेण समस्तं पापजातमपहरन् विदुरस्य भवनं प्रविष्ट इत्यर्थः । कृष्णसूर्ययोः प्रकृतयोः प्रवेशरूपैकक्रियान्वयात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ २६ ॥

लोकोत्तर तेजस्वी होनेके कारण अपने दर्शनमात्रसे समस्त पापोंको दूर करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने उस हस्तिनापुरमें विदुरके गृहमें प्रवेश किया, जैसे लोकोत्तरतेजस्वी होनेके कारण समस्त अन्धकारको दूर भगानेवाले सूर्यने पश्चिमाचलकी गुहामें प्रवेश किया जिस समय भगवान् विदुरके पास पहुँचे उस समय सूर्यास्त भी हुआ, यही प्रतिपादनीय है ॥ २६ ॥

कंसवैरिणि समेयुषि गेहं क्षत्तुरातिशयिकं[1] मदनृत्तम् ।
[2]संक्षिपां गमयति स्म पुरारेः सांध्यताण्डवविधेरवलेपम् ॥ २७ ॥

कंसवैरिणीति । कंसवैरिणि श्रीकृष्णे गेहं समुपेयुषि गृहागते सति क्षत्तुः विदुरस्य आतिशयिकं सर्वोत्कर्षभवम् (सर्वान् विहाय भगवान् मम गृहमेवागत इति स्वस्मिन् गौरवप्रतीतिकृतम्) मदनृत्तम् प्रमोदकृतं नर्त्तनम् पुरारेः शिवस्य सान्ध्यताण्डवविधेः सन्ध्यासमयानुष्ठीयमानताण्डवस्य अवलेपं गर्वम् संक्षिपां संक्षिप्तत्वां खर्वत्वम् गमयति स्म प्रापयति स्म । भगवति गृहासते सति स्वस्मिन्सर्वोत्कर्षप्रतीत्या जनितं विदुरस्यानन्दनृत्यं सन्ध्याकाले क्रियमाणस्य शिवताण्डवस्य गर्वं खर्वमकरोदिति, अत्यानन्दमग्नो विदुरो मदोद्धतं ननर्त्तेत्यर्थः । उपमालङ्कारः, 'तस्य मुष्णाति सौभाग्यम्' इत्यादौ दण्डिनोपमायाः स्वीकारादत्रापि तथेति बोध्यम् । स्वागतावृत्तम् , लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ २७ ॥

विदुरने जब देखा कि हस्तिनापुरमें रहनेवाले सभी लोगोंको छोड़कर भगवान् हमारे ही घर पधारे हैं तब उसे अपने विषयमें उत्कर्ष-श्रेष्ठत्वका ज्ञान हुआ, वह आनन्दविभोर होकर नाचने लगा, उसके उस नृत्यने महादेव द्वारा किये जानेवाले सन्ध्याकालिक ताण्डव नृत्यके गर्वको भी खर्व कर दिया ॥ २७ ॥

विरतेरुचितं विशुद्धमह्नो विधिमाधाय पितृष्वसुः सकाशे ।
वसतोऽस्य निशैव सा समाप्ता[3] वसुदेवात्मभुवः कथा न तास्ताः ॥२८॥

विरतेरिति । अह्नो दिनस्य विरतेः समाप्तेः उचितमुपयुक्तम् सन्ध्याकालयोग्यं विशुद्धं पावनं विधिं सन्ध्यावन्दनादिकर्म आधाय विधाय पितृष्वसुः पितुर्भगिन्याः

---

१. 'आतिशयितं मदनृत्यम्' । २. संक्षयम्' । ३. 'समाप्नोत्' । इति पा० ।

कुन्त्याः सकाशे समीपे वसतः तिष्ठतोऽस्य वसुदेवात्मभुवः वासुदेवस्य श्रीकृष्णस्य सा निशा रात्रिः एव समाप्ता, ताः ताः बहोः कालात् कथयितुं श्रोतुं च सञ्चिताः कथाः वार्त्ताः न समाप्ता इति शेषः। सायंकालिकं सन्ध्यावन्दनादिकर्म कृत्वा विरतस्य कुन्त्याः पार्श्वे उपविश्य तास्ताः कथाः कुर्वतोऽस्य श्रीकृष्णस्य सा रात्रिरेव समाप्ता, तदीयाः कथाः पुनरसमाप्ता एव तस्थुरित्यर्थः। दृश्यतां तुलनार्थं भवभूतेः पद्यम्—'अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्' इति ॥ २८ ॥

दिनकी समाप्ति हो जानेपर तत्कालोचित तथा पावनत्वकर–सन्ध्यावन्दनादिकार्य करके भगवान् अपनी पितृष्वसा–फुआ कुन्तीके पास बैठे और बातें करने लगे, बातें करते-करते वह रात ही खतम हो गई, उन दोनोंकी वे बातें नहीं समाप्त हुई। तेरह वर्षोंसे कहने-सुननेके लिये सञ्चित उन दोनोंकी रामकथाने सारी रात लेकर भी समाप्ति नहीं पाई ॥ २८ ॥

अथ विरतायां[1] निशीथिन्यामिव पृथाकथायां दीनद्युतिषु तारकाकलापेष्विव प्रदीपेषु [2]विजृम्भितेषु शकुन्तिभिरिव बन्दिभिः कलकलेषु विकसितेषु नलिनेष्विव नयनेषु च[3]ञ्चरीकेष्विव पौरजनेषु उत्पलादिव राजमन्दिरान्महोत्पलं प्रतीव विदुरमन्दिरमागतेषु विरोचन इव कमललोचनः प्राचीनगिर्यङ्कादिव पर्यङ्कादुत्तस्थौ।

अथेति। अथ चिरकथानन्तरम् निशीथिन्यां रात्रौ इव पृथाकथायां कुन्त्या वार्त्तायां विरतायां समाप्तायाम्, द्वयोरपि समाप्तयोः सत्योरित्यर्थः, तारकाकलापेषु नक्षत्रसमुदयेष्विव प्रदीपेषु दीनद्युतिषु क्षीणप्रभेषु (तारासु प्रदीपावलिषु च म्लायमानासु) वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः इव शकुन्तिभिः पक्षिभिः कलकलेषु रुतेषु विजृम्भितेषु उच्चारितेषु, नलिनेषु कमलेषु इव विकसितेषु उत्फुल्लेषु निद्रां जहत्सु, चञ्चरीकेषु भ्रमरेषु इव पौरजनेषु उत्पलात् कुवलयात् इव राजमन्दिरात् महोत्पलं कमलम् इव विदुरमन्दिरम् आगतेषु विरोचनः सूर्य इव कमललोचनः श्रीकृष्णः प्राचीनगिर्यङ्कात् उदयाचलशिखरात् इव पर्यङ्कात् शयनीयात् उत्तस्थौ उदस्थात्। पृथाकथा समाप्ता रजनिरपि, प्रभाते जाते प्रदीपाः क्षीणप्रभा जाताः, तारकाणामपि दीप्तिः क्षीयते स्म, वन्दिनः पक्षिणश्च कलकलमारभन्त, नलिनानि इव लोकलोचनानि विकसितानि, यथा प्रभाते भ्रमराः कुवलयकुलमपहाय कमलमागच्छन्ति तथैव लोकाः पुरवासिनो राजमन्दिरमपहाय भगवद्दिदृक्षया विदुरमन्दिरमागताः,

१. 'विगतायां रजन्यामिव पृथासुतकाम्'। २. 'जृम्भितेषु'।

३. 'उत्पलादिव महोत्पलं राजनगराद्विदुरमन्दिरमागतेषु चञ्चरीकेष्विव सारिकेषु विरोचन इव कमलविलोचनः प्राचीनगिरेरिव पर्यङ्कात्'। इति पा०।

तदा भगवान् पर्यङ्कादुत्थितः, यथा सूर्यः प्रातःकाले उदयाचलशिखरादुत्तिष्ठति इति भावः॥

इसके बाद कुन्तीकी बातोंकी तरह रात्रि भी समाप्त हुई, तारागणकी तरह प्रदीप क्षीण-कान्ति हो गये, बन्दियोंकी तरह पक्षियोंने कलकल प्रारम्भ किया, कमलोंकी भाँति लोगोंकी आखें खुल गईं, जैसे भ्रमर कुवलयको छोड़कर कमलोंपर आये उसी तरह गाँवके लोग राजमन्दिरको छोड़कर भगवान्‌को देखने विदुरमन्दिरमें आ गये तब भगवान् अपने पर्यङ्कसे उठे, जैसे सूर्य उदयाचलशिखरसे उठे॥

समाप्य संध्यौपयिकं स कृत्यं समापयिष्यन्नथ शार्ङ्गधन्वा।
अलंकृताङ्गो विदुरस्य हस्तमालम्ब्य मन्दं निरगान्निकेतान्॥ २९॥

समाप्येति। अथ पर्यङ्कत्यागानन्तरं स शार्ङ्गधन्वा भगवान् सन्ध्यौपयिकं प्रातःसन्ध्याकरणीयं सन्ध्यावन्दनादिकं समाप्य कृत्यं यदर्थमायातस्तत् सन्धिप्रस्तावात्मकं कार्यं समापयिष्यन् करिष्यन् अलङ्कृताङ्गः वस्त्रालङ्कारमाल्यादिप्रसाधितशरीरः सन् विदुरस्य हस्तमालंब्य गृहीत्वा प्रेम्णा तदीयं करमवलम्बमानः मन्दं निरगात् विदुरगृहात् बहिरायातः। सुप्तोत्थितो भगवान् प्रातःकृत्यं समाप्य प्रधानं सन्धिप्रस्तावरूपं कार्यं कर्त्तुं यथोचितवस्त्रादिधारणं कृत्वा विदुरमन्दिराद्विदुरेण सह निर्गत इत्यर्थः॥ २९॥

पर्यङ्कत्याग करनेके बाद भगवान् ने प्रातःकालोपयुक्त नित्यकृत्य किये, अपने शरीरको यथोचित अलङ्कार-वस्त्रसे सजाया, तब सन्धिप्रस्तावरूप कृत्य समाप्त करनेके लिये विदुरको साथ लेकर विदुरके घरसे बाहर आये॥ २९॥

तदनु[1] निखिलमहरारम्भकृत्यमवसाय्य बालातपेन बलाहक इव घुसृणमसृणितेन पटीरपङ्केन चर्चितकलेवरः पङ्केरुहशङ्किनीभिरञ्चलत्लिखितराजहंसराजिभिरवकृष्यमाणेनेव पीताम्बरभागेन परिचुम्बितप्रपदपल्लवो निजोदरान्तरानवकाशतया बहिर्निर्गतैर्जगदण्डशिशुभिरिव[2] मुक्ताफलैः प्रत्युप्तमेखलामुखभागो वर्षाहेमन्तसमययोरप्यविनश्वरं लक्ष्मीलीलाकमलमुपश्लोकितुमागतेन[3] दिनमणिबिम्बेनेव कौस्तुभेन देदीप्यमानभुजान्तरो दनुजपरिषदुत्पात[4]रक्तपरिवेषेणेव पद्मरागकेयूरेण परिमण्डितभुजदण्डो[5] निर्गत्य सुयोधनदुर्वासिताया नगरभुवः स्पर्शनं[6] परिहर्तुमिव[7] द्वारि सविनयमुपागतेन[8] दारुकेण संयोजितमणिपादुकः किंचिदवनमितपूर्वका-[9]

---

१. 'अपरेद्युरखिल'; 'अन्येद्युरखिल'। २. 'बहिर्जनैः'। ३. 'उपश्लोकयितुम्' ४. 'औत्पातिक'। ५. बाहुदण्डो द्वारि'। ६. 'संस्पर्शनम्'। ७. 'मिव सविनयं' ८. 'आगतेन'। ९. 'किंचिदेव'। इति पा०।

येण विदुरेण वितीर्यमाणहस्तावलम्बो गुरुकृप[1]प्रमुखैर्ब्र[2]ह्मसंघैः प्रतिपाद्यमानां जयाशिषं शिरसा प्रतिगृह्णानः कुशलप्रश्नकोरकितमोदाभ्यां कुरुराजदेवव्रताभ्यां सदनाभिगमनाय संप्रार्थ्यमान[3]श्चिरतरावसरं प्रतिपालयतामक्षौहिणीपतीनामञ्[4]जलिकमलवनालिमवलोकनेन संभावयमानो मुकुन्दो बन्दिवृन्दपरिपठ्यमानकंसादिविजय[5]विरुदावलिप्र[6]बन्धबन्धुरेण मङ्गलकुसुमगन्धसंपदन्धीकृतपुष्पंधयझंकारसहचरवादित्रघोषेण मेघवर्जमुन्मिषन्तीभिः सौदामिनीभिरिव कनकवेत्रलताभिरा[7]कुलीकृतेन महता राजपथेन सुयोधनादिभिश्चतुर्भिरध्यासितपूर्वं सभामण्डपं शनैः शनैरवजगाहे ॥

तदन्विति । तदनु तत्पश्चात् निखिलं समस्तम् अहरारम्भकृत्यम् प्रातःकालिकं कार्यजातम् अवसाय्य समाप्य बालातपेन प्रातःकालिकसूर्यकरेण चर्चितकलेवरः भूषितदेहः बलाहको मेघ इव घुसृणमसृणितेन कुङ्कुममिलितेन पटीरपङ्केन चन्दनद्रवेण चर्चितकलेवरः लिप्तगात्रः पङ्केरुहशङ्किनीभिः कृष्णप्रपदपल्लवं कमलं सम्भावयन्तीभिः अञ्चललिखितराजहंसराजिभिः वस्त्रप्रान्तचित्रितहंसपङ्क्तिभिः अवकृष्यमाणेन अधःसार्यमाणेन इव पीताम्बरभागेन पट्टाम्बरभागेन परिचुम्बितप्रपदपल्लवः स्पृष्टचरणाङ्गुष्ठः, निजोदरान्तरानवकाशतया स्वोदरे स्थानालाभेन बहिर्निर्गतैः बहिरागतैः जगदण्डशिशुभिः ब्रह्माण्डबालकैः (सूक्ष्मावस्थायां वर्त्तमानैः संसारैः) इव मुक्ताफलैः मौक्तिकैः (भगवदुरसि स्थिते माल्ये गुम्फिता वर्त्तुलाकृतयो मुक्ताः शिशुभावे स्थितानि ब्रह्माण्डानि इव भगवदन्तरेऽवकाशमलब्ध्वा बहिःस्थितानीवेति उत्प्रेक्षा) प्रत्युप्तमेखलामुखभागः खचितमेखलाप्रदेशः, वर्षाहेमन्तसमययोः वर्षर्त्तुहेमन्तर्त्वोरपि अविनश्वरम् अविनाशि लक्ष्मीलीलाकमलम् उपश्लोकितुं स्तोतुं समाजयितुम् आगतेन आयातेन दिनमणिबिम्बेन सूर्यबिम्बेन इव तद्वद्भास्वरेण कौस्तुभेन तदाख्यमणिभेदेन देदीप्यमानभुजान्तरः प्रकाश्यमानभुजद्वयमध्यमभागः दनुजपरिषदः राक्षसकुलस्य उत्पातः दुर्निमित्तम् तथाभूतेन इव रक्तपरिवेषेण इव स्थितेन पद्मरागकेयूरेण पद्मरागमणिनिर्मिताङ्गदेन परिमण्डितभुजदण्डः भूषितबाहुः, (भगवान्) निर्गत्य सुयोधनदुर्वासितायाः दुर्योधनेन वासानर्हीकृतायाः नगरभुवः हस्तिनापुरमह्याः स्पर्शनं परिहर्त्तुं वारयितुम् इव द्वारि समुपागतेन दारुकेण सयोजितमणिपादुकः परिधापितमणिचरणपादुकः, किञ्चिदवनमितपूर्वकायेण नतगात्रेण विदुरेण वितीर्यमाणहस्तावलम्बः

---

१. 'मुखैः' । २. 'ब्राह्मणैः' ३. 'चिरमवसरं' । ४. 'वनजावलिम्' ।
५. 'वद' । ६. 'प्रबन्धनम्' । ७. 'आकुलितेन' । इति पा० ।

दीयमानहस्तसाहाय्यः गुरुकृपप्रमुखैः द्रोणाचार्यकृपाचार्यप्रधानैः ब्रह्मसङ्घैर्ब्राह्मणगणैः प्रतिपाद्यमानाम् उच्चार्यमाणाम् जयाशिषं जयजीवेत्येवंप्रकारामाशीर्वादगिरम् शिरसा नतमस्तकेन प्रतिगृह्णानः आदरपूर्वकं स्वीकुर्वन् कुशलप्रश्नकोरकितमोदाभ्याम् भगवता कृतेन कुशलमसीतिप्रश्नेन जायमानहर्षाभ्याम् कुरुराजदेवव्रताभ्याम् धृतराष्ट्रभीष्माभ्याम् सदनाभिगमनाय गृहान् उपैतुम् सम्प्रार्थ्यमानः आगृह्यमाणः चिरतरावसरं बहोः कालात् प्रणामसमयं प्रतिपालयताम् प्रतीक्षमाणानाम् अक्षौहिणीपतीनाम् सेनाप्रधानानाम् अञ्जलिकमलवनालिम् प्रणामाञ्जलिरूपं कमलकुलम् अवलोकनेन दृक्पातेन संभावयमानः आद्रियमाणः मुकुन्दः वन्दिवृन्दैः स्तुतिपाठकैः परिपठ्यमानः उच्चार्यमाणः कंसादीनां दैत्यानां विजयविरुदावलिप्रबन्धो विजयावदानप्रबन्धः तेन बन्धुरेण युक्तेन, मङ्गलकुसुमगन्धसम्पदा मङ्गलार्थविकीर्णकुसुमसुगन्धभारेण अन्धीकृतानां पुष्पन्धयानां भ्रमराणाम् झङ्कारस्य शब्दस्य सहचरः सङ्गी वादित्रघोषो वीणामुरजादिवाद्यशब्दो यत्र तथोक्तेन, मेघवर्जम् अन्तरैव मेघम् उन्मिषन्तीभिः प्रकाशमानाभिः सौदामिनीभिः विद्युल्लताभिः इव कनकवेत्रलताभिः स्वर्णखचितवेत्रयष्टिभिः आकुलीकृतेन व्याप्तेन महता आयतेन राजपथेन राजमार्गेण सुयोधनादिभिः चतुर्भिः सुयोधनदुःशासनकर्णशकुनिभिः अध्यासितपूर्वम् पूर्वत एवाध्युष्यमाणम् सभामण्डपम् सभाभवनम् शनैः शनैः मन्दं मन्दम् अवजगाहे प्रविष्टवान् ॥

इसके बाद भगवान्‌ने समस्त प्रातःकृत्य समाप्त किये, फिर कुङ्कुम युक्त चन्दनसे अपने शरीरको लिप्त किया, वह चन्दन उनके शरीरपर ऐसा लग रहा था जैसे बालसूर्यका प्रकाश मेघपर पड़ रहा हो, उनके पीताम्बरका अगला हिस्सा उनके चरणपल्लवपर पड़ रहा था, ऐसा लगता था मानो पीताम्बरके छोरपर चित्रित किये गये राजहंस चरणोंको कमल समझकर वहाँ जानेको उत्कंठित हो रहे हों, अतएव उस पीताम्बरको खींच रहे हों, उनकी मेखलाके बीचमें मुक्तायें लगी थीं वे ऐसी लगती थी मानों भगवान्‌के उदरमें स्थान नहीं पानेसे बाहर निकले हुए छोटे छोटे ब्रह्माण्डशिशु हों, उनके दोनों बाहुओंके अन्तरभाग—छातीपर कौस्तुभमणि प्रकाशित हो रही थी, ऐसा लगता था कि वह सूर्यबिम्ब है, जो वर्षा तथा हेमन्तमें भी नहीं नष्ट होनेवाले लक्ष्मीलीलाकमलको अभिनन्दन देने आया हो, भगवान्‌के बाहुदण्डमें केयूरनामक पद्मरागमणिसे बना हुआ अलङ्कार ऐस लगता था मानो राक्षससमुदायके लिये उत्पात-दुर्निमित्त प्रकट हुआ हो, दारुकने सविनय दरवाजे पर आकर भगवान्‌के चरणोंमें मणिमय पादुका पहना दी, ऐसा लगा मानो दुर्योधनके द्वारा न रहने योग्य बना दी गई हस्तिनापुरी के स्पर्शसे भगवान्‌को वह बचाना चाहते हों, शरीरके ऊपरी भागको थोड़ा झुकाये हुए विदुर भगवान्‌को हस्तावलम्बन दिये हुए थे, भगवान् द्रोण, कृपप्रमुख ब्राह्मण वर्ग द्वारा दिये गये जयाशीर्वाद वचनको सिर झुकाकर स्वीकार

करते थे, कुशलप्रश्नसे हर्षित धृतराष्ट्र तथा भीष्म भगवान्को भीतर भवनमें चलनेके लिये आग्रह कर रहे थे, बहुत देरसे प्रणाम करनेकी प्रतीक्षामें सिरसे हाथ सटाकर खड़े हुए सेनानायकोंको भगवान्ने दर्शनमात्रसे कृतार्थ कर दिया, जिस राजमार्गमें बन्दिगण भगवान्की कंसादिवधवाली विरुदावलि-कविता-का उच्चारण कर रहे थे, मङ्गलार्थ बिखेरे गये पुष्पसमुदायकी सुगन्धसे अन्धीकृत भ्रमरोंके शब्द वीणामृदङ्गादिवाद्योंके शब्दसे मिल रहे थे, बिना मेघके प्रकाशित होनेवाली बिजलीकी तरह दीखनेवाली वेत्र-लताओंसे जो व्याप्त हो रहा था, ऐसे विशाल राजमार्गसे भगवान् धीरे धीरे उस सभा-भवनमें पहुँचे जहाँ सुयोधन, दुःशासन, कर्ण तथा शकुनि पहलेसे ही बैठे थे ॥

द्वारं समेयुषि हरावथ तत्र गोष्ठ्याः
सर्वैः समं नरपतिः सहसोदतिष्ठत् ।
पूर्वाचलाश्रयिणि पूषणि पद्मपङ्क्तेः
सौरभ्यपूर इव षट्चरणैरनेकैः ॥ ३० ॥

द्वारमिति । अथ हरौ श्रीकृष्णे द्वारं समेयुषि द्वारदेशं समागते सति तत्र सभायाम् नरपतिः दुर्योधनः सहसा झटिति गोष्ठ्याः संदसः सर्वैः सभ्यैः कर्णादिभिः समम् पूषणि सूर्ये पूर्वाचलाश्रयिणि उदयाचलमारूढे सति पद्मपङ्क्तेः कमलराशेः सकाशात् अनेकैः षट्चरणैः सह सौरभ्यपूरः सुगन्धभर इव उदतिष्ठत् उत्थितः । अयमाशयः—श्रीकृष्णे द्वारदेशमागते सति दुर्योधनः सर्वैः सभ्यैः सहोदतिष्ठत्, यथा सूर्ये उदयाचलारूढे सति कमलात् भ्रमरसहचरः सौरभ्यपूरः समुत्तिष्ठति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जब द्वारपर पहुँच गये तब दुर्योधन अपने सामाजिकगणके साथ गोष्ठीसे झटसे उठा जैसे सूर्य जब उदयाचलपर आ जाते हैं तब कमलसमुदायमें से भ्रमरोंके साथ सुगन्धकी राशि निकलने लगती है ॥ ३० ॥

तत्रातितुङ्गे तरसोपनीते रत्नासनेऽयं रचितोपवेशः ।
पुरोहितैरग्रभुवि प्रदिष्टां पूजामुपादत्त पुमान्पुराणः ॥ ३१ ॥

तत्रेति । तत्र सभामण्डपे तरसा वेगेन उपनीते शीघ्रतयाऽऽनीते अतितुङ्गे अत्युन्नते रत्नमये मणिनिर्मिते आसने सिंहासने रचितोपवेशः कृताधिष्ठानः अयं श्रीकृष्णः पुराणः पुमान् पुराणपुरुषः अग्रभुवि प्रथमं कृतां पुरोहितैः कुरुकुलपुरोहितैः सम्पादिताम् पूजाम् अर्घ्यपाद्यादिसत्कारम् उपादत्त स्वीकृतवान् । अयमर्थः—भगवति समागते दुर्योधनः शीघ्रं रत्नमयमासनमानीय तमुपवेशितवान् पुरोहितद्वाराऽर्घ्यपाद्यादिनिवेदनेन तं सत्कृतवाँश्चेति ॥ ३१ ॥

१ 'प्रदत्तां' । इति पा० ।

भगवान् जब सभामें पहुँच गये तब दुर्योधनने शीघ्रतासे रत्नमय आसन मँगवाकर उन्हें उसपर बैठाया तथा पुरोहितके द्वारा अर्घ्यपाद्यादि पूजा उपहृत करके उनका आरम्भिक सत्कार किया ॥ ३१ ॥

सभान्तरे तत्र समग्रकान्तिं संवीक्ष्य संवीक्ष्य सरोरुहाक्षम्।
नरेन्द्रवर्ज[1] नगरीजनेषु न कस्य वाभून्नयनप्रमोदः ॥ ३२ ॥

सभान्तरे इति। तत्र तस्मिन् समये सभान्तरे सभामध्ये समग्रकान्तिं सम्पूर्णशोभं सरसीरुहाक्षं कमलनयनं श्रीकृष्णं संवीक्ष्य संवीक्ष्य दृष्ट्वा दृष्ट्वा नरेन्द्रवर्जं दुर्योधनं विना नगरीजनेषु हस्तिनापुरवासिलोकेषु कस्य वा नयनप्रमोदः नेत्रतृप्तिर्नाभूत् नाजनि, सभायामवस्थितं सातिशयशोभं च श्रीकृष्णमादरातिशयेन पुनः पुनः पश्यतां सर्वेषामेव पुरवासिनां नयनानि मुदं लेभिरे केवलं दुर्योधनस्य नयने नानन्दतुर्यतोऽसौ भगवन्तं पाण्डवधृतपक्षपातमुद्भावयन् भगवति द्वेषबुद्धिमधत्तेति भावः ॥ ३२ ॥

उस समय सभामण्डपमें समग्रकान्तिसे विराजमान भगवान् श्रीकृष्णको देख देखकर पुरवासियोंमें सबकी आँखोंने नेत्रका लाभ—आनन्द प्राप्त कर लिया, केवल दुर्योधनकी आँखोंको आनन्द नहीं हुआ क्योंकि वह भगवान्को पाण्डवपक्षपाती समझकर उनपर द्वेषबुद्धि रखा करता था। 'नरेन्द्रवर्जम्' इस पदका—धृतराष्ट्ररूप अर्थ लेना ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो देखता ही नहीं था उसके आनन्दकी बात ही नहीं है, जो लोग देख सके उनमें सभी तृप्त हुए, केवल दुर्योधन देखकर भी आनन्द नहीं पा सका क्योंकि उसकी द्वेषबुद्धि थी ॥ ३२ ॥

भद्रासनादुपनतं[2] पदपल्लवाग्रं संवाहयत्युपगते विदुरे दयार्द्रः।
सामाजिके बुधजने सति दत्तकर्णे[3] प्रज्ञादृशं नृपमभाषत पद्मनाभः ॥ ३३ ॥

भद्रासनादिति। भद्रासनात् रत्नमयसिंहासनात् उपनतम् अधःप्रसारितं पदपल्लवाग्रं पल्लवकोमलचरणाग्रभागं संवाहयति मृदु मृदु मर्दयति उपगते समीपस्थे विदुरे दयालुः कृपायुक्तहृदयः (तदीयदास्यदर्शनेन तस्मिन् धृतानुकम्पः) सरसीरुहाक्षः श्रीकृष्णः सामाजिके सभास्थे बुधजने विज्ञलोके भीष्मद्रोणादौ दत्तकर्णे सादरं सावधानतया स्थिते सति प्रज्ञादृशं जात्यन्धं नृपं राजानं धृतराष्ट्रम् अभाषत वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान्। सभास्थिते भगवति सिंहासनादधोलम्बमानं तदीयं पादाग्रं सादरं संवाहयति दास्येन स्वं निवेदयति विदुरे दयमानमनाः श्रीकृष्णः शृण्वत्सु भीष्मादिषु विज्ञजनेषु धृतराष्ट्रं सम्बोध्य वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान् इत्याशयः ॥ ३३ ॥

भगवान् सिंहासनपर बैठे थे, उनके कोमल चरण नीचे लटक रहे थे, विदुर उन्हें

१. 'वर्ज्यम्'। २. 'अवनतम्'। ३. 'गिरम्'। इति पा०।

धीरे धीरे दबा रहे थे, विदुरका इस प्रकार दास्यभाव देखकर उनपर दयाभाव रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने सभामें वर्त्तमान विज्ञजन भीष्म, द्रोण आदिको सावधानतया सुननेके लिये तत्पर देखकर जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार वचन कहे ॥ ३३ ॥

अल्पैरहोभिरधियुद्धमवेक्ष्य नङ्क्ष्य-
चान्द्रं कुलं तव सुतैः सह पाण्डवानाम् ।
संधिं विधातुमधुना समये विधेयं
प्राप्तोऽहमस्मि भरतर्षभ ! ते सकाशम् ॥ ३४ ॥

अल्पैरिति । हे भरतर्षभ, भरतकुलश्रेष्ठ, धृतराष्ट्र, अल्पैः कतिपयैः एव अहोभिः दिवसैः अधियुद्ध युद्धे चान्द्रं कुलं समस्तं चन्द्रवंशं नङ्क्ष्यत् विनाशं गमिष्यत् अवेक्ष्य ज्ञानदृशा दृष्ट्वा (उत्प्रेक्ष्य) अधुना समये उपयुक्ते काले विधेयम् कर्त्तुं योग्यं तव सुतैः दुर्योधनादिभिः सह पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनां सन्धिम् परस्परानुकूल्यम् मैत्रीम् विधातुं सम्पादयितुं ते तव कुलश्रेष्ठस्य सकाशं समीपम् अहम् प्राप्तः आगतोऽस्मि । हे धृतराष्ट्र, कियद्भिरेव वासरैः (न तु पञ्चमासवर्षैः) युद्धे भाविनं समग्रचन्द्रवंशनाशं संभाव्य तव पुत्रैः सह पाण्डवानां सन्धिं (सम्प्रति प्राप्तकालं पश्चात्तस्मिन् कृतेऽपि फलाभावेन वैयर्थ्यात्) सम्पादयितुं तव समीपमहमायात इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

कुछ ही दिनोंमें युद्धमें समस्त चन्द्रवंशका नाश होते देखकर—समस्त चन्द्रवंश कुछ ही दिनोंमें युद्धमें समाप्त हो जायगा ऐसा अन्दाज करके आपके पुत्र दुर्योधनादिका पाण्डवों के साथ मेल कराने–सुलह कराकर समस्त चन्द्रवंशको समाप्त होनेसे बचानेके लिये जो इस समय करना ही चाहिये–मैं आपके पास आया हूँ, आप भरतवंशके भूषण हैं, आपका काम है कि आप इस वंशनाशको बचायें ॥ ३४ ॥

शतेन संधत्स्व तनूभवानां कुन्तीकुमारान्कुशलोदयाय ।
कल्लोलजालेन कलिन्दजाया गङ्गातरङ्गानिव गेयकीर्ते ! ॥ ३५ ॥

शतेनेति । हे गेयकीर्त्ते, स्तोतव्ययशः सम्पन्नयशस्विन् धृतराष्ट्र, कुशलोदयाय समस्तकुलकल्याणाय तनूभवानां स्वपुत्राणां शतेन शतसंख्यकैर्दुर्योधनादिभिः स्वतनयैः सह कुन्तीकुमारान् युधिष्ठिरादिपाण्डवान्—कलिन्दजायाः यमुनायाः कल्लोलजालेन तरङ्गनिकरेण गङ्गातरङ्गान् भागीरथीप्रवाहान् इव सन्धत्स्व मेलय । यथा गङ्गायमुनयोः सङ्गमो लोकानां कल्याणाय जायते, तथैव तव पुत्रैः पाण्डवानां सन्धिः समस्तचन्द्रवंशस्य जीवनरक्षायै स्यादतस्तदर्थं यतस्वेति भावः । अत्र यमुनाकल्लोलैस्सह दुर्योधनादीनामुपमा, तेन तेषां मलिनता, गङ्गाप्रवाहेण सह च पाण्डवानां तेन च तेषां नैर्मल्यं व्यञ्जितं, ताभ्यामुभयोः पक्षयोराग्रहानाग्रहौ व्यक्तौ ॥ ३५ ॥

हे यशस्विन् धृतराष्ट्, जिसप्रकार यमुनाकी कल्लोलमाला तथा गङ्गातरङ्गोंमें सन्धि हो जानेसे सकलजनका कल्याण–पापनाश होता है, उसी तरह आपके सौ पुत्रों दुर्योधनादि के साथ कुन्तिके पुत्र पाण्डवोंकी सन्धिके हो जानेसे समस्त चन्द्रवंशका कल्याण, असमय मृत्युसे त्राण हो जायगा, अतः आप अपने पुत्रों तथा पाण्डवोंके बीचमें सन्धि–सुलह अवश्य करा दें ॥ ३५ ॥

पादारविन्दे प्रणतीः शिरोभिः शतं शतं सादरमर्पयन्तः ।
पाण्डोः कुमाराश्च भवन्तमेवं विज्ञापयन्ति स्म विनीतिपूर्वम् ॥ ३६ ॥

पादारविन्दे इति । पाण्डोः कुमाराः पुत्राः युधिष्ठिरादयः पादारविन्दे त्वदीये पादकमले शिरोभिः स्वैः मूर्धभिः सादरं सबहुमानं शतं शतं प्रणतीः शतसङ्ख्याकान् प्रणामान् अर्पयन्तो निवेदयन्तः सन्तः विनीतिपूर्वम् सविनयम् भवन्तम् एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण विज्ञापयन्ति स्म मन्मुखेन निवेदितवन्तः । युधिष्ठिरादयो भवदीये पादकमले शतधा प्रणम्य सविनयमेवं भवते विज्ञापयन्ति स्मेति भावः ॥

पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदिने आपके चरणकमलमें सादर शतशत प्रणाम निवेदन करके नम्रतापूर्वक आपसे इस प्रकार निवेदन किया है ॥ ३६ ॥

जाता वने वयममी भवदङ्कभूमौ
वृद्धिङ्गताः[1] शिरसि शासनमादधानाः ।
निस्तीर्णसंगरपयोनिधयस्त्वयाद्य
स्थाप्या यथांशमवनेरवने वने वा ॥ ३७ ॥

जाता इति । वने कानने जाताः उत्पन्नाः भवतः तव अङ्कभूमौ उत्सङ्गदेशे वृद्धिंगताः पालिताः, शासनं भवदीयामाज्ञां शिरसि मूर्धनि आदधानाः धारयन्तः सदैव भवदाज्ञापरतन्त्राः, निस्तीर्णाः उत्तीर्णाः अतिक्रान्ताः सङ्गराः प्रतिज्ञाः वनवासाज्ञातवासादिरूपाः पयोनिधयः सागराः यैस्तथोक्ताः अमी वयम् पाण्डुपुत्राः त्वया अद्य यथांशं यथाऽस्मदीयभागम् अवनेः पृथ्व्याः अवने पालने वने कानने वा स्थाप्याः–नियोजयितव्याः । वयं वने उत्पन्नाः, भवान् बाल्ये एव मृतपितृकानस्मानपालयत्, वयमपि सर्वदैव भवदाज्ञां शिरसा धृतवन्तः सम्प्रति वयं वनवासाज्ञातवासादिरूपं दुस्तरं प्रतिज्ञासागरं लङ्घयित्वा स्थिताः स्मः, तदिदानीमिदं भवतामेव कर्त्तव्यं भवति यद् भवन्तोऽस्मभ्यं यथांशं पृथ्वीं विभज्य दत्त्वा तत्पालनेऽधिकुर्युः वने वास्मान् विसृजेयुरिति ॥ ३७ ॥

हम लोग वनमें पैदा हुए, लड़कपनमें ही पिताके मर जानेपर आपने ही हमारा पालन किया, हम आपकी ही गोदमें सयाने हुए, सदा आपकी आज्ञाको सिरपर रखा,

---

१. 'संवर्धिताः' । इति पा० ।

इस समय हम वनवास, अज्ञातवास आदि दुस्तर प्रतिज्ञासागरको पार करके अवस्थित हैं, आप चाहें तो हमें अपना भाग पृथ्वीका अंश-आधा राज्य दिलाकर उसकी रक्षामें नियुक्त करें या वनमें रहनेको कह दें ॥ ३७ ॥

बाल्ये वनान्तजनुषां मम पाण्डवाना-
मेकापि रक्षणविधौ न बभूव धात्री ।
इत्येव शोकमनिशं हृदये दधान-
स्तस्यास्तु नार्धमपि संप्रति दित्ससि त्वम् ॥ ३८ ॥

बाल्य इति । वनान्ते अरण्यप्रान्ते जनुः जन्म येषां तेषां वने जातानाम् मम पाण्डवानाम् मद्भ्रातृपुत्राणां युधिष्ठिरादीनाम् रक्षणविधौ पालनादिकर्मणि एकापि धात्री उपमाता न बभूव नातिष्ठत् इति एवं प्रकारकम् उपमातुरभावकृतं शोकं मनःखेदम् अनिशं सदा हृदये दधानः त्वम् तस्याः धात्र्याः अर्धम् अपि सम्प्रति न दित्ससि दातुमिच्छसि । यो भवान् अस्माकं वने जातानां बाल्ये परिरक्षणार्थमुपमाता धात्री नासीदित्येतदर्थं मनःखेदमनुभवति स्म, स एव भवान् अधुना धात्र्यर्धमपि दातुमिच्छां न करिष्यतीति न संभवतीति भावः, यदर्थधात्र्यभावे यस्य खेदः स तस्मै धात्र्यर्धमपि दातुं नेच्छेदिति न संभवतीति, अत्यन्तस्नेहेनास्मासु व्यवहृतवता त्वयाऽवश्य राज्यार्धमस्मभ्यं दीयेतेति तात्पर्यम् ॥ ३८ ॥

आपके हृदयमें बराबर इस बातका दुःख बना रहा है कि हमारे इन पाण्डुपुत्रोंको बाल्यावस्थामें पालनपोषण करनेके लिये एक भी धात्री-उपमाता (दाई) नहीं रही, इस समय वही आप धात्रीका आधा पृथ्वीका अर्धांश भी नहीं देना चाहेंगे ? अवश्य देंगे, जिसे इतनी ममता हो कि धात्रीके न होनेका दुःख बराबर खला करे, भला वह आधी धात्री (उचित राज्यार्ध) भी न दे यह कब संभव है ॥ ३८ ॥

इत्थं ब्रुवाणं यदुवीरमेनं निःश्वस्य दीर्घं नृपतिर्बभाषे ।
व्यरंसिषं व्यध्वमसुं विमुञ्च विमुञ्च वत्सेत्यनुशास्य शौरे ! ॥ ३९ ॥

इत्थं इति । इत्थं ब्रुवाणमिति ब्रुवाणम् पाण्डवोक्तं निवेदयन्तम् एनं यदुवीरम् यदुनाथं श्रीकृष्णम् दीर्घं निःश्वस्य दुःखव्यञ्जकं दीर्घश्वासं कृत्वा नृपतिः धृतराष्ट्रः बभाषे उक्तवान् , हे वत्स, पुत्र दुर्योधन, व्यध्वं कुमार्गं पाण्डवैः सह वैरं मुञ्च मुञ्च त्यज त्यज इति एवं प्रकारेण अमुं दुर्योधनमनुशास्य उपदिश्य व्यरंसिषम् विरतोऽस्मि, नायम्मदुदितं पाण्डवैरविरोधं कर्णे करोति । हे शौरे, हे श्रीकृष्ण, दुष्टोऽयं दुर्योधनो नेच्छति सन्धिमहं तु शतशः सन्धयेऽनुशिष्यश्रान्तोऽस्मीति पाण्डवोक्तं कथयते भगवते धृतराष्ट्रः सनिःश्वासमुवाचेति भावः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार पाण्डवोंके वक्तव्यको दुहराते हुए श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रने दुःखद्योतक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा कि हे कृष्ण मैंने इस दुर्मार्गगामी दुर्योधनको अनेक बार समझाया

कि हे बेटा ! पाण्डवोंके साथ विरोध रूप कुमार्गको छोड़ दे पर यह सुनता ही नहीं है ॥३९॥

मधुमथन ! निमीलिता मुनीन्द्रे
मम जननी खलु पुत्रवत्सला सा ।
मुखमहमनवेक्ष्य मूर्खसूनो-
र्मुदमधिकामधुना यथा दधामि ॥ ४० ॥

मधुमथनेति । हे मधुमथन मधुनामकदैत्यवधकारिन्, श्रीकृष्ण, सा प्रसिद्धा मम जननी अम्बिका पुत्रवत्सला भाविनि सुते मयि दयालुः सत्येव व्यासे मुनीन्द्रे निमीलिता निमीलिताक्षी खलु जातेति शेषः, (व्यासे नियोगेन पुत्रोत्पादनार्थं सङ्गच्छमाने सति मम माताऽम्बिका यन्निज नेत्रममीलयत्तत्सत्यं मयि भाविनि पुत्रे दयापरवशा सत्येव) यथा यतः अहम् अधुना मूर्खसूनोः अकार्यज्ञस्य पुत्रस्यास्य दुर्योधनस्य मुखम् अनवेक्ष्य अदृष्ट्वा अधिकां सातिशयां मुदं प्रीतिं धारयामि। मम माता व्यासेन संगतिकाले यदक्षि मीलितवती, तन्ममोपकाराय दयया, नान्येन हेतुना, तद्दयया एव सम्प्रति (जन्मान्धतया) मूर्खस्य सुतस्य मुखदर्शनात् सुरक्षितोऽहमधिकमानन्दं वहामि, यदि साऽक्षि न मीलितवत्यभविष्यत्तदा मम चक्षुष्मत्तया मूर्खसुतमुखवीक्षणकष्टमप्यनुभवनीयमेवापत्स्यतेति भावः। वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४० ॥

हे मधुसूदन, हमारा माता अम्बिकाने व्यासदेव मुनीन्द्रके साथ संभोगकालमें जो अपनी आँखें मूँद ली थीं, वह निश्चय ही होनेवाले पुत्र–मुझ धृतराष्ट्र पर दया करके वैसा किया था, क्योंकि इस समय उसीके अक्षिनिमीलनरूप अनुग्रहके कारण मैं जन्मान्ध पैदा हुआ जिससे मुझे इस समय मूर्ख पुत्रका मुख देखना नहीं पड़ता है, जिसके कारण मूर्खसुतमुखावलोकनरूप अन्तःकष्टसे मुक्त रहकर सन्तोषका अनुभव करता हूँ ॥ ४० ॥

स्वयमपि न विबुध्यते सुतोऽयं सुमतिजनस्य शृणोति नापि वाचम् ।
कुरुकुलकुशलाङ्कुराभिवृद्ध्यै गुणगणवारिनिधे ! गतिस्त्वमेव ॥ ४१ ॥

स्वयमपीति । अयं सुतः मम पुत्रो दुर्योधनः स्वयम् अपि न विबुध्यते हितमवधारयति, नापि न च सुमतिजनस्य विद्वज्जनस्य भीष्मविदुरादेः वाचं शृणोति, एकमपि वचनम् आकर्णयति, (तदस्यां विषमायां परिस्थितौ) हे गुणगणवारिनिधे समस्तगुणसागर श्रीकृष्ण, त्वमेव केवलं त्वम् एव कुरुकुलस्य यः कुशलाङ्कुरः क्षेमबीजं तस्य अभिवृद्ध्यै वर्धनाय पल्लवनाय गतिः उपायः, केवल त्वमेवैकः कौरववंशमस्मान्महाविनाशाद्रक्षितुं क्षमसे नान्य इति भावः । अङ्कुराभिवृद्ध्यै पयोराशिरेव सेचनद्वारा क्षमते इत्याशयोऽन्तर्निगूढो द्योत्यः ॥ ४१ ॥

यह हमारा मूर्ख पुत्र खुद भी कुछ नहीं समझता है, और बुद्धिमान् जन भीष्म, विदुर आदिका कहना भी नहीं सुनता है, अतः इस स्थितिमें, हे गुणगणके सागर आपही कुरुवंश

के कुशलरूप अङ्कुरकी अभिवृद्धि कर सकते हैं, आपकी ही चेष्टासे कुरुवंशका कुशल पनप सकता है। सागरकी बूँदोंसे ही कदाचित् कुशलका अङ्कुर पल्लवित हो जाय तो हो सकता है, दूसरा कुछ रास्ता नहीं है॥ ४१॥

इति [1]सिद्धान्तितवति बद्धाञ्जलौ राजनि निजासनार्धनि[2]वेशितकरतलतया किंचिदुन्नमितवामभुजशिखरेण ग[3]ण्डमण्डले निमज्जितमकरकुण्डलं क[4]टिचलनकन्दलितकाञ्चनपटमर्म[5]रारवमीषत्कंधरां विनिवर्त्य,—

इतीति। बद्धाञ्जलौ नम्रतां द्योतयितुं कृतकरयुगबन्धे राजनि धृतराष्ट्रे इति प्रोक्तप्रकारेण सिद्धान्तितवति–प्रकटीकृतनिश्चये निर्णीतार्थं कथितवति सति निजासनार्धे स्वासनैकभागे निवेशितकरतलतया स्थापितबाहुतया किञ्चिदुन्नमितवामभुजशिखरेण ऊर्ध्वमुखगतवामहस्ताग्रभागेन (दक्षिणं हस्तमासने आरोपयति सति कृष्णे तस्य वामबाहुशिखरस्योन्नतिर्जाता) गण्डमण्डले कपोलमध्ये निमज्जितं तिरोहितं मकरकुण्डलं मकराकृतिकर्णभूषणं यत्र कर्मणि तथा, (उन्नमितेन वामहस्ताग्रेण कुण्डलमाच्छादयन्) कटिचलनेन कन्दलितः वलिमान् यः काञ्चनपटः सुवर्णतन्तुप्रचुरः पीतपटस्तस्य मर्मरारवः मर्मरध्वनिर्यत्र कर्मणि तथा, ईषत् स्वल्पं कन्धरां विनिवर्त्य परावर्त्य—दुर्योधनाभिमुखं द्रष्टुं तदभिमुखीभूयेत्यर्थः। कंसवैरी आहेति वक्ष्यमाणक्रिययाऽन्वयः।

राजा धृतराष्ट्रने जब हाथ जोड़कर अपना सिद्धान्त प्रकाशित कर दिया तब श्रीकृष्णने—अपने आसनके एक भागपर हाथ रोप दिया, बायें हाथके अग्रभागको उठाकर अपने कानमें वर्तमान् कुण्डलको अन्तर्हित कर दिया. कटिप्रदेशके सञ्चलित होनेसे कपड़ेमें सिकुड़न पैदा हुई जिससे भगवान्के जरीदार पीतवस्त्रने मर्मर ध्वनि की, भगवान्ने गर्दनको थोड़ा घुमाया, (फिर दुर्योधनसे कहा)॥

क्लृप्तस्मितं रविभुवा कृतहस्ततालं
दुःशासनेन धुरि दूषितसंधिपक्ष्म्।
कर्णोपकण्ठचलिताधरमातुलास्यं
कौरव्यमाह कुरुसंसदि कंसवैरी॥ ४२॥

क्लृप्तस्मितमिति। रविभुवा सूर्यपुत्रेण कर्णेन कृतहस्ततालं कृतहस्तध्वनिः यथा स्यात्तथा क्लृप्तस्मितं कृतहासम् कर्णस्य हस्ते स्वहस्ताघातं कृत्वा हसन्तमित्यर्थः, धुरि अग्रे दुःशासनेन भ्रात्रा दूषितः अनभिमतः सन्धिपक्षः सन्धिसिद्धान्तो यत्र कर्मणि तत्तथा, कर्णोपकण्ठे श्रोत्रसमीपे चलिताधरं मन्दं मन्दं किमपि कथयत्

---

१. 'सिद्धान्तवति'। २. 'विनिवेशित'। ३. 'गण्डमण्डल'।
४. 'कटितटचलन'। ५. 'मर्मरमीषत्'। इति पा०।

मातुलास्यं शकुनिमुखं यस्य तं कौरव्यं दुर्योधनं कुरुसंसदि कौरवगणपरिषदि एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण आह कथयति स्म। धृतराष्ट्रे कथयति तदीयं कथनमनादरेणे-वोपेक्षमाणं सहासं कर्णस्य हस्ते स्वहस्तमारोप्य कृततालं दूषितसन्धेर्दुःशासनस्य वचनमाकर्ण्य शकुनिकृतकर्णोपजापमाकर्णयन्तं दुर्योधनं भगवानेवं सर्वजनसमक्ष-मुक्तवानिति भावः ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र जब भगवान्से अपना मन्तव्य कह रहे थे तब दुर्योधन कर्णके हाथपर ताली मारकर हँस रहा था, दुःशासनने पहले ही सन्धिकी बातको दूषित कर दिया था, और दुर्योधनके कानके पास मामा शकुनि कुछ कह रहे थे, कुछ मन्त्रणा दे रहे थे जिससे उनका ओठ हिल रहा था, इस स्थितिमें भगवान्ने सभी कुरुजनके सामने दुर्योधनको कहा— ॥ ४२ ॥

पृथासुतेभ्यः पृथिवीं तदीयां पुनर्दिशेति ब्रुवतो गुरोर्गाम् ।
अशृण्वतः पौरव ! ते कथं वा संभूतिरेषा शशिनोऽन्ववाये ॥ ४३ ॥

पृथासुतेभ्य इति। हे पौरव पुरुवंशोत्पन्न दुर्योधन, पृथासुतेभ्यः कुन्तीपुत्रेभ्यो धर्मराजादिभ्यः तदीयां वस्तुतस्तत्सम्बन्धिनीं पृथिवीं भुवं पुनः दिश प्रत्यर्पय इति ब्रुवतः कथयतः गुरोः पितुर्गाम् वाचम् अशृण्वतः अनाद्रियमाणस्य ते तव एषा वर्त्तमाना शशिनोऽन्ववाये चन्द्रवंशे संभूतिः उत्पत्तिः कथम् केन वा प्रकारेण जाता? तव पिता कथयति, पार्थेभ्यस्तदीया पृथिवी दीयताम् इति तदप्युपेक्षयाऽ-शृण्वतस्तव जन्म कथं चन्द्रवंशेऽभूदिति नावैमि, नहि विमले चन्द्रकुले त्वादृशां पितुरुचितमप्यादेशमपालयतां जन्मोचितमासीत्तत्कथमजायतेति हेतुं न पश्या-मीति भावः ॥ ४३ ॥

हे पौरव दुर्योधन, पिता कह रहे हैं कि पाण्डवोंकी पृथ्वी-राज्य-उन्हें फिरसे लौटा दो, और तुम उनका यह अत्यन्त युक्त आदेश भी नहीं सुन रहे हो, इस तरहके पितृ-वचनलङ्घी तुम्हारा जन्म कैसे इस चन्द्रवंशमें हो गया, मैं नहीं समझ रहा हूँ। तुम्हारे समान जनका जन्म तो इस वंशमें नहीं होना चाहिये, न जाने वह कैसे हो गया ॥ ४३ ॥

तत्तादृशं शृणु महत्तव वंशवृत्तं
पूरुर्ददौ नववयः पितुरात्तजीर्णः ।
त्यक्त्वाश्रमं पितृमुदे तृणवद्द्वितीयं
देवव्रतोऽयमिह तिष्ठति धीरधीरः ॥ ४४ ॥

तत्तादृशमिति। हे कौरव, तत् प्रसिद्धं तादृशम् असाधारणम् तव वंशवृत्तं वंशानुचरितं शृणु आकर्णय, पूरुः नाम पुत्रः पितुर्ययातेः आत्तजीर्णः वार्धकं गृहीत्वा

---

१. 'कौरव'। इति पा०।

नववयः नवीनामवस्थाम् यौवनं ददौ दत्तवान्। पूरुर्नाम पित्राज्ञापालकः तवैव वंशे जातो यो निजपितुर्ययातेर्वार्धकं गृहीत्वा स्वं तारुण्यं पित्रे दत्तवानित्यर्थः। ननु पुराणमिदं वृत्तं न मदुपदेशार्हमिति चेत्तत्राह—(तिष्ठतु पुराणवार्त्ता) धीरधीरः अतिगभीरः अयं देवव्रतः भीष्मः पितृमुदे शन्तनुनाम्नः पितुः सन्तोषाय द्वितीयम् गार्हस्थ्यरूपमाश्रमं तृणवत् त्यक्त्वा अनायासं गार्हस्थ्यसुखं विहाय इह तव पुर एव तिष्ठति। इमं प्रत्यक्षनिदर्शनभूतं भीष्ममालोक्यापि त्वया पितुराज्ञाऽवधीर्यते इति न युक्तं तव पूरुवंश्यस्येति तात्पर्यम् ॥ ४४ ॥

हे कौरव दुर्योधन, तुम अपने वंशके अनुपम चरित्रोंको सुनो—तुम्हारे ही वंशमें पूरु नामक राजा थे जिन्होंने अपने पिता ययातिकी वृद्धावस्था खुद ले ली, और अपनी जवानी पिताको दे दी, (जाने दो पुरानी बातको) अपने पिता शन्तनुको प्रसन्न रखनेके लिये अपने गार्हस्थाश्रमको अनायास छोड़ देनेवाले अतिगम्भीर देवव्रत तो तुम्हारे सामने ही बैठे हैं। ऐसे ऐसे पितृवचनवर्त्ती लोगोंके वंशमें जन्म लेकर भी तुम ऐसे हो कि पिताके अत्यन्त उपयुक्त आदेश की भी उपेक्षा कर रहे हो ? ॥ ४४ ॥

> कितवोक्तिभिः किसलितः स कर्णयोः[1]
> सफलो भवेत्तव तदा मनोरथः।
> हरिनन्दनेन युधि पातितं धनु-
> र्हरमस्तकान्न पुनरुन्ममज्ज चेत् ॥ ४५ ॥

कितवोक्तिभिरिति। कर्णयोः श्रोत्रयोः कितवोक्तिभिः धूर्त्तशकुन्यादिमन्त्रणाभिः किसलितः सञ्जातपल्लवः सः प्रसिद्धो राज्यापहरणरूपः तव दुर्योधनस्य मनोरथः दुरभिलापः तदा सफलो भवेत् पूर्णः स्यात् चेत् यदि हरिनन्दनेन अर्जुनेन युधि किरातार्जुनीययुद्धकाले पातितं हरमस्तके प्रहृतं धनुः गाण्डीवम् हरमस्तकात् शिवशिरसः पुनः न उन्ममज्ज बहिर्बभूव शकुन्यादिधूर्त्तजनोक्तीः कर्णे कृत्वा त्वया कृतो राज्यापहरणमनोरथस्तदासिद्धोऽभविष्यद्यदि महादेवेन सह युद्ध्यमानेन पार्थेन शिवशिरसि प्रहृतं गाण्डीवं धनुस्ततो न बहिरभविष्यत्, परं तथा न जातं, प्रसन्नः शिवोऽर्जुनाय तदस्त्रं पुनरदादतस्तस्मिन् हरप्रसादलब्धे दुर्जये गाण्डीवे धनुषि विद्यमाने तवायं मनोरथो न फलिता, अतो वृथा कलङ्कमर्जयसीति भावः ॥४५॥

वञ्चक धूर्त्त शकुनि आदिकी उक्तियोंसे जो तुम्हारा परराज्यापहरणरूप मनोरथ पल्लवित हो रहा था वह तभी सफल हो सकता था जबकि किरातार्जुनयुद्धमें अर्जुन द्वारा शिवजीके सिरपर प्रहृत होनेवाला गाण्डीव वहाँसे बाहर नहीं चला आया होता, यदि महादेव अर्जुन से धनुषको लौटा नहीं देते, जिस प्रकार अदृश्य कर दिया था अगर वह उसी तरह अदृश्य

---

१. 'किसलितश्च कर्णयोः'। इति पा०।

रह गया होता तब तुम अपना वह कपटमनोरथ सिद्ध कर लेते, परन्तु वैसा नहीं हुआ, अर्जुनके पराक्रमसे प्रसन्न होकर शिवजीने गाण्डीव धनुष वापस कर दिया है उसके रहते तुम्हारी यह बेइमानी सफल नहीं होगी, फिर क्यों कलङ्क लेते हो? ॥ ४५ ॥

वंशः कुरूणां महितोऽयमस्मिन्धर्तुं कलङ्कं चतुरौ खलु द्वौ।
एकत्र कोटौ रजनेरधीशः परत्र मन्ये परुषो[१] भवांश्च ॥ ४६ ॥

वंशः कुरूणामिति। अयं कुरूणां वंशः कुलम् महितः प्रसिद्धः, अस्मिन् कुरूणां वंशे कलङ्कं चिह्नम् अपवादं च धर्तुं धारयितुम्—एकत्र कोटौ प्रारम्भभागे रजनेः निशायाः अधीशः चन्द्रः परत्रकोटौ परुषः निर्दयः भवांश्च द्वौ एतौ चतुरौ निपुणौ मन्ये खलु। अहं मन्येऽतिख्याते कुरुकुले प्रथमभागे चन्द्रः कलङ्कभाजनमजनि चरमभागे च भवान् कलङ्की उत्पन्न इति द्वावेव कलङ्किनौ जातौ, भविष्यति कलङ्कीति तु नैव संभाव्यते सम्प्रत्येव युद्धे कुरुवंशविनाशस्यावश्यंभावित्वात् छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् इति प्रसिद्धेरिति। तुलनार्थं दृश्यताम्—'इन्दुरादिरजनिष्टकलङ्कीकष्टमत्र स भवानपि मा भूत्' इति नैषधीयचरिते पञ्चमसर्गे इन्द्रनलसंवादे ॥ ४६ ॥

कुरुवंश बड़ा प्रशंसनीय है, मैं समझता हूँ इसमें आदिभागमें चन्द्रमाने अङ्क चिह्न कलङ्क धारण किया, और अन्तभागमें निर्दयहृदय होकर तुम कलङ्क धारण करोगे, बस यही दो इस वंशमें कलङ्की कहलायेंगे, भविष्यमें भी इसमें तीसरे कलङ्कीके पैदा होनेका भय नहीं है क्योंकि यह वंश तो इसी युद्धमें समाप्त होगा, फिर कलङ्की पैदा होगा कहाँ? इसलिये तुम तथा चन्द्रमा यही दो कलङ्की इस वंशमें कहलायेंगे ॥ ४६ ॥

बन्धूपदिष्टं न शृणोषि वत्स! संधानमस्मिन्न तवाद्य दोषः।
गन्धर्वराजेन कृतं वनान्ते बन्धं पुनर्मुक्तवता हि तेषाम् ॥ ४७ ॥

बन्धूपदिष्टमिति। हे वत्स, त्वं बन्धुभिः आत्मीयैर्जनैः मादृशैः उपदिष्टं कथितं सन्धानं पाण्डवैः सह सन्धिं न शृणोषि नाङ्गीकरोषि (यत्) अस्मिन् सन्धेः प्रस्तावस्य त्वयाऽनङ्गीकारे अद्य सम्प्रति तव दोषः अपराधः नास्ति, किन्तु वनान्ते द्वैतवनमध्ये गन्धर्वराजेन चित्रसेनेन कृतम् बन्धम् तव संयमनं पुनर्मुक्तवताम् मोचितवताम् तेषां हि पाण्डवानाम् (दोषः)। अयमाशयः—सम्प्रति निजजनैः प्रस्तूयमानं सन्धिं त्वं नाङ्गीकरोषि, नेदं तव दूषणं किन्तु चित्रसेनेन बद्धं त्वां बन्धनान्मोचितवतां पाण्डवानामेव दूषणमिति, 'पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धन'मिति प्राचीनोक्तिमनादृत्य पाण्डवास्त्वां तादृग्बन्धविपदोऽरक्षन्नत एव त्वं सम्प्रतीत्थं विकत्थसे, यदि ते तथा न कृतवन्तः स्युस्तदा कुत्रास्थास्य इति भावः। अत्रोपकारस्यापकारफलदत्वेन वर्णनाल्लेशालङ्कारः ॥ ४७ ॥

---

१. 'पुरुषो'। इति पा०।

वत्स, इस समय जो तुम आत्मीयजनों द्वारा प्रस्तावित सन्धिके लिये तैयार नहीं हो रहे हो, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है, यह तो पाण्डवोंका दोष है कि उन लोगों ने द्वैतवनमें जब तुम्हे गन्धर्वराज चित्रसेन बाँधकर लिये जा रहे थे तब बन्धनमुक्त कर दिया, अगर उन लोगोंने वैसा न किया होता तब यह सन्धिप्रस्ताव नहीं करना पड़ता, तब तो तुम कहीं बँधे पड़े होते ॥ ४७ ॥

इति निगदितवति[1] भगवति क्रोधनः सुयोधनोऽपि गिरमिमामुज्जगार[2],—अये[3] नन्दनन्दन! केवलं विराटतनयाश्रयलाभेन कृतकृत्यंमन्यमानानां[4] कुन्तीभुवां च बहुभिरक्षौहिणीपतिभिरनुक्षणमावेद्यमानाञ्जलिधोरणीमवलोकयितुमप्यलब्धावसराणामस्माकं च किं वा संधानं किं वा तव दूतकृत्यं किं वा मया देयमीदृग्विधं मुधायासमवधूय यथागतं गन्तव्यमिति।

[5], [6], [7] and [8] are printed as superscripts elsewhere in the verse but are not clearly placed.

इतीति। इति एवं निगदितवति कथितवति भगवति श्रीकृष्णे क्रोधनः कोपनस्वभावः सुयोधनः दुर्योधनोऽपि इमां वक्ष्यमाणलक्षणां गिरं वाचम् उज्जगार व्याजहार। अये नन्दनन्दन, नन्दसूनो, केवलं विराटतनयाश्रयलाभेन विराटपुत्रस्याश्रयं प्राप्य कृतकृत्यं मन्यमानानाम् आत्मानं धन्यं समर्थयताम् कुन्तीभुवां पार्थानाम् च बहुभिः अनल्पसंख्यैः अक्षौहिणीपतिभिः महासेनानायकैः अनुक्षणम् सदा आवेद्यमानाञ्जलिधोरणीम् क्रियमाणान् नमस्कारान् अवलोकयितुं द्रष्टुमप्यलब्धावसराणाम् अप्राप्तसमयानाम् (सेनापतीन्नमस्कुर्वतो दृशापि साक्षात् कर्त्तुम् अलब्धकालानाम्) अस्माकं कौरवाणां च किं वा सन्धानम् सन्धिः? (सन्धिर्हि समानबलयोः शोभते, न दुर्बलप्रबलयोरिति हृदयेऽभिप्रायः) किं वा कीदृशं वा तव दूतकृत्यम् दूत्यम्? (असंभववस्तुनिवेदनं दूतस्योपहासायैव जायते) किं वा मया देयम्? प्रत्यर्पणीयं राज्यम्? (राज्यस्य वीरभोग्यत्वात्) ईदृग्विधम् एतादृशरूपं मुधाऽऽयासम् व्यर्थप्रयासम् अवधूय यथागतं गन्तव्यम् येन वर्त्मनाऽऽगतं तेनैव वर्त्मना परावर्त्तनीयमित्यर्थः॥

भगवान्‌ने जब इस प्रकारसे कहा तब कुपित होकर दुर्योधनने भी यह बात कही—नन्दलाल, पाण्डव केवल विराटपुत्रका आश्रय पाकर अपनेको कृतकृत्य समझ रहे हैं, और हम लोगोंको इसके लिये भी समय नहीं मिल रहा है कि प्रतिक्षण नमस्कार करनेके लिये हाथ जोड़नेवाले अक्षौहिणीसेनासञ्चालकोंको एकबार देखकर भी उन्हें संभावित

---

१. 'प्रगदित'; 'गदित'। २. 'उज्जहार'। ३. 'अरे'। ४. 'मन्यनाम्'। ५. 'अक्षौहिणीभिः'। ६. 'अञ्जली'। ७. 'अवलोकितुम्'। ८. 'भवता यथा'। इति पा०।

कर सकें, इस स्थितिमें पाण्डवोंकी और हमारी सन्धि कैसी ? और इसमें आपकी दूतता क्या काम करेगी ? मैं दे क्या सकूँगा ? इसलिये इस व्यर्थ परिश्रमको छोड़कर आप जैसे आये हैं, वैसे ही वापस चले जाइये ॥

आकर्ण्य तच्चकितचेतसि नम्रवक्त्रे
कर्णौ पिधाय नृपतौ करसंपुटाभ्याम् ।
मत्वा तृणाय मधुवैरिणमप्यलङ्घ्यं
गोष्ठ्या जवेन निरगात्कुरुराजसूनुः ॥ ४८ ॥

आकर्ण्य तदिति । तत् दुर्योधनदुर्वचनम् आकर्ण्य श्रुत्वा चकितचेतसि भीतमानसे करसम्पुटाभ्याम् संपुटाकारतां नीताभ्यां कराभ्यां कर्णौ पिधाय मुद्रयित्वा नृपतौ धृतराष्ट्रे नम्रवक्त्रे नतमुखे सति अलङ्घ्यम् अनतिक्रमणीयवचनम् मधुवैरिणं हरिम् अपि तृणाय मत्वा अनादृत्य कुरुराजसूनुः धृतराष्ट्रसुतः सुयोधनः जवेन वेगेन गोष्ठ्याः सभाया निरगात् बहिर्गतवान् । तादृशं दुर्वचनं कथयति सुयोधने धृतराष्ट्रो भीतमनाः कर्णौ पिधाय स्थितः, सुयोधनस्तु तथा व्याहृत्य भगवति तत्रस्थेऽपि कृतानास्थो वेगेन सभाभवनाद्बहिरयासीदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

दुर्योधनके दुर्वचनोंको सुनकर धृतराष्ट्र मन ही मन डरे कि अब अनर्थ होकर ही रहेगा, उन्होंने अपने हाथोंसे कान मूँद लिये, उस समय दुर्योधन अनतिक्रमणीयआदेशवाले भगवान्की भी उपेक्षा करके वेगके साथ सभासे बाहर चला गया ॥ ४८ ॥

तदनु दनुजारातिरेष रोषस्मितलेशरूषिताधरस्तादृशेन तस्यावलेपवचनेन भिया विहस्तान्मुदा निरस्तान्समस्तानपि सभास्तारान्पुरस्तान्निरीक्ष्य पुनरपि वाचमेवं जगाद,—

तदन्विति । तदनु दुर्योधने सभामण्डपाद्बहिर्गते सति रोषस्मितलेशेन कोपव्यञ्जकेषद्धासेन रूषितः युक्तः अधरो यस्य तथोक्तः एषः दनुजारातिः दैत्यारिः श्रीकृष्णः तादृशेन तथाभूतेन तस्य दुर्योधनस्य अवलेपवचनेन गर्वोक्त्या भिया भयेन विहस्तान् व्याकुलान् (दुर्योधनगर्ववाक्येन कुपितो हरिः कमनर्थमुपस्थापयिष्यतीति भीतहृदयान्) मुदा निरस्तान् समासहर्षान् समस्तान् सकलान् अपि सभास्तारान् सभासदः 'पुरस्तात् पूर्वं पुरतो वा निरीक्ष्य दृष्ट्वा पुनरपि एवं वक्ष्यमाणां वाचं जगाद उक्तवान् ॥

दुर्योधन जब सभासे बाहर चला गया तब कोपव्यञ्जकहाससे युक्त अधरवाले भगवान् दैत्यारि श्रीकृष्णने उस प्रकारकी दुर्योधनकी गर्वोक्ति सुनकर भगवान् अनर्थ उपस्थित कर देंगे इस भयसे त्रस्त, गतहर्ष सभी सभासदोंको आगे देखकर फिर इस प्रकारके वचन कहे ।

---

१. 'सभास्तारान् निरीक्ष्य' । २. 'व्याजहार' । इति पा० ।

धराभुजा किं तटिनीभुवा किं मयाधुना किं वसतापि दूत्ये ।
पार्थाय दातुं प्रभवेद्धरित्रीं गदैव सा गन्धवहस्य सूनोः ॥ ४९ ॥

धराभुजेति । अधुना धराभुजा राज्ञा धृतराष्ट्रेण किम् ? न किमपि कर्त्तुं शक्यमिति सर्वत्र योज्यम् तटिनीभुवा गाङ्गेयेन भीष्मेण किम् ? दूत्ये वसता दूतभावेनागतेन मयाऽपि वा किम् ? दुर्योधने एवं सन्धिपराङ्मुखे न धृतराष्ट्रः किमपि कर्त्तुमीशो न भीष्मः, नवाहं किमपि कर्त्तुं क्षमः, सम्प्रति–पार्थाय युधिष्ठिराय गन्धवहस्य वायोः सूनोः पुत्रस्य भीमस्य गदा एव केवलं धरित्रीं दातुं पृथ्वीं प्रत्यर्पयितुं प्रभवेत् क्षमेत, युद्धादन्यन्नास्ति साधनमिति भावः ॥ ४९ ॥

जब दुर्योधन इस तरहसे सन्धि नहीं करनेको कटिबद्ध हैं तब राजा धृतराष्ट्र क्या करेंगे, भीष्मका क्या अख्तियार है, और दूत बनकर आया हुआ मैं भी क्या कर सकता हूँ, अब तो केवल भीमकी गदा ही युधिष्ठिरको पृथ्वी दिलानेमें समर्थ हो सकती है, अर्थात् अब हम लोगोंके हाथकी बात नहीं है, अब युद्ध अवश्यंभावी है ॥ ४९ ॥

शौरेस्तां वाचमाकर्ण्य साध्वसाक्रान्तचेतसः ।
जोषंभावं सभास्तारा युगपद्दधुरुत्तरम् ॥ ५० ॥

शौरेरिति । ताम् पूर्वोक्तरूपां शौरेः श्रीकृष्णस्य वाचम् गिरम् आकर्ण्य श्रुत्वा साध्वसाक्रान्तचेतसः भयाविष्टहृदयाः सभास्ताराः सर्वे सभासदः जोषंभावं मूकभावेनावस्थानम् युगपदुत्तरम् सामूहिकं प्रतिवचनम् दधुः आश्रयन्ति स्म, तादृशीं भगवदुक्तिं निशम्य भीताः सभासदो मूकीभूय स्थिताः, तेषां मूकभावेनावस्थानमेव भगवदुक्तेः सामूहिकं प्रत्युत्तरमजायतेति भावः । 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौने' इति वैजयन्ती ॥ ५० ॥

भगवान् कृष्णकी वैसी उक्ति सुनकर सभी सभासद्गण चुप लगा गये, यह सभासदों की चुप्पी ही भगवान्के कथनका सामूहिक प्रत्युत्तर हुआ, भयके मारे सभासदोंने कुछ भी न कहा ॥ ५० ॥

बहिः स संमन्त्र्य बलावलिप्तैस्त्रिभिः सहायैर्धृतराष्ट्रसूनुः ।
गन्धर्वराजेन कृतां दशां स्वां गदाग्रजन्मानमियेष नेतुम् ॥ ५१ ॥

बहिरिति । सः गोष्ठ्या बहिर्गतः धृतराष्ट्रसूनुः दुर्योधनः बलावलिप्तैः शौर्यगर्वितैः त्रिभिः कर्णशकुनिदुःशासनरूपैः सहायैः पृष्ठपोषकैः सम्मन्त्र्य परामर्शं कृत्वा गदाग्रजन्मानम् श्रीकृष्णं गन्धर्वराजेन चित्रसेनेन कृतां स्वां दशां बन्धनात्मिकां स्थितिं नेतुं प्रापयितुम् इयेष चकमे । सभानिर्गतो दुर्योधनो बलाभिमानशालिभिः स्वसहायकैः कर्णशकुनिदुःशासनैः सह विचार्य भगवन्तं बन्धनं प्रापयितुमिष्टवानिति भावः ॥ ५१ ॥

सभासे बाहर निकलकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने बलाभिमानी अपने तीनों सहायकों के—कर्ण, शकुनि, दुःशासनके साथ परामर्श करके चाहा कि भगवान्‌की वही हालत की जाय जो हालत गन्धर्वराज चित्रसेनने दुर्योधनकी की थी, अर्थात् जैसे चित्रसेनने दुर्योधनको बाँध लिया था उसी तरह दुर्योधनने भी भगवान्‌को बाँध लेना चाहा ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा तत्कुपितो हरिः स्वयमसावेकोऽपि सर्वात्मक-
स्ताराभिर्नवभिर्ग्रहैर्निबिडितां शैलैर्वनैः सागरैः ।
[1]पेट्यां भूषणमञ्जरीमिव धृतां कुक्षौ जगन्मण्डलीं
जङ्घालामतनोत्सभाजिरजुषां दृक्पङ्क्तिघण्टापथे ॥ ५२ ॥

श्रुत्वा तदिति । स्वयम् एकः सन्नपि सर्वात्मकः सर्वस्वरूपः सर्वान्तर्यामी असौ हरिः भगवान् तत् दुर्योधनादिकृतं दुर्मन्त्रणं बन्धनविषयकं श्रुत्वा प्रभावातिशयात् आकर्ण्य कुपितः क्षुद्रस्य तस्येदृशेन धार्ष्ट्येन संजातकोपः सन् ताराभिः अश्विन्यादिनक्षत्रैः नवभिर्ग्रहैः सूर्यादिनवग्रहैः शैलैः सुमेरुप्रभृतिपर्वतैः वनैस्तैस्तैररण्यैः सागरैः क्षीरसमुद्रादिभिः निबिडितां व्याप्तां जगन्मण्डलीं लोकमालाम् पेट्याम् मञ्जूषायाम् भूषणमञ्जरीम् अलङ्कारजातम् इव कुक्षौ भगवदुदरे धृताम् सभाजिरजुषाम् सभाङ्गणे स्थितानाम् दृक्पङ्क्तिघण्टापथे नयनसमुदायरूपराजमार्गे जङ्घालाम् सपदि महता वेगेन सञ्चरन्तीं सद्यः समुपस्थिताम् अतनोत् कृतवान् । अयमाशयः—दुर्योधनस्य तादृशीं मन्त्रणां प्रभावेण विज्ञाय श्रीकृष्णः कुपितः सन् एकः सन् अपि सर्वगतोऽसौ मञ्जूषायां स्थितां भूषणावलिमिव स्वोदरे स्थितां सनक्षत्रग्रहमण्डलां सशैलकाननसागरां धरां सभासदां दृशोरग्रे समुपस्थापितवान् विश्वरूपं निजं विराट्स्वरूपं प्रकटीचकारेत्याशयः । पेट्यां भूषणमञ्जरीमिवेत्युपमा ॥ ५२ ॥

एक होकर भी सर्वात्मक सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने जब सुना कि दुर्योधन मुझे बन्धनमें डालना चाहता है, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ, उन्होंने—तारे, ग्रहों, पर्वतों, वनों और समुद्रोंसे व्याप्त पृथ्वीमण्डलको—जो उनके उदरमें पेटीमें भूषणोंकी तरह रखी थी सभासद्जनोंकी आँखोंके सामने ला दिया, अर्थात् विश्वरूप धारणकर अपना विराट्‌रूप प्रकट किया, जो रूप उदरमें सारे प्रपञ्चको बक्सेमें गहनोंकी तरह सजाए हुए था ॥ ५२ ॥

तस्मिन्नङ्गुष्ठमात्रे नव इव मुकुरे वीक्ष्य सर्वं प्रपञ्चं
[2]विस्मेराः सिद्धविद्याधरसुरनिकरा[3]ः पुष्पवृष्टीर्व्यमुञ्चन् ।

---

१. 'पेटीभूषण' । २. 'संस्मेराः' । ३. 'सदसः पुष्पवृष्टिम्'; 'सदसः पुष्प वर्षम्' । इति पा० ।

सान्द्रं मोहान्धकारं सकलमुनिजनः संमदाश्रूणि भीष्मः
क्षत्ताऽक्ष्णोः पक्ष्मकम्पं कुरुपुरजनता प्रेम दुर्योधनेऽपि ॥५३॥

तस्मिन्निति । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इत्यादि श्वेताश्वतरश्रुत्या अङ्गुष्ठमात्रे अङ्गुष्ठमात्रपरिमिते तस्मिन् सर्वात्मके भगवति नवे सर्वप्राचीनसजातीयापेक्षया विलक्षणसामर्थ्योपेते मुकुरे दर्पणे इव सर्वम् उच्चावचं प्रपञ्चं जगत्स्थितं वीक्ष्य दृष्ट्वा विस्मेराः आश्चर्ययुक्ताः सिद्धाः, विद्याधराः, सुरनिकराः देवसङ्घाश्च पुष्पवृष्टीः कुसुमनिकरवृष्टीः व्यमुञ्चन् विमुक्तवन्तः सकलमुनिजनः सर्वो मुनिसमुदायः सान्द्रम् अनादिवासनाप्ररूढतया घनम् मोहान्धकारम् अज्ञानं तमः, (व्यमुञ्चत्) भीष्मः गाङ्गेयः संमदाश्रूणि प्रमोदप्रवृत्ताः नयनवारिधाराः (व्यमुञ्चत्) क्षत्ता विदुरः अक्ष्णोः नेत्रयोः पक्ष्मकम्पम् पक्ष्मपातम् निमेषम् (अमुञ्चत्) कुरुपुरजनता हस्तिनापुरवासिजनः अपि दुर्योधने (तादृक्प्रभावं भगवन्तमपि बन्धुमीहमाने) प्रेम स्नेहं व्यमुञ्चत् इति सर्वत्र वचनविपरिणामेन विमुञ्चति क्रियाऽन्वयः । नवीनदर्पणोपमे तत्राङ्गुष्ठपरिमाणे भगवति श्रीकृष्णे समस्तं जगदवेक्ष्य विस्मिताः सिद्धा विद्याधरा देवगणाश्च पुष्पाण्यवर्षन्, मुनयः स्वमज्ञानं तत्यजुः, भीष्मः प्रमोदाश्रु त्यक्तवान्, विदुरो निर्निमेषभावेन पश्यन्नतिष्ठत्, कुरुपुरवासिलोकश्च दुर्योधनात् अपरक्तो बभूवेति भावः । समुच्चयाऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

अङ्गुष्ठपरिमाण उस अनादि पुरुषमें—नवीन दर्पणमें—समस्त प्रपञ्चको देखकर, भगवान्‌के विराटरूपका अवलोकन करके आश्चर्यमें पड़े हुए सिद्ध, विद्याधर तथा देवगणने पुष्पवर्षा की, मुनिजनोंने अपना घना अज्ञानान्धकार दूर किया, भीष्मने आनन्दाश्रु प्रवाहित किये, तथा विदुरने आँखोंका पलक गिराना छोड़ा, निर्निमेष नयनोंसे भगवान्‌को देखा, एवं हस्तिनापुर की जनता दुर्योधनके तादृश अनुचित उद्योग देखकर उससे विरक्त हो उठी ॥ ५३ ॥

अस्याट्टहासध्वनिरादिपुंसो विशृङ्खलं व्योम्नि विजृम्भमाणः ।
दिक्पालसौधावलिजालकानामध्यापकत्वं बिभरांबभूव ॥ ५४ ॥

अस्येति । अस्य विश्वरूपमास्थितस्य आदिपुंसः पुराणपुरुषस्य भगवतः विशृङ्खलम् निर्बाधं व्योम्नि नभोदेशे विजृम्भमाणः प्रसरन् अट्टहासध्वनिः उच्चैः किलकिलाशब्दः दिक्पालानां शक्रादीनां या सौधावलिः प्राकारमाला तस्या जालकानां गवाक्षाणाम् अध्यापकत्वम् अध्ययनाचार्यभावं बिभरांबभूव धारयामास, दिक्पालप्रासादजालकानि प्रतिध्वनिक्रियामशिक्षयत्, विश्वरूपधरस्य भगवतो महाट्टहासो दिशासु व्याप्तः सन् दिक्पालगृहाणि प्रत्यध्वनयदित्याशयः ॥ ५४ ॥

---

१. 'पक्ष्मपातम्' । २. 'करिपुरजनता' । इति पा० ।

विश्वरूप धारण करनेवाले आदिपुरुष भगवान्के उस अति विशाल अट्टहासध्वनिने—जो विना रुके आकाशमें व्याप्त हो रही था—दिक्पालोंके भवनमें वर्त्तमान गवाक्षोंको प्रतिध्वनित करनेकी शिक्षा देनेमें अध्यापकत्व धारण किया, भगवान्के अट्टहासने आकाशमें फैलकर दिक्पालप्रासादोंको भी प्रतिध्वनित कर दिया॥ ५४॥

संस्तूयमानचरितस्य जनैस्त्रिलोकी-
साधारणीकृतकृपस्य हरेः प्रसादात्।
चक्षुष्मतां समधिरुह्य धुरं मुहूर्तं
भूयस्ततोऽप्यवततार स भूमिपालः॥ ५५॥

संस्तूयमानेति। जनैः लोकत्रयवासिलोकैः संस्तूयमानचरितस्य कीर्त्यमानदुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहरूपचरित्रस्य त्रिलोकीसाधारणीकृतकृपस्य लोकत्रयं प्रति समानभावेन दयाशालिनः हरेः श्रीकृष्णस्य प्रसादात् अनुग्रहात् सः भूमिपालो जन्मान्धो धृतराष्ट्रः मुहूर्त्तं चक्षुष्मतां धुरम् नेत्रशालिनां प्राधान्यं दर्शनसामर्थ्यम् समधिरुह्य (कियन्तं कालं यावद् भगवदनुग्रहेण दृक्शक्तिसम्पन्नतां प्रपद्य भगवतो विश्वरूपं विलोक्य च) भूयः पुनरपि ततः चक्षुष्मतां धुरः दृक्शक्तियुक्तत्वात् अवततार पृथग् बभूव। पुनरप्यन्धो बभूवेति भावः। जन्मान्धोऽपि धृतराष्ट्रो विश्वरूपधरस्य भगवतः कृपया दर्शनसामर्थ्यं कियतः कालस्य कृते प्राप्य भगवद्विश्वरूपस्वरूपदर्शनेनात्मानं पावयित्वा च पुनरप्यन्धभावं प्रपन्न इति भावः॥ ५५॥

लोगों द्वारा गीयमानचरित्र, सकल-साधारणपर दया रखनेवाले भगवान्के अनुग्रहसे जन्मान्ध धृतराष्ट्र ने थोड़ी देरके लिये दर्शनसामर्थ्य प्राप्त करके भगवान्का विश्वरूप देख लिया, अपनेको कृतार्थ कर लिया, फिर पहलेकी ही तरह जन्मान्ध हो गये॥ ५५॥

ओजस्तवेदमुपसंहर माधवेति
घुष्यत्सु सत्सु गुरुभीष्मपुरोगमेषु।
घोरं विहाय निमिषेण कुशेशयाक्षो
गोपीदृशां कुतुकहेतुमवाप रूपम्॥ ५६॥

ओजस्तवेति। हे माधव श्रीकृष्ण, तव त्वदीयम् इदं विश्वरूपतास्वरूपम् ओजःरूपम् उपसंहर संवृणु, इति एवं गुरुभीष्मपुरोगमेषु द्रोणभीष्मप्रभृतिषु घुष्यत्सु उच्चैरुच्चारयत्सु सत्सु कुशेशयाक्षः कमलनयनः श्रीकृष्णः निमिषेण क्षणमात्रेण घोरं भयजननं तद्विशालं रूपं विहाय त्यक्त्वा पुनरपि गोपीदृशाम् गोपाङ्गनाजननयनानाम् कुतुकहेतुम् उत्कण्ठाजनकं प्रेमवर्धकं स्वाभाविकं रूपं पीताम्बरपरिधानवनमालाभूषणं वपुः अवाप धारयामास, भगवतो विश्वरूपं दृष्ट्वा भयेन द्रोणभीष्मप्रभृतिषु, हे माधव, निजमिदं भयङ्करं स्वरूपं विसृजेति कथयत्सु सत्सु भगवान्

घोरं तद्रूपं विहाय मनोरमं गोपीदृगाकर्षणकार्मणज्ञं रूपं प्रपन्न इति भावः ॥ ५६ ॥

भगवान्के उस विशाल रूपको देखकर भयभीत द्रोण भीष्म आदि भगवान्से कहने लगे कि हे माधव, आप अपना यह घोररूप संवृत कीजिये, जोरसे उच्चारित इस प्रार्थनाको सुनकर भगवान्ने क्षणभरमें अपना वह भीषण स्वरूप त्यागकरके गोपियोंको लुभानेवाला अपना वही पीताम्बर, वनमाला, मुरली आदिवाला मोहन स्वरूप धारण कर लिया ॥ ५६ ॥

ततस्तादृशं निरुपमानं[1] तस्य महिमानमनुभूय चरितार्थो मुनिसार्थः[2] शान्तमूर्तिं तमेवमस्तौषीत्,—

तत इति। ततः भगवति स्वरूपं संहृतवति सति तादृशं निरूपमानं तुलनारहितम् विलक्षणम् तस्य भगवतः महिमानं प्रभावातिशयम् अनुभूय साक्षात्कृत्य चरितार्थः कृतार्थः मुनिसार्थः मुनिगणः शान्तमूर्त्तिं सौम्यस्वरूपं तम् भगवन्तम् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण अस्तौषीत् स्तोतुं प्रवृत्तः।

इसके बाद भगवान्के सर्वातिशायी महत्त्वको आँखों देखनेके कारण कृतार्थ हुए मुनियोंके समुदायने सौम्यस्वरूप भगवान्की इस प्रकार स्तुति की।

भगवन्! महात्मभिरपि योगिभिरविदितप्रभावाय तस्मै भवते[3] नमः।

भगवन् अखिलसामर्थ्यशालिन्, महात्मभिः उन्नमितात्मिकशक्तिभिः अपि योगिभिः तपस्विभिः अविदितप्रभावाय अविदितसामर्थ्यातिशयाय तस्मै असाधारणपुरुषाय तुभ्यं हरये नमः प्रणताःस्मः॥

भगवन्, आपके प्रभावको महात्मा तपस्वी जन भी नहीं जान पाते हैं, आप असाधारण पुरुष हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं॥

दुग्धाम्बुराशितनयानयनद्वयेन
तुल्याकृतित्वमहिमानमिवोपगन्तुम्।
मत्स्यत्वमेत्य भुवि यः सुरवैरिनीता
मध्येसमुद्रमनवीनगवीर्विचिक्ये॥ ५७॥

दुग्धाम्बुराशीति। यः भगवान् दुग्धाम्बुराशेः क्षीरसागरस्य तनया लक्ष्मीः तस्याः नयनद्वयेन नेत्रद्वितयेन तुल्याकृतित्वं समानरूपता तेन यः महिमा प्रकर्षः लक्ष्मीनयनसादृश्यकृतं महत्त्वम् तम् उपगन्तुम् लब्धुमिव भुवि संसारे मत्स्यत्वम् मत्स्यस्वरूपताम् एत्य प्राप्य मध्येसमुद्रं सागरमध्ये सुरवैरिणा राक्षसेन शङ्खासुरनाम्ना नीताः अनवीनगवीः पुराणवाचः वेदान् विचिक्ये अन्विष्यतिस्म।

---

१. 'तस्य निरुपमानं'। २. 'सार्थः समुपसृत्य'। ३. 'प्रभवते भवते भगवते'। इति पा०।

मत्स्यरूपधरो हरिः शङ्खासुरेण सागरमध्यं नीतान् वेदानन्विष्यति स्म, तस्य मत्स्यरूपधारणे कारणं तु लक्ष्मीनयनसदृशाकारताप्राप्त्या स्वस्मिन्नुत्कर्षज्ञानमेवेति भावः। हेतूत्प्रेक्षात्राऽलङ्कारः ॥ ५७ ॥

जिस भगवान्ने क्षीरसागरकी कन्या—लक्ष्मीके नयनके समान आकार प्राप्त कर सकनेके गौरवको पानेके लिये मत्स्यस्वरूप धारण करके देववैरी शङ्खासुर द्वारा समुद्र मध्य ले जाई गई अनादिवाणी वेदका अन्वेषण किया। भगवान्ने मछलीका रूप धारण किया, मानो वह चाहते हों कि मैं लक्ष्मीके नेत्रके समान रूप धारण करके महत्त्वातिशय को प्राप्त हो जाऊँ ॥ ५७ ॥

मन्थानशैलमपि मार्गरुधं हिमांशो-
वींचीकणैः सदृशमङ्गविषक्तिभाग्भिः ।
काये बभार चरमे कमठाकृतिर्यो
जीवातुमुद्गमयितुं जलधेः सुराणाम् ॥ ५८ ॥

मन्थानशैलमिति। यः कमठाकृतिः कूर्मरूपधरो भगवान् हिमांशोः चन्द्रस्य मार्गरुधं सञ्चारमार्गावरोधकम् अपि मन्थानशैलम् समुद्रमन्थने साधनभूतं मन्दराचलम् अङ्गविषक्तिभाग्भिः शरीरसंसक्तैः वीचीकणैः तरङ्गागतजलबिन्दुभिः सदृशं तथाऽनायासधार्यम् चरमे काये स्वपृष्ठभागे जलधेः समुद्रात् सुराणां देवानां जीवातुं प्राणप्रदम् अमृतम् उद्गमयितुं प्रादुर्भावयितुं बभार धारयामास। यदि भगवान् कूर्मः स्वपृष्ठे मन्दरं नाधास्यत्तदा समुद्रः कथमभविष्यत्, तदभावे च देवानां जीवनौपयिकममृतं कुतोऽलप्स्यतातो दयापरवशोऽसौ विशालतया चन्द्रसञ्चारमार्गमप्यवरुध्यावस्थितं मन्दरं जलबिन्दुमिवानायासं बभारेति भावः ॥ ५८ ॥

जिस भगवान ने समुद्रसे देवताओंके लिए प्राणप्रद अमृत निकालनेके लिए कछुवा बनकर समुद्रमन्थनमें साधनभूत, चन्द्रके भी मार्गको रोकनेवाले अर्थात् अत्युच्च शिखर वाले भी मन्दराचलको शरीरमें लगे समुद्रके तरङ्गकणोंकी भाँति अर्थात् अनायास ही पीठ पर उठा लिया था ॥ ५८ ॥

दंष्ट्राग्रवर्ति किटिवेषधरस्य यस्य
क्ष्मामण्डलं कुवलयाङ्कुरकोमलाभम्[1] ।
ऊर्ध्वप्रसृत्वरबकावलिकावलीढ-
प्रावृट्पयोदवलयस्य बभार लीलाम् ॥ ५९ ॥

दंष्ट्राग्रवर्त्तीति। किटिवेषधरस्य धृतवराहरूपस्य यस्य दंष्ट्राग्रवर्त्ति दन्ताग्रलग्नं

---

१. 'कुवलयाजर'। इति पा०।

कुवलयाङ्कुरकोमलाभम् नीलकमलदलसमानकान्ति क्ष्मामण्डलम् धरावलयं ऊर्ध्वंप्रसत्वरी उपर्यारूढा या बकावलिका बकपङ्क्तिः तया अवलीढस्य सक्तस्य प्रावृट्पयोदवलयस्य वर्षाकालिकमेघमण्डलस्य लीलाम् सादृश्यं बभार धारयामास । यस्य वराहमूर्त्तेर्भगवतो दंष्ट्राग्रलग्ना कुवलयदलाकृतिर्धरा ऊर्ध्वंप्रसारिबकमालामिलिता मेघावलीव प्रतीयतेस्मेति भावः । अत्रोपमया वराहस्य विशालता ध्वनिता ॥ ५९ ॥

जिस वराहमूर्त्तिधारी भगवान्‌की दंष्ट्राके आगे लगी तथा कुवलयपत्रसमानकान्ति धरणी ऐसी लगती थी मानो ऊपर फैली हुई बगलोंकी पाँतसे मिलित वर्षाकालिक श्यामल घनमाला हो ॥ ५९ ॥

इन्द्रद्विषो मदगजस्य हिरण्यनाम्नो
भेदं रसस्य पिशितस्तबकावलीनाम् ।
जिज्ञासमान इव यो धृतसिंहभावः
स्तम्भादुदेत्य नखरैस्तमुरस्यभाङ्क्षीत् ॥ ६० ॥

इन्द्रद्विप इति । धृतसिंहभावो गृहीतसिंहरूपो यो भगवान् इन्द्रद्विषः शक्ररिपोः हिरण्यनाम्नः हिरण्यकशिपुसंज्ञस्य मदगजस्य मत्तकरिणः पिशितस्तबकावलीनां मांसगोलकसमूहानाम् रसस्य स्वादस्य भेदं विशेषं जिज्ञासमानः ज्ञातुमिच्छन्निव स्तम्भात् उदेत्य प्रकटीभूय नखरैः स्वीयैः नखैः तं हिरण्यकशिपुनामानं मत्तगजम् उरसि वक्षोदेशावच्छेदेन अभाङ्क्षीत् व्यदारयत् । सिंहरूपधरो यो भगवान् इन्द्राय द्रुह्यतो हिरण्यकशिपुनाम्नो मत्तगजस्य मांसस्य स्वादं जिज्ञासुरिव स्तम्भान्निर्गत्य तं हिरण्यकशिपुं नाम करिणमुरसि व्यदारयदित्यर्थः । जिज्ञासुरिवेति हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ६० ॥

जिस नृसिंहरूपधारी भगवान्‌ने स्तम्भसे निकलकर इन्द्रके शत्रु हिरण्यकशिपुके वक्षोदेशको अपने तीखे नखोंसे चीर डाला, मानो वह उस हिरण्यकशिपु नामक मत्तगजके मांसगोलक समुदायके रसकी विशेष-स्वादविशेषकी-जानकारी हासिल करना चाह रहे हों ॥ ६० ॥

याच्ञाप्रतारणवशादधियज्ञशालं
यो वामनत्वमवलम्ब्य बलिं निगृह्णन् ।
दुःखं सतां स्वमिव खर्वतमं सुखं च
स्वीयं पदक्रममिवोन्नतमाततान ॥ ६१ ॥

याच्ञाप्रतारणेति । यः भगवान् वामनत्वमवलम्ब्य वामनरूपं धृत्वा याच्ञाप्र-

१. 'इन्द्रद्विषन्' । २. 'उपेत्य' । ३. 'वाटम्' । इति पा० ।

तारणवशात् त्रिपदमात्रभूमिभिक्षाद्वारावञ्चनं कृत्वा अधियज्ञशालम् यज्ञमण्डपे बलिं नाम दानशीलं दानवभेदं निगृह्णन् पराभवन् सतां दुःखम् स्वम् आत्मनो वपुः इव खर्वंतमम् अतिस्वल्पपरिमाणं तथा सतां सुखमानन्दञ्च स्वीयं पदक्रमम् चरणन्यासम् इव उन्नतं विशालम् आततान कृतवान्। वामनरूपो यो भगवान् यज्ञमण्डपे त्रिपदभूमिभिक्षया बलिं वाग्बद्धं कृत्वा वञ्चनाद्वारा निगृह्य च सतां सुखं वर्धयामास दुःखं च क्षपयामासेति भावः। अत्र प्रकृतयोर्भगवच्छरीरसज्जनदुःखयोरतिखर्वीकरणेन भगवत्पदक्रमसज्जनसुखयोश्चोन्नतीकरणेन चौपम्यस्य गम्यत्वात्केवलप्रकृतगोचरतुल्ययोगितालङ्कारौ ॥ ६१ ॥

जिस भगवान ने वामनअवतारमें माँगनेके बहाने से ठगनेके लिए वामनरूप—छोटा-रूप-धारणकर यज्ञशालामें दैत्यराज बलिको पराभूत करते हुए सज्जनोंके दुःखको अपने समान छोटा किया तथा उनके सुखको अपने पदक्रमके समान बढ़ा दिया ॥ ६१ ॥

सृष्टौ पुरा मुखभुजोरुपदे मुरारे-
रङ्गं द्वितीयमभजत्किमु वन्ध्यभावम्।
इत्येव संशयमशेषजनस्य चक्रे
यस्याहवेषु करताण्डवितः कुठारः ॥ ६२ ॥

सृष्टौ इति। यस्य परशुरामरूपधरस्य भगवतः आहवेषु युद्धेषु करे हस्ते ताण्डवितः प्रवृत्तनृत्तः कुठारः परशुर्नामास्त्रभेदः पुरा प्रथमायां सृष्टौ मुरारेः विष्णोः मुखभुजोरुपदे मुखे, भुजे, ऊरौ, पदे च, द्वितीयमङ्गं भुजः वन्ध्यत्वम् अजनकत्वम् अभजत् अलभत किमु? इत्येव एवंप्रकारकं संशयं सन्देहमशेषजनस्य सर्वस्य लोकस्य चक्रे। यस्य परशुरामस्य करस्थो युद्धे कृतनृत्तश्च कुठारः सकलक्षत्रियमारणेन धरां क्षत्रियशून्यां कृत्वा किं भगवतो विष्णोर्भुजो वन्ध्यो जातो यत्क्षत्रियशून्या धरणीति संशयं सर्वस्य जनयतीत्यर्थः। येन सर्वे क्षत्रियाः क्षयं नीता इति भावः। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति श्रुत्या क्षत्रियाणां भुजजन्यता। क्षत्रियसामान्यक्षयेण विष्णुभुजस्य वन्ध्यतायामर्थापत्तिः प्रमापयति ॥ ६२ ॥

परशुरामरूपधारी जिस भगवान्के हाथमें का परशु युद्धमें नृत्य करके सभी लोगोंके हृदयमें यह सन्देह उत्पन्न कर देता है कि क्या पुरासृष्टिमें भगवान्का भुजरूप अङ्ग वन्ध्य हो गया था? अर्थात् परशुरामके कुठारने जब सारे क्षत्रियोंका संहार कर दिया, एक भी क्षत्रिय शेष नहीं रहा, तब लोगोंको यह सन्देह होता था कि क्या भगवान्का बाहु वन्ध्य हो गया, यदि भगवान्का भुज जननक्षम होता तो अवश्य स्वजन्य क्षत्रियोंकी सृष्टि करता और क्षत्रिय दीखते। वे दीखते नहीं हैं, इससे अन्दाज होता है कि क्या भगवान्का हाथ वन्ध्य हो गया है इस प्रकार सभीको सन्देह होता था ॥ ६२ ॥

श्वश्रूर्मुनेरजनि यस्य पदाब्जधूलि-
र्यत्कृष्टमीशधनुराप शरव्यकृत्यम् ।
यस्माद्भियाब्धिरपि कम्पमकम्पमागा-
द्यत्पत्रिणां विघस एव विभीषणोऽभूत् ॥ ६३ ॥

श्वश्रूरिति । यस्य रामरूपधरस्य भगवतः पदाब्जधूलिः कमलोपमचरणरजः मुनेः गोतमस्य श्वश्रूः पत्नीजननी अभूत् (अहल्या मनुष्यभावं प्राप्य–पुनर्जनयित्वा श्वश्रूकृत्यं चक्रे) यत् कृष्टं येन नमितं सत् ईशधनुः हरचापम् शरव्यकृत्यम् लक्ष्य-धर्मं भङ्गम् आप प्राप, यस्मात् यतो भगवतो रामात् भिया आग्नेयास्त्रप्रयोगभीत्या अब्धिः कम्पम् वेपथुम्, अकम्पम् उपायचिन्तनकाले हस्तेङ्गितमनुरुध्य स्थिरताम् अपि आप लेभे, विभीषणो यत्पत्रिणां यदीयबाणानां विघसः भुक्तावशिष्टः एवाभूत् । यस्य रामस्य पदधूलिः अहल्यायाः पुनर्जन्मेव कृत्वा गोतमश्वश्रूकृत्यं निरवहत्, यन्नमितमीशधनुरभज्यत, यतो भीतः सागरो यथासमयं कम्पमकम्पं चाधत्त, यद्बाणाश्च विभीषणं हित्वा सर्वानपि राक्षसानवधीदित्याशयः । पर्यायोक्तत्रयं विरोधाभासश्च तृतीयेपादेऽलङ्काराः ॥ ६३ ॥

जिस रामरूपधारी भगवान्‌की चरणधूलि गौतम मुनिकी सास बन गई, अहल्याको पत्थरसे आदमी बनाकर मुनिके पास पहुँचा दिया, अतः सासका काम किया, जिसके द्वारा आकृष्ट होकर शिवके धनुषने लक्ष्यका धर्म-भङ्ग प्राप्त किया, जिसके भयसे आग्नेयास्त्रप्रयोगके डरसे सागर काँपने लगा, और उपायचिन्तनके समय रामके इशारेपर कलकल त्याग करके अकम्प–स्तब्ध भी हो उठा, और जिसके बाणोंने विभीषणको पत्रशेष जूठनके रूपमें छोड़ दिया, सभी राक्षस तो बाणोंने चटकर लिये पत्रशेषके रूपमें विभीषण बँच गया ॥ ६३ ॥

हन्यामहं युधि रिपूनहमेव हन्या-
मित्येव यन्मुसललाङ्गलयोर्विवादः ।
यस्याम्बरं निजरुचिप्रतिमल्लवर्णं
यत्षष्ठसंस्करणमासवपानमाहुः ॥ ६४ ॥

हन्यामहमिति । यस्य बलरामरूपस्य भगवतः मुसललाङ्गलयोः तत्तन्नामकयोरस्त्रयोः युधि युद्धे रिपून् अहम् मुसल एव हन्याम् मारयेयम्, अहं लाङ्गल एव हन्याम् इति एवंविध एव विवादः प्रतिस्पर्धाकलहः अभूत् यस्य बलरामस्यास्त्रे मुसललाङ्गलौ परस्परस्पर्द्धयेव शत्रून्विपादयत इति भावः । यस्य अम्बरं वस्त्रम् निजरुचिप्रतिमल्लवर्णम् स्वकान्तिविरोधिरूपम्–स्वयं बलरामो धवलतनुर्वसनं च

---

१. 'उत्कृष्ट' । २. 'पत्रिणो' । इति पा० ।

नीलमिति वसनस्य स्वरुचिप्रतिकूलवर्णत्वमुक्तम् । आसवपानम् सुरापानं यत् षष्ठसंस्करणम् यदीयं षष्ठं संस्कारमन्नप्राशनमाहुः, जन्मतो यो मद्यसेवी जात इत्यर्थः । गर्भाधानसीमन्तोन्नयनपुंसवनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनानीत्येवंक्रमेण गणने षष्ठः संस्कारोऽन्नप्राशनं मन्यते ॥ ६४ ॥

बलराम-रूपधारी जिस भगवानके मुसल-लाङ्गल नामके अस्त्रोंमें सदा ही इसका विवाद रहा करता था कि युद्धमें शत्रुओंको मैं मारूँगा मैं मारूँगा, इस प्रकारकी प्रतिस्पर्द्धा बराबर बनी रहती थी, और जिनका वस्त्र शरीरकी कान्तिके विपरीत रंगका था, अर्थात् शरीर धवल तथा वस्त्र नील था, और जिनका आसवपान ही अन्नप्राशन नामक छठा संस्कार था, अर्थात् मद्यपान जिनका स्वाभाविक भोजन सा था ॥ ६४ ॥

यः स्तन्यपानसमये बत पूतनायाः
प्राणानपि प्रविदधे परमोपदंशम् ।
नाकाधिपस्य वनभूरपि येन सद्यो
नारीमुदे कृतनखंपचधूलिरासीत् ॥ ६५ ॥

यः स्तन्यपानेति । यः कृष्णरूपधरो भगवान् पूतनायाः तदाख्यायाः कृष्णप्राणहरणाय विषलिप्तकुचीकृत्य कंसेन प्रेषितायाः असुर्याः स्तन्यस्य क्षीरस्य पानसमये (पूतनायाः) प्राणान् अपि परमोपदंशम् अतिरिक्तव्यञ्जनरूपं विदधे चक्रे। बतेत्याश्चर्ये । यथाऽन्नं भुञ्जानो मूलकाद्युपदंशं भुङ्क्ते तथैव पूतनायाः पयः पिबंस्तत्प्राणानप्यपासीदित्यर्थः । नाकाधिपस्य स्वर्गाधिपस्य इन्द्रस्यापि वनभूः नन्दनवनभूमिः, नार्याः सत्यभामायाः मुदे प्रसादाय कृतनखपंचधूलिः अतिसन्तप्तरजाः आसीत् । सत्यभामानुरोधेन श्रीकृष्णो नन्दनस्थं पारिजाततरुमहरत् तस्मिन्हृते सति सूर्यकरपातेन नन्दनधूलिरुष्णीभवतिस्म, प्राक्तु तच्छायया सूर्यकरप्रवेशाभावेन धूलेर्नोष्णत्वसंभव इति ॥ ६५ ॥

जिस कृष्णरूपधारी भगवान्ने दूध पीते समय पूतनाके प्राणोंको भी व्यञ्जनके रूपमें चट कर लिया, अर्थात् दूध पीते पीते प्राण भी हर लिये, और जिसने, सत्यभामास्वरूप अपनी स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये इन्द्रके वनकी भूमिको भी नखंपचधूलि-सन्तप्तभूमि-कर दिया (पारिजाततरुके हर लिये जानेपर वहाँ अव्याहत धूप पड़ने लगी, जिससे धूल खूब गरम रहा करने लगी। नरकासुरको मारकरके भगवान् जब अदितिको उसके कुण्डल लौटाने गये थे, तब सत्यभामा भी उनके साथ स्वर्ग गई थी, उसने वहाँ पारिजात वृक्ष देखा तो ललचा गई, उसीके अनुरोधसे भगवान्ने स्वर्गोद्यानसे पारिजातका हरण किया था ॥ ६५ ॥

---

१. 'सति'। २. 'पद'। इति पा०।

वार्यस्तपोधनवरेण्यमनःखलीनै-
स्तृण्यां मुहुः कवलयञ्जगदार्तिरूपाम् ।
नीचान्विधातुमसुरान्निजशृङ्गतुल्या-
न्कोपादुदेष्यति च यः कुहनातुरंगः ॥ ६६ ॥

वार्य इति। तपोधनवरेण्यानां तपस्विमुख्यानां मनांसि हृदयानि खलीनानि अश्वमुखबन्धनायसयन्त्राणि तैः ग्राह्यः नियन्त्रणीयः (अश्वसंयमनार्थमयोमयं खलीनं तन्मुखे दीयते, भगवानपि तपस्विहृदयेषु स्थिरस्तिष्ठति, तेन मनसां खलीनभावः प्रोक्तः) जगदार्त्तिरूपाम् संसारस्य कष्टरूपां तृण्यां तृणसंहतिं मुहुः कवलयन् भुञ्जानो नाशयँश्च, (अश्वो हि तृणं चरति, तदयमश्वरूपो भगवान् लोकपीडामेव तृण्यामभ्यवहरति) नीचान् खलान् असुरान् म्लेच्छान् निजशृङ्गतुल्यान् अश्वशृङ्गवदसद्भूतान् विनष्टान् विधातुं यः कुहनातुरङ्गः मायाघोटकरूपः कल्की कोपात् उदेष्यति कल्पान्ते प्रकटिष्यति । अत्राश्वारोहापेक्षयाऽश्वस्यैव प्रागुण्यं वर्णितं बोध्यम् ॥ ६६ ॥

कल्की अवतारमें दुष्ट म्लेच्छादि असुरोंको खतम करनेके लिये अपने शृङ्गोंकी तरह असद्भूत बनानेके लिये (जैसे घोड़ेकी सींग नहीं होती उसी तरह असुरोंका सर्वात्मना अभाव करनेके लिये) जो भगवान् मायातुरगका रूप धारण कर कोपसे प्रकट होगा, जिसको तपस्वियोंके हृदयरूप लगाम ही रोक सकेंगे, जो केवल तपस्विहृदयोंमें वास करेगा, और जो संसारस्थलोककी पीड़ारूप तृणराशिको चरा करेगा, समाप्त किया करेगा ॥ ६६ ॥

एतैः स्तवैर्हृष्टमना यथार्थैर्मन्दस्मितश्रीमधुराधरोष्ठः ।
पीठादुदस्थादथ पीतवासा मेरोर्नितम्बादिव मेघशावः ॥ ६७ ॥

एतैरिति । अथ एतैः उक्तप्रकारकैः यथार्थैः सत्यैः वस्तुगत्या सद्भिः स्तवैः स्तुतिवचनैः हृष्टमनाः प्रसन्नहृदयः मन्दस्मितश्रीः मन्दहासशोभा तया मधुरः सुन्दरः अधरोष्ठः अधरो यस्य तथोक्तः पीतवासाः पीताम्बरो हरिः मेरोर्नितम्बात् कटकदेशात् मेघशावः तरुणमेघः इव पीठात् स्वासनात् उदस्थात् उत्थितः । एभिर्वस्तुतः सत्यैः स्तवैः प्रसन्नो हासच्छविलिप्ताधरश्च भगवान् नववारिदो मेरोः कटकादिव स्वासनादुत्थित इत्याशयः । उपमाऽलङ्कारः ॥ ६७ ॥

इन स्तुतिवचनोंसे सन्तुष्टहृदय, मन्द हासकी छविसे रञ्जिताधर होकर पीताम्बर भगवान् सुमेरुके नितम्बदेशसे उठनेवाले नववारिदकी तरह अपने आसनसे उठ गये ॥६७॥

आस्थानाद्बहिरेत्य कैटभरिपुर्गाङ्गेयमालिङ्ग्य तं
पश्चार्धे परिमृश्य भूपमितरानापृच्छ्य सर्वान्कुरून् ।
आघ्रायातिचिरेण मूर्ध्नि विदुरं युक्तं शताङ्गं हयै-
रारूढोऽभिययौ विराटनगरीमन्तः स्मरन्पाण्डवान् ॥ ६८ ॥

आस्थानादिति । आस्थानात् सभामण्डपात् बहिः एत्य निर्गत्य कैटभरिपुः कैटभहन्ता भगवान् तं प्रसिद्धपराक्रमं भगवद्भक्तं च गाङ्गेयं भीष्मम् आलिङ्गय आश्लिष्य भूपं राजानं धृतराष्ट्र पश्चार्धे पृष्ठदेशे परिमृश्य स्पृष्ट्वा इतरान् सर्वान् तत्रोपस्थितान् कुरून् सोमदत्तादीन् आपृच्छ्य गन्तुमाज्ञां याचित्वा अतिचिरेण बहुकालपर्यन्तं विदुरं मूर्ध्नि शिरोदेशावच्छेदेन आघ्राय, अन्तः हृदये पाण्डुसुतान् युधिष्ठिरादीन् स्मरन् ध्यायन् हयैर्युक्तम् योजिताश्वं शताङ्गं रथम् आरूढः अधिरूढः सन् विराटनगरीम् मत्स्यपुरम् अभिययौ प्रस्थितः । सभाभवनान्निर्गतो भगवान् कृष्णः परमभागवतं भीष्ममालिलिङ्ग, धृतराष्ट्रस्य पृष्ठदेशमाममर्श, इतरान्सोमदत्तादीन् सभागतान् कुरून् गन्तुमनुमतिं ययाचे, विदुरस्य शिरश्चिरमाघ्रातवान्, ततः पाण्डवाननुध्यायन् भगवान् मत्स्यपुरीं प्रतिरथेन प्रतस्थ इति भावः ॥ ६८ ॥

कैटभके हन्ता भगवान्ने सभाभवनसे बाहर आकर परमभागवत भीष्मको गले लगाया, राजा धृतराष्ट्रकी पीठ थपथपाई, अन्य कुरुवंशीय सोमदत्त आदिसे जानेकी अनुज्ञा माँगी, बड़ी देर तक विदुरका सिर सूंघते रहे, इस प्रकार सबका यथायोग्य सम्मान करनेके बाद घोड़ोंसे सज्जित रथ पर आरूढ़ होकर पाण्डवोंको याद करते हुए भगवान् विराटके पुरकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ ६८ ॥

श्रुत्वा ततः परमतं पुरुषोत्तमात्ते
फेनायमानरणसंनहनाब्धिपूराः ।
आराधयन्विधिवदस्त्रगणं श्मशाने
पीतां वमन्तमिव कान्तिमिषेण धूम्याम् ॥ ६९ ॥

श्रुत्वेति । ततः तदनन्तरं पुरुषोत्तमात् हस्तिनापुरं सन्धये गत्वा परावृत्तात् पुराणपुरुषात् कृष्णात् परमतं सन्धिविषयकं दुर्योधनाद्यभिप्रायं श्रुत्वा निशम्य फेनायमानः समेधमानः रणसंनहनस्य युद्धोद्योगस्य अब्धिपूरः सागरप्रवाहो येषां ते तथोक्ताः अतिवेगेन युद्धार्थं समुद्युञ्जानास्ते पाण्डवाः श्मशाने विराटनगरोपान्तश्मशानभूमौ वासकाले पीतां धूम्यां धूमसंहतिं कान्तिमिषेण स्वप्रभाच्छलेन वमन्तम् इव अस्त्रगणं खड्गाद्यस्त्रजातम् अराधयन् शाणनादिक्रियया पूजयामासुः । हस्तिनापुरत आयाताद् भगवतः कृष्णात्सन्धयेऽनिच्छतां दुर्योधनादीनामभिप्रायं विज्ञाय वर्धमानरणोद्योगाः पाण्डवाः स्वमस्त्रगणं समाराधयन् समाराधनदीप्तानि च तानि पूर्वमज्ञातवासकाले मत्स्यपुरश्मशानवाससमये पीतां श्मशानधूमसंहतिं वमन्तीव प्रतिभासन्तेस्मेत्याशयः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ६९ ॥

सन्धि करानेके प्रयासमें असफल होकर जब भगवान् हस्तिनापुरसे लौटे तब उनके मुखसे दुर्योधनादिका अभिप्राय सुनकर पाण्डवोंका रणोत्साहरूप सागर फेनायित होने

लगा, उसकी वृद्धि होने लगी और वह पाण्डव अपने अस्त्रोंको शाणादि द्वारा सत्कृत करने लगे, उनके चमकते हुए अस्त्र ऐसे लगते थे जैसे अज्ञातवाससमयमें श्मशानमें रहकर पीए गये धूमका वमन कर रहे हों ॥ ६९ ॥

तत्रान्तरे[1],—

तत्रान्तरे इति । तत्रान्तरे युद्धार्थं सन्नह्यत्सु पक्षद्वयशूरेषु ।

जब दोनों पक्षोंके वीरगण अपने अस्त्रोंपर पानी चढ़ा रहे थे, उन्हें साफ करके ठीक ठिकाने कर रहे थे, उसी बीचमें—(कुन्ती कर्णके यहाँ गईं) ॥

ततः परं जह्नुकुमारिकायास्तटीवने कृत्यविदां पुरोगा ।
पृथा तपस्यन्तमवाप कर्णं कर्णं[2] प्रवृत्तिस्तु न किंचिदस्याः ॥ ७० ॥

ततः परमिति । ततः परं कृत्यविदां कर्त्तव्यार्थज्ञानवतां पुरोगा धुर्या पृथा कुन्ती जह्नुकुमारिकायाः गङ्गायास्तटीवने तटवर्त्तिनि क्वचनकानने तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कर्णम् अवाप उपगता, अस्याः कुन्त्याः प्रवृत्तिः आगमनवार्त्ता तु किञ्चित् ईषत् अपि (कर्णस्य) कर्णं श्रोत्रम् न अवाप, कुन्त्यामागतायामपि तदागमनसमाचारं कर्णो नाज्ञासीत्, तपस्यासमाहितचेतसस्तस्य बाह्यार्थज्ञानाभावादिति भावः ॥७०॥

इसके बाद कर्त्तव्य अर्थके जाननेवालोंमें अग्रगण्या कुन्ती गङ्गाके तटवर्त्ती वनमें तपस्या करते हुए कर्णके पास पहुँची, परन्तु कर्ण तपस्यामें इस प्रकार समाहितचित्त था कि कुन्तीके आनेकी खबर उसके कानों तक नहीं पहुँची, एकाग्रचित्त होकर तपस्यापरायण कर्णने कुन्तीका वहाँ आना नहीं जाना ॥ ७० ॥

कमनीययशोभरे तनूजे कवचोत्कर्तनकर्कशाङ्गकेऽपि[3] ।
नलिनान्मृदुलं नरेन्द्रपत्न्या[4] नयनं तत्र चिरेण संचचार ॥ ७१ ॥

कमनीयेति । कवचस्य जन्मसहजातस्य कवचस्य वर्मणः उत्कर्त्तनेन छित्त्वा याचमानाय शक्राय दानावसरे कर्कशानि व्रणकिणयुतत्वान्निम्नोन्नतानि अङ्गानि अवयवाः यस्य तादृशे अपि कमनीययशोभरे सर्वस्तुत्यकीर्त्तिराशौ तत्र तस्मिन् तनूजे पुत्रे कर्णे नलिनात् मृदुलं कमलादपि सुकुमारं नरेन्द्रपत्न्याः कुन्त्या नयनं चिरेण संचचार । चिक्कणे चिरेण गम्यते पदस्खलनभयात्, कर्कशे तु सुखं गम्यते त्वरितं च, अत्र तु कर्णशरीरे जनन्याः कुन्त्या दृष्टिः चिरदृष्टे तनये चिरेण प्रेमप्रभावाद् द्रष्टुं विलम्ब्य सञ्चचारेति भावः । अत्र तादृङ्मृदुलनयनतादृक्कठिनाङ्गयोः सङ्घटनाया वैरूप्याद्विरूपसंघटनात्मा विषमप्रभेदोऽलङ्कारः ॥ ७१ ॥

---

१. 'अत्रान्तरे' । २. 'कर्णौ' । ३. 'जर्जराङ्गके'; 'झर्झराङ्गके' ।
४. 'पुत्र्याः' । इति पा० ।

कर्णने याचना करने पर अपने अङ्गसे काटकर सहज कवच दे दिया था, उस कवच-कृन्तनसे कर्णका अङ्ग खुरदुरा हो गया था, उस खुरदुरे अङ्ग पर भी कुन्तीका कमलकोमल नयन पुत्रस्नेहवश बड़ी स्थिरतासे चलता था, अर्थात् कर्कश कर्णशरीर पर भी उसकी माताकी आँख बड़ी स्थिरतासे सञ्चरण कर रही थी। यद्यपि रुखड़े स्थानमें शीघ्र चल सकना संभव होता है। तथापि पुत्रप्रेमवश कुन्ती बड़ी स्थिरतासे कर्णको देखती रही, उसकी आँखोंनें रूक्ष स्थान पाकर शीघ्र नहीं देखना समाप्त किया ॥ ७१ ॥

स तत्र पूतः परमाभिषेकैस्तपोवसाने तपनस्य सूनुः ।
श्रोत्रे वितेने शुचिमक्षमालां नेत्रे च राज्ञीं निकटं प्रपन्नाम् ॥ ७२ ॥

स तत्रेति । परमाभिषेकैः जह्नुकन्याजले पावनैः स्नानैः पूतः निर्मलीकृतः सः तत्र तपस्यापरायणः तपनस्य सूनुः सूर्यसुतः कर्णः तपोऽवसाने तपस्यापूर्त्तौ शुचिं पवित्राम् अक्षमालां जपमालिकां श्रोत्रे कर्णे वितेने स्थापितवान्, निकटं स्वसमीपं प्रपन्नाम् आयातां राज्ञीं राजपत्नीं कुन्तीं च नेत्रे वितेने चक्षुर्विषयीकृतवान्। तपस्यावसाने भग्नध्यानावस्थोऽसौ कर्णो जपमालां कर्णे न्यस्य कुन्तीमपश्यदित्याशयः ॥ ७२ ॥

गङ्गाके जलमें पावन स्नानसे निर्मल अन्तःकरणवाले उस कर्णने तपस्याके अवसित होनेपर अपनी जपमालाको कान पर लटका लिया और समीप आई हुई राजपत्नीको देखा ॥ ७२ ॥

विनतेः पदयोरनन्तरं विहिताशीः परिरभ्य तं सुतम् ।
परिहर्तुमुवाच पञ्चतामुभयीं धर्मसुतादिसूनुषु ॥ ७३ ॥

विनतेरिति । (राज्ञी कुन्ती) पदयोः विनतेः चरणप्रणतेः अनन्तरम् विहिताशीः दत्ताशीर्वादा तं सुतं कर्णं परिरभ्य आलिङ्ग्य, (चरणयोः प्रणमन्तं कर्णं शुभाशिषाऽभिनन्द्य गाढमालिङ्ग्य च) धर्मसुतादिसूनुषु युधिष्ठिरप्रभृतिषु स्वपुत्रेषु उभयीं द्विप्रकाराम् अपि पञ्चताम् पञ्चसंख्यकत्वं मृत्युं च परिहर्त्तुं दूरीकर्त्तुम् उवाच अनुरोधं कृतवती। कुन्ती कर्णमनुरुरोध यत्त्वं युधिष्ठिरेण सन्धत्स्व एवं सति ते पञ्चत्वं विहाय षड्भ्रातरो भविष्यन्ति, (एवमेका पञ्चता परिहृता) कर्णे सपक्षे सति तेषां कुत्रापि पराजयाभावेन (द्वितीया पञ्चता) मृत्युरपि परिहृतो भविष्यतीति । एवमुभयीं पञ्चतां वारयितुमनुरोधं कृतवतीति भावः ॥ ७३ ॥

कुन्तीको देखकर कर्णने उसके चरणोंमें प्रणाम किया, कुन्तीने भी आशीर्वाद देकर कर्णको गले लगा लिया, और अनुरोध किया कि वह धर्मराजप्रभृति कुन्तीके पुत्रोंकी दोनों प्रकारकी पञ्चता पञ्चसंख्यत्व तथा मृत्यु दूर कर दे, अर्थात् कर्ण जब युधिष्ठिरपक्षमें चला

---

१. 'सवनाभिषेकैः'। २. 'निकट'। इति पा०।

जायगा तब वे पाँच नहीं छः कहलायेंगे, इस प्रकार (एक पञ्चता) पञ्चसङ्ख्यकत्व दूर होगा, और जब कर्ण मिल जायेगा तब वे अजेय हो जायेंगे, उनकी मृत्यु भी (दूसरी पञ्चता भी) दूर हो जायगी ॥ ७३ ॥

अयि वत्स ! रवेरनुग्रहादजनिष्ठा मयि भाग्यमर्थिनाम् ।
तनुरक्षणमात्रकारिणौ तव राधातिरथौ[1] न जन्मभूः ॥ ७४ ॥

अयीति । अयि वत्स, हे पुत्र कर्ण, अर्थिनां याचकानां भाग्यं सौभाग्यस्वरूपः त्वम् रवेः सूर्यस्य अनुग्रहात् प्रसादात् मयि पृथायाम् अजनिष्ठाः जन्माग्रहीः । राधातिरथौ राधानाम्नी सूतपत्नी अतिरथो नाम सूतश्चेति द्वौ स्वन्मातृत्वपितृत्वाभ्यां प्रथितौ सूतौ तव तनुरक्षणमात्रकारिणौ तनुपोषणमात्रहेतू जन्मभूः उत्पत्तिस्थानं न । त्वं मम पुत्रोऽसि सूर्याज्जातो, राधातिरथौ तु केवलं तव पोषकौ ननु जनकाविति ॥ ७४ ॥

हे पुत्र कर्ण, तुमने सूर्यके प्रसादसे मेरे गर्भसे जन्म लिया है, तुम्हारी माता मैं हूँ तथा सूर्य तुम्हारे पिता हैं, राधा और अतिरथ, जिन्हें तुम माता-पिता समझते हो, वे तो केवल तुम्हारे शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं, वे तुम्हारे जन्मदाता नहीं हैं ॥ ७४ ॥

जहीहि राधातनयत्वबुद्धिं सहैव दुर्योधनसौहृदेन ।
गृहाण वाण्या सह धर्म्यया मे सहोदरान्धर्मतनूजमुख्यान् ॥ ७५ ॥

जहीहीति । त्वं कर्णः दुर्योधनसौहृदेन तत्सख्येन तत्पक्षगामितया सहैव राधातनयत्वबुद्धिं राधापुत्रोऽहमिति प्रतीतिं जहीहि त्यज, (राधातनयत्वं विस्मर, दुर्योधनपक्षं च त्यजेत्यर्थः) धर्म्यया धर्मादनपेतया मे मम मातुः वाण्या युधिष्ठिरपक्षगामित्वस्वीकृतिप्रार्थनारूपया सह सहोदरान् समानगर्भोद्भवान् धर्मतनूजमुख्यान् युधिष्ठिरादीन् गृहाण अङ्गीकुरु । मम वाक्यमङ्गीकृत्य तानात्मसोदरभावेन गणय, तेषां पक्षं चावलम्बस्वेति भावः ॥ ७५ ॥

बेटा कर्ण, दुर्योधनकी मैत्रीके साथ ही साथ अपनेको राधाका पुत्र समझना छोड़ दो और धर्मयुक्त मेरी वाणी ही के साथ-साथ युधिष्ठिरादि अपने सहोदर भाइयोंको भी स्वीकार करो ॥ ७५ ॥

यस्मैकस्मैचन त्वं सहजकवचदः प्रार्थनातुल्यकालं
मातुः साक्षान्निदेशे मम सुकरतमे मा कृथा मन्दभावम् ।
पराङ्मुख्यं विधत्ते गुरुजनवचनानुष्ठिते[2] यस्य चेतः
धिक्शब्दस्याभिधेयं जगदिदमखिलं दोग्धि तस्मै सुखेन[3] ॥ ७६ ॥

---

१. 'अधिरथौ' । २. 'अनुष्ठितौ' । ३. 'मुखेन' । इति पा० ।

यस्मै इति। यस्मैकस्मैचन अज्ञातपरिचयाय ब्राह्मणसामान्याय (इन्द्राय) प्रार्थनातुल्यकालं प्रार्थनायां कृतमात्रायामविलम्बेन सहजकवचदः शरीरसंसक्तवर्मदाता त्वं साक्षात् जननेनोपकृतवत्या मातुः मम कुन्त्याः निदेशे अनुरोधे (दुर्योधनपक्षत्यागपूर्वकयुधिष्ठिरपक्षस्वीकारविषये) मन्दभावम् आलस्यं विलम्बं मा कृथाः न विधेहि। यस्य जनस्य चेतः हृदयं गुरुजनवचनानुष्ठिते मातुः पितुरन्यस्य वा गुरुजनस्यादेशपालने पराङ्मुख्यं पराङ्मुखत्वं विधत्ते करोति तस्मै निदेशपराङ्मुखाय पुत्राय सुखेन अनायासम् अखिलं निखिलमिदं जगत् धिक्शब्दस्याभिधेयं निन्दाम् दोग्धि व्याहरति। यः कोऽपि साधारणो जनो यदि गुर्वादेशपालनात् पराङ्मुखो भवति, तदा लोकास्तं निन्दन्ति, भवादृशो दानवीरो यो यस्मैकस्मैचन याचकाय शरीरसंसक्तं दिव्यं कवचमपि दत्ते, स यदि मातुस्साक्षान्निदेशे विलम्बते तदा कियतो धिक्कारान् प्राप्नुयादिति विभाव्य शीघ्रं मदादेशमनुसरेति भावः॥ ७६॥

बेटा कर्ण, तुमने सामान्य याचकको दिव्य कवच माँगने पर अविलम्ब दे दिया, मैं माता बनकर खुद आदेश दे रही हूँ, अब हमारी आज्ञाके पालनमें आलस्य-विलम्ब मत करो। जो लोग गुरुजनोंके आदेशके पालनमें पराङ्मुखत्व करते हैं, यह संसार अनायास ही उनका धिक्कार किया करता है॥ ८६॥

इति दशनकिरणव्याजादन्तश्चिर[1]रक्षितं तदंशं[2] स्तन्यं प्रकाशयन्त्या इव कुन्त्या निदेशं कर्णः कर्णदेशाध्वनीनं[3] विधाय साकमञ्जलिना समुचितमुत्तरं बबन्ध[4],—

इतीति। इति प्रोक्तरूपं दशनकिरणव्याजात् दन्तप्रभामिषात् अन्तः स्तनाभ्यन्तरद्वाराहृदये चिररक्षितं बहोः कालादुषितं तदंशं पुत्रकर्णभागभूतं स्तन्यं प्रकाशयन्त्याः प्रकटीकुर्वन्त्याः कुन्त्याः निदेशम् आदेशम् कर्णदेशाध्वनीनं विधाय श्रुतिपथातिथीकृत्य कर्णः अञ्जलिना साकं प्रणाममुद्रया सह उत्तरं बबन्ध प्रणम्योत्तरं बभाषे इत्यर्थः। कुन्ती कर्णं प्रतिहासमिषेण चिररक्षितं स्तन्यमिव प्रकाशयामासेत्युत्प्रेक्षा सापह्नवा॥

इस प्रकार दन्तप्रभाके व्याजसे भीतरमें चिरकालसे सुरक्षित कर्णके हिस्सेके दूधको प्रकाशित करनेवाली कुन्तीके आदेशोंको कानसे सुनकर कर्णने प्रणामाञ्जलि समर्पण करनेके साथ ही इस प्रकार उत्तर दिया॥

भोजान्ववायो[5] भुवने प्रतीतः कुलं कुरूणां च तथा द्वयेऽस्मिन्।
तवाम्ब! जन्मोपयमश्च[6] चेद्द्वौ त्वय्येव जागर्त्युचितज्ञभावः॥ ७७॥

---

१. 'चिरकालरक्षितं'। २. 'तदंशस्तन्यं'। ३. 'अध्वनीतं'। ४. 'आबबन्ध'।
५. 'भोजान्वयो यो भुवनप्रतीतः' ६. 'जन्मोपयमोत्सवौ चेत्'। इति पा०।

भोजान्ववाय इति। भोजानां यादवविशेषाणाम् अन्ववायो वंशः भुवने संसारे प्रतीतः प्रसिद्धः, कुरूणां कुलं च तथा प्रतीतम् प्रसिद्धम् , अस्मिन् द्वये भोजवंशे कुरुकुले च क्रमेण तव जन्म उपयमो विवाहश्च द्वौ इमौ चेत् (निष्पन्नौ) तर्हि उचितज्ञभावः कर्त्तव्यज्ञता जागर्त्ति एव। ख्याते भोजवंशे गृहीतजनुषः प्रसिद्धे कुरुकुले च विवाहितायास्तव कर्त्तव्यज्ञानसम्पन्नताऽवश्यं भवेदेवेति भावः ॥ ७७ ॥

यादवविशेष भोजका वंश संसारमें प्रख्यात है और कुरुओंका वंश भी वैसा ही हैं। इन दोनों वंशोंमें क्रमशः तुम्हारा जन्म तथा विवाह हुआ है। अतः तुझमें उचितज्ञताका होना अवश्यंभावी है ॥ ७७ ॥

अङ्गद्वयं मे परिपालनीयमङ्ग ! त्वया शूरजनाग्रगेण।
एवं वशे मे विततान यस्तत्तस्यापि सख्यं किमुपेक्षणीयम् ॥ ७८ ॥

अङ्गद्वयमिति। अङ्ग हे कर्ण, शूरजनाग्रगेण वीरलोकमुख्येन त्वया मे मम दुर्योधनस्य अङ्गद्वयं तन्नामको देशः, शरीरावयवश्च परिपालनीयं रक्षणीयम् , हे कर्ण, त्वम् अङ्गं नाम देशं शाधि मां च रक्ष, एवमङ्गद्वयं पालय, एवम् विश्वस्तभावेन यः दुर्योधनः तत् अङ्गद्वयम् (देशं स्वं शरीरं च) मम वशे अधीनत्वे विततान चकार मह्यं समर्पयामास, तस्य तथा राज्यार्पणेनोपकृतवतः तथा विश्वासनिर्भरस्य च दुर्योधनस्य सख्यं सौहृदं किमुपेक्षणीयम् अनादरणीयम् ? नैवं युक्तमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

हे वीरमूर्धन्य, कर्ण, तुम हमारे अधिकारवर्त्ती इस अङ्गदेशकी रक्षा करना और हमारे देहकी भी रक्षा करना, इस प्रकार जिसने अङ्गदेशको तथा अपनी जानको हमें सौंप दिया है, क्या उस तरहके उपकारी तथा विश्वस्त दुर्योधनका सख्य अनादरकी चीज है ! ॥ ७८ ॥

परस्य लोकस्य गतेर्हि विघ्नं कृतघ्नतामेव वदन्ति सन्तः।
सा न स्पृशेन्मामधुना यथा त्वं तथा प्रसीदाम्ब ! कृपार्द्रचित्ता ॥७९॥

परस्येति। सन्तः सज्जनाः पण्डिताश्च परस्य लोकस्य गतेः परलोकप्राप्तेः विघ्नं प्रतिबन्धं कृतघ्नताम् अनुपकारज्ञताम् एव वदन्ति कथयन्ति, अकृतज्ञता हि परमपदप्राप्तिप्रतिबन्धिकेति सन्मतम्। एवं यथा सा कृतघ्नता (उपकर्त्तुर्विश्वस्तस्य च दुर्योधनस्य पक्षत्यागे कृतघ्नताभाविनी) मां न स्पृशेत् न दूषयेत् , हे अम्ब, मातः, कृपार्द्रचित्ता दयाद्रुतहृदया त्वं तथा तेन प्रकारेण प्रसीद प्रसन्ना भव। कृपया कृतघ्नताया मां रक्षेति भावः ॥ ७९ ॥

सज्जनों का कहना है कि कृतघ्नता परलोकप्राप्तिका विघ्न है, जो कृतघ्नता करेगा, वह परम पद नहीं पायेगा, अतः हे अम्ब, कृपाकरके तुम कुछ ऐसा उपाय करो कि मुझे

---

१. 'कर्ण'। २. 'चित्ते'। इति पा०।

कृतघ्नता न छू सके, अर्थात् दुर्योधनका पक्ष छोड़ना मेरे लिये कृतघ्नता है, अतः कृपा करके तुम मुझे वैसा करनेको मत कहो ॥ ९७ ॥

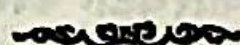
इतिवादिनो रविसुतस्य मानसं न निवर्तते स्म धृतराष्ट्रनन्दनात् ।
अपि तु स्वकीयतनयान्महाभुजादनवाप्य काममियमेव केवलम् ॥ ८० ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारतेऽष्टमः स्तबकः ।

इति वादिन इति । इति उक्तप्रकारेण वादिनः कथयतः रविसुतस्य सूर्यपुत्रस्य कर्णस्य मानसं धृतराष्ट्रनन्दनात् दुर्योधनात् न निवर्त्तते स्म, अपितु महाभुजात् प्रसिद्धबाहुपराक्रमात् स्वकीयतनयात् आत्मपुत्रात् कर्णात् कामम् अभिलषितं युधिष्ठिरपक्षग्रहणरूपम् अनवाप्य अप्राप्य केवलम् इयम् कुन्ती एव निवर्त्तते स्म । एवं ब्रुवाणस्य कर्णस्य मनो दुर्योधनान्न निवृत्तं किन्तु विफलमनोरथा कुन्त्येव स्वपुत्रकर्णसमीपान्निवृत्तेति भावः ॥ ८० ॥

इस प्रकारसे कहते हुए सूर्यपुत्र कर्णका हृदय दुर्योधन की ओर से नहीं फिरा, नहीं लौटा, कर्णने दुर्योधनके पक्षसे विमुख होना नहीं स्वीकार किया, किन्तु अपने पुत्र कर्णसे मनोभिलषित अर्थ—युधिष्ठिर-पक्ष-ग्रहण-स्वीकृति—नहीं पाकर कुन्ती लौट गई ॥ ८० ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूरामायण'प्रकाशे'
अष्टमस्तबक'प्रकाशः' ॥



नवमः स्तबकः

अथोभये ते कुरवो रणाय स्वनामधेयोपपदप्रसिद्धम् ।
क्षेत्रं व्यगाहन्त निरुद्धपार्श्वाः शताङ्गमातङ्गतुरंगयोधैः ॥ १ ॥

अथेति । अथ कर्णसमीपतः कुन्त्याः परावर्त्तनानन्तरम् ते प्रसिद्धबलवीर्याः उभये युधिष्ठिरादयः दुर्योधनादयश्च कुरवः कुरुवंश्याः रणाय युद्धं कर्त्तुम् शताङ्गमातङ्गतुरङ्गयोधैः रथगजाश्वपदातिभिः निरुद्धपार्श्वाः आवृतचत्वराः सन्तः स्वनामधेयोपपदप्रसिद्धम् स्वंनाम 'कुरु' इतिसंज्ञा तदुपपदं पूर्वपदं यस्य तादृशं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं व्यगाहन्त आगताः । अथ पक्षद्वयगताः कुरवश्चतुरङ्गसैन्यव्याप्तचत्वरास्सन्तो रणाय कुरुक्षेत्रं नाम प्रसिद्धं स्थानमागतवन्त इत्याशयः । 'रणाय' इत्यत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च' इत्यादिना चतुर्थी ॥ १ ॥

कर्णके पाससे कुन्तीके लौट जानेके बाद युधिष्ठिर तथा दुर्योधन दोनों दलोंके कौरवगण कुरुक्षेत्र नामक युद्धके मैदानमें आकर डट गये, जिस मैदानके दोनों भागोंको उनके रथ, हाथी, घोड़े तथा सैनिकोंने आवृत कर रखा था ॥ १ ॥

हिरण्वत्यास्तत्र त्रिदशविनुतायास्तटरुह-
प्रसूनानां गन्धैर्मथितपथिखेदाः करिघटाः ।
कृतज्ञत्वेनेवं स्वयमपि मदाम्भोधिलहरी-
र्ददुस्तस्यै बह्वीरतिसुरभिगन्धीः प्रियसखीः ॥ २ ॥

हिरण्वत्या इति । तत्र कुरुक्षेत्रे त्रिदशविनुतायाः देववन्दितायाः हिरण्वत्या नाम नद्याः तटरुहप्रसूनानां पुलिनप्ररूढपुष्पपादपपुष्पाणां गन्धैः सुरभिगन्धैः मथितपथिखेदाः दूरीकृतमार्गचलनश्रमाः करिघटाः करिसमूहाः कृतज्ञत्वेन उपकारज्ञत्वेन इव स्वयम् अपि तस्यै हिरण्वत्यै अतिसुरभिगन्धीः सातिशयसौरभ्ययुताः बह्वीः मदाम्भोधिलहरीः मदप्रवाहरूपसागरवीचीः प्रियसखीः ददुः । तत्र हिरण्वत्यास्तटवर्त्तिकुसुमगन्धेन दूरीकृतमार्गश्रमतयोपकृताः करिसमूहास्तस्यै हिरण्वत्यै निजमदधारारूपाः प्रियसखीर्बह्वीरुपकारप्रत्युपकारविधित्सयेव ददुरित्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २ ॥

उस कुरुक्षेत्रमें देववन्दिता पवित्र नदी हिरण्वतीके तटवर्त्ती वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धसे जिनका मार्गचलन-श्रम मिट गया है ऐसे करिगणने कृतज्ञतासे मानो प्रत्युपकार करनेकी इच्छासे खुद भी हिरण्वतीको दानवारि-प्रवाहरूप सुगन्धपूर्ण बहुत सी सखियाँ दीं ।

---

१. 'उपपदं' । २. 'तटतरु' । ३. 'एव' । ४. 'मदाम्भोलहरिभिः' । इति पा० ।

हिरण्वतीने सुगन्ध द्वारा हाथियोंका मार्ग-चलनश्रम दूर किया उसके बदले में हाथियोंने भी अपनी दानवारिधारारूप बहुत सी सुगन्धितप्रवाहा नदियाँ हिरण्वतीको सौंप दीं ॥२॥

अस्मज्जन्मभुवः समानभिधया सप्तापि सिन्धूनिमा-
न्नेष्यामो वयमद्य शोषणमिति स्फीताभ्यसूया इव ।
सेनासैन्धवपङ्क्तयः खुरपुटैर्दीप्रक्षुरप्रोपमै-
र्भूमेरुल्लिखितात्तलादजनयन्भूयो रजोमण्डलम् ॥ ३ ॥

अस्मज्जन्मभुव इति । सेनासैन्धवपङ्क्तयः सेनागता अश्वसमूहाः अस्मज्जन्मभुवः अस्माकमुत्पत्तिस्थानस्य देशस्य सिन्धोः अभिधया समान् तुल्यसंज्ञान् इमान् सप्तापि सिन्धून् सागरान् अद्य सम्प्रति वयम् शोषणं नेष्यामः शुष्कतां प्रापयिष्यामः इति स्फीताभ्यसूयाः उत्पन्नेर्ष्याः इव भूयः पुनः पुनः दीप्रक्षुरप्रोपमैः प्रकाशमानक्षुरप्रसमानैः खुरपुटैः शफाग्रैः उल्लिखितात् खातात् भूमेस्तलात् भूतलात् रजोमण्डलम् धूलीमण्डलम् अजनयन् उदपादयन्, यदि कोपि कस्यापि जनकस्य नाम बिभर्त्ति तदा तस्मै स द्रुह्यति, अश्वानां जनकस्य देशस्य सिन्धुरिति संज्ञा, तया युक्तेभ्यः सिन्धुभ्यो धृतेर्ष्या अमी अश्वास्तान् शोषयितुमिव स्वैः खुरै रजोमण्डलमुत्थापयन्ति, येन ते सिन्धवो भृताः शुष्कत्वमापद्याश्वजनकनामरक्षणापराधस्य दण्डमाप्नुयुरिति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इति विश्वः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

ये सिन्धुगण हमारे जनकदेश सिन्धुका नाम धारण कर रहे हैं, हमारे पिताके नामकी नकल कर रहे हैं, इस ईर्ष्यासे सेनामेंके घोड़े चाहते हैं कि इन सिन्धुओंको हम भर दें, सुखा दें, इसलिये वे घोड़े खुरपे सदृश अपने खुरोंसे धरातलको खोदकर धूलीमण्डल पैदा कर रहे हैं जिससे वह सागर सूख जा सके ॥ ३ ॥

तेषां कुरूणां कलहोदयात्प्राग्रथस्वनानां करिबृंहितानाम् ।
आशामशेषां स्ववशे विधातुमन्योन्यमासीत्कलहो महीयान् ॥ ४ ॥

तेषामिति । तेषां युध्यमानानां कुरूणां पाण्डवानां धार्त्तराष्ट्राणां च कलहोदयात् युद्धप्रारम्भात् प्राक् पूर्वम् रथस्वनानाम् करिबृंहितानाम् हस्तिगर्जितानाञ्च अशेषाम् आशाम् सकलां दिशम् स्ववशे विधातुम् आत्मना व्यापयितुम् अन्योन्यम् परस्परम् महीयान् दीर्घः कलहो विवाद आसीत् यावद्युद्धं न प्रारब्धं तावदेव रथध्वनयो गजबृंहितानि च दिशो व्याप्तुमन्योन्यं कलहमारभन्त, परस्परस्पर्धयेव रथध्वनयो गजगर्जितानि च दिशो व्याप्नुवन्निति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः, रथध्वनिगजगर्जितयोः कलहासम्बन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानात् ॥ ४ ॥

---

१. 'स्थलात्' । इति पा० ।

पाण्डवों तथा धार्त्तराष्ट्रोंमें अभी युद्ध नहीं छिड़ा है उससे पहले ही रथके शब्द तथा हाथियोंका चिग्घाड़ना सारी दिशाको व्याप्त करनेके लिये आपसमें झगड़ने लगे। जब तक लड़ाई प्रारम्भ नहीं हुई थी, तभी तक रथोंकी घड़घड़ाहट तथा हाथियोंके गरजनेसे दिशायें व्याप्त हो गईं ॥ ४ ॥

नाम्ना वो[1] नवमग्रहस्य समतां सोढास्महे[2] हे ! वयं
तुङ्गत्वं न सहेमहीत्यतिरुषा संनाहधुर्या[3] इव ।
उद्दण्डा अपि केतवो ददृशिरे स्थानं ग्रहाणामति-
क्रम्य स्यन्दनवृन्दमौलिकलिता मध्येनभस्वत्पथम्[4] ॥ ५ ॥

नाम्नेति । स्यन्दनवृन्दमौलिकलिताः रथसमूहोपरिस्थापिताः उद्दण्डाः असहनस्वभावाः उद्यतदण्डाश्च केतवः, हे ग्रहाः, वयं रथकेतुदण्डाः वः युष्माकं ग्रहाणां नवमग्रहस्य केतोः नाम्ना समताम् अभिधासादृश्यं सोढास्महे मर्षयिष्यामः, तुङ्गत्वम् ऊर्ध्वदेशवर्त्तित्वं तु न सोढास्महे न मर्षयिष्यामः इति इत्थम् अतिरुषा सातिशयकोपेन संनाहधुर्याः रणोद्युक्ता इव ग्रहाणां सूर्यादीनां नवग्रहाणां मण्डलं स्थानम् अतिक्रम्य अतीत्य मध्येनभस्वत्पथम् वायुमार्गे वियति ददृशिरे दृश्यन्ते स्म । रथकेतवो ग्रहान्यतमस्य केतोर्नाममात्रसादृश्यं कथञ्चित्सोढुमीशा अपि तेषामुच्चस्थानवर्त्तित्वं सोढुमशक्नुवन्त इव ग्रहमण्डलमतिक्रम्य ततोऽप्युपरि गत्वा स्थिता लोकैर्वायुमार्गे दृश्यन्ते स्मेति भावः । उत्प्रेक्षानुप्राणितातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ५ ॥

रथके शिखरपर लगाये गये ध्वजदण्ड—केतुओंने ग्रहोंको ललकारकर कहा कि—हे सूर्यादिग्रहगण, हम आपमेंसे नवें ग्रह केतुका नामसाम्य तो किसी तरह सहन कर सकते हैं, परन्तु तुङ्गता—ऊपर रहना नहीं सहन कर सकते, इस प्रकार कहकर कोपसे लड़नेको सन्नद्धसे होकर वे रथकेतुगण रविचन्द्रादिग्रहमण्डलको पारकर ऊपर वायुमार्गमें लहराते हुए देखे गये ॥ ५ ॥

महीपतीनां पटमन्दिराणि मार्गं सुराणां लिलिहुः शिरोभिः ।
वयं हि दूष्याणि शुचीभवेमेत्यभ्रापगावारिमिमङ्क्षयेव ॥ ६ ॥

महीपतीनामिति । महीपतीनां युद्धाय समवेतानां नृपाणां पटमन्दिराणि वस्त्ररचितसदनानि वयं हि दूष्याणि दूष्यपदप्रतिपाद्यानि सदोषाणि च सन्ति शुचीभवेम पवित्राणि जायेमहि इति हेतो अभ्रापगावारिमिमङ्क्षया गङ्गाजलस्नानेच्छया इव सुराणां मार्गं व्योमदेशम् शिरोभिः स्वोपरितनभागैः लिलिहुः पस्पृशुः । युद्धागतानां नृपाणां पटमयगृहाणि स्वशिरोभिराकाशं स्पृशन्ति स्म, मन्ये तानि दूष्याणीति हेतोर्गङ्गापयसि स्नानमिव चिकीर्षन्ति, अन्योऽपि दूष्यः पावने गङ्गाप-

---

१. 'वा' । २. 'अभी' । ३. 'धूर्या' । ४. 'पदम्' । इति पा० ।

यस्मि स्नात्वा शुचित्वं विन्दति, तद्वदिमान्यपि दूष्याणि सदोषाणि दूष्यपदप्रतिपाद्यानि च शुचीभवितुमिच्छन्तीति तात्पर्यम्। अतिशयोक्तिरलङ्कारः। 'दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि' इत्यमरः॥ ६॥

युद्धके लिये एकत्रीभूत नृपोंके लिये बनाये गये पटमय वस्त्रसदन इम दूष्य—दूष्यपदाभिधेय तथा सदोष हैं, इम पवित्र हो जाँय इसलिये गङ्गाजलमें स्नान करनेके लिये अपने ऊपरी भागोंसे आकाशको छू रहे थे, वस्त्रमय गृह आकाशगङ्गामें स्नान करके शुद्धिलाभ करनेके लिये आकाशको चूम रहे थे, वे दूष्य पदसे पुकारे जाते हैं अतः उनको अपनेमें दूष्यत्व निन्दनीयत्व सदोषत्वका संशय है, अतः गङ्गामें नहाकर अपना दोष छुड़ा लेना चाहते हैं॥ ६॥

ततः क्षणादेव विशालविनिर्मितवीथीसहस्रविराजमान[1]विशङ्कटविपणिविविध[2]पण्याहरणविमर्दसहक्रयिकलोकं विटकुलानुसार्यमाणवारविला[3]सिनीजननिबिड[4]वेशवाटं विशिखकृपाणकुन्तशक्तिप्रमुख[5]विविधायुधसंस्कारपरवशयोधसंबाधं तत्कुरुक्षेत्रं कुरुनगरमिव बभूव॥

तत इति। ततः राज्ञां पटगृहेषु निर्मितेषु क्षणात् अल्पतमसमयात् एव विशालं विस्तृतभावेन विनिर्मितानां रचितानां वीथीनां संक्षिप्तमार्गाणां सहस्रैः विराजमानं शोभाशालि, विशङ्कटासु विशालासु विपणिषु पण्यशालासु विविधानां नानाप्रकाराणां पण्यानां क्रय्यपदार्थानाम् आहरणे ग्रहणे विमर्दसहाः परस्परसंमर्दभाजः क्रयिकलोकाः क्रेतारो यत्र तत्तादृशम्, विटकुलेन भुजङ्गसमुदयेन अनुसार्यमाणो नीयमानो यः वारविलासिनीजनः वेश्यालोकस्तेन निबिडाः व्याप्ताः वेशवाटाः वेश्यानिवासा यत्र तत्तादृशम्, विशिखाः बाणाः, कृपाणाः, खड्गाः, शक्तयः प्रासाः प्रमुखाः प्रधाना येषां तादृशानाम् विविधायुधानां बहुप्रकारकशस्त्राणाम् संस्कारे घर्षणशाणनादौ परवशाः आसक्ताः योधाः भटास्तैः संबाधं युक्तम् तत् कुरुक्षेत्रम् कुरुनगरमिव्रम् हस्तिनापुरम् इव बभूव। यथाहि हस्तिनापुरे नानावीथयस्तथाऽत्र- कुरुक्षेत्रस्थे सेनासन्निवेशेऽपि, यथा तत्र क्रेतारः क्रय्यवस्तुग्रहणे व्यासक्तास्तथात्रापि, यथा तत्र वेश्या विटैर्नीयमाना व्याप्नुवन्निवेशं तथैवात्रापि, यथा च तत्र शस्त्रपरिष्कारस्तथात्रापीति तुल्यं हस्तिनापुरस्य तत् कुरुक्षेत्रम् इत्यर्थः।

इसके बाद क्षणभरमें विस्तृतरूपमें बनाई गई गलियोंसे शोभित, विशाल दूकानोंसे नानाप्रकारक वस्तु लेनेके लिये व्याकुल क्रेताजनसे खचाखच भरा हुआ, विटों द्वारा अपने विचारानुसार चलाई जानेवाली वेश्याओंसे व्याप्त वेश्या-स्थानवाला तथा बाण, तलवार,

---

१. 'विराजमानं'। २. 'विपणिविस्तारितविविध'। ३. 'माणविलासिनी'। ४. 'निविडित'। ५. 'प्रासतोमरप्रमुख'। इति पा०।

प्रास वगैरह नाना प्रकारके अस्त्रोंको तेज करनेमें लगे हुए योद्धाओंसे व्याप्त वह कुरुक्षेत्र हस्तिनापुरके समान बन गया ।

तत्र[1] तावद्दुःशासनाग्रजः 'भगवन् ! अस्मिन्नुपतस्थुषि वीरभुजविनोद[2]काले त्वं विवा[3]हविमुखोऽपि मदर्थं[4] प्रत्यर्थिपार्थिवान्निहन्तुं पृतनाधिपत्यलक्ष्मी[5]मुपयच्छस्व' इति [6]विज्ञाप्य पितामहस्य [7]चरणयोः प्रणिपपात ॥

तत्र कुरुक्षेत्रे तावत् युद्धोद्यमसमये दुःशासनाग्रजो दुर्योधनः—'भगवन् सामर्थ्यशालिन् पितामह, अस्मिन् उपतस्थुषि उपस्थिते वीरभुजविनोदकाले शूरजनपराक्रमप्रदर्शनावसरे युद्धे त्वं भीष्मः विवाहविमुखोऽपि परिणयविधेः पराङ्मुखः सन्नपि मदर्थं मदनुरोधेन प्रत्यर्थिपार्थिवान् निहन्तुम् विरोधिनो राज्ञो हन्तुम् पृतनाधिपत्यलक्ष्मीम् सेनापतित्वश्रियम् उपयच्छ परिणय, सेनापतित्वम् अङ्गीकुरु' इति विज्ञाप्य निवेद्य पितामहस्य भीष्मस्य चरणयोः प्रणिपपात प्रणतवान् ॥

उसी समय दुर्योधनने भीष्मके चरणोंपर गिरकर कहा कि—भगवन् पितामह, यद्यपि आपने विवाह नहीं करनेका व्रत ले रखा है, तथापि हमारे लिये विरोधी नृपोंको मारनेके लिये सेनापतित्वलक्ष्मीको अङ्गीकार कर लें, सेनापतित्व स्वीकार करें ॥

दुर्योधने विशति मौलिभुवा पदं स्वं शूराग्रणीष्वचरमः सुरसिन्धुसूनुः ।
अर्धक्षणाद[8]रिभटांस्त्रिदिवे विधास्यन्नध्यक्षतापदमविक्षदनीकिनीनाम् ॥ ७ ॥

दुर्योधन इति । शूराग्रणीषु वीरमुख्येषु अचरमः प्रथमः सुरसिन्धुसूनुः गाङ्गेयो भीष्मः दुर्योधने मौलिभुवा शिरोदेशेन स्व पदं भीष्मस्य चरणं विशति स्पृशति सति अरिभटान् शत्रुयोधान् अर्धक्षणात् क्षणार्धमध्ये त्रिदिवे विधास्यन् स्वर्गं प्रापयिष्यन् अनीकिनीनाम् सेनानाम् अध्यक्षतापदम् सेनापतित्वम् अविक्षत् प्राप्तः । दुर्योधने पादप्रणतिपुरस्सरं तथा प्रार्थयमाने प्रसिद्धः शूरो गाङ्गेयः क्षणेन शत्रुभटान्मारयितुं सेनापतित्वमङ्गीकृतवानिति भावः ॥ ७ ॥

दुर्योधनने जब अपने मस्तकको भीष्मके चरणोंपर रख दिया तब वीरोंमें अग्रगण्य भीष्मने शत्रुभटोंको क्षणभरमें मारकरके स्वर्ग भेजनेके लिये सेनापति-पद स्वीकार कर लिया ॥ ७ ॥

पार्थाश्च[9] ते द्रुपदनन्दनमाशु चक्रुः सेनान्यमुद्धतविरोधिवनानि दग्धुम् ।
वह्निं प्रतापकपटान्निजजन्मकाले सक्तं भुजे वहति यः सततं ज्वलन्तम् ॥८॥

---

१. 'दुःशासनाग्रजः' । २. 'विनोदन' । ३. 'विहितविवाह' । ४. 'विनिहन्तुं' । ५. 'उपयमस्व' । ६. 'विज्ञापितस्य' । ७. 'चरणनलिनयोः' । ८. 'रिपुभटान्' । ९. 'तु' । इति पा० ।

पार्थाश्चेति। ते प्रसिद्धाः पार्थाः युधिष्ठिरादयश्च आशु शीघ्रं द्रुपदनन्दनं धृष्टद्युम्नं नाम द्रुपदसुतं सेनान्यं सेनापतिं चक्रुः विदधुः, यो धृष्टद्युम्नः निजजन्मकाले स्वस्य वह्निकुण्डादुद्भवसमये सक्त लग्नं वह्निम् उद्धतविरोधिवनानि गर्वितशत्रुसमूहरूपवनानि दग्धुं भस्मसात् कर्त्तुम् प्रतापकपटात् प्रतापव्याजात् सततं सर्वदा भुजे स्वकरे वहति। यः धृष्टद्युम्नः होमकुण्डात् जन्मग्रहणकाले सक्तं वह्निम् सदैव प्रतापकपटेन भुजे रचति येन शत्रवो दह्यन्त इत्यर्थः। तं तथा प्रतापिनं धृष्टद्युम्नं पाण्डवा अपि सेनापतिमकार्षुरित्याशयः। अपह्नुतिरलङ्कारः॥ ८॥

पाण्डवोंने भी धृष्टद्युम्न नामक द्रुपदपुत्रको अपना सेनापति बनाया जो धृष्टद्युम्न होमकुण्डसे जन्म लेनेके समय सक्त-सटे हुए-वह्निको प्रतापके व्याजसे सदा हाथमें धारण किये रहता है, जिस वह्निके द्वारा शत्रुसैन्यरूप वन भस्मसात् हुआ करते हैं॥ ८॥

अथ सदसि महारथपरिगणनकथायामर्धरथोऽयमिति जाह्नवीयेन[1] निह्नुतपौरुषतया रोषचिह्नितवदनरोचिरह्नांपतिसूनुरह्नाय[2] तस्यावधिमेव निजहेतेरधारणस्यापि साधारणं प्रतिजज्ञे॥

इदं प्रतिपद्य खिद्यमानं मानधनं सुयोधनम् 'वत्स! मा भैषीः; महाभुजानपि रिपुमहीभुजः संख्ये खरतरविशिखमुखेन खादयामि'[4] इति पितामह आश्वासयामास[5]॥

अथेति। अथ सेनापतिवरणानन्तरम् सदसि सभायाम् महारथपरिगणनकथायाम् को महारथीति संख्यानसमये अर्धरथः अयम् कर्णः इति एवं निह्नुतपौरुषतया अपलपितवीर्यतया (निन्दितपराक्रमत्वेन) रोषचिह्नितवदनरोचिः कोपलाञ्छितमुखद्युतिः सन् अह्नांपतिसूनुः सूर्यसुतः अह्नाय झटिति तस्यावधिम् भीष्मस्य जीवनकालम् एव निजहेतेः स्वास्त्रस्य अधारणस्य अस्वीकरणस्य अपि साधारणम् तुल्यम् अवधिं मर्यादां प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान्। अर्धरथोऽयमिति भीष्मेण निन्दितपराक्रमः कर्णः यावद्भीष्मजीवनमहमस्त्रं न धारयिष्यामीति प्रतिज्ञां कृतवानित्याशयः।

इदं कर्णप्रतिज्ञातं प्रतिपद्य ज्ञात्वा खिद्यमानं व्यथमानं मानधनं स्वाभिमानिनम् सुयोधनम्—वत्स, मा भैषीः भयं न कुरु, महाभुजान् विशालबाहुवीर्यान् अपि रिपुमहीभुजः विरोधिनृपान् संख्ये युद्धे खरतरविशिखमुखेन बाणमुखेन खादयिष्यामि भक्षयिष्यामि, बाणग्रासान् करिष्यामि इति एवं पितामहो भीष्म आश्वासयामास धैर्यं दापयामास॥

---

१. 'जाह्नवेयेन'। २. 'कुमारोऽह्नाय'। ३. 'युधितस्य'। ४. 'खादिष्य.नि'। ५. 'प्रसादयामास'। इति पा०।

सेनापतिका चुनाव हो जानेपर सभामें महारथियोंकी गिनतीके समय भीष्मने कह दिया कि कर्ण अर्धरथ है, इस प्रकार भीष्म द्वारा अपने पराक्रमके अस्वीकृत किये जानेपर कोपचिन्हित चेहरावाले सूर्यपुत्र कर्णने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक भीष्म जीते रहेंगे मैं अस्त्र धारण नहीं करूँगा, इनके जीनेकी और हमारे अस्त्र नहीं धारण करनेकी एक ही अवधि होगी ।

इस बातको जानकर दुर्योधनको बड़ा खेद हुआ, तब भीष्मने अभिमानी दुर्योधनको इस प्रकार आश्वासन दिया कि बेटा, डरो मत, शत्रुपक्षमें लड़नेवाले महापराक्रमशाली राजाओंको भी बाणका ग्रास अवश्य बना दूँगा ॥

तदनन्तरम् ,—

अभ्रापगातनयपार्षतनन्दनाभ्या-
मग्रावनौ[1] तिलकिता धृतकार्मुकाभ्याम् ।
उच्चावचं निजनिजं विरुदं वहन्तो
युद्धाय तस्थुरुभयेऽपि कुरुप्रवीराः ॥ ९ ॥

अभ्रापगेति । धृतकार्मुकाभ्याम् धनुर्धराभ्यां ताभ्याम् अभ्रापगातनयः गाङ्गेयो भीष्मः पार्षतनन्दनः द्रुपदसुतो धृष्टद्युम्नश्च ताभ्याम् अग्रावनौ अग्रदेशे तिलकिताः युक्ता अलङ्कृताः, उच्चावचं बहुविधं निजनिजं स्वं स्वं विरुदं जयचिह्नं ध्वजादि वहन्तो धारयन्तः उभयेऽपि कुरुप्रवीराः कौरवाः पाण्डवाश्च युद्धाय तस्थुः युद्धं कर्त्तुं सन्नद्धा बभूवुः ॥ ९ ॥

धनुष धारण किये हुए भीष्म तथा धृष्टद्युम्नसे आगेमें युक्त दोनों पक्षोंके योद्धागण कौरव तथा पाण्डव नाना प्रकारके विजयचिन्ह ध्वजादि धारण किये हुए लड़नेंके लिये युद्धभूमिमें आकर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

जेता पुरामिव तदा[2] जलजातयोनिं
पत्त्रीश्वराग्रजमिव[3] प्रथमो ग्रहाणाम् ।
अग्रे विधाय[4] यदुनायकमात्ततोत्रं
पार्थो रथी प्रधनभूमिमवाप वीरः ॥ १० ॥

जेतेति । तदा युद्धारम्भसमये वीरः पार्थः अर्जुनः आत्ततोत्रं गृहीतकशं यदुनायकं श्रीकृष्णं पुरां जेता त्रिपुरारिः शिवो जलजातयोनिं कमलयोनिं ब्रह्माणम् इव, ग्रहाणां प्रथमः आद्यः सूर्यः पत्त्रीश्वराग्रजम् पक्षिगणनायकस्य गरुडस्य ज्येष्ठभ्रातरम् अरुणम् इव रथस्य अग्रे मुखभागे विधाय कृत्वा सारथिभावेनावस्थाप्य रथी रथमारूढः सन् प्रधनभूमिम् युद्धस्थलम् अवाप प्राप्तः । यथा त्रिपुरविजयकाले

---

१. 'अग्रावनी' । २. 'पुरा' । ३. 'पक्षीश्वरा' । ४. 'निधाय' । इति पा० ।

शिवो ब्रह्माणं सारथिनमकृत, यथा वा सूर्योऽनूरुं सारथ्ये नियुङ्क्ते तथा गृहीताश्वदमनकशं भगवन्तं श्रीकृष्णं सारथ्ये नियुज्य रथमारुह्य च वीरोऽर्जुनः समरभुवमाजगामेति भावः। शिवेन ब्रह्मा सारथितां नीत इत्यत्र प्रमाणं शिवमहिम्नः स्तोत्र यथा—'रथः क्षोणीयन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति' इत्यादि ॥ १० ॥

युद्धके प्रारम्भमें चाबुक लिये हुए यदुनाथको आगेमें बैठाकर-सारथी बनाकर-रथारूढ़ हो वीर अर्जुन युद्धक्षेत्रमें आये, भगवान्‌का सारथिके पदपर होना ऐसा लगता था जैसे त्रिपुरविजयमें शिवने ब्रह्माको सारथि बनाया था, या सूर्य अनूरु नाम गरुडाग्रजको सारथी बनाते हैं ॥ १० ॥

संचिन्त्य भीष्ममुखबन्धुजनस्य हानिं
संतापिनः समरसीमनि शक्रसूनोः ।
बाष्पाम्बु चक्षुरधिकं श्वसितं मुखेन्दु-
र्धैर्यं मनः करतलं च मुमोच चापम् ॥ ११ ॥

सञ्चिन्त्येति। समरसीमनि युद्धक्षेत्रे भीष्ममुखबन्धुजनस्य भीष्मप्रभृतिनिजालीयवर्गस्य हानिम् विनाशम् संचिन्त्य विभाव्य सन्तापिनः खिद्यमानमनसः शक्रसूनोः अर्जुनस्य चक्षुः नेत्रम् अधिकं बाष्पाम्बु अश्रु मुमोच, मुखेन्दुः चन्द्राकृतिमुखम् अधिकं श्वसितं निःश्वासं मुमोच, मनः धैर्यं मुमोच, करतलं च चापं मुमोच तत्याज। युद्धे भीष्मादिवधमुदीक्ष्यार्जुनो रुदन् श्वासं त्यजन्नधीरश्च संश्चापं विससर्जेति तात्पर्यम्। अत्रानेकेषामेकक्रियान्वयात्समुच्चयाऽलङ्कारः ॥ ११ ॥

युद्धक्षेत्रमें आकर जब अर्जुनने विचारा कि भीष्म आदि बन्धुजनोंको युद्धमें मारना होगा तब खिन्न होकर अर्जुनके नेत्रसे आँसू गिरने लगे, उनके मुखसे दीर्घ श्वास निकलने लगे, वे अधीर हो उठे तथा उनके हाथने धनुष बाण रख दिया ॥ ११ ॥

बलारिसूनुं वसुदेवसूनुर्वचोभिराश्वास्य चिरेण तैस्तैः ।
असासहिं पावकजाठराग्नेरग्राहयत्तत्र पुनः शरासम् ॥ १२ ॥

बलारिसूनुमिति। तत्र अर्जुनव्यामोहकाले वसुदेवसूनुः श्रीकृष्णः तैस्तैः वचोभिः 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्','वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही', 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिभिः कर्मयोगोपदेशवाक्यैः बलारिसूनुम् अर्जुनम् चिरेण बहुकालेनाश्वास्य गतमोहं कृत्वा पावकजाठराग्नेः अग्निबुभुक्षायाः असासहिम् असोढारम् खाण्डववनसमर्पणद्वारावह्निबुभुक्षानिवारकम् तद्वनदाहकरम् शरासं गाण्डीवचापम् पुनः अग्राहयत् धारयामास। भगवतोपदिष्टोऽर्जुनः पुनरपि गाण्डीवमग्रहीदित्यर्थः ॥ १२ ॥

जब अर्जुनको मोह हो गया तब वासुदेवने गीतोक्त कर्मयोगप्रतिपादक वचनोंसे बड़ी देरमें इन्द्रपुत्र अर्जुनको गतमोह करके खाण्डववनदाह कराकर अग्निकी बुभुक्षा मिटाने वाला गाण्डीव धनुष फिरसे पकड़वाया, भगवान्के वचनोंसे मोह मिट जानेपर अर्जुनने फिरसे गाण्डीव उठा लिया ॥ १२ ॥

देवव्रतस्य जयकेतनचिह्नताल-
श्यामप्रभावलिरदृश्यत दूरदीर्घा ।
सख्याः सुतस्य समरे भुजवीर्यलक्ष्मीं
संवीक्षितुं रविसुतेव नभोऽधिरूढा ॥ १३ ॥

देवव्रतस्येति । देवव्रतस्य भीष्मस्य दूरदीर्घा आयता जयकेतने विजयध्वजे चिह्नतालस्य तालाकृतिचिह्नस्य श्यामप्रभावलिः श्यामलवर्णा प्रभापङ्क्तिः सख्याः गङ्गायाः सुतस्य भीष्मस्य समरे युद्धे भुजवीर्यलक्ष्मीम् पराक्रमसम्पदम् संवीक्षितुम् द्रष्टुम् नभोऽधिरूढा आकाशदेशमागता रविसुता यमुना इव अदृश्यत लोकैर्दृष्टा । भीष्मस्य जयपताकायाम् श्यामप्रभातालचिह्नच्छविः यमुनेव प्रतीयते, सा हि यमुना स्वसख्या गङ्गायाः सुतस्य समरे पराक्रम द्रष्टुं वियदारूढेति ॥ १३ ॥

भीष्मके ध्वजमें तालके चिह्न थे, आकाशमें फैली हुई उसकी श्यामप्रभा ऐसी प्रतीत होती थी मानो यमुना अपनी सखी गङ्गाके पुत्र भीष्मका युद्धमें पराक्रम देखनेके लिये आकाशमें चढ़ आई हो ॥ १३ ॥

युद्धारम्भभटार्भटीपिशुनतामुद्दामयन्तस्तदा
निःसाणादिमजैत्रवाद्यनिनदा निर्धूतशब्दान्तराः ।
श्रान्तिं क्षेप्तुमिवातिदूरपदवीसंपादितामम्बुधे-
र्वेलाशैलमहागुहासु विविशुर्व्याप्तासु धाराधरैः ॥ १४ ॥

युद्धारम्भेति । तदा तस्मिन्समये युद्धारम्भे रणोद्यमे भटानाम् वीराणाम् आर्भट्याः सिंहनादादिशौर्यप्रकटनलीलायाः पिशुनतां सूचकत्वम् उद्दामयन्तः प्रकटीकुर्वन्तः (वीराणां युद्धारम्भकालिकवीरसिंहनादादिवल्गितं प्रकाशयन्तः) निर्धूतशब्दान्तराः तिरोहितान्यशब्दाः, निःसाणादिमजैत्रवाद्यनिनदाः जयभेरीप्रधानविजयवाद्यध्वनयः अतिदूरपदवीसम्पादिताम् सुदूरमार्गचलनजनिताम् श्रान्तिम् आर्तिं क्षेप्तुम् परिहर्तुम् इव धाराधरैः मेघैः व्याप्तासु आवृतासु वेलाशैलमहागुहासु चक्रवालादिसागरतटस्थपर्वतविशालकन्दरासु विविशुः प्रवेशमकुर्वत । युद्धप्रारम्भे शूरैः कृतानां सिंहनादादिशौर्यप्रकाशनव्यापाराणां सूचका शब्दान्तरतिरोधायकाश्च भेर्यादिविजयवाद्यध्वनयः सुदूरपथधावनश्रमम् अपनेतुमिव सागरतटस्थपर्वतगुहासु प्राविशन् , तत्र विशश्रमुः, अन्योपि सुदूरधावनश्रान्तः क्वचन निभृतेऽवकाशे

विश्राम्यति तद्वदित्यर्थः । उत्प्रेक्षानुप्राणिता असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

उस समय वीरोंकी युद्धप्रारम्भकालिक सिंहनादादि लीलाओंको प्रकाशित करनेवाले, अन्यान्य ध्वनियोंको अपनी विशालतामें विलीन करनेवाले भेरी आदि विजयवाद्यके शब्द सागरतटवर्ती चक्रवालादि पर्वतोंकी मेघावृत कन्दराओंमें प्रवेश कर रहे थे, ऐसा लगता था मानो वे दूरमार्ग धावनजनित श्रमको मिटाना चाहते हों। जो थकता है वह किसी निभृत स्थानमें जाकर विश्राम करता है ॥ १४ ॥

संग्रामदुन्दुभिरवश्रवणेन देवाः सर्वे कवाट[1]घटितानि गृहाणि कृत्वा ।
आदाय नन्दनवनादभिषेक्तुमाजौ वीरान्प्रसूनचयमप्यभजन्विहायः ॥१५॥

संग्रामेति । सर्वे देवा इन्द्रादयः संग्रामदुन्दुभिरवश्रवणेन युद्धभेरीनिनदाकर्णनेन गृहाणि निजभवनानि कवाटघटितानि पिहितद्वाराणि कृत्वा वीरान् अभिषेक्तुम् वीराणामुपरि वर्षयितुं प्रसूनचयम् पुष्पनिकरं नन्दनवनात् इन्द्रोद्यानात् आदाय गृहीत्वा अपि विहायः आकाशम् अभजन् ।आयाताः। युद्धवाद्यध्वनिमाकर्ण्य देवाः पिहितगृहद्वारा वीरान् पूजयितुं गृहीतनन्दनवनकुसुमाः शीघ्रमाकाशमुपजग्मुरिति भावः ॥

युद्ध-दुन्दुभिके शब्दको सुनकर सभी देवोंने अपने घरोंमें किवाड़ें बन्द कर दीं, वीरों पर बरसानेके लिये नन्दनवनके फूल ले लिये और आकाशमें चले आये ॥ १५ ॥

सति घर्मजले मिथोविमर्दात्सकलं तद्व्यपनेतुमङ्गकेभ्यः ।
मघवत्प्रमुखाः सुरा बभूवुर्मरुतोऽपि स्वयमात्ततालवृन्ताः ॥ १६ ॥

सतीति । मघवत्प्रमुखाः शक्रप्रभृतयः सुराः मिथोविमर्दात् परस्परसङ्घर्षात् घर्मजले स्वेदे सति सकलं समस्तं तत् धर्मजलम् व्यपनेतुं शमयितुं स्वयम् मरुतो देवाः वायवश्च सन्तोऽपि आत्ततालवृन्ताः गृहीतव्यजनाः बभूवुः। युद्धदर्शनार्थमाकाशे समवेता देवा यदा परस्परसम्मर्देन स्वेदपूरितवपुषोऽजायन्त, तदा स्वयं मरुतो (देवाः वायवश्च) भूत्वाऽपि ते स्वेदजलशमनाय तालवृन्तानि चालयामासुः। देवानामपि स्वेदजननोक्त्या संमर्दस्याधिक्यं तेन च युद्धस्य विस्मयावहत्वं ध्वनितम् ॥ १६ ॥

युद्ध देखनेके लिये जब इन्द्रादि देवगण आकाशमें आ गये तब वहाँ इतना जनसंमर्द हुआ, इतनी भीड़ हुई कि सभी देवगण पसीनेसे तर हो गये, उस समय-स्वयं मरुत (देवता-वायु) होकर भी देवोंने पङ्खा झलना प्रारम्भ कर दिया ॥ १६ ॥

तत्र तावरिगणौ[2] शनैः शनैः संगतौ सधनुषौ सगर्जितौ ।
पूर्वपश्चिममरुत्प्रचोदितौ पुष्करे घनघनाघनाविव[3] ॥ १७ ॥

१. 'कपाट'। २. 'रिपुगणौ'। ३. 'नवघना'। इति पा०।

तत्र ताविनि । तत्र युद्धक्षेत्रे सधनुषौ धृतचापौ सगर्जितौ ससिंहनादौ च तौ पाण्डवकौरवपक्षगतौ अरिगणौ शत्रुसङ्घौ पुष्करे आकाशे सधनुषौ सेन्द्रचापौ सगर्जितौ सस्तनितशब्दौ पूर्वपश्चिममरुत्प्रचोदितौ पूर्वमरुता पश्चिममरुता च प्रेरितौ घनौ भीषणौ घनाघनौ मेघाविव सङ्गतौ परस्परं मिलितवन्तौ । यथा विभिन्नवायुप्रेरितौ महाघनौ सेन्द्रचापौ सबृंहितौ च सन्तौ वियति परस्परं मिलतस्तथा–पाण्डवकौरवयोधौ धृतचापौ सगर्जितौ च युद्धक्षेत्रे सङ्गतौ बभूवतुरित्याशयः । उपमाऽलङ्कारः ॥ १७ ॥

उस युद्धक्षेत्रमें धनुष धारण करनेवाले तथा गरजते हुए दोनों दलोंके सैनिक आकर एक दूसरेसे भिड़ गये जैसे आकाशमें इन्द्रधनुषसे युक्त गरजते हुए महामेघ विभिन्न दिशाओंसे आनेवाली वायुओंसे प्रेरित होकर एक दूसरेसे मिलते हैं ॥ १७ ॥

धावत्स्यन्दनकेतनांशुकमरुद्व्याधूतमन्दाकिनी-
बिन्दूनामपि सैन्य¹कुञ्जरघटाशुण्डासमुत्थायिनाम् ।
दानाम्भःपृषतामपि स्फुटशरत्ताराकृतिस्पर्धिनां
भेदं ग्राहयितुं शशाक गगने भृङ्गानुरोधक्रमः ॥ १८ ॥

धावदिति । स्फुटशरत्ताराकृतिस्पर्धिनां विमलशारदनक्षत्रवद्वर्त्तुलधवलस्वरूपाणाम् धावतां वेगेन चलतां स्यन्दनानां रथानां यानि केतनांशुकानि ध्वजपटाः तन्मरुता तत्प्रभववायुना व्याधूता ये मन्दाकिनीबिन्दवः आकृष्टा आकाशगङ्गाजलकणास्तेषाम् अपि, सैन्यकुञ्जरघटायाः सेनाकरिसन्ततेः शुण्डाभ्यः करटेभ्यः समुत्थायिनाम् उत्पतताम् दानाम्भः पृषताम्मदजलबिन्दूनाम् अपि गगने वियति भेदं पार्थक्यं ग्राहयितुं भृङ्गानुरोधक्रमः भ्रमरानुवृत्तिः शशाक समर्थाभूत् । नक्षत्रवदतिवर्त्तुलस्वच्छाः ध्वजपटपवनाकृष्यमाणाः आकाशगङ्गाजलबिन्दवः के ? के च तादृशा एव मदाम्बुबिन्दव इति भेदं भ्रमरानुवृत्तिरेव बोधयितुं क्षमते स्म, यत्र भ्रमरानुवृत्तिस्ते दानाम्बुबिन्दवो ये च भ्रमरानुवृत्तिरहितास्ते वियद्गङ्गाबिन्दव इति भेदो ज्ञायते स्मेत्यर्थः । अत्र 'ताराकृतिस्पर्धिनाम्' इत्युपमा । दानाम्भसः श्यामतायामपि तद् बिन्दूनां ध्वजपटवायुना वियति विक्षेपे धावल्यं, यमुनाजलानामिव, तदुक्तं मुक्तावल्यां—'वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धेः' इति ॥ १८ ॥

शरद्ऋतुके नक्षत्रोंकी तरह श्वेत तथा गोल दीखनेवाले—दौड़ते हुए रथोंपर लहराते हुए ध्वजपटोंसे वायुद्वारा आकृष्यमाण आकाशगङ्गाजल-बिन्दुओं तथा हाथीके-शुण्डादण्डसे आकृष्यमाण दानजल-बिन्दुओंके बीचमें पार्थक्य केवल भ्रमरानुवृत्तिमात्रसे ज्ञात होता है । जिन बिन्दुओंके पीछे भ्रमर सुगन्धलोभसे चलते रहते हैं उन्हें लोग दानजल-बिन्दु समझ लेते हैं, और जिन बिन्दुओंके पीछे भ्रमर नहीं चलते उन्हें गङ्गाजल-बिन्दु मानते हैं ॥१८॥

---

१. 'सिन्धुर' । इति पा० ।

आसाद्य द्विपमाहवे रदपथेनारुह्य तीक्ष्णासिना
यन्तारं विनिपात्य साट्टहसितं स्कन्धे विधाय स्थितिम् ।
कुम्भास्फालनकारिणं रिपुभटं दृष्ट्वा दिवौकःस्त्रियाः
कस्याश्चित्कुचकुम्भयोः कठिनयोः कण्डूरखण्डाऽभवत् ॥१६॥

आसाद्येति । आहवे युद्धे द्विपं शत्रुहस्तिनम् आसाद्य उपसृत्य रदपथेन दन्तमार्गेण आरुह्य आक्रम्य साट्टहसितं साट्टहासं तीक्ष्णासिना खरतरकरवालेन यन्तारं सादिनं विनिपात्य हत्वा स्कन्धे गजस्य स्कन्धदेशे स्थितिं विधाय स्थित्वा कुम्भास्फालनकारिण गजकुम्भमामृशन्तं रिपुभटं शत्रुवीरं दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य कस्याश्चित् दिवौकःस्त्रियाः देवबालायाः कठिनयोः कर्कशयोः कुचकुम्भयोः अखण्डा अविच्छिन्ना प्रबला कण्डूः खर्जूः अभूत् प्रववृते । परगजमुपेत्य सादिनं हत्वा तदीयं गजमारुह्य तत्कुम्भमामृशन्तं कञ्चन योधमालोकयन्त्या देवाङ्गनायाः कस्याश्चित् हृदये यद्ययं मृत्वा स्वर्गमागच्छेत्तदैनं वृत्वा तदीयेन कर्कशेन हस्तेनाहं निजकुचमर्दनं कारयिष्यामीत्युत्कण्ठा जागरिता, तदा तत्कुचयोस्तादृगुत्कण्ठाकृता कण्डूरविरतं प्रवर्त्तते स्मेत्यर्थः ॥ १९ ॥

एक योद्धा शत्रुके हाथीके पास पहुँचा, दाँतके रास्ते हाथीपर चढ़ा, अपनी तीक्ष्ण तलवारसे हस्तिपकको काटकर गिरा दिया, खुद हाथीपर बैठकर हाथीका कुम्भ सहलाने लगा, ऐसे वीरको जब आकाशवर्त्तिनी किसी देवबालाने देखा तब उसके स्तनोंमें अविच्छिन्न खुजली पैदा होने लगी—उसे इच्छा होने लगी कि अगर यह मरकरके स्वर्ग आवे और इसका वरण करके मैं अपने कुचों का मर्दन इसके हाथोंसे करा सकूँ तो बड़ा आनन्द मिले, इसी इच्छासे उसके स्तन खुजलाने लगे ॥ १९ ॥

कश्चिद्गजः प्रतिभटेन करे विलूने-
ऽप्यामूलभागमसिना नमिताग्रकायः ।
क्षिप्रं प्रगृह्य रदनेन निषादिहस्ता-
[1]त्स्रस्तं सृणिं पुनरदात्कुशलाय तस्मै ॥ २० ॥

कश्चिदिति । कश्चित् गजः हस्ती प्रतिभटेन विपक्षयोधेन असिना खड्गद्वारा करे शुण्डादण्डे आमूलम् मूलमवधीकृत्य लूने छिन्नेऽपि नमिताग्रकायः अवनमितशरीरपूर्वभागः सन् निषादिहस्तात् स्रस्तं हस्तिपकपाणितलात् पतितं सृणिम् अङ्कुशम् रदनेन दन्तेन क्षिप्रं शीघ्रम् प्रगृह्य आदाय कुशलाय कल्याणाय कुशलाय चतुराय वा तस्मै निषादिने पुनः अदात् दत्तवान् । कस्यचिद् गजस्य परेण योधेन शुण्डादण्डो मूलतश्छिद्यते स्म, तथापि चतुरोऽसौ हस्ती हस्तिपकहस्ततश्च्युत-

1. 'स्रस्तां' । इति पा० ।

मङ्कुशं स्वदन्तेनोत्थाप्य चतुराय हस्तिपकाय समर्पयति स्मेत्यर्थः । तादृशि दशाया-मङ्कुशदानासम्बन्धेऽपि तदभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २० ॥

किसी योद्धाने एक परसैन्यगजका सूँड अपनी तलवारके द्वारा जड़से काटकर गिरा दिया था, फिर भी उस हाथीने हस्तिपकके हाथसे गिरे हुए अङ्कुशको अपने दाँतोंसे उठाकर हस्तिपकको दे दिया, जिससे कल्याण हो ॥ २० ॥

भसितलेपसितौ करिणावुभौ युधि परस्परदत्तरदौ मुखे ।
हरिरवेक्ष्य वहत्यपि वाहने सरभसं निदधे सकला दृशः ॥ २१ ॥

भसितेति । भसितलेपसितौ भस्मोद्धूलनधवलाङ्गौ युधि युद्धे मुखे परस्परं दत्तरदौ प्रवेशितदन्तौ उभौ करिणौ गजौ अवेक्ष्य हरिः इन्द्रः वहति इन्द्रम् स्वोपरि-दधानेऽपि वाहने स्वीये ऐरावते सरभसं भयचकितं सकलाः दृशः निदधे स्थापित-वान् । भस्मधवलौ द्वौ गजौ युद्धेऽन्योन्यस्य मुखे दन्तान्प्रवेश्यास्थितौ, तस्मिन्नेवा-वसरे शक्रस्तौ निरीक्ष्य किमयं ममैरावतस्तत्र गत इति मनसि सन्दिहानस्तयो-रुपरि पतन्तीर्दृशः परावृत्य स्वेनारूढेऽप्यैरावते चकितचकिताः स्वा दृशः स्थापय-तीति भावः । ऐरावतश्चतुर्दन्तो धवलश्च प्रसिद्ध्यति, युद्धेऽवसरवशात्तथाभूतौ गजौ दृष्ट्वा शक्रस्यापि विस्मयोऽजनिष्टेति तात्पर्यम् । भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ २१ ॥

भस्मलेपसे धवल तथा परस्पर मुखमें दन्त डालनेसे चतुर्दन्तसे प्रतीत होनेवाले हाथियोंको युद्धमें देखकर इन्द्रने अपने वाहनमें वर्त्तमान ऐरावत पर भी भयचकित अपनी सारी दृष्टियाँ एक ही बार डाल दीं, इन्द्रको भ्रम हो गया कि यह मेरा ऐरावत तो नहीं है, इसलिये उन्होंने हड़बड़ाकर अपने ऐरावतको देखा ॥ २१ ॥

[1]भिन्नैकदन्तमुसलः प्रतिदन्तिघाता-
त्कुम्भाग्रलक्ष्यकुटिलाङ्कुशचन्द्ररेखः[2] ।
कश्चिद्गिरीशसमतां कलयन्करीन्द्रः
सारूप्यभागिव गणाधिपतेर्विरेजे ॥ २२ ॥

भिन्नैकेति । प्रतिदन्तिघातात् युद्धागतशत्रुगजप्रहारात् भिन्नैकदन्तमुसलः त्रुटितमुसलसमानैकदन्तः, कुम्भाग्रे मस्तकाग्रभागे लक्ष्या स्फुटदृश्या कुटिला वक्रा अङ्कुशचन्द्ररेखा चन्द्ररेखासमाङ्कुशरेखा यस्य तथोक्तश्च कश्चित् करीन्द्रः गजराजः, गिरीशसमतां कलयन् शिवस्य सादृश्यं (भालस्थितचन्द्ररेखत्वेन) प्राप्नुवन् गणाधिपतेः सारूप्यभागिव गणेश इव विरजे । गिरीशसमता औन्नत्येन पर्वत-समता वा । अयमाशयः—त्रुटितैकदन्ततया कुम्भवर्त्तिनाङ्कुशेन भालचन्द्रतया च पर्वतविशालः कोऽपि करी एकरदं भालचन्द्रं च गणाधिपमनुचकारेति । गिरीश-समतां कलयन् गणाधिपमनुचकारेति विरोधस्य पर्वततुलार्थकतया परिहारः ।

---

१. 'भग्नैक' । २. 'चन्द्रलेखः' । इति पा० ।

गणेशस्यैकदन्तत्वं भालचन्द्रत्वं चागमप्रसिद्धम् । श्लेषोत्थापितोपमाऽलङ्कारः ॥२२॥

विरोधिपक्षस्थ गजद्वारा किये गये प्रहारसे जिसका एक मुसलसम दन्तका भङ्ग हो गया, कुम्भपर लटकता हुआ अङ्कुश चन्द्रलेखा समान चमकता है, ऐसा एक हाथी गिरीश शिव की समता या उन्नत होनेके कारण पर्वतराजकी तुलना करता हुआ गणेशकी तुलनाको प्राप्त हो गया, गणेश भी एकदन्त भालचन्द्र, वह भी एकदन्त तथा कुम्भवर्त्ती अङ्कुश द्वारा भालचन्द्र ॥ २२ ॥

कश्चिन्निर्गत्य वेगादरिनृपतिर्बलेऽपातयत्स्वामिनं स्वं
तत्र स्कन्धाधिरूढं विमतमपि तथाधत्त नीत्वा स्वसैन्यम् ।
इत्थं दुःसाधरोधो युधि करिकलभो दूरधूताङ्कुशः सन्
विज्ञंमन्यं निषादिद्वयमपि विदधे हासपात्रं जनानाम् ॥ २३ ॥

कश्चिदिति । दुःसाधरोधः अतिकठिनसाध्यवारणः अतएव धूताङ्कुशः अगणिताङ्कुशप्रहारः सन् कश्चित् करिकलभः तरुणगजः युधि युद्धे वेगात् निर्गत्य स्वसैन्याद् बहिर्गत्य अरिनृपतिबले शत्रुसैन्यमध्ये स्वं स्वामिनं स्वकीयं यन्तारम् अपातयत् तत्र अरिनृपतिबले च स्कन्धाधिरूढं साहसनैपुण्यद्वारा झटिति स्कन्धमारूढं विमतं शत्रुपक्षगतं कञ्चन वीरम् अपि स्वसैन्यं नीत्वा स्वबलमध्ये आनीय तथा आधत्त तथैव भूमौ अपातयत् । इत्थम् अनेन प्रकारेण विज्ञंमन्यं पण्डितमानि निषादिद्वयम् द्वावपि यन्तारौ जनानां लोकानाम् हासपात्रम् उपहासास्पदं विदधे चक्रे । अतिदुष्करो निरोधो यस्य तादृशोऽवमताङ्कुशप्रहारश्च कश्चित्तरुणगजः स्वसैन्यमध्यान्निःसृत्य परसैन्यमध्यं प्रविश्य स्वं यन्तारं तत्रापातयत् तथा रिक्तपृष्ठं तं गजं दृष्ट्वा कश्चन शत्रुः साहसी वीरस्तं वशयितुं तदीयं पृष्ठमारूढस्तमपि स्वसैन्यमध्यमानीयापातयत्, इत्थमुभावपि विज्ञताऽभिमानिनौ यन्तारौ लोकैरहासयदित्याशयः । अत्र काव्यलिङ्गत्रयम्, दुःसाधरोधत्वेन धूताङ्कुशत्वेन च यन्तृपातनात् द्वितयम्, यन्तृपातनेन लोकहासे चैकम्, तेषां परस्परम्, अतिशयोक्त्या च सङ्करो बोध्यः ॥ २३ ॥

दुर्निवार तथा अङ्कुश प्रहारको नहीं गिननेवाला एक जवान हाथी वेगसे अपने सैन्यसे भागकर शत्रुओंके सैन्यमें पहुँच गया और अपने यन्ताको वहाँ पर गिरा दिया, तत्काल ही वहाँ पर वर्त्तमान एक शत्रुपक्षीय वीर साहस तथा निपुणतासे उसके कन्धोंपर आ बैठा, उसको भी वहाँ से लाकर उस हाथीने अपने सैन्यके बीचमें गिरा दिया, इस तरह योग्यताका दावा रखनेवाले दोनों यन्ताओंको उस हाथीने लोकहासभाजन बना दिया, लोगोंने दोनों यन्ताओंकी मूर्खतापर कहकहे लगाये ॥ २३ ॥

---

१. 'बले पातयन्' । इति पा० ।

हस्तेन हस्तमथ दन्तयुगेन दन्तौ
कर्णौ च कर्णयुगलेन [1]पदे च पद्भ्याम्।
वालेन वालमभिहत्य च वारणौ द्वौ
तुल्याङ्गयुद्धमतिशिक्षितमादधाताम् ॥ २४ ॥

हस्तेनेति। हस्तेन शुण्डादण्डेन हस्तं शुण्डादण्डम्, दन्तयुगेन दन्तद्वयेन दन्तौ, कर्णयुगेन कर्णौ, पद्भ्याम् अग्रपादाभ्याम् पदे चरणौ, वालेन लाङ्गूलकेशेन वालं लाङ्गूलकेशं च अभिहत्य निपीड्य द्वौ वारणौ गजौ अतिशिक्षितं स्वभ्यस्तं तुल्याङ्गयुद्धं समानाङ्गयुद्धं येन चरणादिनाऽवयवेन परः प्रहस्तेनैव प्रतिहन्तव्यमित्येवं रूपम् समानरणम् आदधाताम् अकुरुताम् ॥ २४ ॥

दो हाथियोंने हाथ–सूँड़से सूँड़पर, दाँतोंसे दाँतोंपर, कानोंसे कानोंपर, चरणोंसे चरणोंपर और पुच्छकेशसे पुच्छकेशपर प्रहार करके सुशिक्षित तुल्याङ्गयुद्ध करना प्रारम्भ किया ॥ २४ ॥

निषादिनो दन्तिशिरस्यधोमुखं निपातिताङ्गा लगुडस्य ताडनैः।
व्यथापनोदाय मदस्य सौरभं विनम्य जिघ्रन्त इवालुलोकिरे ॥ २५ ॥

निषादिन इति। निषादिनः गजारूढाः लगुडस्य प्रतिपक्षयोधाधिष्ठितगजकरस्थितदण्डस्य ताडनैः प्रहारैः दन्तिशिरसि गजकुम्भोपरि अधोमुखं निपातिताङ्गाः नमितोत्तरकायाः सन्तः व्यथापनोदाय दण्डताडनजन्यकष्टशमनाय विनम्य नम्रीभूय मदस्य सौरभं दानवारिसुगन्धम् जिघ्रन्तः इव आलुलोकिरे अदृश्यन्त। अयमाशयः प्रतिभटयोधगजेन दण्डद्वाराताडिता निषादिनो मुखं नमयित्वा पतिताः स्वकष्टशमनाय नम्रीभूय हस्तिमदगन्धमाजिघ्रन्त इव प्रतिभासन्त इति। स्फुटोत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

प्रतिपक्ष योधाधिष्ठित गजकरस्थ दण्डसे प्रहार पाकर हाथीके सिरपर औंधे मुँह पड़े हुए योधा ऐसे लगते थे मानो वे अपनी प्रहारजनित पीड़ाको शान्त करनेके लिये झुककर हाथीके दानवारिको सूँघ रहे हों, जब जोरोंकी चोट लग जाती है तब कुछ बेहोशी-सी आने लगती है, उसे दूर करनेके लिये लोग कुछ तीव्र गन्धका आघ्राण करते हैं ॥ २५ ॥

तीक्ष्णैः प्रत्यर्थिभल्लैरपहृतशिरसां हस्तिपानां शरीरा-
दुत्क्रान्ताः प्राणवाताः करिमदपयसां सौरभीमुद्वहन्तः।
पायं पायं कपोलस्थलकुचकलशस्वेदवारिप्रवाहं
चक्रुः संमर्दभाजां दिवि सुरसुदृशां तालवृन्तस्य कृत्यम् ॥ २६ ॥

तीक्ष्णैरिति। तीक्ष्णैः अतिशितमुखैः प्रत्यर्थिभल्लैः शत्रुबाणैः अपहृतशिरसां

---

१. 'पदौ'। इति पा०।

छिन्नमस्तकानां हस्तिपानां निषादिनां शरीरात् शवभूताद्देहात् उत्क्रान्ताः निर्गताः करिमदपयसां दन्तिदानजलानां सौरभीं सुगन्धम् उद्वहन्तो धारयन्तः प्राणवाताः मृतनिषादिप्राणवायवः दिवि व्योमनि संमर्दभाजां परस्परमहमहमिकया परापतन्तीनां सुरसुदृशां देवबालानां कपोलस्थलकुचकलशस्वेदवारिप्रवाहम् गण्डदेशे कुचप्रान्ते च प्रकटितं घर्मजलम् पायम्पायम् शोषयित्वा तालवृन्तस्य कृत्यं व्यजनकार्यम् चक्रुः । अयमाशयः—प्रत्यर्थिबाणाच्छिन्नशिरसां निषादिनां प्राणवायवः स्वभावादुत्क्रामन्ति, वायुस्वाभाव्यादेव ते गजमदसौरभमपि कर्षन्ति, वियति गताश्च ते सुगन्धिहरा वायवो नववल्लभवरणागतसुरबालाजनानां जनसम्मर्देन गण्डेषु कुचस्थलेषु चाविर्भवद्घर्मजलमपनयन्तो व्यजनभावं भजन्त इति । असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २६ ॥

शत्रुद्वारा प्रयुक्त तीक्ष्ण बाणोंसे छिन्नसिरवाले हस्तिपकोंकी देहसे निकलकर ऊपरकी ओर उड़ती तथा गजमद-सौरभका वहन करती हुई हस्तिपकोंकी प्राणवायुएँ—आकाशमें बड़ी भीड़ हो जानेके कारण देवबालाओंके कपोलप्रदेश तथा कुचस्थलों पर प्रकट होनेवाले स्वेदजलको दूरकरके व्यजनका कार्य कर रही थीं । व्यजनसे भी सुगन्धि वायुका संचार तथा स्वेदशोषण किया जाता है, प्राणवातोंने भी वे ही कार्य किये ॥ २६ ॥

अश्वावुभौ तस्थतुरग्रपादावुत्क्षिप्य युद्धाभिमुखीभवन्तौ ।
परस्परस्योपरि हेतिपातात्स्वसादिनौ त्रातुमिवोर्ध्वकायौ ॥ २७ ॥

अश्वावुभाविति । उभौ अश्वौ अग्रपादौ पादाग्रौ उत्क्षिप्य उत्थाप्य युद्धाभिमुखीभवन्तौ स्वसादिनौ स्वोपर्यारूढौ तौ रङ्गिकौ परस्परस्योपरि अन्योन्यम् हेतिपातात् अस्त्रनिपतनात् त्रातुम् रक्षितुम् ऊर्ध्वकायौ लम्बमानवपुषौ तस्थतुः स्थितौ । उभयोरपि पक्षयोः पङ्क्तिबद्धेषु स्थितेष्वश्वेषु परस्पराभिमुखौ पूर्वकायमुन्नमयन्तौ चोभावश्वौ स्वस्ववाहौ शस्त्राद्रक्षितुमिवोत्थितौ प्रतीयेतेस्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ २७ ॥

दो घोड़े आमने सामने शरीरका अगला भाग उठाये युद्धाभिमुख खड़े हैं, वे ऐसे लगते हैं मानों अपने अपने अश्वारोहियोंको शस्त्रप्रहारसे बचानेके लिये अपने सिर उठाये हुये हों ॥ २७ ॥

एकैव वैरिभटखड्गवरस्य धारा
धारासु पञ्चसु सतीष्वपि कंचिदश्वम् ।
स्कन्धे विभिद्य तदसूनितरैर्दुरापां
जग्राह नाल्पमपि तत्क्षतजाम्बुलेशम् ॥ २८ ॥

---

१. 'एकैक' । २. 'दुरापान' । इति पा० ।

एकैवेति। वैरिभटखड्गवरस्य परिपन्थिवीरकरवालस्य एका एव धारा पञ्चसु आस्कन्दितादिनामिकासु अश्वे विद्यमानासु धारासु गतिविधासु सतीष्वपि कंचित् अश्वं स्कन्धे विभिद्य छित्त्वा इतरैः दुरापान् अलभ्यान् तस्य तीव्रगामिनोऽश्वस्यासून् प्राणान् जग्राह, अल्पम् अपि तस्याश्वस्य क्षतजाम्बुनः रक्तोदकस्य लेशं सम्बन्धं न जग्राह न पस्पर्श। पञ्चधारायुतमप्यश्वं छित्त्वा खरतरकरवालधारारक्ताम्बु न पस्पर्श, खड्गधाराया अतितीक्ष्णतया छिदिक्रियां कृत्वा रक्तप्रवृत्तेः प्रागेव बहिर्निर्गमाद्रक्तस्पर्शो न जातः इत्यर्थः। पञ्चधारायुताश्वसंसर्गेऽपि धाराऽस्पर्शः विस्मयावहः, पञ्चधाराशालिनोऽप्यश्वस्यैकधाराशालिना खड्गेन वध इति च आश्चर्यजनकं बोध्यम्। 'आस्कन्दितं धौरितिकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्चधाराः' इति हयविद्याविदः। अश्वस्येच्छया समागतिः, पूर्वाधिका चतुरा गतिः, मण्डलीक्रियया गतिः, वेगेन गतिः, त्वरया कम्पेन गतिः, इति क्रमेणास्कन्दितानां पञ्चानां धाराणामर्थाः॥ २८॥

पाँच धाराओं–गतिप्रकारोंसे चलनेवाले अश्वको भी काटकर झटसे बाहर निकल जाने वाली तलवार तेजीके कारण एक धारावाली होनेपर भी अश्वके रक्तसे भिंगी नहीं, तलवार की एकही धारा थी, अश्वको पाँच धारायें थीं फिर भी तलवार इतनी तेजीसे चली कि अश्वका गला उतारकर बिलकुल बेदाग निकल गई, एक धारावाली होकर भी तलवारने प.च धारा वाले घोड़ेका वध कर दिया। घोड़ोंकी गतियोंके नामभेदसे पाँच धारायें हैं, जो ऊपर संस्कृत टीकामें दी गई हैं॥ २८॥

समरभुवि बभासे सादिनो भूषणानां
मरकतमणिभासां मध्यगः कश्चिदश्वः।
सकलभटविमर्दैश्चञ्चलाच्छिन्नवाहा-
न्निपतित इव रथ्यो नेतुरह्नां शताङ्गात्॥ २९॥

समरभुवीति। समरभुवि युद्धक्षेत्रे सादिनः अश्वारोहिणो भटस्य भूषणानाम् कटककुण्डलाद्यलङ्कारजातानां मरकतमणिभासां गारुत्मतरत्नकान्तीनां मध्यगः अन्तरालवर्त्ती कश्चिदश्वः सकलभटविमर्दैः युद्धे मृतानां सूर्यमण्डलं भित्त्वा स्वर्गन्तुमुद्यतानां बहूनां योधानां सम्मर्दैः चञ्चलात् चलितात् भिन्नवाहात् मुक्तबन्धनीभूताश्वगणात् अह्नां नेतुर्दिनाधिपस्य शताङ्गात् रथात् निपतितः च्युतो रथ्य इव बभासे दिदीपे। केनचिद् भटेन धृतकटककुण्डलादिभूषणजातेनाधिष्ठितोऽश्वस्तदीयभूषणखचितगारुत्मतमणिभासा हरितवर्णतां प्रापितः सन् सूर्यमण्डलभेदनायागच्छतां मृतवीराणां सम्मर्दात् चलितात् मुक्तबन्धनतामुपगताश्वसमूहात् सूर्यरथाच्च्युतोऽश्व इव प्रतीयते स्म। सूर्याश्वानां हरितवर्णत्वादियमुत्प्रेक्षा। मालिनीवृत्तम्॥ २९॥

---

१. 'बिम्बभेदे'। इति पा०।

युद्धक्षेत्रमें अश्वारोही योद्धाके आभूषणमें लगे नीलम की कान्तिसे लिपटा हुआ एक घोड़ा ऐसा लग रहा था, मानो युद्धमें मरकर सूर्यमण्डलभेदन करके स्वर्ग जानेके लिये उपस्थित वीरजनोंकी भीड़ हो जानेसे चञ्चल तथा खुल गये हैं घोड़े जिसके ऐसे सूर्यके रथसे गिरा हुआ सूर्यका एक घोड़ा हो। नीलमकी कान्तिसे लिपटा घोड़ा सूर्यके घोड़ेके समान दीख रहा था, क्योंकि सूर्यके घोड़े हरे हैं ॥ २९ ॥

आयोधनाङ्गणजुषामसृगापगानामावर्तगर्भपतिताः कुणपा हयानाम् ।
संबभ्रमुर्विहितपूर्वमुपाददानाः शिक्षाविशेषमिव मण्डलचङ्क्रमेषु ॥ ३० ॥

आयोधनेति । आयोधनाङ्गणजुषाम् समरक्षेत्रप्रवाहिणीनाम् असृगापगानां शोणितनदीनाम् आवर्त्तगर्भपतिताः जलभ्रमिमध्यगताः हयानां कुणपाः अश्वानां शवदेहाः मण्डलचंक्रमेषु मण्डलाकारभ्रमणेषु विहितपूर्वम् अभ्यस्तपूर्वम् शिक्षाविशेषम् उपाददानाः स्वीकुर्वन्त इव संबभ्रमुः भ्राम्यन्ति स्म। युद्धभूमौ वहन्तीनां शोणितनदीनां प्रवाहपतिताः हयदेहा मण्डलीक्रियाशिक्षायां स्वभ्यस्तं गतिभेदमादधाना इव प्रतीयन्तेस्मेत्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ३० ॥

समराङ्गणमें प्रवाहित होनेवाली शोणितनदियोंके जलावर्त्तमें पड़े हुए घोड़ोंके शव ऐसे लगते थे मानो मण्डलीकरणकालमें सीखी गई मण्डलाकार—भ्रमणकलाकी शिक्षाको काममें ला रहे हों, मण्डलाकार भ्रमणके पाठको दुहराते हों ॥ ३० ॥

धन्वी धानुष्कमारादसिभृतमसिमान् कुन्तिनं कुन्तधारी
चक्रास्त्रं चक्रहेतिर्गदिनमपि गदापाणिरन्योन्यमेत्य ।
स्वस्वास्त्राणां प्रयोगे दृढपरिचितयो हन्तृवध्यत्वशैली-
साधारण्ये प्रतिष्ठामभिविदधुरमी द्वन्द्वयोधाग्रगण्याः ॥ ३१ ॥

धन्वीति। स्वस्वास्त्राणां प्रयोगे धनुरादिस्वायुधसञ्चालने दृढपरिचितयः प्राप्तप्रकामाभ्यासाः अमी युद्धगताः द्वन्द्वयोधाग्रगण्याः समानयुद्धकुशलाः भटाः—धन्वी धनुर्धरः धानुष्कम् धृतधनुषम्, असिमान् खड्गधरः असिभृतम् खड्गधरम्, कुन्तधारी कुन्तधरम् , चक्रहेतिः चक्रप्रहरणः चक्रास्त्रम् चक्रेण युध्यमानम् , गदापाणिः गदिनम् अन्योन्यम् परस्परम् एत्य उपेत्य हन्तृवध्यत्वशैलीसाधारण्ये हन्तृत्वयुक्तवध्यभावे प्रतिष्ठाम् अभिविदधुः, समानभावेन घ्नन्ति स्म हन्यन्तेस्म चेति यावत्। अयमर्थः—निजास्त्रप्रयोगकुशलाः परस्परसमानयुद्धव्यसनिनश्च भटाः स्वसमानैर्योधैर्युध्यमाना यथैव हन्यन्ते स्म तथैव च घ्नन्ति स्मेति। अत्रैकस्मिन् योधे हन्तृत्ववध्यत्वरूपानेकधर्मसमुच्चयात्समुच्चयालङ्कारः। स्रग्धरावृत्तं, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ ३१ ॥

अपने अपने अस्त्रोंके प्रयोगमें निपुण, द्वन्द्वयुद्धमें अग्रगण्य भटगण—धनुषवाले धनु-

१. 'अङ्गण'। २. 'गर्त'। ३. 'अगात्'। ४. 'अथ विदधुः'। इति पा०।

थैरोंको, तलवारवाले तलवारवालोंको, कुन्तवाले कुन्तवालोंको, चक्रवाले चक्रवालोंको एवं गदावाले गदावालोंको पाकर समानरूपसे हन्ता तथा वध्य होनेकी प्रतिष्ठा पा रहे थे, जिस तरह मारते थे उसी तरह मरते भी थे ॥ ३१ ॥

ततः,—

धृष्टद्युम्नोत्कृत्तमर्माणमग्रे दृष्ट्वा हाहाशब्ददीनां स्वसेनाम् ।
कोदण्डज्यामामृशन्घोरघोषां कोपाद्भीष्मः प्राविशत्पार्थसैन्यम् ॥ ३२॥

धृष्टद्युम्नेति । (ततः) धृष्टद्युम्नेन तदाख्यपाण्डवसेनापतिना उत्कृत्तमर्माणं छिन्नभिन्नोरोमुख्यदेशाम् स्वसेनाम् कौरववाहिनीम् हाहाशब्ददीनाम् दीनभावेन हाहाशब्दं कुर्वतीम् अग्रे पुरतो दृष्ट्वा घोरघोषां भीषणटङ्कारां कोदण्डज्यां धनुष्प्रत्यञ्चाम् आमृशन् टंकारयन् भीष्मः कोपात् कोपं धृत्वा पार्थसैन्यम् युधिष्ठिरसेनाम् प्राविशत् प्रविष्टः। धृष्टद्युम्नेन भिन्नमर्माणं कौरववाहिनीं हाहाशब्दं कुर्वतीं दृष्ट्वा भीष्मः पार्थसेनां हन्तुं प्रविष्टस्तन्मध्यमित्यर्थः । काव्यलिङ्गम् ॥ ३२ ॥

इसके बाद जब भीष्मने देखा कि हमारी सेनाको धृष्टद्युम्न छिन्न-भिन्न कर रहा है, वह हाहा शब्द करके दैन्य प्रदर्शित कर रही है, तब वह अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाका भीषण टङ्कार करते हुए कोपसे पाण्डव-सैन्यके बीच पैठे ॥ ३२ ॥

ससिंहनादे सरितः कुमारे चापं समाकृष्य शरैर्विमुक्तैः ।
परान्वरीतुं प्रथमं प्रवृत्ते वरान्वरीतुं ववलेऽप्सरोभिः ॥ ३३ ॥

ससिंहनाद इति । ससिंहनादे कृतभीषणशब्दे सरितो गङ्गायाः कुमारे पुत्रे भीष्मे चापं समाकृष्य निजं धनुर्नमयित्वा विमुक्तैः विसृष्टैः शरैः बाणैः परान् शत्रून् वरीतुं वारयितुम् प्रथमं प्रवृत्ते तत्परे सति अप्सरोभिः देवबालाभिः वरान् नववल्लभान् वरीतुं स्वीकर्तुं ववले चलितम् । भीष्मः शत्रून्बाणैर्हन्तुं प्रवृत्तः, तद्दृष्ट्वा शत्रूणां वधमवश्यं भाविनं मत्वा नववल्लभागमनं प्रतीक्षमाणा अप्सरसो वरान् वरीतुं चलन्ति स्मेत्यर्थः । भीष्मेण शत्रवो वारिताः, तेन हतान्स्वर्गतांश्चाप्सरसो वव्रुरित्याशयः ॥ ३३ ॥

भीष्मने सिंहनादके साथ धनुष तानकर छोड़े गये बाणोंसे जब शत्रुओंको पहले पहल रोकना प्रारम्भ किया, तभी नववल्लभवरणार्थ उत्कण्ठित अप्सरायें चल पड़ीं, उन्हें विश्वास हो गया कि अब भीष्म द्वारा हत वीरगण आवेंगे ही, उनका वरण करके हम कृतार्थ हो जायेंगी ॥ ३३ ॥

पृथासुतानां पृतनान्तराले पृथक्पृथक्तस्य पृषत्कवर्याः ।
द्विपान्सहस्रं तुरगान्सहस्रं भटान्सहस्रं पतितानकार्षुः ॥ ३४ ॥

---

१. 'वर्माणम्' । २. 'आस्पृशन्' । ३. 'परीतुं'; 'परेतुम्' । इति पा० ।

पृथेति । तस्य भीष्मस्य पृषत्कवर्याः बाणश्रेष्ठाः पृथक् पृथक् एकैकशः पृथासुतानां पाण्डवानां पृतनान्तराले सेनामध्ये सहस्रं द्विपान् गजारूढयोधान्, सहस्रं तुरगान् अश्वारोहिणः, सहस्रं भटान् पदातींश्च पतितान् हतान् अकार्षुः कृतवन्तः। भीष्मेण प्रयुक्ता बाणाः प्रत्येकं सहस्रं गजाँस्तावतोऽश्वाँस्तावत एव च पदातीन् न्यपातयन्निति ॥ ३४ ॥

पाण्डव सैन्यके बीचमें वर्त्तमान भीष्म द्वारा चलाये गये भीषण बाणोंमेंसे हर एक बाणने हजार हाथी, हजार घोड़े तथा हजार पदातिसैन्य मारकर गिरा दिये ॥ ३४ ॥

सिन्धोः सुतस्य विशिखैर्जमदग्निसूनोः
प्राणान्विलिह्य धिगिति प्रविमुक्तवद्भिः ।
कृत्तान्यमुञ्चत विरोधिकुलानि कश्चि-
त्कश्चिज्जवेन जगृहे युधि भूतवर्गः ॥ ३५ ॥

सिन्धोरिति । जमदग्निसूनोः परशुरामस्य प्राणान् अपि विलिह्य आस्वाद्य धिक् अस्वाद इमे मुनेः प्राणा इति निन्दित्वा प्रविमुक्तवद्भिः (परशुराममपि मर्मणि विद्धवद्भिः, तस्यापि मरणमिव संपादितवद्भिः) सिन्धोः सुतस्य भीष्मस्य विशिखैः बाणैः कृत्तानि खण्डितानि विरोधिकुलानि प्रतिपक्षनृपजातानि युधि समरे कश्चिद् भूतवर्गः प्राणवायुः जवेन शीघ्रम् अमुञ्चत तत्याज, कश्चिच्च भूतवर्गः पिशाचगणो जगृहे भक्षितुं स्वीचकार । भूतानां वर्गो न जगृहे, कश्चिद् भूतवर्गो जगृहे इति विरोधप्रतिभासः, तत्र महाभूतान्यतमो वायुर्न गृहीतवान् पिशाचगणश्च भक्षणाय गृहीतवानिति परिहारः । 'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्त्वोपमानयोः' इति वैजयन्ती ॥ ३५ ॥

जमदग्निसुत परशुरामके प्राणोंको भी चखकर जिन्होंने फीका समझकर त्याग दिया, इस तरहके, परशुरामकी भी मरणान्तिक दशा कर देनेवाले गङ्गापुत्र भीष्मके बाणोंने जिन्हें खण्डित कर दिया था, वैसे कटे हुए शत्रुसमुदायको एकभूतवर्ग–प्राणवायु छोड़ रहा था, और दूसरा भूतवर्ग-पिशाच खानेके लिये पकड़ रहा था ॥ ३५ ॥

देवव्रते दलितवैरिणि दृष्टमात्रे सारथ्यमात्रकरणे कृतसंगरोऽपि ।
[1]मूले न केवलमहो [2]मुरभिद्रथस्य मध्येऽपि[3] चक्रमति[4]संभ्रमयांचकार ॥ ३६ ॥

देवव्रत इति । दलितवैरिणि कृतशत्रुसंहारे देवव्रते भीष्मे दृष्टमात्रे नेत्रपात्रतामात्रभाजने सति सारथ्यमात्रकरणे अर्जुनसूतकार्यमात्रनिर्वाहे कृतसंगरः कृतप्रतिज्ञोऽपि नाहमस्त्रं धारयिष्यामि केवलमर्जुनस्य सारथ्यं करिष्यामीत्येवं कृतप्रति-

---

१. 'गात्रेन केवलमसौ' । २. 'मुरजित्' । ३. 'च' । ४. 'विभ्रमयांचकार' । इति पा० ।

ज्ञोऽपि मुरभित् श्रीकृष्णः अहो आश्चर्यम् न केवलं रथस्य मूले स्यन्दनाधोभागे चक्रं रथचक्रम् अतिसम्भ्रमयाञ्चकार नर्त्तयामास, किन्तु रथस्य मध्येऽपि चक्रं स्वमस्त्रं सुदर्शनं संभ्रमयाञ्चकार चालयामास। अर्जुनस्य रक्षार्थं भगवान् रथं चालयन्नेव चक्रमप्यग्रहीदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

यद्यपि भगवान्ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि महाभारतमें मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा, केवल अर्जुनका सारथिकृत्य-भर निभा दूँगा, तथापि उन्होंने जब शत्रुसंहारक भीष्मको देखा, तभी उन्होंने रथके मूलमें ही केवल चक्र-पहिया नहीं चलाया, केवल रथ हाँका भर ही नहीं, रथके मध्यमें-बीचमें भी अर्जुनको भीष्मके बाणोंसे बचानेके लिये अपना सुदर्शन चक्र नचाया, घुमाया ॥ ३६ ॥

अरिमण्डलखण्डनैः[1] पृषत्कैरवदीर्णा रुधिरापगावलीनाम्।
अवनीपतयो रुषा निजानामधिविन्नां जननीममुष्य चक्रुः ॥ ३७ ॥

अरिमण्डलेति। अमुष्य भीष्मस्य अरिमण्डलखण्डनैः शत्रुगणसंहारकरैः पृषत्कैः बाणैः अवदीर्णाः छिन्नमर्माणः अवनीपतयः प्रतिपक्षभूभृतः रुषा कोपेन अमुष्य भीष्मस्य जननीं गङ्गां निजानां रुधिरापगानां स्वरक्तनदीपरम्पराणाम् अधिविन्नां सपत्नीं चक्रुः। भीष्मेण हतानां वीराणां पतितानि रक्तानि नद्यो भूत्वा प्रवहन्ति सन्ति महानदीरूपमापद्य गङ्गासपत्न्यो जाताः इत्यर्थः। शत्रवो हन्यमाना भीष्म-मपकर्त्तुमपारयन्तस्तन्मातरमेव सपत्नीसमुपस्थानविधया क्लेशयामासुः, अन्योऽपि वैरी शत्रुमपकर्त्तुमशक्तोऽन्य तत्सम्बन्धिजनं पीडयति तद्वदिति भावः। प्रत्यनीकं नामालङ्कारः। 'प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः' इति च तल्लक्षणम् ॥ ३७ ॥

शत्रुमण्डलको छिन्न भिन्न कर देनेवाले भीष्मके बाणोंसे मारे गये शत्रुओंने जब भीष्मकी कोई क्षति करनेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं देखा, तब उन लोगोंने अपने रक्तकी नदियाँ प्रवाहित करके भीष्मकी माता गङ्गाकी सपत्नियाँ महानदियाँ पैदा करके उसे तकलीफ पहुँचानेकी चेष्टा की। भीष्म द्वारा मारे गये शत्रुओंकी रक्तधारायें गङ्गाकी सौतें बन गईं ॥ ३७ ॥

तदनु समरसंमुखीनवैरिभटप्राणपरिमोक्षणोन्मुख[2]शिलीमुखप्रस्थान-समयसमाप्रच्छन[3]पात्रीकृतकर्णपुटैर्बलवैरिनगरवास्तव्यवारविलासिनीजन[4]-पाणिपङ्केरुहपरिगलितपारिजातप्रसवसहपतित[5]चञ्चरीकपुञ्जमञ्जुगुञ्जित[6]व्य-ञ्जितभेदचिकुरबन्धैर्वेगापतित[7]विशिखविघट्टनविपर्यस्तमुकुटविप्रकीर्णवि[8]वि-

---

१. 'खण्डकैः'। २. 'मोपणोन्मुख'। ३. 'समाप्रच्छन'। ४. 'वारवनिताजनता'। ५. 'आपतित'। ६. 'कूजित'। ७. 'वेगादापतित'। ८. 'विपर्यस्तविकटमुकुट-विशङ्कट ('विटङ्क') विप्रकीर्णमुक्ता'। इति पा०।

धमुक्ताफलशङ्कावदान्यरणश्रमवारिशीकरनिकरकोरकितनिटिलभागै रोषातिरेकव्यतिकरितदशनावलिदंशनपुनरुक्तरक्तिमाधरैरयुतेन राज्ञां शिरोभिः कल्पान्तरुद्रबन्धुः सुरसिन्धुसूनुरयं वसुंधरां बन्धुरयांचकार ॥[1][2][3]

तदन्विति। तदनु तदनन्तरम् कल्पान्तरुद्रबन्धुः प्रलयकालिकरुद्रसमः अयं सुरसिन्धुसूनुः देवापगापुत्रः गाङ्गेयो भीष्मः समरे युद्धे सम्मुखीनानाम् अभिमुखागतानाम् वैरिभटानां वीरयोधानाम् प्राणानां परिमोचणे देहपरित्याजने उन्मुखानां तत्पराणाम् शिलीमुखानां बाणानां प्रस्थानसमये प्रयाणकाले समापृच्छनस्य गन्तुमनुज्ञाप्रश्नस्य पात्रीकृतानि कर्मीकृतानि कर्णपुटानि श्रोत्राणि येषां तैस्तादृशैः, (युद्धोद्यतशत्रुप्राणहरणार्थं बाणप्रस्थानस्यानुमतिमिव याच्यमानैः) बलवैरिनगरे स्वर्गे वास्तव्यानां निवासिनां वारविलासिनीजनानां वेश्यालोकानां पाणिपङ्केरुहे करकमले ताभ्यां पाणिकमलाभ्यां परिगलितैः च्युतैः पारिजातप्रसवैः कल्पवृक्षप्रसूनैः सह पतितानां समागतानां चञ्चरीकपुञ्जानां भ्रमरसमूहानां मञ्जुना हृदयहारिणा गुञ्जितेन झङ्कारेण व्यञ्जितः प्रकटीकृतः भेदः परस्परपार्थक्यं येषां तादृशाश्चिकुरबन्धाः धम्मिल्ला येषां तैस्तथोक्तैः (स्वर्गता अप्सरसो वीराणामुपरि पारिजाततरुप्रसूनानि वर्षन्ति, तैः पुष्पैः सह भ्रमरा अपि पतन्ति, ते भ्रमरा वीरजनोपरिपतितास्तत्केशैः सह संसृज्यन्ते, तेषां तुल्यवर्णतया पार्थक्यं केवलं भ्रमराणां झङ्कार एव बोधयति, एवंभूतैः शिरोभिरिति वक्ष्यमाणेन विशेष्येणान्वयः) वेगापतितैः शीघ्रतयाऽऽगतैः विशिखैः बाणैः विघट्टनेन आघातेन विपर्यस्तेभ्यः क्षिप्तेभ्यः (चालितेभ्यः) मुकुटेभ्यः किरीटेभ्यः विप्रकीर्णानां च्युतानां विविधमुक्ताफलानां शङ्कावदान्यानि सन्देहदायीनि श्रमवारीणि युद्धायासप्रसूतस्वेदजलानि तेषां शीकरनिकरैः बिन्दुनिचयैः कोरकितः सञ्जातकोरकत्वमिव गमितः निटिलभागो भालदेशो येषां तादृशैः, (वीराणां मुखानि श्रमबिन्दुपूर्णानि ते श्रमबिन्दवो वेगायातबाणचालितमुकुटविपर्यस्तमौक्तिकानीव भासन्ते) रोषातिरेकेण कोपातिशयेन व्यतिकरितायाः सङ्घटितायाः दशनावलेर्दन्तपङ्क्तेः दंशनेन पुनरुक्तः रक्तिमा आरुण्यं यस्य तादृशः अधरः ओष्ठो येषां तैस्तथोक्तैः, (कोपवशाद्दन्तदंशनेन द्विगुणरक्तीभूताधरैः) अयुतेन दशसहस्रेण राज्ञां शिरोभिः छिन्नैर्मूर्धभिः वसुन्धरां रणभुवं बन्धुरयाञ्चकार पाटयामास। दशसहस्रं शत्रूनवधीदित्यर्थः।

इसके बाद प्रलयप्रवृत्त रुद्रके समान भयानकाकृति गङ्गापुत्र भीष्मने दश हजार शत्रुसिरोंसे युद्धभूमि पाट दी, वे सिर समरागत शत्रुयोधोंके प्राणहरणमें सन्नद्ध बाणों द्वारा प्रस्थानकी अनुमति माँगी गई है जिनसे ऐसे कर्णपुटोंसे युक्त थे, उन सिरोंपर स्वर्गस्थित अप्सराओं द्वारा पारिजातके फूल गिराये गये थे, उन फूलोंके साथ आये भ्रमरगण सिरके

---

१. 'दशनालि'। २. 'सूनुर्वसुन्धरां'। ३. 'बन्धुरयांचक्रे'। इति पा०।

बालोंसे लिपट गये, उनमें भेद नहीं मालूम होता यदि भौंरे शब्द नहीं करते, उन सिरों पर ललाट-भागमें युद्धायासजनित पसीनेकी बूँदें ऐसी लगती थीं मानो वेगागत बाण प्रहार से हिलाये गये मुकुटसे च्युत मुक्ताफल हों, कोपके कारण अधर-दंशन करनेसे उन मुखोंके अधर दुगुने लाल हो रहे थे ॥

नद्याः सुतेन जनितैर्नवदेववर्गैः
सान्द्रे स्वधाम्नि सति संकुचितस्थितीनाम् ।
स्वर्गौकसामजनि सा स्वयमेव काम्या
कूलंकषा कुशिकनन्दनकोपमुद्रा ॥ ३८ ॥

नद्याः सुतेनेति । नद्याः सुतेन भीष्मेण जनितैः उत्पादितैः नवदेववर्गैः नवीनैर्मृत्वा सद्य एव देवत्वं प्राप्तैः नूतनसुरगणैः स्वधाम्नि स्वस्थाने स्वर्गे सान्द्रे निबिड़िते व्याप्ते सति सङ्कुचितस्थितीनाम् स्वल्पीभूतनिवासस्थानानाम् स्वर्गौकसाम् देवानाम् सा कूलङ्कषा दुर्वारा कुशिकनन्दनकोपमुद्रा विश्वामित्रस्य कोपदशा स्वयम् एव काम्या इष्टा अजनि जाता, देवा विश्वामित्रस्य कोपमुद्रामकामयन्त, यदि विश्वामित्रः कुपितः सन् स्वर्गान्तरं जनयेत्तदा भूयः स्थानलाभेन लब्धावकाशा जायेमहीति देवा ऐच्छन्नित्यर्थः । भीष्मे शतशो वीरान्निपात्य देवत्वं प्रापय्य च स्वर्गमावृण्वति सति देवाः पुनरपि दुर्निवारां विश्वामित्रस्य कोपमुद्रामकामयन्तेति भावः । अत्र असंबन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३८ ॥

भीष्मके द्वारा पैदा किये गये, युद्धमें मारकर देवत्वको प्राप्त कराये गये-नवनव देवगणोंसे स्वर्गके भर जानेपर रहनेकी जगहकी कमीका अनुभव करनेवाले स्वर्गके वासी देवगण विश्वामित्रकी दुर्निवार कोपमुद्राको खुद चाहने लगे । स्वर्गवासियोंको इच्छा होने लगी कि अच्छा होता यदि विश्वामित्र फिरसे कुपित होकर एक नया स्वर्ग बसा देते, तब इस तरह स्थानकी कमीका अनुभव नहीं करना पड़ता ॥ ३८ ॥

भीष्मस्य कन्याजनपाणिपीडां पितुर्मुदे त्यक्तवतोऽपि तस्य ।
संघात्सुराणां सति पुष्पवर्षे संतानलाभोऽजनि तद्विचित्रम् ॥ ३९ ॥

भीष्मस्येति । पितुः शन्तनोः मुदे सत्यवतीप्राप्तिद्वारकसन्तोषाय कन्याजनपाणिपीडाम् विवाहम् त्यक्तवतः सर्वदाकृते वर्जितवतः अपि बालब्रह्मचारिणः अपि भीष्मस्य सुराणां सङ्घात् देवगणात् अद्भुतयुद्धकौशलप्रसन्नात् पुष्पवर्षे सति पुष्पवृष्टौ सत्याम् सन्तानलाभः पारिजातकुसुमप्राप्तिः पुत्रप्राप्तिश्च अजनि जायते स्म, तत् विचित्रं विस्मयावहम्, विवाहरहितोऽपि सन्तानमलभतेति विरोधः, पारिजातकुसुमप्राप्त्या च तत्परिहारः । 'सन्तानः कल्पवृक्षश्चे'त्यमरः । अत्र सन्तानकारणदारपरिग्रहाभावेऽपि तल्लाभवर्णनात् श्लेषप्रतिभोत्थापितो विभावनाऽलङ्कारः ॥ ३९ ॥

यद्यपि पिताके सन्तोषार्थ भीष्मने किसी भी कन्यासे विवाह नहीं करनेका व्रत ले रखा था, आबाल ब्रह्मचारी बन गये थे, फिर भी जब देवोंने भीष्मका अद्भुत रणकौशल देखकर कल्पवृक्षके फूलकी वर्षा की, तब भीष्मको सन्तान-लाभ-देवकुसुमकी प्राप्ति तथा पुत्र लाभ-हो गया, यह बिना विवाह सन्तान लाभ होना आश्चर्यजनक हुआ, सन्तान कल्पवृक्ष-पुष्प अर्थमें कुछ भी विरोध नहीं है ॥ ३९ ॥

इत्थं विधाय दिनमेकमसौ समीकं पाश्चात्यभूधरमुपेयुषि पद्मबन्धौ।
प्रत्यर्थिनामिव चकार बलापहारं स्वस्यापि चापशिखरादवरोपितज्यः ॥४०॥

इत्थमिति। असौ भीष्मः इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण एकं दिनम् पूर्णमेकं वासरं व्याप्य समीकं युद्धं विधाय कृत्वा पद्मबन्धौ कमलकुलमित्रे सूर्ये पाश्चात्यभूधरम् अस्ताचलम् उपेयुषि प्राप्ते सति चापशिखरात् धनुष्कोटेः अवरोपितज्यः अवतारितप्रत्यञ्चः सन् प्रत्यर्थिनाम् शत्रूणाम् बलस्य युद्धसामर्थ्यस्य अपहारं क्षयमिव स्वस्यात्मनोऽपि बलस्य सैन्यस्य अपहारं शिविरप्रवेशम् चकार कृतवान्। इत्थं भीष्मः सकलमह्नो युद्ध्वा सूर्येऽस्तमनप्रवणे सति शत्रुबलक्षयेण सहैव स्वं सैन्यं शिविरगतं चकारेत्यर्थः। 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इत्यभिधानरत्नावलिः। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः, स्वबलापहारशत्रुबलापहारयोः श्लेषेण तु तुल्यताप्रतीतेरेकक्रियान्वयात् ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे दिनभर युद्ध करके—जब कमलकुलमित्र सूर्य अस्ताचलपर चले गये तब भीष्मने शत्रुओंके सामर्थ्यका क्षय करके अपनी सेनाको शिविरगामिनी बनाया, शत्रुओं के बलापहारकी तरह—शक्तिक्षयकी भाँति अपना बलापहार-सैन्यका शिविरपरावर्त्तन किया ॥ ४० ॥

इति नवदिनानि नवनवानि भुंजविलसितानि प्रकाश्य दशमेऽह्नि पुनरसौ निजध्वजचिह्नमात्रं वियदारोहति भगवति विवस्वति समरवर्षासमयशिखण्डिना गाण्डीवधन्वना पुरस्कृतं शिखण्डिनं दृष्ट्वा 'स्त्रीपूर्वोऽयम्, अमुना सह न योद्धव्यम्' इति निषिध्य हस्ततलनिरस्तधनुर्लस्तकः प्रथमं स्वदूरापसरणकुपितयेव सिञ्जिन्या पश्चादतिदूरनिष्कासितैर्विजयविपाठैरादिवसावसानं विदारितकलेवरतया नितान्ततान्तः शान्तमनाः शान्तनवोऽसौ स्वान्तनिहितरमाकान्तः सुभटलोकसमुचितां शरशय्यां क्रमादधिशिश्ये ॥

---

१. 'भुजलता'। २. 'मेऽहनि पुनरप्यसौ निजध्वज'। ३. 'आरोहति सति'। ४. 'गाण्डीविना'। ५. 'समीक्ष्य'; 'विलोक्य'। ६. 'अपसार'। ७. 'दूरनिष्कासितै'। ८. 'सानमवदारित'। ९. 'शान्तनवः शान्तमनाः स्वान्त'। इति पा०।

इति नवेति। इति एवं प्रकारेण नवदिनानि नवदिवसपर्यन्तम् नवनवानि नित्यनूतनप्रकाराणि विलक्षणानि भुजविलसितानि युद्धे प्रकटितान् स्वभुजविक्रमान् प्रकाश्य दर्शयित्वा पुनः असौ भीष्मः निजध्वजचिह्नमात्रम् भीष्मध्वजचिह्नभूततालप्रमाणं वियत् आकाशम् आरोहति सति भगवति विवस्वति सूर्ये समरं युद्धमेव वर्षासमयस्तस्य शिखण्डिनां मयूरेण युद्धे समुपस्थिते प्रसादं प्राप्नुवता गाण्डीवधन्वना अर्जुनेन पुरस्कृतं स्वाग्रे स्थापितं शिखण्डिनं नाम द्रुपदपुत्रं दृष्ट्वा; अयं शिखण्डी स्त्रीपूर्वः पूर्वजन्मनि स्त्रीभावं गतः, अमुना स्त्रीपूर्वेण शिखण्डिना सह न योद्धव्यं न युद्धं कर्त्तव्यम् इति निषिध्य युद्धं विहाय हस्ततलनिरस्तधनुर्लस्तकः हस्तत्यक्तधनुर्मध्यभागः सन् प्रथमं पूर्वं बाणत्यागात्पूर्वमाकर्षणसमये स्वदूरापसरणकुपितया सिञ्जिन्या आकर्णमपसारणेन दूरापसारणजनितावमानेन कुपितया लब्धक्रोधया पश्चात् अतिदूरनिष्कासितैः सुदूराक्षिप्तैरर्जुनबाणगणैः आदिवसावसानं सन्ध्याकालपर्यन्तम् विदारितकलेवरतया छिन्नदेहतया नितान्ततान्तः अतिक्लान्तः शान्तमना निर्विकारहृदयोऽसौ शान्तनवः शन्तनुतनयः भीष्मः स्वान्तनिहितरमाकान्तः भगवन्तं लक्ष्मीनारायणं मनसा ध्यायन् सुभटलोकसमुचितां वीरभटयोग्यां शरशय्याम् बाणमयीं शय्याम् क्रमात् शनैः शनैः अधिशिश्ये शेतेस्म।

इस प्रकार नव दिनों तक नवीन नवीन बाहुविक्रमका प्रदर्शन करके फिर दशवें दिन एक ताड़के बराबर सूर्यके आकाशमें आ जानेपर भीष्म जब युद्धक्षेत्रमें पहुँचे तो उन्होंने देखा कि युद्धरूप वर्षासमयको पाकर मयूरकी तरह नाँच उठनेवाले—अतियुद्धस्नेही अर्जुनने अपने आगे शिखण्डीको बैठा लिया है, उसे देखते ही भीष्मने कहा कि शिखण्डी पूर्वजन्ममें स्त्री था, स्त्रीके साथ लड़ना उचित नहीं है, अतः मैं इसके साथ नहीं लड़ूँगा. ऐसा कहकर भीष्मने अपने हाथसे धनुष रख दिया, इसके बाद धनुषपर बाण चढ़ाकर प्रत्यञ्चाको बहुत दूर कानसे अलग कर दिया गया था, इसी दूरापसारणजन्य क्रोधसे कुपित होकर सिञ्जिनीने भी जिन बाणोंको बहुत दूर फेंक दिया ऐसे अर्जुनक्षिप्त बाणोंसे संध्याकाल तक भिन्नगात्र होकर नितान्त थके हुए से भीष्मने निर्विकार हृदयसे भगवान् लक्ष्मीनारायणको याद करके धीरे धीरे वीरजनके योग्य शरशय्यापर शयन किया॥

पार्थेन क्षितिविनिखातपुङ्खकानां बाणानामुपरि पितामहः शयानः।
बभ्राज[1] व्रणबिलवान्तरक्तबिन्दुर्धाराणां घन इव शक्रगोपवर्षी[2] ॥ ४१ ॥

पार्थेनेति। पार्थेन अर्जुनेन क्षितिविनिखातपुङ्खकानाम् भूतलविनिखातमूलभागानां बाणानां शराणामुपरि ऊर्ध्वभागे शयानः शयनं कुर्वन् पितामहः भीष्मः व्रणबिलवान्तरक्तबिन्दुः अस्त्रप्रहारजनितबहुच्छिद्रनिपतच्छोणितशीकरः सन् शक्रगोपवर्षी रक्तकीटवृष्टिकरः धाराणां घनः वर्षाप्रवृत्तो घनो मेघ इव बभ्राज। पार्थ-

१. 'बभ्राजे'। २. 'कोपवर्षम्'। इति पा०

खातमूलानां बाणानां शय्यायां सुप्तो रक्तविन्दुवर्षिदेहश्च भीष्मः रक्ताभशक्रगोपनामकवर्षासमयभाविकीटवर्षणपरो धाराधर इव दृश्यते स्मेति भावः । उपमालङ्कारः, प्रहर्षिणी वृत्तम्—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥ ४१ ॥

अर्जुन द्वारा रोपितमूल बाणोंकी शय्यापर सोए हुए तथा रक्तबिन्दुवर्षी देहसे युक्त भीष्म ऐसे लगते थे मानो शक्रगोप नामक बरसाती रक्तवर्ण कीटोंकी वर्षा करनेवाला मेघ हो ॥४१॥

संवीक्ष्य तत्र शयितं तमिमं शरेषु
सांक्रामिकं गुणमिव प्रतिपद्यमानः ।
भास्वानपि स्वयमुपात्तकरोष्मशान्तिः
पाश्चात्त्यसागरशरेषु शयालुरासीत् ॥ ४२ ॥

संवीक्ष्येति । तत्र युद्धक्षेत्रे शरेषु वाणेषु शयितं शरशय्यागतं तमिमं भीष्मं संवीक्ष्य दृष्ट्वा संक्रमात् देहाद्देहान्तरप्राप्तेः भवतीति तं तथोक्तं सांक्रामिकं गुणं प्रतिपद्यमानः आश्रयन्निव स्वयमपि उपात्ता स्वीकृता करोष्मणः भुजप्रतापस्य शान्तिः उपरमः किरणोष्मणश्च उपरमो यस्य तथोक्तः भास्वानपि सूर्योऽपि पाश्चात्त्यसागरशरेषु पश्चिमोदधिजलेषु शयालुः शयनशीलः आसीत् । भीष्मः शान्तभुजप्रतापः शरशय्यामधिश्रितः, तं दृष्ट्वा साङ्क्रामिकं गुणमाप्येव भास्करः शान्तकिरणौष्ण्यः सन् पश्चिमोदधिजले शेते स्मेत्यर्थः । साङ्क्रामिकं गुणं प्रपद्यमान इवेत्युत्प्रेक्षा । 'शरो दर्भान्तरे बाणे शरं दध्नि जलेऽपि च' इति विश्वः ॥ ४२ ॥

युद्धक्षेत्रमें शरशय्यापर सोए हुए भीष्म पितामहको देखकर सूर्य भी भुजप्रतापकी उष्णता या किरणकी उष्णताका त्याग करके सांक्रामिक गुणको प्राप्त सा करते हुए पश्चिम समुद्रके जलमें सोने चले गये, सूर्य अस्त हुए ॥ ४२ ॥

जगति विनुतकीर्तौ जामदग्न्यस्य शिष्ये
कवलितरिपुवर्गे कालधर्मं यियासौ ।
बहुसुरवरलाभाद्बद्धकामोत्सवानां
श्वशुरमरणदुःखं स्ववर्वधूनां बभूव ॥ ४३ ॥

जगतीति । जगति संसारे विनुतकीर्त्तौ स्तुतयशसि कवलितरिपुवर्गे क्षपितशत्रुगणे जामदग्न्यस्य परशुरामस्य शिष्ये भीष्मे कालधर्मं मरणं यियासौ जिगमिषौ मुमूर्षौ सति बहुसुरवरलाभात् नवनवदेवगणरूपपतिप्राप्त्या बद्धकामोत्सवानां प्रारब्धरतिमहोत्सवानां स्ववर्वधूनां देवबालानां श्वशुरमरणदुःखं बभूव । भीष्मे युध्यमाने सति तेन हता भटा।देवत्वं प्राप्य स्ववर्वधूनां काममापूरयन्ति स्म, सम्प्रति भीष्मे मृते कस्तथा वीरान् मारयित्वा तासां पतीनुत्पादयिष्यतीति देवबालाः भीष्मस्य

---

१. 'तमिमं शयितं' । २. 'प्रपन्ने' । इति पा० ।

मरणं श्वशुरमरणसमदुःखदं मन्यन्ते स्मेत्याशयः। अत्राप्सरसां तादृशदुःखासम्बन्धेऽपि तदभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४३ ॥

संसारमें गीयमानकीर्त्ति, शत्रुवर्गसंहारक, परशुरामके शिष्य भीष्मके मरने पर—आसन्नमरण हो जानेपर उनके द्वारा युद्धमें निहत होकर देवत्वको पानेवाले वीरोंको पति-भावसे वरण करके कामसुख पानेवाली अप्सराओंको श्वशुरमरण समान दुःखका अनुभव हुआ, क्योंकि उनको पति देनेवाले भीष्म ही थे ॥ ४३ ॥

पतिते युधि वाहिनीसुते पतदश्रुर्द्विविधापि वाहिनी ।
प्रथमं[1] परितापमुच्छ्रितं पटवेश्मानि ययौ ततः परम्[2] ॥ ४४ ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते नवमः स्तबकः ।

पतित इति । वाहिन्या नद्या गङ्गायाः सुते भीष्मे युधि पतिते शरशय्यां गते सति द्विविधा पाण्डवकौरवोभयपक्षगताऽपि वाहिनी सेना पतदश्रुः रुदती सती प्रथमम् आदौ उच्छ्रितं महान्तं परितापम् ययौ प्राप ततः परम् पटवेश्मानि निज-निजदूष्याणि ययौ, तद्दिनयुद्धं विररामेत्यर्थः । वाहिनीसुतमृत्युना वाहिनीशोकः स्वाभाविक एव । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

वाहिनी-नदी गङ्गाके पुत्र भीष्मके युद्धमें निहत हो जानेपर दोनों पक्षोंकी रोती हुई सेनाओंने पहले अतिमहान् परिताप पाया, उसके बाद अपने अपने शिविरोंमें गईं ॥४४।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत'प्रकाशे'
नवमस्तवक'प्रकाशः' ॥



१. 'प्रथमा' । २. 'परा' । इति पा० ।

दशमः स्तबकः

अपरेऽहनि कौरवश्चमूनामधिपत्वे परिकल्प्य कुम्भयोनिम्।
पुरतो निजगाद भीष्मपाताद्रुदितोच्छूनदृशां नराधिपानाम् ॥ १ ॥

अपरेऽहनीति। अपरे अहनि भीष्मशरशय्याऽधिरोहात् परस्मिन् दिवसे कौरवः दुर्योधनः कुम्भयोनिं द्रोणाचार्यम् चमूनामधिपत्वे सेनापतित्वे परिकल्प्य नियुज्य भीष्मपातात् भीष्मस्यावसानात् रुदितेन रोदनेन उच्छूनदृशाम् स्थूलीभूतनेत्राणाम् नराधिपानां स्वपक्षयभूपतीनाम् पुरतो निजगाद उवाच, द्रोणमिति शेषः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ १ ॥

भीष्मके शरशय्याधिरोहणके दूसरे दिन कुरुराज दुर्योधनने द्रोणाचार्यको सेनापति पदपर नियुक्त करके भीष्मके निधनसे रोते रहनेके कारण सूज गई हैं आखें जिनकी ऐसे नृपोंके सामने इस प्रकारसे कहा— ॥ १ ॥

कुम्भोत्पत्त्या प्रसिद्धो मुनिवृषभ इव क्ष्माधरं विन्ध्यसंज्ञं
लोके तादृग्विधस्त्वं युधि निजमहसा भूभृतः स्तम्भयित्वा।
जीवग्राहं गृहीत्वा विनमितवदनं लज्जया धर्मसूनुं
पद्भ्यामेव प्रचारं विदधतमधुना लीलया मेऽर्पयेति ॥ २ ॥

कुम्भोत्पत्त्येति। कुम्भोत्पत्त्या घटोद्भवत्वेन प्रसिद्धः ख्यातः मुनिवृषभः मुनिश्रेष्ठः अगस्त्यः निजमहसा स्वतेजसा विन्ध्यसंज्ञं क्ष्माधरं पर्वतमिव लोके तादृग्विधः कुम्भोद्भवत्वेन ख्यातः त्वम् युधि युद्धे निजमहसा स्वपराक्रमेण भूभृतः शैलान् नृपांश्च स्तम्भयित्वा निवार्य, जीवग्राहं गृहीत्वा जीवन्तमेव बन्धनादिना वशीकृत्य लज्जया पराभवजनितया त्रपया विनमितवदनम् अधोनमितमुखम् पद्भ्याम् एव प्रचारं विदधतम् पादचारिणम् धर्मसूनुं युधिष्ठिरम् अधुना सम्प्रति स्वसेनापतित्वसमये लीलयाऽनायासेन मे मह्यं दुर्योधनाय अर्पय समर्पय, इति जगादेति पूर्वोक्तेनान्वयः। यथा कुम्भोद्भवोऽगस्त्यो निजतेजसा विन्ध्यपर्वतं स्तम्भितवाँस्तथा त्वमपि कुम्भोद्भवो द्रोणः स्वभुजवीर्येण तत्पक्षगान् राज्ञो निवार्य जीवन्तमेव युधिष्ठिरं वशीकृत्य लज्जानतमुखं पादचारिणं च तं मह्यमर्पयेति दुर्योधनो द्रोणमुवाचेति भावः। 'जीवग्राह'मित्यत्र 'समूलाकृतिजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' इति णमुल् ॥ २ ॥

जिस प्रकार कुम्भोद्भव मुनिवर अगस्त्यने अपने तेजसे विन्ध्यनामक पर्वतको स्तम्भित कर दिया था, आगे बढ़नेसे रोक लिया था, उसी प्रकार आप भी कुम्भोद्भव हैं ही;

---

१. 'उदितो'। २. 'ऋषभ'। ३. 'भूभृतम्'। इति पा०।

आप भी अपने पराक्रमसे युधिष्ठिरकी ओरसे लड़नेवाले राजगणको रोककर युधिष्ठिरको जीवित पकड़ लें, और लज्जासे सिर झुकाकर पैदल चलते हुए युधिष्ठिरको आप अनायास लाकर मुझे सौंप दें ॥ २ ॥

उदितं तदिदं निशम्य गोष्ठ्यामुचितज्ञः करमुन्नमय्य किंचित् ।
गुहसंनिभविक्रमस्तदानीं गुरुरेषोऽपि कुरूद्वहं बभाषे ॥ ३ ॥

उदितमिति । गुहसन्निभविक्रमः स्कन्दसमानपराक्रमशाली, उचितज्ञः कर्त्तव्यकोविदः एषः गुरुः द्रोणाचार्यः अपि तदानीं तस्मिन्समये गोष्ठ्यां नृपमण्डलयुक्तसभायाम् तदिदं पूर्वोक्तरूपं (दुर्योधनस्य) उदितं वचनं निशम्य श्रुत्वा करं स्वीयं भुजं किञ्चिदुन्नमय्य ईषदुत्थाप्य कुरूद्वहं दुर्योधनं बभाषे उवाच। दुर्योधनानुरोधं श्रुत्वा कार्त्तिकेयपराक्रमो यथोचितज्ञानवाँश्च द्रोणाचार्यो वीरमुद्रया बाहुमुत्थाप्य दुर्योधनं प्रति वक्ष्यमाणं वचनमुक्तवानिति भावः ॥ ३ ॥

कार्त्तिकेयके सदृश भुजबलशाली तथा उचितज्ञाता गुरु द्रोणने उस समय भरी सभामें कही गई दुर्योधनकी बातें सुनकर थोड़ा हाथ ऊपर उठा करके दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

कर्तुं हि शक्यमखिलं नृप ! काङ्क्षितं ते
धर्मात्मजे परिवृतेऽपि धराधिनाथैः[1] ।
शौरिप्रणुन्नहयहेषितशब्दमिश्रो
न श्रूयते यदि नरस्य शरासघोषः ॥ ४ ॥

कर्त्तुमिति । हे नृप दुर्योधन, धर्मात्मजे युधिष्ठिरे धराधिनाथैः पृथ्वीपतिभिर्विराटादिभिः परिवृते रक्षार्थं सर्वतो वेष्टिते सत्यपि, शौरिणा कृष्णेन प्रणुन्नानां चालितानां प्रेरितानां हयानाम् अर्जुनरथाश्वानां हेषितशब्देन मिश्रः मिलितः नरस्यार्जुनस्य शरासघोषः धनुष्टङ्कारः चेत् यदि न श्रूयते न कर्णयोः पतति तदा अखिलं समस्तं नृपवारणयुधिष्ठिरसमर्पणादि ते काङ्क्षितम् अभीष्टं कर्त्तुं शक्यम् साध्यम् । यद्युपेन्द्रसारथिरर्जुनो नोपेयात्तदा युधिष्ठिरं सकलनृपपरिवृतमपि यथा त्वदुक्तरूपेणाहं ते समर्पयितुं शक्नुयां परन्तु सत्यर्जुने युधिष्ठिरपरिभवाय न कोऽपि शक्त इत्याशयः ॥ ४ ॥

हे राजन्, यदि भगवान् कृष्ण द्वारा प्रेरित घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे मिला हुआ अर्जुनका धनुष्टंकार न सुन पड़े, यदि अर्जुन सामने न चला आवे, तब तो राजवर्गोंसे घिरे रहने पर भी युधिष्ठिरको लाकर यथोक्तरूपमें आपको सौंप सकता हूँ, परन्तु अर्जुनकी उपस्थितिमें यह असंभव है ॥ ४ ॥

---

१. 'नराधिनाथैः' । इति पा० ।

सर्वास्त्रविद्यासहवाससौख्यसंकेतभूमेरपि तस्य वाचम् ।
प्रत्युद्ययौ तां परिषद्गतानां तिर्यक्प्रचारः शिरसो नृपाणाम् ॥ ५ ॥

सर्वास्त्रेति । सर्वासाम् सर्वप्रकाराणाम् अस्त्रविद्यानाम् धनुरादिविविधास्त्रप्रयोगकौशलानाम् सहवाससौख्यम् एकत्रवासानन्दः तस्य संकेतभूमेः निश्चितस्थानस्य सर्वाभिरस्माभिरस्त्रविद्याभिरिह द्रोणे सहवासेन सुखं स्थातव्यमिति पूर्वमवधार्य ताभिराश्रितस्य अपि तस्य द्रोणस्य तां पूर्वोक्तरूपां वाचं परिषद्गतानां तत्र गोष्ठ्यां स्थितानां राज्ञां शिरसः मस्तकस्य तिर्यक्प्रचारः स्वीकृत्यनुमोदनादिसूचकचेष्टाविशेषः प्रत्युद्ययौ स्वागतार्थमिव चचाल । द्रोणे सर्वास्त्रविद्यानिकेतनभूतेऽपि तथाऽभिदधाने तत्रस्थिताः सर्वेऽपि राजानस्तदुक्तिसमर्थने स्वस्वशिरांस्यकम्पयन्नित्यर्थः ॥ ५ ॥

सभी प्रकारकी विद्याओं द्वारा एक साथ सुखपूर्वक वासके लिये निश्चित स्थानके रूपमें चुने गये–सर्वास्त्र विद्यानिकेतन द्रोणके द्वारा पूर्वोक्त वचनके कहे जानेपर उस गोष्ठीमें उपस्थित सभी नृपोंने समर्थनके रूपमें अपने सिर हिलाये ॥ ५ ॥

अथ द्रुपदजद्रोणौ रथाश्वगजसंवृतौ ।
बद्धायतसमुत्साहौ युद्धाय निरगच्छताम् ॥ ६ ॥

अथेति । अथ द्रुपदजो धृष्टद्युम्नो द्रोणश्च तौ पाण्डवकौरवसेनानायकौ बद्धः धृतः आयतः विशालः समुत्साहो युद्धोद्यमो याभ्यां तथोक्तौ सन्तौ रथाश्वगजसंवृतौ स्यन्दनतुरगकरिसैन्यसमेतौ भूत्वा युद्धाय निरगच्छतां स्वशिविराभ्यां निर्गतवन्तौ ॥ ६ ॥

इसके बाद युद्धके विषयमें विशाल उत्साह रखनेवाले एवं रथ, घोड़े तथा हाथियोंसे घिरे हुए धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्य–दोनों पक्षोंके सेनापति युद्धके लिये अपने अपने शिविरोंसे निकल पड़े ॥ ६ ॥

नामाक्षराङ्कितनदीसुतबाणपूर्णे
रङ्गेऽवतेरतुरुभावपि राजवर्गौ ।
सद्वेलितौ सविरुदौ समहाट्टहासौ
सास्फालितौ सशिखरौ सहवल्गनौ तौ ॥ ७ ॥

नामाक्षरेति । उभौ पाण्डवकौरवोभयपक्षगतौ राजवर्गौ नृपसमूहौ सद्वेलितौ ससिंहनादौ सविरुदौ ध्वजचामरादिराजचिह्नयुतौ, समहाट्टहासौ महताऽट्टहासेन

१. 'सौख्यं' । २. 'रथद्विपहयावृतौ' । ३. 'महोत्साहौ' । ४. 'कीर्णे' । ५. 'सद्वेडितौ' । ६. 'समदाट्टहासौ' । ७. 'सस्फालनौ', 'संस्फालितौ' । इति पा० ।

युक्तौ, सास्फालितांसशिखरौ सशब्दपरामृष्टभुजाग्रभागौ सहवल्गनौ उत्प्लुत्य गत्या युतौ च सन्तौ नामाक्षरैः भीष्मेति वर्णैः अङ्कितैः नदीसुतबाणैः भीष्मशरैः पूर्णे कीर्णे रङ्गे युद्धक्षेत्रे अवतेरतुः आगतौ ॥ ७ ॥

सिंहनाद करते हुए, ध्वजचामरादिराजविरुद धारण किये, जोरोंसे अट्टहास करने वाले, भुजमूलमें हाथसे तालियाँ पीटते हुए, कूद कूदकर चलनेवाले कौरव-पाण्डव दोनों दलोंके राजागण भीष्मके नामाक्षराङ्कित बाणोंसे पटे हुए युद्धक्षेत्रमें आकर आमने सामने डट गये ॥ ७ ॥

अक्षौहिणीरवनिवल्लभवाहिनीना-
मेकत्र गाढमिलिताः सुतरामसोढ्वा।
सा युद्धभूमिरुपरीव समुत्पतन्ती
सान्द्रा रजःपटलिका समदृश्यताग्रे ॥ ८ ॥

अक्षौहिणीरिति। एकत्र एकस्मिन् स्थाने युद्धक्षेत्ररूपे गाढमिलिताः परस्परसमासक्ताः अवनिवल्लभवाहिनीनाम् नृपसेनानाम् अक्षौहिणीः बहुभिरक्षौहिणीभिर्मिताः राजसेनाः सुतराम् अत्यर्थम् असोढ्वा सोढुं न शक्नुवती उपरि समुत्पतन्ती ऊर्ध्वम् गच्छन्ती युद्धभूमिः रणस्थलपृथ्वी इव सा सान्द्रा घना रजःपटलिका धूलीमण्डली अग्रे सेनानां पुरोदेशे समदृश्यत अलोक्यत। सेनाभिरुद्धता रजःपटली बहुसंख्यकोभयपक्षीयसैन्यसम्मर्दं सोढुमपारयित्वोपरि पलायमाना युद्धभूमिरिव दृश्यते स्मेत्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ८ ॥

युद्धक्षेत्रमें एक जगह आकर जुटी हुई, उभयपक्षगत, बहुत अक्षौहिणी सेनाओंके सम्मर्दको नहीं बरदाश्त करके ऊपर उड़ती हुई युद्धभूमिकी तरह सेना द्वारा उड़ाई गई धूल ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो सेनासम्मर्दको बरदाश्त नहीं कर सकनेके कारण युद्ध भूमि ही ऊपर उड़ती जा रही हो ॥ ८ ॥

भेरीरवे गगनवाहिनि बाहुलीलां
द्रोणस्य वीक्षितुमनोभिरदृष्टपूर्वाम्।
मध्ये विसृज्य दिवि जम्भभिदोऽवकाशं
तस्थेऽभितस्त्रिदशकिन्नरयक्षसिद्धैः ॥ ९ ॥

भेरीरव इति। भेरीरवे विजयदुन्दुभिध्वनौ गगनवाहिनि आकाशव्यापके सति अदृष्टपूर्वाम् कदापि पूर्वम् अवीक्षिताम् द्रोणस्य बाहुलीलाम् भुजपराक्रमम् वीक्षितुम् द्रष्टुम् मनो येषां तैः वीक्षितुमनोभिः द्रष्टुकामैः त्रिदशकिन्नरयक्षसिद्धैः देवैः किन्नरैर्यक्षैः सिद्धैश्च देवयोनिविशेषैः जम्भभिदः इन्द्रस्य अवकाशं सुखावस्थानसमुचितं

१. 'असोढाः'। २. 'शायिनि'। ३. 'भिदे'। ४. 'किंकर'। इति पा०।

स्थानं मध्ये विसृज्य दिवि आकाशे अभितः सर्वतः स्थितम्। युद्धवाद्यध्वनिमाकर्ण्याकाशे समुपस्थिता देवयक्षकिन्नरसिद्धाः शक्राय मध्ये स्थानं विसृज्य तदभितो व्योमनि तस्थुरित्याशयः॥ ९॥

विजय-दुन्दुभिके बजते ही द्रोणाचार्यकी अभूतपूर्व युद्ध-लीलाको देखनेकी इच्छा रखनेवाले देव, किन्नर, यक्ष, सिद्ध आदि बीचमें इन्द्रके रहनेकी जगह बनाकर उनके चारों ओर आकाशमें आकर खड़े हो गये॥ ९॥

ततस्ते न[1]रेन्द्राः सर्वेऽपि वसुधातलनिहितवामजानुभागाः क्ष्वेलितमन्त्रमुदीर्य तूणीरपेटिके[2]समुत्थापिताञ्जीवाकर्षणसमुपजातत्वरान्परुषभीषणविषदिग्धान्विनतातनयनिबद्धस्प[3]र्धास्तक्षकमुखान्बाणपन्नगान्नभोभुवि चिरा[4]य नर्तयन्तः प[5]रस्परपरिपन्थिनां प्राणपवमानमपीप्यन्॥

ततस्त इति। ततः सेनासमारोहानन्तरम् ते उभयपक्षगताः नरेन्द्राः राजान एव नरेन्द्राः विषवैद्याः वसुधातलनिहितवामजानुभागाः क्षितितलस्थापितवामजानवः क्ष्वेलितं सिंहनादं मन्त्रम् सर्पनर्त्तनसाधनं शब्दभेदम् उदीर्य उच्चार्य तूणीरा एव पेटिकाः मञ्जूषास्ताभ्यः समुत्थापितान् बहिरानीतान्, जीवाकर्षणसमुपजातत्वरान् प्रत्यञ्चाकर्षणकृतवेगान् परुषेण कठिनेन भीषणेन भयानकेन च विषेण दिग्धान् युक्तान् विनतातनयनिबद्धस्पर्धान् वेगेन गरुडस्पर्धिनः तक्षकमुखान् तक्षकप्रभृतिनामधेयान् बाणा एव पन्नगाः सर्पास्तान् नभोभुवि आकाशदेशे चिराय नर्त्तयन्तः प्रचारयन्तः परस्परपरिपन्थिनां मिथो विरोधिनां प्राणपवमानं प्राणवायुमपीप्यन् पायितवन्तः। यथा विषवैद्या भूतले जानु रोपयित्वा मन्त्रमुच्चार्य सर्पपेटिकातः सर्पानुपरि नीत्वा जीवाकर्षणविद्यया तानुत्तेजितान् विधाय भीषणविषान् गरुडस्पर्धिनस्तक्षकप्रभृतीन्सर्पान् भूमौ नर्त्तयन्ति, वायुं च पाययन्ति तद्वदिमे पक्षद्वयगता राजानः क्षितितले वीरासनोपविष्टा आरोपितवामजानवः सन्तः सिंहनादं कृत्वा तूणीरेभ्यो बाणान् आकृष्य विषदिग्धान्स्वान् बाणान् प्रत्यञ्चाकर्षणेन तीव्रवेगतया गरुडस्पर्धिनो विधाय तक्षकप्रभृतिसंज्ञान् बाणान् आकाशे भ्रमयित्वा विरोधिनां प्राणान् अहरन्निति भावः। 'नरेन्द्रो विषवैद्येऽपि भूपालेऽथ च' इत्यभिधानरत्नमाला। 'जीवा जीवन्तिकामौर्व्योः' इत्यमरश्च।

जैसे विषवैद्य जमीनपर बायीं जङ्घा रोपकर मन्त्र पढ़ते हुए पेटियोंसे निकालकर जीवाकर्षण विद्यासे उत्तेजित करके कठोर भीषण विषसे भरे हुए तथा गरुड़के साथ वैर रखनेवाले तक्षक वगैरह साँपोंको भूमिपर नचाते तथा हवा खिलाते हैं उसी तरह उस समय कौरव पाण्डव उभयपक्षके राजागणने वीरासनसे बैठनेके कारण जमीनपर बायाँ जानु रोपकर

---

१. 'सर्वेऽपि नरेन्द्राः'। २. 'पेटक'। ३. 'स्पर्धाभारांस्तक्षक'। ४. 'चिरं'। ५. 'परस्परं'। इति पा०।

सिंहनाद करके तूणीरोंसे बाणोंको बाहर करके प्रत्यञ्चाकर्षण-द्वारा बाणोंमें वेग पैदा करके विषबुझे तथा वेगमें गरुड़के साथ होड़ रखनेवाले तक्षकादिसंज्ञक बाणोंको आकाशमें प्रचारित करके शत्रुओंके प्राणोंको अपने बाणोंका ग्रास बनाया ॥

कलशीतनयेऽथ कार्मुकं स्वं वलयीकुर्वति वैरिधन्वियूनाम् ।
युधि केवलमेव चापदण्डा धृतजीवा जनदृक्पथेष्वतिष्ठन्[1] ॥ १० ॥

कलशीति । अथ युद्धप्रारम्भानन्तरं कलशीतनये कुम्भोद्भवे द्रोणाचार्ये स्वं निजं कार्मुकं धनुः वलयीकुर्वति संहितशरगुणाकर्षणद्वारा मण्डलीकुर्वति सति वैरिधन्वियूनां प्रतिपक्षधानुष्कयुवकानां चापदण्डाः धनुर्दण्डाः एव युधि युद्धक्षेत्रे धृतजीवाः आरोपितप्रत्यञ्चाः प्राणवन्तश्च जनदृक्पथेषु प्रेक्षकजनदृष्टिवर्त्मसु केवलं प्राधान्येनातिष्ठन् वर्त्तन्ते स्म । लोकास्तथा युद्धाभिमुखे द्रोणाचार्ये दर्शकाः सर्वतः सन्नद्धजीवान् वीरयुवकान् दृष्टवन्त इत्यर्थः । 'चापदण्डा एव धृतजीवाः' इति परिसंख्ययाऽतिशयोक्तिः सङ्कीर्यते ॥ १० ॥

द्रोणाचार्यने जब अपने धनुषको वलयाकार-प्रत्यञ्चाकर्षणद्वारा गोल बनाया तब लोगोंने युद्धक्षेत्रमें वीरयोधा युवकोंके चापदण्डोंको ही केवल धृतजीवा प्रत्यञ्चापर आरूढ़ देखा, उन्हें चारो ओर धनुष ताने वीर योधा ही दीखते थे ॥ १० ॥

विधातृसृष्टिं विपरीतरूपां विधातुमुद्युक्त इवैष वीरः ।
शराभिवर्षेण[2] चकार राज्ञामूर्ध्वं कबन्धानि शिरांस्यधस्तात् ॥ ११ ॥

विधातृसृष्टिमिति । एषः वीरः असामान्यपराक्रमशाली द्रोणः विधातुर्ब्रह्मणः सृष्टिं (उपरि शिरस्तिष्ठेदधश्च कबन्ध इति प्रतिनियतस्वरूपाम्) विपरीतरूपाम् भिन्नरूपाम् (अधःशिर उपरि कबन्धः) तथाभूतां विधातुं कर्त्तुम् उद्युक्त इव कृतप्रयास इव शराभिवर्षेण निरन्तरबाणप्रहारेण राज्ञां प्रतिभटभूपालानां कबन्धानि अपमूर्धकलेवरान् ऊर्ध्वम् शिरांसि अधस्तात् निम्नगतानि चकार कृतवान् । विधातृसृष्टिं विपरीतरूपां विधातुमुद्युक्त इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

इस वीर द्रोणाचार्यने निरन्तर शरवर्षा करके युद्धमें लड़नेके लिये विपक्षी बनकर आये हुए नृपोंके शिर नीचे तथा धड़ ऊपर कर दिये, मानों वह ब्रह्मा-द्वारा की गई सृष्टिका क्रम बदल देना चाहते हों, ब्रह्माकी सृष्टिमें शिर ऊपर और धड़ नीचे होना व्यवस्थित है, द्रोणने शिर नीचे और धड़ ऊपर कर दिया, मानो द्रोण ब्रह्माकी सृष्टिका रूप बदल देना चाहते हों ॥ ११ ॥

तावद्घोटैर्वलक्षैर्वलयितसविधे तस्थिवांसं शताङ्गे
भारद्वाजो जिघृक्षुर्नृपतिमभिययौ भल्लवृष्टीर्विमुञ्चन् ।

---

१. 'अवतिष्ठन्' । २. 'वर्षम्' । इति पा० ।

दंष्ट्रारोचिःशलाकास्तुमुलमवकिरन्दिक्षु सर्वासु घोरः।
शीतांशुं मध्यसीम्नि स्थितमिव परिधेः सिंहिकायाः कुमारः ॥१२॥

तावदिति। (यावत्सेनाविनाशः प्रवर्त्तते) तावत् वलक्षैः घोटैः श्वेतवर्णैरश्वैः वलयितसविधे वेष्टितसमीपे युक्ते शताङ्गे रथे तस्थिवांसं स्थितं धर्मराजं युधिष्ठिरं जिघृक्षुः ग्रहीतुमिच्छुः भारद्वाजः द्रोणः भल्लवृष्टीः भल्लाख्यबाणप्रहारान् विमुञ्चन् कुर्वन् सन् परिधेः परिवेषस्य मध्यसीम्नि मध्यदेशे स्थितं शीतांशुं चन्द्रं जिघृक्षुः घोरः भीषणः सिंहिकायाः कुमारः राहुः दंष्ट्रारोचिःशलाकाः सूक्ष्मदीर्घाणि दंतज्योतींषि तुमुलं भीषणं यथास्यात्तथा सर्वासु दिक्षु अवकिरन् प्रसारयन्निव अभिययौ समीपमायातः। यथा तीक्ष्णदन्तप्रभाशलाकाः प्रसारयन् राहुः परिधिमध्यस्थितं शशाङ्कमुपयाति तथा श्वेताश्वयुक्तरथारूढं धर्मराजं ग्रहीतुं बाणवृष्टीः कुर्वन् द्रोणस्तत्समीपं गत इत्यर्थः। पूर्णोपमाऽलङ्कारः, स्रग्धरावृत्तम् ॥ १२ ॥

जैसे तीक्ष्ण तथा भयानक दंतज्योत्स्नारूप शलाकाका प्रसार करता हुआ सिंहिकाकुमार राहु परिधिमध्यस्थ चन्द्रमाको ग्रहण करनेके लिये उसके पास पहुँचता है उसी तरह उजले घोड़ोंसे वेष्टित रथ पर बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरको पकड़नेके लिये अविरल शरवृष्टि करते हुए द्रोण युधिष्ठिरके पास पहुँच गये। उजले घोड़ोंसे युक्त रथ—परिधि, धर्मराज-चन्द्रमा, राहु-द्रोण, भल्लवृष्टि-दंष्ट्राप्रभाप्रसार इनकी तुलना की गई है, उपमा पूरी है॥ १२ ॥

तदनु[1] तदीयमार्गणगणाभिघातनिवर्तितमुखैर्निजशिलीमुखैः सह दूरमपयातान्[2]मातरिश्ववैश्वानराश्विनेयतनयप्रभृतीन्क्षितिपतिरक्षिणः[3] प्रवीरानभिवीक्ष्य[4] क्षणेन माधवधाव्यमानतुरंगेण[5] शताङ्गेन प्लवंगकेतनो नगेन्द्रो नदीप्रवाहमिव निर्निवाररथचर्यं[6] तमाचार्यमुपरुरोध ॥

तदन्विति। तदनु तत्पश्चात् तदीयानां द्रोणसम्बन्धिनां मार्गणानां बाणानाम् अभिघातेन प्रहारेण निवर्त्तितमुखैः प्रत्यावृत्ताग्रदेशैः निजशिलीमुखैः स्वीयैर्बाणैः सह दूरमपयातान् सुदूरपलायितान् मातरिश्वतनयो भीमः, वैश्वानरतनयो धृष्टद्युम्नः आश्विनेयतनयौ नकुलसहदेवौ तत्प्रभृतीन् तदाद्यान् क्षितिपतिरक्षिणः युधिष्ठिररक्षानियुक्तान् अभिवीक्ष्य क्षणेन शीघ्रम् माधवधाव्यमानतुरङ्गेण कृष्णसारथिना शताङ्गेन रथेन प्लवङ्गकेतनः कपिध्वजोऽर्जुनः, नगेन्द्रः पर्वतश्रेष्ठः नदीप्रवाहं धाराप्रवाहमिव निर्निवाररथचर्यं निर्बाधरथगतिं तम् आचार्यं द्रोणम् उपरुरोध निरुद्धवान्। अर्जुनो यदा युधिष्ठिररक्षार्थमवस्थापितान् भीमधृष्टद्युम्ननकुलसहदेवादीन्

---

१. 'ततः'। २. 'मुपयातान्'। ३. 'रथरक्षिणः' ४. 'वीक्षमाणेन माधवेन'। ५. 'तुरगेण प्लवंग'। ६. 'निर्निरोधरथचर्यमाचार्यं'। इति पा०।

द्रोणाचार्यक्षिप्तबाणनिर्वर्त्तितान्भीमादिबाणानिव विमुखीभूयापसृतान्पश्यति स्म, तथा सति युधिष्ठिरबन्धं सम्भाव्य कृष्णचाल्यमानाश्वेन स्वेन रथेन द्रुतमुपेत्य पर्वतो नदीप्रवाहमिव द्रोणाचार्यं निरुद्धवानिति भावः । उपमाऽलङ्कारः ॥

इसके बाद जब अर्जुनने देखा कि युधिष्ठिरकी रक्षामें नियुक्त भीम, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव आदि आचार्य द्रोणके बाणाघातसे परावर्त्तित अपने-अपने बाणोंके साथ ही दूर भागकर खड़े हो रहे हैं, तब उस कपिध्वज अर्जुनने माधव-द्वारा चलाये गये घोड़ोंवाले अपने रथसे द्रोणको घेर लिया, जैसे पर्वत नदी-प्रवाहको घेर लेता है ॥

शिवयुद्धकृतस्तस्य द्रोणयुद्धेऽप्यभून्मनः ।
सर्वापि जनता श्रेयः काङ्क्षते ह्युत्तरोत्तरम् ॥ १३ ॥

शिवयुद्धेति । शिवेन शम्भुना मानभेदेन च युद्धकृतो युद्धवतस्तस्य अर्जुनेन द्रोणयुद्धेऽपि द्रोणेन द्रोणाचार्येण परिमाणभेदेन च युद्धेऽपि मनः अभूत्, शिवेन सह युद्धवतोऽर्जुनस्य द्रोणाचार्येण सह युद्धेऽपि प्रवृत्तिरजायतेत्यर्थः, शिवाख्यलघुमानेन युद्धवतो द्रोणाख्यबृहन्मानेनापि युद्धेच्छाऽजायतेति च । तत्रार्थान्तरन्यासमुपन्यस्यति—हि यतः सर्वाऽपि जनता सर्वोऽपि लोकः उत्तरोत्तरं श्रेयः स्वहितं काङ्क्षति इच्छति ॥ १३ ॥

शिवजीके साथ लड़नेवाले अर्जुनको द्रोणाचार्यके साथ लड़नेकी भी इच्छा हुई, शिव नामक छोटे परिमाणके साथ लड़नेवालेकी इच्छा द्रोण नामक बड़े परिमाणके साथ लड़नेकी भी हुई क्योंकि सभी आदमी उत्तरोत्तर श्रेयकी इच्छा रखा करते हैं ॥ १३ ॥

दाता ग्रहीता च धनंजयो वेत्युद्दामशब्दो भुवनेऽस्ति यस्य ।
विस्फारघोषो धनुषोऽस्य भूयान्विजृम्भते स्म द्विषतामसह्यः ॥ १४ ॥

दातेति । यस्य गाण्डीवस्य दाता समर्पकः धनञ्जयः वह्निः (खाण्डववनदाहेऽर्जुनाय वह्निना गाण्डीवं दत्तमिति प्राग्वर्णितम्), प्रतिग्रहीता आदाता वा धनञ्जयः कुबेरविजयी पार्थ एव, इति उद्दामशब्दः यशःश्लोकः भुवने अस्ति प्रथते, अस्यैतादृशकीर्त्तेर्गाण्डीवस्य धनुषः भूयान् बृहत्तमः विस्फारघोषः टंकारध्वनिः द्विषताम् शत्रूणाम् असह्यः असहनीयः विजृम्भते स्म व्यापकत्वं प्राप्य प्रवर्त्तते स्म । अर्जुनस्तदा गाण्डीवस्य तादृशं टंकारं कृतवान् , यं श्रुत्वा शत्रवो भीता अजायन्तेति भावः ॥ १४ ॥

जिस गाण्डीव धनुषको धनञ्जय-वह्नि-ने दिया और धनञ्जय-अर्जुन-ने प्राप्त किया, यह कीर्त्तिगाथा जिस धनुषकी प्रचलित है, संसारमें ख्यात है, उस गाण्डीव धनुषका जब टंकारघोष हुआ, तब वह घोष अर्जुनके शत्रुओंके लिये असहनीय हो उठा । शत्रुगण उस टंकारध्वनिको सुनकर डर गये ॥ १४ ॥

---

१. 'काङ्क्षति' । २. 'अपि धनंजयावित्युद्दामशब्दो' । ३. 'भुवनेषु' । इति पा० ।

नामैषां मे ज्यायसः पुण्यकीर्तेरासीदिष्टं मात्स्यपुर्यामतीव।
गाण्डीवोत्थैरेष बाणैर्हतानां कङ्कान्क्रव्यैर्विद्विषां पर्यतार्प्सीत्॥ १५॥

नामैषामिति। एषां कङ्कानां गृध्राणां नाम संज्ञा 'कङ्कः' इति संज्ञा मे मम अर्जुनस्य ज्यायसो ज्येष्ठभ्रातुः पुण्यकीर्त्तेः पुण्यश्लोकस्य मात्स्यपुर्यां विराटनगरे अतीव इष्टं प्रियम् आसीत् (मात्स्यपुरेऽज्ञातवासकाले मम ज्येष्ठोऽतिपुण्यात्मा च भ्राताऽतिप्रियतया स्वं नाम कङ्क इति प्रथयामास, तेन तस्य कङ्केषु प्रीत्यतिशयप्रतीत्या) एषोऽर्जुनः गाण्डीवोत्थैः गाण्डीवाख्यधनुर्विसृष्टैः बाणैः (हतानां) विद्विषां शत्रूणां क्रव्यैः मांसैः कङ्कान् गृध्रान् पर्यतार्प्सीत् तर्पयामास। स्वभ्रातुः कङ्कपदे प्रेम दृष्ट्वाऽर्जुनः कङ्कान् शत्रुमांसैरतर्पयदित्यर्थः॥ १५॥

जब हमारे बड़े भाई पुण्यश्लोक युधिष्ठिर अज्ञातवासके समय मात्स्यपुरमें रहते थे तब उनको इन कङ्कोंके नाम–गृध्रपद–से बड़ा प्रेम था (यहाँ तक कि उन्होंने अपना नाम भी कङ्क रखा था), इसी बातका ध्यान करके अर्जुनने गाण्डीवनिर्गत बाणों द्वारा शत्रुओंको मारमारकर उनके मांसोंसे कङ्कों–गृध्रोंको परितृप्त कर दिया॥ १५॥

तदनु सव्यसाचिशरवीचीनीचीकृतभुजदम्भविजृम्भः कुम्भसंभवः समराय परिगृहीतेषु संविधानेषु तूणीरमात्रमेव प्रतिभटोन्मुखं विदधानैर्योधैः साकं चण्डभानुश्चरमगिरेरिव स्वयमपि कटकसीमानमासीदत्॥

तदन्विति। तदनु बहुषु सैन्येष्वर्जुनेन हतेषु सत्सु सव्यसाचिनः अर्जुनस्य शरवीचिभिः बाणपरम्पराभिः नीचीकृता क्षीणतां गमिता भुजयोः दम्भविजृम्भा दर्पचेष्टितं यस्य तथोक्तः अर्जुनबाणवृष्टिक्षपितभुजवीर्यदर्पः कुम्भसंभवः द्रोणः समराय युद्धाय परिगृहीतेषु आत्तेषु संविधानेषु साधनेषु मध्ये तूणीरमात्रम् पृष्ठस्थमिषुधिमेव केवलं प्रतिभटोन्मुखं शत्रुयोधसमक्षं विदधानैः (भयवशात्परावर्त्तितमुखतया तूणीरमात्रमेव शत्रुयोधनेत्रपातपात्रतामानयद्भिः, दत्तपृष्ठैः पलायमानैः) योधैः साकं सह कटकसीमानम् शिविरप्रदेशम्, चण्डभानुः सूर्यः चरमगिरेः अस्ताचलस्य कटकसीमानम् नितम्बदेशमिव आसीदत् प्राप्तवान्॥

इसके बाद अर्जुनके बाण–वर्षणसे क्षीण हो गया है भुजप्रतापदम्भ जिनका ऐसे द्रोणाचार्य, युद्धके लिये लाये गये साधनोंमेंसे पृष्ठस्थ तूणीरमात्रको शत्रुयोधाओंके सामने करनेवाले भयवश दत्तपृष्ठ होकर पलायनपरायण होनेके कारण जो अपने तूणीरमात्रको शत्रुओंके सामने करते हैं, ऐसे योधाओंके साथ द्रोणाचार्य अपने शिविरमें आये और प्रखरकिरण-सूर्य पश्चिमाचलके नितम्ब–प्रदेशमें आये, सूर्यास्त हुआ॥

---

१. 'तूणी'। २. 'प्रतिभटाभिमुखं'। ३. 'स्वकटकस्य सीमानं। इति पा०।

अन्येद्युर्द्रोणसंचोदितनृपवचने तस्थिवद्भिस्त्रिगर्तै-
राहूतेऽन्यत्र योद्धुं गतवति विजये कृष्णक्लृप्तप्रशंसे ।
प्रातस्ते धार्तराष्ट्राः परबलमभजन्वीतभीकैरनीकै-
र्दावज्वालेन शून्यं वनमिव चमरा वल्गवद्भिः स्वयूथैः ॥ १६ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः ततः परदिवसे द्रोणसंचोदितनृपवचने यदि विजयो नान्यत्र याति, तदा युधिष्ठिरपराभवो नशक्यक्रियः, तस्केनाप्युपायेन तमन्यत्र नयेत्येवंविधेन द्रोणाचार्यवचसा प्रेरितस्य दुर्योधनस्य कथने तस्थिवद्भिः स्थितैस्त-दनुसरद्भिस्त्रिगर्त्तैः त्रिगर्ताख्यजनपदोद्भवै राजभिः आहूते युद्धाय निमन्त्रिते कृष्ण-क्लृप्तप्रशंसे 'आहूतो न निवर्त्तेत' इत्यादिप्रशंसावचनैः कृष्णेनोत्तेजिते विजयेऽर्जुने-ऽन्यत्र कुरुक्षेत्रात्परत्रस्थाने त्रिगर्त्तैः सुशर्मादिभिः सह योद्धुं गते सति प्रातः प्रभात एव ते धृतराष्ट्रसुताः धार्त्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः वीतभीकैः अर्जुनानुपस्थितौ गत-भयैः अनीकैः सैन्यैः सह परेषां पाण्डवानाम् बलं सैन्यम् चमराः मृगभेदाः दाव-ज्वालेन वनाग्निना शून्यं वनं वल्गद्भिः प्लुतिगतिशालिभिः स्वयूथैरिव अभजन् प्राप्ताः । यथा वनाग्निशून्यं वनोद्देशे स्वयूथेन सह चमरा गच्छन्ति, तथैवार्जुना-नुपस्थितौ निर्भीकैः सैन्यैः सह दुर्योधनादयः पाण्डवबलमुपगता इत्युपमार्थः । 'द्वयोर्ज्वालकीलौ' इति ज्वालस्य पुंस्त्वम् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १६ ॥

दूसरे दिन सबेरे द्रोण द्वारा प्रेरित दुर्योधनकी आज्ञा माननेवाले सुशर्मा आदि त्रिगर्त्तों द्वारा युद्धके लिये निमन्त्रित तथा कृष्ण द्वारा रणनिमन्त्रणकी अत्याज्यतासे आगृहीत होकर जब अर्जुन दूसरी जगह त्रिगर्त्तोंके साथ लडने चले गये तब अर्जुनकी अनुपस्थितिके कारण निर्भीक सैनिकोंको साथ करके दुर्योधनादि धार्त्तराष्ट्रगण पाण्डवोंकी सेनामें आ गये जैसे दावानलसे रहित वनमें कूदते हुए अपने यूथके साथ चमर मृग आते हैं ॥ १६ ॥

भारद्वाजोऽपि तस्मिन्नहनि कुरुपतेर्वाञ्छितार्थं विधास्य-
न्रन्ध्रान्वेषैकतानो रथमधिनिकषा स्थापिते धर्मसूनोः ।
कृष्णाभ्यां रक्षणाय प्रथितभुजमदे सत्यजित्युत्स्फुलिङ्गं
दृष्ट्योर्युग्मं निधाय प्रतिभटपृतनाकुक्षिमाविक्षदेकः ॥ १७ ॥

भारद्वाजोऽपीति । तस्मिन् अहनि दिवसे कुरुपतेः दुर्योधनस्य वाञ्छितार्थं धर्म-राजग्रहणरूपमभिमतं विधास्यन् करिष्यन् (अत एव) रन्ध्रान्वेषैकतानः युधि-ष्ठिरसैन्ये कुत्र दौर्बल्यमस्तीति गवेषणमात्रव्यापारः भारद्वाजः द्रोणः अपि धर्मसूनोः युधिष्ठिरस्य रक्षणाय रक्षां विधातुम् रथम् अधिनिकषा तद्रथपार्श्वे कृष्णाभ्यां श्रीकृष्णार्जुनाभ्यां स्थापिते नियुक्ते प्रथितभुजमदे प्रसिद्धबाहुबलदर्पे सत्यजिति

१. 'प्रसङ्गे' । २. 'रथमथ' । ३. 'निखाय'; 'विधाय' । इति पा० ।

तन्नामके पाञ्चाले राजनि उत्स्फुलिङ्गं क्रोधाग्निकणवर्षिदृष्ट्योर्युग्मं स्वीयं नयनयुगलं विधाय निक्षिप्य एकः सहायान्तरनिरपेक्षः सन् प्रतिभटपृतनाकुक्षिम् शत्रुसेनामध्यम्। आविक्षत् प्रविष्टवान्। तस्मिन्दिवसे दुर्योधनानुरोधरक्षार्थं युधिष्ठिरं ग्रहीतुकामतया रन्ध्रमन्विष्यन् द्रोणाचार्यो युधिष्ठिररथपार्श्वे तद्रक्षाधिकृते सत्यजिति कोपपूर्णे नयने निक्षिप्य अर्जुनाभावान्निर्निरोधतयाऽसहाय एव पाण्डवसैन्यमध्ये प्रविष्टवानिति भावः ॥ १७ ॥

जब अर्जुन त्रिगर्त्तोंसे लड़ने कहीं और चले गये थे उस दिन द्रोणने चाहा कि आज युधिष्ठिरको पकड़कर दुर्योधनका अभिमत सिद्ध कर दें, अतः वे छिद्र खोजने लगे, उन्होंने देखा कि युधिष्ठिरके रथके पास प्रसिद्धपराक्रम सत्यजित्को श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रखा है, अतः द्रोण सत्यजितपर कोपाग्निकी चिनगारियों को वरसानेवाले नयन डालकर (वे) अकेले पाण्डवकी सेनाके मध्यमें पैठ गये ॥ १७ ॥

युद्ध्वा[1] चिरेण युगमात्रमपास्य रथ्या-
न्निर्धूनितेन सरुषा गुरुणा निकृत्तम् ।
तस्याथ रङ्गभुवि सत्यजितो वराङ्गं[2]
बाष्पाम्बुभिः सह पपात युधिष्ठिरस्य ॥ १८ ॥

युद्ध्वेति। अथ चिरेण बहुकालपर्यन्तं युद्ध्वा द्रोणेन सह युद्धं कृत्वा रथ्यान् द्रोणरथवहान् अश्वान् युगमात्रम् हस्तचतुष्टयप्रमाणम् अपास्य पश्चाच्चालयित्वा निर्धूनितेन स्वद्वारा तिरस्कृतेन अत एव सरुषा कुपितेन गुरुणा द्रोणाचार्येण निकृत्तम् खण्डितम् सत्यजितो वराङ्गं शिरः युधिष्ठिरस्य बाष्पाम्बुभिः अश्रुभिः सह रङ्गभुवि युद्धभूमौ पपात। यावद्द्रोणः पाण्डवसैन्यं प्रविशति तावद् बलीयसा संरम्भेण सत्यजितेन सह योद्धुं प्रवृत्तश्चिरं युद्धं कृत्वा च सत्यजिद् द्रोणस्य रथ्यान् हस्तचतुष्टयमात्रं पश्चाच्चालयामास, तेनात्मापमानेन कुपितो द्रोणः सत्यजितः शिरोऽच्छिनत्तेन छिन्नेन शिरसा भुवं पतता सहैव युधिष्ठिरस्याश्रु भुवि पपातेति भावः ॥ १८ ॥

बड़ी देर तक लड़नेके बाद जब सत्यजित्ने द्रोणके रथमें जुते अश्वोंको चार हाथ प्रमाण पीछे चला दिया, तब अपमानित होकर क्रोधसे भरे हुए द्रोणने सत्यजित्का सिर काट दिया, उसका वह कटा हुआ सिर उस युद्धक्षेत्रमें युधिष्ठिरके अश्रुके साथ ही गिरा, उसके मरते ही युधिष्ठिर रो पड़े ॥ १८ ॥

उच्चया त्वरया तस्मिन्नुपकण्ठं समागते ।
पार्थस्य पश्यतोऽग्रे तं प्राणा अपि तथाचरन् ॥ १९ ॥

---

१. 'विद्ध्वा' । २. 'तोत्तमाङ्गं' । इति पा० ।

उच्चयेति। तस्मिन् हतसत्यजिति द्रोणे उच्चया महत्या त्वरया शीघ्रतया उपकण्ठं समीपदेशम् समागते प्राप्ते सति अग्रे स्वपुरोदेशे तं द्रोणं पश्यतः पार्थस्य युधिष्ठिरस्य प्राणाः अपि तथा आचरन् कण्ठं समायाताः, द्रोणं पुरतो दृष्ट्वा युधिष्ठिरो भीत्या कण्ठगतप्राणो जात इत्यर्थः। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः॥ १९॥

सत्यजित्के निहन्ता द्रोणाचार्य जब बड़ी तेजीके साथ समीपमें चले आये तब उन्हें समीपमें आया देखकर युधिष्ठिरके प्राणभी कण्ठके समीपमें चले आये, उपकण्ठसमागत द्रोणको देखकर युधिष्ठिरभी भयसे कण्ठगतप्राण हो गये॥ १९॥

तस्याथ द्वेषिसेनाजलधिकवलनात्कुम्भयोनित्वकीर्ति
स्पष्टीकर्तुं स्वकीयामिव कुतुकवतः पार्श्वमभ्येत्य वेगात्।
भीमो रथ्यानमथ्नाद्द्रुपदतनुभवः सूदयामास सूतं
कोदण्डं केतुदण्डं द्वयमपि शकलीचक्रतुर्दस्रपुत्रौ॥ २०॥

तस्याथेति। अथ समीपागमनानन्तरम् द्वेषिसेनाजलधिकवलनात् परिपन्थिसैन्यसागरक्षपणात् स्वकीयां निजां कुम्भयोनित्वकीर्त्तिम् घटयोनित्वप्रभवं यशः (कुम्भयोनिर्हि सागरक्षपणात् प्रथत इति द्रोणोऽपि स्वस्य कुम्भसम्भवत्वमगस्त्यत्वं घटयोनित्वं च) स्पष्टीकर्त्तुं प्रकाशयितुं कुतुकवतः उत्कण्ठितवतः परसैन्यसागरं क्षपयितुं प्रवृत्तस्येत्यर्थः। तस्य द्रोणस्य पार्श्वम् समीपम् वेगात् एत्य आगत्य भीमः रथ्यान् रथवाहान् अश्वान् अमथ्नात् मारयामास, द्रुपदतनुभवः धृष्टद्युम्नः सूतं सारथिं सूदयामास जघान, दस्रपुत्रौ अश्विनोस्तनयौ नकुलसहदेवौ कोदण्डं चापं केतुदण्डं ध्वजयष्टिं चेति द्वयम् अपि शकलीचक्रतुः खण्डं खण्डं कृतवन्तौ। स्वीयं कुम्भभवत्वं प्रकटीकर्त्तुमुत्सुक इव द्रोणो यावत् परसैन्यसागरं चुलुकयति तावदेव भीमादयस्तद्रथपार्श्वमुपेत्य तदीयरथ्यसूतादीन् हतवन्त इत्यर्थः॥ २०॥

समीप आ जानेपर शत्रुसैन्यसागरको समाप्त करके अपने कुम्भोद्भवत्व–अगस्त्यत्व तथा घटजातत्वको प्रकाशित करनेकी इच्छा रखनेवाले-शत्रुसैन्यसागरको समाप्त करके अपने कुम्भोद्भवत्वको प्रमाणित करनेकी चेष्टा करनेवाले द्रोणाचार्यके समीप आकर भीमने उनके रथाश्वोंको मार डाला, धृष्टद्युम्नने उनके सारथीका संहार किया और अश्विनी कुमारके पुत्रों—नकुल-सहदेवने द्रोणके धनुप तथा ध्वजदण्डको खण्डशः काटकर गिरा दिया॥ २०॥

ततस्तादृशं कुम्भसंभवस्याभिषङ्गमभिवीक्ष्य क्रोधनतया कर्णतालसमीरणसमृद्धिपरिणतचक्रवातगर्भपरिभ्रमद्रथकेतुपताकापटसहस्रसंपादितसमरसागरावर्तवशंवदफेनकूटशोभानि सकलदिङ्मुखघण्टापथजाङ्घिक-

---

१. 'द्वेष्टृसेना'। २. 'कोपात्'। ३. 'दलयां'। इति पा०।

घण्टाभरणरणितबधिरीकृताष्टलोकपालपुरजनानि [1]निबिडितसुरसमाजसमाक्रान्तगगनमण्डपसंधिबन्धस्थिरीकरणाय [2]दत्तायतेन्द्रनीलस्तम्भानिव शुण्डादण्डानूर्ध्व[3]मुन्नमयमानानि समस्तानि हास्तिकानि पुरस्ताद्विस्तार्य रणमत्तो भगदत्तः सुप्रतीकमधिरूढो हठाद्भीममभिदुद्राव ॥

तत इति। ततस्तदनन्तरं तादृशम् अश्वसारथिकोदण्डध्वजदण्डविनाशरूपं कुम्भसम्भवस्य द्रोणस्य अभिपङ्गं पराभवम् अभिवीच्य दृष्ट्वा क्रोधनतया कोपेन रणमत्तः युद्धे प्रकटमदः भगदत्तः नाम राजा सुप्रतीकं नाम औपवाह्यम् गजम् अधिरूढः समारूढः सन् कर्णौ तालौ व्यजने इव तयोः समीरणसमृद्धया वायुसमूहेन परिणतानां समुत्पन्नानां चक्रवातानां मण्डलाकारवायूनां गर्भेषु मध्यभागेषु परिभ्रमद्भिः वेगेन चलद्भिः रथकेतुपताकापटसहस्रैः रथध्वजदण्डावस्थितवस्त्रखण्डैः सम्पादिता जनिता समरसागरस्य युद्धोदधेः आवर्त्तानां भ्रमिपरम्पराणाम् वशंवदानाम् सम्पर्किणां फेनकूटशोभाहिण्डीरपिण्डकान्तिर्येषां तानि तथोक्तानीत्येकं हास्तिकविशेषणम् ; (हस्तिनः कर्णतालेन वायुं सृजन्तश्चक्रवायुमुत्पादयन्ति, तेन स्वगर्भे नर्त्यमानाः ध्वजदण्डपटाः सैन्यसागरोत्थितावर्त्तफेनराशेः श्रियं पुष्यन्तीति तदर्थः) सकलदिङ्मुखानि सर्वे दिशावकाशा एव घण्टापथाः राजमार्गाः तेषु जाङ्घिकैः वेगेन समुपसर्पद्भिः घण्टाभरणरणितैः घण्टारवैः बधिरिताः अष्टलोकपालपुरजनाः इन्द्राद्यष्टलोकपनगरवासिलोका यैस्तथोक्तानि, इदमपरं हास्तिकविशेषणम् (सर्वेषु दिशावकाशेषु प्रसरद्भिर्घण्टारवैः सर्वदिक्पालपुरजनान् बधिरयन्तीति तदर्थः) निबिडितैः घनीभूय स्थितैः सुरसमाजैः देवगणैः समाक्रान्तस्य गगनमण्डपस्य आकाशरूपमण्डपस्य सन्धिबन्धानाम् योजनस्थलानां स्थिरीकरणाय अभङ्गुरत्वसम्पादनाय दत्तान् उपस्थापितान् आयतान् दीर्घान् इन्द्रनीलस्तम्भान् इन्द्रनीलमणिनिर्मितान् स्तम्भान् इव शुण्डादण्डान् निजकरान् उन्नमयमानानि उत्थाप्य स्थितानि, इदं तृतीयं हास्तिकविशेषणम् , (युद्धदर्शनाय देवैराकाशे समागतैराकाशमण्डपस्य सर्वतो व्याप्तिः कृता, सम्भवति कदाचिद्देवगणभरेणाकाशमण्डपस्य सन्धिबन्धनशैथिल्यम् , तदपाकर्त्तुमिव हस्तिनः इन्द्रनीलमणिरचितस्तम्भानिव स्वान् करानुन्नमय्य स्थिताः, अन्योपि भङ्गशङ्कया मण्डपेषु स्तम्भान् प्रयोजयति तद्वदित्यर्थः) समस्तानि सकलानि हास्तिकानि हस्तिकुलानि पुरस्तात् अग्रे विस्तार्य प्रसार्य हठात् सरभसं भीमम् अभिदुद्राव आचक्राम।

इसके बाद जब भगदत्तने देखा कि द्रोणका अपमान हो रहा है उनके रथाश्वसारथि, चाप तथा ध्वजदण्डोंके कटनेसे उनका तिरस्कार हो रहा है तब भगदत्तने आगे उन हाथियोंको खड़ा कर दिया जिन हाथियोंके व्यजनसमान कानोंसे पैदा हुई वायुके चक्रे

---

१. 'निबिड'। २. 'दत्तानिन्द्र'। ३. उन्नमय्य'। इति पा०।

होनेसे चक्राकार वात उत्पन्न हो गया, उसके बीचमें ध्वजपट नाँच रहे हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो सैन्यसागरमें उत्पन्न भ्रमिके बीचमें फेन-राशियाँ हों, जिन हाथियोंने अपने दिगन्त रूप राजमार्ग पर सञ्चरण करनेवाले दिगन्तव्यापी घण्टारवोंसे अष्टलोकपाल पुरवासीजनों को बहरा बना दिया था, ऐसे तथा आकाशमें युद्ध देखनेके लिये इकट्ठे हुए देवमण्डलसे व्याप्त गगनमण्डपकी सन्धियोंको दृढ़ करनेके लिये लगाये गये इन्द्रनीलमणि-स्तम्भोपम शुण्डादण्डोंको उठाये हुए हाथियोंको आगेके भागमें फैलाकरके रणमदमत्त भगदत्तने सुप्रतीक नामक हाथीपर चढ़करके भीमका पीछा किया, भीमपर आक्रमण किया ॥

घोरेऽभियाते सति सुप्रतीके दूरेऽपसस्रुर्द्विषतां बलानि ।
परश्वधास्त्रे पतिते जलानि पत्युर्नदीनामिव पश्चिमस्य ॥ २१ ॥

घोरे इति । घोरे भयङ्करे सुप्रतीके नाम भगदत्तस्वामिके गजे अभियाते सम्मुखमागते सति द्विषतां शत्रूणां बलानि सैन्यानि परश्वधास्त्रे परशुरामवाणे पतिते सति पश्चिमस्य नदीनां पत्युः सागरस्य जलानि इव दूरे अपसस्रुः सृतानि । पुरा परशुरामेण विप्राय दत्तायां भुवि स्ववासमनुचितं मन्यमानेन समुद्रे बाणं निक्षिप्य ततोऽपसृते समुद्रजले लब्धायां भूमौ कोङ्कणपदप्रसिद्धायामुवासेति पुराणकथा, तेन यथा परशुरामास्त्रे पतिते पश्चिमसागरस्य जलं सर्वतोऽपसरति स्म, तथैव सुप्रतीके समीपमुपसर्पति सति शत्रुसैन्यानि दूरे पलायिषतेति भावः । उपमाऽलङ्कारः ॥ २१ ॥

भयङ्कर सुप्रतीक नामक गजके सामने आ जाने पर विरोधियोंकी सेनायें भयसे भागने लगीं, जैसे परशुरामद्वारा क्षिप्त अस्त्रके आगेसे पश्चिमसागरके जल भाग गये थे । परशुराम ने जब जित पृथ्वी ब्राह्मणोंको सौंप दी, तब अपने लिये वासस्थलकी खोजमें उन्होंने समुद्र में अस्त्र फेंका, पानी इधर उधर हट गया, बीचमें जो जगह निकल आई उसी पर परशुराम ने आवास बनाया, इसी कथाके आधारपर यह उपमा प्रस्तुत की गई है ॥ २१ ॥

केतून्पातयतो रथान् श्लथयतो दन्तावलान् कृन्ततो
घोटान् पाटयतो विभिद्य गदया भीमो द्विपान्विद्विषाम् ।
संग्रामाङ्गणरक्तवारिलहरीसंलक्ष्यमाणस्वक-
च्छायामात्रसहायमेव विदधे तं सुप्रतीकं क्षणात् ॥ २२ ॥

केतून् इति । केतून् रथध्वजान् पातयतः भूमौ निपातयतः, रथान् श्लथयतः त्रोटयतः, दन्तावलान् विरोधिगजान् कृन्ततः छिन्दतः, घोटान् अश्वान् पाटयतः विदलयतः, विद्विषां शत्रूणां द्विपान् (भगदत्तेन पुरः स्थापितान्) गदया विभिद्य चूर्णयित्वा भीमः क्षणात् अल्पीयसा एव समयेन तं भगदत्ताधिष्ठितं सुप्रतीकं नाम

---

१. 'दूरं ससर्प द्विषतां बलौघः' । २. 'पतितेऽम्बुपूराः पत्युः' । इति पा० ।

गजम् संग्रामाङ्गणे युद्धक्षेत्रे या रक्तवारिलहरी शोणितप्रवाहस्तत्र संलक्ष्यमाणा दृश्यमाना स्वकच्छाया निजप्रतिबिम्बमेव सहायो यस्य तथाभूतं सर्वकरिमारणेन सहायान्तराभावात्स्वच्छायाद्वितीयं विदधे चक्रे। अत्र सुप्रतीकातिरिक्तसकलगजवधस्य स्वच्छायामात्रतत्सहायकत्वरूपेण वर्णनात् पर्यायोक्तिनामालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

इसके बाद भीमने ध्वजदण्डोंको उखाड़ फेंकनेवाले रथोंको विदलित करनेवाले, हाथियोंको चीर डालनेवाले, और घोड़ोंका विनाश करनेवाले सारे अन्य हाथियोंको अपनी गदा द्वारा मौतके घाट उतारकर भीमने तत्क्षणमें उस सुप्रतीक नामक गजको युद्धक्षेत्रमें बहनेवाली रक्तधारामें दृश्यमान निजच्छायामात्र–सहाय बना डाला, सभी हाथी मारे गये, दूसरा कोई सहाय तो रहा नहीं, केवल युद्धक्षेत्रमें बहनेवाली रक्तधारामें दीखनेवाला अपना प्रतिबिम्ब ही सुप्रतीकका सहाय–साथी–बच गया ॥ २२ ॥

पादाग्रहस्तरदनप्रतिघातलीलाभग्नारिरक्तमसृणो भगदत्तदन्ती ।
आलक्ष्यत क्षितिभृतस्तटवप्रकर्मण्यालिप्तगात्र इव गैरिककर्दमेन ॥२३॥

पादाग्रेति । पादाग्रेण चरणपुरोदेशेन, हस्तेन शुण्डादण्डेन रदनाभ्यां दन्ताभ्यां च या प्रतिघातलीला आघातरूपक्रीडा तया भग्नानां विदारितानां विभिन्नाङ्गानाम् अरीणां शत्रूणां रक्तेन शोणितेन मसृणः लिप्तगात्रः भगदत्तहस्ती सुप्रतीको नाम भगदत्तस्य गजः क्षितिभृतः पर्वतस्य तटवप्रकर्मणि तटदेशे दन्तादेरुत्खातकेलौ गैरिककर्दमेन रक्तवर्णधातुभेदपङ्केन आलिप्तगात्रः लिप्तशरीर इवालक्ष्यत दृश्यते स्म। दन्तादिभिः परप्रहारे तदीयरक्तलिप्तशरीरः सुप्रतीकः पर्वततटे वप्रक्रियायां परिणततया गैरिकलिप्ताङ्ग इव प्रतिभासते स्मेत्यर्थः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥२३॥

अपने पैरोंके आगेके हिस्सोंसे, शुण्डादण्डों तथा दाँतोंसे शत्रुओंपर प्रहार करते समय उनके रक्तसे रँगा हुआ वह सुप्रतीक नामक गज ऐसा लगता था, मानो वह पर्वतके तटमें दाँत आदिसे उत्खातकेली–जमीन उकेरनारूप क्रीड़ामें संसक्त होकर पर्वतीय गैरिकादि पङ्कसे लिप्त हो रहा हो ॥ २३ ॥

तदनु करटिमल्लं तत्र वीक्ष्यापतन्तं
दलितपरबलं तं दन्तकुन्तं वहन्तम् ।
चकितहृदयवृत्तेः [1]संगरे वायुसूनो-
र्जनकगुणसमृद्धिर्जङ्घयोराविरासीत् ॥ २४ ॥

तदन्विति । तदनु ततः तत्र युद्धक्षेत्रे दन्तकुन्तम् दन्तरूपं तीक्ष्णाग्रभागमायु-

---

१. 'धावतो' । इति पा० ।

षविशेषं वहन्तं धारयन्तं दलितपरबलं विनाशितशत्रुसेनं तं करटिमल्लं गजश्रेष्ठं सुप्रतीकमापतन्तम् स्वाभिमुखमागच्छन्तं वीक्ष्य दृष्ट्वा संगरे युद्धे चलितहृदयवृत्तेः कम्पमानमनसः वायुसूनोः पवमानपुत्रस्य भीमस्य जङ्घयोर्जघनयोः जनकस्य वायोर्गुणसमृद्धिः वेगवत्ता आसीत् प्रादुरभूत् । सम्मुखमायान्तं सुप्रतीकं दृष्ट्वा कम्पमानमनसो भीमस्य जङ्घयोस्तत्तातगुणप्रकर्षो वेगवत्त्वं प्रकटीबभूव, भीमः पलायामासेत्यर्थः । सम्मुखापतत्सुप्रतीकदर्शनस्य पलायनकारणतयोपनिबन्धनात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

इसके बाद दाँतरूप कुन्तास्त्रोंको धारण करके. शत्रुसैन्यको विदलित करनेवाले सुप्रतीक नामक गजश्रेष्ठको सामने युद्धमें आते देखकर भीमका हृदय दहल उठा, और उनकी जङ्घाओंमें उनके पिता वायुका गुणप्रकर्ष वेगवत्त्व पैदा हो गया । सुप्रतीकको आते देखकर भीम विचलित होकर जोरोंसे भाग खड़े हुए ॥ २४ ॥

इति सुप्रतीकसंक्षुभितनिजध्वजिनीकोलाहलसमाकर्णनाकुलमानसो वासवसूनुर्महेषुनिषूदितावशेषसंशप्तकगणदूरनिरासप्रयुज्यमानवायव्यास्त्रवेगार्धं विभज्य निजरथाय वितीर्णवानिव तूर्णमासाद्य निर्बलभुजगर्वदुर्विलसितौ तौ कुम्भजातकिरातराजौ निरुद्ध्य चिरेण योधयामास ॥

इतीति । इति एवंप्रकारेण सुप्रतीकेन तदाख्यभगदत्तगजेन संक्षुभितायाः मथिताया निजध्वजिन्याः स्वसेनायाः कोलाहलस्य कलकलस्य समाकर्णनेन श्रवणेन आकुलमानसः व्यग्रहृदयः वासवसूनुरिन्द्रात्मजोऽर्जुनः महेषुभिर्दीर्घैर्बाणैः निषूदितावशेषाणाम् हतशेषाणां संशप्तकानां नाम त्रिगर्त्तानाम् निरासे दूरापसारणे प्रयुज्यमानस्य क्षिप्यमाणस्य वायव्यास्त्रस्य यो वेगः शीघ्रगामित्वं तदर्धं तदर्धभागं विभज्य निजरथाय वितीर्णवान् दत्तवानिव वायुवेगेन रथेन तूर्णमासाद्य युद्धक्षेत्रमागत्य निर्बलभुजगर्वदुर्विलसितौ अपारभुजपराक्रमगर्वितौ तौ युद्धे सेना दलयन्तौ कुम्भजातः द्रोणः किरातराजो भगदत्तश्च तौ निरुध्य अग्रतोऽवरुध्य चिरेण योधयामास युद्धमकारयत् । निजसेनाकोलाहलं श्रुत्वा हतशेषाणां त्रिगर्त्तसेनानां निरासाय प्रयुज्यमानस्य वायव्यास्त्रस्य वेगार्धं स्वरथाय दत्तवानिवार्जुनः तूर्णं रणस्थलमागत्यापारभुजवीर्यगर्वितौ द्रोणभगदत्तौ निरुध्य चिरकालपर्यन्तं युद्धं कारयामासेति भावः ।

इस प्रकार सुप्रतीक नामक हाथी द्वारा दलित की गई अपनी सेनाके कोलाहलको सुनकर आकुलहृदय अर्जुनने हतशेष संशप्तकनामक त्रिगर्त्तसैन्यको दूर भगानेके लिये प्रयुज्यमान वायव्यास्त्रके वेगका आधा भाग बाँटकर अपने रथको दे दिया, इस प्रकार

---

१. 'ध्वजिनीचरकोलाहल' । २. 'समाकुल' । ३. 'विलसितौ कुम्भ' । इति पा० ।

वायुवेगसे चलनेवाले रथके सहारे शीघ्र आकर अपारभुजपराक्रमगर्वित द्रोण तथा भगदत्त को आगेसे रोककर बड़ी देर तक लड़ाया ॥

ततः,—

मनश्च पार्थस्य रथं च भंक्तुं मदावलेन्द्रस्य करे प्रवृत्ते ।
सारथ्यचातुर्यवशेन शौरेर्भग्नः स तस्यैव मनोरथोऽभूत् ॥ २५ ॥

मनश्चेति । पार्थस्य अर्जुनस्य मनः हृदयं भङ्क्तुम् उदासयितुम् रथं च भङ्क्तुम् त्रोटयितुं मदावलेन्द्रस्य करिश्रेष्ठस्य सुप्रतीकस्य करे शुण्डादण्डे प्रवृत्ते तत्परे सति (सुप्रतीकेऽर्जुनस्य रथं विदलय्य तदीयमुत्साहं ह्रसयितुं प्रवृत्ते सति) शौरेः श्रीकृष्णस्य सारथ्यचातुर्यवशेन रथचालननैपुण्येन तस्य सुप्रतीकस्य सः पार्थरथभञ्जनविषयकः मनोरथ एव भग्नः विफलोऽभूत् , कृष्णस्तथा तन्मार्गादन्यतो रथं गमयामास यथाऽर्जुनरथः सुरक्षितोऽतिष्ठदेवं तस्य करिणस्तादृशो मनोरथ एव भग्नो जात इत्यर्थः । रथं भङ्क्तुमध्यवसितस्य गजस्य मनोरथभङ्गवर्णनाद् विषमालङ्कारः ॥ २५ ॥

अर्जुनके रथ तथा युद्धोत्साहयुक्त मनको भग्न करनेके लिये अर्जुनके रथको तोड़कर उनके उत्साहको कम करनेके लिये तत्पर सुप्रतीकका मनोरथ—पार्थरथभञ्जन विषयाभिलाष ही भग्न हुआ, पार्थका रथ नहीं भग्न हुआ क्योंकि रथचालनकुशल भगवान्ने रथको दूसरी ओर मोड़ लिया, जिधरसे वह हाथी आ रहा था उधरसे हटाकर दूसरी ओर कर लिया ॥ २५ ॥

पार्थस्य तस्य तदनु प्रहिता वधाय
भङ्गं ययौ पथि शरैर्भगदत्तशक्तिः ।
प्रस्थानकर्मसमये भयदायि तस्या
नागस्य दर्शनमजायत यत्समीपे ॥ २६ ॥

पार्थस्येति । तदनु तत्पश्चात् तस्य पार्थस्य अर्जुनस्य वधाय प्रहिता प्रेरिता भगदत्तशक्तिः आयुधविशेषः पथि मार्गे शरैः अर्जुनस्य बाणैः भङ्गं ययौ विनाशं प्राप, यत् यतः तस्याः भगदत्तशक्तेः प्रस्थानकर्मसमये अर्जुनवधाय यात्राकाले भयदायि विपज्जनकं नागस्य सर्पस्य करिणश्च दर्शनम् अजायत । यात्रासमये येन नागः दृश्यते तस्य यात्रा विपदावहा जायते, सा हि भगदत्तशक्तिर्यात्राकाले नागमपश्यदतः सा पथ्येव पार्थशरैर्निर्मथ्यते स्मेति तात्पर्यम् । काव्यलिङ्गमलङ्कारः, 'शशसर्पवृकादीनां दर्शनाद्भयमाप्नुया'दिति ज्यौतिषशास्त्रम् ॥ २६ ॥

अर्जुनके वधार्थ चलाई गई भगदत्तकी शक्ति (नामक अस्त्र) आनेके समय मार्गमें

---

१. 'हन्तुम्' । २. 'दायिनोस्य' । इति पा० ।

ी अर्जुनके बाणोंसे नष्ट हो गई, क्योंकि प्रस्थान करनेके समय उसे नाग-सर्प-हाथीके दर्शन हुए थे। शकुनशास्त्रके अनुसार 'शशसर्पवृकादि' जन्तुओंके दर्शनसे यात्रामें विपत्तिका आना संभव रहता है॥ २६॥

अथ तेन हरेः सुताय मुक्तं हृदि कृत्वा स्वयमात्मदैवमस्त्रम्।
तदिदं वनमालया मुकुन्दः सहवास्तव्यकुटुम्बितामनैषीत्॥ २७॥

अथ तेनेति। अथ भगदत्तशक्तिभङ्गानन्तरं मुकुन्दः श्रीकृष्णः हरेः इन्द्रस्य सुताय अर्जुनं लक्ष्यीकृत्य तेन भगदत्तेन मुक्तं प्रहृतम् आत्मा स्वयं विष्णुर्दैवमधिष्ठाता यस्य तादृशम् आत्मदैवम् वैष्णवम् अस्त्रम् स्वयम् हृदि कृत्वा हृदयेन प्रतीष्य हृद्देशेन गृहीत्वा तदिदं हृदयगृहीतं वैष्णवमस्त्रम् वनमालया स्वकण्ठस्थवनमालया सहवास्तव्यः सहनिवासकर्त्ता कुटुम्बी गृही तस्य भावस्ताम् स्वहृदयवासिवनमालासहनिवासित्वम् अनैषीत् प्रापितवान्। अयमाशयः—शक्तौ भग्नायां भगदत्तोऽर्जुनवधाय वैष्णवमस्त्रमुमुञ्चत, तच्चास्त्रं भगवानात्महृदयेन प्रतीष्टवान् स्वहृदयस्थवनमालासहवासित्वं चानैषीत्। कृष्ण उत्थाय तद्वैष्णवास्त्रं वनमालावद्धृदये स्थापितवानिति भावः। 'आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता' इति॥ २७॥

शक्तिभङ्ग हो जानेपर मुकुन्दने इन्द्रके पुत्र अर्जुनके वधार्थ भगदत्तद्वारा प्रवृत्त स्वदेवताक-वैष्णव-अस्त्रको अपने हृदयपर रखकर उस अस्त्रको वनमालाका सहवासि कुटुम्बत्व प्राप्त करा दिया, भगवान्ने वैष्णव अस्त्रको अपनी छातीपर सदाके लिये बसा लिया, अर्जुनकी रक्षाके लिये भगवान्ने उस अस्त्रको अपनी छातीपर रख लिया॥ २७॥

स फल्गुनस्तत्र चकार बाणैश्चिकीर्षुमन्त्याक्षरवर्जितं स्वम्।
कुलाचलात्पीवरमप्यरातेः करेणुमाद्याक्षरयोगशून्यम्॥ २८॥

स फल्गुन इति। तत्र युद्धे सः प्रसिद्धपराक्रमः फल्गुनः अर्जुनः स्वम् आत्मानमर्जुनम् अन्त्याक्षरवर्जितम् फल्गुनशब्दस्यान्त्येनाक्षरेण नकारेण वर्जितं फल्गुम् असारं तुच्छं चिकीर्षुम् (रथभञ्जनद्वारालघूकर्त्तुम्) कर्त्तुमिच्छन्तम् कुलाचलात् पर्वतादपि पीवरं विशालं तम् सुप्रतीकं नाम अरातेः शत्रोर्भगदत्तस्य करेणुं गजम् बाणैः स्वशरैः आद्याक्षरस्य ककारस्य योगेन संबन्धेन शून्यं रहितम् रेणुं चकार। अर्जुनरथं विभिद्य तं तुच्छतां नेतुमिच्छन्तं तं शत्रुकरिणमर्जुनः स्वबाणैर्लवशश्छिन्नवानिति तात्पर्यम्। अन्त्याक्षररहितं स्वं चिकीर्षुमर्जुन आद्याक्षररहितमकृतेति चमत्कारोक्तिः। 'वाच्यवत्फल्ग्वसारं च'ेति यादवः। अत्र फल्गुनकरेणुशब्दयोस्तदर्थयोश्चाभेदारोपः॥ २८॥

फल्गुनने जब देखा कि यह मुझे ही अन्त्याक्षररहित, फल्गुन शब्दमें अन्त्य अक्षर

---

१. 'कृत्य'। २. 'क्रौञ्चाचलात्'। इति पा०।

निकालकर बना फल्गु-असार-करना चाहता है, यह हाथी मुझे रथभञ्जनद्वारा बेकार बनाना चाह रहा है, तब बाण द्वारा उस पर्वतापेक्षया भी विशाल शत्रुगज सुप्रतीकको-करेणुको-अपने बाणोंसे खण्ड-खण्ड काट-करके अन्त्याक्षरशून्य रेणु बना दिया। जो हाथी फल्गुनको अन्त्याक्षरशून्य फल्गु बनाना चाहता था, उसे अर्जुनने करेणुसे रेणु बना दिया। अन्त्याक्षरशून्य बनानेकी इच्छा रखनेवालेको आद्याक्षरशून्य बना दिया, यही उक्ति चमत्कारिणी है॥ २८॥

मदपङ्कललामगन्धिफालं मघवत्सूनुररेर्निपात्य शीर्षम्।
पृथुलां मुदमादधे ततोऽसौ पृथिवी गन्धवतीति गौतमोक्तेः॥ २९॥

मदपङ्केति। ततः सुप्रतीकवधात् परतः असौ मघवतः सूनुः इन्द्रसुतोऽर्जुनः मदपङ्केन कस्तूर्या यत् ललामतिलकं तस्य गन्धोऽस्यास्ति तादृशं फालं ललाटदेशो यस्य तादृशम् कस्तूरीतिलकसुगन्धयुतललाटम् अरेः भगदत्तस्य शीर्षम् शिरः निपात्य भुवि पातयित्वा पृथिवी गन्धवती इति गौतमोक्तेः पृथुलां महतीं मुदम् प्रीतिं (प्रमापणभवमानन्दम्) आदधे जनयामास। तादृशीं गौतमीं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धां विधाय सन्तोषयामासेत्यर्थः। कस्तूरिकातिलकलाञ्छितभालदेशं शत्रोः शिरः पतितमाप्यधरा तदानीम्। गन्धान्विता धरणिरित्युपलक्ष्यगन्धप्रत्यक्षतो मुदमधान्ननु गौतमोक्तेः। इति भावः। अत्र भगदत्तशीर्षपातने गन्धबोधकगौतमोक्तेः प्रीत्युत्पादासंबन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २९॥

उस समय कस्तूरिकातिलकाङ्कितभाल भगदत्तके सिरको पृथ्वीपर गिरा करके इन्द्रपुत्र अर्जुनने 'पृथ्वी गन्धवती होती है' इस तरहकी गौतमोक्तिको सन्तुष्ट कर दिया, प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध करके उस उक्तिको कृतार्थ कर दिया॥ २९॥

भगदत्ते वधं याते सह मत्तेन दन्तिना।
सत्यजिन्नाशशोकार्तिमत्यजन्पाण्डुनन्दनाः॥ ३०॥

भगदत्त इति। मत्तेन मदच्युता दन्तिना सुप्रतीकनाम्ना गजेन सह भगदत्ते नाम शत्रौ वधं याते प्राप्ते सति पाण्डुनन्दनाः युधिष्ठिरादयः पाण्डवा सत्यजितो नाशेन मरणेन या शोकार्त्तिः शोकव्यथा तां व्यथाम् अत्यजन् त्यक्तवन्तः। भगदत्ते स्वहस्तिना सह मृते सति पाण्डवाः सत्यजितो मृत्युनोत्पादितां व्यथां न्यूनीभूताममन्यन्तेत्यर्थः॥ ३०॥

मदमत्त हाथी सुप्रतीकके साथ भगदत्तके मारे जानेपर पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदिने सत्यजितके मरनेसे उत्पन्न मनोव्यथाको भुला दिया॥ ३०॥

तदनु नाम्नाऽरुणे तेजसि संध्ययापि तादृशे कलशयोनिः स्वयं नाम्ना

१. 'भालं'। २. 'आदधात्'। ३. 'हस्तिना'। ४. 'पार्थसैनिकाः'। इति पा०

गुरुरपि व्यथयापि तादृग्विधस्त्रिभिरेवाङ्गैर्विरलितेन बलेनानुगम्यमानस्तां-
दात्विकं स्वमनोरथमिव दूष्यतामुपगतमावासं शनैः शनैरावव्रृते ॥

तदन्विति । तदनु तत्पश्चात् नाम्ना अरुणे अरुणसंज्ञके तेजसि सूर्ये सन्ध्ययाऽपि संध्यारागेणापि तादृशे अरुणे सति आरक्ते जायमाने, कलशयोनिः द्रोणः स्वयम् आत्मना नाम्ना गुरुः गुरुपदबोध्यः अपि व्यथया युद्धेऽसाफल्यजन्यया पीडयाऽपि गुरुः गुरुव्यथः सन् , त्रिभिः एव रथाश्वपदातिभिः (गजानां भीमेन संहृतत्वात्त्रि-भिरङ्गैरित्युक्तम्) विरलितेन स्वल्पीभूतेन बलेन सैन्येनानुगम्यमानः अनुस्त्रियमाणः सन् , तादात्विकं तात्कालिकं मनोरथम् युधिष्ठिरग्रहणरूपम् इव दूष्यताम् असफल-तया निन्दापात्रत्वम् उपगतम् दूष्यतामुपगतं दूष्यत्वेन प्रसिद्धम् पटमण्डपात्मकम् आवासं शिविरं शनैः शनैः आवव्रृते परावृत्तः । 'अरुणो भास्करेऽपि स्याद् वर्णभेदे स तु त्रिषु' इति ॥

इसके नामसे अरुणतेज सूर्यके सन्ध्यारागसे भी अरुण रक्ताभ हो जाने पर द्रोणने—जो नामसे भी गुरु कहाते हैं और उस समय युद्धमें सफलता नहीं पा सकनेकी व्यथासे भी गुरु–भारी हो रहे थे, तीन ही अङ्गों—अश्व, रथ, पदातियोंके रह जानेके कारण स्वल्पीभूत सैन्यके साथ दूष्यता असफलत्वेन निन्द्यताको प्राप्त युधिष्ठिरग्रहणमनोरथके सदृश दूष्यता प्राप्त–दूष्यशब्दसे प्रथित–अपने आवेशमें शिविरमें प्रवेश किया । तीन ही अंग बच रहे थे, इसका अभिप्राय यह है एक अंग, गज तो भीम द्वारा संहृत हो चुका था ॥

शिबिरमेत्य तदैव सुयोधनः शितशरव्रणमोचितकञ्चुकम् ।
मृदुलमञ्चगतं कलशोद्भवं विरचिताञ्जलिरेवमभाषत ॥ ३१ ॥

शिबिरमिति । तदैव द्रोणागमनसमय एव सुयोधनः दुर्योधनः शिबिरम् द्रोणा-वासम् एत्य आगत्य विरचिताञ्जलिः बद्धकरपुटः सन् शितानां तीक्ष्णानां शराणां बाणानां ये व्रणाः क्षतानि तेभ्यः मोचितः प्रयत्नेन पृथक्कृतः कञ्चुकः कवचं येन तं तथोक्तम् मृदुलमञ्चगतं कोमलशयनशयितं कलशोद्भवं द्रोणम् एवं वक्ष्यमाणदिशा अभाषत । युद्धादागत्य व्रणितेभ्यो गात्रेभ्यो महता कष्टेन कवचमपनीय व्रणयुत-गात्रतया कठोरे आसने उपवेष्टुमशक्यतया कोमलशयनशयितं द्रोणमुपगम्य कृता-ञ्जलिर्दुर्योधन एवमभाषतेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

जभी द्रोण अपने शिविरमें आये कि दुर्योधन वहाँ आया, द्रोणने बाणव्रणयुक्त शरीर परसे किसी प्रकार कवच उतार कर रखा और कोमल शय्या पर लेट गये, तब हाथ जोड़कर दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

महारथ ! त्वं मम वाञ्छितद्रुं फलेग्रहिं न प्रतनोषि यस्मात् ।
कृपेति शब्दोऽपि बभूव नूनं ह्रस्वस्त्वयि श्याल इव त्वदीये ॥ ३२ ॥

१. 'तादात्विकमनोरथम्' । इति पा० ।

महारथेति । हे महारथ, वीरवर आचार्य द्रोण, त्वं यत् यस्मात् कारणात् मम दुर्योधनस्य वाञ्छितद्रुं युधिष्ठिरग्रहणरूपमनोरथवृक्षं फलेग्रहिं सफलं न करोषि, युधिष्ठिरं जीवग्राहं गृहीत्वा नमेऽर्पयसि (तत् तस्मात्) कृपा इति शब्दः त्वदीये श्याले कृपाचार्ये शारद्वते इव त्वयि अपि 'कृपा' इतिशब्दस्तदर्थो दयारूपः ह्रस्वः, अदीर्घाक्षरः स्वल्पश्च बभूव किम्? अयमाशयः—यत्त्वं मम मनोरथं न सफलयसि तेन तव कृपा मयि ह्रस्वा अल्पा जातेति सम्भावयामि, यथा तव श्याले 'कृप' इति प्रथिते कृपाशब्दो ह्रस्वो जातस्तथैव मद्विषयेऽपि तव कृपा ह्रस्वतां स्वल्पतां गता किम्? इति ॥ ३२ ॥

हे महारथ आचार्य, यदि आप हमारे मनोरथ युधिष्ठिरका ग्रहणरूप वृक्षको सफल नहीं बनाते हैं, तो मुझे मालूम पड़ता है कि आपकी कृपा मुझपर ह्रस्व-थोड़ी हो गई है, जैसे आपके साले 'कृप' के नाममें कृपा शब्द ह्रस्व, हो गया है ॥ ३२ ॥

भगवन्! [1]त्वमिदं सावधानेन चेतसा स्मरणपथमधिरोपय ।

भगवन्निति । हे भगवन् पूज्य आचार्य, त्वम् इदं वक्ष्यमाणं वस्तु सावधानेन अवहितेन चेतसा स्मरणपथमधिरोपय स्मरणपथं प्रापय स्मर इत्यर्थः ।

भगवन् गुरुदेव, आप उस बातको इस समय सावधानीसे स्मरण करें— ॥

पितामहः सोऽपि पृषत्कतल्पे वपुर्निजं माधवमन्तरङ्गे ।
तवैव हस्ते मम कार्यसिद्धिं कृत्वा [2]हि धाम स्वमियेष गन्तुम् ॥ ३३ ॥

पितामह इति । सः लोकैकवीरः पितामहः भीष्मः अपि निजं वपुः स्वशरीरं पृषत्कतल्पे शरशय्यायाम्, अन्तरङ्गे हृदये माधवम् लक्ष्मीकान्तम्, मम कार्यसिद्धिं जयरूपां सफलतां तवैव त्वन्मात्रस्य हस्ते कृत्वा निधाय स्वं धाम परमं धाम ब्रह्म गन्तुमियेष मोक्षं प्राप्तुमिच्छति स्म । भीष्मः शरशय्यायां शयानो मनसा च हरिं ध्यायन्मम भारं भवत्येवारोप्य निर्वृतिं गतस्तत्पूर्त्तये भवतावश्यं यतनीयं, 'संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते' इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भीष्मपितामहने मरनेके समय अपने शरीरको शरशय्यापर रखा, भगवान् रमाकान्तको अपने मनमें रखा और हमारे कार्यकी सिद्धिका भार आपको सौंपा, तब अपने परम धाम ब्रह्मको पानेकी इच्छा की ॥ ३३ ॥

तमेतं दयमानेन समेतं शोकसंपदा ।
ऊचेऽथ गुरुणा तेन नीचेतरगुणाब्धिना ॥ ३४ ॥

तमेतमिति । शोकसम्पदा अतिशोकेन समेतम् युक्तम् तम् तथा प्रार्थयमानम् एतं दुर्योधनम् नीचेतरे महान्तो ये गुणाः दयादाक्षिण्यगाम्भीर्यादयस्तेषामब्धिना

१. भगवन्निदमिदानीं स्मरणपथमधिरोपय चेतसा सावधानेन'। २. 'च'। इति पा०।

सागरेण आश्रयभूतेन दयमानेन दयाशीलेन गुरुणा द्रोणाचार्येण एवं वक्ष्यमाणरूपम् ऊचे उच्यते स्म। अतिशोकयुक्तं तथा प्रार्थयमानञ्च सुयोधनं गुणसागरो दयालुश्च द्रोण एवमुवाचेत्यर्थः॥ ३४॥

शोकसमृद्धिसे युक्त तथा उक्तरूपसे प्रार्थना करनेवाले सुयोधनके प्रति महान् गुण, शौर्य, दाक्षिण्य आदिके सागर तथा दयालु द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा॥ ३४॥

बाष्पातिवृष्टावपि पाण्डवानां पाथोरुहव्यूहवितीर्णमोदान्।
प्रातः श्व एवाखिलधार्तराष्ट्रान् संचारयेयं युधि वाहिनीषु॥ ३५॥

बाष्पातिवृष्टावपीति। पाण्डवानां युधिष्ठिरादिपाण्डुपुत्राणां बाष्पस्य दुःखाश्रुणः अतिवृष्टौ अतिशयितवर्षणे सत्याम् जायमानायाम् अपि (पाण्डवेषु सैन्यसंरक्षयात्स्वप्रभावस्याकिञ्चित्करत्वाद्रुदत्स्वपि) पाथोरुहव्यूहवितीर्णमोदान् पद्मव्यूहनामकसेनासन्निवेशविरचनेन दत्तानन्दान् कमलकुलदर्शनेनानन्दमग्नांश्च अखिलान् सर्वान् धार्त्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रपुत्रान्भवतो दुर्योधनादीन् हंसभेदांश्च श्वः आगामिनि दिवसे प्रातः प्रभाते एव युधि समरे वाहिनीषु सेनासु नदीषु च सञ्चारयेयम् प्रचारयुतान् कुर्याम्। अतिवृष्टौ नदीषु कमलानां निपातो धार्त्तराष्ट्राणामसञ्चारश्च जायते, तद्विपरीतं करिष्यामि, रुदत्स्वपि पाण्डवेषु निर्भयान्भवतः सर्वतः सेनायां चारयिष्यामीति च। 'धार्त्तराष्ट्रोऽसिते हंसे धृतराष्ट्रसुतेऽपि च', 'सेनानद्योस्तु वाहिनी', 'व्यूहस्तु बलविन्यासे निर्वाणे वृन्दतर्कयोः' इति क्रमशो विश्वामरौ। श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ३५॥

पाण्डवोंके वाष्प-रुदनकी अतिवृष्टिके होते रहनेपर भी पद्मव्यूहकी रचनासे आनन्दित होनेवाले धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनादिकोंको कल प्रातःकाल युद्धमें सारी सेनामें घुमा दूँगा, अति वृष्टि होते रहनेपर भी कमलकुल देखकर आनन्दमग्न हंसोंको कल प्रातःकाल सारी नदियोंमें सञ्चारयुक्त बना दूँगा। कल मैं पद्मव्यूहकी रचना करूँगा, जिसे देखकर सभी पाण्डव रो उठेंगे, क्योंकि उसे तोड़ना उन्हें नहीं आवेगा, आप लोग प्रसन्न होकर सारी सेनामें घूमें॥ ३५॥

इति गिरा तमाश्वास्य राजानं सदनाय विसृष्टवतो मुहुर्मुहुरर्जुनस्य सव्यसाचित्वशैलीमनुचिन्त्य हृदि रणरणिकामनणीयसीं बिभ्राणस्य द्रोणस्य सकाशाद्विनिर्गतां निद्रासखीं विचेतुमिव सा निशापि तरसा निरगात्॥

इति गिरेति। इति गिरा प्रागुक्तप्रकारेण वचसा तं राजानं दुर्योधनम् आश्वास्य धैर्यवन्तं कृत्वा सदनाय गृहं गन्तुं विसृष्टवतः अनुमतिं दत्तवतः (द्रोणस्य) मुहुः

१. 'पयोरुह'। २. 'प्रचारयेयम्'। ३. 'अनुविचिन्त्य'। इति पा०।

मुहुः पुनः पुनः अर्जुनस्य सव्यसाचित्वशैलीम् हस्तद्वयेनापि बाणप्रयोगप्रावीण्यम् अनुचिन्त्य स्मृत्वा हृदि स्वचित्ते अनणीयसीं महतीम् रणरणिकां सन्तापं बिभ्राणस्य धारयतः द्रोणस्य सकाशाद् समीपात् विनिर्गतां दूरीभूतां निद्राख्याम स्वसखीम् विचेतुम् अन्वेषयितुं इव सा निशा अपि तरसा वेगेन निरगात् निरयासीत् निर्गता । दुर्योधनमेवं समाश्वास्य गृहं प्रति प्रेषितवतो द्रोणस्य हृदये पार्थस्य सव्यसाचित्वस्मरणेन प्रवृद्धया चिन्तया दूरं गता निद्रा, स्वसखीं तामन्वेष्टुमिव निशाप्ययासीत्, अक्ष्णोरेव तस्य प्रयाता रजनीति भावः ॥

इस प्रकारके वचनसे दुर्योधनको आश्वासन देकर द्रोणने उसे घर भेज दिया, उसके बाद जब उन्होंने अर्जुनका सव्यसाचित्व-दोनों हाथोंसे बाण चलानेकी क्षमता-का स्मरण किया तब उनको बड़ा सन्ताप हुआ और उनकी आँखोंकी नींद दूर भाग गई, उसी निद्रारूप अपनी सखीको खोजने रात भी वेगसे निकल गई ॥

अपरेद्युरसौ वृतो बलौघैरथ भेरीनिनदैर्नभो विभिन्दन् ।
कवची विशिखी रथी शरासी कलशीसूनुरवाप युद्धभूमिम् ॥ ३६ ॥

अपरेद्युरिति । अपरेद्युः तत्परवर्त्तिनि दिवसे असौ कलशीसूनुः द्रोणाचार्यः कवची धृतकवचः, विशिखी बाणधारी, रथी रथारूढः, शरासी धनुर्धरश्च भूत्वा बलौघैः सैन्यसमूहैः वृतः वेष्टितः, भेरीनिनदैः जयदुन्दुभिध्वानैः नभः आकाशं विभिन्दन् द्विधा विपाटयन् युद्धभूमिम् रणक्षेत्रम् अवाप । कृतसर्वसन्नाहः पद्मव्यूहरचनायै युद्धभूमिं गत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन कवच धारण किये, बाणोंको सँभाले, रथारूढ एवं धनुषधारी द्रोणाचार्य सैन्य समुदायसे वेष्टित होकर विजयदुन्दुभिनादसे आकाशका भेदन करते हुए युद्धक्षेत्रमें पहुँचे ॥ ३६ ॥

द्रोणस्य सेनाचलधूलिपाली क्षोणेस्तु नग्नंकरणी बभूव ।
घटाथ तस्याः कटदानपूरैः पटं पुनः संघटयांचकार ॥ ३७ ॥

द्रोणस्येति । द्रोणस्य द्रोणाचार्यस्य सेनाभ्यः चलति उत्तिष्ठतीति सेनाचला धूलिपाली रजःपटली सेनासमुत्थापितरजोराशिः तदा तस्मिन् समये तु क्षोणेः पृथिव्याः नग्नङ्करणी विवस्त्रतासम्पादनी आसीत् । तस्मिन्समये द्रोणसेनोत्थापिता रजःपटली समुद्रशोषणद्वारा पृथिव्या नग्नतां जनयतिस्म, समुद्रवसना हि धरणी, समुद्रेषु शुष्यत्सु नग्ना भवतीति भावः । अथ अनन्तरं तस्याः द्रोणसेनायाः घटा गजपङ्क्तिः कटदानपूरैः कुम्भदानवारिप्रवाहैः (पृथ्व्याः) पटं समुद्रं पुनः भूयः सङ्घटयांचकार वर्धयामास, सेनागजततिभिर्मुक्ताभिर्दानवारिधाराभिः पुनरपि पृथ्वीपटरूपः सागरः समैधतेति तात्पर्यम् । पूर्वरूपातिशयोक्त्योः सङ्करोऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

---

१. 'युद्धरङ्गम्' । इति पा० ।

द्रोणाचार्यकी सेनासे उड़ी हुई धूली-पटलीने उस समय पृथ्वीकी नग्नता उत्पन्न कर दी, समुद्र ही पृथ्वीका वस्त्र होता है, सेनोत्थित धूलने समुद्रको शुष्क कर दिया, पृथ्वी विवस्त्र हो गई, फिर तुरत उस सेनाके गजोंकी पङ्क्तिके कुम्भस्थलसे प्रवाहित होनेवाली दानवारि-धाराने पृथ्वीके वस्त्रसागरको सङ्घटित कर दिया, यथावस्थित सागर बनाकर पृथ्वीकी नग्नता दूर करके उसकी लाज रख ली ॥ ३७ ॥

आश्चर्यस्थूललक्षं[1] तदनु दिविषदामन्तरिक्षस्थितानां[2]
क्षोणीन्द्राणां रिपूणामसुमृगहरणे कूटयन्त्रायमाणम् ।
गन्धर्वैः केसराढ्यैर्मदमधुभिरिभैः केतुपत्रैः शताङ्गैः
पद्मव्यूहं व्यतानीत्प्रधनभुवि गुरुः सांयुगीनाग्रगण्यः ॥ ३८ ॥

आश्चर्येति । तदनु युद्धस्थलप्राप्त्यनन्तरम् सांयुगीनेषु युद्धप्रवीणेषु अग्रगण्यः प्रथमो मुख्यो गुरुः द्रोणाचार्यः प्रधनभुवि रणाङ्गणे अन्तरिक्षस्थितानां युद्धदर्शन-लालसतयाऽऽकाशेऽवतिष्ठमानानां दिविषदां देवानाम् आश्चर्यस्य विस्मयस्य स्थूलक्षम् मुख्यं प्रदातारम् अतिविस्मयजनकम् , रिपूणां शत्रुपक्षगतानां क्षोणीन्द्राणां पृथ्वीपतीनाम् असवः प्राणा एव मृगाः तेषां हरणे अपनयने कूटयन्त्रायमाणम् वागुरायन्त्रवत्प्रतीयमानम् , केसराढ्यैः ग्रीवागतकेशयुतैः गन्धर्वैः अश्वैः, मदो दानवारि मधुमकरन्दो येषु तैः इभैः गजैः, केतुपत्रैः पताकापटरूपपत्रयुतैः शताङ्गै रथैश्च पद्मव्यूहं कमलाकृतिसेनाविन्यासम् व्यतानीत् कृतवान् । कमले केसरमधुपत्राणि भवन्ति, अत्र सेनाव्यूहे केसरस्थाने केसरयुताश्वाः, मकरन्दस्थाने मदयुतकरिणः, पत्रस्थाने च ध्वजयुता रथाः क्रियन्तेस्म । तदेवं पद्मव्यूहरचना द्रोणेन कृता या देवानां विस्मयं प्राधान्येन जनयन्ती शत्रुभूपतीनां प्राणमृगहरणे जालकार्यमकृतेति तात्पर्यम् ॥ 'केसरोऽस्त्री स्कन्धलोम्नि किञ्जल्के वकुलेऽपि च' इति वैजयन्ती । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वाः' इति यादवश्च ॥ ३८ ॥

युद्धस्थलमें पहुँचनेके बाद वीराग्रगण्य द्रोणाचार्यने युद्ध देखनेकी इच्छासे आकाशमें इकट्ठे हुए देवोंके लिये मुख्यतया विस्मयावह, शत्रुपक्षगत नृपोंके प्राणरूप हरिणोंको खींच निकालनेमें जालका काम करनेवाला, घोड़ेरूप केसर, मदगजरूप मकरन्द तथा ध्वजपट-युत रथरूप पत्रोंसे युक्त पद्मव्यूह बनाया । सेनाको पद्माकारमें सन्निवेशित किया, पद्ममें केसर, मकरन्द और पत्ते होते हैं, सेनामें घोड़े केसरकी, हाथी मकरन्दकी तथा रथगण पत्ते की जगहपर सन्निवेशित किये गये थे ॥ ३८ ॥

समयेऽत्र[3] निशम्य वैरिवृत्तं तपसः सूनुरभाषताभिमन्युम् ।
अयि वत्स ! पिताऽन्यतोऽधुना ते तव भारोऽजनि सर्वसैन्यरक्षा ॥३९॥

१. 'लक्ष्यम्' । २. 'अन्तरिक्षे स्थितानाम्' । ३. 'अत्र निवेद्य'; 'प्रतिपद्य' । इति पा० ।

समयेऽत्रेति । अत्र अस्मिन् समये तपसः धर्मस्य सूनुः पुत्रो युधिष्ठिरः वैरिणां शत्रूणां वृत्तं पद्मव्यूहविरचनवृत्तान्तं निशम्य श्रुत्वा अभिमन्युं नामार्जुनपुत्रम् अभाषत वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान्, अयि वत्स, हे पुत्र, अधुना सम्प्रति ते तव पिताऽर्जुनः अन्यतः अन्यत्र गतः, संशप्तकयुद्धे गतः, अतस्तदनुपस्थितौ सर्वसैन्यरक्षा सकलपाण्डवसेनापरित्राणम् ते तव भारः कार्यम् अजनि जातः, पितुरनुपस्थितौ पुत्रेण त्वया सर्वा सेना रक्षणीयेति भावः ॥ ३९ ॥

इस समय जब धर्मराजको शत्रुओं द्वारा पद्मव्यूह बनाये जानेकी खबर मिली तब उन्होंने अभिमन्युसे इस प्रकार कहा—हे पुत्र अभिमन्यु, तुम्हारे पिता अर्जुन संशप्तकोंसे लड़ने दूसरी जगह चले गये हैं, इस समय सारी सेनाकी रक्षाकी जबाबदेही तुम्हारे ऊपर आ पड़ी है ॥ ३९ ॥

कवचं प्रतिमुञ्च धत्स्व चापं भज धैर्यं परितो विधेहि योधान् ।
अधिरोह शताङ्गमाविश त्वं कमलव्यूहमरीन्निषूदयस्व ॥ ४० ॥

कवचमिति । कवचं वर्म प्रतिमुञ्च धारय, चापं धनुः धत्स्व करे स्थापय, धैर्यं गभीरभावं भज गृहाण, योधान् भटान् परितो विधेहि यथोपयुक्ते स्थाने नियतीकुरु, शताङ्गम् रथम् अधिरोह आरूढो भव, (इत्थं सन्नद्धः) त्वम् कमलव्यूहं पद्माकारं शत्रुसैन्यविन्यासम् आविश प्रविश, अरीन् शत्रून् निषूदयस्व घातय ॥ ४० ॥

कवच पहन लो, धनुष हाथमें लो, धीरज धारण करो, अपनी रक्षाके लिये चारो ओर सेनाओंको यथोचितरूपमें सन्निवेशित कर दो, रथपर चढ़कर पद्मव्यूहमें पैठो और शत्रुओं का संहार करो ॥ ४० ॥

इति राज्ञो निदेशं मौलिदेशे निवेश्य योद्धुं प्रतिष्ठमाने जयनिःसाणभेरीपटहपणवाद्यैर्[1]वाद्यैर्गगनशायिने गुणाय सौखशायनिकायमाने[2] लीलया कमलव्यूहमवगाह्य[3] बालेऽपि स्वयमेकाकिनि निजकोदण्डचण्डिमसंपदा कौरवचमूं क्षोभयमाणे[4] तस्मिन्सौभद्रे सिन्धुपतिर्व्यूहमुखं पिधाय स्मरहरवरलाभदर्पेण तदनुधाविनीं पाण्डववाहिनीं क्रुधा रुरुधे ॥

इति राज्ञ इति । इति पूर्वोक्तरूपम् राज्ञो युधिष्ठिरस्य निदेशम् आज्ञाम् मौलिदेशे निवेश्य शिरसि स्थापयित्वा सादरं स्वीकृत्य योद्धुं युद्धं कर्त्तुं प्रतिष्ठमाने चलति (अभिमन्यौ) जयनिःसाणभेरीपटहपणवाद्यैः विजयवाद्यभूतदुन्दुभिपटहपणवादिभिः वाद्यैः गगनशायिने आकाशवर्त्तिने गुणाय शब्दाय सौखशायनिकायमाने सुखशयनप्रश्नं कुर्वति तान्नुद्बोधयति आकाशगुणं शब्दं स्वविजयदुन्दुभिर-

---

१. 'पणवाद्यैर्गगन' । २. 'शायि' । ३. 'पद्मव्यूहगर्भम्' । ४. 'क्षोभयमाणे सौभद्रे' । इति पा० ।

वेण प्रबोधयति—कमलव्यूहम् पद्माकारावस्थितं सेनासन्निवेशम् लीलया अवगाह्य अनायासं प्रविश्य बाले अपूर्णषोडशवर्षेऽपि स्वयम् आत्मना एकाकिनी सहायान्तरनिरपेक्षे निजकोदण्डचण्डिमसम्पदा स्वचापगतोग्रतासमृद्धया स्वधनुषः पराक्रमेण कौरवचमूं कौरवसैन्यं क्षोभयमाणे व्याकुलीकुर्वति सति तस्मिन् प्रकटपराक्रमे सुभद्रातनये सौभद्रेऽभिमन्यौ सिन्धुपतिः जयद्रथः व्यूहमुखं व्यूहप्रवेशमार्गम् पिधाय अवरुध्य स्मरहरवरलाभदर्पेण महादेवसकाशाल्लब्धस्य वरस्य गर्वेण तदनुधाविनीं सौभद्रपृष्ठचरीं पाण्डववाहिनीं पाण्डवसेनां क्रुधा रुरुधे निवारितवान्। समुद्रो वाहिनीं रुणद्धीति प्रसिद्धम् ॥

इस प्रकारकी युधिष्ठिराज्ञाको सादर स्वीकार करके अभिमन्यु युद्ध करने चला, उस समय विजयवाद्य भेरी, पटह, पणव आदि बजने लगे. उन वाजोंके शब्दोंने आकाशमें अवस्थित गुण शब्दको सुखशयनिका पूछी, सोतेसे जगाया, आकाशमें शब्दोंको प्रोद्बोधित किया, अभिमन्युने एकाकी बालक होकर भी पद्मव्यूहमें प्रवेश करके अपने धनुषके उग्रतातिशयसे कौरव-सेनाको व्याकुल कर दिया, तब सिन्धुपति जयद्रथने व्यूहके मुख-प्रवेश मार्गको रोक लिया, और महादेव द्वारा दिये गये वरदानके गर्वसे जयद्रथने अभिमन्युके साथ आनेवाली पाण्डव-सेनाको क्रोधपूर्वक रोक लिया। भेरी-गजवाद्य, पटह-अश्ववाद्य और पणव-नरवाद्य वाद्य होते हैं ॥

उद्यद्भिर्युद्धरङ्गादपि सुरवनितापुष्पवर्षोत्पतद्भि-
वेगाल्लग्नैः परागैर्दृढतरघटिते चक्षुषां पद्मयुग्मे।
स्थित्वा मध्येन्तरिक्षं विजयसुतभुजागर्वलीलायितानि
द्रष्टॄणां खेचराणां भृशमनिमिषता तत्क्षणं भङ्गुरासीत्[1] ॥४१॥

उद्यद्भिरिति। मध्येऽन्तरिक्षम् आकाशमध्ये स्थित्वा अवस्थाय विजयसुतस्य अर्जुनपुत्रस्याभिमन्योः भुजागर्वलीलायितानि बाहुबलगर्वविक्रीडितानि द्रष्टॄणां पश्यताम् खेचराणां देवानां चक्षुषां नेत्राणां पद्मयुग्मे पलकयुगले युद्धरङ्गात् रणक्षेत्रात् उद्यद्भिः ऊर्ध्वमुत्पतद्भिः सुरवनितापुष्पवर्षात् देवाङ्गनाकृतकुसुमवृष्टेः पतद्भिः अधो गच्छद्भिः वेगात् लग्नैः संसक्तैः परागैः भूरजोभिः कौसुमैश्च रजोभिः दृढतरघटिते परस्परं मिलिते सति तत्क्षणं तत्र समये अनिमिषता निर्निमेषता भृशं भङ्गुरा नष्टा आसीत् अजायत। यद्यपि देवा अनिमिषनयना तथापि तस्मिन् समये सेनाभिरुद्धतानि भूरजांसि उत्पतितानि सन्ति तेषामधःपक्ष्म निविडीचक्रुः, देवबालावृष्टकुसुमपतद्रजांसि चोर्ध्वपक्ष्म निविडयामासुः, तदेवमुभयोः पक्ष्मणोः परागनिविडतया परस्परसंसक्तयोः सतोः आकाशेऽवस्थितानां युद्धद्रष्टॄणां देवानां नेत्राणि सनिमेषाण्यजनिषतेति भावः। देवानामनिमिषत्वभङ्गासम्बन्धेऽपि तत्सम्ब-

१. 'भङ्गुराभूत्'। इति पा०।

न्धाभिधानादतिशयोक्तिः, परागसङ्गपक्ष्मयुगघटनयोर्हेतुहेतुमतोरुक्त्यात्मको हेत्वलङ्कारश्च, तयोः अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४१ ॥

आकाशमें अवस्थित होकर देवगण अभिमन्युकी बहादुरी देख रहे हैं, उनकी आँखोंकी नीचेवाली पलकें युद्धक्षेत्रसे ऊपरकी ओर उड़नेवाली धूलिसे भर गईं और ऊपरवाली पलकें देवबालावर्षित कुसुमपरागोंसे भर गईं, भर जानेके कारण दोनों पलकें एक दूसरेसे सट गईं, फलतः उस समय देवगणकी अनिमिषनेत्रता मिट गई, उनकी पलकें झिप गईं ॥

शरशायितैर्द्विरदशैलमण्डलैर्विपुलैर्विधाय विषमां वसुंधराम् ।
पृथुचक्रवर्तिपृथुयत्नवैभवं वितथीचकार विजयस्य नन्दनः ॥ ४२ ॥

शरशायितैरिति । विजयस्य अर्जुनस्य नन्दनः पुत्रोऽभिमन्युः शरशायितैः बाणनिपातितैः विपुलैः बहुभिर्विशालैश्च द्विरदशैलमण्डलैः गजरूपपर्वतसमूहैः वसुंधरां धरणीं विषमां नतोन्नतां विधाय पृथुनाम्नश्चक्रवर्त्तिनो राज्ञः पृथु यत्नवैभवं महान्तं धरणीसमीकरणप्रयासं वितथीचकार व्यर्थयामास । विष्णवंशभूतेन राज्ञा पृथुना वैन्येन पृथिवीं पर्वतैर्नतोन्नतां दृष्ट्वा प्रजानिवासार्थमियमसमीचीनेति मत्वा धनुष्कोट्या पर्वतान्दूरीकृत्य धरा समीकृता, अयं पुनर्युद्धे हस्तिनः शैलसमाकारान् पातयित्वा धरणीं विषमां विधाय पृथोः प्रयासं व्यर्थमकृतेति तात्पर्यम् । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अर्जुनपुत्र अभिमन्युने बाणद्वारा पृथ्वीपर सुला दिये गये हाथीरूप विशाल पर्वतोंसे पृथ्वीको फिरसे निम्नोन्नत बनाकर पृथुनामक राजाके धरणीसमीकरण-विषयक महाप्रयासको व्यर्थ कर दिया, पृथुने बड़े यत्नसे पृथ्वीको सम बनाया था, अभिमन्युने पर्वत समान हाथियोंको मार-मारकर उनसे जमीनको नतोन्नत-विषम-बनाकर पृथुके प्रयास बेकार कर दिये ॥ ४२ ॥

पार्थात्मजो भानुसुतस्य सामि भित्त्वा शताङ्गं शितभल्लवृष्ट्या ।
पितामहोक्तं कुरुवीरगोष्ठ्यां तथ्यं चकारार्धरथत्वमस्य ॥ ४३ ॥

पार्थात्मज इति । पार्थात्मजः अर्जुनसुतोऽभिमन्युः शितभल्लवृष्ट्या तीक्ष्णानां बाणभेदानामनारतप्रहारेण भानुसुतस्य सूर्यपुत्रस्य कर्णस्य रथं सामि अर्धं भित्त्वा छित्त्वा कुरुवीरगोष्ठ्याम् दुर्योधनस्य सभायाम् अस्य कर्णस्य पितामहोक्तं भीष्मप्रतिपादितम् अर्धरथत्वम् अर्धरथोऽयं कर्ण इति भीष्मकथनं तथ्यं यथार्थं चकार । भीष्मेण दुर्योधनगोष्ठ्यां निन्दाप्रसङ्गे कर्णस्यार्धरथत्वमुक्तं, सम्प्रति छिन्नेऽर्धे रथस्य कर्णो यथार्थ एवार्धरथोऽजनि तन्मन्ये पितामहोक्तं सत्यं विधातुमेवाभिमन्युस्तथाऽचेष्टतेति भावः ॥ ४३ ॥

---

१. 'च्छित्त्वा' । २. 'कुरुराजगोष्ठ्यां' । इति पा० ।

अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने तीखे बाणोंकी वृष्टि करके सूर्यपुत्र कर्णके रथका आधा हिस्सा खण्डित करके कुरुराजकी सभामें भीष्म पितामहद्वारा कहे गये कर्णके अर्धरथत्वको यथार्थ सिद्ध कर दिया। उन्होंने जो कर्णकी निन्दामें अर्धरथका कलङ्क लगाया था उसे साबित कर दिखलाया ॥ ४३ ॥

[1]अथाभिमन्युर्धृतभूरिमन्युर्द्रौणिं [2]तदीर्ष्यास्मितकान्तिलक्ष्यात् ।
बाल्ये [3]निपीतानपि पिष्टसारानुग्रैः शरैरुद्वमयांचकार ॥ ४४ ॥

अथेति। अथ कर्णरथार्धच्छेदनानन्तरं धृतभीममन्युः आश्रितभयानकक्रोधः अभिमन्युः उग्रैः दारुणैः शरैः स्वबाणैः द्रौणिम् द्रोणपुत्रम् अश्वत्थामानम् तस्य अश्वत्थाम्नः ईर्ष्यास्मितस्य अभिमन्युविक्रमासहनजनितहासस्य कान्तेः धवलताया लक्ष्यात् मिषात् बाल्ये स्वशिशुत्वे पीतान् अपि पिष्टसारान् जलमिश्रीकृततण्डुलचूर्णानि उद्वमयाञ्चकार उद्गारयामास। अभिमन्युशरप्रयोगेण यदश्वत्थामा ईर्ष्यास्मितमकुरुत, तत्कान्तिव्याजादभिमन्युरश्वत्थाम्ना बाल्ये निपीतान् दुग्धाभावे तत्प्रतिकृतीन् पिष्टसारान् वान्तिद्वारा बहिष्कर्तुं तं बाध्यं चक्रे इत्यर्थः। अपह्नुतिरलङ्कारः ॥ ४४ ॥

कर्णके रथके आधे भागका छेदन करनेके बाद भयानक कोप धारण करके अभिमन्युने द्रोणपुत्र अश्वत्थामापर दारुण बाणवृष्टि की, उन बाणोंके लगनेसे अश्वत्थामाने ईर्ष्याहास किया, उसकी कान्तिके छलसे अभिमन्युने लड़कपनमें अश्वत्थामा द्वारा पिये गये पिष्टसारका वमन सा करवा दिया, अश्वत्थामाको छठीके दूधकी याद करा दी ॥ ४४ ॥

सुतस्य शौर्यात्सुरराजसूनोरुदीर्णदिग्भ्रान्तिरुदारभीतिः ।
कृपस्वसुर्मङ्गलतन्तुनैव साकं चकम्पे स गुरुर्मुहूर्तम् ॥ ४५ ॥

सुतस्येति। सुरराजसूनोः इन्द्रपुत्रस्यार्जुनस्य सुतस्य पुत्रस्याभिमन्योः शौर्यात् वीरत्वातिशयात् उदीर्णदिग्भ्रान्तिः उत्पन्नदिग्भ्रमः उदारभीतिः सातिशयभययुक्तः सः चापाचार्यतया प्रथितो गुरुः द्रोणः कृपस्वसुः कृपाचार्यभगिन्याः द्रोणस्त्रियः कृप्याः मङ्गलतन्तुना माङ्गलिकसूत्रेण साकं सहैव मुहूर्त्तं क्षणं चकम्पे कम्पमाप। द्रोणाचार्यस्तादृशमभिमन्युपराक्रमं पश्यन् दिङ्मूढो भयभीतश्च सन् स्वस्त्रीबद्धाविपत्तिकरसूत्रं करे धारयन्नपि कम्पमनुभवतिस्मेति भावः। सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ४५ ॥

अर्जुनके पुत्र अभिमन्युकी बहादुरी देखकर चापाचार्य द्रोण दिग्भ्रममें पड़ गये, उन्हें बड़ा भय होने लगा कि न जानें क्या होनेवाला है, और इन्हीं चिन्ताओंके कारण कृपी द्वारा बाँधे गये मङ्गलसूत्रके साथही द्रोणाचार्य खुद भी कुछ देरके लिये काँप उठे ॥ ४५ ॥

---

१. 'अथो'। २. 'तदेर्ष्या'। ३. 'निपीतानिव'। इति पा०।

विशिखं मुमुक्षुमथ गौतमात्मजे
विबुधेन्द्रपौत्रमभिवीक्ष्य भीषणम्।
जनने विपद्यपि जना रणाङ्गणे
शर एव हेतुरिति तस्य मेनिरे॥ ४६॥

विशिखमिति। अथ गौतमात्मजे कृपाचार्ये भीषणं भयङ्करं विशिखं बाणं मुमुक्षुं प्रयोक्तुमिच्छन्तं विबुधेन्द्रपौत्रम् इन्द्रपुत्रस्य पुत्रम् अभिमन्युम् अभिवीक्ष्य दृष्ट्वा तस्य कृपाचार्यस्य जनने उत्पत्तौ विपदि मरणे अपि शरः शरकाण्डतृणभेदः बाणश्च हेतुः इति एवं जनाः मेनिरे निश्चिक्युः। यथाऽयं शरादजायत, तथैवायं शरेण विपद्यत इति लोकानां संभावनाभूदिति भावः। 'गौतमर्षेः रेतः शरस्तम्बे पपात, तस्मात्कृपी कृपश्चेति युग्ममुत्पन्नमिति महाभारते कथा वर्ण्यते॥ ४६॥

इसके बाद जब अभिमन्युने कृपाचार्यके ऊपर भयङ्कर बाण छोड़ना चाहा तब उसे देखकर लोगोंने तय कर लिया कि यह कृपाचार्य जैसे शरसे पैदा हुए हैं उसी तरह आज शरसे मरेंगे, लोगोंको निश्चय हो गया कि इस शरसे उनका त्राण नहीं है॥ ४६॥

आश्चर्यकर्मसु कृतेष्वपि हर्षभारा-
न्मोक्तुं मुहुर्मुहुरमुष्य शिरोजबन्धे।
दृष्टास्तदा सुमनसो दिवि कर्तृभूता
नाकेन्द्रनन्दनवने न तु कर्मभूताः॥ ४७॥

आश्चर्यकर्मसु इति। तदा तस्मिन्नभिमन्युयुद्धे (तेनाभिमन्युना) आश्चर्यकर्मसु द्रोणकम्पनकर्णरथच्छेदनाद्भुतकार्येषु कृतेषु अपि हर्षभारात् प्रसादातिशयात् अमुष्य अभिमन्योः शिरोजबन्धे केशे मुहुर्मुहुः मोक्तुम् वर्षितुम् पुष्पवृष्टिं कर्तुम् दिवि आकाशे कर्तृभूताः वर्षणक्रियाकर्तृत्वं गताः सुमनसो देवाः दृष्टाः, कर्मभूताः वर्षणक्रियाकर्मत्वभाजो वर्षणकर्माणि सुमनसः पुष्पाणि तु नाकेन्द्रनन्दनवने इन्द्रस्य नन्दननामके उद्याने न दृष्टाः, सर्वासां सुमनसां पूर्वमेवाभिमन्योरुपरि वृष्टत्वेन नन्दनवने सर्वथा पुष्पराहित्यमजायत, केवलं पुष्पवर्षका देवा दृश्यन्त। वर्षणकर्त्तारः सुमनसो दृश्यन्ते स्म, वर्षणकर्माणि सुमनसस्तु नन्दने न दृश्यन्तेस्मेत्युक्तिभङ्गी चमत्कारजननी। 'सुमनाः पुष्पमालत्योस्त्रि देवे कोविदेऽपि च' इति विश्वः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ ४७॥

अभिमन्युने युद्धमें द्रोण-कम्पोत्पादन, कर्ण-रथभञ्जन आदि बहुतसे आश्चर्यजनक कार्य किये, उसके सिरपर पुष्पवृष्टि करनेके लिये अब नन्दन वनमें वृष्टिमें कर्म बननेवाले सुमन नहीं बच रहे थे, सभी फूल इससे पहले ही उसके ऊपर बरसाये जा चुके थे, हाँ पुष्पवृष्टिके कर्त्ता सुमन-देवगण-अवश्य आकाशमें मौजूद थे॥ ४७॥

अमुष्य कोदण्डमखण्डयद्रवेः सुतो रथाश्वान्प्रममाथ कुम्भजः ।
कृपः क्रुणत्ति[1] स्म जवेन सारथिं व्यपाटयत्केतुपटं[2] गुरोः सुतः ॥४८॥

अमुष्येति । अथ रवेः सुतः कर्णः अमुष्य अभिमन्योः कोदण्डं चापम् अखण्डयत् चिच्छेद, कुम्भजः द्रोणाचार्यः रथाश्वान् रथवाहान् प्रममाथ नाशयाञ्चकार, कृपः कृपाचार्यः जवेन त्वरया सारथिं सूतं कृणत्ति छिनत्ति स्म, गुरोः सुतः द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा केतुपटं रथध्वजवस्त्रं व्यपाटयत् विदलितवान् । एवं सर्वे सहभूय तमाचक्रमुः एतेनाभिमन्योरेकैकाजेयता ध्वनिता ॥ ४८ ॥

इसके बाद जब कौरव-पक्षके योद्धाओंने देखा कि एक एक कर लड़नेपर यह हाथ नहीं आयेगा तब सभी मिलकर अन्याययुद्ध पर उतर आये, और तब कर्णने अभिमन्यु का चाप काट डाला, द्रोणने रथाश्वोंको मार गिराया, कृपाचार्यने जल्दीसे सारथिका नाश कर दिया और द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने ध्वजपटको नष्ट कर दिया ॥ ४८ ॥

एकाकिनः परिभवाय बहून्प्रवृत्ता-
नेतानवेक्ष्य निखिलोऽपि निलिम्पवर्गः ।
मन्दारशाखिकुसुमानि यथाभिमन्यौ
निन्दारवान्[3]रिपुषु तस्य तथाभ्यवर्षत् ॥ ४९ ॥

एकाकिन इति । एकाकिनः सहायान्तररहितस्याभिमन्योः परिभवाय अन्याययुद्धद्वाराऽभिभवाय प्रवृत्तान् उद्युक्तान् एतान् बहून् नानासंख्यान् द्रोणकर्णादीन् अवेक्ष्य दृष्ट्वा निखिलोऽपि निलिम्पवर्गः देवगणः यथा अभिमन्यौ मन्दारशाखिकुसुमानि कल्पवृक्षप्रसूनानि अभ्यवर्षत् अपातयत् तथा तस्याभिमन्योः रिपुषु द्रोणादिषु निन्दारवान् धिक्कारशब्दान् अपातयत् । एकेन सह युध्यमानान् द्रोणादीन् दृष्ट्वा देवा अभिमन्युं पुष्पवृष्ट्या समाजयामासुः द्रोणादींश्च धिक्कारैरभर्त्संयन्नित्याशयः । समुच्चयस्तुल्ययोगिता चालङ्कारौ ॥ ४९ ॥

एकाकी लड़नेवाले अभिमन्युको अभिभूत करनेकी चेष्टामें तत्पर बहुतसे वीरों द्रोणादिकोंको देखकर देवोंने जिस तरह अभिमन्युपर कल्पवृक्ष-प्रसूनकी वर्षा की, उसी तरह द्रोणादिपर निन्दाशब्द-धिक्कार-की भी वर्षा की ॥ ४९ ॥

रथादवप्लुत्य गदासखस्तदा विदार्य बालो विजयात्मसंभवः ।
चकार मन्दाक्षभृतो न केवलं रथानमीषां युधि तानपि क्षणात् ॥५०॥

रथादिति तदा तस्मिन्समये विजयात्मसंभवः अर्जुनात्मजः बालः अप्रौढवयाः अभिमन्युः गदासखः गदापाणिः सन् रथात् भग्नाश्वसूतादकार्यकात् स्वस्यन्दनात् अवप्लुत्य वेगेनावरुह्य युधि युद्धे अमीषां द्रोणादीनाम् रथान् विदार्य त्रोटयित्वा

---

१. 'कृणति स्म शरेण' । २. 'पटान्' । ३. 'निन्दारव' । इति पा० ।

केवलं रथान् मन्दाक्षभूतः शिथिलीभूतचक्रान् न चकार, किन्तु क्षणात् अल्पकालात् तान् द्रोणादीन् अपि मन्दाक्षभूतः कथमसहायोऽयं बालः सर्वेषामस्माकं रथानभिनदिति लज्जायुतान् चकार। सर्वेषां तेषां रथान्विदार्य रथैः सह तान् अपि मन्दाक्षभूतश्चकारेति भावः। 'अक्षमिन्द्रियचक्रयोः' इति विश्वः। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ५० ॥

एकाकी बालक अभिमन्यु अपने मृताश्वसारथि रथसे कूदकर नीचे चला आया, गदा भर उसके पास थी, फिर भी उसने सभी विरोधी वीरोंके रथको तोड़कर केवल उनके रथोंको ही मन्दाक्षभूत्–शिथिल चक्रयुत नहीं बनाया, उन वीरोंको भी मन्दाक्षभूत्–लज्जायुक्त–बना दिया, उसकी वीरता तथा अपनी कुचेष्टाके ज्ञानसे वे सभी लज्जित हो उठे ॥५०॥

बालौ ततः कृतरणौ धृतराष्ट्रपौत्रौ
भीरू पृथग्गमनकर्मणि मन्यमानः ।
पार्थात्मजः स तु परस्परसाह्यवन्तौ
चक्रे कृतान्तपुरवर्त्मनि गन्तुमुग्रे[1] ॥ ५१ ॥

बालाविति। ततः तदनन्तरम् सः पार्थपुत्रः अभिमन्युः कृतरणौ अभिमन्युना सह कृतयुद्धौ बालौ धृतराष्ट्रपौत्रौ दुर्योधनदुःशासनसुतौ द्वौ पृथक् प्रत्येकम् गमनकर्मणि कृतान्तपुरगमने भीरू भयभाजौ मन्यमान इव उग्रे भयङ्करे कृतान्तपुरवर्त्मनि यमनगरमार्गे गन्तुं परस्परसाह्यवन्तौ अन्योन्यसहायौ चक्रे। बालाविमौ पृथक् पृथक् कृतान्तपुरस्य भयङ्करे मार्गे गन्तुं भयभाजौ स्यातामिति मत्वेवाभिमन्युस्तौ सहैव हत्वा परस्परसहायौ विधाय निर्भयं यमपुरवर्त्मनि गन्तुमनुदिदेशेति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ५१ ॥

इसके बाद अपने साथ लड़नेके लिये आये धृतराष्ट्रके दोनों पौत्रोंको अलग अलग भयङ्कर यमपुर मार्गमें चलनेमें भयभीत सा समझकर अभिमन्युने उन दोनोंका एकही साथ वध कर दिया, जिससे वे दोनों एकही साथ यमपुर चले जाँय, मार्गमें एकाकी जानेसे उन्हें भय न लगे ॥ ५१ ॥

अथ कर्णमुखा महारथास्ते मिलिताः कैतवमेत्य यौगपद्यात् ।
सुरनायकपौत्रमेनमस्त्रैः स्वयशोभिः सह पातयांबभूवुः ॥ ५२ ॥

अथेति। अथः कर्णमुखाः कर्णप्रधानास्ते महारथाः कर्णद्रोणजयद्रथकृपाश्वत्थामानः कैतवम् दुर्नीतिम् एकेन निरस्त्रेण समं सरथास्त्राणामनेकेषां सम्परायरूपं छलम् एत्य अङ्गीकृत्य यौगपद्यात् तुल्यकालम् मिलिताः परस्परसंहताः सन्तः एनम् सुरनायकपौत्रम् इन्द्रपुत्रस्यार्जुनस्य पुत्रम् अभिमन्युं स्वयशोभिः स्वकी-

---

१. 'गन्तुमग्रे'। इति पा० ।

त्तिभिः समं पातयांबभूवुः निपातयामासुः। कर्णादयो मिलिताः सन्तोऽभिमन्युं न्यपातयन्, बहुभिरेकस्य निपातमात्तेषामयशोऽपि जातमिति भावः। सहोक्तिरलङ्कारः, औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

इसके बाद कर्ण आदि सभी महारथगणने छलका आश्रय लेकर एक ही साथ लड़कर उस इन्द्रपौत्र अभिमन्युको धराशायी बना दिया, साथ ही उन्होंने अपनी कीर्त्ति भी खो दी। एक निहत्थे वीर पर सभी लोगोंने जो अन्याययुद्ध किया इससे उन योद्धाओंकी कीर्त्ति मिट्टीमें मिल गई ॥ ५२ ॥

तदनु[1] सेनयोस्तयोः क्ष्वेलितरुदिते अपि स्पर्धाजनितया परस्परवि-[2]जिगीषुतयेव व्योमसीमानमुदलङ्घयताम् ॥

तदानीं[3] नियमवृद्धपरिषदूर्ध्वविक्षिप्तकरपुटजलाञ्जलिक्षालनादिव व्यप-[4]यातमहोष्मणि पूषणि तौ द्वावपि बलौघौ[5] निजनिजस्कन्धावारानुसंधानाय निरगच्छताम् ॥

तदन्विति। तदनु अभिमन्युमरणानन्तरं तयोः सेनयोः पाण्डवकौरसैन्ययोः कौरवसैन्यस्याभिमन्युमरणजन्मना प्रसादेन क्ष्वेलितं सिंहनादः, पाण्डवसैन्यस्य तदुत्थेन विषादेन रुदितञ्च ते क्ष्वेलितरुदिते अपि स्पर्धाजनितया स्वोत्कर्षप्रकाशनेच्छया जनितया परस्परविजिगीषुतयाऽन्योन्यजयाभिलाषेण इव व्योमसीमानम् आकाशमर्यादाम् उदलङ्घयताम् उल्लङ्घयामासतुः। पाण्डवसैन्यैर्यावद्रुदितं तावदेव कौरवसैन्यैरानन्दगर्जितं कृतमिति भावः ॥

तदानीं तस्मिन्समये पूषणि सूर्ये नियमवृद्धानाम् तपस्विनां परिषदा समूहेन ऊर्ध्वक्षिप्तकरपुटाञ्जलिभिः उपरिनिक्षिप्तकरधृतजलार्घ्यैः क्षालनात् स्नपनादिव व्यपयातमहोष्मणि दूरीभूततापे निरस्तसंतापे सति द्वावपि बलौघौ कौरवपाण्डवसैन्यसमूहौ निजनिजस्कन्धावारानुसन्धानाय स्वस्वशिविरगवेषणाय निरगच्छताम् निर्गतौ। सूर्ये मुक्तसंतापतयास्तप्राये सैन्ये शिबिरं गते इत्यर्थः ॥

इसके बाद कौरवसैन्यका सिंहनाद और पाण्डवसैन्यका रोदन एक दूसरेसे स्पर्धा रखकर परस्पर अपेक्षा-सी धारण करके आकाशकी इयत्ताको लांघने लगे।

उस समय तपस्विजनमण्डली द्वारा दिये गये अर्घ्याञ्जलि-जलसे क्षालित होनेके कारण सूर्यकी उष्णता कम हो गई, सूर्य मन्दतेज पड़ गये, तब दोनों दलोंकी सेनायें अपने अपने शिविरोंकी खोजमें चलीं ॥

अथ त्रिगर्तानपि तान्क्षुरप्रैः सहस्रगर्तान्विरचय्य गात्रे।

---

१. 'तदनु तत्र तयोः सेनयोः क्ष्वेडित'। २. 'विजिगीषयेव'। ३. 'तदानीं खलु जगति नियम'। ४. 'व्यपेत महोमहो'। ५. 'बलौघौ निजस्कन्धा'। इति पा०।

विनैव हेतुं व्यथमानचेता बिडौजसोऽपि न्यवृतत्कुमारः ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ बिडौजसः इन्द्रस्य कुमारः पुत्रोऽर्जुनोऽपि त्रिगर्त्तान् त्रिगर्त्तनाम्नः व्रणजन्यरन्ध्रत्रयसहितांश्च तान् युद्धागतान् क्षुरप्रैर्नामास्त्रभेदैः सहस्रगर्त्तान् व्रणजन्यच्छिद्रसहस्रयुक्ततनून् विरचय्य विधाय त्रिगर्त्तान् जर्जरीकृततनून् विधाय अपि विनैव हेतुं कारणं किमपि विनैव व्यथमानचेताः खिन्नमनाः न्यवृतत् संशप्तकयुद्धात् परावृत्तः । त्रिगर्त्तान् अपि सहस्रगर्त्तान् इति विरोधः, त्रिगर्त्तसंज्ञान् व्रणच्छिद्रयुतान् चेति तत्परिहारः । त्रिगर्त्तविजये जातेऽपि कुरुक्षेत्रयुद्धेऽभिमन्युमरणेन तद्-हृदयस्याप्रसन्नतया दुःखितोऽर्जुनः स्वशिबिरमायातः, अज्ञातमपि खेदकारणं हृदयमुदासयतीति तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥

इसके बाद त्रिगर्त्त देशवासी सोमदत्त आदिको सामने युद्धमें अपने क्षुरप्र नामक बाणोंके प्रहारसे सहस्रगर्त्त–हजार व्रणच्छिद्रयुत–शरीर बनाकर भी बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके उदासदिल इन्द्रपुत्र अर्जुन अपने शिबिरमें आये ॥ ५३ ॥

बाष्पायते दृष्टियुगं कराग्राच्चापो गलत्यन्तरुदेति तापः ।
फलं किमेतस्य भविष्यतीति विचिन्तयन्धाम विवेश राज्ञः ॥ ५४ ॥

बाष्पायते इति । दृष्टियुगम् अर्जुनस्य नेत्रद्वयं बाष्पायते अश्रु मुञ्चति, कराग्रात् चापो गलति पतति, अन्तः हृदये तापः उदेति सन्तापो वर्धते, एतस्य सर्वस्याश्रुपातबाणस्खलनतापोदयानामुद्भवस्य समुदितस्याशुभलिङ्गस्य फलं किं भविष्यतीति विचिन्तयन् अर्जुनः राज्ञो युधिष्ठिरस्य धाम भवनं शिबिरं विवेश प्रविष्टवान् । अत्रानेकक्रियायौगपद्यात्समुच्चयालङ्कारः ॥ ५४ ॥

आँखोंसे आँसू गिर रहा है, हाथसे धनुष छूट जाता है, हृदयमें सन्ताप उदित हो रहा है, इन अनिष्ट लिङ्गोंका फल क्या होगा ? यह सोचता हुआ अर्जुन राजा युधिष्ठिरके शिबिरमें आया ॥ ५४ ॥

तत्राश्रु नेत्रानथ सर्वबन्धून्निशाम्य पुत्रस्य निशम्य वार्ताम् ।
तापापदेशेन धनंजयस्य चित्तं चुचुम्ब स्वसनामतेजः ॥ ५५ ॥

तत्रेति । अथ तत्र युधिष्ठिरशिबिरे सर्वबन्धून् सर्वानात्मीयजनान् अश्रुनेत्रान् रुदतः निशाम्य दृष्ट्वा, पुत्रस्य अभिमन्योः वार्त्ताम् कर्णादिभिरनुचितयुद्धेन हत्यारूपां प्रवृत्तिं निशम्य श्रुत्वा च धनञ्जयस्य अर्जुनस्य चित्तम् हृदयम् तापापदेशेन संतापव्याजेन स्वसनाम स्वनाम समाननामकं धनञ्जयनामकं तेजः वह्निः चुचुम्ब प्रविवेश । रुदतो बान्धवान् दृष्ट्वा पुत्रमरणवृत्तान्तं च श्रुत्वा धनञ्जयस्य हृदयं सन्तापाग्निना स्पृश्यते स्मेति भावः । 'निशाम्य', 'निशम्य' इत्युभयं 'शमोऽदर्शने

१. 'तदाश्रु' । २. 'सूनोश्च' । इति पा० ।

इति मित्त्वविकल्पकृतम् , दर्शनेऽर्थे मित्त्वाभावात् ह्रस्वत्वाभावेन निशाम्येति रूपं, श्रवणे मित्त्वाद्ह्रस्वत्वेन निशम्येति रूपं बोध्यम् ॥ ५५ ॥

अर्जुनने युधिष्ठिरके शिविरमें जाकर सभी आत्मीयजनोंको रोते देखा, और अभिमन्युके अन्याययुद्धमें मारे जानेकी बात सुनी, इससे उनका हृदय धनञ्जय समान नामक तेज-वह्नि-सन्तापसे स्पृष्ट हो गया, अर्जुनके हृदयमें सन्ताप की आग-सी लग गई ॥ ५५ ॥

वीरं तनूजमनुचिन्त्य विलापभाजं
धारालदृष्टियुगलं धरणौ लुठन्तम् ।
वाग्भिश्चिरेण वसुधाधिपसंयुतस्तं
विश्वंभरोऽर्जुनमपि व्यदधादशोकम् ॥ ५६ ॥

वीरमिति । वीरम् ऐकाक्येऽपि बहुभिः कृतयुद्धतयाऽसाधारणशूरं तनूजं पुत्रमभिमन्युम् अनुचिन्त्य शोचित्वा विलापभाजं विलपन्तम् , धारालदृष्टियुगलम् नेत्राभ्यां द्वाभ्यामपि बाष्पधारां विसृजन्तम् , धरणौ लुठन्तम् पृथिव्यां विवर्त्तमानं तम् अर्जुनम् वसुधाधिपसंयुतः युधिष्ठिरेण सहितः विश्वम्भरः कृष्णः वाग्भिः उपदेशैः चिरेण अशोकम् वीतसन्तापम् व्यदधात् कृतवान् । युधिष्ठिरसहितः श्रीकृष्णो वीरस्य पुत्रस्य विरहे विलपन्तं रुदन्तं धरणौ लुठन्तं चार्जुनं बहुभिरुपदेशवचनैः सान्त्वयामासेति भावः । अर्जुनमपि अशोकं कृतवानिति विरोधः, परिहारस्तूक्त एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५६ ॥

बहादुर पुत्र अभिमन्युके शोकमें विलाप करनेवाले, दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बरसाने वाले तथा जमीन पर लोटते हुए अर्जुनको युधिष्ठिरसहित भगवान् ने बहुत देर तक समझा-बुझाकर अशोक-सन्ताप-रहित कर दिया । भगवान् तथा युधिष्ठिरके बहुत समझानेसे अर्जुन कुछ कुछ प्रकृतिस्थ हुए ॥ ५६ ॥

इन्द्रात्मजस्तदनु बाहुमुदस्य कोपा-
त्सिन्धूद्वहस्य समरे द्विषतां समक्षम् ।
हेत्यां श्व एव यदि तस्य शिरो न कुर्यां
तस्यां विशेयमहमित्यकरोत्प्रतिज्ञाम् ॥ ५७ ॥

इन्द्रात्मज इति । तदनु कृष्णयुधिष्ठिरकृताश्वासनात्परतः इन्द्रात्मजः अर्जुनः बाहुम् भुजम् उदस्य उत्थाप्य 'श्वः आगामिनि दिने तस्य मत्पुत्रद्रुहः सिन्धूद्वहस्य सिन्धुराजस्य जयद्रथस्य शिरः मस्तकं द्विषतां दुर्योधनादीनां समक्षं पुरतः हेत्यां निजायुधे यदि न कुर्याम् न निदध्यां छित्वा स्वास्त्रे नारोपयेयं तदा तस्यां हेत्याम् अग्निज्वालायाम् विशेयं प्रविश्यात्मानं दहेयम्' इति एवंरूपां प्रतिज्ञाम् अक-

रोत्, यद्यहं श्वः पुत्रद्रुहो जयद्रथस्य शिरो न छिन्द्यां तदा वह्नौ प्रविश्यात्मानं व्यापादयेयमिति भावः। 'हेतिः स्यादायुधे वह्निकीले तरुणतेजसि' इति विश्वः॥ ५७॥

इसके बाद आश्वस्त होकर इन्द्रपुत्र अर्जुनने हाथ उठाकर प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैं कल अपने पुत्रके द्रोही जयद्रथका दुर्योधन आदि शत्रुओंके सामने सिर काटकर अपने अस्त्र पर न रख लूँ तो अग्निप्रवेश करूँ, यदि जयद्रथको सबके सामने नहीं मार सकूँ तब अग्निज्वालामें प्रवेश करके अपनी जान दे दूँ॥ ५७॥

अथ वृत्तमेतदवकर्ण्य भीरवे विततान सिन्धुपतये प्रतिश्रुतम्।
तव गुप्तियुग्ममपि मे भरोऽर्जुनात्समरे श्व इत्यतिगभीरधीर्गुरुः॥५८॥

अथेति। अथ अर्जुनप्रतिज्ञानन्तरम् एतद्वृत्तम् अर्जुनप्रतिज्ञाविधानरूपं समाचारम् अवगत्य ज्ञात्वा भीरवे भयभीताय सिन्धुपतये सिन्धुराजाय अतिगभीरधीः अतिगम्भीरबुद्धिः गुरुः द्रोणः—'श्वः परदिने तव समरेऽर्जुनात् गुप्तियुग्मम्—गुप्तिः गोपनं, गुप्तिः रक्षणं च इति द्वयमपि मे मम भरः कार्यम्' इति प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञां विततान। एवंविधां पार्थप्रतिज्ञां समाकर्ण्य भीतमानसाय जयद्रथाय द्रोणः प्रतिज्ञां दत्तवान् यत् श्वः समरेऽहम् त्वां पार्थाद्गुप्तरूपेण अलक्ष्यभावेन स्थापयितुं रक्षितुं च भारमाददामि इति। गुप्तिः—गुप्तभावेन स्थापना रक्षा च, तदिदं गुप्तियुग्ममहं तवावश्यं विधास्यामि, मामात्मरक्षादक्षमवेत्य मा भैषीरिति भावः॥ ५८॥

जयद्रथने जब अर्जुनद्वारा की गई प्रतिज्ञा की बात सुनी तब वह बहुत डर गया, तब गंभीरबुद्धि द्रोणाचार्यने उससे प्रतिज्ञापूर्वक कहा कि कल युद्धमें अर्जुनसे तुमको छिपाना और सुरक्षित रखना दोनों प्रकारकी गुप्तिका भार मैं लेता हूँ, कल न तो अर्जुन तुमको देख सकेंगे, न बाल बाँका कर सकेंगे इसकी जिम्मेदारी मैं लेता हूँ॥ ५८॥

अन्येद्युरवलम्बितप्रथमशिखरिसानौ भानौ स्कन्धावारयुगवसुंधराधिपतियुद्धसन्नाहपैशुन्यलम्पटपटहध्वानतरले सिन्धुराजयुगले शरणागतभरणालंकर्मीणेन पद्मनेत्रेण सौभद्रवधशोकातिरेकपरिगलितबाष्पपूरपङ्किले द्वारदेशे समानीतं सौवीरनायकगोपनस्थलदिदृक्षयेव तुङ्गतरकेतुशृङ्गमधिरूढेन कपिपरिवृढेन परिमण्डितं मानसगरुडगन्धवहबान्धवैः सैन्धवैराहितबन्धनं स्यन्दनमधिरुह्य संक्रन्दननन्दनः समरोचितवेषसंपदविकलेन निजबलेन सह प्रतिष्ठमानो निरुद्धवियत्पथै रथमंदबन्धुरैः सिन्धु-

१. 'प्रतिश्रवम्'। २ 'समरेऽभीरिति गम्भीरः'। ३. 'भगवता पाणिमित्रतोत्रेण पद्म'। ४. 'शूरजनबाष्प'। ५. 'द्वारतले'। ६. 'मान समार्गणगरुड'। ७. 'बान्धवैराहितबन्धनम्'। ८ 'रुद्ध'। इति पा०।

रैर्विविधगतिनाटकैर्घोटकैः कृतरणासक्तिभिः पंक्तिभिर्विरचितपरिपन्थिजनमोहस्य व्यूहस्य[2] पृष्ठभागे जयद्रथं प्रतिष्ठाप्य स्वयमपि पुरोभागं परिष्कुर्वाणस्य द्रोणस्य चरणयोर्बाणाभ्यां प्रणीत[3]प्रणिपातस्तेन दीयमानमार्गावकाशश्चण्डमारुत इव घनमण्डलं[4] तमेव व्यूहं क्षणादेव क्षोभयामास ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः परदिवसे भानौ सूर्ये अवलम्बितप्रथमशिखरिसानौ आश्रितपूर्वाचलशिखरे सति सूर्योदये जाते सति, सिन्धुराजौ सागरो जयद्रथश्च तयोः युगले द्वये (द्वयोरपि सागरजयद्रथयोः) स्कन्धावारयोः शिबिरयोः युगे द्वितये कौरवशिबिरे पाण्डवशिविरे च वसुन्धराधिपतीनां युद्धार्थमागतानां राजन्यानां युद्धसन्नाहस्य युद्धोद्यमस्य पैशुन्यं सूचना तत्र लम्पटेन रसिकेन तत्परेण पटहध्वानेन विजयवाद्यरवेण तरले चञ्चले सति, (द्वयोरपि शिविरयो राज्ञां युद्धोद्यमसूचकपटहशब्दैः सागरे चलायमाने जयद्रथेऽप्यात्मविपत्तिशङ्कया चलचित्ते जायमाने सति इत्यर्थः) शरणागतभरणालङ्कर्मीणेन शरणागतजनरक्षादक्षेण पद्मनेत्रेण राजीवनयनेन श्रीकृष्णेन सौभद्रवधेन अभिमन्युमृत्युना यः शोकातिरेकः शोकातिशयस्तेन परिगलितेन स्रुतेन बाष्पपूरेण अश्रुधारया पङ्किले पिच्छिले द्वारदेशे द्वारभूमौ सौवीरनायकगोपनस्थलदिदृक्षया क्व जयद्रथो गोप्यते इति द्रष्टुमिच्छया इव तुङ्गतरकेतुशृङ्गम् उच्चतरं ध्वजदण्डशिखरम् अधिरूढेन कपिपरिवृढेन हनूमता परिमण्डितम् शोभितम् मानसगरुडगन्धवहानां मनोवैनतेयवायूनां बान्धवैः बन्धुभिः तत्समशीघ्रगतिभिः सैन्धवैः अश्वैः आहितबन्धनं युक्तम् स्यन्दनं रथम् अधिरुह्य आरुह्य संक्रन्दननन्दनः इन्द्रतनयोऽर्जुनः समरोचितवेषसम्पदविकलेन युद्धोपयुक्तवेषभूषापूर्णेन निजबलेन स्वसैन्येन सह प्रतिष्ठमानः युद्धाय चलन्, निरुद्धवियत्पथैः व्याप्तव्योममार्गैर्विशालैः रथैः, मदबन्धुरैः दानवारिसुभगैः सिन्धुरैः गजैः, विविधगतिनाटकैः नानाविधान्गतिप्रकारान् प्रदर्शयद्भिः घोटकैः अश्वैः, कृतरणासक्तिभिः युद्धसन्निहितैः पत्तिभिः पादचारिभिः विरचितपरिपन्थिजनमोहस्य विरोधिजनान्मोहयतः व्यूहस्य सेनास्थापनप्रकारस्य पृष्ठभागे पश्चात् जयद्रथं प्रतिष्ठाप्य रक्षित्वा स्वयमपि आत्मना पुरोभागम् अग्रदेशं परिष्कुर्वाणस्य सेनाग्रदेशं भूषयतः द्रोणस्य चरणयोः बाणाभ्यां प्रणीतप्रणिपातः कृतप्रणामः, तेन द्रोणेन दीयमानमार्गावकाशः दत्तवर्त्मा अर्जुनः चण्डमारुतः प्रचण्डवायुः घनमण्डलं मेघपटलम् इव तमेव व्यूहं व्यूहाकारेण स्थितं द्रोणरक्षितं च सैन्यम् क्षणात् स्वल्पकालादेव क्षोभयामास व्यस्तं चकार ॥

दूसरे दिन जब सूर्य पूर्वाचल (उदयाचल) शिखर पर आ गये, दोनों शिविरोंमें राजगणके युद्धोद्यमकी सूचना देनेवाले विजयवाद्योंके बजनेसे समुद्र तथा जयद्रथ दोनों

१. 'पत्तिमिश्र' । २. 'पद्मव्यूहस्य' । ३. 'प्रणिहित' । ४. 'मेघमण्डलम्' । इति पा० ।

सिन्धुराज तरल हो उठे (सागर आवाजसे तरल हो गया और जयद्रथ अर्जुनप्रतिज्ञाके भयसे), तब शरणागतरक्षक श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनका रथ दरवाजे पर लाया गया, दरवाजा अभिमन्युकी मृत्यु पर उमड़े हुए शोकातिरेकसे गिरी अश्रुधारासे पङ्किल हो रहा था, अर्जुनके रथकी ध्वजापर ऊपर चढ़कर हनुमान्‌जी बैठे हुए थे, ऐसा लगता था मानों वे जयद्रथके छिपाये जानेकी जगह देखना चाहते हों, उस रथके घोड़े तीव्र गतिमें मन, गरुड़ तथा हवाकी तुलना करते थे, उस पर आरूढ़ होकर इन्द्रपुत्र अर्जुन युद्धोपयुक्त वेषभूषासे सज्जित सैन्यके साथ चले, (उन्होंने देखा कि) आकाशचुम्बी रथों, मतवाले हाथियों, नानाविध चालवाले घोड़ों और युद्धस्थलमें पहुँचे पदातियों से बना हुआ व्यूह शत्रुओंको मोहमें डाले देता है, उस व्यूहमें जयद्रथको छिपाकर द्रोणाचार्य स्वयं उस व्यूहके अग्र-भागको भूषित कर रहे हैं, उन्हें देखकर अर्जुनने दो बाणों द्वारा उनके चरणोंमें प्रणाम ज्ञापित किया, द्रोणाचार्य ने अर्जुनको मार्ग प्रदान किया, अर्जुनने व्यूह की सेनाको उसीतरह क्षुब्ध-सञ्चलित कर दिया जैसे प्रचण्ड वात मेघमालाको सञ्चलित कर देता है ॥

तदनन्तरम् ,—

संशप्तकासुरपलायनवेगभङ्गीं
तत्तादृशीमभिनयन्निव शौरिनुन्नः।
वेगेन विस्मयकरेण विरोधिसैन्ये
विष्वक्चचार विजयस्य शताङ्गवर्यः॥ ५९ ॥

संशप्तकेति । शौरिनुन्नः कृष्णप्रेरितः संशप्तकासुराणां त्रिगर्त्तयुद्धेऽर्जुनेन सह युद्धवतां तदाख्यानाम् पलायनेऽर्जुनबाणघातासहनतया धावतां या वेगभङ्गी द्रुत-पलायनकला तां तत्तादृशीम् अद्वितीयाम् अनन्योपमेयां तां भङ्गीम् अभिनयन् अनुकुर्वन् इव विजयस्यार्जुनस्य शताङ्गवर्यः रथश्रेष्ठः विरोधिसैन्ये शत्रुबले विस्मय-करेण आश्चर्यजनकेन वेगेन शीघ्रगत्या विष्वक्समन्ततः विचचार सञ्चरितवान् । भगवता प्रेर्यमाणोऽर्जुनरथोऽरिसैन्ये समन्ततो वेगेन विचचार, मन्ये सः संशप्तका-सुराणां वेगपलायनभङ्गीमनुकुर्वन्निवावर्त्ततेति भावः। अभिनयन्निवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

भगवान्‌के द्वारा चलाया गया अर्जुनका रथ वेगसे शत्रुकी सेनामें चारो ओर चक्कर लगा रहा था, ऐसा लगता था मानों वह त्रिगर्तयुद्धमें संशप्तकासुरों द्वारा दिखलाई गई अद्वितीय पलायनवेग-कलाका अभिनय कर रहा था। जिस वेगसे संशप्तकोंने रणस्थलसे पलायन किया था उसी वेगसे अर्जुनका रथ शत्रुसैन्यमें चक्कर लगा रहा था ॥ ५९ ॥

तत्र निह्नुतदिनेश्वरदीप्तौ[1] जृम्भिते तमसि धूलिमिषेण ।
खिद्यते[2] स्म युधि पाण्डवसेना हृष्यति[3] स्म सहसा कुरुसेना ॥ ६० ॥

---

१. 'दीप्ते'। २. 'खेद्य'। ३. 'हृष्यते'। इति पा०।

तत्रेति। तत्र तस्मिन् काले युधि युद्धे निह्नुतदिनेश्वरदीप्तौ आवृतसूर्यप्रभामण्डले सूर्यप्रकाशावरके तमसि अन्धकारधूलिमिषेण सेनोत्थापितरजोव्याजेन जृम्भिते प्रसृते सति सहसा पाण्डवसेना खिद्यते स्म, कुरुसेना सहसा हृष्यति स्म। यदा यदा सेनोत्थितं रजो दिवि व्याप्नुवत् सत् सूर्यमावृणोति, तदा तदा सूर्योऽस्तंगतः सम्प्रति स्वप्रतिज्ञापूर्त्तये वह्निं प्रवेक्ष्यति पार्थ इति जानती पाण्डवसेना खिद्यते कौरवसेना च हृष्यतीति तात्पर्यम्॥ ६०॥

उस समय युद्धमें सूर्यकी किरणोंको आवृत करनेवाली सेनोत्थापित धूल जब आकाशमें फैल जाती थी, तब (सूर्यास्त हुआ जानकर) सहसा पाण्डवोंकी सेना खिन्न तथा कौरवों की सेना आनन्दित होने लगती थी। उन्हें लगता था अब प्रतिज्ञापूर्त्तिके लिये पार्थ आगमें प्रवेश करेंगे, अतः उन्हें खेद तथा हर्ष होता था॥ ६०॥

गाण्डीवमेतेन मुहुर्विकृष्टं ह्रस्वं च दीर्घं च बभूव युद्धे।
तुलामिवर्णेन तदाधिरोढुं स्वनामधेयस्थितिशालिनेव॥ ६१॥

गाण्डीवमिति। तदा तस्मिन्युद्धसमये एतेनार्जुनेन मुहुः वारं वारं विकृष्टं नमितं गाण्डीवं नाम तदीयं धनुः स्वनामधेयस्थितिशालिना स्ववाचकगाण्डीवपदवर्त्तिना इवर्णेन तुलाम् समताम् अधिरोढुम् प्राप्तुम् इव ह्रस्वं दीर्घं च अल्पं दीर्घपरिणाहं च बभूव, यदा नमयति तदा कुण्डलाकारतां प्रपद्य ह्रस्वपरिणाहं जायते, यदा च बाणं विसृजति तदा दीर्घीभूतं भवति, तन्मन्ये स्ववाचकगाण्डीवपदनिष्ठेकारसादृश्यं लब्धुमिवेहते इत्यर्थः। गाण्डीवशब्दे दीर्घेकारो ह्रस्वेकारश्च द्वयमपि कोशप्रमाणितं तथा चामरः—'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसके'। गाण्डीवरूपार्थतद्वाचकपदयोर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वयो श्लेषमूलकाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः, उत्प्रेक्षा च तन्मूलेति द्वयोः सङ्करः॥ ६१॥

उस समय उस युद्धमें अर्जुनका धनुष गाण्डीव-धनुष जब नवाया जाता तो ह्रस्व छोटा तथा जब बाण छोड़ा जाता तब बड़ा दीर्घ परिमाण लम्बा हो जाता था, ऐसा लगता था मानो वह स्ववाचक गाण्डीव पदके मध्यमें वर्त्तमान इकाररूप वर्णकी तुलना प्राप्त कर रहा हो। गाण्डीव शब्दका इकार भी ह्रस्व दीर्घ दोनों प्रकारका होता है॥ ६१॥

अस्तं गतश्चेदरविन्दबन्धुर्वन्ध्या भवेत्सापि मदीयसंधा।
इतीव संक्रन्दननन्दनोऽसौ तदीयमार्गं रुरुधे शरौघैः॥ ६२॥

अस्तमिति। अरविन्दबन्धुः सूर्यश्चेत् अस्तंगतः अस्तः, तदा सा प्रसिद्धा जयद्रथवधरूपा मदीया सन्ध्या प्रतिज्ञा अपि वन्ध्या निष्फला जाता, इति इव अस्मा-

१. 'धनुः'। २. 'सह'। इति पा०।

देव हेतोः असौ संक्रन्दननन्दन इन्द्रपुत्रोऽर्जुनः शरौघैर्बाणराशिभिः तदीयमार्गम् सूर्यसञ्चारपथमाकाशम् रुरुधे आवृणोतिस्म। यदि सूर्योऽस्तं यायात्तदा मम प्रतिज्ञा हीयत इति मनसि कृत्वेव पार्थः स्वीयैः शरैः सूर्यपथं रुरोध, मार्गेऽवरुद्धे सति नास्तगामी भवेदयं स्यान्नमे प्रतिज्ञायाश्च भङ्ग इति भावः॥ ६२॥

कमलिनीकुलवल्लभ सूर्य यदि अस्ताचलपर पहुँच गये तब तो हमारा प्रतिज्ञा झूठी हो जायेगी, ऐसा सोचकर ही अर्जुनने अपने बाणों द्वारा सूर्यका संचारमार्ग आकाश रुद्ध कर लिया था। इनका मार्ग ही रोक दें तब यह अस्ताचल तक जायेंगे कैसे? फिर मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेका मौका मिल जायगा, यही अर्जुनकी इच्छा थी, इसी इच्छासे उन्होंने अपने बाणों द्वारा आकाशको घेर रखा था॥ ६२॥

मृत्संगतेनौष्ठपुटेन भूभुक्संबन्धितां स्पष्टमिव ब्रुवाणैः।
धनंजयोऽसौ शितभल्लकृत्तैः शिरोभिराच्छादयति स्म धात्रीम्॥ ६३॥

मृत्सङ्गतेनेति। असौ धनञ्जयः अर्जुनः शितभल्लकृत्तैः तीक्ष्णधारभल्लाख्यबाणच्छिन्नैः मृत्संगतेन मृत्तिकास्पर्शिना ओष्ठपुटेन ओष्ठयुगलेन भूभुक्सम्बन्धितां नृपतिसम्बन्धशालितां स्पष्टं स्फुटं ब्रुवाणैः कथयद्भिः शिरोभिः इव राज्ञां मूर्धभिः धात्रीम् पृथ्वीम् आच्छादयति स्म आवृणोति स्म। अयमाशयः—अर्जुनो राज्ञां शिरांसि तीक्ष्णधारैः स्वीयैर्भल्लाख्यैर्बाणैश्छित्त्वा भूमौ पातितवान्, तानि च शिरांसि स्वांशभूतौष्ठयुगलेन मृत्तिकां स्पृशन्ति स्फुटं राजसम्बन्धितां कथयन्ति स्म, राजानो हि भूभुजः, अमी ओष्ठा अपि तत्सम्बन्धिनोऽत एव च भूभुज इति स्वयमेव स्वीयराजसम्बन्धितामघोषयन्नमी ओष्ठा इत्यर्थः। भुवं भुञ्जते पालयन्ति, भुवं भुञ्जन्ति भक्षयन्ति ते च भूभुजः, तत्सम्बन्धितयैवैषामपि भूभुक्त्वमिति तात्पर्यम्॥ ६३॥

अर्जुनने अपने तीखे भल्लनामक बाणों द्वारा राजाओंके सिर काटकर पृथ्वीको पाट दिया, राजाओंके कटे हुए सिर जमीन पर गिरे थे और उनके ओष्ठ जमीनमें सटे हुए थे, जमीनमें सटे ओठ कह रहे थे कि हम क्षितिभुक्-राजाओंके सम्बन्धी हैं, अर्थात् हम राजाओंके सिरके ओठ हैं, इसीलिये तो मिट्टी खा रहे हैं, क्षितिभुक्-पृथ्वीका पालक या भोक्ता क्षितिभोक्ता राजाका सिर भी क्षितिभुक् होगा, इसीलिये वह अधर मिट्टीमें लगाये हैं॥ ६३॥

वङ्क्ं[1] कङ्ककुलामिषं धृतविपल्लिङ्गं कलिङ्गं पुन-
र्भोजं भाजनमापदां यमपुरीसीमारुधं मागधम्।
चोलं दुःखनिचोलचित्तमिषुभिः कुर्वन्सुपर्वाधिभू-
पुत्रस्तत्र दिनावसानसमये रुन्धे स्म सिन्धूद्वहम्॥ ६४॥

वङ्कमिति। सुपर्वणाम् देवानाम् अधिभूः स्वामी इन्द्रस्तस्य पुत्रोऽजुनः इषुभि-

१. 'वङ्गं'। इति पा०।

र्बाणैः वङ्गं तद्देशाधिपं कङ्ककुलस्यामिषं गृध्राणां भक्ष्यम्, कलिङ्गं तदाख्यजनपदस्वामिनं विपल्लिङ्गम् मरणचिह्नधारिणम्, पुनः भोजम् भोजदेशशासकं नृपविशेषम् आपदां भाजनम् पात्रम्, मागधं मगधाधीशम् यमपुरीसीमारूढम् यमपुरसीमनि स्थितम् यमपुरगतम्, चोलं नृपभेदम् दुःखनिचोलचित्तम् कष्टवेष्टितहृदयं कुर्वन् सन् तत्र रणे दिनावसानसमये सायङ्काले सिन्धूद्वहं जयद्रथं रुन्धेस्म निरुद्धवान्। सर्वांस्तांस्तान्नृपान् मारयित्वाऽर्जुनो दिनावसानकाले जयद्रथं पुरतोऽरुणदिति भावः। अत्र वङ्गादयो देशवाचकशब्दा लक्षणया तदीशवाचका बोध्याः ॥६४॥

देवराजके पुत्र अर्जुनने अपने बाणों द्वारा वङ्गदेशाधिपको गृध्रकुलका भक्ष्य, कलिङ्गाधीशको मरणचिह्नोपेत, भोजराजको आपत्तिपात्र, मगधाधीशको यमपुरगामी, चोलाधिपको दुःखावृतचित्त बनाकर उस रणस्थलमें सायं समयके आनेपर जयद्रथको आगेसे घेर लिया ॥ ६४ ॥

तत्रान्तरे,—

भूपस्तूत्तपमानधीर्भयभराज्जिज्ञासुरिन्द्रात्मभू-
वार्तां सात्यकिमारुती रिपुचमूव्यूहं प्रति प्राहिणोत्।
[1]तौ जित्वा गुरुमात्तसिंहनिनदौ संवीक्ष्य भूरिश्रवा
राधेयश्च हठात्ततो रुरुधतुः संक्षोभयन्तौ कुरून् ॥ ६५ ॥

भू इति। भयभरात् अर्जुनानिष्टशङ्काजन्यभीत्यतिशयात् उत्तपमानधीः सन्तप्तहृदयो भूपो युधिष्ठिरः इन्द्रात्मभुवः शक्रसुतस्यार्जुनस्य वार्तां वृत्तान्तं जिज्ञासुः सन् सात्यकिं मारुतिं भीमं च तौ रिपुचमूव्यूहं शत्रुसैन्यसमूहं प्रति प्राहिणोत् प्रेषितवान्। तौ सात्यकिर्भीमौ गुरुं द्रोणं व्यूहमुखस्थितं जित्वा विजित्य आत्तसिंहनिनदौ कृतसिंहनादौ कुरून् संक्षोभयन्तौ नाशयन्तौ संवीक्ष्य दृष्ट्वा ततः राधेयः कर्णः भूरिश्रवाश्च हठात् बलात् रुरुधतुः मार्गे उपस्थाय युद्धे व्यापार्य चाग्रेगमनान्निवारयामासतुः। ततोऽर्जुनविषयानिष्टशङ्कया व्यथमानमानसस्तद्वृत्तज्ञानोत्को युधिष्ठिरः सात्यकिमारुती शत्रुसैन्यं प्रति प्रहितवान्, तत्रागतौ च तौ व्यूहमुखस्थं द्रोणं विजित्य कुरुसैन्यानि मर्दयितुं प्रवृत्तौ, तथाभूतौ सिंहनादं मुञ्चन्तौ च सात्यकिभीमौ विलोक्य कर्णभूरिश्रवसौ तौ निरुद्धवन्ताविति भावः ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरको अर्जुनके लिये बड़ी चिन्ता हो रही थी, जिससे उनका हृदय संतप्त हो रहा था, अर्जुनकी खबर लानेके लिये उन्होंने सात्यकि तथा भीमको भेजा, वे दोनों व्यूहके मुँहपर अवस्थित द्रोणाचार्यको जीतकर भीतर पैठे, सिंहनाद करना प्रारम्भ किया और कौरव-सैन्यको नष्ट करना प्रारम्भ किया, उन दोनोंको वैसा करते देखकर कर्ण तथा भूरिश्रवाने उन्हें एकाएक घेर लिया ॥ ६५ ॥

---

१. 'जित्वा तौ'। २. 'रिपु'। ३. 'उभौ'। इति पा०।

अथ सोमदत्ततनुजो रमापतेरनुजोऽपि भग्नरथसूतकार्मुकौ ।
परिगृह्य पट्टसलतां[2] परस्परं प्रधनं भयंकर[3]मुभौ वितेनतुः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ एतदनन्तरम् सोमदत्ततनुजो भूरिश्रवाः, रमापतेः कृष्णस्य अनुजः सात्यकिः अपि च भग्नरथसूतकार्मुकौ परस्परखण्डितस्यन्दनसारथिचापौ सन्तौ पट्टसलताम् अस्त्रविशेषं परिगृह्य आदाय उभौ तौ परस्परं भयङ्करम् अन्योन्यभीषणम् प्रधनम् युद्धं वितेनतुः चक्रतुः। भूरिश्रवःसात्यकी भग्ने रथे मृते सारथौ छिन्ने च चापे धृतपट्टसास्त्रौ भयङ्करं द्वन्द्वयुद्धमारब्धवन्तावित्यर्थः। मञ्जुभाषिणीवृत्तम् ॥ ६६ ॥

इसके बाद सोमदत्तनामक राजाका पुत्र भूरिश्रवा तथा श्रीकृष्णका भाई सात्यकि दोनोंने दोनोंके रथ तोड़ दिये, सारथि मार दिये और चाप काट दिये, पीछे वे दोनों ही ही पट्टस नाम अस्त्र लेकर भयङ्कर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे ॥ ६६ ॥

अथ शिनितनयं निपात्य भूम्या[4]मुरसि धृतासिरसौ तु सौमदत्तिः ।
गलयितुमिव गर्वसारमन्तर्निजचरणेन निपीडयांचकार[5] ॥ ६७ ॥

अथ शिनितनयमिति । अथ प्रवृत्ते द्वन्द्वयुद्धे शिनितनयं सात्यकिं भूम्यां निपात्य भूमौ पातयित्वा उरसि धृतासिः धृतकरवालः असौ सौमदत्तिः भूरिश्रवाः अन्तः हृदयस्थितं गर्वसारम् बलदर्पम् गलयितुं वमयितुम् इव निजचरणेन निपीडयाञ्चकार आस्कन्दितवान्। भूरिश्रवाः सात्यकिं भूमौ पातयित्वा स्वचरणेन तस्य हृदयमपीडयन्मन्ये स तद्धृदि स्थितं दर्पम् अपि वमनवर्त्मना बहिष्कर्त्तुमैच्छदित्याशयः ॥ ६७ ॥

शिनितनय सात्यकिको पृथ्वीपर गिरा करके भूरिश्रवा उसकी छाती पर तलवार लिये खड़ा होकर उसे दबा रहा था, ऐसा लगता था मानों भूरिश्रवा सात्यकिके हृदयमें वर्त्तमान बलदर्पको उगिलवा देना चाहता हो ॥ ६७ ॥

तदा हरिर्दूरगतोऽपि नाक्षं व्यापारयामास रथेऽर्जुनस्य ।
निजानुजातोरसि दत्तपादे भूरिश्रवस्येव महारथेऽस्मिन् ॥ ६८ ॥

तदा हरिरिति। तदा सात्यकिवधसमये, दूरगतोऽपि हरिः कृष्णः अर्जुनस्य रथे अक्षं चक्रमध्यदण्डं न व्यापारयामास रथं न चालयामास, किन्तु निजानुजातस्य स्वानुजन्मनः सात्यकेः उरसि हृदये दत्तपादे न्यस्तचरणे महारथे वीरे अस्मिन् भूरिश्रवस्येव अक्षं चक्षुर्व्यापारयामास चिक्षेप। तस्मिन्सात्यकिवधकाले दूरगतो भगवान् स्वयमागन्तुमशक्त्याऽर्जुनरथचालनमपि हित्वा तत्रैव दत्तदृष्टिरासीदित्यर्थः ॥ ६८ ॥

---

१. 'च'। २. 'पट्टिशलतां'। ३. 'भयानक'। ४. 'भूमौ'। ५. 'बभूव'। इति पा०।

जब भूरिश्रवा सात्यकिके हृदयपर लात रखे हुए खड़ा था, तब भगवान् दूर थे, वहाँ से उन्होंने उसकी स्थिति देखी, तत्काल उन्होंने अर्जुनके रथको चलाना छोड़ दिया, केवल अपने छोटे भाई सात्यकिके सीनेपर पैर रखकर खड़े हुए महारथ भूरिश्रवाको ही देखते रहे ॥ ६८ ॥

चोदितस्य हरिणा किरीटिनो मार्गणेन हृतहस्तपल्लवः ।
सोमदत्ततनयो[1] न केवलं कौरवा अपि विहस्ततां ययुः ॥ ६९ ॥

चोदितस्येति । हरिणा श्रीकृष्णेन चोदितस्य—पश्य तवायं सखा शिष्यश्च सात्यकिर्विपद्यते इति प्रेरितस्य किरीटिनोऽर्जुनस्य मार्गणेन बाणेन हृतहस्तपल्लवः खण्डितकरः सोमदत्ततनयः भूरिश्रवाः एव केवलं न (विहस्ततां न ययौ हस्तशून्यतां न प्राप्तः), कौरवा अपि विहस्ततां विह्वलतां ययुः प्राप्तवन्तः । छिन्नहस्ते भूरिश्रवसि स्वहस्तमिव छिन्नं मन्यमानाः कौरवा विह्वलतां प्रापुरित्याशयः ॥ 'विहस्तो व्याकुलः समौ' इत्यमरः ॥ अत्रैकस्य हस्तच्छेदेन सर्वेषां विहस्तत्वकथनादसङ्गतिर्नामालङ्कारः ॥ ६९ ॥

भगवान्ने अर्जुनको प्रेरित किया कि देखो, तुम्हारा शिष्य सात्यकि मर रहा है, इस पर अर्जुनने बाणसे भूरिश्रवाका हाथ काटकर गिरा दिया, भूरिश्रवाके हाथके कट जानेसे केवल भूरिश्रवाही विहस्त—हस्तरहित नहीं हुआ, सभी कौरव विहस्त-व्याकुल हो उठे ॥

भूरिश्रवास्तदनु पुत्रममुं बलारे-
र्भूयो विगर्ह्य पुरुषोत्तमसंनिधाने ।
आचम्य पावनमसौ कुशमेकमन्य[2]-
मास्तीर्य युद्धभुवि तत्र शयालुरासीत् ॥ ७० ॥

भूरिश्रवा इति । तदनु हस्तच्छेदनानन्तरम् भूरिश्रवाः अमुं बलारेरिन्द्रस्य पुत्रमर्जुनम् पुरुषोत्तमसन्निधाने भगवतः समक्षं भूयः पुनः पुनः विगर्ह्य 'धिक्त्वाम्, यो ममान्येन युध्यमानस्य हस्तमन्यायेनाच्छिनः' इत्येवं निन्दया तिरस्कृत्य एकं पावनं पवित्रं कुशं जलम् आचम्य प्राश्य अन्यं कुशं दर्भं तत्र युद्धभुवि आस्तीर्य शयालुः आसीत् । युद्धस्थान एव प्रायोपवेशमशिश्रियत् इत्यर्थः । 'कुशो रामसुते दर्भे योक्त्रे द्वीपे कुशं जलम्' इत्यमरः ॥ ७० ॥

हाथके कट जानेपर भूरिश्रवाने बलारि—इन्द्रके पुत्रको भगवान्के सामनेमें ही खूब फटकारा—'धिक्कार है तुमको, तुमने दूसरेके साथ लड़ते समय हमारा हाथ काटकर अच्छा काम नहीं किया है', इत्यादि निन्दा करके—पवित्र जलसे आचमन किया और कुश बिछाकर वहीं युद्धक्षेत्रमें प्रायोपवेशन करके सो रहा ॥ ७० ॥

---

१. 'तनुजो' । २. 'अन्यत्' । इति पा० ।

तदनु हिडिम्बवैरी दिननायकतनयसाहाय्यकेन भयानकसायकनिकायवर्षिणाममर्षिणां दर्पेण गरीयसां दुःशासनयवीयसां विसरमुज्जासयितुं विदलितविमतमदां निजगदामष्टाभिः काष्ठाभिः सह भ्रमयांचकार ॥

तदन्विति । तदनु तदनन्तरं हिडिम्बवैरी हिडिम्बासुरघाती भीमः दिननायकतनयसाहाय्यकेन कर्णकृतसहायतया भयानकसायकनिकायवर्षिणाम् भीषणबाणगणवृष्टिपराणाम् अमर्षिणाम् कुपितानाम् दर्पेण गरीयसाम् अभिमानशालिनाम् दुःशासनयवीयसाम् दुःशासनानुजानाम् विसरं समूहम् उज्जासयितुं हन्तुम् विदलितविमतमदां खण्डितशत्रुजनदर्पाम् निजगदां स्वीयां गदाम् अष्टाभिः काष्ठाभिः दिशाभिः सह भ्रमयाञ्चकार भ्रमितवान् । अनन्तरं भीमः कर्णसहायतया बाणवृष्टिं कुर्वतां कुपितानां संभृतगर्वाणां च दुर्योधनानुजानां वधाय स्वां गदां भ्रमयामास, यस्यां भ्रमन्त्यां दिशोपि भ्राम्यन्त्य इव प्रतीयन्ते स्मेति भावः ॥

इसके बाद भीमने कर्णकी सहायतासे भीषण बाण बरसानेवाले, अमर्षपूरित तथा धृतगर्व दुर्योधनानुजोंके समूहका वध करनेके लिये अपनी गदा घुमाना प्रारम्भ किया, भीमकी गदाके घूमनेसे साथ-साथ आठों दिशायें घूमती-सी प्रतीत होने लगीं ॥

गान्धारजाजठरसीम्नि पुराश्मदत्तां
दत्त्वा दशां युधि गदा पवमानसूनोः ।
दुःशासनानुजकुलाय हि यौगपद्या-
च्चक्रे मिथोऽष्टनवतिं त्रिदशीस्तु यातॄः ॥ ७१ ॥

गान्धारजेति । पवमानसूनोः वायुसुतस्य भीमस्य गदा गान्धारजायाः गान्धार्याः जठरसीम्नि गर्भदेशे पुरा गर्भावस्थायां चिरेणापि प्रसवाभावे अश्मना पाषाणेन दत्ताम् कृतां दशाम् अवस्थाम् युधि युद्धे दुःशासनानुजकुलाय दत्त्वा दुःशासनानुजसमूहाय वितीर्य अष्टनवतिं त्रिदशीः अष्टाधिकनवतिसंख्या अप्सरसः मिथः परस्परं यातॄः भ्रातृभार्याः चक्रे विहितवान् । पुरा गान्धारी धृतगर्भा चिरादप्यप्रसवेऽश्मना गर्भं ममाथेति कथा, तदनुसारेण गर्भस्था दुःशासनानुजास्तदश्ममाथसमये यां वेदनां प्राप्तवन्तो भीमस्य गदायुद्धे तेभ्यस्तामेव वेदनां दत्तवती, तान्मथितवती, मथनान्मृतेषु स्वर्गतेषु च तेषु अष्टनवतिमप्सरसो युगपदेव परस्परं यातॄश्चक्रे च । भीमेन सहैव गदया निष्पिष्टानवतिर्दुःशासनानुजा व्यापाद्यन्ते स्म, तेषां च वरणात्तावत्योऽप्सरसो युगपदेव यातृत्वं च प्राप्यन्ते स्मेति भावः ॥ 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्या यातरः स्युः परस्परम्' इत्यमरः ॥ ७१ ॥

---

१. 'सुत' । २. 'यवीयसानुज्जासयितुं विदलित' । ३. 'सम्नं भ्रामयामास' ।
४ 'यौगपद्यां' । इति पा० ।

दुःशासनके अनुजोंको—गान्धारीके गर्भमें बहुत दिनों तक प्रसव नहीं होनेके कारण पत्थरसे मथित होनेसे जो वेदना भोगनी पड़ी थी, उस समय युद्धमें भीमने वही वेदना अपनी गदाके प्रहारसे उन्हें दी, जिस प्रकार वे गर्भावस्थामें पत्थरसे मथित किये गये थे, भीमकी गदाने युद्धमें उन्हें उसी प्रकार मथ दिया, और उनके मरकर स्वर्ग जानेपर उनका वरण करनेवाली अठानवे अप्सराओंको एक साथ याता–देवरानी-जेठानी–सगे भाईकी बहुएँ बना दिया ॥ ७१ ॥

विहयं विरथं विसारथिं विशरासं विपताकिकापटम् ।
विशिखेन विवस्वतः सुतं विदधाति स्म वृकोदरः क्षणात् ॥ ७२ ॥

विहयमिति । वृकोदरः भीमः विशिखेन बाणेन (जातावेकवचनम्, बाणैरित्यर्थः) क्षणात् स्वल्पेन समयेन विवस्वतः सूर्यस्य सुतं पुत्रं कर्णम् विहयम् गताश्वम्, विरथम् खण्डितस्यन्दनं, विसारथिम् मृतसूतम्, विशरासम् त्रुटितधनुषम्, विपताकिकापटम् नष्टध्वजञ्च विदधाति स्म कृतवान्। अथ भीमो बाणैः कर्णस्याश्वान् अवधीत्, रथमभनक्, सारथिमवधीत्, चापं बभञ्ज, ध्वजपटं चाध्वंसयदित्यर्थः ॥ ७२ ॥

भीमने बाणोंसे क्षणभरमें सूर्यके पुत्र कर्णके घोड़ोंको मार गिराया, रथ तोड़ दिया, सारथिको निहत कर दिया, धनुष काट डाला और ध्वजपटको धूलिसात् कर दिया ॥ ७२ ॥

अथान्यमास्थाय[1] रथं क्षणेन कर्णः कुरूणां धुरि कार्मुकस्य ।
पूर्वं गुणेनाशुगजातमेकं पश्चादटन्याप्यपरं निरास्थत्[2] ॥ ७३ ॥

अथान्यमिति । अथ कर्णः क्षणेन शीघ्रम् अन्यं रथं यानमास्थाय आरुह्य कुरूणां कौरवाणां धुरि समक्षम् पूर्वं प्रथमं कार्मुकस्य गुणेन मौर्व्या एकम् आशुगजातं बाणसमूहम् निरास्थत् क्षिप्तवान्, पश्चात् अटन्या धनुषः कोट्या अपरम् अन्यम् आशुगस्य वायोर्जातं पुत्रं भीमं निरास्थत् निर्धूतवान्। बाणान् विसृज्य भीमं व्यथितवान्, न तु हतवान्, अर्जुनान्यकुन्तीपुत्राणामभयस्य दत्तपूर्वत्वात् इति भावः॥ 'आशुगौ वायुविशिखौ' इत्यमरः ॥ ७३ ॥

इसके बाद दूसरे रथपर झटसे आरूढ़ होकर कर्णने कौरवोंके सामने ही पहले धनुषकी प्रत्यञ्चासे बाण बरसाये, पीछे धनुषकी कोटिसे भीमको पाकरके छोड दिया, धनुषकी कोटिसे ढकेल ही भर दिया, उसका वध नहीं किया, क्योंकि अर्जुनेतर पाण्डवोंको उसने अभयदान दे दिया था ॥ ७३ ॥

मारुतिस्तदनु सोमदत्तभूपादपांसुपरिधूसरोरसा ।
कंसमर्दनकनीयसा समं शक्रनन्दनसमीपमाप सः ॥ ७४ ॥

---

१. 'असाद्य' । २. 'निरास्यत्' । इति पा० ।

मारुतिरिति। तदनु कर्णेन निर्धूय त्यागान्तरं सः मारुतिर्वायुसुतो भीमः सोमदत्तभुवः सोमदत्तसुतस्य भूरिश्रवसः पादपांसुभिः आक्रमणकाले लग्नैः चरणरजोभिः परिधूसरं मलिनमुरो हृदयदेशो यस्य तथाभूतेन कंसमर्दनस्य कृष्णस्य कनीयसा अनुजेन सात्यकिना समम् साकम् शक्रनन्दनस्यार्जुनस्य समीपम् सन्निधिम् आप। कर्णेन त्यक्तो भीमो भूरिश्रवश्चरणधूलिलिप्तवक्षसा सात्यकिना सहार्जुनसमीपं गत इत्यर्थः॥ ७४॥

कर्ण द्वारा छोड़ दिये गये भीम भूरिश्रवाके द्वारा किये गये पादाक्रमणके समय लगी भूरिश्रवाकी धूलिसे व्याप्त हृदयवाले सात्यकिके साथ ही इन्द्रके पुत्र अर्जुनके पास पहुंचे॥

तदनु दनुजपरिपन्थिनि[1] श्रीकृष्णे निजशरपुञ्जेन कुरुकुञ्जरान् भञ्जयन्तं धनंजयं तं सुतवधेन कृतमन्तुं रिपुं निहन्तुमादिश्य[2] दलितदैत्यचक्रेण निजचक्रेण चण्डकरमण्डलमपिदधाने[3] गभस्तिमानस्तमहास्तेति[4] समस्तनिजबलकोलाहलमाकर्ण्य दुःशलाजानिर्मुदा[5] निजवदनमुदासयत्॥

तदन्विति। तदनु तदनन्तरम् निजशरपुञ्जेन स्वबाणनिकरेण कुरुकुञ्जरान् कौरवमुख्यान् भञ्जयन्तं पीडयन्तं तं प्रसिद्धपराक्रमं धनञ्जयमर्जुनं दनुजपरिपन्थिनि दानवारौ श्रीकृष्णे सुतवधेन अभिमन्युनिपातेन कृतमन्तुं विहितापराधं रिपुं जयद्रथं हन्तुमादिश्य आज्ञाप्य दलितदैत्यचक्रेण विनाशितराक्षससमुदयेन निजचक्रेण स्वीयेन चक्रास्त्रेण चण्डकरमण्डलम् सूर्यबिम्बम् आपिदधाने आच्छादयति सति गभस्तिमान् किरणमाली सूर्यः अस्तम् अहास्त गतवानितिहेतोः समस्तस्य निजबलस्य स्वसैन्यस्य कोलाहलं कलकलम् (सूर्येऽस्तंगते जीवति जयद्रथेऽर्जुनस्याग्निप्रवेशप्रतिज्ञयाऽऽनन्देन शब्दायमानेषु स्वसैन्येषु) दुःशलाजानिः जयद्रथः मुदा आनन्देन (स्वमृत्युसंभावनाऽपगमशत्रुक्षयसंभावनोदयाभ्याम्) निजवदनम् स्वमुखम् उदासयत् उन्नमितवान्।

इसके बाद अपने बाणों द्वारा कुरुमुख्यगणको मारते हुए अर्जुनको पुत्रवध द्वारा अपराध करनेवाले शत्रुओंको मारनेके लिये आदेश देकर दानववैरी श्रीकृष्णने राक्षसोंका संहार करनेवाले अपने चक्रसे सूर्यबिम्बको आवृत कर दिया, उस समय अपनी सारी सेनाका कलकल सुनकर जयद्रथने समझा कि सूर्यास्त हो गया, तब उसने आनन्दसे अपना मुँह उठाया॥

तदा प्रकाशस्य दिवाकरस्य तिरोहितस्यापि जयद्रथस्य।
अदर्शनायापि च दर्शनाय सुदर्शनं हेतुरभूत्सुरारेः॥ ७५॥

---

१. 'पन्थिनि निज'; 'पन्थिनि शर'। २. 'आदिश्य निहन्तु'। ३. 'विदधाने'; 'विधाने'। ४. 'आस्त'। ५. 'सह निजवदनमुदास'। इति पा०।

तदेति । तदा तस्मिन् जयद्रथमुखोन्नमनसमये प्रकाशस्य प्रकटस्य दिवाकरस्य तिरोहितस्य समस्तसैन्यव्यूहगुप्तस्य अप्रकटस्य जयद्रथस्य अपि क्रमेण अदर्शनाय अप्रकटत्वाय दर्शनाय स्फुटावलोकाय च मुरारेः सुदर्शनं नाम चक्रं हेतुः कारणम् अभूत् अजायत। तस्मिन्समये प्रकटमपि सूर्यं प्रच्छाद्य दृक्पथादपनेतुं, व्यूहमध्यस्थतयाऽप्रकटमपि जयद्रथं बहिरानीय दर्शयितुं च श्रीकृष्णस्य चक्रं कारणत्वमवाप। चक्रेणाच्छन्ने सूर्यबिम्बे तमस्तंगतं प्रतीत्य स्वयं वह्नौ प्रविशन्तं तदार्जुनं तं द्रष्टुं समागतं जयद्रथं पार्थो दृष्टवानिति भावः ॥ ७५ ॥

उस समय प्रकाशमान सूर्यको अपने चक्रसे भगवान्ने छिपाकर दर्शन-पथसे दूर कर दिया, और व्यूहके मध्यमें छिपे रहने वाले जयद्रथको दिखला देनेमें भगवान्का चक्र कारण बना। यह भगवान्के चक्रका ही प्रभाव था कि प्रकाशमान सूर्य छिप गया और छिपा हुआ जयद्रथ प्रकाशमें आ गया। भगवान्ने चक्र आच्छादित करके सूर्यको अदृश्य बना दिया, और सूर्यको अस्तंगत समझकर जयद्रथ व्यूहसे निकलकर अर्जुनके सामने आ गया। महाभारतमें लिखा है कि भगवान्ने माया द्वारा अन्धकार उत्पन्न करके सूर्यको तिरोहित कर दिया, यहाँ जो चक्रसे सूर्यका आवृत होना लिखा है वह पुरणान्तरकी कथा के आधार पर ॥ ७५ ॥

सकलमपि जगन्ति चक्रयूथं सवितुरदर्शनतः सखेदमाहुः।
समरभुवि कथं नु शौरिचक्रं तपनतिरोभवनं तदाचकाङ्क्षे ॥ ७६ ॥

सकलमपीति। जगन्ति लोकाः सकलम् निखिलम् अपि चक्रयूथं चक्रवाकमण्डलं चक्रसमूहं च सवितुः सूर्यस्य अदर्शनतः अनालोकनतः सखेदं धृतकष्टम् आहुः कथयन्ति, जगत्यापामरप्रसिद्धमिदं यच्चक्रमण्डलं (चक्रवाकसमूहश्चक्रकुलं च) सूर्यस्यादर्शने खिद्यत इति, (परम्) तदा तस्मिन्समये समरभुवि युद्धक्षेत्रे शौरिचक्रं कृष्णस्य चक्रम् तपनतिरोभवनं सूर्यस्यादर्शनं कथं नु आचकाङ्क्षे कामयते स्म। यदि सर्वस्य चक्रकुलस्य सूर्यादर्शनं खेदावहं भवति, तदा शौरिचक्रस्य तददर्शनं कथमभिलषितमजनीत्याश्चर्यम्। एकस्य चक्रपदस्य चक्रवाकपक्षिपरत्वे विरोधपरिहारो बोध्यः। श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥७६॥

संसार कहता है कि सकल चक्रवाकमण्डल या चक्रमण्डल सूर्यके अदर्शनसे खेदका अनुभव करता है, परन्तु आश्चर्य की बात है उस समय युद्धके क्षेत्रमें भगवान्के चक्रने सूर्यका अदर्शन—छिपना—ही पसन्द किया ॥ ७६

तावत्किरीटी तरुणेन्दुमौलेर्वदान्यताकीर्तिवदावदेन।
[1]शरेण शत्रोरलुनीत शीर्षं साकं प्रमोदेन स कौरवाणाम् ॥ ७७ ॥

---

१. 'अस्त्रेण'। इति पा०।

तावदिति। तावत् जयद्रथदर्शनक्षणे एव सः प्रसिद्धपराक्रमः किरीटी अर्जुनः तरुणेन्दुमौलेः बालेन्दुशेखरस्य शिवस्य वदान्यतायाः दानशीलतायाः या कीर्त्तिः प्रशस्तिः तस्याः प्रवादेन अभिधायिना शिवस्य दानशक्तिप्रभवयशःख्यापकेन शिवदत्तेन शरेण पाशुपतास्त्रेण कौरवाणां दुर्योधनादीनां प्रमोदेन साकं हर्षेण सह शत्रोः पुत्रघातिनो जयद्रथस्य शीर्षम् मस्तकम् अलुनीत छिन्नवान्। यावज्जयद्रथः सूर्यस्यास्तमनं प्रतीक्ष्यार्जुनप्रणाशं द्रष्टुमायाति तावदेवार्जुनस्तस्य शिरः पाशुपतास्त्रेण च्छिन्नवान्, तच्छेदेन कौरवाणां हर्षोऽप्यच्छिद्यत, भगिनीपतेर्मरणजन्यं दुःखं कौरवाणां मनांस्यव्यथयदित्याशयः। सहोक्तिरलङ्कारः॥ ७७॥

जभी जयद्रथ अर्जुनको देखनेके लिये बाहर निकला, तभी अर्जुनने शिवप्रदत्त, शिव की वदान्यताको प्रख्यापित करनेवाले पाशुपतास्त्रसे पुत्रघाती शत्रु जयद्रथका सिर काट गिराया, उसके मरनेके साथ ही साथ कौरवोंका आनन्द भी समाप्त हो गया। अर्जुनके मरनेकी संभावनासे उत्पन्न हर्ष भी कौरवोंका जाता रहा, साथ-साथ बहनोईके मारे जाने से उन्हें बड़ा भारी कष्ट भी हुआ॥ ७७॥

वृद्धक्षत्राञ्जलौ सायं नालमर्घ्याय कं धृतम्।
इतीव कं सिन्धुभर्तुर्जिष्णुस्तस्मिन्नपातयत्॥ ७८॥

वृद्धक्षत्राञ्जलाविति। सायं सन्ध्याकाले वृद्धक्षत्रस्य वृद्धस्य क्षत्रियस्य जयद्रथजनकस्य अञ्जलौ संपुटीकृतकरद्वये धृतम् अवस्थापितं कं जलम् अर्घ्याय सूर्यार्घ्यदानाय न अलम् न पर्याप्तम्, इतीव अस्मादेव कारणात् जिष्णुः अर्जुनः तस्मिन् वृद्धक्षत्राञ्जलौ सिन्धुभर्त्तुः सागरस्य कं जलम् सिन्धुभर्त्तुः जयद्रथस्य कं शीर्षं च अपातयत्। अर्जुनः पाशुपतास्त्रच्छिन्नं जयद्रथस्य शिरः सिन्धुतीरे तपस्यतस्तत्पितुः करेऽपातयत्, यत्र करे स वृद्धः सूर्यायार्घ्यं दातुं जलं निहितवानासीत्, मन्ये सूर्यार्घ्यायापर्याप्तं तदञ्जलिस्थं पूरयितुमिवार्जुनस्तदञ्जलौ सिन्धुभर्त्तुः कम्पानीयमिव जयद्रथस्य शिरो न्यस्तवानिति भावः॥ ७८॥

जयद्रथके पिता बूढ़े क्षत्रिय उस समय सन्ध्याकालमें सूर्यको अर्घ्य देनेके लिये अपनी अञ्जलिमें जल लिये थे, (अर्जुनने सोचा कि उनके हाथका जल सूर्यार्घ्यके लिये पर्याप्त नहीं है ऐसा सोचकर) अर्जुनने उनकी अञ्जलिमें सागरका जल-सिन्धुराजका सिर डाल दिया॥ ७८॥

एतत्किमित्ययमपास्य सुतस्य शीर्षं
शीर्यन्स्वमूर्धनि वरेण शशाङ्कमौलेः।
क्षोण्यामवाङ्मुखतया निपपात वेगा-
दाघ्रातुकाम इव तत्सुतवत्सलत्वात्॥ ७९॥

१. 'इतीव सिन्धुराजस्य'। २. 'न्यपातयत्'। इति पा०।

एतत्किम् इति । अयं वृद्धक्षत्रियो जयद्रथस्य पिता—एतत् शिरः किम् ? कुत आपतितम् ? इति शङ्कितः सन् सुतस्य शीर्षम् जयद्रथस्य शिरः अपास्य भूमौ निपात्य शशाङ्कमौलेः शिवस्य वरेण—'यस्तव पुत्रस्य शिरो भूमौ पातयिष्यति तस्यात्मनोऽपि शिरस्तत्क्षणमेव भूमौ पतिष्यति' एवंरूपेण हरदत्तवरदानप्रभावेण स्वमूर्धनि शीर्यन् भिन्नशिरस्कः सन् सुतवत्सलत्वात् पुत्रप्रेमवशात् तत् सुतशीर्षम् आघ्रातुकामः आजिघ्रासन् इव अवाङ्मुखतया निम्नमुखीभूय वेगात् क्षोण्यां धरण्यां निपपात । यदा तपस्यतो भास्कराघ्र्यदानायोद्युञ्जानस्य च वृद्धस्य जयद्रथपितुः करे जयद्रथस्य शिरः पतितं तदा किमिदमापतितमिति जुगुप्समान इवासौ वृद्धस्तच्छिरो भूमावपातयत्ततश्च पूर्वोक्तरूपेण शिववरेण तस्य वृद्धस्यावाङ्मुखं शिरो भूमौ पपात, तदेत्थं प्रतीयते स्म यदसौ वृद्धो निजपुत्रस्य शिर आघ्रातुं वात्सल्येनेव भूमौ नतमुखो भवतीति भावः ॥ ७९ ॥

उस वृद्ध क्षत्रियके हाथों पर जब जयद्रथका सिर गिरा तब उसने 'यह क्या है ! कहाँसे आ पड़ा है ?' ऐसा सोचकर घबराहटके साथ उस जयद्रथ-शीषको जमीन पर गिरा दिया, वैसा करनेसे शिवप्रदत्त वरके प्रभावसे उस बूढ़े क्षत्रियका सिरभी जमीनपर अधोमुख गिर गया, ऐसा लगता था मानो वह बूढ़ा बाप अपने पुत्र पर प्रेम होनेके कारण उस सिरको-जयद्रथके सिरको सूँघना चाह रहा हो ॥ ७९ ॥

अथ तस्मिन्वासवसूनौ वासरविरामे शिबिरमेत्य यथावृत्तं रणकथां विज्ञाप्य [1]हृषितरोमाणं राजानमुपतिष्ठमाने सुयोधनस्तु क्रोधनतया भगिनीजानि[2]हानिनिदानया सर्वामपि शर्वरीं नियोद्धुकामः सन्[3]गाम्भीरयुद्धारम्भभेरीनिध्वानमुज्जृम्भयामास ॥

[4]एते तदा तं समाकर्ण्य [5]समरवैज्ञानिकाः स्मरणमात्रकृतसंनिधानं निशि दशगुणितभुजबलावलम्बं हिडिम्बभागिनेयं पृथक्प्रस्थाप्य [6]स्वयमपि सकलान्यपि निजबलानि संनाह्य संयुगाय [7]युगायतबाहवः शक्रसुतादयो निश्चक्रमुः ॥

अथ तस्मिन्निति । अथ तस्मिन् जयद्रथहन्तरि वासवसूनौ अर्जुनसुते वासरविरामे दिनान्ते शिबिरम् सेनासन्निवेशदेशम् एत्य आगत्य यथावृत्तम् यथाभूतं रणकथां युद्धवृत्तान्तं विज्ञाप्य निवेद्य हृषितरोमाणं जायमानरोमाञ्चं प्रसन्नम् राजानम् युधिष्ठिरम् उपतिष्ठमाने सेवमाने सति सुयोधनः भगिनीजानेर्भगिन्याः दुःशलायाः पत्युर्जयद्रथस्य हानिः मरणं निदानं यस्यास्तथाविधया क्रोधनतया

---

१. 'हृष्ट' । २. 'निधननिदानतया' । ३. 'गम्भीर' । ४. 'एते तदाकर्ण्य' । ५. 'समरवैज्ञानिकं' । ६. 'स्वयमपि निजबलानि' । ७. 'संयुगायत' । इति पा० ।

क्रुधा सर्वाम् अपि समस्ताम् रजनीं रात्रिम् (अत्यन्तसंयोगे द्वितीया) नियोद्धुकामः युद्धं कर्त्तुमीहमानः सन् गम्भीरयुद्धारम्भभेरीम् भयानकयुद्धप्रारम्भवाद्यम उज्जृम्भयामास प्रवर्त्तितवान् ।

तदा तस्मिन् समये तं भेरीशब्दं समाकर्ण्य श्रुत्वा समरवैज्ञानिकाः युद्धविशारदाः एते पाण्डवाः स्मरणमात्रकृतसन्निधानं ध्यानमात्रोपस्थितं निशि रात्रौ दशगुणितभुजबलावलम्बं दशगुणीभूतबाहुवीर्यशालिनम् रात्रौ विशिष्य प्रभवन्तं हिडिम्बभागिनेयं हिडिम्बासुरभगिन्यां हिडिम्बायां जातं घटोत्कचं नाम भीमसुतं पृथक् स्वतः प्रधान्येन प्रस्थाप्य युद्धार्थं प्रेष्य स्वयम् अपि सकलानि बलानि सैन्यानि संयुगाय अचिरभाविने निशासंगराय संनाह्य उद्युक्तानि कृत्वा युगायतबाहवः वृषभस्कन्धधार्योदारुनिर्मितः शकटाङ्गविशेषो युगं तद्वदायतौ दीर्घपीनौ बाहू येषां ते तथोक्ताः शक्रसुतादयः अर्जुनप्रभृतयः निश्चक्रमुः युद्धार्थं शिबिरेभ्यो निर्गता जाताः ॥

जयद्रथका वध करके सूर्यास्त होनेपर इन्द्रपुत्र अर्जुन शिविरमें आ गये, और युद्धका समाचार सुनाकर युधिष्ठिरको रोमाञ्चित तथा सेवित कर रहे थे, उसी समय दुर्योधनने बहनोई जयद्रथके वधसे उत्पन्न कोपके कारण सारी रातभर लड़ते रहनेकी इच्छासे गम्भीर युद्धारम्भकी सूचना देनेवाले रणवाद्य बजवा दिये ।

उस समय उस रणवाद्य ध्वनको सुनकर युद्धके रहस्यको जाननेवाले पाण्डवोंने याद भर करनेसे उपस्थित, रात्रिमें दशगुण होनेवाले बाहुपराक्रमसे युक्त हिडिम्बाके गर्भसे भीम द्वारा जनित घटोत्कचको पृथक् लड़नेके लिये भेज दिया, और खुद भी सारी सेनाको युद्धके लिये सन्नद्ध करके युग-गाड़ीका जुआ-के समान दीर्घ विशाल बाहु रखनेवाले अर्जुन प्रभृति पाण्डव शिबिरोंसे निकल पड़े ॥

या तारका मे सततं विरुद्धा तां बिभ्रतीमा इति बद्धरोषम् ।
सर्वेन्द्रिये सत्यपि सैनिकानां मार्गं दृशामेव तमो रुरोध ॥ ८० ॥

या तारकेति । या तारका नक्षत्रं तारका कनीनिका च सततं मे मम तमसः विरुद्धा समूलनाशकतया विरोधिनी तां तारकाम् इमाः सैनिकदृशः बिभ्रति धारयन्ति, इति हेतोरस्मात् बद्धरोषं घृतकोपं तमः सर्वेन्द्रिये अन्येन्द्रियगणे सत्यपि इतरेषु श्रोत्रादिषु विद्यमानेष्वपि सैनिकानां दृशां चक्षुषाम् एव मार्गं रुरोध अवरुद्धवत् । अन्योऽपि स्वविरोधिन आश्रयदातारं पीडयति तद्वदिदं तमोऽपि स्वविरोधिन्यास्तारकाया नक्षत्रस्य तत्पदप्रतिपाद्यत्वेन तदभिन्नत्वेनाध्यवसिताया नेत्रकनीनिकाया आश्रयदानात्कुपितमिव सत् चक्षुष एव मार्गं रुरोध, नान्येषामिन्द्रियाणाम् इत्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्याऽलङ्कारः ॥ ८० ॥

अन्धकारने देखा कि जिस तारका-नक्षत्र या नेत्रकनीनिका-से मेरा शाश्वतिक विरोध

है, उसे ये आँखें धारण करती हैं, इसीलिये कुपित होकर अन्धकारने नाक, कान आदि अङ्गोंको छोड़कर सेनाकी आँखोंके मार्गको रोक लिया । अन्धकारके विरोधी कनीनकाओंको आश्रय देनेवाले नेत्रोंपर कोप करके अन्धकारने और इन्द्रियोंको छोड़कर आँखोंके मार्गको घेरा । अन्धकारसे सैनिकोंके नेत्रको मार्ग नहीं सुझ रहा था ॥ ८० ॥

शर्वर्याश्चिकुरे मनोजशिखिनो धूमे नभोरण्यभू-
जम्बूशाखिनि पेचकाण्डजदृशामालोकसिद्धाञ्जने ।
चेले कालहलायुधस्य तमसामुज्जृम्भणे तादृशे
ऽप्यह्नीवाहवशिल्पमद्भुततमं चक्रुर्द्वये सैनिकाः ॥ ८१ ॥

शर्वर्या इति । शर्वर्याः रात्रिरूपायाः स्त्रियः चिकुरे केशपाशे, तत्तुल्य इत्यर्थः, मनोजशिखिनः मदनाग्नेः धूमे धूमसमे, नभः आकाश एव अरण्यभूः वनभूमिः तस्या जम्बूशाखिनि जम्बूवृक्षे, पेचका नाम येऽण्डजाः उलूकपक्षिणस्तेषाम् आलोकाय दृक्शक्तिसम्पत्तये सिद्धाञ्जने दिव्यौषधिरूपे (यस्या ओषधेः प्रभावेण लोकानां दृक्शक्तिः प्रखरायते तत्सिद्धाञ्जनपदेनोच्यते, तमस्युलूकाः समधिकां दृक्शक्तिमासादयन्तीति तमसस्तेषां कृते सिद्धाञ्जनत्वमुक्तम्) कालः यमराज एव हलायुधो बलरामस्तस्य चेले वस्त्रे, तादृशे अनन्योपमे तमसां उज्जृम्भणे प्रागल्भ्ये सत्यपि विद्यमानेऽपि घोरे तमसि सर्वत्र व्याप्तेऽपि अहनि दिन इव द्वये उभये सैनिकाः कौरवपाण्डवोभयपक्षगता भटाः अद्भुततरम् अत्याश्चर्यजनकम् आहवशिल्पं युद्धकौशलं चक्रुः प्रकटीकृतवन्तः । रात्रेः केशपाशोपमे कामवह्नेर्धूमाभे आकाशारण्यभूमेर्जम्बूवृक्षसदृक्षे उलूकानामालोकाय सिद्धाञ्जनसमाने यमरूपबलरामस्य वस्त्रतुल्येऽतिघोरे तमसि सर्वतो व्याप्तेऽपि कौरवपाण्डवोभयपक्षभटा दिवस इवातिविस्मयावहं युद्धनैपुण्यं प्रकाशयन्तिस्मेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

निशारूप नायिकाके केशपाशस्वरूप, कामरूप अग्निके धूमस्वरूप, आकाशरूप अरण्यभूमिके जम्बूवृक्ष-समान, उलूक पक्षीकी दर्शनाभिवृद्धिमें सिद्धाञ्जनतुल्य तथा यमरूप बलरामके वस्त्र-समान तादृश भीषण अन्धकारके व्याप्त रहनेपर भी दिनकी तरह दोनों पक्षोंके वीर सैन्यगणने भीषण युद्धकौशल प्रदर्शित किया ॥ ८१ ॥

प्रधनेऽद्भुतेऽपि निशि नारदहृष्टेः प्रथमेतरा व्यलसदीतिरुदग्रा ।
वनिता अपि त्रिदशनाथनगर्यां वरणस्रजं चिकुर एव बबन्धुः ॥ ८२ ॥

प्रधनेऽद्भुतेऽपीति । निशि रात्रौ अद्भुते विस्मयावहेऽपि प्रधने युद्धे जायमाने नारदहृष्टेः उदग्रा अतिमहती प्रथमेतरा द्वितीया ईतिः अनावृष्टिः व्यलसत् अजायत, रात्रौ योगिनां समाधिमग्नतया तद्युद्धदर्शनादानन्दाश्रुवृष्टिर्न जाता, यदि दिन-

---

१. 'तरं' । २. 'नगर्यां' । इति पा० ।

मभविष्यत्तदाऽसौ तद्युद्धं दृष्ट्वा समधिकमानन्दमध्यगमिष्यदित्यर्थः। त्रिदशनाथ-नगर्याः इन्द्रपुर्याः स्वर्गस्य वनिताः स्त्रियः अपि अप्सरसोऽपि वरणस्रजं युद्धे मृत्वा देवत्वं प्रपद्य स्वर्गमागतानां वीराणां वरणार्थं रचितं माल्यं चिकुरे स्वकेशपाशे एव बबन्धुः अधारयन्। रात्रेस्तासां भोगकालतया ता अपि स्वां वरणस्रजं स्वीय-केशपाशालङ्कारभावेनोपयुक्तवत्य इत्यर्थः॥ ८२॥

रात्रिके समय अद्भुत युद्ध होते रहने पर भी नारदकी आँखोंमें आनन्दाश्रुकी अनावृष्टि ही बनी रही, क्योंकि रात्रि योगियोंके लिये समाधि-समय होता है उस समय वह युद्ध देखने नहीं आये, फलतः उनकी आँखोंसे आनन्दाश्रुधारा नहीं प्रवाहित हो सकी और स्वर्गकी अप्सराओंने भी अपने वरणस्रजोंको अपने केशपाशका ही अलङ्करण बनाया, उस समय उनका भोग-समय था, अतः सज-धजकर वे विलासोंमें लग गईं, युद्ध देखने या वरण करने गईं ही नहीं॥ ८२॥

अमीषु युद्धदिवसेष्वयमेव हि कामुकः।
रणोत्सवे[1] विभज्यार्धं रात्रयेऽसौ[2] ददौ यतः॥ ८३॥

अमीष्विति। अमीषु एतेषु चतुर्दशसु युद्धदिवसेषु अयम् रात्रियुद्धयुक्तो युद्ध-दिवसः एव कामुकः स्त्रीपरायणः रसिकः, यतः कारणात् असौ युद्धदिवसः रणो-त्सवे युद्धकृतोत्सवे अर्धं समांशं विभज्य रात्र्यै ददौ दत्तवान्। यो हि स्त्रीप्रियो भवति स किमपि सुन्दरं वस्तु प्राप्य तदर्धं प्रियायै समर्पयति, अयमपि युद्धदिवसो रणोत्सवार्धं रात्र्यै दत्तवानतोऽयमेव स्त्रीपरः, अन्ये दिवसास्तु नीरसास्तेषु निशायां रणनिवृत्ते निशायै रणोत्सवार्धप्रदानाभावादिति भावः॥ ८३॥

इन सभी युद्ध-दिवसोंमें यह चौदहवाँ युद्ध-दिवस ही कामुक स्त्रीप्रिय रहा, क्योंकि इसने स्वप्राप्तरणोत्सवमें से आधा विभाग करके रात्रिको भी दिया, जो स्त्रीपरायण-कामुक होता है वह उत्तम चीज पाकर अपनी प्रियाको दिया करता है, दूसरे दिनोंने वैसा नहीं किया था, इसने वैसा किया, अतः यही युद्धदिवस कामुक सिद्ध हुआ॥

ततः क्षणादेव घटोत्कचोऽसौ सङ्ग्रामसीमोपरि जृम्भमाणः।
तमीमिमां सान्द्रतमां तमोभिर्दंष्ट्राप्रभाभिर्दिवसं वितेने॥ ८४॥

ततः क्षणादेवेति। ततः असौ पाण्डवपक्षेण प्रहितो घटोत्कचो नाम हिडिम्बा-पुत्रः क्षणात् स्वल्पकालात् एव संग्रामसीमोपरि युद्धक्षेत्रोपरितनभागे जृम्भमाणः धावन् युद्धक्षेत्रोपरि उड्डीयमान इत्यर्थः, इमां तमोभिः सान्द्रतमाम् अतिशया-मलां तमीं निशां दंष्ट्राप्रभाभिः दशनकान्तिभिः दिवस दिनवत्प्रकाशपूर्णां वितेने कृतवान्। युद्धक्षेत्रोपरि चङ्क्रममाणो घटोत्कचः तमोमलिनामपि तां युद्धरात्रिं दिवसवत्प्रकाशपूर्णामकृतेति तात्पर्यम्॥ ८४॥

---

१. 'रणोत्सवं'। २. 'अपि'। इति पा०।

इसके बाद पाण्डवों द्वारा भेजे गये तथा आकाशमें युद्धक्षेत्र के ऊपर मँडराते हुए उस घटोत्कचने अपने दाँतोंकी किरणों द्वारा उस अंधकारपूर्ण रात्रिको दिन बना दिया ॥

तिष्ठ द्रोण ! सुयोधन ! द्रुततरं धावस्व दुःशासन !
त्वां मुञ्चामि किमद्य भोः कृप ! कृपालेशोऽपि न त्वत्कृते ।
गान्धाराधिप ! का कथा तव रणे दुर्मेधसामग्रणीः
कर्णः केति घटोत्कचः कटुरवो व्यभ्राम्यदभ्रान्तरे ॥ ८५ ॥

तिष्ठेति । हे द्रोण, तिष्ठ त्वं युद्धाय स्थिरो भव, सुयोधन, त्वं द्रुततरं शीघ्रं धावस्व पलायस्व, दुःशासन, अद्य त्वां मुञ्चामि त्यजामि किम् ? न त्यजामीत्यर्थः, भोः कृप कृपाचार्य, त्वत्कृते तव विषये कृपालेशो दयालवोऽपि न अस्तीति शेषः, हे गान्धाराधिप, शकुने, रणे तव का कथा ? त्वं तु द्यूतकुशलो युद्धं किं ज्ञातवान् ? दुर्मेधसाम् दुर्बुद्धीनाम् अग्रणीः अग्रगण्यः कर्णः क्व ? कुत्र विद्यते ? इति एवं कटुरवः कठोरवचनः घटोत्कचः अभ्रान्तरे आकाशमध्ये व्यभ्राम्यत् भ्राम्यति स्म ॥ ८५ ॥

द्रोण, आप लड़नेके लिए तैयार रहें, दुर्योधन, तुम शीघ्र युद्धक्षेत्रसे भागो नहीं तो मारे जाओगे, दुःशासन, मैं तुमको आज कहाँ छोड़ता हूँ ? हे कृप, तुम्हारे लिये हमारे हृदयमें तनिक भी दया नहीं है । हे शकुने, तुम लड़नेका हाल क्या जानो, तुम तो जूआ खेलना जानते हो, वह दुर्बुद्धि कर्ण कहाँ है ? इस प्रकार कड़वी बात बोलता हुआ घटोत्कच आकाश में घूमता रहा ॥ ८५ ॥

[2]हैडिम्बेयममुं निजाट्टह[3]सितैः क्षुभ्यद्दशाशामुखं
दंष्ट्राङ्कूरकरालमात्तपरशुं दृष्ट्वैव केचिद्भटाः ।
[4]बिभ्युश्चुक्रुशुराभिमीलुरवनौ पेतुर्मुमूर्च्छुर्जहुः
प्राणानारुरुहुर्विमानममरीरापुः प्रमोदं दधुः ॥ ८६ ॥

हैडिम्बेयमिति । निजाट्टहसितैः स्वीयैरट्टहासैः क्षुभ्यद्दशाशामुखम् व्याप्तदशदिगन्तरालम् दंष्ट्रांकूरकरालम् दन्तप्ररोहभीषणम् आत्तपरशुम् गृहीतकुठारम् अमुं हैडिम्बेयं घटोत्कचं दृष्ट्वा एव केचिद् भटाः योधाः बिभ्युः भीता बभूवुः, चुक्रुशुः रुरुदुः, आमिमीलुः नेत्राणि न्यदधुः, अवनौ पृथिव्यां पेतुः पतिताः, मूमुर्च्छुः, प्राणान् जहुः मृतवन्तः, विमानं देवयानम् आरुरुहुः आरूढाः, अमरीः देवबालाः आपुः प्राप्तवन्तः, प्रमोदं दधुः ताभिः सह रममाणाः प्रसादमापुः ॥ ८६ ॥

अपने भीषण अट्टहाससे दश दिशाओंको व्याप्त करनेवाले, दाँतके अङ्कुरसे भयानक दीखनेवाले, कुठारधारी उस घटोत्कचको देखनेभरसे कुछ योद्धागण डर गये, रोने लगे,

---

१. 'आर्य' । २. 'हैडम्बेय' । ३. 'हस्तिक्षुभ्यत्' । ४. 'बिभ्युश्चक्षुरमी' । ५. 'प्रापुः' । इति पा० ।

आँखें मूँद लीं, जमीन पर गिर गये, मूर्च्छित हो गये, प्राण छोड़ दिये, विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले गये, अप्सराओंको पा लिया और आनन्द करने लगे॥ ८६॥

नभसि तमभिवीक्ष्य घोररूपं दिशि दिशि तत्र पलायिते नृपौघे।
मरणसमयमुष्टिलग्नशस्त्रस्तदभिमुखः प्रययौ कबन्ध एकः॥ ८७॥

नभसीति घोरं भयङ्करं रूपमाकृतिर्यस्य तं तथोक्तं घटोत्कचं नभसि आकाशे अभिवीक्ष्य आलोक्य नृपौघे कौरवपक्षगतराजवर्गे तत्र युद्धे दिशि दिशि नानादिशासु पलायिते द्रुते सति मरणसमये मृत्युकाले मुष्टौ लग्नम् स्थितं शस्त्रं यस्य तादृशः (मरणोत्तरं मुष्टेरनुन्मोच्यतया संप्रति अपि धृतशस्त्रकरः) एकः कबन्धः शिरोरहितः कायः तदभिमुखः घटोत्कचाभिमुखः प्रययौ गतः। युद्धागता राजानस्तु भयादितस्ततोऽपसस्रुः, केवलमेकः कबन्धः स्वमरणकाले मुष्टौ गृहीतशस्त्रतया सम्प्रत्यपि धृतशस्त्रस्तं प्रययाविति भावः। परिसंख्यालङ्कारः, अभिमुखगमनस्य कबन्धे नियमनात्॥ ८७॥

भयानक रूपधारी उस घटोत्कचको आकाशमें उड़ते देखकर राजालोग इधर-उधर नाना दिशाओंमें भाग गये, केवल एक कबन्ध सिरकटा-जिसके हाथकी मुट्ठीमें मरनेके समयमें पकड़ा गया शस्त्र था, (क्योंकि मरनेपर मुट्ठी खुलती नहीं है) वही उसकी ओर गया, उसका पीछा किया॥ ८७॥

पितुश्च पुत्रस्य च वेदवाक्यैर्यदुक्तमैकात्म्यमिदं हि दृष्टम्।
भीमात्मजोऽ[2]पि स्वयमेव[1] युद्धे भीमो यदासीदरिसैनिकानाम्॥ ८८॥

पितुश्चेति। पितुः जनकस्य पुत्रस्य च ऐकात्म्यम् अभिन्नरूपत्वम् यत् वेदवाक्यैः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादिभिः उक्तं तत् इदं दृष्टं तत्र युद्धे प्रत्यक्षीकृतम्। वेदैरुद्घोषित पितुः पुत्रस्य चैकात्म्यं तत्र युद्धे प्रत्यक्षमवेक्षितमित्यर्थः। यत् यतः भीमात्मजोऽप्यसौ घटोत्कचः युद्धे स्वयमेव अरिसैनिकानाम् शत्रुसैन्यानाम् भीमः भयजनकः आसीत् अजायत, भीमजन्यस्यापि तस्य भीमत्वेन तत्र दृश्यतया जन्यजनकैकात्म्यं प्रमापितमिति भावः। काव्यलिङ्गं श्लेषसमुत्थमलङ्कारः॥ ८८॥

वेदोंमें कहा गया है कि जनक और पुत्रमें कोई भेद नहीं होता है, 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि वेदवचनोंने जो पुत्र और पिताकी एकात्मता अभिन्नरूपता बताई है, वह उस समय युद्धमें प्रत्यक्ष देखी गई, क्योंकि भीमात्मज-भीम-पुत्र होकर भी वह घटोत्कच शत्रुसैनिकोंके लिये भीम भयङ्कर हो रहा था, भीमात्मज खुद भीम बन रहा था, इससे साबित हो गया कि पुत्र और पितामें एकरूपता वेदोक्त प्रत्यक्ष समर्थित भी है॥ ८८॥

भिन्दीपालैस्तोमरैः शूलजालैर्वर्षैरुग्रैश्चोभयेषां नगानाम्।

---

१. 'एव'। २. 'हि'। इति पा०।

दृष्टः क्वापि क्वाप्यदृष्टोऽरिसैन्यं व्योम्नि [1]स्थित्वा नाम्नि शेषं स चक्रे ॥८९॥

भिन्दीपालैरिति। स घटोत्कचः व्योम्नि स्थित्वा आकाशे अवस्थाय क्वापि कुत्रचिद्देशे दृष्टः क्वापि अदृष्टः गुप्तः सन् भिन्दीपालैः रज्जुमयपाषाणक्षेपिभिरस्त्रैः, तोमरैः अल्पकुन्ताकारबृहत्फालैरायुधभेदैः, शूलजालैः शूलाख्यास्त्रविशेषैः, उभयेषां नगानां वृक्षाणां पर्वतानां च उग्रैः भीषणैः वर्षैं वृष्टिभिः अरिसैन्यं शत्रुबलं नाम्नि शेषं नामावशेषं चक्रे कृतवान्। भिन्दीपालतोमरशूलास्त्रप्रहारैर्वृक्षाणां पर्वतानां भीषणैर्वर्षैश्च घटोत्कचः सर्वमरिबलमपातयत्, केवलं तन्नाम शिष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भिन्दीपाल, तोमर, शूल आदि अस्त्रोंका प्रहार करके और दोनों प्रकारके नग–पर्वत और वृक्षकी उग्रवृष्टि करके, आकाशमें रहकर कभी दृष्टिपथमें आकर और कभी छिपकर उस घटोत्कचने समस्त शत्रुसैन्यको नामावशेष कर दिया ॥ ८९ ॥

स्वं स्वं क्षयं नागमदद्य रात्रौ दुर्योधनस्य ध्वजिनीति मत्वा।
पितृव्यभक्त्येव स भीमसूनुस्तत्रैव तस्याः क्षयमाततान ॥ ९० ॥

स्वं स्वमिति। दुर्योधनस्य ध्वजिनी सेना अद्य रात्रौ अस्यां रात्रौ (अन्यरात्रिष्विव) स्वं स्वं क्षयं शिबिरं न अगमत् न गतवती, इति मत्वा ज्ञात्वा स भीमसूनुः घटोत्कचः पितृव्ये पितृभ्रातरि दुर्योधने भक्त्या श्रद्धया इव तत्र युद्धदेश एव तस्याः दुर्योधनध्वजिन्याः क्षयं नाशमाततान कृतवान्। अस्यां रात्रौ सेनेयं शिबिरं न गतेति मत्त्वेव घटोत्कचः पितृव्यभक्त्येव तत्सेनायास्तत्रैव क्षयं कृतवान् शिबिरं व्यधादिति च। 'प्रलयावासयोः क्षयः' इति विश्वः ॥ ९० ॥

और रातोंकी भाँति आजकी रात दुर्योधनकी सेना अपने क्षय-आवासको न जा सकी, यह जानकर भीमके पुत्र घटोत्कचने दुर्योधनकी सेनाका उस युद्धक्षेत्रमें ही क्षय बना डाला, क्षय कर दिया, मानो वह अपने पिता के भाई दुर्योधनपर बड़ी भक्ति रखता हो, उसी भक्तिसे प्रेरित होकर उसने दुर्योधनकी सेनाका क्षय–निवास, निर्माण–नाश कर दिया हो । ९० ॥

तत्रान्तरे,—

वाहिन्या एव मे नार्धं मेदिन्या अपि नङ्क्ष्यति।
क्षणं युद्ध्येत चेदेष इति मेने सुयोधनः ॥ ९१ ॥

वाहिन्या इति। एषः घटोत्कचः क्षणं किञ्चित् कालं यावत् युध्येत चेत् संग्रामं प्रवर्त्तयेद्यदि, तदा मे मम वाहिन्याः सेनाया एव न, मेदिन्या अपि अर्द्धं नङ्क्ष्यति विनाशं गमिष्यति, यद्ययं कियत्कालपर्यन्तं युद्धं चालयेत्तदा न केवलमर्धं सेनायाः, ममाधिकारस्थाया भुवोऽप्यर्धं विनश्येत्, इति सुयोधनः मेने निर्णीय ज्ञातवान् ॥

---

१. 'छित्त्वा नामशेषम्'। इति पा०।

अगर यह घटोत्कच कुछ देर तक और लड़ता रहेगा तब केवल हमारी आधी सेना ही नहीं, आधी हमारी अधिकृत भूमि भी नष्ट हो जायगी, ध्वस्त हो जायेगी, सुयोधनने यह तय कर लिया। सुयोधनको दृढ़ विश्वास हो गया कि अगर यह कुछ देर लड़ता रह जायेगा, तब हमारी आधी सेनाके साथ-साथ हमारी आधी पृथ्वी भी धूलमें मिल जायेगी ॥ ९१ ॥

इत्थं नितान्तचिन्तासंतानार्दितस्य[1] धार्तराष्ट्रस्य संप्रार्थनागुणनिकया संभृतसर्वाभिसारो मिहिरकुमारो वज्रधारया महेन्द्रो महीध्रमिव तेन दत्तया वलक्षाश्वक्षपणदक्षेयमिति चिररक्षितया महत्या शक्त्या वक्षसि निर्भिद्य[2] क्षणेन तं क्षणदाचरं क्षितौ निपातयामास[3] ॥

इत्थमिति । इत्थम् अनेन प्रकारेण नितान्तम् अत्यर्थम् चिन्तासन्तानेन चिन्ताप्रवाहेण अर्दितस्य पीडितस्य धार्त्तराष्ट्रस्य संप्रार्थनागुणनिकया प्रार्थनापौनःपुन्येन भूयोभूयोऽभ्यर्थनया संभृतसर्वाभिसारः (घटोत्कचमारणाय) विहितसर्वोद्योगः सर्वात्मना सन्नद्धः मिहिरकुमारः कर्णः महेन्द्रः शक्रः वज्रधारया महीध्रम् पर्वतमिव तेन महेन्द्रेण दत्तया वलक्षाश्वस्य अर्जुनस्य क्षपणक्षमा मारणसमर्था इयम् शक्तिरिति चिररक्षितया अर्जुनवधाय सुरक्षितस्थापितया महत्या शक्त्या तदाख्यास्त्रभेदेन तं क्षणदाचरं निशाचरं राक्षसं घटोत्कचं वक्षसि हृदयदेशे निर्भिद्य विदार्य क्षणेन अविलम्बेन क्षितौ पृथिव्यां पातयामास अपातयत्। कर्णेनेन्द्रदत्तया शक्त्या वक्षसि भिन्नो घटोत्कचो मृत इत्यर्थः। वज्रधारया महेन्द्रो महीध्रमिवेत्युपमा॥

इस प्रकार नितान्त चिन्तासमूहसे पीडित दुर्योधनकी बार-बार की गई प्रार्थनासे घटोत्कचको मारनेके लिये सभी प्रकारका उद्योग करनेवाले सूर्यपुत्र कर्णने जैसे वज्रकी धारसे इन्द्र पर्वतको भिन्न कर देते हैं उसीतरह इन्द्रद्वारा दी गई तथा 'इससे अर्जुनका वध करूँगा।' इसलिये बहुत दिनोंसे सुरक्षित रखी गई शक्तिसे घटोत्कच नामक उस निशाचरका कलेजा फाड़ दिया, और वह घटोत्कच तुरत जमीन पर गिर गया ॥

पौत्रस्य तस्य प्रबलस्य[4] शक्तेः प्रहारपीडां प्रतियोधिदत्ताम्[5] ।
अपारयन्द्रष्टुमिवातिघोरामन्तः स्थितो वायुरगाद्बहिष्ठात्[6] ॥ ९२ ॥

पौत्रस्येति । प्रबलस्य प्रकृष्टबलयुक्तस्य पौत्रस्य पुत्ररूपभीमजनितस्य तस्य घटोत्कचस्य अन्तःस्थितः हृदयवर्त्ती वायुः प्राणानिलः प्रतियोधिना प्रतिभटेन शत्रुणा दत्ताम् उत्पादिताम् अतिघोरां शक्तेः प्रहारपीडाम् शक्त्याख्यशस्त्राघातजन्यां व्यथां द्रष्टुम् अपारयन्निव असहमान इव वायुः बहिष्टात् हृदयात् बहिः निर-

---

१. 'संतानादार्तस्य संप्रार्थनागुण'। २. 'निर्भेद्य'। ३. 'न्यक्षिपत्'; 'पातयामास'। ४. 'प्रबलप्रसिद्धेः'। ५. 'योध'। ६. 'बहिष्टात्'। इति पा०।

गात् निर्गतः। कर्णप्रहृतशक्तिव्यथां सोढुमसमर्थ इव घटोत्कचप्राणवायुस्तद्धृदयात् निरयासीदिति उत्प्रेक्षा। बहिष्टात् इत्यत्र स्वार्थे तातिः॥ ९२॥

कर्णद्वारा प्रहृत शक्तिकी घोर व्यथासे होनेवाले अपने पौत्रके कष्टको नहीं देख सकनेके कारण वायुदेव घटोत्कचके हृदयसे बाहर निकल गये, कर्णने जो शक्ति चलाई उससे घटोत्कचको जो पीड़ा हुई, उसे वायुदेव नहीं देख सके, अपने पौत्रके कष्टको वह नहीं देख सके, इसीलिये वह उसके हृदय देशसे बाहर निकल गये, जिससे उसकी छटपटाहट न देखनी पड़े॥ ९२॥

साऽपि शक्तिरभिहत्य नराशं सांयुगीनजनसंनुतशौर्यम्।
वायुसूनुपरिघादिव भीता वासवस्य सविधं प्रतिपेदे॥ ९३॥

साऽपि शक्तिरिति। सा इन्द्रेण कर्णाय दत्ता, कर्णेन च घटोत्कचे प्रहृता शक्तिर्नाम्नाम् सांयुगीनजनसंनुतशौर्यम् शूरजनप्रशंसितपराक्रमम् नराशं राक्षसं घटोत्कचम् अभिहत्य मारयित्वा वायुसूनुपरिघात् भीमकरस्थायाः गदायाः भीता इव त्रस्ता इव वासवस्य सविधम् इन्द्रसमीपदेशं प्रतिपेदे गतवती। घटोत्कचनाशात्परतः सा शक्तिः पुनरपि इन्द्रस्य समीपं गता, मन्ये सा पुत्रमारणजनितकोपात् भीमपरिघात् बिभेति स्म इव॥ ९३॥

इन्द्रद्वारा कर्णको दी गई वह शक्ति शूरजनद्वारा प्रशंसितपराक्रम उस राक्षस घटोत्कचका वध करके फिर इन्द्रके पास चली गई, ऐसा मालूम पड़ता था, मानो वह वायुपुत्र भीमके परिघ–गदासे डर रही हो। शक्तिको भय मालूम पड़ा कि मैंने भीमके पुत्रकी हत्या की है, कहीं भीमकी गदा उसका बदला न लेने लगे, अतः वह शक्ति अपने शरण्य इन्द्रके पास चली गई॥ ९३॥

[1]तदानीं तत्र तेषां कौरवकौन्तेयसैन्यानां बाष्पलहरीं निष्पा[2]दयितुं मोदविषादयोरहमहमिकया स्पर्धा समवर्धत॥

अथ जयद्रथघटोत्कचनिधनशोका[3]तिशयगुरून्द्वयानपि कु[4]रूनाश्वासयितुमिव कुलकूटस्थे कुमुदबान्धवे कुलिशायुधदि[5]शमेत्य काशनिकाशैरभीषुभिरा[6]काशं सदि[7]शावकाशं [8]विकाशयमाने सति [9]कोपकुटिलीकृतचापौ विराट[10]द्रुपदभूपौ द्रुतमनीचैर्नाराचैराचार्यं शललैः [11]शल्यमृगमित्र निबद्धतनुमातेनतुः॥

---

१. 'तदानीं तेषाम्'। २. 'उत्पादयितुम्'। ३. 'अतिरेक'। ४. 'कुरु'। ५. 'दिशामेत्यकाशनीकाशैः'। ६. 'आकाशदिषा'। ७. 'दशदिशा'। ८. 'व्याकोचमाने'। ९. 'कोपेन'। १०. 'द्रुपदविराट'। ११. 'शलाल'। इति पा०।

तदानीमिति । तदानीं तस्मिन् काले तत्र युद्धक्षेत्रे तेषां कौरवकौन्तेयसैन्यानाम् कौरवपक्षसेनानां पाण्डवपक्षसेनानां च बाष्पलहरीम् एकत्रपक्षे आनन्दाश्रुधाराम् अपरत्रपक्षे शोकाश्रुधारां निष्पादयितुं प्रवर्त्तयितुम् मोदविषादयोर्हर्षशोकयोः अहमहमिकया अहं पूर्वमहंपूर्वमित्येवंरूपेण स्पर्धा विवादः समवर्धत अजायत । तदा कौरवसेना मुदा आनन्दाश्रु वर्षयितुम् पाण्डवसेनाश्च विषादेनाश्रु मोक्तुं परस्परस्पर्धामिवाकृतेति भावः ।

अथ अनन्तरम् जयद्रथस्य घटोत्कचस्य च निधनेन मृत्युना यः शोकातिशयः समधिको विषादस्तेन गुरून् पीडापूर्णान् द्वयान् उभयपक्षगान् अपि कुरून् पाण्डवान् धार्त्तराष्ट्रांश्च आश्वासयितुं धैर्यं धारयितुम् इव कुलकूटस्थे चन्द्रवंशस्याद्यपुरुषे कुमुदबान्धवे चन्द्रे कुलिशायुधस्य वज्रिण इन्द्रस्य दिशम् प्राचीम् एत्य आसाद्य काशनिकाशैः शरपुष्पधवलैः अभीषुभिः किरणैः सदिशावकाशं दिगन्तरालसहितम् आकाशम् नभः विकाशयमाने प्रकाशयति सति, कोपकुटिलीकृतचापौ क्रोधनमितधनुषौ विराटद्रुपदभूपौ विराटद्रुपदनामानौ भूपौ द्रुतम् शीघ्रम् अनीचैः विशालैर्नाराचैः बाणविशेषैः आचार्यं द्रोणम् शललैः तल्लोमभिः शल्यमृगम् इव निबद्धतनुम् आचितवपुषम् आतेनतुः चक्राते । अतः परं जयद्रथस्य मरणेन व्यथितान् कौरवान् घटोत्कचस्य मरणेन व्यथितान् पाण्डवांश्च धैर्यं धारयितुमिव चन्द्रवंशस्यादिपुंसि चन्द्रे प्राचीमुपेत्य धवलैरंशुभिर्दिगन्तरालमाकाशं च व्यश्नुवाते सति चक्रीकृतचापौ विराटद्रुपदौ द्रोणाचार्यस्य वपुः स्वबाणैर्व्याप्तमकुरुतां यथा शल्यमृगस्य शरीरं शललैर्व्याप्तं तिष्ठतीत्याशयः । 'श्वावित्तु शल्यस्तल्लोम्नि शलली शललं शलम्' इत्यमर ॥

युद्धस्थलमें उस समय कौरव-सैन्य और पाण्डव-सैन्यकी क्रमशः आनन्दाश्रुधारा तथा शोकाश्रुधारा को प्रवर्त्तित करनेके विषयमें आनन्द और विषाद परस्पर स्पर्धा कर रहे थे ।

इसके बाद जयद्रथ तथा घटोत्कचके निधनशोकसे पूर्ण कौरव और पाण्डवोंको आश्वासित करनेके लिये चन्द्रवंशके आदिपुरुष चन्द्रमा जब प्राची दिशामें आकर काशपुष्पधवल अपनी किरणोंसे दिशावकाशके साथ-साथ आकाशको भी धवल बनाने लगे, तब कोपसे धनुषको वक्र-नमित करके विराट तथा द्रुपदने द्रोणाचार्यके शरीरको अपने विशाल बाणोंसे उसी तरह व्याप्त कर दिया, जैसे शाहीका शरीर उसके शलल केश या काटोंसे व्याप्त रहता है ॥

तस्यार्धमग्ना नाराचास्तन्वां तद्विक्रमश्रियः ।
रोचन्ते स्म प्रहृष्यन्त्या रोमाञ्चानामिवाङ्कुराः ॥ ६४ ॥

तस्येति । तस्य द्रोणस्य तन्वां वपुषि अर्धमग्नाः अर्धप्रविष्टाः, नाराचाः विशालबाणाः द्रुपदेन विराटेन च प्रयुक्ताः, प्रहृष्यन्त्याः युद्धावसरलाभेन मोदमानायाः

तस्य द्रोणस्य विक्रमश्रियः पराक्रमलक्ष्म्याः रोमाञ्चानाम् पुलकानाम् अङ्कुराः प्ररोहा इव रोचन्ते स्म भान्ति स्म। द्रोणशरीरमग्ना द्रुपदविराटाभ्यां प्रयुक्ताः नाराचा द्रोणस्य पराक्रमश्रियो रोमाञ्चा इव शोभन्ते स्म। उत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ९४॥

द्रुपद तथा विराटद्वारा प्रहृत होकर द्रोणाचार्यके शरीरमें आधे चुभे हुए वे नाराच-बाण ऐसे लग रहे थे, जैसे युद्धावसरलाभसे खुश होने वाली द्रोणकी पराक्रमलक्ष्मीके रोमाञ्चाङ्कुर हों॥ ९४॥

[1]अग्निदेश्येन निक्षिप्तमथोभौ द्रोणपार्षतौ।
कोदण्डविद्यासर्वस्वं तन्वाते[2] स्म प्रकाशितम्॥ ९५॥

अग्निदेश्येनेति। अथ द्रोणः पार्षतः द्रुपदश्च तौ उभौ अग्निदेश्येन तन्नामकेन द्रोणद्रुपदयोरस्त्रविद्यागुरुणा निक्षिप्तं न्यासीकृतं शिक्षितम् कोदण्डविद्यासर्वस्वम् अस्त्रविद्यारहस्यं प्रकाशितं तन्वातेस्म चक्रतुः। उभावपि सतीर्थ्यौ द्रोणद्रुपदौ यावत्तयोर्गुरुणाऽग्निदेश्यनामकमुनिना शिक्षितं तावत्सर्वमस्त्रविद्यानैपुण्यं प्रकाशयामासतुरिति भावः॥ ९५॥

इसके बाद द्रुपद तथा द्रोणको उनके अस्त्रविद्यागुरु अग्निवेश्यने जो कुछ अस्त्रविद्या-कौशल उपदेश द्वारा थातीके रूपमें दिया था, उन लोगोंने उस समस्त अस्त्रविद्या-कौशलको प्रकाशित कर दिया॥ ९५॥

ततः शरसंभवभगिनीजानेश्चापचतुर्मुखो वृद्धत्व[3]विश्राणितविकृतवेषयोरपि विशिखविमोचनसृष्टिशिल्पेन विलोभनीयविग्रहीकृतयोर्विराटपाञ्चा[4]लयोर्वरणोत्सवयौगपद्ये[5] सति विबुधपुरविलासिनीनां[6] विडौजसः[7] कुटुम्बिन्या अपि दुःसमाधेयं[8] विवादमापादयामास॥

अथ तत्र शर्वरीचरभुजगर्वनिर्वापित[9]पर्वतशृङ्गशिला[10]भङ्गविपाटितशरीरा[11] संध्यारागमिषेण रुधिरधारामुत्सृजन्ती सा निशापि [12]विनाशदशामाशु विवेश[13]॥

तदनु कोककुटुम्बिनीनां नग्नंकरणे महसि समारूढविहायसि क्रोध[14]निद्रारोधसाधारणीभवदरुणिमदृक्प्रतिफलनैरायोधनधरणीरुधिरधुनीषु

---

१. 'अग्निवेश्येन'। २. 'कुर्वाते'। ३. 'अतिवृद्धत्व'; 'समृद्ध'। ४. 'पांचालयोरहंपूर्विकया'। ५. 'यौगपद्ये विबुध'। ६. वारविलासिनीनां'। ७. 'विडौजः कुटुंविन्या'। ८. 'दुःसमाधम्'। ९. निर्वान्त'। १०. 'विभङ्गपाटित'। ११. 'शरीरेव'। १२. 'नाशदशाम्'। १३. 'समाविवेश'। १४. 'निरोध'। इति पा०।

पङ्केरुहाण्यङ्कुरयन्तो घटोत्कचविराटपाञ्चालपञ्चताप्रपञ्चितवैरभारतया 'गुरोरायुर्हेतुमलीकाक्षरं परिमार्ष्टुमलीकवचनमेकं प्रयुज्यतां भवता' इति धर्मजातमनुकूलयन्तो वसुदेववासवकुमारादयः प्रथमसंनिकृष्टस्य धृष्टद्युम्नस्य वरूथिनीविमाथिनीं वारणधोरणीं प्रचेतसमिव पयोधरपरम्परां पुरोधाय भृशं खस्य गुणं शङ्खस्य परिपूरणेन दुर्वहं कुर्वन्तं कौरवसेनापतिमभिजग्मुः ॥

तत इति । ततः तदनन्तरं शरसंभवस्य कृपाचार्यस्य भगिनी कृपी जाया स्त्री यस्य तस्य द्रोणाचार्यस्य चापचतुर्मुखः धनुरात्मको ब्रह्मा वृद्धत्वेन वार्धकेन विश्राणितो दत्तः विकृतः कुत्सितः पलितादिना वनिताजननिन्दनीयो वेषो रूपं याभ्यां तयोस्तथाभूतयोरपि विशिखविमोचनं बाणप्रहार एव सृष्टिः सर्गस्तदेव शिल्पं चातुर्यं तेन विलोभनीयविग्रहीकृतयोः सुन्दरं वपुः प्रापितयोः (यद्यपि वलीपलितादिवार्धककृतदोषैर्विराटद्रुपदौ दूषिततनू आस्तां तथापि द्रोणस्य चापो ब्रह्मा बाणप्रहाररूपसृष्टिनैपुण्येन मरणं प्रापय्य नूतनदेवभूमे समारोप्य रमणीयतनुतां गमितौ, तयोरित्यर्थः) वरणोत्सवयौगपद्ये युगपत्पतित्वेन वरणरूपे उत्सवे सति विबुधपुरविलासिनीनां स्वर्गस्थानामप्सरसाम् विडौजसः इन्द्रस्य कुटुम्बिन्या भार्यया शच्याऽपि दुःसमाधेयम् समाधातुमशक्यं शमयितुमयोग्यं विवादम् कलहं आपादयामास उपस्थापितवान् । यद्यपि द्रुपदविराटौ वृद्धौ तथापि द्रोणचापो मारणेन तौ देवौ कृत्वा सुन्दरतां प्रापय्य तौ वरीतुमहमहमिकया स्पर्धमानानामप्सरसां तं कलहमुपस्थापयामास यस्य समाधानं शच्यापि मध्यस्थया कर्तुं नापार्यतेति भावः ॥

अथेति । अथ अनन्तरं तत्र युद्धक्षेत्रे शर्वरीचरस्य राक्षसस्य घटोत्कचस्य भुजगर्वेण बलदर्पेण निर्वापितानाम् उत्पाट्य पातितानां पर्वतश्रृङ्गाणां शिलाभङ्गैः दारुखण्डैः विपाटितशरीरा विदीर्णदेहा संध्यारागमिषेण सायङ्कालसमुचितरक्तभावव्याजेन रुधिरधाराम् शोणितप्रवाहम् उत्सृजन्ती कुर्वती सा निशा रात्रिः अपि आशु शीघ्रं विनाशदशाम् अवसानम् विवेश प्राप्ता । घटोत्कचकृतपर्वतशिलाप्रवाहैः श्रृणिता संध्यारागव्याजेन रक्तमिव प्रवाहयन्ती रात्रिरपि प्रभातेत्यर्थः । तदनु तत्पश्चात् कोककुटुम्बिनीनां चक्रवाकवधूनां नम्रङ्करणे विवस्त्रतासंपादके रतोत्सवजनके महसि तेजसि सूर्ये समारूढविहायसि आकाशमागते सति क्रोधस्य दृष्ट-

---

१. 'प्रपञ्चत' । २. 'अलीकम्' । ३. 'प्रयुज्यतामिति' । ४. 'वायुवासव' ।
५. 'प्रथमं संनिकृष्ट'; 'प्रधनसंनिकृष्टधृष्टद्युम्नवरूथिनी' । ६. 'प्रचेता इव' ।
७. 'कुरुसेनाधिपतिम्' । इति पा० ।

जनविनाशभवस्य कोपस्य निद्रानिरोधस्य रात्रिजागरणस्य च साधारणीभवन् तुल्यरूपेणोत्पाद्योऽरुणिमा रक्तता यासु तासां दृशां प्रतिफलनैः प्रतिबिम्बनैः आयोधनधरणीषु युद्धभूमिषु याः रुधिरधुन्यो रक्तनद्यस्तासु पङ्केरुहाणि कमलान्यङ्कुरयन्तः जनयन्तः (कोपेन जागरणेन च रक्ताद्दशो युद्धस्थलप्रवाहिणीषु रुधिरधारासु निपात्यतासु कमलानीव जनयन्तः) घटोत्कचविराटपाञ्चालानां पञ्चतया मृत्युना प्रपञ्चितवैरभारतया समेधितवैरतया—'गुरोर्द्रोणस्य आयुर्हेतुम् जीवनादृष्टरूपम् अलीकाक्षरं ललाटलिपिं प्रमार्ष्टुम् एकम् अलीकवचनं मिथ्या वचः प्रयुज्यतां व्याह्रियतां भवता इति एवं धर्मजातं युधिष्ठिरम् अनुकूलयन्तः स्वीकर्तुं प्रेरयन्तः, वसुदेववासवकुमाराद्यः श्रीकृष्णार्जुनप्रभृतयः प्रथमसन्निकृष्टस्य आदिभागे स्थितस्य धृष्टद्युम्नस्य वरूथिनीविमाथिनीं सैन्यसंहर्त्रीम् वारणधोरणीम् गजसेनां पुरोधाय (पयोधरपरम्परां पुरोधाय अग्रे कृत्वा स्थितं प्रचेतसं वरुणमिव) खस्याकाशस्य गुणं शब्दं शङ्खस्य स्वीयशङ्खस्य परिपूरणेन आध्मानेन भृशं दुर्वहं भारयुतं दीर्घं कुर्वन्तम् (हस्तियूथं पुरस्कृत्य शङ्खमाधमन्तम्) कौरवसेनापतिं द्रोणम् अभिजग्मुः सम्मुखं प्रापुः ॥

इसके बाद कृपाचार्यके बहनोई द्रोणाचार्यके चापरूप ब्रह्माने विराट तथा द्रुपदके बुढ़ापेके कारण कुरूप कर दिये जाने पर भी अपने बाणप्रहाररूप सृष्टिनैपुण्यद्वारा रमणीयकलेवर बनाकर उनके वरणार्थ एक साथ आई हुई अप्सराओंके बीच शचीद्वारा भी नहीं सुलझाने लायक कलह पैदा कर दिया। यद्यपि विराट् तथा द्रुपद बूढ़े हो जानेके कारण विरूप हो गये थे, तथापि द्रोणके चाप रूप विधाताने अपने बाणप्रयोगरूप सृष्टिचातुर्यसे उन बूढ़ोंको इतना सुन्दर तन दे दिया कि वे जब मरणोत्तर स्वर्ग गये तब उनके वरणार्थ अप्सराओंमें आपसमें इतना झगड़ा पैदा हुआ जिसे शची भी नहीं सुलझा सकती थीं।

अनन्तर युद्धक्षेत्रमें राक्षस घटोत्कचके बलदर्पसे गिराये गये पर्वतशृङ्ग-शिलाखण्डोंसे चूर्णित देहवाली रात प्रातःसन्ध्याकालिक लालीरूप रुधिरधारा बहाती हुई नाशदशाको प्राप्त हुई, रात बीत गई॥

इसके बाद कोककुटुम्बिनी-चक्रवाकीको नग्न करनेवाले-रतिप्रवृत्त बनानेवाले तेज सूर्य जब आकाशमें आ गये तब कोप और निद्राअभाव दोनों द्वारा समानभावसे उत्पन्न लाली युक्त आँखोंके प्रतिबिम्बोंद्वारा युद्धक्षेत्रमें प्रवाहित होनेवाली रुधिरकी नदियोंमें कमलको उत्पन्न करनेवाले घटोत्कच, विराट तथा पाञ्चालके मरनेसे बढ़े हुए वैरके कारण 'द्रोणाचार्यके भालमें लिखी आयुरेखाको मिटानेके लिये एकबार आप मिथ्या वचनका प्रयोग करें' इस प्रकार युधिष्ठिरको मनाते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन वगैरह सबसे आगे रहनेवाले धृष्टद्युम्नकी सेनाको मथित करनेवाली हस्तिपङ्क्तिको—जैसे वरुण मेघमालाको आगेमें रखे हों, उस तरह आगेमें रखकर आकाशके गुण शब्दको अपने शङ्खके शब्दसे आकाशको अति दुर्वह बनाते हुए द्रोणाचार्यके सामने आ गये॥

कोपेन तावत्कुटिलः स भीमः कुम्भानभाङ्क्षीद्गदया गजानाम्[1] ।
नामैकदेशोऽपि च कुम्भयोनेरेतैर्धृतोऽभूदिति मत्सरीव ॥ ९६ ॥

कोपेनेति । तावत् तस्मिन् काले कोपेन घटोत्कचादिमरणभवेन क्रोधेन कुटिलः भयङ्करः स भीमः एतैः गजकुम्भैः कुम्भयोनेः द्रोणस्य नामैकदेशः कुम्भशब्दः अपि धृतः स्ववाचकतयाऽवलम्बितोऽभूत् इति मत्सरो धृतेर्ष्य इव गदया गजानाम् कुम्भान् मस्तकदेशान् अभाङ्क्षीत् व्यदलयत् । भञ्जेः कर्त्तरि लुङ् । इमे गजकुम्भाः कुम्भयोने द्रोणस्य नाम्नः कुम्भयोनिशब्दस्यैकदेशं कुम्भशब्द धारयन्ति स्ववाचकतयोपाददते इति कुप्यन्निव भीमो गजकुम्भानां विपाटनं कृतवान् इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

यह गजकुम्भ कुम्भयोनि द्रोणके नाम कुम्भयोनि पदके एकदेश कुम्भशब्दका धारण करते हैं इसलिये कुम्भोंपर कोप रखनेवाले भीमने अपनी गदासे गजकुम्भोंको भग्न कर कर दिया ॥ ९६ ॥

इति तत्र[2] तां करिघटां पाटयता[3] घटोत्कचजनकेन द्रोणसुतस्य सनाम्नि हस्तिनि पातिते[4] सति 'प्रचुरतरमदः स्ववशानुवर्ती शुभतरमणिदेदीप्यमानमस्तकोऽयमश्वत्थामा हतः' इति धर्मतनयगदितं[5] कर्णारुंतुदमभ्यर्णमाकर्ण्य वैवर्ण्यभरितवदनं सुतनाशशोकमोहेन[6] परित्यक्तचापशयं स्थण्डिलेशयं भारद्वाजमालोक्य[7] हृष्टतरधीर्धृष्टद्युम्नो[8][9] निजपितृबन्धनस्मृ[10]तिजनुषा रुषा सत्वरमेत्य हन्तुमुदयुङ्क्त[11] ॥

इति तत्रेति । इति एवंप्रकारेण तत्र युद्धस्थले करिघटां गजपङ्क्तिं पाटयता दलयता घटोत्कचजनकेन भीमेन द्रोणसुतस्य अश्वत्थाम्नः सनाम्नि तुल्याभिधाने अश्वत्थामनामनि हस्तिनि गजे पातिते हते सति 'प्रचुरतरमदः अतिमत्तः स्ववशानुवर्त्ती स्वकरिणीमनुसरन् शुभतरमणिभिः मुक्तामणिभिः देदीप्यमानमस्तकः धवलशिराः अयमश्वत्थामा (गजो) हतः' इति धर्मतनयगदितं युधिष्ठिरोच्चारितं कर्णारुन्तुदं कर्णकष्टप्रदम् (द्रोणस्य बुद्धौ युधिष्ठिरोक्तेरयमर्थ आपतितो यत् 'प्रचुरतरमदः सातिशयभुजदर्पः स्ववशानुवर्त्ती स्वाधीनगतिः हन्तुर्वशंगत इति वा शुभतरमणिना दीप्तललाटोश्वत्थमा मम पुत्रो हतः') आकर्ण्य श्रुत्वा वैवर्ण्यभरितवदनम् भिन्नकान्तिमुखं सुतनाशशोकमोहेन पुत्रविपत्तिकृतखेदभवया मूर्च्छया परित्यक्तचापशयं धनुस्त्यागिकरम् स्थण्डिलेशयम् दर्भास्तरणे शयानं भारद्वाजं द्रोणमालोक्य दृष्ट्वा हृष्टतरधीः अतिप्रसन्नबुद्धिः धृष्टद्युम्नः निजस्य पितुः द्रुपदस्य द्रोणेन अर्जुनद्वारा

---

१. 'द्विपानाम्' । २. 'तत्र करिघटाम्' । ३ 'पातयता' । ४. 'निपातिते' । ५. 'निगदितम्' । ६. 'सुतशोकमोहेन' । ७. 'अवलोक्य' । ८. 'हृष्टधीः' । ९. 'द्युम्नोऽपि' । १०. 'वधस्मृति' । ११. 'अभिहन्तुम्' । इति पा० ।

कारितस्य बन्धनस्य स्मृत्या जनुर्यस्यास्तया रुषा कोपेन सत्वरं शीघ्रम् एत्य समीपमागत्य हन्तुम् द्रोणं खण्डयितुमुदयुङ्क्त उद्यमं कृतवान् ॥

इस प्रकार युद्धक्षेत्रमें हाथियोंको मारनेवाले भीमने जब अश्वत्थामा नामक हाथीको मार गिराया तब युधिष्ठिरने कहा कि–'मदमत्त, अपनी हथिनीका अनुसरण करनेवाला, मुक्तामणि-धवलमस्तक यह अश्वत्थामा नामक गज मारा गया' (द्रोणने समझा कि—भुजबलदृप्त, स्वाधीन, मणिशोभितललाट अश्वत्थामा मेरा पुत्र मारा गया) युधिष्ठिरकी ऐसी कष्टप्रद उक्तिको सुनकर द्रोणका चेहरा उतर गया, उन्होंने धनुष हाथसे गिरा दिया, वे जमीनपर कुश बिछाकर सो गये, इस प्रकार उन्हें सोता देख धृष्टद्युम्नको बड़ी खुशी हुई, उसे–द्रोणने अर्जुनद्वारा उसके पिता द्रुपदको बँधवाया था, यह बात याद आ गई, इस बातके स्मरणसे कुपित होकर वह द्रोणके पास जाकर उन्हें मारनेको उद्यत हो गया ॥

एकेन खड्गं द्रुपदस्य सूनुः करेण चान्येन कचं[1] गृहीत्वा ।
विलूय शीर्षं गुरुमप्यमुं द्रागन्तेवसन्तं कलयांचकार ॥ ९७ ॥

एकेनेति । द्रुपदस्य सूनुः द्रुपदपुत्रो,धृष्टद्युम्नः एकेन करेण दक्षिणेन बाहुना खड्गं गृहीत्वा अन्येन करेण वामेन कचं द्रोणस्य शिरःस्थं केशं गृहीत्वा च शीर्षं द्रोणशिरो विलूय छित्वा गुरुम् चापाचार्यम् अपि अमुम् द्रोणम् अन्तेवसन्तं शिष्यं समीपे अवस्थितं च कलयाञ्चकार कृतवान् । तथा तस्य शिरश्छित्वा तं स्वसमीपे स्थापयामासेत्यर्थः ॥ ९७ ॥

द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्नने एक हाथसे तलवार तथा दूसरे हाथसे द्रोणकी चोटी पकड़कर उनका सिर काटकर गुरुको भी अन्तेवसत् शिष्य–तथा समीपस्थ बना दिया, जो गुरु थे वह शिष्य हो गये इसमें विरोध आभासित होता है; जो गुरु थे वह उसके समीप सो गये इसमें उसका परिहार हो जाता है । यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ९७ ॥

[2]तत्तादृशं तदनु तातवधं निशम्य
कोपातिरेककलुषः कृपभागिनेयः
आग्नेयमस्त्रममुचत्परसैनिकाना-
मक्षौहिणी शलभतां लभते स्म त[3]स्मिन् ॥ ९८ ॥

तत्तादृशमिति । तदनु तत्तादृशम् लोकनिन्दनीयं तातस्य पितुः वधं हत्याम् (अस्त्रत्यागदशायां मारणम्) निशम्य श्रुत्वा कोपातिरेककलुषः कोपाधिक्य क्षुब्धः कृपभागिनेयः कृपस्य भगिन्याः कृप्याः पुत्रः अश्वत्थामा आग्नेयम् अग्निदेवताकम् अस्त्रम् अमुचत् प्रायुङ्क्त, यस्मिन्नाग्नेयाऽस्त्रेऽश्वत्थामप्रयुक्ते परसैनिकानां शत्रुसेनानाम् अक्षौहिणी परिमाणभेदः शलभतां लभतेस्म दग्धत्वमभजत । शलभो नाम अग्नौ पतयालुः कीटभेदः ॥ ९८ ॥

---

१. 'कचे' । २. 'तम्' ३. 'यस्मिन्' । इति पा० ।

इसके बाद अपने पिताका-द्रोणका इस प्रकार निन्दनीय वध-अस्त्रत्यागावस्थामें मारा जाना सुनकर अत्यन्त कोपके कारण क्षुभित होकर अश्वत्थामाने आग्नेय अस्त्रका प्रयोग कर दिया, जिस आग्नेय अस्त्रमें शत्रुसेनाकी अक्षौहिणी शलभत्वको प्राप्त हुई, जल मरी ॥

ततः सुराधीश्वरसूनुमुक्तब्रह्मास्त्रभासा भृशधिक्कृतेन ।
अस्त्रेण सार्धं गुरुनन्दनस्य मन्दायमानद्युतिरास भानुः ॥ ९९ ॥

तत इति । ततः अश्वत्थामप्रयुक्ताग्नेयास्त्रेण स्वसेनाया दाहनानन्तरम् सुराधीश्वरसूनुना देवनायकपुत्रेण अर्जुनेन मुक्तस्य प्रयुक्तस्य ब्रह्मास्त्रस्य भासा दीप्त्या भृशधिक्कृतेन तिरस्कृतेन गुरुनन्दनस्य अश्वत्थाम्नः अस्त्रेण आग्नेयास्त्रेण सार्धं सह भानुः सूर्यः मन्दायमानद्युतिः मन्दीभूततेजस्कः आस बभूव । अश्वत्थाम्ना प्रयुक्तमाग्नेयमस्त्रं शमयितुं पार्थो ब्रह्मास्त्रं प्रयुक्तवान्, तेन तदीयमाग्नेयास्त्रं धिक्कृतमिव मन्दायमानद्युतिकमभूत्, तेनैव सह सूर्योऽपि मन्दायमानद्युतिरजायत । सूर्योऽस्तं गत इति परमार्थः । अत्र सूर्यास्तगमने आग्ने.यास्त्रसाहित्योक्तेः सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ९९ ॥

इसके बाद अश्वत्थामप्रयुक्त आग्नेयास्त्रको शमित करनेके लिये देवाधीश इन्द्रके पुत्र अर्जुनने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया, उस ब्रह्मास्त्रसे अति तिरस्कृत होकर अश्वत्थामाद्वारा प्रयुक्त वह आग्नेयास्त्र मन्दप्रभ हो गया और उसीके साथ सूर्य भी मन्दप्रभ हो गये ॥९९॥

धृतराष्ट्रसुतोऽपि गेहमागाद्दिनदीपाङ्कुरदीनदीनदीप्तिः ।
शकलीकृतबाहुकर्णनासैः सह योधैः स घटोत्कचाश्मवर्षात् ॥ १०० ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते दशमः स्तबकः ।

धृतराष्ट्रसुतोऽपि इति । सः धृतराष्ट्रसुतः दुर्योधनः अपि दिनदीपाङ्कुरदीनदीनदीप्तिः अहनि दीपस्येव दीनदीना अतिक्षीणा द्रोणजयद्रथादिवधेन मन्दीभूता दीप्तिः कान्तिः यस्य तथाभूतः स्वपक्षवीराणां मरणेनातिमन्दतेजाः सन् घटोत्कचाश्मवर्षात् घटोत्कचकृतशिलाप्रहारजन्यादाघातात् शकलीकृतबाहुकर्णनासैः खण्डिततत्तदङ्गैः योधैः सह अवशिष्टैः स्वपक्षभटैः सह गेहम् आवासदेशम् आगात् आयातः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ १०० ॥

द्रोण, जयद्रथ आदि वीरोंके मारे जानेसे उदास, दिनमें जलाये गये दीपकी तरह मन्दतेज वह दुर्योधन भी घटोत्कच द्वारा किये गये शिलाप्रहारसे खण्डित हो गये हैं हाथ, कान तथा नाक आदि अङ्ग जिनके ऐसे बचे हुए भटोंके साथ अपने आवासस्थानको आ गया ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत'प्रकाशे'
दशमस्तबक'प्रकाशः' ॥

---

१. 'नासाः' । इति पा० ।

एकादशः स्तबकः

अन्येद्युरब्धिमिलितैरसृगापगानां
पूरैरिवोदयति पूषणि शोणिताङ्गे।
सेनाधिपत्यसरणौ धृतराष्ट्रसूनुः
कर्णं सुवर्णघटवारिभिरभ्यषिञ्चत् ॥ १ ॥

अन्येद्युरिति। अन्येद्युः द्रोणवधात्परवासरे अब्धिमिलितैः सागरसंगतैः असृगापगानां रक्तनदीनां पूरैः प्रवाहैः इव शोणिताङ्गे रक्ततनौ पूषणि सूर्ये उदयति सति धृतराष्ट्रसूनुः कर्णं नाम सेनाधिपत्यसरणौ सेनापतिपदे सुवर्णघटवारिभिः कनककलशजलैः अभ्यषिञ्चत् अभिषिक्तवान्। द्रोणवधानन्तरम् परदिने युद्धप्रवाहिणीनां रक्तधाराणां प्रवाहैस्सागरसंगतैरिव शोणितरञ्जिततनौ रक्ताभे सूर्ये प्राच्यां प्रकटीभूते सति दुर्योधनः कर्णं कनककलशाहृतैर्जलैः सेनापतिपदेऽभिषिक्तवान्, सेनापतिं कृतवान् ॥ १ ॥

द्रोणके मारे जानेपर दूसरे दिन सागरसंगत शोणित प्रवाहमें अवगाहन करनेके कारण रक्तवर्णशरीर सूर्य जब प्राची दिशामें उदित हुए तब दुर्योधनने कर्णको कनककलशजलसे सेनापति पदपर अभिषिक्त किया ॥ १ ॥

आभामतानीद[1]भिषेककाले तस्योपरिष्टात्तपनीयकुम्भः।
आघ्रातुमात्मप्रभवोत्तमाङ्गं समीपयातस्य सरोजबन्धोः[2] ॥ २ ॥

आभामिति। तस्य कर्णस्य अभिषेककाले उपरिष्टात् उपरिभागे तपनीयकुम्भः कनककलशः आत्मप्रभवस्य स्वपुत्रस्योत्तमाङ्गं शिरः आघ्रातुम् समीपयातस्य सविधमुपगतस्य सरोजबन्धोः सूर्यस्य आभाम् शोभाम् अतानीत् कृतवान्। अभिषेककाले कर्णस्योपरिदेशेऽवस्थितः स्वर्णघटः कर्णस्य पितुः सूर्यस्य तच्छिर आघ्रातुमागतस्य शोभामधत्त, कर्णशिरोघ्रातुमायातः सूर्य इव प्रतीयतेस्मेत्यर्थः। अत्र सुवर्णकलशः कर्णाघ्राणागतसूर्यतयोत्प्रेक्षितो बोध्यः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २ ॥

अभिषेक-कालमें कर्णके ऊपरि देशमें वर्त्तमान स्वर्णकलश ऐसा लगता था मानो अपने पुत्र कर्णके सिरको सूँघनेके लिये समीप आया हुआ सूर्य हो। कनककलशको .सूर्यरूपमें उत्प्रेक्षित किया गया है ॥ २ ॥

दिङ्मूलशैलकुहरेशयकेसरीन्द्रसौखप्रसुप्तिकमहापटहारवेण।
कर्णो बलेन करनर्तितकालपृष्ठो जन्यस्थलीमथ[3] रथेन जवाज्जगाहे ॥३॥

---

१. 'आभात्तदानीम्'। २. 'समीपयातो हि सरोजबन्धुः'। ३. 'मभिरथेन'। इति पा०।

दिङ्मूलेति । अथ सेनापतिपदेऽभिषेकानन्तरम् दिङ्मूलशैलानां दिशामादिभागे स्थितानां चक्रवालादिपर्वतानां कुहरेशयाः गुहास्थिताः ये केसरीन्द्राः महासिंहास्तेषां सौखप्रसुप्तिकः सुखशयनप्रश्नकर्त्ता तन्निद्राभञ्जकः यः महापटहारवः महान् यस्य भेरीशब्दस्तेन दिगन्तस्थितपर्वतगुहासुप्तसिंहप्रबोधकारिणा दिगन्तव्यापकेन विजयवाद्यध्वनिनेत्यर्थः, बलेन सैन्येन (सह) करनर्त्तितकालपृष्ठः शरसन्धानमोचाभ्यां करकम्पितकालपृष्ठाख्यस्वचापः कर्णः रथेन जवात् वेगपूर्वकम् जन्यस्थलीम् युद्धभूमिम् जगाहे प्रविष्टः। सेनापतिपदेऽभिषिक्तः कर्णो महाध्वनिना विजयवाद्येन दिगन्तपर्वतगुहाशयान् सिंहान् जागरयन् बलेन सह कालपृष्ठं नाम स्वं धनुर्नर्त्तयन् कर्णो वेगेन समरभूमिमाससादेत्यर्थः ॥ ३ ॥

दिगन्तमें वर्त्तमान चक्रवालादि पर्वतोंकी गुहाओंमें सोये हुए सिंहोंको जगा देनेवाले वाद्य शब्दोंसे युक्त सेनाको साथ लेकर रथारूढ कर्णने अपने हाथमें कालापृष्ठ नामक अपने धनुषको नचाते हुए युद्धभूमिमें वेगपूर्वक प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तावत्परेषां ध्वजिनीश्वरोऽपि पदं न्यधत्त[1] प्रधनप्रदेशे ।
परिस्फुरत्पट्टसशक्तियष्टिशरासतूणीरशरैर्[2]बलौघैः ॥ ४ ॥

तावदिति । (यावत्कर्णो युद्धभूमिं प्रविशति) तावत् परेषां पाण्डवानां ध्वजिन्याः सेनायाः ईश्वरः अधिपतिः धृष्टद्युम्नः अपि परिस्फुरन्तः देदीप्यमानाः पट्टसाः, शक्तयः, यष्टयः, शरासाः चापाः, तूणीराः इषुधयः, शराः बाणाश्च येषां तैः तथोक्तैस्तत्तदस्त्रसज्जितैः बलौघैः सैन्यसमुदयैः (सह) प्रधनप्रदेशे युद्धस्थले पदं न्यधत्त समाजगाम । यावत्कर्णो रणस्थलीं गाहते तावद् धृष्टद्युम्नोऽपि तत्तदस्त्रयुतान्सैनिकानादाय युद्धभूमिं गत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जबतक कर्णने युद्धभूमिमें प्रवेश किया तबतक पाण्डवोंके सेनापति धृष्टद्युम्नने भी चमकते हुए पट्टिश, शक्ति, यष्टि, धनुष, तरकस, बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सज्जित स्वसैन्य के साथ युद्धक्षेत्रमें पदार्पण किया ॥ ४ ॥

चमूद्वयी सा तदनु प्रगल्भा विसृत्वरैर्[3]व्योमनि पांसुपुञ्जैः ।
प्रागेव शुद्धामपि सिद्धसिन्धुं विचित्रमेतद्व्यतनोदपापाम् ॥ ५ ॥

चमूद्वयीति । तदनु कौरवपाण्डवसेनाद्वयसमागमानन्तरम् प्रगल्भा युद्धकलानिपुणा सा चमूद्वयी सेनाद्वितयी व्योमनि आकाशे विसृत्वरैः प्रसरणशीलैः पांसुपुञ्जैः सैन्यपदक्षेपोत्थापितैर्धूलीपटलैः प्राक् स्वसम्पर्कात् पूर्वम् एव शुद्धाम् अपगतपापाम् अपि सिद्धसिन्धुं देवापगाम् अपापाम् अपगतपापाम् अपगता आपो यस्यास्तां तथोक्ताञ्च अतनोत् एतत् विचित्रम् आश्चर्यकरम् । सेनोत्थापितो धूलीभरो व्योमनि प्रसरन्नपगतमलाया अपि देवापगाया अपापताम् अतनोत् इति मह-

---

१. 'न्यधत्त' । २. 'पट्टिशखेटशक्तिशरास' । ३. 'प्रसृत्वरैः' । इति पा० ।

दाश्चर्यम् , शुद्धायाः पापापनोदनं वैयर्थ्यादाश्चर्यकरम् अपापाम् इत्यस्य अपगतापाम् अपगतजलाम् शुष्काम् अतनोदिति विवक्षितार्थः । अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

इसके बाद रणकलाप्रवीण दोनों पक्षोंकी सेनाओंने अपने द्वारा उड़ाई गई तथा आकाशमें फैलनेवाली धूलसे पहले ही निष्पाप आकाशगङ्गाको अपाप निष्पाप बनाया, यह आश्चर्यकी बात हुई, जो पहले ही से निष्पाप हो उसे क्या अपाप बनाया जायगा ? अपगता आपः जलानि यस्याः, इस विग्रहसे अपाप शब्दका अर्थ शुष्क भी होता है, अपाप बनाया माने सुखा डाला, यही मुख्य अर्थ है, जिसमें विरोध छूट जाता है ॥ ५ ॥

पादातं पादातं [१]रथ्या रथ्यां च हास्तिकं गजता ।
[२]आश्वीयं चाश्वीयं द्रागभिदुद्राव [३]कम्पितमहीकम् ॥ ६ ॥

पादातमिति पदातीनां पादचारिसैनिकानां समूहः पादातं तथाविधम् रथ्या रथसमूहो रथ्याम् , गजता करिसमुदायः हास्तिकम् गजयूथम् , आश्वीयम् अश्वगणः च आश्वीयम् स्वसमानजातीयम् (परबलम्) द्राक् शीघ्रम् कम्पिता मही यस्मिन् कर्मणि तत्तथा अभिदुद्राव आचक्राम । द्वन्द्वयुद्धं प्रावर्त्ततेति भावः ॥ ६ ॥

पदाति-सैन्यसमूह पदातिय से, रथगण रथोंसे, गजयूथ गजयूथसे तथा अश्वसमूह अश्वसमूहसे, इस प्रकार सब सैन्य दूसरे पक्षके सजातीय सैन्यसे द्वन्द्वयुद्ध करने लगे, जिससे वहाँकी पृथ्वी काँप उठी ॥ ६ ॥

विरोधिसेनामभिवीक्ष्य कोपाद्विस्फारिताद्भानुसुतेन चापात् ।
विजृम्भमाणं तरसा गुणं स्वं वियत्समस्तं न शशाक वोढुम् ॥ ७ ॥

विरोधिसेनामिति । भानुसुतेन कर्णेन विरोधिसेनाम् शत्रुसैन्यम् अभिवीक्ष्य दृष्ट्वा कोपाद् विस्फारितात् सक्रोधं नमितात् चापात् कालपृष्ठाख्यात्स्वधनुषः तस्या वेगेन विजृम्भमाणं प्रकटीभवन्तम् स्वं गुणम् शब्दाख्यं गुणम् वोढुम् समस्तं वियत् आकाशं न शशाक । शत्रुसैन्यसागरदर्शनजनितकोपेन कर्णेन सद्यो नम्यमानाद्धनुषः प्रादुर्भवन्नाकाशस्य गुणः शब्दस्तत्राकाशे न मातिस्म, अतिमहान्ध्वनिरभवदित्यर्थः ॥ ७ ॥

शत्रुसैन्यसागरको देखकर कर्णने कोपसे अपने धनुष कालपृष्ठको टंकारित किया, उससे जो आकाशका गुण-शब्द तेजीसे निकला, उस शब्दको ढोनेमें पूरा आकाश असमर्थ हो गया, आकाशमें वह शब्द नहीं अट सका ॥ ७ ॥

कुरुचमूपतिबाणविदारितादुदपतन्मणयः करिमस्तकात् ।
[४]सुतवितीर्णनिजास्पददुर्दशां द्युमणये विनिवेदयितुं किल ॥ ८ ॥

---

१. 'रथ्यां रथ्या' । २. 'आश्वम्' । ३. 'प्रकम्पित' । ४. 'सुतविदीर्ण' । इति पा० ।

कुरुचमूपतीति। कुरुचमूपतिना कौरवसेनापतिना कर्णेन बाणैः स्वशरैः विदारितात् विपाटितात् करिमस्तकात् पाण्डवसैन्यगजशिरसः मणयः मुक्ताफलानि—द्युमणये सूर्याय सुतेन तत्पुत्रेण कर्णेन वितीर्णां दत्ताम् उत्पादितां निजास्पदानां करिकुम्भानां दुर्दशाम् विपाटनात्मिकां विनिवेदयितुं किल कथयितुम् इव उदपतन् उदडीयन्त। बाणैः करिमस्तकानि कर्णोऽभिनत्, ततो मुक्ताफलान्युदपतन्, मन्ये मणयः कर्णेन कृतं स्वाश्रयविदारणरूपमपकारं तत्पित्रे सूर्याय निवेदयितुमिवाकाशस्थितसूर्यमुद्दिश्योदडीयन्त, अन्योऽपि पुत्रकृतमपकारं तत्पित्रे निवेदयितुमागच्छति तद्वदिति भावः। फलोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ ८॥

कौरवसेनापति कर्णद्वारा विदारित करिकुम्भोंसे मणियाँ आकाशको ओर उड़ीं, ऐसा लगता था मानो सूर्यके पुत्र कर्ण द्वारा की गई अपने निवासस्थान गजकुम्भोंकी दुर्दशा को सूर्यसे निवेदित करनेके लिये जा रही हों॥ ८॥

अनेकधा दत्तबिलास्यबाणैररातिखेटावलिराबभासे।
भीर्व्रीडखेदावकराद्ग्रहीतुं पृथक्तयाऽसून्यमचालिनीव॥ ९॥

अनेकधेति। अस्य कौरवसेनानायकस्य कर्णस्य बाणैः शरैः अनेकधा बहुशो दत्तविला कृतच्छिद्रा अरातिखेटावलिः शत्रुगणकरस्था फलकततिः भीः भयं, लज्जा त्रपा, खेदो दुःखम्, एतत्त्रयमेव अवकरः तुषधूल्यादिसमूहः तस्मात् पृथक्तया भिन्नत्वेन असून् प्राणान् ग्रहीतुं यमचालिनी यमसम्बन्धिनी चालिनी सानेकरन्ध्रयन्त्रभेदः इव आबभासे शुशुभे। अयमाशयः—कर्णो बाणान्मुञ्चति, तैः विपाटिततया बहुच्छिद्रीभूता शत्रुगणस्य बाणवारणाय धृता फलकततिः—शत्रूणाम् मरणकाले भिया लज्जया खेदेन च सङ्कीर्णान्प्राणान् पृथक्कृत्य ग्रहीतुमात्ता यमचालिनी इव प्रतीयतेस्म, अन्योऽपि कृषकादिः तुषादिमिश्रितमन्नगणं पृथक्कर्तुं चलिनीं प्रयुङ्क्ते, तद्वद्यमोऽपि लज्जाभयखेदमिलितान्मृतशूरगणप्राणान् पृथक्कर्तुं चालिनीमाददे, तथैव म्रियमाणशूरगणकरस्था खेटावलिः प्रतीयते स्मेति। अत्र रूपकोत्प्राणितोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः॥ ९॥

सूर्यपुत्र कर्ण द्वारा बहुत छिद्रोंसे युक्त बनाई गई शत्रुओंकी ढालें उस समय ऐसी मालूम पड़ती थीं मानो लज्जा, भय, दुःख आदिसे सङ्कीर्ण शत्रुगणके प्राणोंको साफ करके अलग करनेके लिये लाई गई यमकी चालनी हो। जैसे अन्नके साथ भूसा, मिट्टी आदिके मिल जानेपर लोग चालनीके द्वारा उसे साफ कर लेते हैं, उसी तरह मरनेके समयमें शूरोंके प्राण लज्जाभयदुःखादि विविध भावोंसे सङ्कीर्ण हो जाते हैं उन्हें प्राणसे अलग करके केवल प्राण भर ले जानेके लिये यमने ढालकी चलनी लाई हो॥ ९॥

तदनु बाणगणैर्द्युमणेः सुतो धृतविपत्ति स पत्तिकदम्बकम्।

---

१. 'भिदाऽस्य'। २. 'चालनीव'। इति पा०।

अतिविषादि निषादिकुलं व्यधाद्यमपुरीपथिकान्रथिकानपि ॥ १० ॥

तदन्विति। तदनु अनेकयोधसंहारानन्तरम् सः प्रसिद्धपराक्रमो द्युमणेः सूर्यस्य सुतः कर्णः बाणगणैः स्वप्रयुक्तबाणराशिभिः पत्तिकदम्बकम् पादचारिसैन्यसमूहम् घृतविपत्ति विपन्नम्, (मरणरूपविपन्निमग्नम्) निषादिकुलं हस्तिपकमण्डलम् अतिविषादि सातिशयदुःखोपेतम्, रथिकान् रथारूढान् अपि यमपुरीपथिकान् यमपुरगतान् व्यधात्। त्रिविधमपि सैन्यं कर्णेन स्वबाणैर्व्यापाद्यते स्मेति तात्पर्यम्। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १० ॥

इसके बाद सूर्यपुत्र-कर्णने अपने बाणों द्वारा पादचारिसैन्यको मरणरूप विपत्तिमें डाल दिया, हस्तिपक-समुदायको विषादपूर्ण कर दिया और रथारोहियोंको भी यमपुर मार्गका पथिक बना दिया ॥ १० ॥

अग्रेसरः कर्णहतेषु कश्चिद्भटः प्रविष्टो रविरन्ध्रमार्गम्।
निलिम्पचाटुश्रुतिपुष्टदेहो निर्गन्तुमीष्टे स्म न किंचिदुच्चैः ॥ ११ ॥

अग्रेसर इति। कर्णहतेषु कर्णेन हतानां भटानां मध्ये अग्रेसरः पुरोगामी कश्चिद् भटः रविरन्ध्रमार्गम् सूर्यमण्डलरूपं वर्त्म प्रविष्टः प्रविष्टमात्रः सन्नेव निलिम्पानां देवानां चाटुनः तत्प्रशंसापरकवाक्यस्तोमस्य श्रुत्या आकर्णनेन पुष्टदेहः स्थूलीभूत-शरीरः (भूत्वा) किञ्चित् अल्पम् अपि उच्चैः ऊर्ध्वम् निर्गन्तुम् नेष्टेस्म, न समर्थो भवतिस्म। कर्णमारितेषु भटेषु कोऽपि भटः प्रथमं सूर्यबिम्बरन्ध्रमार्गं प्रविष्ट एव देवैः कृतया प्रशंसयोच्छूनगात्रः सन् ततो वर्त्मनो बहिर्भवितुं नाशकत्, तत्रैव तथैवावातस्थे इत्याशयः। असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ११ ॥

कर्ण द्वारा मारे गये शूरोंमेंसे एक बहादुर शूर पहले ही सूर्यबिम्बभेदन करके स्वर्ग पहुँचने के लिये सूर्यरन्ध्रमार्गमें पहुँचा, मार्ग सङ्कीर्ण था ही, देवोंने जो उस वीरकी शूरताकी प्रशंसा की, तो उसकी देह फूल उठी, बस वहीं वह अटक गया, आगे जानेमें समर्थ नहीं हुआ ॥

पुष्पप्रदानेन सुरद्रुवर्गे श्रान्तेऽमराणां प्रथमं वृतानाम्।
हठेन कण्ठादपहृत्य मालामवृण्वताभ्यग्रसुरानमर्यः ॥ १२ ॥

पुष्पप्रदानेति। पुष्पाणां नूतनागतसुरवरणमाल्यानां प्रदानेन वितरणेन सुरद्रुवर्गे कल्पवृक्षसमूहे श्रान्ते घृतायासखेदे सति प्रथमं वृतानाम् अग्रे वरणमालया सत्कृतानाम् अमराणां देवभावं प्राप्तवतां शूराणां कण्ठात् हठात् अकस्मात् बल-पूर्वकं वा मालाम् स्वदत्तामेव वरणस्रजम् अपहृत्य आदाय अमर्यः देवाङ्गनाः अभ्यग्रसुरान् नवागतान् वीरान् देवभूयंगतान् अवृण्वत वृण्वतेस्म, अनुक्षणं युद्धे मृत्वा देवत्वमासाद्य स्वर्गमागच्छतां वरणार्थं स्रजोऽर्पयन्तो देवद्रुमाः श्रान्ताः

---

१. 'जातस्तुति'। २. 'न च'। ३. 'बुधद्रुवर्गे'। इति पा०।

सन्तो भूयो माल्यं नार्पयन्ति, तदापि देवानां वरणं मा प्रतिबन्धीतिभावयन्त्योऽप्सरसः पूर्वं वृतानां देवानामेव कण्ठेभ्यो हठान्माल्यान्यादाय नवान् सुरान्वृण्वतेस्मेति तात्पर्यम् । अत्राप्यतिशयोक्तिः तथा चासङ्ख्यभटवधरूपवस्तुध्वनिः ॥१२॥

अहर्निश युद्धमें मरकर स्वर्ग आनेवाले नवीन देवोंके वरणार्थ माल्य समर्पण करने वाले देववृक्षगण जब थकसे गये, माला देनेमें असमर्थ हो गये, तब अप्सराओंने पहले वरण किये गये देवोंके गलेसे हठात् मालायें उतारकर नवागत देवोंका वरण करना प्रारम्भ किया ॥ १२ ॥

तं[1]त्तादृशं तरणिभूभुजचण्डिमानं
संवीक्ष्य सर्वरिपुदृक्षु च भीतिभाक्षु ।
आसीत्प्रमोदपरिमेदुरमेकमेव
वा[2]मेतरं रणतले वनमालिनेत्रम् ॥ १३ ॥

तत्तादृशमिति । तत्तादृशम् अनितरसाधारणं तरणिभुवः सूर्यसुतस्य कर्णस्य भुजयोः बाह्वोः चण्डिमानम् उग्रत्वम् प्रतापातिशयं संवीक्ष्य दृष्ट्वा रणतले युद्धक्षेत्रे सर्वरिपुदृक्षु सकलशत्रुनयनेषु भीतिभाक्षु भयत्रस्तेषु सत्सु च एकं वामेतरं दक्षिणं वनमालिनेत्रं कृष्णनयनमेव (सूर्यात्मकतया) प्रमोदपरिमेदुरम् आनन्दपूर्णम् आसीत् । यद्यपि युद्धे कर्णस्य प्रतापमालोक्य सर्वाणि शत्रुनेत्राणि भयमभजन्त, अथापि कृष्णस्य दक्षिणं सूर्यात्मकं नेत्रं स्वपुत्रपराक्रमदर्शनेन लब्धहर्षमजायतेति भावः ॥ १३ ॥

सूर्यसुत कर्णका असाधारण प्रताप देखकर युद्धक्षेत्रमें वर्त्तमान सभी शत्रुओंके नयन भयसे भर गये, भीत हो उठे, केवल एकमात्र वनमाली कृष्णका वामेतर-दक्षिण नेत्र आनन्दसे परिपूरित हो रहा था । 'सूर्याचन्द्रमसौ दृष्टी' इस तरह शास्त्रमें भगवान्‌के नयन सूर्यचन्द्ररूप कहे गये हैं, तदनुसार भगवान्‌का सूर्यात्मक दक्षिण नयन अपने पुत्रकी वीरता देखकर आनन्दपूर्ण हो रहा था ॥ १३ ॥

रिक्ते पुष्पैः सिद्धगन्धर्ववर्गे[3] मुक्त्वा मुक्त्वा मूर्ध्नि वीरस्य तस्य ।
द्वावेवाभ्रे द्योसदां गोष्ठिमध्ये पूषाचन्द्रौ पुष्पवन्तावभूताम् ॥ १४ ॥

रिक्त इति । सिद्धानां गन्धर्वाणां च देवयोनिभेदानां वर्गे समूहे (इदमुपलक्षणं देवानामपि—तथा च सिद्धगन्धर्वदेवगणे इत्यर्थः फलितः) तस्य तथा पराक्राम्यतः वीरस्य कर्णस्य मूर्ध्नि शिरसि मुक्त्वा मुक्त्वा अभिवृष्य पुनः पुनः पुष्पवृष्टीर्विधाय पुष्पैः रिक्ते शून्ये सति अभ्रे आकाशे द्योसदां देवानां गोष्ठिमध्ये सभायां द्वौ पूषाचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ पुष्पवन्तौ धृतपुष्पौ पुष्पवत्पदप्रतिपाद्यौ चाभूताम् स्थित-

---

१. 'तं तादृशम्' । २. 'सयेतरम्' । ३. मुख्ये' । इति पा० ।

वन्तौ। कर्णस्य शिरसि पुष्पवर्षणं कृत्वा रिक्ततामुपगतेषु देवेषु केवलं सूर्याचन्द्रमसावेव पुष्पवन्तौ सपुष्पौ पुष्पवत्पदप्रतिपाद्यौ चातिष्ठतामिति भावः। 'पूषाचन्द्रौ' इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। 'एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ' इत्यमरः। अत्राप्यतिशयोक्तिरलङ्कारः देवानां रिक्तत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानात्। शालिनीवृत्तम्, लक्षणं पूर्वमुक्तम्॥ १४॥

बहादुर कर्णके सिरपर बारबार पुष्पवृष्टि करके जब सभी देवगण फूलसे शून्य (रिक्त-खाली) हो गये तब आकाशचारी देवोंमें केवल सूर्य तथा चन्द्रमा दो ही (केवल) पुष्पवन्त फूलवाले बच गये, पुष्पवत् शब्दके अभिधेय रह गये॥ १४॥

वियत्प्रदेशाद्विशिखैः कठोरैर्दुद्राव दूरं ध्रुवमब्जबन्धुः।
अमुष्य नो चेदचिराद्भजेरन्पादाः कथं पाटलिमानमेव॥ १५॥

वियत्प्रदेशादिति। अमुष्य कर्णस्य कठोरैः भीषणैः विशिखैः (कठोरविशिखप्रहारभीत्या) अब्जबन्धुः कमलकुलमित्रं सूर्यः वियत्प्रदेशात् आकाशात् दूरं बहुदूरं दुद्राव पलायितः ध्रुवम् असंशयं, सूर्यः कर्णकठोरबाणप्रहारभीतः सन् रथाश्वान्मन्दगतीन् विहाय पादचारेणैव वियद्देशात् सुदूरं पलायितवानिति प्रथमपादद्वयार्थः। तत्रोपपत्तिमाह—नोचेदिति। नोचेत् यदीदं न स्यात्तदा अस्य सूर्यस्य पादाः चरणाः किरणाश्च पाटलिमानम् रक्तत्वम् अचिरादेव तत्क्षणादेव कथं भजेरन् प्राप्नुयुः, यदि सूर्यः पादचारेण सुदूरं पलायितवान् नाभविष्यत्तदा तदीयाः पादा रक्तत्वं गता नाभविष्यन्, सन्ति तु तथाभूता अतस्तथाभावः प्रतीयत इत्याशयः। अन्यस्यापि दूरदेशधावनेन पादयोररुणिमोत्पद्यते। अस्तोन्मुखोऽभूदर्क इति भावः। अर्थापत्तिरतिशयोक्तिश्चालङ्कारौ॥ १५॥

कर्णके कठोर-बाण-प्रहारके भयसे कमलकुल-मित्र सूर्य आकाशसे बहुत दूर भाग गये, यह बात अवश्य ही हुई, अन्यथा उतने समयमें ही उनके पाद-चरण या किरण लाल कैसे हो जाते। उस समय अस्तोन्मुख सूर्यकी किरणें लाल हो रही थीं, ऐसा लगता था मानो आकाशमें कर्ण-बाणवृष्टि होते देखकर सूर्य भगवान् आकाशसे दूर भाग खड़े हुए हैं, इसलिये द्रुतगमनके कारण उनके पाद लाल हो रहे हैं। जो पैदल चलता है उसके पैरोंका लाल हो जाना स्वाभाविक है, सूर्य रथपर चढ़कर नहीं भागे, क्योंकि रथाश्व उतनी तेजीसे नहीं भागते, दिनभर चलते रहनेसे घोड़े थक गये थे॥ १५॥

तरणेः किरणैस्तदारुणानां पटलं व्योम्नि पयोमुचां बभासे।
चिरकालबुभुक्षया पिशाचैरधिकं मांसमिवाहवादुपात्तम्॥ १६॥

तरणेरिति। तदा सूर्यास्तकाले तरणेः सूर्यस्य किरणैः अरुणानां रक्तीकृतानाम्

---

१. 'पाटलिमातिरेकम्'। २. 'बुभुक्षितैः'। इति पा०।

पयोमुचां मेघानां पटलं समूहः व्योम्नि आकाशे पिशाचैः भूतविशेषैः चिरकालबुभुक्षया बहुदिनपर्यन्तमाहाराय आहवात् रणस्थलादुपात्तं संगृह्य रक्षितमधिकं मांसम् इव बभासे रुरुचे । अस्तकालेऽरुणवर्णैः सूर्यकिरणैः रञ्जिता मेघमाला पिशाचैश्चिरकालपर्यन्तमहाराय सञ्चितो मांसराशिरिव दृश्यते स्म । उपमाऽलङ्कारः ॥१६॥

उस समय सूर्यास्तकालमें अरुणवर्ण सूर्य-किरणोंसे रञ्जित मेघमाला ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो पिशाचोंने बहुत दिनों तक खाते रहनेके लिये युद्धस्थलसे बहुत-सा मांस इकट्ठा करके रख लिया हो । लाल मेघमाला आकाशमें पिशाचों द्वारा सञ्चित करके रखी गई मांसराशिके समान प्रतीत हो रही थी ॥ १६ ॥

अवरोपितज्यमथ कर्णकार्मुकं
विरतौ दिनस्य विजहौ विनम्रताम् ।
अवलोकनाय हरिदन्तरे भया-
द्द्रवतामरातिधरणीभुजामिव ॥ १७ ॥

अवरोपितज्यमिति । अथ दिनस्य विरतौ सन्ध्यासमये अवरोपितज्यं शिथिलीकृतप्रत्यञ्चं कर्णस्य कार्मुकं धनुः हरिदन्तरे दिगन्तरालमध्ये भयात् कर्णशरक्षतिभीतेः द्रवतां पलायमानानाम् अरातिधरणीभुजाम् शत्रुराजन्यानाम् अवलोकनाय दर्शनाय इव विनम्रताम् खर्वतां विजहौ तत्याज, उन्नतमभवत्, अन्योपि सुदूरधावज्जनदर्शनायोन्नतगात्रो भवति, तद्वद्वतारितप्रत्यञ्चं तद्धनुरुन्नतं सद् भयात्पलायमानान्परपक्षनृपतीन् द्रष्टुमिवेहतेस्मेत्युत्प्रेक्षा । मञ्जुभाषिणीवृत्तम् ॥ १७ ॥

सन्ध्या समय प्रत्यञ्चाके उतार दिये जानेपर कर्णका धनुष नम्रता—खर्वताको छोड़कर उन्नत हो गया—उठ गया, ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो वह दिगन्तरमें बाण-पातभयसे भागनेवाले शत्रुपक्षीय नृपतियोंको देखना चाहता हो । जो दूरमें जानेवालोंको देखना चाहता है वह थोड़ा ऊँचा उठ जाता है, उसी तरह उस समय कर्णधनुषने टेढ़ापन छोड़कर सीधापन ग्रहण कर लिया ॥ १७ ॥

अप्राप्तनूतनशरक्षतिभिः स्वसैन्यै-
रस्पन्ददृष्टिभिरनुक्षणमीक्ष्यमाणः ।
दुर्योधनाग्रकरसंवलिताङ्गुलीकः
प्राविक्षदात्मकटकं स तु भानुसूनुः ॥ १८ ॥

अप्राप्तेति । सः भानुसूनुः सूर्यसुतः कर्णः अप्राप्ता न लग्नाः नूतनाः नवाः भीष्मद्रोणसेनापतित्वसमये प्राप्ताभ्यः शरक्षतिभ्योऽधिकाः शरक्षतयो बाणप्रहारा यैस्तैस्तथोक्तैः स्वसैन्यैः स्वीयसैनिकैः अस्पन्ददृष्टिभिः निर्निमेषैः नयनैः अनुक्षणं क्षणे क्षणे ईक्ष्यमाणः विलोक्यमानः (धन्योऽयं महारथः कर्णो यत्सैनापत्ये वयं न बाणैर्भिद्यामहे, ता एव बाणक्षतयोऽस्मदङ्गे सन्ति या भीष्मद्रोणसैनापत्यकाले प्राप्ताः,

नवानोद्भवन्ति, इति स्नेहादराभ्यां सैनिकैरनिमेषदृष्टिभिरवलोक्यमानः) दुर्योधनस्य अग्रकरेण हस्ताग्रेण संवलिता मिलन्ती अङ्गुलिः यस्य तथोक्तश्च (दुर्योधनस्य हस्ताग्रे स्वं हस्ताग्रमवस्थापयन्) आत्मकटकं स्वीयं शिविरं प्राविक्षत् प्रविष्टः। अत्र नूतनशरक्षतिराहित्यस्य विशेषणगत्या अनुक्षणनिःस्पन्ददृङ्निरीक्षणकारणतयोपनिबन्धात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १८ ॥

नहीं लगे हैं नये बाण-प्रहार जिनको ऐसी अपनी सेनाओं द्वारा निर्निमेष नयनों से सतत दृश्यमान एवं दुर्योधनके हाथमें अपनी अङ्गुली डाले सूर्यपुत्र कर्णने अपने शिविरमें प्रवेश किया। कर्णको सेनायें अपलक नेत्रोंसे इसलिये देख रही थीं, उस दिन कर्णने अपनी बहादुरीसे उन्हें चोट नहीं आने दी थी, जो घाव पहले लगे थे उनको नवीन-बाण प्रहारजन्य घाव नहीं लगने दिया था। दुर्योधन उसका मित्र था अतः वह प्रसन्नतासे उसके हाथमें अपनी अङ्गुली रखे हुए था। इस प्रकार वह युद्धस्थलसे लौटा ॥ १८ ॥

[1]परेद्युः [2]परिस्फुरितकमलचक्रव्यूहे प्रकाशमानपत्रिकुलसंचारे प्रकटितधनंजयतेजोवर्धने भाविनि प्रधन इव प्रभातसमये प्रादुर्भवति सति मधुमथनसारथेर्मघवत्कुमारस्य वधकृते [3]शल्यसत्सारथ्यमेव परं साधनमवधारयता [4]राधेयेन कृतबोधनः [5]सुयोधनः सबहुमानं मानधनभाजं मद्रराजमुपगम्य स्वागमननिदानपरिज्ञानेन विमनायमानमपि तं तैस्तैर्मधुररचनैर्वचनैः कोपगिरेरधित्यकाप्रदेशात्कथंचिदवरोप्य कर्णरथनै[6]पथ्यं सारथ्यमधिरोपयामास ॥

परेद्युरिति। परेद्युः परस्मिन् दिने परिस्फुरितकमलचक्रव्यूहे प्रकाशमानपद्मव्यूहचक्रव्यूहनामकसैन्यविन्यासप्रकारे, अपरत्र—विकसत्कमलचक्रवाककुले, प्रकाशमानपत्रिकुलसञ्चारे प्रकटीभवत्बाणगणगतागतौ, परत्र पक्षिकुलप्रचारयुते, प्रकटितधनञ्जयतेजोवर्धने स्फुटीभूतार्जुनपराक्रमसमृद्धौ परत्र स्फुटोदिताग्नितेजोवर्धकसूर्ये प्रधने युद्धे इव प्रभातसमये प्रादुर्भवति जायमाने सति मधुमथनसारथेः कृष्णसूतस्य मघवत्कुमारस्य अर्जुनस्य वधकृते हननाय शल्यसत्सारथ्यम् समीचीनं शल्यकृतं सारथिकृत्यम् एव साधनं सिद्धिदायकम् अवधारयता निश्चिन्वता राधेयेन कर्णेन कृतबोधनः बोधित आगृहीतः सुयोधनः सबहुमानं सादरं मानधनभाजं स्वाभिमानधनिकं मद्रराजं शल्यम् उपगम्य स्वागमनिदानपरिज्ञानेन स्वस्य दुर्योधनस्य आगमननिदानस्य आगमनकारणस्य कर्णसारथ्याग्रहरूपस्य परिज्ञानेन अवगत्या विमनायमानं खिद्यमानम् अपि तं शल्यं तैस्तैरनेकविधैर्म-

१. 'अद्युपरेः'। २. 'विपरिस्फुरत्'। ३. 'शल्यसारथ्यमेव साधन'। ४. 'राधातनयेन'। ५. 'सुयोधनो मानधनभाजम्'। ६. 'नेपथ्यम्'। इति पा०।

धुररचनैः श्रुतिप्रीतिकरगुम्फनैः वचनैः वाक्यैः कोपगिरेः क्रोधपर्वतस्य अधित्यका-भूमेः उपरितनप्रदेशात् (महतः कोपात्) कथञ्चित् प्रचुरप्रयासेन अवरोप्य अवतार्य कर्णरथनैपथ्यम् कर्णरथालङ्कारभूतं सारथ्यं सूतभावम् अधिरोपयामास स्वीकारयामास। 'अद्रेर्भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः॥

दूसरे दिन सेनामें पद्मव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनासन्निवेश-प्रकार बन गये, और इधर कमल तथा चक्रवाक के समुदाय प्रसन्न हो उठे, सेनामें बाणोंका यातायात होने लगा, इधर पक्षिकुल उड़ने लग गये, सेनामें अर्जुनके पराक्रमकी वृद्धि होने लगी, इधर आगकी दीप्तिको बढ़ानेवाले सूर्य प्रकट हो गये, इस प्रकार भावी युद्धकी तरह जब प्रभात समय हो गया, तब कृष्णसारथि इन्द्रपुत्र अर्जुनके वधका एकमात्र उपाय यही है कि हमारे रथका सञ्चालन शल्य करें, इस प्रकार निर्धारित करके कर्णने दुर्योधनको यह बात समझा दी, अनन्तर दुर्योधन सादर मद्रराज तथा महाभिमानी शल्यके पास पहुँचा, दुर्योधनके आनेका कारण–कर्णके सारथिके रूपमें शल्यका आमन्त्रण–सुनकर शल्यको बड़ा दुःख हुआ, फिर भी दुर्योधनने प्रियवचनों द्वारा शल्यको कोपगिरिके शिखरपरसे नीचे उतारकर किसी प्रकारसे कर्णके रथको अलंकृत करके सारथिपदपर आरूढ़ होना स्वीकार करवाया॥

अथ मद्रनायकनिबद्धसैन्धवं
रथमारुरोह रविभूः पराक्रमी।
प्रमदश्च कौरवचमूचरान्क्षणा-
दतिसाध्वसं च परयोधमण्डलम्॥ १९॥

अथेति। अथ शल्येन कर्णसारथ्ये स्वीकृते पराक्रमी प्रशंसनीयभुजविक्रमः रविभूः सूर्यसुतः कर्णः मद्रनायकेन शल्येन निबद्धाः नियन्त्रिताः सैन्धवा अश्वा यस्य तं तादृशं रथम् आरुरोह आरूढवान्, प्रमदः आनन्दः कौरवचमूचरान् कुरुपक्षीयसैनिकान् आरुरोह अतिसाध्वसं समधिकं भयं तु परयोधमण्डलं पाण्डवसैन्यगणम् आरुरोह, अयमर्थः सारथ्यं स्वीकृत्य शल्येन योजिताश्वं रथमारोहति महापराक्रमे कर्णे कौरवसेना विजयाशया महान्तमानन्दम्, पाण्डवसैन्यं च पराजयभयमविन्दतेति। काव्यलिङ्गसङ्कीर्णं दीपकमलङ्कारः॥ १९॥

सेनापति-पद स्वीकार करके शल्यने जब रथके घोड़ोंका नियन्त्रण करना प्रारम्भ किया तब कर्ण रथपर आरूढ हुए, उनके रथारूढ़ होते ही कौरव-सेना आनन्दित हो उठी, और पाण्डवोंके पक्षकी सेना भयभीत हो उठी॥ १९॥

ततः क्षणादेव रथेन तेन संग्रामसीमानमुपेत्य वीरः।
शङ्खं तदन्त्याक्षरवाच्यमेतद्द्वयं निनादैरपुपूरदेषः॥ २०॥

तत इति। ततः शल्यसारथिकस्वरथारोहणानन्तरम् एषः वीरः कर्णः तेन शल्यकृतसारथ्येन रथेन क्षणात् अल्पकालात् एव संग्रामसीमानम् युद्धसमीपदेशम्

उपेत्यासाद्य शङ्खं तदन्त्याक्षरस्य खस्य वाच्यम् आकाशम् एतद्द्वयम् शङ्खमाकाशञ्च निनादैः शब्दैः अपुपूरत् पूरयामास । रथारूढः कर्णो युद्धक्षेत्रमागत्य शङ्खशब्देनाकाशं पूरितवान् , शङ्खं ध्मातवानिति भावः ॥ २० ॥

इसके बाद शल्य-सारथि युक्त रथपर बैठकर उस महायोद्धा कर्णने क्षणभरमें युद्ध-क्षेत्रमें आकर शङ्ख तथा उसके अन्तिम वर्ण 'ख' का अभिधेय आकाश—इन दोनोंको शब्दसे पूर्ण कर डाला, शङ्ख तथा आकाश दोनों को गुँजा दिया ॥ २० ॥

तदनु[1] चण्डतरदोर्दण्ड[2]श्चण्डकरसूनुर्निजयन्तारं मद्रनेतारं प्रति वचनमित्थमुत्थापयामास —

इदानीमयि शल्य ! तव सारथ्यकौशल्यं[3] निशाम्य[4] विजयसारथेर्वदनमधिलज्जापयोधि[5] सहमज्जनकृते नाभिकमलवास्तव्यस्य नयनायुधसारथेश्चत्वार्यपि मुखानि समाह्वातुमिव भृशमवनतमास्ते ॥

तदन्विति । तदनु शङ्खवादनात् परतः चण्डतरदोर्दण्डः शत्रुभयङ्करभुजः चण्डकरसूनुः सूर्यपुत्रः कर्णः निजयन्तारं स्वसारथिं मद्रनेतारं शल्यं प्रति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारकं वचनम् उत्थापयामास कथयितुमारेभे ।

अयि शल्य, इदानीं सम्प्रति तव शल्यस्य सारथ्यकौशल्यम् अश्वनियमनप्रावीण्यम् निशाम्य साक्षात्कृत्य विजयसारथेः अर्जुनसूतस्य कृष्णस्य वदनं मुखम् अधिलज्जापयोधि त्रपासागरे सहमज्जनकृते सहैव मज्जितुम् नाभिकमलवास्तव्यस्य कृष्णनाभिसरोजनिवासिनः नयनायुधः शिवः (तेन नयनाग्निना कामो हतस्तेन तस्य तथात्वम्) तत्सारथिः ब्रह्मा (त्रिपुरदाहे शिवसारथ्यं ब्रह्मणा कृतं तदुक्तं महिम्नःस्तवे-'रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो' इत्यादिश्लोके) तस्य ब्रह्मणः चत्वार्यपि मुखानि समाह्वातुम् आकारयितुम् इव भृशमवनतम् अधोमुखमास्ते तिष्ठति । त्वत्कृतं सारथ्यं वीक्ष्य कृष्णोऽपि लज्जते, स हि लज्जयाऽधोमुखस्तिष्ठति, मन्ये तदीयं मुखं लज्जापयोधौ मङ्क्तुं सङ्गित्वाय ब्रह्मणोऽपि चत्वार्यपि मुखकमलानि समाह्वातुमिवावनतं स्यादिति ॥

इसके बाद शत्रुभयङ्करभुजदण्डशाली सूर्यपुत्र कर्णने अपने सारथि शल्यके प्रति इस प्रकारके वचन कहना प्रारम्भ किया—

अजी शल्य, इस समय तुम्हारा सारथिकार्य-कौशल देखकर अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण भी लज्जावनतमुख हो रहे हैं, ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका मुख लज्जारूप सागरमें एक साथ मज्जन करनेके लिये नाभिकमलवासी तथा शिवसारथी ब्रह्माके चारो मुखोंको बुलानेके लिये लज्जाकृत अवनति-व्याजसे नाभिके पास पहुँच गया हो ॥

---

१. 'तदनन्तरम्' । २. 'प्रचण्ड' । ३. 'कौशलम्' । ४. 'निशम्य' । ५. 'पयोधौ' । इति पा० ।

अपि च,—

मरुत्कदम्बैरुपलाल्यमानं [1]मद्रेन्द्र दीप्राखिलहेतिजालम् ।
शराभिवर्षेण धनंजयं तमिङ्गालयेदेष भुजः क्षणेन ॥ २१ ॥

मरुदिति। हे मद्रेन्द्र शल्य, मरुत्कदम्बः देवगणैः उपलाल्यमानम् श्लाघ्यमानम् दीप्राखिलहेतिजालम् जाज्वल्यमानसमस्तशस्त्रचयम् तं विजयेन दृप्यन्तं धनञ्जयं पार्थम् एप मामको भुजः क्षणेन त्वरितम् शराभिवर्षेण बाणवृष्ट्या इङ्गालयेत् योजयेत्, यथा वायुना संवर्ध्यमानं दीप्तज्वालायुतं च धनञ्जयम् (मेघः) शरवर्षेण वारिवृष्ट्या योजयति। यथा मेघेनाग्निः शम्यते तथाऽहमपि बाणवृष्ट्याऽर्जुनं स्थगयेयमित्याशयः। श्लिष्टपरम्परितं रूपकमलङ्कारः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २१ ॥

हे मद्रराज शल्य, देवगण से श्लाघित चमकते हुए सारे अस्त्रोंसे युक्त अर्जुनको हमारा यह बाहु शीघ्र ही बाणवृष्टिसे ढँक देगा, जैसे वायु द्वारा संवर्द्धित तथा चमकती हुई ज्वालासे पूर्ण धनञ्जय-अग्निको (मेघ) जलवृष्टिसे ढँक देता है ॥ २१ ॥

ततस्[2]तच्छ्रवणपुटक्र[3]कचं कर्णवचनमाकर्ण्य पार्थेन पुरा प्रार्थितमर्थं हृदिकृत्य स मद्रभूपतिरप[4]वार्यावार्यसूर्यतनयधैर्यं गगनकुसुमसोदर्यं विधातुमेवमुत्तरमुत्तरङ्गयामास,—

तत इति। ततः तदनन्तरं तत् पूर्वोक्तरूपम् श्रवणपुटक्रकचं कर्णव्यक्तं कर्णवचनम् आकर्ण्य श्रुत्वा पार्थेन पुरा प्रार्थितं दुर्योधनपक्षस्वीकारेऽपि कर्णधिक्करणरूपम् अर्जुनानुरोधं हृदिकृत्य स्मृत्वा सः मद्रभूपतिः मद्रदेशाधिपः शल्यः अपवार्य कर्णवचनं प्रतिषिध्य अवार्यं दुर्निवारम् अतिमहत् सूर्यतनयधैर्यम् कर्णगभीरभावं गगनकुसुमसोदर्यं खपुष्पायमाणं नितान्तमिथ्याभूतं विधातुं (कर्णं क्षोभयितुम्) एवं वक्ष्यमाणप्रकारम् उत्तरम् प्रतिवचनम् उत्तरङ्गयामास व्याहृतवान्।

इसके बाद कानमें आरेकी तरह लगनेवाले—कानको चीरनेवाले—कर्णकटु कर्णके वचनको सुनकर और पार्थके द्वारा पहले किये गये अनुरोधका स्मरण करके मद्रराज शल्य ने कर्णको रोककर—कहनेसे निषिद्ध करके—दुर्वार धैर्यशाली कर्णके धैर्यको आकाशकुसुम तुल्य अत्यन्तालीक बगानेके लिये इस प्रकारका उत्तर दिया ॥

पुरा विराटस्य पुरोपकण्ठे रणाङ्गणे सारथिनार्जुनस्य ।
उत्पाट्यमानेऽपि रयेण नेत्रे निद्रा कथं ते हृदयंगमासीत् ॥ २२ ॥

पुरेति। हे कर्ण, पुरा पूर्वमुत्तरगोग्रहणवेलायाम् विराटस्य राज्ञः पुरोपकण्ठे नगरपार्श्वे रणाङ्गणे युद्धक्षेत्रे अर्जुनस्य सारथिना तदानीमर्जुनरथचालकेनोत्तरेण

---

१. 'महेन्द्रदीप्ताखिल'। २. 'ताम्'। ३. 'क्रकचं वा त्म्'। ४. 'रवार्यसूर्यसुतधैर्यम्'। इति पा०।

ते तव कर्णस्य नेत्रे नयने वस्त्रे च रयेण वेगेन उत्पाट्यमाने अपह्रियमाणेऽपि निद्रा गान्धर्वास्त्रकृता हृदयंगमा प्रिया कथमासीत् ? उत्तरगोग्रहणसमयेऽर्जुनः प्रस्वापनास्त्रं प्रयुज्य भवतां वस्त्राणि स्वसारथ्युत्तरद्वाराऽपहृतवान् , तदा भवान् कथं न जागर्त्ति स्म, सम्प्रति विकत्थमानस्य भवतस्तदा वस्त्रापहरणसमये जागरणमुचितमासीदित्यर्थः ॥ २२ ॥

हे कर्ण, पूर्वकाल में उत्तर गोग्रहणसमयमें विराट नगरके पास अर्जुनका सारथि उत्तर जब आपका नेत्र–वस्त्र उतार रहा था, अथवा आपकी आँखें निकाल रहा था, उस समय आपको निद्रा क्यों प्यारी लग रही थी, उस समय तो प्रस्वापनास्त्रके प्रभावसे आप सो रहे थे, इस समय बहादुरीकी बातें करने चले हैं ! ॥ २२ ॥

आयासलेशरहितं वनसीम्नि पूर्वं
संदानिते सुहृदि ते सुरवैणिकेन ।
कुत्रापि गूढवसतिस्त्वमहो निकुञ्जे
किं नाबिभेः सविधकीचकरन्ध्रगानात् ॥ २३ ॥

आयासेति । पूर्वम् दुर्योधनस्य घोषयात्राकाले वनसीम्नि द्वैतवनमध्ये ते तव भुजशालिनः सुहृदि दुर्योधने सुरवैणिकेन देवगायकेन गन्धर्वेण आयासलेशरहितं विनैवाल्पमप्यायासम् सन्दानिते रज्जुभिर्बद्धे सति, अहो इति सहासखेदव्यञ्जकम् त्वं कुत्रापि निकुञ्जे लतादिपिहितस्थाने गूढवसतिः आत्मानं गोपयित्वा स्थितः सन् सविधकीचकरन्ध्रगानात् समीपस्थितवेणुगीतेः न अबिभेः भीतो जातः किम् ? शब्दानुसारिणो गन्धर्वा मामत्र स्थितं ज्ञात्वा बध्नीयुरिति किं त्वं भयं नाध्यगच्छः, अवश्यमेव भीतोऽभवः ? तदा तवेयं वीरता क्वासीदित्युपहासः ॥ २३ ॥

घोषयात्राकालमें द्वैतवनमें जब गन्धर्व चित्रसेनने आपके मित्र दुर्योधनको विना किसी आयासके बन्धनमें डाल रखा था, उस समय आप किसी निकुञ्जमें जा छिपे थे, क्या वहाँ वंशके छिद्रसे होनेवाले गीतसे आपको भय नहीं लगता था, शब्द सुनकर गन्धर्व वहाँ पहुँचकर कहीं मुझको भी न बन्धनमें डाल दें इस आशङ्कासे आपको भय अवश्य होता रहा होगा, वहीं छिपकर जान बचाने वाले आप इस समय डींग हाँक रहे हैं ॥ २३ ॥

पाञ्चालिकायाः परिणीतिकाले संघीभवद्भिः सह धार्तराष्ट्रैः ।
भवानभूत्पार्थशरप्रयोगात्कर्णोऽपि भूत्वा क्रथमात्तगन्धः ॥ २४ ॥

पाञ्चालिकाया इति । पाञ्चालिकायाः द्रौपद्याः परिणीतिकाले विवाहसमये सङ्घीभवद्भिः एकत्रीभूतैः तस्याः (पाञ्चाल्याः अपहरणाय मिलद्भिः) धार्त्तराष्ट्रैः दुर्योधनादिभिः सह भवान् कर्णः पार्थशरप्रयोगात् अर्जुनशस्त्रप्रहारात् आत्तगन्धः

---

१. 'वांशिकेन' । २. 'निकुञ्जम्' । इति पा० ।

गृहीतगर्वः अभिभूतः भूत्वापि (इदानीम्) आत्तगन्धः सगर्वः कथम् अभूत् ? तदाऽभिभूतस्य तवाधुना गर्वो न शोभते इत्यर्थः। कर्णस्य शब्दग्रहणोचितता न गन्धग्रहणोचितता इत्यपि ध्वन्यते । 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इति। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति चामरः। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

द्रौपदी-स्वयंवरकालमें द्रौपदीके अपहरणार्थ इकट्ठे होनेवाले दुर्योधनादिके साथ जब पार्थ-बाण-प्रहारसे आप—कर्ण अभिभूत हो गये तब फिर इस समय आपका यह गर्व कहाँसे आ गया है ? जब उस समय आपने कुछ भी नहीं किया तब इस समय क्यों गर्व प्रकट कर रहे हैं ?॥ २४ ॥

इन्द्रात्मजातेन स तेन गन्तुमीष्टे तुलामीश्वर एक एव।
तृणाय कृत्वा[1] निजजीवनं[2] यो युद्धाय येन स्पृहयन्नुदस्थात् ॥ २५ ॥

इन्द्रात्मजातेनेति। एक एव सः ईश्वरः महादेवः इन्द्रात्मजातेन इन्द्रपुत्रेणार्जुनेन सह तुलां समतां गन्तुं लब्धुम् ईष्टे शक्नोति, (यतः) यः अर्जुनः येन शिवेन सह युद्धाय सम्मुखसंग्रामाय निजजीवितं तृणाय मत्वा प्राणमोहं त्यक्त्वा उदस्थात् सन्नद्धोऽभवत्। येन शिवेन सह (किरातार्जुनयुद्धावसरे) युद्धाय स्वप्राणांस्तृणवत्तुच्छान्मत्वार्जुनः सन्नद्धो जातस्सः शिव एवार्जुनसमो नान्यस्त्वमन्यो वा कश्चन तत्तुल्य इति भावः। शूरसाधारणसंभाव्यस्यार्जुनसादृश्यस्य शिवमात्रे नियमनात्परिसंख्यात्रालङ्कारः ॥ २५ ॥

जिस शिवजीके साथ युद्धके लिये जो अर्जुन अपने प्राणोंको तृण मानकर सन्नद्ध हो गया था, अपने प्राणोंका मोह छोड़कर लड़नेको उद्यत हो गया था, उस अर्जुनके साथ वह शिवजी ही समता का दावा कर सकते हैं, दूसरा कोई भी वीर शिवके साथ युद्ध करनेवाले अर्जुनकी समता नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ २५ ॥

इति तस्य मद्राध्यक्षस्य तादृक्षमृभुक्षणः[3] कुमारे पक्षपातं समीक्ष्य कर्मसाक्षिनन्दनोऽपि रौक्ष्यवर्जितं[4] पदविभागचमत्कृतिसुभगं भावुकं वचनमेवमवादीत्[5]—

इति तस्येति। इति एवम् प्रागुक्तरूपम् तस्य कर्णसारथ्यग्राहिणः मद्राध्यक्षस्य मद्रराजस्य शल्यस्य ऋभुक्षणः इन्द्रस्य कुमारे पुत्रेऽर्जुने तादृक्षम् आतिशय्यशालिनं पक्षपातम् अभिनिवेशम् आदरातिशयम् समीक्ष्य आलोच्य कर्मसाक्षिनन्दनः सूर्यपुत्रः कर्णः अपि रौक्ष्यवर्जितम् अकठोरम् पदविभागेन पदच्छेदेन या चमत्कृतिः शोभा तया सुभगं भावुकं रमणीयम् वचनम् एवं वक्ष्यमाणदिशा अवादीत् उक्तवान्।

---

१. 'मत्वा'। २. 'जीवितम्'। ३. 'तादृक्षमृभुक्षकुमारे पक्ष'। ४ 'वर्ज्यम्'।
५. 'अभाणीत्'। इति पा०।

कर्णने जब उक्तरूप शल्यका अर्जुनपर पक्षपात सुना तब उस कर्मसाक्षिनन्दन–भानु-पुत्रने (कर्णने) रौद्य–कठोरतासे रहित तथा पदच्छेदकृत चमत्कारयुक्त वचन इस प्रकार से कहा ॥

अयि ! भागिनेययशसां सुभगंकरणस्त्वमद्य[1] भुवि मद्रपते ! ।
मम मातुलेति बहुधा वदता विजयेन शंभुमपि मा तुलय ॥ २६ ॥

अयीति । अयि मद्रपते मद्रराज शल्य, अद्य सम्प्रति भागिनेययशसां सुभगंकरणः स्वभगिनीपुत्राणां पाण्डवानां कीर्त्तेः प्रशंसनपरायणः त्वम् मम अर्जुनस्य मातुल, इति वदता मन्मातुल, इति पदेन त्वां सम्बोधयता, अथवा मम अर्जुनस्य तुला केनापि वीरान्तरेण सादृश्यं मा नास्ति इति वदता आत्मानं श्लाघमानेन विजयेन सह शम्भुम् शिवम् अपि मा तुलय न सदृशं कुरु, आत्मप्रशंसिनस्त्वां मातुलशब्देन सम्बोधयतश्चार्जुनस्य त्वया कृता तुलना नोचितेति तात्पर्यम् । यतोऽसौ त्वां मातुलपदेन सम्बोधयत्यतस्त्वं तं शम्भुना तुलयसीति नोचितं तव कार्यमिति भावः ॥ २६ ॥

हे मद्रराज, शल्य, आप अपने भागिनेय पाण्डव की कीर्त्तिको उत्तम बताते हैं, आपको अर्जुन 'मेरे मामा' कहकर पुकारता है, इसलिये आप उसे महादेवकी तुलना दे रहे हैं क्या यह ठीक है, अथवा अर्जुन आपसे कहता है कि मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता, इसीपर आप उसे शिवतुल्य कहते हैं, क्या यह उचित बात है ? ॥ २६ ॥

इत्युक्तवत एतस्य सौरेर्दन्तपुटा[2]विव ।
जवाद्‌भावनीकौ तौ जघटेते[3] परस्परम् ॥ २७ ॥

इतीति । इति एवम् उक्तवतः कथितवतः एतस्य सौरेः सूर्यपुत्रस्य कर्णस्य दन्तपुटौ ओष्ठौ इव तौ उभौ अनीकौ सैन्यपक्षौ जवात् वेगात् परस्परम् अन्योन्यम् जघटेते मिलितौ । यावदेवमभिधाय कर्णः स्वोष्ठौ योजयति विरमति, तावदेवोभौ सैन्यपक्षौ परस्परं युयुजाते, द्वन्द्वयुद्धमारब्धवन्तौ इत्यर्थः ॥

इस प्रकार कहकर कर्णने जभी अपने ओठ बन्द किये, चुप हुए, तभी दोनों पक्षोंकी सेनायें एक दूसरेसे भिड़ गईं, द्वन्द्वयुद्ध छिड़ गया ॥ २७ ॥

सर्वतोऽपि भुवि सैन्यपरागैः शोषितेषु सजलेषु सरःसु ।
केवलं गगन एव तदानीमप्सरःकुलमलोक्यत[4] लोकैः ॥ २८ ॥

सर्वतोऽपीति । तदानीं तस्मिन्सेनायुगलसङ्घटनसमये भुवि संसारे सर्वतः सर्वत्रापि सजलेषु जलपूर्णेषु सरस्सु सरोवरेषु सैन्ययोः कौरवपाण्डवसेनयोः परागैः धूलिभिः शोषितेषु शुष्कतां प्रापितेषु सत्सु लोकैः अप्सरःकुलम् जलपूर्णसरोवर-

---

१. 'करणत्वम्' । २. 'पटौ' । ३. 'जघटाते' । ४. 'अदृश्यत' । इति पा० ।

सङ्घः अप्सरसां देववनितानां कुलं च गगने एव केवलम् आकाशमात्रे अलोक्यत दृश्यते स्म। सैन्योत्थापितधूलिभिः सरस्सु शुष्कतामापादितेषु अप्सरःकुलं केवलमाकाश एव दृश्यतेस्म, अन्यत्र नेति भावः। अप्सरः जलपूर्णं सरः, अप्सरसो देव्यश्च। अत्र सर्वत्र प्राप्तस्याप्सरोवत्त्वस्याकाशमात्रे नियमनात्परिसंख्यालङ्कारः। स्वगतावृत्तम्॥ २८॥

दोनों सेनाओंके परस्पर भिड़ जानेपर पृथ्वीपर वर्त्तमान सारे जलाशय तो सेनाद्वारा उड़ाई गई धूलसे शुष्क हो गये, अप्सरः–जलपूर्ण सरोवर पृथ्वीपर कहीं भी नहीं रह गया केवल आकाशमें ही अप्सरःकुल–जलपूर्ण सरोवर तथा अप्सरोगण लोगोंको देखनेको मिलता था। आकाशमें युद्धदर्शनार्थ आई हुई अप्सरायें दीख पड़ती थीं॥ २८॥

तदनु तत्र[1] परस्परघट्टनजनितस्फुलिङ्गव्याजेन निपीतपूर्वान् रुधिरशीकरान्[2] अजीर्णशङ्कया वमन्तीभिः[3] पट्टसवल्लरीभिश्च, कबन्धोत्पाटन[4]सृष्टिपाटवमेव[5] संग्रामदेशदेशिकसदेशादभ्यसितुमवनीतलमवतीर्णैः पयोधरपटलैरिव खेटकमण्डलैश्च[6], युगपदेव बहुविधवीरयोधजनप्रवेशसौकर्याय तरणिरन्ध्रसरणिं विशालयितुमिव[7] वियत्तले दूरमुच्चलिताभिः[8] शक्तिभिश्च, प्रतिक्षणक्षपितविपक्षकुलवृत्तान्तं मुहुर्मुहुरटनीमुखेन कथयितुमिव धानुष्ककर्णाभ्याशं प्रत्यागतैः[9] कोदण्डदण्डैश्च[10], युद्धविलोकनबद्धकौतुकसिद्धयौवतकुचमण्डलनिजकुम्भतारतम्यं परिचिचीषयेव[11] दूरं[12] नभसि करान्प्रसारयद्भिः[13] शुण्डालमण्डलैश्च[14], विचित्रतरचक्रचङ्क्रमणमिषेण पदात्पदमपि न गन्तव्यमिति विमतनिरोधकुण्डलनामिव कुर्वद्भिरर्वद्भिश्च, शोणितपङ्कशोणितैः[15] वेगसंभ्रमविदार्यमाण[16]धरणीरन्ध्रनिर्गत्वरफणीन्द्रफणासहस्रमणिकिरणधोरणीमसृणितैरिव चक्रैः संक्रीडद्भिः शताङ्गैश्च, भयानके[17] सकलसुरजनतनूरुहसौखशायनिके[18] समीके॥

---

१. 'तत्र तयोः सेनयोरुभयोरपि परस्पर'। २. 'शीकरनिकरान्'। ३. 'वमन्तभिरिव पट्टिश'। ४. 'उत्पादन'; 'उत्पतन'। ५. 'पाटवं संग्राम'; 'पाटवमपि संग्रामदेशिक'। ६. 'वलयैः'। ७. 'अतिविशालयितुम्'। ८. 'दूरं दूरम्'। ९. 'कर्णाभ्यर्णमभ्यागतैः'। १०. 'दण्डैश्च विचित्रतरचक्रचंक्रमणमिषेण पदात्पदमपि न गन्तव्यमिति विमतनिरोधकुण्डलनामिव कुर्वद्भिरर्वद्भिश्च युद्धविलोकन'। ११. 'परिचिक्षिपया'। १२. 'दूरं दूरम्'। १३. 'प्रविसारयद्भिः'। १४. 'मण्डलैश्च वेगसंभ्रम'। १५. 'शोणैः'। १६. 'संविदार्य'। १७. 'भयानकम्'। १८. 'शायनिकम् समीकमभूत्'। इति पा०।

तदन्विति । तदनु सैन्यद्वयसंघटनानन्तरम् तत्र युद्धस्थले परस्परघट्टनजनितस्फुलिङ्गव्याजेन अन्योन्यसङ्घर्षप्रकटिताग्निकणच्छलेन निपीतपूर्वान् पूर्वं पीतान् रुधिरशीकरान् शोणितबिन्दून् अजीर्णशङ्कया अध्यशनजनितापरिपाकभयेन वमन्तीभिः उद्गिरन्तीभिः इव पट्टसवल्लरीभिः पट्टिशाख्यास्त्रलताभिः, (परस्परसङ्घट्टेनाग्निकणवमनच्छलेन पीतपूर्वान् शोणितबिन्दून् पट्टिशा अजीर्णा शङ्कयेवोद्गिरन्ति, अन्येऽपि भुक्तमजीर्णशङ्कया वमनद्वारानिर्गमयन्ति तद्वदित्यर्थः) कबन्धानाम् उदकानाम् अपमूर्धकलेवराणाञ्च उत्पाटनस्य ऊर्ध्वप्रसारणकर्मणः सृष्टिः जननव्यापारस्तस्यां पाटवं नैपुण्यम् एव संग्रामदेशदेशिकसदेशात् युद्धस्थलरूपाचार्यसकाशात् अभ्यसितुम् शिक्षितुम् अवनितलम् भूतलम् अवतीर्णैः आयातैः पयोधरपटलैः मेघमण्डलैरिव खेटकमण्डलैः फलकनिकरैश्च, ('ढाल' शब्देन कथ्यमानाः फलकाः मेघा इव, ते हि युद्धस्थलरूपाचार्यसकाशात्कबन्धानां पयसां छिन्नशिरसां वपुषां चोर्ध्वनयनकलां शिक्षितुमिव भुवमायाता इत्यर्थः) युगपत् तुल्यकालम् बहुविधवीरयोधजनानां नानाभटानां प्रवेशसौकर्याय सुखं प्रवेशाय तरणिरन्ध्रसरणिं सूर्यरन्ध्रपथं विशालयितुं विस्तारयितुम् इव वियत्तले व्योमनि दूरमुच्चलिताभिः सुदूरं गताभिः शक्तिभिः तदाख्यास्त्रविशेषैश्च, (शक्तयः सुदूराकाशे चलन्ति, मन्ये तास्सङ्कुचितं सूर्यरन्ध्रवर्त्म बहुवीरजनप्रवेशसौकर्याय विस्तारयितुमिवोर्ध्वं प्रचरन्तीत्यर्थः) प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे क्षपितानां हतानां विपक्षकुलानां वृत्तान्तं समाचारम् मुहुर्मुहुः पुनः पुनः अटनीमुखेन धनुष्कोटिरूपाननद्वारा कथयितुं सूचयितुमिव धानुष्ककर्णाभ्याशं धनुर्धरवीरजनश्रुतिसमीपम् प्रत्यागतैः उपसृतैः कोदण्डदण्डैश्च धनुर्दण्डैश्च, (कोदण्डानमनबाणमोक्षाभ्यां भूयोभूयः प्रयोक्तुः श्रुतिसमीपमायान्ति, मन्ये ते प्रतिक्षणनिहतशत्रुकुलवृत्तं स्वप्रयोक्त्रे सूचयितुमिव तथा कुर्वन्ति इत्याशयः) युद्धविलोकने संग्रामदर्शने निबद्धकौतुकम् धृतोत्कण्ठं यत् सिद्धयौवतम् देवस्त्रीसमूहस्तस्य कुचमण्डलेन सह निजकुम्भस्य यत्तारतम्यं तुलनम् तस्य परिचिचीषया जिज्ञासया इव दूरं नभसि सुदूराकाशे करान् प्रसारयद्भिः शुण्डादण्डान् प्रसारयद्भिः शुण्डालमण्डलैः हस्तिसमुदयैश्च, (हस्तिनो व्योमनि शुण्डादण्डान् प्रसारयन्ति, मन्ये ते युद्धदर्शनाय विपदाश्रितानां सिद्धवनितानां कुचमण्डलैस्सह स्वकुम्भानां तारतम्यमिव स्पृष्ट्वा जिज्ञासन्ते इत्याशयः) विचित्रतरचक्रचङ्क्रमणमिषेण अद्भुतचक्राकारभ्रमणव्याजेन पदात्पदम् एकमपि पदम् न गन्तव्यं न पुरस्सरणीयम् इति विमतनिरोधकुण्डलनाम् शत्रुनिषेधकराजाज्ञावर्त्तुलरेखाम् इव कुर्वद्भिः अर्वद्भिः अश्वैश्च (अश्वा विचित्रं चक्राकारभ्रमणं कुर्वते मन्ये ते शत्रून् पुरस्सर्तुं वारयितुं राज्ञामादेशरूपां वर्तुलां रेखामिव कुर्वते इत्याशयः) शोणितपङ्कशोणितै रक्तकर्दमरञ्जितैः वेगसंभ्रमेण अतिवेगसञ्चारेण विदार्यमाणानां भिद्यमानानां धरणीनां पृथ्वीनाम् रन्ध्रेभ्यश्छिद्रेभ्यो निर्गत्वराः बहिर्भवन्तो ये फणीन्द्राः सर्पास्तेषां फणासहस्रस्य या मणि-

किरणधोरणी रत्नप्रभाझरी तया मसृणितैः मिलितैरिव चक्रैः सङ्क्रीडद्भिः संचरमाणैः शताङ्गैः रथैश्च, (रथचक्राणि रक्ताक्तानि सञ्चरन्ति, मन्ये वेगवशविदीर्णपर्वतरन्ध्रनिर्गतफणिफणामणिकिरणजालमिलितानीव स्युस्तानीत्यर्थः) भयानके पूर्वोक्तपट्टसखेटकशक्तिकरिशुण्डादण्डाश्वरथचक्रैः भीषणे सकलसुरजनतनूरुहसौखशायनिके समस्तदेवजनरोमाणि सुखशयनप्रश्नद्वारा जागरयति समस्तदेवरोमाञ्चकरे समीके युद्धे ॥

इसके बाद परस्पर टकरानेसे निकलते हुए स्फुलिङ्गोंके बहाने पहले पीये गए रुधिरकणोंको अजीर्ण-शङ्कासे उगलनेवाली पट्टिशलताओंसे, कबन्ध–पानी तथा अपमस्तक कलेवरको ऊपर उड़ानेकी कलामें संग्रामरूप आचार्यसे शिक्षा ग्रहण करनेके लिये पृथ्वीपर आये हुए मेघोंकी तरह दीखनेवाली ढालोंसे, एकही साथ बहुत से भटोंको आसानीके साथ प्रवेशकी सुकरता उत्पन्न करनेके लिये सूर्यरन्ध्रमार्गको चौड़ा करनेके लिये आकाशमें दूर तक फैली हुई शक्तियोंसे अनुक्षण मरनेवाले शत्रुकुलके समाचारोंको सुनानेके लिए धनुर्धरगणके कानोंके पास तक पहुँचनेवाले धनुर्दण्डोंसे, युद्धदर्शनार्थ आये हुए देवबालागणके कुचमण्डलके साथ अपने कुम्भमण्डलोंकी तुलनाका अभ्यास करनेके लिये आकाशमें शुण्डादण्ड फैलानेवाले हाथियोंसे, अद्भुतप्रकारक चक्राकार चङ्क्रमणके व्याजसे 'एक पग भी आगे मत बढ़ना' इस प्रकारकी निषेधाज्ञासे शत्रुकुलको रोकनेवाले अश्वोंसे, शोणितपङ्कसे लाल होनेके कारण वेगभ्रमणविदीर्ण पृथ्वीके गर्भसे निकलनेवाली सर्पफणामणिप्रभाओंसे मिले हुएसे लगनेवाले चक्कोंसे इधर-उधर घूमनेवाले रथोंसे जब वह युद्धक्षेत्र भीषण हो उठा और समस्त देवगणको रोमाञ्चित करने लगा तब—

दुःशासनो नयनजृम्भितकोपवह्नि-
भीत्येव फालतलमूर्ध्वमुपाश्रिताभ्याम्।
भ्रूभ्यां भयानकमुखो रिपुभूमिपान-
ऽप्यारब्ध योऽधयितुमेतदतीव चित्रम्॥ २९॥

दुःशासन इति। नयनयोः नेत्रयोः जृम्भितः प्ररूढः यः कोपवह्निः क्रोधाग्निस्ततो भीत्या भयेन इव ऊर्ध्वम् उपरितनं फालतलम् ललाटतटम् उपाश्रिताभ्यां गताभ्यां भ्रूभ्यां भयानकमुखो भीषणवदनो दुःशासनः रिपुभूमिपान् शत्रुभूतान् राज्ञः अपि योधयितुम् संग्रामप्रवृत्तान् कर्त्तुम् आरब्ध प्रारब्धवान्, एतदतीव चित्रम् आश्चर्यम्, भूमिं पिबन्तीति भूमिपास्तान् अधयितुम् अधोमुखान् कर्त्तुमारब्ध, भूमिपानायाधोमुखानामपि तथाविधानमाश्चर्यकरम्। राज्ञो भ्रूभङ्गमात्रेणाधश्चकारेत्याश्चर्यकरमजनीति भावः॥ २९॥

---

१. 'तदनन्तरम्—दुःशासनो'। इति पा०।

आँखोंमें उत्पन्न होनेवाले क्रोधवह्निकी ज्वालाके भयसे ऊपर कपारकी ओर चढ़ी हुई भ्रूसे भयानक दीखनेवाले दुःशासनने रिपुभूपालोंको लड़ाना प्रारम्भ किया, भूमिपर अधोमुखपतित रिपुओंको तिरस्कृत करना प्रारम्भ किया यह आश्चर्यकी बात हुई। जो स्वयं भूमिप हो–भूमिका पान कर रहा हो–उसे क्या अधः किया जायगा॥ २९॥

स कुन्तलाल्यम्बरधूतिधुर्यः स्वसिंहनादैर्विदधे दुरापः।
पराभवं सोमकलास्यहेतौ पाञ्चालिकायामिव पार्थचम्वाम्॥ ३०॥

स कुन्तेति। दुरापः परैर्दुधर्षः कुन्तं नामास्त्रभेदं लालयति सादरं गृह्णाति यः स कुन्तलाली, स्वसिंहनादैः गर्जितैः अम्बरधूतिधुर्यः आकाशकम्पनधुरन्धरः सः दुःशासनः सोमकेषु धृष्टद्युम्नसैनिकेषु लास्यं स्वच्छन्दनृत्तं यासां तास्तथोक्ता हेतयः शस्त्राणि यस्यां तस्यां पार्थचम्वाम् युधिष्ठिरसेनायाम् पाञ्चालिकायां द्रौपद्यामिव पराभवम् अनादरं विदधे कृतवान्, पाञ्चालिकापक्षे कुन्तलाल्यः केशपाशाः अम्बराणि वस्त्राणि च, तेषां धूतौ आकर्षणे द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणे धुर्यः प्रवीणः, सोमस्य चन्द्रस्य कला आस्ये मुखे हेतुः जनको यस्यास्तथाभूतायाम् चन्द्रकलामुपादाय निर्मितवदनायाम् इति विशेषणयोरर्थः, शेषं पूर्ववत्। श्लिष्टविशेषणा पूर्णोपमाऽलङ्कारः॥ ३०॥

कुन्त नामक अस्त्रको सस्नेह धारण करनेवाला एवं अपने सिंहनादसे आकाशको कम्पित करनेमें प्रवीण उस दुःशासनने सोमक–धृष्टद्युम्नके सैनिकोंके स्वच्छन्द नृत्यकारी अस्त्रोंसे युक्त पाण्डव-सैन्यमें उसी प्रकारका पराभव करना प्रारम्भ किया, जैसा कुन्तल-केशपाश तथा अम्बर-वस्त्रका आकर्षण करनेमें निपुण होकर चन्द्रमाकी कलाओंसे बने हुए मुख रखनेवाली द्रौपदीका पराभव किया था॥ ३०॥

ततो याज्ञसेनीकटितटपटापहारसमयचक्रचङ्क्रमणवासनानुवृत्तिवशादिव विविधानि रेचकमण्डलानि वितन्वन्निजास्पदभेदको भीमः क्व वा समागच्छतीति वीक्षितुमुन्नतप्रदेशमधिरूढाभ्यां हृदन्तररुधिरबुद्बुद[3]मुकुलाभ्यामिव रोषलोहिताभ्यां लोचनाभ्यां साध्वसदानशौण्डः कृत्त[4]लवं[5]भ्रम्यमाणपरिघपातनपाटितभटघोटककरटिघटाक्षतजप्रवाहैः समीकसीमानं[6] कण्ठ[7]द्वयसीं विदधानः सुयोधनानुजो वियद्ध्वनि विजृम्भितध्वनिर्वृकोदरदृगध्वनीनोऽभूत्॥

तत इति। ततः तदनन्तरं याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः कटितटात् नितम्बात् पटापहारसमये दुःशासनकृतवस्त्राकर्षणकाले या चक्रचङ्क्रमणवासना चक्राकारभ्रमणाभ्या-

१. 'धुर्यैः'। २'दुरापम्'। ३. 'बुद्बुदाभ्यामिव'। ४. 'कलित'। ५. 'घनतरपरिघविघट्टनविपाटित'। ६. 'समरसीमां'। ७. 'गुल्फ'। इति पा०।

सस्तस्या अनुवृत्तिवशात् सम्पर्कादिव विविधानि रेचकमण्डलानि चक्राकारभ्रमणानि वितन्वन् कुर्वन् निजास्पदभेदकः स्वोरस्थलविपाटकः भीमः क्व वा कुत्र देशे समागच्छति आयाति ? इति वीचितुम् अवलोकयितुम् उन्नतप्रदेशम् मुखरूपमुच्चस्थानम् अधिरूढाभ्यां हृदन्तरे यद्रुधिरं शोणितं तस्य बुद्बुदमुकुलाभ्याम् कोरकाभ्याम् इव रोषलोहिताभ्यां कोपरक्ताभ्यां लोचनाभ्यां साध्वसदानशौण्डः भयदानदक्षः करतले बंभ्रम्यमाणा वारं वारं भ्राम्यन्ती गदापरिघस्तस्य पातनेन प्रहारेण पातिताः हताः भटाः योधवीराः घोटकाः अश्वाः करटिनो गजाश्च तेषां घटायाः समूहस्य क्षतजप्रवाहैः शोणितधाराभिः समीकसीमानं युद्धस्थलप्रान्तदेशं कण्ठद्वयसीं कण्ठदेशमितरक्तजलाविलां विदधानः कुर्वाणः सुयोधनानुजो दुःशासनः वियदध्वनि आकाशमार्गे विजृम्भितध्वनिः व्याप्तशब्दः वृकोदरस्य भीमस्य दृशोः नयनयोः अध्वनीनः विषयः अभवत् भीमेनादृश्यतेत्यर्थः।

इसके बाद द्रौपदीके वस्त्रापहारकालमें किये गये चक्राकार भ्रमणके संस्कारकी अनुवृत्तिके कारण नानाप्रकारक चक्रगतिका करनेवाला, अपनी छातीको फाड़नेवाला भीम कहाँ आया है इसको देखनेके लिये मुखरूप ऊँची जगहपर बैठे हुए तथा हृदयमें वर्त्तमान रुधिरकी कलीके समान रोषरक्त नयनोंसे भय देनेमें दक्ष हाथमें घूमती हुई गदा द्वारा मारे गये भट, अश्व, गजघटाके शोणित-प्रवाहसे युद्धभूमिको कण्ठप्रमाण शोणितजलसे पूर्ण बनानेवाला एवं आकाशमें अपनी गर्जनाको व्याप्त करनेवाला दुःशासन भीमकी आँखों के सामने आया ॥

बद्धकच्छावपि द्वौ तावभीकौ भीमकौरवौ[१]।
गदागदि रणं घोरं कुर्वाते स्म परस्परम् ॥ ३१ ॥

बद्धकच्छाविति। बद्धः कच्छः मध्यपटबन्धः याभ्यां तौ तथोक्तौ (कौपीनवन्तौ च अभीकौ कामुकाविति विरोधः) अभीकौ निर्भयौ च तौ द्वौ भीमकौरवौ वृकोदरदुःशासनौ परस्परम् घोरं सर्वजनभयङ्करं गदया च गदया प्रवृत्तं गदागदि रणं युद्धं कुर्वाते स्म कृतवन्तौ ॥ ३१ ॥

बद्धकच्छ कौपीनधारी होकर भी अभीक-कामुक इस अर्थमें विरोध प्रतिभासित होता है, बद्धकच्छ कमरमें कपड़ा लपेटकर बाँधे हुए तथा निर्भय (इसमें परिहार हो जाता है) वे दोनों भीम और दुःशासन आपसमें गदा-प्रहारद्वारा अनुष्ठित भीषण युद्ध कर रहे थे ॥

निपातितस्य द्विषतः स भूमौ समक्षमक्ष्णां कुरुभूपतीनाम्।
गण्डे कराभ्यामुदरे पदाभ्यां संताडनं साधु समाचचार ॥ ३२ ॥

निपात्येति। सः प्रसिद्धस्वप्रतिज्ञाबद्धः भीमः कुरुभूपतीनां दुर्योधनादिनृपाणां

---

१. 'भीकरारवौ'। इति पा०।

अक्ष्णां समक्षम् तेषु पश्यत्सु भूमौ युद्धभुवि निपातितस्य बलपूर्वकं शायितस्य द्विषतः शत्रोः दुःशासनस्य गण्डे कपोले कराभ्यामुभाभ्यां स्वहस्ताभ्याम् उदरे कुक्षौ पदाभ्यां चरणाभ्यां च साधु यथाप्रतिज्ञं सन्ताडनं प्रहारं समाचचार कृतवान् ॥३२॥

उस दृढ़प्रतिज्ञ भीमने कौरवनृपति दुर्योधनादिकी आँखोंके सामने उस अपराधी-दुःशासनके गालोंपर अपने दोनों हाथों तथा पेटपर चरणोंसे खूब प्रहार किया, इच्छा भर पीटा ॥ ३२ ॥

निजप्रियाकैश्यकृषोऽस्य शत्रोर्निर्भिद्य[1] वक्षः पिबतोऽसृगम्भः ।
समीरसूनोश्च पिशाचिकानां सपीतिकेल्यां कलहो बभूव ॥ ३३ ॥

निजप्रियेति । निजप्रियायाः स्वस्त्रियाः कैश्यकृषः केशाकर्षिणः अस्य शत्रोः द्विषतो दुःशासनस्य वक्षः हृदयं निर्भिद्य विदार्य असृगम्भः शोणितरूपं पयः पिबतः आचामतः अस्य समीरसूनोः वायुसुतस्य भीमस्य पिशाचिकानां पिशाचाङ्गनानां च सपीतिकेल्यां सहरक्तपानक्रीडायां कलहः अहमधिकं रक्तं पिबेयम् , अहमधिकं रक्तं पिबेयमिति विवादः अभूत् । भीमेनोर्व्यां पातयित्वा वक्षो विदार्य च दुःशासनस्य रक्ते पीयमाने पिशाचिका अपि तद्रक्तं पातुं प्रावर्त्तन्त तदा समधिकरक्तपानाय भीमेन सह पिशाचिका विवादं चक्रुरिति भावः ॥ ३३ ॥

भीमने द्रौपदीकेशाकर्षी दुःशासनको जमीनपर गिराकर उसकी छाती फाड़ दी, और उसका शोणित पीना प्रारम्भ कर दिया, पिशाचाङ्गनायें भी इधर उधरसे आकर दुःशासन का रक्त पीने लगीं, भीम तथा पिशाचियोंके बीच उस रक्तपान-प्रसङ्गमें छीना-झपटी होने लगी ॥ ३३ ॥

एणीदृशः स्वकीयाया वेणीं तैरेव शोणितैः ।
क्षोणीभृतां द्विषामेषः शोणीचक्रे सहाक्षिभिः ॥ ३४ ॥

एणीदृश इति । स्वकीयायाः निजप्रियतमायाः एणीदृशो मृगीनेत्रसदृशनेत्रायाः द्रौपद्याः वेणीम् केशपाशम् तैरेव दुःशासनहृदयनिर्गतैः शोणितैः एषः भीमः क्षोणीभृतां दुर्योधनादीनां प्रतिपक्षनृपाणां सहाक्षिभिः अक्षिभिः नेत्रैः सह शोणीचक्रे रञ्जयामास । वेणी रक्तस्नपनेन शोणीकृता, तत्पश्यतां राज्ञामक्षीणि च कोपेन रञ्जितानीति भावः । सहोक्तिरलङ्कारः ॥ २४ ॥

अपनी प्रिय। द्रौपदीके बालोंको दुःशासनके शोणितसे भीमने लाल बनाया, साथ ही नृपोंके नेत्रोंको भी कोपरञ्जित कर दिया ॥ ३४ ॥

तदनन्तरम् ,—
रिपूं[2]न्कुरुक्षेत्रतले चरन्तं तृणाय मत्वा वृषसेनमुग्रम् ।
किरीटिगोपः परधेनुकान्तं निनाय काण्डैर्यमलोकगो[3]ष्ठम् ॥ ३५ ॥

---

१. 'शत्रोर्विभिद्य' । २. 'रिपुम्' । ३. 'गोष्ठीम्' । इति पा० ।

रिपूनिति। रिपून् सस्यरक्षकान् स्वकार्यंसस्यभक्षणविरोधिनः शत्रूंश्च तृणाय मत्वा तृणवदनादृत्य कुरुक्षेत्रतले युद्धदेशे कुरुसंबन्धिनि केदारभागे च चरन्तं सस्यानि भक्षयन्तं परधेनूनां कान्तं वल्लभं परया धेनुकया असिधेनुकानामकास्त्रेण रमणीयं च उग्रं भयङ्करं वृषसेनं वृषसेनं नाम कर्णपुत्रं वृषश्रेष्ठं च किरीटी अर्जुन एव गोपः दण्डैः लगुडैः बाणैश्च यमलोकरूपं गोष्ठं निनाय प्रापितवान्। यथा कश्चन कृषकगोपः केदाररक्षकाननादृत्य क्षेत्रे चरन्तं धेनुभिः काम्यमानं वृषराजं स्वदण्डप्रहारेण गोष्ठं प्रापयति, तद्वदर्जुनः कर्णदुर्योधनादीन् अनादृत्य धृतासिधेनुकास्त्रमुग्रं च वृषसेनं नाम कर्णपुत्रं स्वबाणैर्यमलोकमनैषीदित्याशयः। समस्तवस्तुविषयं सावयवरूपकमलङ्कारः॥ ३५॥

जैसे क्षेत्ररक्षकोंकी परवाह नहीं करके खेत चरनेवाले, गायोंके प्रिय भीषण वृषराजको गोप अपने लगुड़-प्रहारसे गोष्ठमें पहुँचा देता है, उसी तरह युद्धमें वर्त्तमान शत्रुओंका अनादर करके अर्जुनने अपने बाणोंसे कुरुक्षेत्रमें घूमते हुए एवम् असिधेनुका नामक अस्त्रसे शोभित भयङ्कर वृषसेन नामक कर्ण-पुत्रको यमलोक भेज दिया॥ ३५॥

अवकर्ण्य किरीटिभग्नमाजावभिमन्योरधिकं सुतं स कर्णः।
रिपुरङ्कुतरक्षुरष्टदिक्षु ज्वलयंश्चक्षुरभूदरीन्दिधक्षुः॥ ३६॥

अवकर्ण्येति। अभिमन्योः तदाख्यात् स्वमारितात् पार्थपुत्रादधिकं किरीटिनाऽर्जुनेन भग्नं निहतं सुतं स्वपुत्रं वृषसेनम् अवकर्ण्य श्रुत्वा आजौ संग्रामे चक्षुः ज्वलयन् कोपशोणं विदधानः सः कर्णः रिपवः एव रङ्कवो हरिणाः तेषां तरक्षुः मृगादनो मृगसजातीयः पशुभेदः (शत्रुमृगेषु तरक्षुरिव प्रतीयमानः, यथा तरक्षुदर्शनेन मृगाणां प्राणाः शिथिलायन्ते तथा शत्रुप्राणान् शिथिलयन्) अष्टदिक्षु सर्वासु दिशासु अरीन् दिधक्षुः ज्वलयितुमिच्छुः अभूत्। वृषसेनं नाम स्वसुतमभिमन्युवधप्रतीकारमिच्छताऽर्जुनेन निहतं श्रुत्वा कर्णः कोपरक्तनेत्रो भूत्वा शत्रुसैन्यमृगान् तरक्षुरिव प्रतिक्षिपन्सर्वतः सेना दिधक्षुरिव प्रतीयते स्मेत्याशयः। अत्र पुत्रवधवृत्तान्ताकर्णनस्य विशेषणगत्या शत्रुदिधक्षाहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥

कर्णने जब सुना कि उसका पुत्र वृषसेन अभिमन्युवध-प्रतीकारके इच्छुक अर्जुनद्वारा मारा गया, तब उसकी आँखे कोपसे जलने लगीं, रक्त हो गयीं, वह शत्रुरूप मृगोंके लिये तरक्षु- मृगादन (जिसे देखते ही मृगोंके प्राण निकलने लगते हैं) बन गया, और सभी ओर शत्रुओंको मारने लगा॥ ३६॥

कुण्डलीकृतकोदण्डश्चण्डभानुतनूभुवः।
ताण्डवं विदधे पाणिः पाण्डवानां बलान्तरे॥ ३७॥

कुण्डलीकृतेति। चण्डभानुतनूभुवः सूर्यपुत्रस्य कर्णस्य पाणिः करः कुण्डलीकृतकोदण्डः कुण्डलाकारीकृतधनुः (आकृष्टचापः) सन् पाण्डवानां बलान्तरे सैन्यमध्ये

ताण्डवं नृत्यं विदधे, गुणाकर्षणबाणमोक्षाभ्यां सततप्रवृत्ताभ्यां नृत्यन्निव प्रतीयते स्मेत्याशयः। अनुप्रासभेदः शब्दालङ्कारः ॥ ३७ ॥

चण्डभानु सूर्यके पुत्र कर्णका हाथ धनुषको कुण्डलाकार बनाकर धारण किये हुए-नमित धनुष लिये हुए वहाँपर युद्धमें ताण्डव सा कर रहा था, नाच सा रहा था ॥ ३७ ॥

युद्धे हतो योधसमूह एष बिम्बं पितुर्मे बत भेत्स्यतीति ।
मत्वेव पत्युर्महसां कुमारः संछादयामास दिवं शरौघैः ॥ ३८ ॥

युद्धे हत इति। एषः योधसमूहः भटगणः युद्धे हतः संग्रामनिपातितः सन् मे मम पितुः सूर्यस्य बिम्बं मण्डलं भेत्स्यति युगपन्निर्गमने संघट्टवशात् विदलयिष्यतीति इति मत्वा इव इति मनसि कृत्वा इव महसां पत्युः सूर्यस्य कुमारः पुत्रः कर्णः शरौघैः बाणैः दिवम् आकाशं संछादयामास आवृणोतिस्म, इमे निहता भटा यद्याकाशमार्गेण युगपत्स्वर्गाय प्रस्थास्यन्ते तदा सूर्यबिम्बं भेत्स्यत इति मत्वेव कर्णस्तत्प्रयाणवर्त्म व्योम बाणैरावृणोतिस्मेति भावः ॥ ३८ ॥

यह योधागण युद्धमें मारे जानेपर हमारे पिता सूर्यका मण्डल भेदन कर देगा, बहुतसे भट एक साथ मरकर स्वर्ग जाने लगेंगे तब उनकी भीड़से सूर्यमण्डल भिन्न हो जायेगा, ऐसा सोचकर कर्णने अपने बाणोंसे आकाशको ही आवृत कर दिया, जिससे कोई निहत योधा सूर्यतक पहुँच ही न सके ॥ ३८ ॥

करीन्द्रमण्डले पेतुः कर्णमुक्ताः शरव्रजाः ।
सदानाम्बुकरं यान्ति स्थूललक्ष्यं हि मार्गणाः ॥ ३९ ॥

करीन्द्रेति। कर्णमुक्ताः कर्णेन प्रहृताः शरव्रजाः बाणगणाः करीन्द्रमण्डले गजसमूहे पेतुः निपतन्ति स्म, (तथाहि) मार्गणाः बाणा याचकाश्च सदानाम्बुकरं दानवारियुतशुण्डादण्डं दानार्थजलपूर्णकरं च स्थूललक्ष्यं पृथुलक्ष्यं बहुदातारं च कमपि परं पुमांसं यान्ति। कर्णमुक्ता बाणाः करिणां समूहमगच्छन्, यतो बाणाः स्थूलं लक्ष्यं दानवारियुतशुण्डादण्डशालिनं च गच्छन्ति, यथा याचकाः दानाय धृतजलहस्तं कमपि बहुदातारं व्रजन्ति। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३९ ॥

कर्ण द्वारा चलाये गये बाण गजसमूहके ऊपर गिरे, क्योंकि बाण स्थूललक्ष्य तथा दानवारिपूर्ण शुण्डाशालियोंपर ही जाता है, और याचक अधिक देनेवाले सङ्कल्पार्थ गृहीत-जल-पाणिवालोंके पास ही जाता है ॥ ३९ ॥

प्रकाश्य कर्णे युधि कालपृष्ठं भयंकराभे चलति प्रवीरे ।
तदीयभल्लैर्दलिताः परेऽपि प्रकाश्य चेलुर्बत रक्तपृष्ठम् ॥ ४० ॥

प्रकाश्येति। भयङ्करा भयजननी आभा तेजो यस्य तादृशे स्वतेजसा भयजनके तस्मिन् प्रसिद्धे प्रवीरे शूरे कर्णे कालपृष्ठं नाम स्वं धनुः प्रकाश्य प्रकटीकृत्य युधि

युद्धे चलति इतस्ततो व्रजति सति तदीयभल्लैः कर्णबाणैः दलिताः हताः प्रताडिता वा परे शत्रवोऽपि रक्तपृष्ठं स्वीयं रुधिररक्तं पृष्ठदेशं प्रकाश्य चेलुः पलायाञ्चक्रिरे। कर्णबाणहता रुधिररक्तपृष्ठाश्च शत्रवः पलायितुमारभन्तेत्याशयः ॥ ४० ॥

कर्ण जब अपना कालपृष्ठ नामक धनुष सामने करके युद्धमें चलने लगा तब शत्रुगण भी अपनी रक्तरञ्जित पीठ दिखलाते हुए इधर उधर चलने लगे। कर्णके बाणोंको आते देखकर उन लोगोंने पीठ दिखा दी, पीठ शोणितसे भींग गई, और वे उसी तरह भागने लगे ॥४०॥

तत्र तत्र युधि संचरमाणः शल्यसारथिमता स रथेन ।
चूषितारिमदवारितयाऽसौ सूर्यसूनुरपि चण्डकरोऽभूत् ॥ ४१ ॥

तत्र तत्रेति । युधि रणभूमौ शल्यसारथिमता शल्यकृतसारथ्येन रथेन निजस्यन्दनेन सञ्चरमाणः सः प्रसिद्धपराक्रमः असौ सूर्यसूनुः कर्णः अपि चूषितारिमदवारितया निःशेषपीतशत्रुगर्वजलतया चण्डकरः सूर्यः भयङ्करपाणिश्च अभूत्, पुत्रोऽपि पितरमनुचकारेति भावः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुत्यनुसारेण पुत्रः पितृत्वेनावभासे इति तात्पर्यम् ॥ ४१ ॥

शल्यकृत सारथ्यसे तीव्रगामी रथपर आरूढ़ होकर जब सूर्यपुत्र कर्णने युद्धस्थलमें भयङ्कर आभा धारण करके, युद्धमें भ्रमण करना प्रारम्भ करके शत्रुओंका गर्वरूप जल पीना प्रारम्भ कर दिया, तब वह अतिदीप्त कर्ण चण्डकर-सूर्य सा दीखने लगा। पिताके समान प्रतीत होने लगा ॥ ४१ ॥

रवेः कुमारस्य रथं समीक्ष्य[2] रमाप्रियस्यापि तदा समीके।
धैर्यं हृदः स्वेदजलं शरीराज्जगाल तोत्रं च जवेन हस्तात् ॥ ४२ ॥

रवेरिति। तदा समीके युद्धक्षेत्रे रवेः कुमारस्य सूर्यपुत्रस्य कर्णस्य रथं तदद्भुतगतिस्यन्दनं समीक्ष्य विलोक्य रमाप्रियस्य लक्ष्मीनाथस्य कृष्णस्य अपि हृदः हृदयात् धैर्यम्, शरीरात् स्वेदजलं, हस्तात् च तोत्रम् अश्वताडनम् च जवेन वेगेन जगाल पतति स्म। 'जगाल' क्रियायाः सर्वत्रान्वयः। शल्येन चाल्यमानं कर्णरथं पश्यन्भगवान् कृष्णोऽपि त्यक्तधृतिः स्वेदपूर्णवपुः स्खलिततोत्रश्चाजायतेति भावः॥

शल्यके द्वारा सञ्चालित होनेवाल कर्णरथको देखकर श्रीकृष्णका भी धैय जाता रहा, वह पसीनेसे तर हो गये, और उनके हाथसे अश्वताडन—चावुक गिर गया, भगवान् भी व्यग्र हो उठे ॥ ४२ ॥

तदनन्तरममर्त्यचक्रवर्तिविकर्तनतनयौ परस्परं प्रधनं[3] प्रवर्तयितुमारभेताम्[4] ॥

तदनन्तरमिति। तदनन्तरम् तत्पश्चात् अमर्त्यचक्रवर्त्ती इन्द्रस्तत्तनयोऽर्जुनः

---

१. 'पाणितया'। २. 'निरीक्ष्य'। ३. 'समरं'। ४ 'प्रावर्तयितुम्'। इति पा०।

विकर्त्तनस्य तनयः कर्णश्च तौ परस्परम् अन्योन्यम् प्रधनम् युद्धं प्रवर्त्तयितुं कर्त्तुम् आरभेताम् प्रारब्धवन्तौ ॥

इसके बाद अगर्य चक्रवर्ती देवराजके पुत्र अर्जुन तथा विकर्त्तन-सूर्यके पुत्र कर्ण—दोनों ने परस्पर युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥

राधाकुन्तीपुत्रयोः शौर्यभाजोश्चक्रीभूतौ चापदण्डौ ज्वलन्तौ ।
मध्यस्थाया रङ्गभूदेवतायास्ताटङ्काभामादधाते स्म तत्र ॥ ४३ ॥

राधाकुन्तीति । शौर्यभाजोः असाधारणशौर्यशालिनोः राधाकुन्तीपुत्रयोः कर्णार्जुनयोः चक्रीभूतौ अवनततया चक्राकारतां गतौ ज्वलन्तौ देदीप्यमानौ च चापदण्डौ धनुर्दण्डौ तत्र समये परस्परयुद्धकाले मध्यस्थायाः कर्णार्जुनमध्यदेशं गताया रङ्गभूदेवतायाः युद्धस्थलाधिष्ठातृदेवतायाः ताटङ्कौ कर्णभूषणे तयोराभाम् सादृश्यम् आदधाते स्म अधारयताम् । तदानीमन्योन्ययुद्धकाले चक्रीकृतौ कर्णार्जुनचापौ मध्ये स्थिताया युद्धस्थलाधिष्ठातृदेवतायाः ताटङ्कवत् प्रतीयेते स्मेत्याशयः । उपमालङ्कारः ॥ ४३ ॥

उस समय असाधारण कर्ण तथा अर्जुनके चक्राकार तथा देदीप्यमान चापदण्ड ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो वे दोनों बीचमें अवस्थित युद्धस्थलकी अधिष्ठात्री देवताके गोल-गोल चमत्कारी ताटङ्क-कर्णभूषण हों ॥ ४३ ॥

अवकर्ण्य शरासवल्लिघोषं सुतयोस्तत्र सहस्रदृष्टिघृष्ट्योः ।
दिवि वैणिकतापसस्य चित्रं महती प्रीतिरभूच्च नैव चाभूत् ॥ ४४ ॥

अवकर्ण्येति । तत्र तस्मिन्द्वन्द्वयुद्धसमये सहस्रं दृष्टयो नयनानि यस्य सः सहस्रदृष्टिरिन्द्रः, सहस्रं घृष्टयः किरणा यस्य सः सहस्रघृष्टिः सूर्यः तयोस्सहस्रदृष्टिघृष्ट्योः शक्रसूर्ययोः सुतयोः पुत्रयोः कर्णार्जुनयोः शरासवल्लिघोषं चापशब्दम् अवकर्ण्य श्रुत्वा दिवि आकाशे वैणिकतापसस्य वीणावादनरसिकस्य मुनेर्नारदस्य महती प्रीतिः आनन्दः अभूत् न चाभूत्, एतच्चित्रम् । नारदस्तयोश्चापघोषं निशम्य प्रसादं गतः, तच्चापघोषस्य स्ववीणारवतिरोधायकतया नापि प्रसादं गत इत्याशयः । प्रीत्युत्पत्त्यनुत्पत्त्योर्वैणिकत्वस्य कारणतया परिकरालङ्कारः ॥ ४४ ॥

सहस्रदृष्टि इन्द्रके पुत्र अर्जुन तथा सहस्रघृष्टि सूर्यके पुत्र कर्ण, इनके द्वारा किये गये धनुष्टंकारको सुनकर आकाशमें रहकर युद्ध देखनेवाले वीणाप्रिय नारदको प्रसन्नता हुई और न भी हुई, प्रसन्नता इसलिये हुई कि वैसा युद्ध देखा, नहीं इसलिये हुई कि उस धनुष्टंकारशब्दने शब्दमात्रको अपनेमें लीन कर दिया, उनका वीणारव भी उसीमें अन्तर्भूत हो जानेके कारण उनको सुननेको नहीं मिला ॥ ४४ ॥

उल्लोलकल्लोलितदोर्विलासावुपेन्द्रमद्रेश्वरसारथी तौ ।

परस्परं भल्लकुलैरभूतां रुषावलीढावरुषावलीढौ ॥ ४५ ॥

उल्लोलेति । उल्लोलाश्चञ्चलाः ये कल्लोलाः महोर्मयः ते सञ्जाता येषु ते उल्लोल-कल्लोलिताः अतिवृद्धिं गताः दोर्विलासाः बाहुविक्रमाः ययोस्तौ तथोक्तौ उपेन्द्र-सारथिः अर्जुनो मद्रेश्वरसारथिः शल्यसूतः कर्णश्च तौ द्वौ कर्णार्जुनौ परस्परम् अन्योन्यं रुषा कोपेन अवलीढौ युक्तौ अपि भल्लकुलैः बाणगणप्रहारैः अरुषा व्रणेन अपि अवलीढौ व्याप्तदेहौ अभूताम् जातौ । रुषावलीढावप्यरुषावलीढाविति विरोध-प्रतिभासः, रुषा कोपेन अरुषा व्रणेनेत्यर्थे च तत्परिहारः । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इत्यमरः । अत्र विरोधाभासयमकयोः संसृष्टिः ॥ ४५ ॥

अतिप्रवृद्ध भुजप्रतापशाली कृष्णसारथि अर्जुन तथा शैल्यसारथि कर्ण, दोनों ही एक दूसरेपर कोपसे बाण बरसाते हुए घायल हो गये, रुषावलीढ़ होकर भी अरुषावलीढ़ हो गये, ऐसा कहनेपर आपाततः विरोध प्रतीत होता है परन्तु रुषा-कोपेन अवलीढ़-युक्त होकर भी अरुषा-व्रणसे युक्त हो गये इस प्रकार अर्थ करनेपर विरोधका परिहार हो जाता है ॥४५॥

कर्णामरेन्द्रसुतकार्मुकवल्लिवान्तै-
र्नीरन्ध्रितेऽम्बरतले निबिडैः पृषत्कैः ।[2]
अभ्यागतानमरभावमुपेत्य वीरा-[3][4]
न्पप्रच्छ वैणिकमुनिः प्रधनप्रकारान् ॥ ४६ ॥

कर्णामरेन्द्रेति । कर्णस्य अमरेन्द्रसुतस्य देवनायकपुत्रस्यार्जुनस्य च कार्मुकवल्लि-भ्यां धनुर्लताभ्यां वान्तैः क्षिप्तैः निबिडैः घनैः पृषत्कैः बाणैः शरैः अम्बरतले आकाशे नीरन्ध्रिते समन्ततो व्याप्ते सति वैणिकमुनिः नारदः अमरभावम् देवत्वम् उपेत्य प्राप्य अभ्यागतान् उपगतान् वीरान् प्रधनप्रकारान् युद्धसमाचारान् अपृच्छत्, बाणैराकाशे व्याप्यमाने स्वयं युद्धस्थिते दर्शनेऽशक्तो नारदस्तत्र युद्धे मृत्वा सद्यो देवत्वमासाद्यागतान् वीरान्युद्धसमाचारविषये पृच्छति स्म । अत्र नारदस्य तादृक्प्र-श्नासम्बन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारस्तेन च युद्धस्यातिगहनत्वं व्यज्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

कर्ण तथा अर्जुन द्वारा प्रयुक्त किये गये घने बाणोंसे आकाशके पट जानेपर नारद स्वयं युद्ध नहीं देख सके, तब जो उस युद्धमें मरकर देवत्व प्राप्त करके स्वर्ग जाते थे, उन्हींसे युद्धके समाचार पूछ पूछकर युद्धकी स्थितिका अन्दाज करने लगे ॥ ४६ ॥

पाणिना तदनु भानुनन्दने पन्नगास्त्रमचिरेण गृह्णति ।
पूर्वमेव निखिलाप्सरःकुलात्सा दधौ वरणमाल्यमुर्वशी ॥ ४७ ॥

---

१. 'अपि लीढावरुषापि लीढौ' । २. 'नीरन्ध्रमम्बरतले निबिडं' । ३. 'भागम्' । ४. 'योधान्' । इति पा० ।

पाणिनेति। तदनु तदनन्तरं भानुनन्दने सूर्यसुते कर्णे पाणिना स्वकरेण पन्नगास्त्रं नागास्त्रं नाम शस्त्रभेदम् अचिरेण द्रुतं गृह्णति आददाने सति सा अर्जुनेन सह रन्तुमिच्छया तत्पार्श्वमागत्य तेन तिरस्कृता उर्वशीनामाप्सराः निखिलाप्सरःकुलात् सकलाप्सरोगणापेक्षया पूर्वम् प्रागेव वरणमाल्यं स्वयंवरणस्रजं दधौ करे कृतवती, सम्प्रति नागास्त्रहतमर्जुनमायातं बुद्ध्वा चिरपोषितमर्जुनसङ्गमाभिलाषं पूरयितुकामा सोर्वशी सर्वप्रथमं वरणमाल्यमादाय सज्जातिष्ठदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

कर्णने जभी अपने हाथमें अर्जुनपर चलानेके लिये नागास्त्र लिया, तभी सभी अप्सराओंसे पहले उर्वशीने अपने हाथोंमें वरणमाल्य धारण कर लिया, उर्वशीको अर्जुनको पतिरूपमें पानेकी बड़ी उत्कण्ठा थी, एकबार जब अर्जुन इन्द्रके पास स्वर्गमें थे तब उसने अर्जुनसे रति-याचना की भी थी, परंतु अर्जुनने उसका प्रत्याख्यान कर दिया था, अबकी उसने देखा कि कर्ण जब नागास्त्र चलाने जा रहे हैं, तब अर्जुन अवश्य मरकर देवत्व प्राप्तिपूर्वक स्वर्ग पधारेंगे, अतः उनके वरणार्थ उसने पहले ही माला उठा ली कि कहीं दूसरी अप्सरा अर्जुनका वरण न कर ले ॥ ४७ ॥

सव्यसाचिहननाय शरासे संहिते रविभुवा भुजगास्त्रे।
नन्दनद्वितयवत्त्वममंस्त स्वस्य कल्पकवनेन सहेन्द्रः ॥ ४८ ॥

सव्यसाचीति। रविभुवा कर्णेन सव्यसाचिहननाय अर्जुनवधार्थं शरासे कालपृष्ठे नाम स्वधनुषि भुजगास्त्रे नागास्त्रे संहिते आरोपिते सति इन्द्रः स्वस्य आत्मनः कल्पकवनेन नन्दनाख्यकाननेन सहैव नन्दनद्वितयवत्त्वम् नन्दनद्वयशालित्वम् अमंस्त मनुते स्म। अयमाशयः—इन्द्रो हि जयन्तार्जुनाभ्यां नन्दनद्वितयवान् प्रसिद्धः, सम्प्रति कर्णे नागास्त्रं संदधाने सति अर्जुनमरणमवश्यम्भावि मत्वेन्द्रः स्वस्य नन्दनद्वितयवत्त्वं न जयन्तार्जुनाभ्यां किन्तु जयन्तनन्दनकाननाभ्यां मनुतेस्मेति तात्पर्यम् ॥ ४८ ॥

कर्णने जब अपने धनुप पर नागास्त्रसन्धान किया, तब इन्द्रको विश्वास हो गया कि अर्जुन इस बाणसे त्राण नहीं पा सकते हैं, और ऐसा समझकर उन्होंने अपने नन्दनद्वयमें जयन्त और नन्दनवनकी गिनती की, पहले वह अपनेको जयन्त तथा अर्जुनसे नन्दनद्वयशाली मानते थे, अब तो अर्जुनका नाश अवश्यंभावी देखकर जयन्त तथा नन्दनवनसे ही अपनेको नन्दनद्वयवाला मानने लगे ॥ ४८ ॥

रवितनयविमुक्तमस्त्रमेतद्दिवि रसनायुगलं बहिर्वितन्वत्।
अहमरिमधुना द्विधा करोमीत्यभिनयकेलिमिवादधद्बभासे ॥ ४९ ॥

रवितनयेति। रवितनयेन कर्णेन विमुक्तं प्रहृतम् एतदस्त्रं नागास्त्रम् दिवि आकाशे रसनयोः जिह्वयोः युगलं द्वयं बहिर्वितन्वत् प्रकाशयत् अहम् अरिं शत्रुमर्जुनम् द्विधा करोमि खण्डयामीति अभिनयकेलिम् स्वप्रौढिप्रकाशनाय क्रीडावि-

शेषम् आदधत् धारयत् इव आबभासे प्रचकाशे। खाण्डवदाहकाले सुखे पुत्रमादाय गच्छन्ती तक्षकपत्नी पार्थेन हता, तदा मुखस्थशिशोरश्वसेनस्य पुच्छच्छेदो जातः, ततः कुपितोऽसौ पार्थवधाय कर्णतूणे स्थितः, तमेव शरं कर्णः सन्दधे स च मातृहन्तृवधाय जिह्वां चपलयन्नाबभास इत्याशयः ॥ ४९ ॥

रवितनय कर्ण द्वारा चलाया गया वह नागास्त्र आकाशमें अपनी जीभ फैलाये हुए ऐसा लगता था मानो वह अभिनयक्रीड़ा द्वारा लोगोंसे अभिमान प्रदर्शित कर रहा हो- मैं अभी इस शत्रुकी ग्रीवाको दो खण्ड कर दूँगा ॥ ४९ ॥

द्विधा विधातुं विजयं शिरोधावथापतन्तं स सरीसृपं तम् ।
निरीक्ष्य पादेन[1] निजेन शार्ङ्गी निमज्जयामास शताङ्गमुर्व्याम्[2] ॥ ५० ॥

द्विधेति। अथ विजयम् अर्जुनम् शिरोधौ ग्रीवायाम् द्विधा विधातुं खण्डयितुम् आपतन्तम् समायान्तं तं सरीसृपम् कर्णास्त्रभावं गतं नागमश्वसेनम् निरीक्ष्य सः प्रसिद्धोऽर्जुनवत्सलः शार्ङ्गी कृष्णः निजेन पादेन निजचरणभरेण शताङ्गम् अर्जुनाधिष्ठितं रथम् उर्व्यां धरण्यां निमज्जयामास निमग्नमकार्षीत्, तथाकरणेन च तस्यागच्छतो नागास्त्रस्य लक्ष्यच्युतिरजायत, नागास्त्रलक्ष्यतोऽर्जुनः त्रस्त इत्यर्थः। उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ५० ॥

इसके बाद जभी भगवान्‌ने देखा कि कर्णप्रयुक्त वह बाणरूपधारी सर्प अश्वसेन अर्जुनका गला काटने आ रहा है कि भगवान्‌ने अपने चरणके भारसे अर्जुनके रथको जमीनमें धँसा दिया, जिससे उस नागास्त्रका निशाना चूक गया, अर्जुन लक्ष्यस्थलसे खिसक कर बच गये ॥ ५० ॥

आनेमिमग्नस्य हरेरुपायात्तदा शताङ्गस्य किरीटिनोऽस्य ।
गर्भेऽवकाशं किल बान्धवेन शंभोः शताङ्गो धरणी[3] व्यतानीत् ॥ ५१ ॥

आनेमीति। तदा तस्मिन्समये हरेः श्रीकृष्णस्य उपायात् पादनिष्पीडनरूपात् आनेमि चक्रलायःपट्टिकापर्यन्तम् मग्नस्य पृथिव्यां गतस्य किरीटिनोऽर्जुनस्य शताङ्गस्य बान्धवेन भ्रातृभावेन साजात्येन रथत्वकृतेन शम्भोः शताङ्गो रथो धरणीरूपः गर्भे स्वान्तर्भागे अवकाशम् स्थानम् व्यतानीत्। भगवान् कृष्णो यदाऽर्जुनरथं तद्रथं पदा निष्पीडयामास, तदाऽऽनेमिमग्नायार्जुनरथाय शिवस्य रथो धरणी रथत्वसाजात्यकृतबन्धुप्रेम्णा स्वान्तःस्थानमकल्पयत् इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

उस समय भगवान्‌के व्यापार-पादनिष्पीडनरूप उपायसे जब अर्जुनका रथ धुरीतक जमीनमें धँस गया तब महादेवके रथ पृथ्वीने अर्जुनके रथको रथत्वसाजात्यसे अपना बान्धव समझकर अपने भीतर स्थान दे दिया ॥ ५१ ॥

---

१. 'भारेण'। २. 'रथाङ्गमुर्व्याम्'। ३. 'धरणिः'। इति पा०।

ततः कुरूणामिव पुष्करान्ते क्ष्वेलाभटीं जृम्भयतात्मनश्च ।
उग्राहिना तस्य किरीटशृङ्गमग्राहि नाकेन्द्रभयेन साकम् ॥ ५२ ॥

तत इति । ततः तदनन्तरं कुरूणाम् दुर्योधनादीनाम् क्ष्वेलाभटीं सिंहनादौद्धत्यम् (अयमर्जुनो नागास्त्रेण निहन्यत इति प्रसादकृतमौद्धत्यम्) इव आत्मनः स्वस्य क्ष्वेलाभटीं विषोग्रत्वम् पुष्करान्ते आकाशे जृम्भयता प्रकटयता उग्राहिना भीषणसर्पेण तस्य अर्जुनस्य किरीटशृङ्गम् इन्द्रदत्तं किरीटम् नाकेन्द्रभयेन अर्जुनो विपद्यत इत्येवंरूपेण शक्रस्य भयेन सह अग्राहि अपहृतम् । स हि कर्णास्त्रभूतो नागः पृथ्वीनिमग्नरथस्यार्जुनस्य लक्ष्यस्थानविस्तृतया केवलं किरीटमेवाहरत् , न प्राणान् , तेन किरीटेन सहैव शक्रस्य भयमप्यर्जुनमरणविषयमहरदिति सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ५२ ॥

इसके बाद कौरवोंने सिंहनादकी उद्धतता प्रकट करना प्रारम्भ किया कि अर्जुन मारे गये, और कर्णके नागास्त्रने अपने विषकी उग्रता आकाशमें प्रकटित की, और अनन्तर उस नागास्त्रने अर्जुनके किरीट मात्रका हरण कर लिया, साथ ही इन्द्रके हृदयके भयका भी हरण कर लिया, किरीटमात्रके हरणसे प्राण बच गये, इससे इन्द्र गतचिन्त हो गये ॥ ५२ ॥

ततः स्नेहरसार्द्रस्तं पक्षपाती भुजंगमम् ।
तक्षकः किल पार्थस्य वर्धयामास सायकः ॥ ५३ ॥

ततः स्नेहेति । ततः पार्थकिरीटहरणानन्तरम् स्नेहेन तैलरसेन प्रेम्णा च आर्द्रः सरसः, पक्षैः पाती पतनशीलः पुत्रवत्सलश्च पार्थस्य बाणः तक्षकः कर्त्तनदक्षो वाश्यादिः तक्षकः अश्वसेननागपिता च तं नागास्त्ररूपं भुजङ्गं वर्धयामास खण्डशश्चकार वर्धयामास च । यथा तक्षको नाम नागाश्वसेनपिता स्निग्ध पक्षपाती च भूत्वा तं वर्धयामास तथैव तैलाद्रः पक्षैः पतनशीलश्च छिद्रंदिकर्मा वाश्यादिरूपः पार्थबाणस्तं कर्णप्रयुक्तं नागास्त्रं खण्डशश्चकारेति भावः । सावयवं रूपकम् ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार स्नेहाधीन पक्षपाती पिता तक्षकने नागसेनको बड़ा किया था, उसी प्रकार तैलार्द्र तथा पक्षोंके सहारे उड़नेवाले तक्षणकर्मा पार्थबाणने उस नागास्त्रभूत अश्वसेनको खण्डशः काट दिया ॥ ५३ ॥

दन्तीन्द्रपादातरथाश्वभेदी कुन्तीकुमारः स हरेर्निदेशात् ।
राधेयकाये विविधास्त्रजालमाधेयमेव व्यधित क्षणेन ॥ ५४ ॥

दन्तीन्द्रेति । दन्तीन्द्राः गजमुख्याः, पादाताः पादचारिणः, रथाः, अश्वाश्च तान् भिनत्ति मारयतीति तथोक्तः सः कुन्तीकुमारोऽर्जुनः हरेर्निदेशात् 'अद्यैव कर्णो जेतव्य'

---

१. 'यतां निजां च' । २. 'न्यधित' । इति पा० ।

इत्येवं रूपं भगवदादेशं प्राप्य क्षणेनैव अल्पकालेनैव राधेयकाये कर्णशरीरे विविधास्त्रजालम् नानाप्रकारकं स्वमस्त्रजातम् आधेयम् आश्रितम् अवस्थापितम् प्रहृतम् व्यधित कृतवान्। भगवादादेशेनार्जुनः कर्णस्य वपुषि क्षणेनैव बहून्प्रहारान् विदधे इत्याशयः ॥ ५४ ॥

हाथी, पादचारी सैन्य, रथ तथा अश्वका भेदन करनेवाले कुन्तीपुत्र पार्थने 'आज ही कर्णको जीतना चाहिये' इस प्रकारका भगवदादेश पा करके क्षणभर अपने नानाप्रकारके अस्त्रोंको कर्णके शरीरमें आश्रित कर दिया, कर्णके शरीरको अपने बाणरूप आधेयका अधिकरण बना दिया ॥ ५४ ॥

सर्वेषु मार्गणगणेषु बहुप्रदत्वा-
त्खर्वेतराहृतिरयं खमणेः कुमारः[2] ।
पार्थस्य मार्गणगणं पतितं शरीरे
सार्थं व्यधादभिमतं स वितीर्य जीवम् ॥ ५५ ॥

सर्वेष्विति । बहुप्रदत्वात् अतिदानशीलत्वात् सर्वेषु अननुसंहितविशेषेषु सकलसाधारणेषु मार्गणगणेषु बाणगणेषु याचकेषु च खर्वेतरा अतुच्छा महती आहृतिः आदरो यस्य तथाभूतोऽसौ अयम् खमणेः सूर्यस्य कुमारः पुत्रः कर्णः शरीरे स्वकाये पतितं लग्नं पार्थस्यार्जुनस्य मार्गणगणं याचकवर्गम् बाणसमूहं च अभिमतं वाञ्छितं (स्वस्य) जीवम् जीवनम् वितीर्य दत्त्वा सार्थम् पूर्णमनोरथम् व्यधात् कृतवान्। याचकसामान्यादरकर्त्तासौ कर्णः स्वप्राणयाचनागताय पार्थमार्गणगणरूपाय याचकाय स्वप्राणान्दत्त्वा तदभिलाषं पूरयित्वा स्वं वदान्यत्वं पालयामासेति भावः ॥ ५५ ॥

सभी मार्गणों—बाणों तथा याचकोंका आदर करनेवाले उस सूर्यपुत्र कर्णने पार्थके बाणरूप याचकोंको जो उसके अङ्गमें लगे थे—अपनी जीवनरूप अभिमत वस्तु प्रदान करके उन्हें कृतार्थ कर दिया, पार्थके बाणोंने कर्णके प्राण ले लिये ॥ ५५ ॥

कर्णेऽथ[3] कर्णेन्द्रियमात्रपात्रे दुर्योधनः शोकरसे ममज्ज ।
अभ्यासभूमानमिवाधिरोढुमनागतस्य ह्रदमज्जनस्य ॥ ५६ ॥

कर्णेऽथेति । अथ कर्णे कर्णेन्द्रियमात्रपात्रे श्रवणमात्रशेषे श्रोतव्यमात्रे मृते सति, दुर्योधनः शोकरसे दुःखसागरे—अनागतस्य भाविनः ह्रदनिमज्जनस्य युद्धान्ते ह्रदमज्जनस्य अभ्यासभूमानम् परिचयदार्ढ्यम् अधिरोढुम् अधिगन्तुम् इव ममज्ज । अयमाशयः—कर्णे मृते सति दुर्योधनः शोकसागरे मग्नो बभूव, मन्ये सः पश्चात्करिष्यमाणस्य ह्रदनिमज्जनस्याभ्यासं कर्त्तुमिव तथा कृतवानिति, हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ५६ ॥

---

१. 'याचकजनेषु' । २. 'तरोर्द्धति'; 'तरोन्नति' । ३. 'कर्णेऽपि' । इति पा० ।

कर्ण जब केवल कानोंसे सुनने भरके लायक ही गये—नाममात्र शेष रह गये, तब दुर्योधन शोकसागरमें डूब गया, ऐसा लगता था कि वह आगे किये जानेवाले ह्रदनिमज्जन के लिये अभ्यास-प्राचुर्य कर रहा हो ॥ ५६ ॥

ततः स्वकीयस्य तनूभवस्य वधाज्जले स्नातुमना इव द्राक् ।
मन्दायमानद्युतिमालभारी मरीचिमाली च ममज्ज सिन्धौ ॥ ५७ ॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते एकादशः स्तबकः ।

तत इति । ततः कर्णवधानन्तरम् मरीचिमाली सूर्यः अपि स्वकीयस्य निजस्य तनूभवस्य पुत्रस्य कर्णस्य वधात् मृत्योः द्राक् त्वरितम् जले स्नातुमनाः स्नातुमिच्छन्निव (सद्योमृतपुत्रस्य तिलाञ्जलिदानाय स्नानमावश्यकमितिकृत्वेव) मन्दायमाना शोकेन ग्लपिता या द्युतिमाला किरणततिस्तां बिभर्त्तीति तथोक्तः सन् सिन्धौ सागरे ममज्ज । सूर्योऽस्तं गत इत्यर्थः । मालभारीशब्दे 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु' इति मालाऽऽकारस्य ह्रस्वत्वम् ॥ ५७ ॥

कर्णके मारे जानेके बाद मन्दायमान किरणधारी सूर्य समुद्रमें डूब गये, ऐसा लगा जैसे कि वह सूर्य अपने पुत्र कर्णके मरनेपर उसके निमित्त तिलतोयाञ्जलि-प्रदान करनेके लिये शीघ्र जलमें स्नान करना चाह रहे हों ॥ ५७ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत'प्रकाशे'
एकादशस्तवक'प्रकाशः' ॥

---

१. 'अपस्नातुम्' । २. 'भारमाली' । इति पा० ।

द्वादशः स्तबकः

शल्यं ततः परमरातिकुलस्य चित्ते
शल्यं दिशन्तमनिशं रमणः कुरूणाम्।
कल्यं रणेषु पृतनाधिपतिं विधाय
तुल्यं त्रिविष्टपपतेः स्वममन्यतासौ ॥ १ ॥

शल्यमिति। ततः परं कर्णात्परतोऽसौ कुरूणां रमणः स्वामी दुर्योधनः रणेषु विविधप्रकारकयुद्धेषु कल्यं समर्थम्, अरातिकुलस्य शत्रुवर्गस्य चित्ते अनिशं सततं शल्यम् कीलकं दिशन्तं शल्यनिखननमिव कष्टं समर्पयन्तं तं शल्यं नाम मद्रपतिं पृतनाधिपतिं सेनानायकं विधाय कृत्वा सैनापत्येऽभिषिच्य स्वम् आत्मानम् त्रिविष्टपपतेः शक्रस्य तुल्यम् अमन्यत मन्यते स्म। कर्णात्परतः समरनिपुणमत एव शत्रुहृदयव्यथकं शल्यं सेनापतिपदेऽभिषिच्यासौ दुर्योधनः स्वमिन्द्रमिव दुर्जयममन्यतेति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १ ॥

इसके बाद कर्णके मारे जानेपर कौरवाधिपति दुर्योधनने शत्रुसमुदायके हृदयमें काँटा चिढानेवाले युद्धनिपुण मद्रराजको सेनापतिपदपर अभिषिक्त करके अपनेको स्वर्गके स्वामी इन्द्रके तुल्य समझ लिया ॥ १ ॥

तत्तादृशं तदनु बाहुबलेन शत्रू-
नाकम्पयन्तममरावलिमस्तकेन।
शक्त्या निहत्य युधि शल्यमजातशत्रोः
पाणिर्दधौ प्रथमतः परहिंसकत्वम् ॥ २ ॥

तत्तादृशमिति। तदनु बाहुबलेन भुजवीर्येण शत्रून् प्रतिपक्षिणो राज्ञः अमरावलिमस्तकेन देवगणशिरसा सह आकम्पयन्तम् चालयन्तम् (शत्रवो भीताश्चलन्ति, देवानां मस्तकानि च तदद्भुतभुजवीर्यश्लाघया चलन्ति) तत्तादृशम् अनुपमभुजप्रतापम् शल्यं मद्राधिपतिं युधि युद्धे शक्त्या स्वपराक्रमेण शक्त्याख्यास्त्रेण वा निहत्य अजातशत्रोः युधिष्ठिरस्य पाणिः प्रथमतः इदं प्रथमम् परहिंसकत्वं शत्रुमारणम् दधौ धारयामास। अजातशत्रुरपि शल्यमारणेन परहिंसकत्वमिदं प्रथममधारयदित्यर्थः ॥ २ ॥

इसके बाद अपने भुजप्रतापके द्वारा शत्रुओंके साथ साथ देवगणके मस्तकोंको भी सञ्चालित करनेवाले अतुलनीयपराक्रम शल्यको युद्धमें निहत करके अजातशत्रुके बाहुने पहली बार परहिंसा धारण की। शत्रु भयसे चल पड़े और देवगणके सिर उसके पराक्रम-

---

१. 'तम्'। २. 'मदेन'। इति पा०।

श्लाघामें चले। इससे पहले युधिष्ठिरने परपीड़ा नहीं की थी, पहले पहल यह शल्यवध उनके द्वारा सम्पन्न हुआ ॥ २ ॥

अथ तं सुबलात्मजं क्षणादवगत्य[1] प्रियपाशकं मृधे।
यमदापितपाशकं व्यधाद्यमयोः प्राथमिकः पराक्रमी ॥ ३ ॥

अथ तमिति। अथ पराक्रमी भुजवीर्यशाली यमयोः युग्मजातयोः प्राथमिकः आद्यः नकुलः तं प्रसिद्धवञ्चनव्यापारम् सुबलात्मजं शकुनिम् प्रियपाशकं द्यूतप्रियम् अवगत्य यमदापितपाशकम् यमेन सहदेवेन वा स्वपाशेन बद्धम् क्षणात् शीघ्रम् मृधे युद्धे यमदापितपाशकम् यमपाशबद्धम् व्यधात्, नकुलः सहदेवपाशबद्धं शकुनिमाशु मृधे हतवानिति भावः। प्रियपाशकाय पाशदापनात्समालङ्कारः ॥३॥

इसके बाद युग्मजात भाइयोंमें बड़े नकुलने सहदेव द्वारा द्यूतप्रिय जानकर-प्रियपाशक समझकर जिस शकुनिके गलेमें फन्दा डाल दिया गया था, उसके पास जाकर युद्धमें तुरन्त उसको यमराजके मृत्युपाशमें बद्ध करवा दिया ॥ ३ ॥

अथ युद्धतपर्तुदुःसहश्रीर्हरिदभ्यन्तरधावदात्मघोषम्।
सहते स्म न किंचिदप्युलूकं सहदेवस्य भुजप्रतापभानुः ॥ ४ ॥

अथेति। अथ शकुनौ हते सति युद्धतपर्त्तुना समररूपग्रीष्मसमयेन दुःसहा श्रीः प्रकाशो यस्य स तथोक्तः सहदेवस्य भुजप्रतापभानुः बाहुवीर्यरूपसूर्यः हरिदन्तरे दिशाभ्यन्तरे धावन्त आत्मघोषाः सिंहनादा यस्य तं तथा दिगन्तरे पलायमानाः आत्मघोषाः काका यस्मात्तथाविधं च तन्न उलूकं नाम पक्षिभेदं शकुनिसुतं च किञ्चिदपि न सहते स्म द्रुतमेव न्यवधीत्। यथा ग्रीष्मे प्रखरप्रकाशः सूर्यः काकान् दिशासु विद्रावयन्तं कमप्युलूकं न सहते तथैव युद्धे प्रकटपराक्रमोऽस्य सहदेवस्य प्रतापः दिगन्तरे व्याप्तस्वसिंहनादं शकुनिपुत्रमुलूकं क्षणमपि नासहतेत्यर्थः। साङ्ग रूपकमलङ्कारः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुका प्रकाशमान सूर्य, दिशामें भाग रहे हैं काकगण जिससे ऐसे उलूकको नहीं सहता है, उसी तरह युद्धमें प्रकट होनेवाले सहदेवके प्रतापने, जो दिगन्तरमें व्याप्त कर रहा है अपने सिंहनादको ऐसे उलूक नामक शकुनिपुत्रको युद्धमें क्षणभर भी नहीं टिकने दिया। सहदेवने उलूक नामक शकुनिपुत्रका वध कर दिया ॥ ४ ॥

ज्वालं विषक्तमिव[2] दानविधौ कृशानोः
शोणं दधच्चमरवालमुदस्य चापम्।
पार्थे निहन्तरि रिपूनथ कांदिशीका
द्रोणात्मभूकृपमुखाः सहसा बभूवुः ॥ ५ ॥

---

१. 'अवगम्य'। २. 'निपक्त'; 'लानुपक्त' इति पा०।

ज्वालमिति। अथ पार्थे अर्जुने दानविधौ वह्निनाऽर्जुनाय सम्प्रदानीकरणे विषक्तम् लग्नम् ज्वालम् वह्निप्रभामिव शोणं रक्तं चमरवालम् चमरमृगपुच्छकेशजालं दधत् धारयत् चापम् गाण्डीवम् उदस्य उत्थाप्य रिपून् हतशेषान् शत्रून् निहन्तरि हन्तुं प्रवृत्ते सति द्रोणात्मभूः अश्वत्थामा कृपस्तन्मातुलश्च तत्प्रमुखास्तदाद्याः अश्वत्थामकृपादयः सहसा हठात् कान्दिशीकाः भयद्रुताः बभूवुः भयभीता सन्तः पलायन्तेत्यर्थः। अर्जुनचापलग्नो मृगवालभरः वह्निनाऽर्जुनाय खाण्डवदहनावसरे गाण्डीवे संसक्ता वह्निप्रभवे प्रतीयते स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

अर्जुनके धनुष गाण्डीवमें लगे हुए चमरमृगपुच्छकेश ऐसे लगते थे मानो खाण्डवदाह समयमें अग्नि जब अर्जुनको गाण्डीव धनुष दे रहे थे, उस समय अग्निकी लपट उस धनुषमें लग गई हो, उस तरहके रक्ताभ धनुषको उठाकर अर्जुनने जब हतशेष शत्रुओंका संहार करना प्रारम्भ किया, तब अश्वत्थामा कृप वगैरह भयभीत होकर भाग खड़े हुए ॥ ५ ॥

इत्थं सोदरदायादवरूथिनीनां रणक्षितौ परिक्षयमभिवीक्ष्य महीयसा साध्वसेन मनसि विरचितप्रथमप्रवेशः कंचन दुर्ज्ञेयदेशे गूढावस्थितिरेव महती ममायुष्टोमेष्टिरित्यालोच्य झटिति घटितकवचावगुण्ठनः पन्नगकेतनः समन्तपञ्चकसामन्तं सागरगम्भीरं त्वरितनामानं कंचन महाह्रदमासाद्य 'मद्भुजेन चिरधार्यमाणां क्षोणीं त्वय्येव समर्पयिष्यामि' इति पातालवासिनः पन्नगाधिपतेर्द्विसहस्रलोचनेषु रहसि वाचा निवेदयितुमिव दूरं दूरं निमज्ज्य स्वविद्यया सर्वमप्यम्भः स्तम्भयामास ॥

इत्थमिति। इत्थम् अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण सोदराणां भ्रातृणां दायादानां सपिण्डानां भीष्मसोमदत्तादीनां भ्रातृपुत्रादीनां च वरूथिनीनाम् तावतीनां सेनानां च रणक्षितौ युद्धक्षेत्रे क्षयं विनाशम् अभिविक्ष्य दृष्ट्वा महीयसा भूयिष्ठेन साध्वसेन मनसि हृदये विरचितप्रथमप्रवेशः इदम्पूर्वतया प्रथमप्रथमं भयभीतः क्वचन दुर्ज्ञेयदेशे गुप्तस्थाने गूढावस्थितिः प्रच्छन्नावस्थानम् एव महती श्लाघ्या मम दुर्योधनस्य आयुष्टोमेष्टिः जीवनसमयव्यतिगमनोपायः (क्वचिद्गुप्तस्थाने प्रच्छन्नभावेन स्थित्वा जीवितं गमयामीत्येव साम्प्रतं पन्थाः) इति आलोच्य विचार्य झटिति त्वरया घटितकवचावगुण्ठनः धृतकवचः पन्नगकेतनः सर्पध्वजो दुर्योधनः समन्तपञ्चक-सामन्तम् समन्तपञ्चकाख्यकुरुक्षेत्रस्थतीर्थविशेषसमीपस्थम् सागरगम्भीरं त्वरितनामानं त्वरिताभिधानं कञ्चन महाह्रदम् विशालं जलाशयम् आसाद्य उपसृत्य 'मद्भुजेन

१. 'क्वचन गूढावस्थिति'। २. 'स्यमन्तपञ्चकसामन्तम्'। ३. 'स्वरित'। ४. 'वचनानि'। इति पा०।

दुर्योधनस्य मम बाहुना चिरधार्यमाणां सुबहुकालं पालितां क्षोणीं पृथिवीं त्वयि पन्नगाधिपे एव समर्पयिष्यामि स्थापयिष्यामि' इति एवं पातालवासिनः धरातलनिवासिनः पन्नगाधिपतेः शेषनागस्य द्विसहस्रलोचनेषु दृष्ट्यात्मकेषु तावत्संख्यकेषु च श्रोत्रेषु निवेदयितुं वक्तुम् इव दूरं दूरम् सुदूरं निमज्ज्य मग्नो भूत्वा स्वविद्यया स्वाभ्यस्तया जलस्तम्भनकलया सर्वमपि अम्भः स्तम्भयामास, स्वतो दूरे स्तम्भयित्वा स्थापयामास ॥

इस प्रकार युद्धक्षेत्रमें अपने भाई, दायाद तथा सेनाओंका सर्वनाश देखकर दुर्योधन के हृदयमें पहली बार बड़े भारी भयने प्रवेश किया, तब उसने सोचा कि किसी अज्ञात स्थानमें छिपकर रहना ही अब मेरे आयुशेषकी समाप्तिका उपाय है, ऐसा सोचकर उसने झटसे कवच धारण कर लिया, और समन्तपञ्चक नामक कुरुक्षेत्रवर्ती तीर्थविशेषके समीपस्थ त्वरित नामक समुद्रसदृश गम्भीर महाह्रदमें पैठ गया, उसमें पैठकर वह बहुत नीचे चला गया, ऐसा मालूम पड़ा जैसे वह पातालवासी शेषके दो हजार संख्यक नेत्ररूप श्रोत्रोंमें एकान्तमें यह कहने गया हो कि जिस पृथ्वीका मैंने इतने दिनों तक पालन किया, उस पृथ्वीको आज तुझे समर्पित करूँगा, इस प्रकार उस ह्रदके भीतर प्रवेश करके दुर्योधनने जलस्तम्भनविद्यासे सारे जलको स्तम्भित कर दिया ॥

बकहन्ता पुराद्यासौ धार्तराष्ट्रवधोद्यतः ।
इति भीतस्य राज्ञोऽस्य युक्तं कासारमज्जनम् ॥ ६ ॥

बकहन्तेति । असौ भीमः पुरा पूर्वमेकचक्रपुरवासकाले बकहन्ता बकासुरमारकः बकनामक पक्षिहन्ता च अद्य अधुना धार्त्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रसुतानां दुर्योधनादीनां नीलपक्षहंसभेदानां च वधोद्यतः वधाय कृतोद्यमः, इति भीतस्य भयग्रस्तस्य अस्य राज्ञो दुर्योधनस्य कासारमज्जनं सरसि प्रवेशनम् युक्तम् उचितमेव । कासारवासिनामेकस्य हन्तर्युपस्थिते शेषाणामपि पलायनं जलप्रवेशो वा लोकसिद्धतयोचितोपायेषु गण्यते । अनुरूपसङ्घटनात्मकः समालङ्कारः, स च श्लेषानुप्राणितः ॥ ६ ॥

जिसने पहले एकचक्रपुरवासकालमें बक नामक दस्यका संहार किया था, बकपक्षीको मारा था, वही इस समय धृतराष्ट्रपुत्रों या हंसोंको मारनेके लिये उद्यत हो गया है, इसीसे डरकर यह राजा दुर्योधन सरोवरमें डूब गया, यह ठीक ही किया ॥ ६ ॥

दरीषु वा शिखरितटीझरीषु[1] वा पुरीषु वा घनवनवल्लरीषु[2] वा ।
तिरो भवेदयमिति तं स मार्गितुं रणस्थलात्पवनसुतोऽथ निर्ययौ ॥७॥

दरीषु वेति । अथ दुर्योधने ह्रदमग्ने सति सः दुर्योधनः दरीषु पर्वतगुहासु वा, शिखरितटीझरीषु पर्वतप्रपातनिर्झरेषु वा, पुरीषु कासुचित् नगरीषु, घनवनवल्लरीषु सान्द्रकाननलतासु वा तिरोभवेत् अन्तर्हितः स्यादिति हेतोः तं दुर्योधनं मार्गितुम्

१. 'सरिज्झरीषु' । २. 'नव' । इति पा० ।

अन्वेष्टुम् पवनसुतः वायुपुत्रो भीमः रणस्थलात् युद्धक्षेत्रात् निर्ययौ निर्गतः। अवश्यं स्वमात्रशेषोऽयं दुर्योधनः क्वचन प्रच्छन्ने भूभागे स्वं गोपयेदिति विभाव्य भीमस्तदन्वेषणाय रणस्थलाच्चलित इत्याशयः। रुचिरावृत्तम्, 'चतुर्ग्रहैरिह रुचिराजभस्नगैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ७ ॥

यह दुर्योधन किसी पर्वतकी कन्दरामें, शैलशिखरसे गिरनेवाले निर्झरमें या काननकी घनी झाड़ीमें कहींपर जाकर छिप जायेगा, ऐसा सोचकर उसे ढूँढ़नेके लिये भीम युद्धस्थल से निकल पड़े ॥ ७ ॥

अपरैरपि सोदरैस्तदानीमनुयातस्य जयार्थसिद्धयेऽस्य।
शतमन्युभुवः परेव दिष्ट्या शबरः कश्चन संन्यधाद्वनान्ते ॥ ८ ॥

अपरैरपीति। अथ तदानीम् दुर्योधनान्वेषणसमये अपरैः स्वभिन्नैः सोदरैर्भ्रातृभिः धर्मराजादिभिः अनुयातस्य अनुसृतस्य अस्य भीमस्य जयार्थसिद्धये विजयरूपप्रयोजननिष्पत्तये पुरा तपश्चर्याकाले शतमन्युभुवः इन्द्रपुत्रस्यार्जुनस्य इव कश्चन एकः शबरः किरातः दिष्ट्या भाग्यवशात् वनान्ते काननपार्श्वे सन्न्यधात् समीपमागतः, यथा तपःसिद्धये वनं गतस्यार्जुनस्य सिद्धये कश्चन कुहनाकिरातः समीपमायातस्तथैव भीमस्यापि विजयसिद्धये कश्चन किरातः सन्निदधे इत्याशयः। उपमाऽतिशयोक्तिमिलिता ॥ ८ ॥

अन्य सोदर धर्मराजादिके साथ विजयसिद्धिके लिये प्रस्थित भीमको मार्गमें जलहदवर्ती वनप्रान्तमें एक किरातसे भेंट हो गई, जैसे तपश्चर्याकालमें सिद्धिप्राप्तिके चेष्टा करते हुए अर्जुनको हिमालयके वनमें एक किरात मिला था ॥ ८ ॥

अथ तेन कृताञ्जलिना सविनयं नि[1]वेदितायां सार्वभौमलक्षणोपेतायां पदपङ्क्तौ लक्ष्यमाणैः सलिलमाहर्तुं वनदे[2]वताभिरा[3]हितैरिव कलशैरङ्किता-वतारपथात्संगररङ्गप्रयुक्तविविधायुधसवि[4]धाभ्यस्ततैक्ष्ण्यानीव मा[5]रुतिवचनानि निशम्य विशालैः क्रोधनिःश्वासैरुपरिकोरकितबुद्बुदकलकलोदयात्तस्माज्जलाशयादुत्तीर्य मानिनामग्रणीः सुयोधनो धीर[6]धीरमनास्तादृशेन भीमेन सह भयानकं गदागदि[7]कलहं सरभसमुपचक्रमे ॥

अथेति। अथ शबरसङ्गमानन्तरम् तेन सविनयं नम्रभावेन कृताञ्जलिना कृतनमस्कारेण शबरेण निवेदितायाम् सूचितायाम् सार्वभौमलक्षणोपेतायाम्। चक्रवर्त्तिचिह्नभूतकलशध्वजादिरेखायुक्तायाम् पदपङ्क्तौ चरणचिह्नपरम्परायाम् लक्ष्यमाणैः स्फुटं दृश्यमानैः सलिलमाहर्त्तुम् जलाहरणाय वनदेवताभिराहितैः स्थापितैः

१. 'जातस्य'। २. 'आनीतैः'। ३. 'अङ्कितात्'। ४. 'अधीततैक्ष्ण्यानीव'। ५. 'परुषाणि सरोषाणि मारुति'। ६. 'धीरमनास्तादृशेन'। ७. 'कलहायितुम्'। इति पा०।

इव कलशैः घटैः अङ्कितावतारपथात् युक्ताज्जलावतारमार्गात्, (जलावतारमार्गे दुर्योधनपादगतकलशरेखाः स्फुटमदृश्यन्त, ता वनदेवता जलाहरणाय स्थापिताः कलशा इव प्रतीयन्ते स्म) सङ्गररङ्गे युद्धक्षेत्रे प्रयुक्तेभ्यः व्यवहृतेभ्यः विविधायुधसन्निधेभ्य नानास्त्रसकाशदेशेभ्यः अभ्यस्ततैक्ष्ण्यानि अधीतप्रखरभावानि इव मारुतिवचनानि भीमवाक्यानि निशम्य श्रुत्वा विशालैः दीर्घैः क्रोधनिःश्वासैः कोपप्रवृत्तैः श्वासैः उपरि जलोर्ध्वभागे कोरकिताः संवर्धिताः बुद्बुदानां कलकलोदया कोलाहलध्वनयः यस्मिंस्ताद्दशात् तस्मात् त्वरितनामकाज्जलाशयात् उत्तीर्य बहिर्निर्गत्य मानिनाम् अभिमानशालिनाम् अग्रणीः अग्रगण्यः धीरधीरमनाः अतिगभीरहृदयः सुयोधनः भीमेन सह भयानकं भीषणं गदागदिकलहं गदायुद्धं सरभसं वेगेन उपचक्रमे प्रारब्धवान् । दुर्योधनमन्वेष्टुं प्रस्थितो भीमो मध्येमार्गमेकेन शबरेण मिलितः, स हि शबरोऽनेन पथा दुर्योधनो गतवान्, पश्य चक्रवर्त्तिचिह्नध्वजकलशाकाररेखाभिरियं सरणिर्व्याप्तेति भीममुक्तवान्, तद्रेखानुसारेण भीमो जलहृद्पार्श्वमागत्य तीक्ष्णैर्वचनैर्दुर्योधनमाह्वयते स्म, तच्छ्रवणात्कुपितो दुर्योधनः श्वासं मुञ्चन् हृदाद्बहिरागत्य भीमेन सह गदायुद्धमारब्धवानिति भावः ॥

उस शबरने नम्रतापूर्वक नमस्कार करके बताया कि इसी मार्गसे दुर्योधन गया है, चक्रवर्त्तिचिह्न ध्वजकलशादि रेखा इस मार्गमें बनी हुई हैं, उसी रेखाके आधारपर—जो रेखायें ऐसी प्रतीत होती थीं जैसे वनदेवताओंने पानी लानेके लिये अपने घड़े रखे हों—भीम जलाशयके घाटपर पहुँचे, और वहाँसे भीमने दुर्योधनको अपने तीक्ष्ण वचनोंसे ललकारा, उनके वचन ऐसे तीक्ष्ण लगते थे जैसे उन्होंने युद्धस्थलमें प्रयुक्त अस्त्रोंसे तीक्ष्णता का अभ्यास किया हो। भीमके तीक्ष्ण वचन सुनकर अभिमानियोंमें अग्रगण्य एवं गंभीरबुद्धि दुर्योधनने जलाशयसे बाहर आकर अभिमानी भीमके साथ वेगसे गदायुद्ध करना प्रारम्भ कर दिया ॥

आजगाम स सरस्वतीतटादाजिसीम्नि बलवान्बलस्तदा ।
जायते[1] सह यदाख्यया खलु भद्रदेवपदयोः समागमः ॥ ९ ॥

आजगामेति । तदा भीमदुर्योधनयोर्गदायुद्धकाले बलवान् शौर्यशाली सः बलः बलरामः सरस्वतीतटात् तन्नामकनदीतीरात् आजिसीम्नि युद्धक्षेत्रे आजगाम आयातः यदाख्यया यन्नाम्ना भद्रदेवपदयोः समागमः संबन्धो जायते, यो हि 'बलभद्रो बलदेवश्च' इत्युभाभ्यामपि नामभ्यामभिधीयते ॥ ९ ॥

उस समय भीम और दुर्योधनका गदायुद्ध देखनेके लिये प्रसिद्ध वीर बलदेव सरस्वतीतटसे उस युद्धक्षेत्रमें आये, जिनके नामके साथ भद्रपद देवपद जुड़ा हुआ है, जिन्हें बलभद्र या बलदेव दोनों नामोंसे पुकारते हैं ॥ ९ ॥

---

१. 'जायते खलु यदाख्ययानिशम्' । इति पा० ।

तत्र विस्मयकरं गदाहवं पश्यतोऽस्य सह संमदाश्रुभिः ।
पुष्पवृष्टिरुभयोरुपान्तयोः पुष्करात्सुरभिगन्धिरापतत् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र युद्धक्षेत्रे विस्मयकरं महाश्चर्यजनकं भीमदुर्योधनयोर्गदाहवं गदायुद्धं पश्यतो विलोकयतः अस्य बलरामस्य संमदाश्रुभिः आनन्दाश्रुधाराभिः सह पुष्करात् आकाशात् सुरभिगन्धिः सुगन्धपूर्णा पुष्पवृष्टिः उभयोः उपान्तयोः पार्श्वयोः आपतत् पततिस्म । तयोर्युद्धे दृष्टे प्रसन्ना देवाः सुरभीणि पुष्पाणि ववृषुर्बलरामस्य चानन्दाश्रु प्रवृत्तमिति भावः ॥ १० ॥

भीम तथा दुर्योधनका गदायुद्ध देखकर बलरामके नेत्रसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगा, और उसके साथ साथ आकाशसे सुगन्धित पुष्पकी वर्षा भी दोनों भागोंमें होने लगी ॥ १० ॥

प्रविवेद कुलालचक्रवद्भ्रमतोस्तत्र तयोर्द्वयोर्भिदाम् ।
न बलो न हरिर्न पाण्डवा न सुरा नाश्वमुखा न चारणाः ॥ ११ ॥

प्रविवेदेति । तत्र प्रवृत्ते गदायुद्धे कुलालचक्रवत् कुम्भकारचक्राकारेण भ्रमतोः वृत्तवर्त्मना धावतोः तयोर्भीमदुर्योधनयोः द्वयोः भिदाम् भेदम् पार्थक्यम् न बलः बलरामः प्रविवेद, न हरिः कृष्णः प्रविवेद, न पाण्डवा युधिष्ठिरादयो विविदुः, न सुराः देवाः विविदुः, न अश्वमुखाः गन्धर्वाः विविदुः, न चारणाः विविदुः । बलकृष्णपाण्डवसुरगन्धर्वचारणेषु तदानीं तयोर्भेदं ज्ञातुं कोऽपि न प्राभूदित्याशयः ॥ ११ ॥

उस गदायुद्ध-कालमें चक्राकार भ्रमण करनेवाले भीम और दुर्योधन में भेदका ज्ञान न बलरामको, न भगवान्को, न पाण्डवोंको, न देवोंको, न गन्धर्वोंको, न चारणोंको, किसीको नहीं हुआ, उन दोनोंमें पार्थक्यज्ञान किसीको भी नहीं हुआ ॥ ११ ॥

मन्नामधारि मृदुलं वसनं विमथ्ना-
त्येतत्सदेत्यतिरुषेव यदूद्वहस्य ।
नेत्रेण सूचितमरेरथ सक्थियुग्मं
चूर्णीचकार गदया श्वसनस्य सूनुः ॥ १२ ॥

मन्नामेति । अथ चिरगदायुद्धानन्तरम् एतत् दुर्योधनस्य सक्थियुग्मम् जङ्घायुगलम् सदा मन्नामधारि मत्समाननामकम् ('नेत्रं वाससि लोचने' इति कोशस्वारस्येन मद्वाचकपदसमानपदाभिधेयम्) मृदुलं कोमलं वस्त्रम् विमथ्नाति मर्दयति परिधाय कलुषीकरोति, इति हेतोरस्मात् अतिरुषा कोपातिशयेन हरेः नेत्रेण सूचितम् इङ्गितेन बोधितम् अरेः दुर्योधनस्य सक्थियुग्मम् जङ्घाद्वयम् श्वसनस्य वायोः सूनुः पुत्रो भीमः गदया चूर्णीचकार दलितवान् । भगवतो नेत्रे स्वसमाननाममृदुल-

---

१. 'प्रमृद्नाति'; 'विमृद्नाति' । इति पा० ।

वस्त्रमर्दनकोपादिव भीमाय सक्थ्नोः प्रहारायेङ्गितं कृतवान्, तदिङ्गितमवगत्य भीमो गदया दुर्योधनोरू चूर्णीकृतवानिति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ १२ ॥

नेत्र तथा वस्त्र इन दोनों अर्थोंमें नेत्र शब्दका प्रयोग होता है, यह दुर्योधनका जङ्घाद्वय हमारे नामधारी कोमल वस्त्रको पहनकर मसला करता है इसीलिये कुपित होकर भगवान्के नेत्रने भीमको इशारा किया कि दुर्योधनकी जङ्घापर प्रहार करो, और भगवान्के इशारेको समझकर भीमने गदासे दुर्योधनके जङ्घायुगलको चूर्ण कर दिया ॥ १२ ॥

तत्राथ तारकमिवाद्रिसुताकुमारो
जित्वा सुयोधनमसौ शिबिरं दिनान्ते ।
वर्गः पृथातनुभुवां मधुभित्समेतः
षड्भिर्मुखैर्जनितशङ्खरवो जगाहे ॥ १३ ॥

तत्राथेति । अथ तत्र ह्रदपार्श्वे अद्रिसुताकुमारः पार्वतीपुत्रः कार्त्तिकेयः षण्मुखः तारकं नामासुरमिव तं दुर्योधनं जित्वा विजित्य हत्वा मधुभित्समेतः कृष्णसहितः असौ पृथातनुभुवां कुन्तीपुत्राणां वर्गः युधिष्ठिरादिगणः षड्भिर्मुखैः जनितशङ्खरवः कृतशङ्खध्वनिः दिनान्ते सायंकाले शिविरम् सेनासन्निवेशदेशं जगाहे आयातः । कार्त्तिको स्वयं षण्मुखः, पाण्डवानां पञ्चानां कृष्णसाहित्यात् षण्मुखत्वं बोध्यं तत उपमाऽलङ्कारः ॥ १३ ॥

उस समय कृष्णके साथ मिले हुए पार्थपञ्चकने दुर्योधनको जीतकर शङ्ख बजाया, जैसे कार्त्तिकेयने तारकासुरको जीतकर शङ्ख बजाया था, इन पार्थोंने भी छः मुखोंसे शङ्खध्वनि की (क्योंकि वह कृष्णको मिलाकर छः थे) कार्त्तिकेयने भी अपने छः मुखोंसे शङ्खध्वनि की, अनन्तर पार्थगण तथा श्रीकृष्ण सन्ध्या-समयमें शिबिरको लौटे ॥ १३ ॥

भूयोऽपि सायमनलाय महःप्रदाने
भासां प्रभोरिव कराद्दिशि विप्रकीर्णैः ।
धूमैरिवाक्षिपथरोधिभिरन्धकारैः
प्रापे कुरुक्षितिभृतां पटमण्डपौघः ॥ १४ ॥

भूयोऽपीति । सायं दिनान्तसमये अनलाय वह्नये महसः प्रदाने स्वतेजसो वितरणकाले भासां प्रभोः सूर्यस्य करात् किरणात् हस्तादिव दिशि सर्वदिशासु विप्रकीर्णैः व्याप्तैः धूमैः इव (प्रतीयमानैः) अक्षिपथरोधिभिः नेत्रमार्गावरोधिभिः तमोभिः अन्धकारैः कुरुक्षितिभृतां कौरववंश्यानां राज्ञां पटमण्डपौघः पटनिर्मितगृहावलिः प्रापे आव्रियतेस्म । सायमन्धकारो वस्त्रमण्डपराजिषु व्याप्तोऽभूत् स हि अन्धकारः सूर्येण वह्नये स्वतेजःप्रदानकाले तत्करस्खलितो धूम इव प्रतीयते स्म । सायंकालेऽस्तंगच्छन्सूर्यः स्वतेजोऽग्नौ निदधातीति प्रसिद्धिः ॥ १४ ॥

सन्ध्याकालमें सूर्य जब अपना तेज अग्निको प्रदान कर रहे थे, तब उनके हाथसे निकलकर दिशाओंमें व्याप्त हुए धूमके समान प्रतीत होने वाले अन्धकारने कौरव राजगणके शिविरोंको व्याप्त कर लिया ॥ १४ ॥

तस्मिन्काले विचित्य क्षितिपतिमसुभिर्युक्तमासाद्य रङ्गे
तैस्तैराश्वास्य लापैर्निजमपि समरे भावि कृत्यं निवेद्य ।
मुक्तस्तेनार्धमार्गे हरवरमुदितो द्रोणभूश्चापमौर्व्या
धृष्टद्युम्नं निकृत्य स्वसुरपि तनयानस्य चिच्छेद शूरान् ॥१५॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नन्धकारव्याप्तदिगन्तरे काले द्रोणभूः अश्वत्थामा रङ्गे युद्धक्षेत्रे विचित्य समन्ततोऽन्विष्य असुभिः प्राणैः युक्तं जीवन्तं क्षितिपतिं दुर्योधनं नाम आसाद्य उपगम्य तैस्तैः समयोचितैः लापैः कथनैः आश्वास्य धैर्यं लम्भयित्वा समरे रात्रियुद्धे भावि भविष्यत् निजं कृत्यम् सर्वपाण्डववधरूपं निवेद्य विज्ञाप्य तेन दुर्योधनेन मुक्तः गन्तुमनुज्ञातः सन् अर्धमार्गे वर्त्मनि हरस्य शम्भोर्वरेण सर्वाविजेयत्वरूपेण मुदितो हृष्टः सन् चापमौर्व्या धृष्टद्युम्नं नाम पाण्डवसेनापतिं निकृत्य छित्वा अस्य धृष्टद्युम्नस्य स्वसुः भगिन्या द्रौपद्याः शूरान् तनयान् पुत्रान् लघुपञ्चपाण्डवान् अपि चिच्छेद । युद्धे सुचिरमन्विष्य जीवन्तमासाद्य च दुर्योधनमश्वत्थामा तत्कालोचितवचनैस्तमाश्वासितवान्, स्वं कर्तव्यं रात्रौ पाण्डववधमपि ज्ञापितवान्, ततश्च तेनानुमतो मध्ये मार्गं धृष्टद्युम्नं निहत्य पञ्चापि स्वपतः पाण्डवपुत्रान् हतवानिति भावः ॥ १५ ॥

उस समय अश्वत्थामाने दुर्योधनको युद्धक्षेत्रमें ढूँढ़ा और उसे जीता पाकरके रात्रि-युद्धमें वह पाण्डवोंका संहार करने जा रहा है यह कहा, और तत्कालोपयुक्त उक्तियों द्वारा उसे आश्वासित भी किया, दुर्योधनकी अनुमति प्राप्त करके अश्वत्थामा वहाँसे चला, आधी राहमें ही अश्वत्थामा शिवद्वारा दिये गये सर्वाजेयत्वरूप वरदानसे दृप्त होकर धृष्टद्युम्नका वध करके रातमें सोये हुए पाँच पाण्डव पुत्रों—द्रौपदीके लालोंको काट डाला ॥ १५ ॥

इत्थं निशीथे भयानकनिजसायकशतधाशकलीकृतद्विषदनेकानीकात्[1] कुरुनायकपटनिकेतनात्स्वभुजाभ्यामिव प्रविष्टकटकाभ्यां कृपकृतवर्मभ्यां सह पुनरपि सरस्तीरमागत्य दुष्करं स्ववृत्तान्तं कथयन्तमश्वत्थामानं[2] प्रति 'अयि सखे ! संप्रति मम प्रीतिरेतावती' इत्यभिनेतुमिव तिर्यक्प्रसारितेन बाहुयुगलेन यत्नादाश्लिष्य 'त्वमेव खलु मम प्राणो भवसि' इत्यौपचारिकं[3] वचनं प्रयुञ्जानं राजानं[4] कोपादिव तदीयाः प्राणास्तदानीमत्याक्षुः ॥

---

१. 'शकलितद्विषदनीकात्' । २. 'मश्वत्थामानम् अयि' । ३. 'चारिक' ।
४. 'तं राजानम्' । इति पा० ।

इत्थमिति। इत्थम् अनेन प्रकारेण निशीथे अर्धरात्रौ भयानकैः भीषणैः निजसायकैः स्वबाणैः शतधा शकलीकृताः खण्डं खण्डं कृताः द्विषतां शत्रूणामनेके बहवः अनीकाः सैन्यानि यत्र तस्मात् हतबहुसैन्यगणात् कुरुनायकपटनिकेतनात् पाण्डवानां पटभवनात् प्रविष्टकटकाभ्यां धृताङ्गदाभ्यां स्वभुजाभ्याम् इव प्रविष्टकटकाभ्यां सैन्यशिविरे प्रविष्टवद्भ्यां कृपकृतवर्मभ्यां तन्नामकाभ्यामात्मनः सहायकाभ्याम् सह पुनः भूयः अपि सरस्तीरम् दुर्योधनाध्युषितं सरोवरतटमागत्य दुष्करं कठोरं स्ववृत्तान्तं निजकृत्यम् शिशुपाण्डवपञ्चकहत्यारूपम् कथयन्तं ब्रुवाणमश्वत्थामानं प्रति–अयि सखे, सम्प्रति मम प्रीतिः स्नेहः एतावती इयन्मात्रा, समाप्ता मम प्रीतिः, नातः परमहं जीवितास्मि, इत्यभिनेतुमिव तिर्यक् प्रसारितेन मण्डलीकृतेन बाहुयुगलेन करद्वयेन यत्नात् प्रयासाद् आश्लिष्य आलिङ्ग्य 'त्वमेव खलु मम प्राणो भवसि' इत्यौपचारिकं मिथ्यावञ्चनरूपं वचनं प्रयुञ्जानं कथयन्तं राजानं दुर्योधनं कोपात् क्रोधात् इव तदीयाः दुर्योधनसंबन्धिनः प्राणास्तदानीं तदा तम् अत्याक्षुः त्यक्तवन्तः दुर्योधनोऽयमन्यं प्राणमिहाहेति कोपादिव तदा तत्प्राणास्तं राजानं त्यक्तवन्तः, दुर्योधनो मृत इत्याशयः॥

इसके बाद इस प्रकार अपने भयङ्कर बाणों द्वारा खण्ड-खण्ड कर दिये हैं अनेक सैनिकोंको जहाँपर ऐसे पाण्डव-शिविरसे निकलकर अश्वत्थामा, कटकधारी अपने बाहुद्वयके तुल्य शिविरमें गये हुए कृप तथा कृतवर्माके साथ, दुर्योधन जहाँ पर पड़ा था, उस ह्रदके तटपर आया, वहाँ आकर उसने क्रूर निजकृत्य पाण्डवशिशुवधका वर्णन किया, सुनकर दुर्योधनने कहा—कि 'हे मित्र, मेरी प्रीति इतनी है' इसी बातका अभिनय करनेके लिये दुर्योधनने अपने हाथ फैलाकर कहा कि भाई अश्वत्थामा, तुम ही मेरे प्राण हो, दुर्योधनके इस औपचारिक वचन को सुनकर कुपित होनेवाले दुर्योधनके प्राणोंने तत्काल उसका त्याग कर दिया॥

कृपस्ततः कुरुपुरीं कृतवर्मा कुशस्थलीम्।
प्रययौ द्रोणसूनुश्च पाराशर्यतपोवनीम्॥ १६॥

कृप इति। ततो दुर्योधनमरणानन्तरं कृपः कुरुपुरीं हस्तिनापुरं ययौ, कृतवर्मा कुशस्थलीं द्वारकां ययौ, द्रोणसूनुः अश्वत्थामा च पाराशर्यस्य व्यासस्य तपोवनीम् तत्तपस्याश्रमं प्रययौ, सर्वेऽपि युद्धं विहाय यथास्थानं गताः॥ १६॥

इसके बाद दुर्योधनके मर जानेपर कृपाचार्य हस्तिनापुरको, कृतवर्मा द्वारकापुरीको और द्रोणपुत्र अश्वत्थामा व्यासके तपोवनको चले गये॥ १६॥

अथ दीप्तिभिरात्मनो विजेतुर्विमतद्रौणिशिरोमणेर्भवित्रीम्।
सहजास्पदभङ्गमानहानिं खमणिर्द्रष्टुमिवोदयाद्रिमागात्॥ १७॥

---

१. 'सविता'। इति पा०।

अथेति । अथ खमणिः सूर्यः दीप्तिभिः स्वप्रभाभिः आत्मनः सूर्यस्य विजेतुः पराभवितुः सूर्यादधिकतेजसः विमतस्य तेजसा स्वजेतृतया शत्रुभूतस्य द्रौणिशिरोमणेः अश्वत्थामशिरोवर्त्तिरत्नस्य भवित्रीम् भीमेन करिष्यमाणां सहजं स्वाभाविकं यद् आस्पदं स्थानमश्वत्थामशिरोरूपं ततो भङ्गः अपसारणं पातनं निष्कासनञ्च सैव मानहानिः अप्रतिष्ठा ताम् द्रष्टुम् इव उदयाद्रिम् उदयाचलम् आगात् आयातः। अन्योऽपि स्वजेतुरप्रतिष्ठां द्रष्टुमिच्छति, तद्वत्सूर्योऽपि स्वतेजसा सूर्यमभिभवतोऽश्वत्थामशिरोवर्त्तिरत्नस्य भीमकृतां स्वस्थानादपसारणस्वरूपां मानहानिं द्रष्टुमिवोदयाचलरूपमुच्चस्थानं गतः, सूर्योदयो जात इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रकाशमें अपनेको विजित करनेवाले अतएव स्वशत्रुस्वरूप अश्वत्थाम-शिरोवर्त्ती रत्नकी भीमद्वारा की जानेवाली मानहानिको देखनेके लिये उदयाचलपर आ गये, अश्वत्थामाके शिरपर एक रत्न था, उसने प्रभामें सूर्यका अतिक्रमण कर लिया था, जिससे सूर्य उस रत्नसे डाह रखते थे, जब सूर्यने सुना कि भीम अश्वत्थामाके शिरोवर्त्ती रत्नको उसके स्वाभाविक आस्पद–निवासस्थानसे दूर हटाकर अपमानित करने जा रहा है, तब सूर्यको बड़ी प्रसन्नता हुई, और वह अपने शत्रुभूत उस मणिका स्वस्थानच्युतिरूप अपमान देखनेके लिये उदयाचलपर चढ़ गये ॥ १७ ॥

तदनन्तरमात्मसोदरसूतमुखाच्छ्रवणकालकूटमपत्यात्ययमधिगम्य विषीदन्त्या याज्ञसेन्या मूर्च्छान्धकारं रत्नदीपालोकेन दूरमुत्सारयितुमुत्सुक इव गुरुसुताहरणाय शताङ्गमधिरुह्य मौर्वीं विस्फारयद्भिर्मघवत्कुमारादिभिर्मांसलितपार्श्वभागो मारुतिस्तपस्यतस्तस्यैवाश्रमपदभागं प्रतस्थे ॥

तदनन्तरम् इति । तदनन्तरम् सूर्योदयात् परतः आत्मसोदरसूतमुखात् स्वसोदरस्य धृष्टद्युम्नस्य यः सूतः सारथिः तन्मुखात् तत्कथनात् श्रवणकालकूटम् कर्णव्यथकम् अपत्यात्ययम् स्वपुत्रपञ्चकविनाशम् अश्वत्थामकृतम् अधिगम्य विदित्वा विषीदन्त्याः खिद्यमानायाः याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः मूर्च्छान्धकारं मोहतमः रत्नदीपालोकेन रत्नप्रकाशेन दूरम् अपसारयितुं दूरीकर्त्तुम् उत्सुकः इव उत्कण्ठित इव शताङ्गम् रथमधिरुह्य मौर्वीं धनुषः प्रत्यञ्चां विस्फारयद्भिः आकृष्य नमयद्भिः मघवत्कुमारादिभिः अर्जुनादिभिः मांसलितपार्श्वभागः पूर्णसमीपदेशः युक्तः मारुतिः भीमः गुरुसुताहरणाय अश्वत्थामानमानेतुम् तस्यैव अश्वत्थाम्न एव आश्रमपदभागं तपस्यास्थानं प्रतस्थे चलितः, द्रौपद्या आश्वासनायाश्वत्थामानमानीयोपस्थापयितुं तच्छिरोरत्नं निष्कासयितुं चार्जुनादिभिरनुगतो भीमोऽश्वत्थामाधिष्ठितं तपोवनं प्रतस्थ इत्याशयः ॥

---

१. 'ततः परमात्म' । २. 'गुरुसुतचूडामणेराहरणाय' । ३. 'पदम् प्रतस्थे' । इति पा० ।

इसके बाद अपने सोदर धृष्टद्युम्नके कहनेसे कानोंको दुःख पहुँचानेवाले पुत्रमरणका पता पाकर द्रौपदी विलाप करने लगी, उसके मोहान्धकारको रत्नदीपकी प्रभासे दूर करने के लिये व्यग्र-सा होकर भीम अश्वत्थामाको पकड़कर लानेके उद्देश्यसे अश्वत्थामाके तपोवनकी ओर चले, भीमके साथ-साथ रथारूढ़ होकर धनुष ताने हुए अर्जुनादि भी चले ॥

तत्रागतेषु युधि तेषु तपोधनोऽय-
मेकोऽपि धीरतरधीरिषुवर्षुकेषु ।
निष्पाण्डवास्तु वसुधेति निजव्रतेन
साकं व्यमुञ्चदभिमन्त्र्य जवादिषीकाम् ॥ १८ ॥

तत्रागतेष्विति । तत्र तपोवने आगतेषु इषुवर्षुकेषु बाणवर्षणपरायणेषु तेषु पाण्डवेषु भीमादिषु सत्सु एकः असहायः अपि युधि संग्रामे धीरतरधीः अत्यन्त-गम्भीरबुद्धिः अयम् अश्वत्थामा नामा तपोधनः तपस्वी वसुधा इयं पृथ्वी निष्पाण्डवा समस्तपाण्डवरहिता अस्तु जायताम् (इत्यभिमन्त्र्य) इषीकाम् नामास्त्र-भेदम् जवात् वेगात् निजव्रतेन स्वतपसा साकं सह व्यमुञ्चत् व्यसृजत् । सर्वेषु प्रतिपक्षेषु सहागत्य बाणं वर्षत्स्वपि स्वयमसहायोऽपि तपस्व्यसौ अश्वत्थामा निर्भयचित्त एवास्त, इषीकाम् आदाय निष्पाण्डवा धरणिरस्त्विति चाभिमन्त्र्यताम् स्वतपसा सहामुञ्चत्, परशापकाले तपः क्षयात्तपसा सहामुञ्चदित्युक्तम् । सहोक्तिरलङ्कारः काव्यलिङ्गञ्च ॥ १८ ॥

आश्रममें आकर भीम आदि बाणवर्षा करने लगे, अश्वत्थामा एकाकी ही थे, फिर भी वे तपस्वी विचलित नहीं हुए, वे युद्धमें गंभीरतापूर्वक डटे रहे, और अपने तपोबल के साथ एक इषीकाको अभिमन्त्रित करके इस अभिप्रायसे चलाया कि यह पृथ्वी पाण्डव-रहित हो जाय ॥ १८ ॥

अथ ब्रह्मशिरोऽस्त्रस्य प्रहितस्य किरीटिना ।
योगात्तूलपदस्येव ह्रस्वभावं जगाम सा ॥ १९ ॥

अथेति । अथ अश्वत्थाम्ना इषीकास्त्रप्रयोगानन्तरम् किरीटिना अर्जुनेन प्रहितस्य प्रेषितस्य अश्वत्थामप्रयुक्तेषीकास्त्रप्रतिकारधिया प्रयुक्तस्य ब्रह्मशिरोऽस्त्रस्य तूलपदस्य इव योगात् उत्तरपदभावेन संबन्धात् सा इषीका ह्रस्वभावं ह्रस्वत्वं क्षीणप्रभावतां च जगाम, यथा इषीकापदं तूलपदयोगे 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु' इत्यनुशासनबलाद् ह्रस्वत्वं याति तथैव पार्थब्रह्मास्त्रप्रयोगेणाश्वत्थामप्रयुक्तमिषीकास्त्रं शान्तमजायतेत्यर्थः ॥ १९ ॥

---

१. 'वर्षकेषु' । इति पा० ।

जैसे तूलप्रयोगसे इषीका शब्द ह्रस्व हो जाता है, उसी तरह अर्जुनप्रयुक्त ब्रह्मास्त्र-प्रभावसे अश्वत्थामाकी इषीका ह्रस्व हो गई, दब गई ॥ १९ ॥

अथाहृतो मारुतिना हठेन भग्नस्य शीर्षाद्गुरुनन्दनस्य ।
दत्तो मणिः पार्षतनन्दनायाः शोकाग्निदाहप्रतिबन्धकोऽभूत् ॥ २० ॥

अथाहृत इति । अथ भग्नस्य पराजितस्य गुरुनन्दनस्य द्रोणपुत्रस्याश्वत्थाम्नः शीर्षात् मस्तकात् मारुतिना भीमेन हठेन बलप्रयोगेण आहृतः छित्त्वा नीतः दत्तः द्रौपद्यै समर्पितश्च मणिः अश्वत्थामचूडारत्नम् पार्षतनन्दनायाः द्रौपद्याः शोकाग्नि-दाहस्य पुत्रवियोगजनितशोकाग्निना प्रज्वलनस्य प्रतिबन्धकः निरोधकः अभूत् । अयमाशयः—यथा सत्यपि वह्नीन्धनसंयोगे चन्द्रकान्तमणिसमवधाने दाहो न जायते, तथैवाश्वत्थामानं पराजित्य तच्छिरो भित्त्वा नीतं मणिं दृष्ट्वा शोकेन द्रौप-द्या दाहः प्रतिबध्यते स्म, द्रौपदी स्वं खेदं लघूचकार, अपकर्त्तृदण्डनस्य अपकार-विस्मारणफलत्वादिति ॥ २० ॥

इसके बाद अश्वत्थामाके पराजित हो जानेपर भीमने उसका मस्तक चीरकर मणि ले ली, और लाकर द्रौपदीको दिया, उस मणिको देखकर द्रौपदीका शोकाग्निमें जलना बन्द हो गया, उसे कुछ आश्वासन प्राप्त हुआ, आग और इन्धन एक जगह रहे फिर भी यदि वहाँपर चन्द्रकान्तमणि लाकर रख दी जाती है तो दाहका होना रुक जाता है, उसी तरह उस मणिने द्रौपदीके अग्निदाहको रोक दिया, अपराधीको दण्ड मिल गया ऐसा समझकर द्रौपदीने शोक थोड़ा कम मान लिया ॥ २० ॥

ततः संवर्तसमयसच्छात्रे तादृशि कुरूणामुभयेषामपि संप्रहारे कृष्णा-वेणीबन्धायुषा सह परिसमाप्ते,—

तत इति । ततः अश्वत्थाममणिग्रहणानन्तरम् संवर्त्तसमयसच्छात्रे प्रलयकाल-सहपाठिनि तत्तुल्ये तादृशि भीषणे कुरूणाम् उभयेषाम् कौरववंश्यानां पाण्डवानां दुर्योधनादीनाञ्च सम्प्रहारे युद्धे कृष्णावेणीबन्धायुषा कृष्णावेणीजीवितकालेन सह परिसमाप्तेऽवसिते सति । दुःशासनरक्तस्नाता द्रौपदी वेणीममुचत् , युद्धमपि तद-हरेव समाप्यतेति तयोः साहित्यमुक्तम् ।

अश्वत्थामाकी मणि छीन लेनेके बाद वह प्रलयकालतुल्य कौरवद्वय-पाण्डव तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंका युद्ध द्रौपदीकी वेणीबन्धकी आयुके साथ ही समाप्त हो गया ॥

स्वं दुःशलाशेषमपत्यवर्गं पाण्डोश्च विज्ञाय समस्तशेषम् ।
दृशा सदान्धो जरठो महीपश्चिरं तदा चेतनयापि जज्ञे ॥ २१ ॥

स्वमिति । स्वम् स्वीयम् अपत्यवर्गम् सन्ततिसमुदयम् दुःशलाशेषम् दुःशला-

---

१. 'विजिग्ये' । इति पा० ।

मात्रावशेषम्, पाण्डोश्च अपत्यवर्गम् समस्तशेषम् पञ्चापि शिष्यमाणा इति अवगतम् विज्ञाय ज्ञात्वा जरठो वृद्धो महीपो राजा धृतराष्ट्रः सदा चिरात् जन्मकालात् दृशाऽन्धः दृक्शक्तिशून्यः तदा स्वसर्वापत्यविनाशवार्त्ताश्रवणसमये चेतनयाऽपि अन्धः रहितः जज्ञे अजनिष्ट। स्वमपत्यगणं दुःशलानामककन्यामात्रशेषमवगत्य धृतराष्ट्रो मूर्च्छां प्रापेति भावः॥ २१॥

धृतराष्ट्रको जब मालूम हुआ कि हमारे अपत्योंमें केवल दुःशला बची है, और पाँडुके पाँच पुत्र ज्योंके त्यों बचे हुए हैं तब आँखसे सदासे अन्धा वह बूढ़ा राजा चेतनासे भी अन्धा-रहित-हो गया, मूर्च्छित हो गया॥ २१॥

तदानीं विदुरसंजयाभ्यां व्यजनादिभिरुपचारैर्विश्राणितसंज्ञः[1] कुरुभूपतिः 'हा सुयोधन! हा दुःशासन!' इति बहुधा विलपन्नुत्थाय रणनिहतस्वजनमुखेन्दुस्मरणमात्रादुल्लोलकल्लोलितशोकसिन्धुभिर्बन्धुभिः[2] सह नगरान्निर्गतः[3] 'हे प्राणाः! भवत्समेषु गतेष्वपि यूयमद्यापि न निर्गताः?' इति रोषेण प्राणान्बहिरुत्सारयितुमिव हृदि पुनः पुनर्विरचितकरास्फालनाभिः सविधमागत्य[4] मज्जन्मभूसौन्दर्यप्रातिभट्यमियमाचरतीत्यसहिष्णुतयेव[5] कपोलमकरिकामुन्मूलयन्तं बाष्पप्रवाहं नयनैरुत्सृजन्तीभिरनवरतमस्मान्कुसुमैरामोदभरितान्विदधानाः सुयोधनादयः क्व पतिता इति गवेषयितुमिव भुवि दूरविकीर्णैश्चिकुरहस्तैरुपलक्षिताभिः[6] पवनसुतपरिघोपालम्भनपरिपूरितार्थैः[7] विलापैर्दिगन्तरं[8] निरन्तरयन्तीभिः स्नुषाभिः परिवार्यमाणया गान्धारसुतया शनैः शनैरनुगम्यमानः[9] संग्रामभुवमवगाह्य [10]पङ्क्तिशः परिशीलितदीर्घनिद्रेषु पाकशासनमुक्त[11]पारिजात[12]प्रसवपरिमलितकचबन्धेषु [13]प्रवीरेषु तनयेषु निपत्य परितो [14]विलुण्ठन्कुरुभूपतिश्चिरमरोदीत्॥

तदानीमिति। तदानीं तस्मिन् मूर्च्छावसरे विदुरसञ्जयाभ्याम् व्यजनादिभिः तालव्यजनजलसेकादिभिः शीतलोपचारैः विश्राणितसंज्ञः दत्तप्रबोधः कुरुभूपतिः धृतराष्ट्रः, हा सुयोधन, हा दुःशासन, इति एवं बहुधा वारं वारम् विलपन् विलापं

---

१. 'संज्ञः हा सुयोधन'। २. 'उल्लोलित'। ३. 'निर्गतः भवत्समेषु'। ४. 'आगम्य'। ५. 'आचरति'। ६. 'क्वेति गवेषयितुमिव दूरमवतीर्णैः', 'तूर्णमवतीर्णैः'। ७. 'पूरितार्थैः'। ८. 'परिदेवनरवैः'। ९. 'अभिगम्यमानः'। १०. 'पङ्क्तिभिः निपतितेषु परि'। ११. 'परिमुक्त'। १२. 'कुसुम'। १३. 'वीरेषु'। १४. 'अपि परिलुण्ठन्स कुरुभूपः'। इति पा०।

कुर्वन् उत्थाय रणे निहतानां मृतानां स्वजनानाम् पुत्रादिनिजात्मीयवर्गाणाम् मुखेन्दूनाम् चन्द्रोपममुखानां स्मरणमात्रात् ध्यानात् उल्लोलकल्लोलितशोकसिन्धुः अतिमात्रप्रवृद्धखेदसागरः (चन्द्रोदये सागरवृद्धेः स्वाभाविकतयैवमुक्तम्) बन्धुभिः विदुरादिभिः स्वजनैः सह नगरात् हस्तिनापुरात् निर्गतः बहिर्भूतः, हे प्राणाः, भवत्समेषु प्राणतुल्येषु स्वजनेषु पतिपुत्रादिषु गतेषु मृतेष्वपि यूयम् अद्यापि अधुनावधि न निर्गताः ? इति एवम् रोषेण कोपेन प्राणान् स्वजीवान् बहिरुत्सारयितुम् निस्सारयितुम् इव हृदि उरसि पुनः पुनः विरचितकरास्फालनाभिः कृतहस्तताडनाभिः, सविधमागत्य शवसमीपमागत्य, कपोलदेशमाप्येति वा, मम अश्रुप्रवाहस्य जन्मभूः नेत्रं तस्य यत्सौन्दर्यं श्यामत्वरूपम् , तस्य प्रातिभव्यम् प्रतिस्पर्धित्वम् इयम् कपोलमकरिका करोति इति असहिष्णुतया कोपेन इव कपोलमकरिकाम् गण्डोपरि निर्मितां कस्तूरिकादिभिर्मकराद्याकृतिं शृङ्गारप्रसाधनम् उन्मूलयन्तं क्षालयन्तं बाष्पप्रवाहम् अश्रुधाराम् नयनैर्लोचनैः उत्सृजन्तीभिः, अनवरतम् सर्वदा अस्मान् चिकुरान् कुसुमैः मालतीमल्लिकादिपुष्पैरामोदभरितान् सुगन्धपूर्णान् तुष्टाँश्च विदधानाः कुर्वन्तः सुयोधनादयः क्व कुत्र ? इति गवेषयितुम् अन्वेष्टुम् इव दूरविकीर्णैः चिकुरहस्तैः केशपाशरूपैः करैरुपलक्षिताभिः युक्ताभिः, पवनसुतस्य भीमस्य यः परिघो गदा तदुपालम्भने कठोरत्वादिना निन्दने पूरितार्थैः सार्थक्यं लभमानैः तत्परकैः विलापैः परिदेवितैः दिगन्तरं दिशावकाशं निरन्तरयन्तीभिः पूरयन्तीभिः स्नुषाभिः पुत्रवधूभिः परिवार्यमाणया वेष्टितया गान्धारसुतया गान्धार्या शनैः शनैः मन्दं मन्दमनुगम्यमानः धृतराष्ट्रः संग्रामभुवम् रणस्थलम् अवगाह्य आगत्य पङ्क्तिशः परिशीलितदीर्घनिद्रेषु प्राप्तचिरनिद्रेषु मृतेषु पाकशासनमुक्तैः इन्द्रेणाभिवृष्टैः पारिजातप्रसवैः कल्पतरुप्रसूनैः परिमलितः सुगन्धिं प्रापितः कचबन्धः केशपाशो येषां तादृशेषु प्रवीरेषु शूरेषु तनयेषु स्वपुत्रेषु दुर्योधनादिषु परितो विलुण्ठन् समन्तत आवर्त्तमानः कुरुभूपतिः कौरवराजः चिरम् अरोदीत् रोदितिस्म ॥

उस समय मूर्च्छित हो जानेपर विदुर तथा संजयने पङ्खा आदि उपचारोंसे धृतराष्ट्रको होश कराया, हा दुर्योधन, हा दुःशासन, इस प्रकार विलाप करते हुए वे उठे, रणमें मारे गये आत्मीयजनोंके मुखरूप चन्द्रके ध्यानसे तरङ्गित हो रहा है-दुःखसागर जिनका ऐसे बन्धुओंके साथ नगरसे बाहर निकले, उनके पीछे धीरे-धीरे गान्धारी चल रही थी जो-हे प्राण, जब प्राणसमान प्रिय वे प्यारे चले गये तब तुम भी क्यों न चले गये इसी कोपसे प्राणके स्थान छातीपर बार बार हाथसे प्रहार करती हुई, समीप आकर यह कपोलनिर्मित कस्तूरीमकरिका अश्रुके जन्मस्थान नेत्रकी शोभा श्यामलताकी प्रतिस्पर्धा करती है इसीलिये अश्रुप्रवाह मकरिकाको धो बहाना चाहते हैं, इस प्रकारके अश्रुप्रवाहको गिराती हुई सदा जिन्होंने हमें फूलोंसे सुवासित किया वे दुर्योधनादि कहाँ चले गये, इस प्रकार

दुर्योधनादिकी अन्वेषणामें दूर तक फैले हुए केशोंवाली, तथा भीमकी गदाकी निन्दामें पर्यवसित होनेवाले विलाप-वचनोंसे आकाशको पूरित करनेवाली पुत्रवधुओंसे घिरी थी, इस प्रकारसे धृतराष्ट्र युद्धस्थलमें आये, वहाँ आकर धृतराष्ट्र एक पङ्क्तिसे चिर निद्रालीन तथा इन्द्रवर्षित-कल्पद्रुम कुसुमोंसे सुगन्धित केशशाली अपने पुत्रोंके शवोंपर लोट लोटकर बड़ी देर तक रोते रहे ॥

रुष्टं पितृव्यमनुमागतमाजिभूमौ
द्रष्टुं भयाकुलधियाथ युधिष्ठिरेण ।
अभ्यर्थितौ हरिपराशरनन्दनौ द्रा-
गाजग्मतुस्तमपनीतरुषं विधातुम् ॥ २२ ॥

रुष्टमिति । अथ अनन्तरम् आजि भूमौ युद्धक्षेत्रे आगतं रुष्टं सकलपुत्रवधधृतकोपं पितृव्यं पितुर्भ्रातरं धृतराष्ट्रं द्रष्टुं साक्षात् कर्त्तुम् भयाकुलधिया भीतबुद्धिना युधिष्ठिरेण अभ्यर्थितौ प्रार्थितौ हरिपराशरनन्दनौ कृष्णव्यासौ तम् धृतराष्ट्रम् अपनीतरुषम् विगतकोपम् विधातुम् कर्त्तुम् द्राक् शीघ्रम् आजग्मतुः आगतौ । युधिष्ठिरो युद्धक्षेत्रागतस्य कुपितस्य धृतराष्ट्रस्य पुरो गन्तुं भीतः सन् तत्कोपशमनाय कृष्णव्यासौ प्रार्थितवाँस्तौ च तत्प्रार्थनामनुरुध्य धृतराष्ट्रं सान्त्वयितुमचिरेणागतवन्तावित्याशयः ॥ २२ ॥

युद्धक्षेत्रमें आये हुए कुपित चाचा धृतराष्ट्रके सामने जानेमें युधिष्ठिरकी बुद्धि भयभीत हो उठी, उन्होंने हरि तथा व्याससे प्रार्थना की कि आकर धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर शान्त करें, तदनुसार श्रीकृष्ण तथा व्यास शीघ्र ही वहाँ आ गये ॥ २२ ॥

तं व्यासकृष्णावभितप्यमानं शोकेन शान्तं सुतरां व्यधत्ताम् ।
नभोनभस्याविव दाववृक्षं दन्दह्यमानं दवपावकेन ॥ २३ ॥

तं व्यासेति । व्यासकृष्णौ शोकेन पुत्रशतमरणव्यथया अभितप्यमानं सातिशयसन्तप्तं तं धृतराष्ट्रम्, नभोनभस्यौ श्रावणभाद्रमासौ दवपावकेन वनवह्निना दन्दह्यमानं दाववृक्षम् वनतरुमिव सुतरां शान्तं व्यधत्ताम् कृतवन्तौ । यथा श्रावणभाद्रपदमासौ दावाग्निना दह्यमानं वनतरुं शान्तसन्तापं कुरुतस्तथा पुत्रशोकेन सन्तप्यमानं धृतराष्ट्रं कृष्णव्यासौ सुतरां शान्तं कृतवन्तावित्युपमा ॥ २३ ॥

जिस प्रकार श्रावणभाद्रमास वनाग्निसे सन्तप्त वनवृक्षको शान्तताप करते हैं उसी प्रकार पुत्रशोकमें झुलसते हुए धृतराष्ट्रको कृष्ण तथा व्यासने समझा-बुझाकर शान्तताप कर दिया ॥ २३ ॥

अथ सहजैः सह महाहवभुवमासाद्य 'स्वामिन् ! अनेकविधापराध-

१. 'वति' । २. 'सममाहवभुवमागम्य' । इति पा० ।

करणेन तव शापपात्रं जनोऽयमागतः' इति चरणयोः प्रणमन्तमात्मानं प्रथमतो मृदुलमालिङ्गितवन्तं पश्चाद्भावज्ञेन मुकुन्देन पुरःस्थापितेन लोहभीमसेनेन सह निजवैरमपि चूर्णीकृतवन्तं प्रज्ञादृशं पुरस्कृत्य स्मृतबहुलकरणीयजातो युधिष्ठिरः पुरा भगीरथ इव प्रेतभूयंगताय सर्वस्मै ज्ञातिजनाय निर्मलैर्निलिम्पनिम्नगासलिलैर्निवापाञ्जलिनिर्वापणं निधिवदेव निर्वर्तयामास ॥

अथेति । अथ धृतराष्ट्रकोपशमनानन्तरम् सहजैः सोदरैः भीमादिभिर्भ्रातृभिः सह महाहवभुवम् महायुद्धक्षेत्रम् आसाद्य प्राप्य, स्वामिन् महाराज, अनेकविधापराधकरणेन नानाप्रकारकापकारविधानेन तव शापपात्रम् अनुक्रोशयोग्यः जनोऽयं मल्लक्षणः आगत इति एवमुक्त्वा चरणयोः प्रणमन्तम् कृतप्रणामम् आत्मानं प्रथमम् पूर्वम् मृदुलम् कोमलतया आलिङ्गितवन्तम् आश्लिष्टवन्तम् , पश्चात् भावज्ञेन धृतराष्ट्रहृदयभावज्ञेन मुकुन्देन श्रीकृष्णेन पुरःस्थापितेन धृतराष्ट्राग्रे न्यस्तेन लोहभीमसेनेन लोहनिर्मितभीमप्रतिकृत्या सह निजवैरम् अपि चूर्णीकृतवन्तम् मर्दितवन्तम् प्रज्ञादृशं जन्मान्धं धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य संमान्य स्मृतबहुलकरणीयजातः ध्यानोपनीतनानाविधकर्त्तव्यो युधिष्ठिरः पुरा पूर्वकाले भगीरथ इव प्रेतभूयंगताय मृताय सर्वस्मै ज्ञातिजनाय स्वसम्बन्धिवर्गाय निर्मलैः पवित्रैः निलिम्पनिम्नगासलिलैः गङ्गापयोभिः निवापाञ्जलिनिर्वापणं तर्पणादिप्रेतकृत्यं विधिवत् यथाशास्त्रं निर्वर्त्तयामास चकार ॥

इसके बाद अपने भाइयोंके साथ युद्धक्षेत्रमें आकर युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पास जाकर कहा कि महाराज, नानाविध अपराध करनेके कारण आपके शापका पात्र यह जन आ गया है, ऐसा कहकर युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके चरणोंमें गिर गये, युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रने हलके से गले लगा लिया, भगवान् जानते थे कि धृतराष्ट्रके भाव भीमके प्रति भले नहीं हैं, अतः उन्होंने लोहेका भीम धृतराष्ट्रके आगे कर दिया जिसे धृतराष्ट्रने अपने वैरके साथ साथ चूर्ण कर दिया, इसके बाद युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका सम्मान करके कर्त्तव्यका स्मरण किया, अपने सभी आत्मीयोंका, जो मारे गये थे, पवित्र गङ्गाजलसे तर्पणादि प्रेतकृत्य सम्पादित किया, जैसे पूर्वकालमें भगीरथने सम्पादित किया था ॥

शुभाब्धिवीचीरिव तोरणावलीस्ततो वहन्तीं ततवाद्यनिस्वनाम् ।
हरिं पुरोधाय समं सहोदरैरविक्षदात्मीयपुरीं युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

शुभाब्धिवीचीरिवेति । ततः स्वर्गतानां प्रेतकृत्यस्य सम्पादनात्परतः युधिष्ठिरः

१. 'अयं जनः' । २. 'पतन्तम्' । ३. 'धर्मात्मज' । ४. 'निवर्तयामास' ।
५. 'सुधाब्धि' । ६. 'पुर' । इति पा० ।

शुभानि कल्याणानि अब्धयः सागरास्तेषां वीचीः तरङ्गान् इव कल्याणसागरतरङ्गसमत्वमाप्ताः तोरणावलीः पुष्पपल्लवादिनिर्मितगृहवेष्टनीः वहन्तीम् धारयन्तीम् ततवाद्यनिस्वनाम् व्याप्तमङ्गलवाद्यध्वनिम् आत्मीयपुरीम् कुलक्रमाध्युषितां नगरीम् हरिं श्रीकृष्णं पुरोधाय अग्रे कृत्वा सहोदरैः भ्रातृभिः समम् अविशत् प्रविष्ट। तोरणालङ्कृतां मङ्गलवाद्योपेतां च तां नगरीं भगवता भ्रातृभिश्च सहितो युधिष्ठिरः प्रविष्टवानिति भावः ॥ २४ ॥

मृत बान्धवोंकी प्रेतक्रिया कर लेनेके बाद कल्याणसागरकी तरङ्गपरम्पराके समान प्रतीत होनेवाली तोरणावलियोंसे सुसज्जित तथा मङ्गलवाद्यध्वनिसे पूर्ण उस पैत्रिक पुरीमें युधिष्ठिरने भगवान् कृष्णको आगे करके अपने भाइयोंके साथ प्रवेश किया ॥ २४ ॥

वलग्नसूतैर्द्रुपदात्मजाया वितानिते धाम्नि स तत्र चेलैः ।
स्थित्वा पितृव्यस्य दिनं तदेकं परेऽह्नि पार्थः प्रययौ स्वगेहम् ॥ २५ ॥

वलग्नेति । तत्र पुरे सः पार्थः युधिष्ठिरः द्रुपदात्मजायाः द्रौपद्याः वलग्नसूतैः मध्यदेशप्रसूतैः (दुःशासनाकृष्टैः) चेलैः वस्त्रैः वितानिते सञ्जातविताने आच्छादिते पितृव्यस्य धृतराष्ट्रस्य धाम्नि तत्र प्रवेशोपलक्षितं दिनमेकं स्थित्वा व्यतियाप्य परेऽह्नि स्वगेहम् आत्मनो भवनम् प्रययौ गतवान् । पुरं प्रविष्टो युधिष्ठिरः पूर्वं दुःशासनाकृष्टैर्वस्त्रैः सञ्जातवितानं धृतराष्ट्रभवनमध्युष्य दिनमेकं परेऽहनि स्वीयं भवनं प्रविष्टः, स्वाधिकारज्ञापनाय शत्रुजयलब्धस्य वस्तुनः समधिकाकर्षकत्वप्रत्यायनाय वा धृतराष्ट्रगृहे वासो वर्णितो बोध्यः ॥ २५ ॥

द्रौपदी-वस्त्रावकर्षणकालमें दुःशासन द्वारा खींचे गये द्रौपदीकी कमरसे निकले हुए वस्त्रोंसे बनायी गई हैं चाँदनी जिसमें ऐसे धृतराष्ट्र भवनमें प्रवेशवाले एक दिनको बिताकर दूसरे दिन युधिष्ठिर ने अपने भवन में प्रवेश किया ॥ २५ ॥

ततः—

राज्याभिषेकसलिलादिव संगतं द्रा-
गावर्तमुद्वहति मूर्धनि धर्मसूनोः ।
कृष्णादयः शुभगुणे कृतिनो मुहूर्ते
हैमं न्यधुर्मुकुटमुज्ज्वलरत्नजालम् ॥ २६ ॥

राज्याभिषेकेति । ततः स्वभवनप्रवेशानन्तरम् कृतिनः तत्कालकर्त्तव्यज्ञानकुशलाः कृष्णप्रभृतयः द्राक् सत्वरम् राज्याभिषेकसलिलात् पट्टाभिषेकवारिसकाशात् इव सङ्गतं मिलितं आवर्त्तम् जलभ्रमिं चक्रवर्त्तिचिह्नभूतं सव्यगतिचक्रावर्त्तचिह्नम् उद्वहति धारयति धर्मसूनोर्युधिष्ठिरस्य मूर्धनि मस्तके उज्ज्वलरत्नजालम् प्रकाश-

१. 'न्यधुः' । इति पा० ।

मानमणिगणं हैमं स्वर्णनिर्मितं मुकुटं किरीटं शुभगुणे चन्द्रतारादिसाद्गुण्ययुते मुहूर्ते न्यधुः स्थापयामासुः, युधिष्ठिरराज्याभिषेकं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अपने भवनमें आ जानेके बाद उस समयके कर्त्तव्यमें निपुण कृष्णादिने राज्याभिषेक-वारिसे समागत आवर्त्त-जलभ्रमि-की तरह प्रतीत होने वाले वामावर्त्त केशभ्रमिके धारण करनेवाले युधिष्ठिरके मस्तक पर रत्नकिरणोंसे प्रकाशमान स्वर्णमुकुट शुभमुहूर्त्तमें रख दिया, उनका राज्याभिषेक करके रत्नजटित स्वर्णमुकुट पहना दिया ॥ २६ ॥

द्विजप्रणामेषु नृपस्य लग्ना भूरेणुराजिर्भुजसीम्नि रेजे।
एकाधिकद्वादशहायनेषु क्षितिः कृशाङ्गी विरहादिवास्य ॥ २७ ॥

द्विजप्रणामेष्विति। द्विजान् तत्रोपस्थितान् ब्राह्मणान् उद्दिश्य प्रणामेषु साष्टाङ्ग-नमस्कारेषु नृपस्य युधिष्ठिरस्य भुजसीम्नि बाहुदेशे लग्ना संसक्ता भूरेणुः पृथ्वीप-रागः एकाधिकद्वादशवत्सरेषु त्रयोदशसु वर्षेषु वनवासाज्ञातवाससमयेषु अस्य युधिष्ठिरबाहोः विरहात् वियोगात् इव कृशाङ्गी दुर्बलतां गता क्षितिः धरणी आव-भासे रेजे। रजो हि पृथ्वी कृशेव प्रतीयतेस्मेति भावः, विरहादिव कृशेति हेतू-त्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

उपस्थित व्यासादि ब्राह्मणोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करनेसे राजा युधिष्ठिरके बाहुओंसे लगी हुई धूल ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो तेरह वर्षों तक युधिष्ठिरसे वियुक्त रहनेके कारण दुबली पृथ्वी आज युधिष्ठिरके बाहुओंसे लिपट गई हो ॥ २७ ॥

तदानीमेव पराशरसुतविदुरसंजयैः सह संभाषमाणं रमारमणमग्रतो निधाय[1] सविनयं युयुत्सुना[2] दीयमानहस्तावलम्बो भूभारलघुकरणेन[3] प्रीय-माणैर्दिग्वारणैः प्रेषितमिव महान्तं [4]कंचिदौपवाह्यमधिरूढः शशिमण्डलेन शर्वरीप्रथम[5]याम इव धवलातपत्रेण परिष्क्रियमाणोपरिभागो लालनवशेन पार्श्वयोरागत्य[6] प्रमोदतरलपक्षपुटाभ्यां मरालदंपतीभ्यां चतुर्मुख इव चाम-राभ्यामुपवीज्यमानो हर्म्यशिखराव[7]लम्बिनीनां पुरनितम्बिनीनां [8]कपोल-फलकस्खलनदूरविप्रकीर्णैरानन्दबाष्पबिन्दुमुकुलैरिव लाजाञ्जलिभिरवकी-र्यमाणः पुरःसरविविधवा[9]द्यगुरुजनशिष्यायमाणगवाक्षपरम्परां तां [10]नगरीं प्रदक्षिणीकृत्य द्वारभुवमवतीर्णो निजमणितिलकप्रतिबिम्बानीव दीपाङ्कु-राणि कनकपात्रमध्ये वहन्तीभिर्वारसीमन्तिनीभिर्विरचिता[11]रार्त्तिकमङ्गलः

१. 'विधाय'। २. 'बीभत्सुना'। ३. 'करणोपकारेण'। ४. 'कंचिद्द्विपमौप'। ५. 'शरद्राकाशर्वरी'। ६. 'आगम्य'। ७. 'लंबिनीनां नितंबिनीनां'। ८. 'कपोल-स्खलन'। ९. 'मङ्गलवाद्य'। १०. 'पुरीम्'। ११. 'आर्तिक्य'। इति पा०।

पाण्डुसूनुर्निबिडवितानमाल्यधूपपरिमलसुरभिते मण्डपे कुरुकुलक्रमागतं सर्वतोभद्रं नाम सिंहासनमध्यवात्सीत् ॥

तदानीमिति। तदानीम् अभिषेकानन्तरकाले पराशरसुतोः व्यासः विदुरः संजयश्च तैः सह संभाषमाणम् आलपन्तम् रमारमणं कृष्णम् अग्रतो विधाय पुरस्कृत्य सविनयं नम्रभावेन युयुत्सुना वेश्यागर्भोद्भवेन धृतराष्ट्रसुतेन तन्नाम्ना दीयमानहस्तावलम्बः वितीर्णकरावलम्बनः भूभारलघूकरणेन भूमिभारापहारहेतुना प्रीयमाणैः सन्तुष्यद्भिः दिग्वारणैः दिग्गजैः प्रेषितम् इव कञ्चित् महान्तम् विशालम् औपवाह्यम् राजवाहनयोग्यम् मदगजम् अधिरूढः शशिमण्डलेन चन्द्रबिम्बेन (परिष्क्रियमाणः) शर्वरीप्रथमयामः निशाप्रथमप्रहरः इव धवलातपत्रेण श्वेतच्छत्रेण परिष्क्रियमाणोपरिभागः धवलीकृतोर्ध्वदेशः, लालनवशेन वात्सल्यप्रकाशनेन पार्श्वयोरागत्य उभयोर्भागयोः आगत्य उपसृत्य प्रमोदतरलपक्षपुटाभ्यां कम्पमानेन पक्षद्वयेनानन्दं व्यञ्जयद्भ्यां मरालदम्पतीभ्यां हंसमिथुनाभ्याम् चतुर्मुखो ब्रह्मा इव चामराभ्याम् उपवीज्यमानः, हर्म्यशिखरावलम्बिनीनां प्रासादशिखरस्थानां पुरनितम्बिनीनां पुरस्त्रीणाम् कपोलफलके गण्डतले स्खलनेन निपातेन दूरविप्रकीर्णैः सुदूरोच्छलितैः आनन्दबाष्पबिन्दुमुकुलैः इव लाजाञ्जलिभिः आचारलाजैः अवकीर्यमाणः, पुरस्सराणि यानि विविधवाद्यानि वीणामृदङ्गादीनि तान्येव गुरुजनाः ध्वनिशिक्षकाः तच्छिष्यायमाणा तदुच्चारितशब्दावर्तनपरायणा गवाक्षपरम्परा वातायनसमूहो यस्यां तां तथोक्तां नगरीं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं भ्रान्त्वा द्वारभुवम् द्वारदेशम् अवतीर्णः आगतः सन् निजमणितिलकप्रतिबिम्बानि स्वशिरोवर्त्तिरत्नभूषणप्रतिरूपाणीव दीपाङ्कुराणि प्रदीपान् कनकपात्रे स्वर्णभाजने वहन्तीभिः धारयन्तीभिः वारसीमन्तिनीभिः वेश्याजनैः विरचितारार्त्तिकमङ्गलः कृतशुभनीराजनः पाण्डुसूनुः युधिष्ठिरः निविडवितानेषु सर्वतो विस्तृतेषु वितानेषु माल्यानां स्रजां धूपानां गृहसंस्कारधूपानाम् परिमलसुरभिते सुगन्धपूर्णे मण्डपे सभाभवने कुलक्रमागतं वंशपरम्पराऽऽयातं सर्वतोभद्रं नाम सिंहासनम् अध्यवात्सीत् अध्यरुक्षत् ॥

उसके बाद युधिष्ठिरने व्यास, विदुर तथा संजयके साथ बातें करते हुए, श्रीकृष्णको आगे करके युयुत्सु नामक धृतराष्ट्रके वेश्यापुत्रका हाथ पकड़े, भूभारहरणसे प्रसन्न दिग्गजों द्वारा उपहारमें भेजे गये विशाल तथा राजवाहन योग्य हाथीपर आरूढ़ होकर, ऊपर श्वेतातपत्र धारण किया, वह श्वेतातपत्र उनके ऊपरी भागको चमका रहा था, जैसे चन्द्रमण्डल रात्रिके प्रथम यामको चमकाता है, उनके दोनों ओर चामर चल रहे थे, वे चामर ऐसे लगते थे जैसे दुलारके कारण ब्रह्माके हंसयुगल ब्रह्माके दोनों ओर आ गये

१. 'क्रमादागतम्'। इति पा०।

हों, भवनके ऊपरमें खड़ी पुरनारियाँ आचारलाज गिरा रही थीं, आचारलाज ऐसे प्रतीत होते थे मानो कपोलस्थलपर गिरनेसे दूर तक उड़कर आई हुई पुररमणियोंकी आनन्दाश्रुबिन्दुएँ हों, इस प्रकार नगरीकी परिक्रमा करके दरवाजे पर आ गये, नगरीमें बाजे बजते थे उनकी आवाज हर गवाक्षसे निकल रही थी, ऐसा लगता था मानो गुरु रूप बाजेकी आवाजको शिष्य रूप वातायन दुहरा रहे हों, दरवाजे पर थालीमें दीप लेकर वेश्याओंने उनकी मङ्गल आरती उतारी, थालीके दीप ऐसे लगते थे मानों वेश्याओंकी शिरोभूषाओंमें लगी मणियोंकी छाया हों, आरती उतारे जानेके बाद युधिष्ठिरने वितानोंमें लगी मालाओं तथा धूपवत्तियोंकी सुगन्धसे सुरभित मण्डपमें आकर अपने वंशक्रमसे आगत सर्वतोभद्र नामक सिंहासनपर आरोहण किया॥

सौधं कदाचिदधिरुह्य समं सुहृद्भि-
भूपश्चिराद्विरहितस्य पुरस्य तस्य।
वापीषु वीथिषु वनीषु चतुष्पथेषु
नृत्यालयेषु च निमज्जयति स्म दृष्टिम्॥ २८॥

सौधमिति। कदाचित् भूपः राजा युधिष्ठिरः सौधं राजप्रासादम् सुहृद्भिः स्ववयस्यैः समम् सह अधिरुह्य आसाद्य चिराद्विरहितस्य दीर्घकालवियुक्तस्य तस्य पुरस्य हस्तिनापुरस्य वापीषु दीर्घिकासु, वीथीषु, वनीषु उद्यानेषु, चतुष्पथेषु शृङ्गाटकेषु, नृत्यालयेषु नाट्यशालासु च दृष्टिं स्वं नेत्रं निमज्जयति स्म पातितवान्। प्रासादशिखरात्तानि तानि स्थानानि चिरकालोपरान्तं समुत्कण्ठित इव सादरमवलोकयामासेति भावः॥ २८॥

सिंहासनारूढ़ हो जानेपर किसी समय राजा युधिष्ठिर अपने मित्रोंके साथ प्रासादशिखर पर चढ़े, और वहाँसे उन्होंने चिरविरहित उस हस्तिनापुरकी वापी, गली, उद्यान, चौराहे तथा नाट्यशालाओंपर अपनी दृष्टि डाली॥ २८॥

तदानीं खलु—

क्षोणीं कोशगृहाणि गोधनततिं घोटान्रथान्कुञ्जरा-
नन्यां संपदमप्यदात्पणमिषादस्माकमीशाय यः।
तादृक्षः शकुनेः करो विजयतामित्यालपन्तीः शुकी-
रुद्याने स[1] निशम्य धर्मतनयो मन्दं जहासानुजैः॥ २९॥

क्षोणीमिति। यः शकुनिकरः शकुने द्यूतनिपुणो हस्तः अस्माकम् शुकीनाम् ईशाय पालकाय स्वामिने दुर्योधनाय पणमिषात् द्यूतपणव्याजात् क्षोणीं समस्तां पृथिवीम्, कोशगृहाणि राजधनस्थापनभवनानि, गोधनततिं गवां राशिम्,

१. 'अथ'। इति पा०।

घोटान् अश्वान्, रथान् यानानि, कुञ्जरान् करिणः, अन्याम् एतदतिरिक्ताम् सम्पदम् रत्नाम्बरादिकम् अपि अदात् अर्पितवान्, तादृक्षः एतादृशद्यूतकुशलः शकुनेः करो हस्तो विजये तां सर्वोत्कर्षेण वर्त्ततताम् इत्यालपन्तीः एवं भाषमाणाः शुकीः शुकाङ्गना उद्याने पुष्पवाटिकायां निशम्य श्रुत्वा, (शुकीत्तां तादृशं भाषितमाकर्ण्य) सः धर्मतनयो राजा युधिष्ठिरः अनुजैः भीमादिभिः सह मन्दं जहास स्मितं चकार। अद्यापीमाः शुक्यो यथाप्रागिव व्याहरन्तीति तदज्ञानेन हासं कृतवानिति भावः ॥

एक समय युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ उद्यानमें गये, वहाँ पर शुकाङ्गनायें कह रही थीं कि शकुनिके उस हाथकी जय हो–जिसने द्यूतपणके बहाने हमारे स्वामी दुर्योधन को समूची पृथ्वी, खजाना, गोधन, घोड़े, रथ, हाथी तथा अन्याय सम्पत्तियाँ प्रदान कीं, शुकाङ्गनाओंके यह शब्द सुनकर युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ मुस्कुरा दिया। उनके हँसने का अभिप्राय यह था कि इनका अज्ञान तो देखो कि ये अब भी वही बीती बात दुहरा रही हैं, इन्हें यह भी नहीं मालूम कि दिन बदल गये हैं ॥ २९ ॥

कुन्त्या पाण्डोस्तनूजः सुतशतविरहादन्तरत्यन्तमार्तं[1]
भक्त्या साकं पितृव्यं प्रतिदिनमनुजैरग्रतः स्थापयित्वा।
कृत्वाधस्तात्कुशाग्रं विजितमिव धिया प्राञ्जलिः सर्वधर्मा-
न्भीष्माद्वर्णाश्रमाणामविकलमशृणोत्स्वास्पदं गन्तुमिच्छोः ॥३०॥

कुन्त्येति। पाण्डोस्तनूजः धर्मराजः दिने दिने प्रतिदिनं कुन्त्या तदाख्यया मात्रा अनुजैः भ्रातृभिः भीमादिभिः च साकम् सह सुतशतविरहात् शतसंख्यकपुत्रवियोगवशात् अन्तः हृदये अत्यन्तमार्त्तम् भृशव्यथितं पितृव्यं धृतराष्ट्रं नाम पितुर्भ्रातरम् अग्रतः स्थापयित्वा पुरस्कृत्य धिया निजबुद्ध्या विजितमिव कुशाग्रं कुशास्तरणम् अधस्तात् कृत्वा तत्रोपविश्य प्राञ्जलिः बद्धकरयुगलः सन् स्वास्पदम् स्वं धाम ब्रह्म वसुलोकं वा गन्तुमिच्छोः प्रयातुमीहमानात् भीष्मात् शरशय्यास्थितात् वर्णानाम् ब्राह्मणादीनां चतुर्णाम् आश्रमाणाम् ब्रह्मचर्यादीनां च चतुर्णाम् सर्वधर्मान् कर्त्तव्यविशेषान् अविकलं याथातथ्येनाशृणोत् श्रुतवान्। युधिष्ठिरः सानुजो मात्रा चोपेतः—सुतशतविरहव्याकुलं धृतराष्ट्रमग्रतः कृत्वा धिया जितमिव कुशमास्तीर्योपविष्टः सन् भीष्मात्समस्तं वर्णाश्रमधर्मरहस्यं श्रुतवानिति भावः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३० ॥

माता कुन्ती तथा सोदरगणके साथ युधिष्ठिरने प्रतिदिन सुतशतके विरहसे व्याकुल धृतराष्ट्रको आगे करके स्वधाम–वसुलोकको जानेके लिये उद्यत भीष्मके पास स्वबुद्धि द्वारा तीव्रतामें परास्त कुशोंको नीचे रखकर उनका आसन बनाकर भीष्मसे ब्रह्मचर्यादि आश्रम तथा ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टयके धर्मका सारा रहस्य सुना ॥ ३० ॥

---

१. 'कृत्यज्ञः पाण्डवोऽसौ'। इति पा०।

आ लङ्कायास्तदनु सहजैरा हिमाद्रेर्जितश्रीः
शौरेर्दोष्णा घटितनिजदोर्धर्मभूर्वेदिपार्श्वे।
साहस्रीणां शतमखदृशामादधानोऽभ्यसूया-
मन्यादृक्षं नियमपरधीराजहाराश्वमेधम्॥ ३१॥

आ लङ्काया इति। तदनु भीष्माद्धर्मरहस्यश्रवणानन्तरम् आ लङ्कायाः लङ्कामारभ्य आ हिमाद्रेः हिमालयपर्यन्तम् सहजैः भ्रातृभिर्भीमादिभिः जितश्रीः वशीकृतराज्यलक्ष्मीः (तावति देशे विस्तीर्णराज्यः) शौरेर्दोष्णा कृष्णहस्तेन घटितनिजदोः मेलितनिजहस्तः (कृष्णं सर्वकार्येष्वनुरुन्धानः) धर्मभूः युधिष्ठिरः वेदिपार्श्वे यज्ञार्थवेदीसमीपे नियमपरधीः अनुष्ठाननिष्ठबुद्धिः साहस्रीणां सहस्रसंख्याकानां शतमखदृशाम् इन्द्रनेत्राणाम् अभ्यसूयाम् ईर्ष्याम् आदधानः जनयन् सन् अन्यादृक्षं विलक्षणम् अश्वमेधं नाम क्रतुम् आजहार संपादितवान्। वीरैर्भ्रातृभिर्जितसकलदेशः कृष्णानुरोधी च युधिष्ठिरः क्रतुमश्वमेधमसाधारणभावेन व्यधत्त, येनेन्द्रदृशोऽपि धृतेर्ष्या अजायन्तेति भावः। इन्द्रस्य परवृद्धिमत्सरितयेत्थमुक्तम्॥ ३१॥

भीष्मके पास बैठकर वर्णाश्रम धर्म सुननेके बाद अपने भाइयोंके द्वारा लङ्कासे लेकर हिमालय पर्यन्त राज्यविस्तार करके भगवान्‌के हाथसे अपना हाथ मिलाये हुए सतत उनके अनुरोधको मानते हुए धर्मराजने वेदीके पास बैठकर असाधारण अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया जिसे देखकर इन्द्रके मनमें भी ईर्ष्या हो गई, इन्द्रकी सहस्रसंख्यक आँखें भी ईर्ष्यासे युक्त हो गईं॥ ३१॥

राज्ञां मौलिपरम्परां चरणयोः पाणौ प्रदानश्रियं
बुद्धौ राजनयोदयं हृदि कृपां सत्यं च जिह्वाञ्चले।
बाहौ सागरमेखलां वसुमतीं मस्ते किरीटं मुदा
कुर्वन्धर्मतनूभवश्चिरमसौ गोपायति स्म प्रजाः॥ ३२॥

इत्यनन्तभट्टकविकृतौ चम्पूभारते द्वादशः स्तबकः।

---

१. सन्दधानः इति पा०।

राज्ञामिति। असौ कृताश्वमेधो धर्मतनूभवः युधिष्ठिरः चरणयोः स्वपादयोः राज्ञां तत्तद्देश्यानां राज्ञां मौलिपरम्पराम् मस्तकावलिम् कुर्वन् स्थापयन् (सकलानपि राज्ञो नमयन्) पाणौ स्वहस्ते प्रदानश्रियम् दानलक्ष्मीम् कुर्वन् सदा दानपरायणः, बुद्धौ स्वमतौ राजनयोदयं राजनीतेः प्रकाशं कुर्वन्, सदानीतिमनुसरन्, हृदि स्वचित्ते कृपां कुर्वन् दयालुः, जिह्वाञ्चले सत्यं कुर्वन् सदा सत्यं व्यवहरन्, बाहौ भुजे सागरमेखलाम् समुद्रवेष्टितां वसुमतीं पृथ्वीं कुर्वन् भुजबलेन सकलां धरित्रीं भुञ्जानः, मस्ते शिरसि किरीटं मुकुटं कुर्वन् धारयँश्च मुदा सानन्दं प्रजाः लोकान् पालयति स्म ररक्ष। श्रुतधर्मा नमितसकलनृपगणः सततं दानपरायणो राजनीतिप्रयोक्ता दयालुः सत्यवादी समस्तपृथ्वीपतिश्चासौ युधिष्ठिरो राजमुकुटधरो भूत्वा सकलाः प्रजाः सानन्दमवति स्मेति भावः॥ ३२॥

राजगणके मस्तकोंको अपने पैरोंपर रखनेवाले, हाथमें दानपरायणताशाली, बुद्धिमें राजनीति-प्रकाशयुक्त, हृदयमें दयालु तथा जिह्वासे सदा सत्यवक्ता एवं बाहुमें सारी पृथ्वीकी रक्षाका भार धारण करनेवाले युधिष्ठिरने आनन्दसे सारी प्रजाका पालन किया॥ ३२॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते चम्पूभारत'प्रकाशे'

द्वादशस्तबक'प्रकाशः'॥



ग्रन्थकृत्प्रशस्तिः

दिगन्तरलुठत्कीर्तिरनन्तकविकुञ्जरः ।
प्राणैस्तुल्यं सरस्वत्याः प्राणैषीच्चम्पुभारतम् ॥ १ ॥

दिगन्तरेति । दिगन्तरे दिशामन्तराले लुठन्ती परिवर्त्तमाना कीर्त्तिः यशो यस्य स तादृशो दिगन्तविस्तीर्णयशाः अनन्तकविकुञ्जरः अनन्ताभिधः कविश्रेष्ठः सरस्वत्याः भारत्याः प्राणैस्तुल्यं प्रियतमं चम्पुभारतं नाम ग्रन्थं प्राणैषीत्, इदं नामकीर्त्तनं स्वकीर्त्यनुवृत्तये कृतं बोध्यम् ॥ १ ॥

दिगन्तमें लोट रही हैं—व्याप्त हो रही हैं—कीर्त्ति जिसकी, ऐसे कविश्रेष्ठ अनन्तने सरस्वतीके प्राणके सदृश-अतिप्रिय-इस चम्पूभारत नामक ग्रन्थका निर्माण किया ॥ १ ॥

उन्मीलदम्बुजकदम्बकसौरभीणा-
मुन्नृत्यदीशमुकुटीतटिनीसखीनाम् ।
आचान्तवैरियशसाममृतोर्मिलानां
वाचामनन्तसुकवेर्वसुधैव[1] मूल्यम् ॥ २ ॥

इति चम्पूभारतकाव्यं समाप्तम् ॥

उन्मीलदिति । उन्मीलतः सद्यो विकसतः अम्बुजकदम्बकस्य कमलकुलस्य सौरभी सुगन्धः इव सौरभी सुगन्धो यासां तादृशीनां तथोक्तानाम्, तथा उन्नृत्यतः ताण्डवं नृत्यमाचरतः ईशस्य शिवस्य या मुकुटीतटिनी शिरःस्रवन्ती गङ्गा तस्याः सखीनां सदृशीनाम्, एवम् आचान्तवैरियशसाम् निःशेषक्षपितविरोधिविद्वज्जनरचनाप्रशस्तीनाम् अमृतोर्मिलानाम् सुधास्यन्दिनीनाम् अनन्तसुकवेः अनन्तनामककविश्रेष्ठस्य वसुधा समस्ता धरणिः एव मूल्यम् । अतिबहुमूल्यमिदमीयं कवित्वमित्यर्थः । अत्र कमलकुलसौरभसदृशसौरभवत्ताप्रतिपादनेन स्वादुपाकता, शिवशिरःस्रवन्तीसख्येन पावनता, आचान्तवैरियशसामिति च प्रतिस्पर्धिजनोपमर्दकत्वं, किञ्चामृतोर्मिलानामिति माधुर्यं च काव्ये व्यज्यते, तेन च सर्वेण व्यङ्ग्यार्थेन काव्यस्य बहुमूल्यत्वं समर्थ्यते ॥ २ ॥

सद्यो विकसित कमलसौरभसदृश सौरभशाली, नृत्यपरायण शिवमस्तकस्थित-गङ्गासमान पूत, निश्शेषपीत रिपुकीर्त्ति, और अमृतस्यन्दिनी अनन्तकविवाणीका मूल्य सारी वसुधा ही है, अर्थात् उनकी वाणी अति बहुमूल्य है ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीतो ग्रन्थकृत्प्रशस्ति'प्रकाशः'



---

१. 'वसुधाप्यमूल्यम्' । इति पा० ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ॥
मिश्राख्यान् 'मधुसूदनाज्जयमणौ' सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रकृतिनो व्याख्या प्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥
रामक्षोणिखबाहुसम्मितशरद्याशातिथौ माधवे
चन्द्रे पुष्यति वासरे दिनमणेः श्रीशारदानुग्रहात् ॥
'रांची'स्थापितराज्यसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता-
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः'
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि न मनागालोचनावर्त्मनः ॥
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
निक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ॥
निर्दोषेण पथा प्रशस्तरचनां निर्माय काञ्चित् कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान्यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ॥
व्याख्यानेऽत्र नतैरियं मम कृतिः कार्यान्यथादृक्पदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति 'मुजफ्फरपुर'मण्डलान्तःपाति—'पकड़ी'ग्रामवासिना 'रांची'स्थराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्याद्युपाधि-प्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां चम्पूभारतस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां ग्रन्थकृत्प्रशस्ति'प्रकाशः' ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः





